

नारिकेल शिरोमणि आचार्य विद्यानन्दकृत

अष्टसहस्री



प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

तार्किक-शिरोमणि आचार्य विद्यानन्दकृत

अष्टसहस्री

सादर भेंट
जैन विद्या संस्थान समिति

सम्पादक

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य
ब्रह्मचारी सन्दीप जैन 'सरल'



प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

ठ संख्या

३

५-६

७-८

९-१०

१२-३३

३४-३७

१-१३३

४-२०७

८-२२४

८-२९५

३-२९८

१-३००

१-३०५

३-३०८

१-३१८

१-३२६

१-३२८

३२९

१-३३१

३३२

१-३५८

१-३७३

५-३७७

८-३८१

१-३८३

□ प्रकाशक

जैनविद्या संस्थान

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

श्रीमहावीरजी-३२२२२० (राज.)

□ सम्प्रेरक

आचार्यश्री १०८ विद्यासागरजी

इतिहासविद् पं० जुगलकिशोर मुरझार, सरसावा (सहारनपुर)

डॉक्टर गोपीचंद पाटनी, पूर्व संयोजक जैन विद्या संस्थान जयपुर

श्री ज्ञानचंद खिन्दूका, पूर्व संयोजक जैन विद्या संस्थान जयपुर

□ सम्पादक

डॉ० दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य, बीना (सागर) म०प्र०

ब्र० संदीप जैन 'सरल', अनेकान्त ज्ञान मंदिर, बीना (सागर)

□ प्राप्तिस्थान :

१. जैनविद्या संस्थान, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

२. अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन नसिया भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड, जयपुर- ३०२ ००४

□ प्रथम संस्करण १९९७

□ मूल्य रु० ३५०-००

□ मुद्रक

वर्द्धमान मुद्रणालय,

१९, जवाहरनगर कालोनी, वाराणसी-१०

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
आरम्भिक	३
प्रकाशकीय	५-६
अपनी बात और आशीर्वाद	७-८
सम्पादकीय	९-१०
प्रस्तावना	१२-३३
प्रस्तावना-टिप्पण	३४-३७
१. प्रथम परिच्छेद	१-१३३
प्रथमपरिच्छेदटिप्पण	१३४-२०७
२. द्वितीय परिच्छेद	२०८-२२४
द्वितीयपरिच्छेदटिप्पण	२२५-२३४
३. तृतीय परिच्छेद	२३५-२५९
तृतीयपरिच्छेदटिप्पण	२६०-२७५
४. चतुर्थ परिच्छेद	२७६-२८७
चतुर्थपरिच्छेदटिप्पण	२८८-२९५
५. पंचम परिच्छेद	२९६-२९८
पंचमपरिच्छेदटिप्पण	२९९-३००
६. षष्ठ परिच्छेद	३०१-३०५
षष्ठपरिच्छेदटिप्पण	३०६-३०८
७. सप्तम परिच्छेद	३०९-३१८
सप्तमपरिच्छेदटिप्पण	३१९-३२६
८. अष्टम परिच्छेद	३२७-३२८
अष्टमपरिच्छेदटिप्पण	३२९
९. नवम परिच्छेद	३३०-३३१
नवमपरिच्छेदटिप्पण	३३२
१०. दशम परिच्छेद	३३३-३५८
दशमपरिच्छेदटिप्पण	३५९-३७३
परिशिष्ट (१) भारतीय दर्शनों में प्रमाण-विमर्श	३७४-३७७
परिशिष्ट (२) चार्वाक दर्शन	३७८-३८१
परिशिष्ट (३) जैन तार्किक और उनके विशिष्ट न्याय ग्रन्थ	३८२-३८३

आरम्भिक

डॉ० दरबारीलाल कोठियाके द्वारा सम्पादित “अष्टसहस्री” विद्वानोंके हाथोंमें समर्पित करते हुए हर्षका अनुभव हो रहा है।

“अष्टसहस्री” जैन न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। भारतीय न्यायके अध्येताओंके लिए यह ग्रन्थ अपरिहार्य है। अष्टसहस्री के रचयिता आचार्य विद्यानन्दका समय ई० ७७५-८४० है। इस ग्रन्थके मूलमें आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रणीत देवागमस्तोत्र / आप्तमीमांसा है। इस पर आचार्य अकलंकदेव (आठवीं शती) ने ‘अष्टशती’ नामक व्याख्या लिखी। आठ सौ श्लोक-प्रमाण होनेसे इसे ‘अष्टशती’ कहा गया है। यह सबसे प्राचीन और अत्यन्त दूरूह व्याख्या है। इस पर आचार्य विद्यानन्दने ‘अष्टसहस्री’ नामक व्याख्या लिखी, जो आठ हजार श्लोक-प्रमाण होनेसे अष्टसहस्री कही गई। यह देवागम (आप्तमीमांसा) की अत्यन्त विस्तृत व्याख्या है, साथ ही इसमें अष्टशतीका मर्म भी प्रस्तुत किया गया है।

डॉ० दरबारीलाल कोठिया समाज एवं विद्वद्वर्गमें समानरूपसे प्रतिष्ठित हैं। उनके द्वारा किया गया यह सम्पादन-कार्य युगों-युगों तक न्याय-शास्त्रके अध्येताओंके लिए प्रेरणा-स्रोत रहेगा। डॉ० कोठियाको साधुवाद देना हम अपना कर्तव्य समझते हैं।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संस्थापित एवं संचालित जैनविद्या संस्थान जैनधर्म, दर्शन एवं संस्कृतिकी बहुआयामी दृष्टिको सामान्यजन एवं विद्वानोंके समक्ष प्रस्तुत करनेके लिए सतत प्रयत्नशील है। डॉ० कोठियां द्वारा संपादित यह ग्रन्थ सामान्यतया भारतीय न्याय एवं मुख्यतया जैन न्यायके विद्वानोंके लिए उपयोगी होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

हम डॉ० कोठिया के आभारी हैं कि उन्होंने “अष्टसहस्री” नामक संपादित ग्रन्थ जैनविद्या संस्थानको प्रकाशनार्थ सौंपा। हम जैनविद्या संस्थान समिति के संयोजक डॉ० कमलचन्द सोगाणीके आभारी हैं कि उन्होंने इस ग्रन्थके प्रकाशनकी व्यवस्था डॉ० कोठियाकी भावनाके अनुरूप वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसीमें की। अतः पुस्तक प्रकाशन के लिए महावीर प्रेस, वाराणसी व डॉ० कोठियाजी के शिष्य डॉ० उदयचन्द्र जैन वाराणसी व ब्रह्मचारी संदीपजी “सरल” तथा जैनविद्या संस्थान के कार्यकर्ता धन्यवादार्ह हैं।

बलभद्रकुमार जैन
संयुक्त मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी,
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रकाशकीय

“जैन अनुश्रुतिके अनुसार कालके अन्तरालको लिए हुए चौबीस तीर्थकर हुए हैं। इनमें प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव, बाइसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि, तेइसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ और चौबीसवें तीर्थकर वद्धर्मान महावीर तो ऐतिहासिक और लोकप्रसिद्ध भी हैं। इन तीर्थकरोंके द्वारा जो उपदेश दिया गया वह द्वादशांग कहा गया है। वह द्वादशांगश्रुत दो भागोंमें विभक्त है— अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। जो श्रुत तीर्थकरों तथा उनके प्रधान एवं साक्षात् शिष्यों द्वारा उक्त है वह अंगप्रविष्ट है तथा जो इसके आधारसे उत्तरवर्ती प्रवक्ताओं द्वारा रचा गया है वह अंगबाह्य है। अंगप्रविष्टके बारह भेदोंमें एक दृष्टिवाद है जो बारहवां श्रुत है। इस बारहवें दृष्टिवाद श्रुतमें विभिन्न वादियोंकी एकान्त दृष्टियों एवं मान्यताओंका निरूपण और समीक्षाके साथ उनका स्याद्वाद-न्यायसे समन्वय किया गया है।”

“आचार्य समन्तभद्रने सभी तीर्थकरोंको स्याद्वादी कहा है। अकलंकदेवने भी उन्हें स्याद्वादका प्रवक्ता कहा है।”

जैन न्यायका सर्वप्रथम विकास स्वामी समन्तभद्रने अपनी कृतियों द्वारा प्रस्तुत किया है। इनका अस्तित्व ईसाकी दूसरी-तीसरी शतीमें माना गया है। ईसाकी सातवीं-आठवीं शतीमें आचार्य अकलंकदेव जैन न्यायके प्रतिष्ठाता कहे गये हैं। जैन न्यायकी परम्परामें आचार्य विद्यानन्द उन सारस्वतोंमें गणनीय हैं जिन्होंने एक-से-एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। इनका समय ई० ७७५-८४० है। इन्होंने अपने समग्र ग्रन्थ प्रायः दर्शन और न्याय पर ही लिखे हैं। जो अद्वितीय और बड़े महत्वके हैं। ये दो तरहके हैं— टीकात्मक और स्वतन्त्र।

“तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक” टीकात्मक ग्रन्थ है। आचार्य विद्यानन्दने आचार्य गृद्धपिच्छके सुप्रसिद्ध “तत्त्वार्थसूत्र” पर पद्यात्मक श्लोकवार्तिक रचा है और उसके पद्य-वार्तिकों पर उन्होंने स्वयं गद्यमें भाष्य अथवा व्याख्यान लिखा है। द्वितीय टीका आचार्य समन्तभद्रके देवागम (आप्तमीमांसा) पर गद्यमें रचित अष्टसहस्री नाम से विख्यात है।

वास्तवमें देवागमकी तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं— १. देवागम-विवृति (अष्टशती भाष्य), २. देवागमालंकार (आप्तमीमांसांलंकार-अष्टसहस्री) और ३. देवागमवृत्ति। देवागम-वृत्ति के रचयिता आचार्य वसुनन्दिदेव हैं। यह सामान्य है। अष्टशतीको ध्यानमें रखकर ही अपनी “देवागमालंकृति” व्याख्या को आचार्य विद्यानन्दने आठ हजार श्लोक प्रमाण बनाया और “अष्टसहस्री” नाम रखा। भारतीय दर्शन-साहित्यमें इसकी जोड़की रचना दुर्लभ है।

देवागमालंकृति (अष्टसहस्री) आचार्य विद्यानन्दकी अपूर्व एवं महत्वपूर्ण रचना है। इसे आप्तमीमांसांलंकृति, आप्तमीमांसांलंकार और देवागमालंकार—इन तीनों नामोंसे भी साहित्यमें उल्लिखित किया गया है। आठ हजार श्लोक प्रमाण होनेसे इसे लेखकने स्वयं “अष्टसहस्री” कहा है। देवागमकी तीनों व्याख्याओंमें यह विस्तृत और प्रमेयबहुल है। इसमें देवागमकी कारिकाओं और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादिका विस्तारपूर्वक अर्थोद्घाटन किया है। साथ ही उपर्युक्त अष्टशतीके प्रत्येक पदवाक्यादिका भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। व्याख्याकारने अपनी इस व्याख्याके महत्वकी उद्घोषणा करते हुए लिखा है— “हजार शास्त्रोंका पढ़ना-सुनना एक तरफ है और एकमात्र इस कृतिका अध्ययन एक ओर है, क्योंकि इस एकके अभ्याससे ही स्वसमय और परसमय दोनोंका ज्ञान हो जाता है।”

इस पर लघु समन्तभद्र (१३वीं शती) “अष्टसहस्री-विषमपद-तात्पर्य-टीका” और श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७ वीं शती) ने “अष्टसहस्री-तात्पर्य-विवरण” नामकी व्याख्या लिखी है, जो अष्टसहस्रीके विषमपदों, वाक्यों और स्थलोंका स्पष्टीकरण करती है।”

स्व० पण्डित जुगलकिशोरसूजजी मुख्तारने पाटन (राजस्थान) में स्थित श्वेताम्बर शास्त्रभण्डार में मौजूद विक्रम

सं० १४५४ में लिखी प्रति मुनि जिनविजय जी द्वारा मंगाकर संपादक के लिए दी। यह प्रति सुन्दर, स्वच्छ और स्पष्ट पढ़ी जाती है।

मुझे लिखते हुए गर्व है कि अष्टसहस्री जैसे महान् ग्रन्थका सम्पादन कर डॉ० दरबारीलाल कोठियाने एक अनूठा कार्य किया है। इसका सम्पादन करनेके लिए अन्य प्रतियाँ सतना, ललितपुर व सागरसे प्राप्त की गई हैं। पाटनकी प्रति कालगणनाकी दृष्टिसे प्राचीन है। सम्पादनमें डॉ० कोठियाने उसे ही प्रमुखता दी है।”

डॉ० कोठिया जैन न्यायके मर्मज्ञ एवं उद्भट विद्वान हैं। बीसवीं शतीके जैन तार्किकोंमें डॉ० कोठियाका नाम गौरवसे लिया जा सकता है। इनके द्वारा “जैन तर्कशास्त्र में अनुमान-विचार”, “जैन दर्शन और प्रमाणशास्त्र परिशीलन” तथा “जैन तत्त्वज्ञान-मीमांसा” ये तीन अनुसंधानपूर्ण मौलिक कृतियाँ हिन्दीमें प्रस्तुत की गई हैं। न्यायदीपिका, आप्तपरीक्षा, प्रमाण-परीक्षा, पत्रपरीक्षा आदि रचनाएँ आपके द्वारा संपादित हैं जिनकी प्रस्तावनाएँ पठनीय हैं।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान डॉ० कोठिया द्वारा संपादित अष्टसहस्रीको प्रकाशित कर हर्षका अनुभव कर रहा है। जैनविद्या संस्थान डॉ० कोठियाका आभारी है। इस ग्रन्थके प्रकाशनमें ब्रह्मचारी संदीपजी “सरल”, प्रो० उदयचंद्र जैन वाराणसी तथा वर्द्धमान मुद्रणालय, वाराणसी के मुद्रण में श्री बाबूलाल जी “फागुल्ल” का सहयोग प्रशंसनीय रहा। हम इन सबके आभारी हैं।

डॉ० कमलचन्द सोगाणी

संयोजक

जैनविद्यासंस्थान समिति

अपनी बात और आशीर्वाद

सुना है लोगोंने 'अष्टसहस्रीको' 'कष्टसहस्री' का नाम दिया है। विचारें ! यदि ऐसा ही होता तो ८६ वर्षकी अवस्थाको प्राप्त श्री डॉ. पं. दरबारीलालजी कोठिया न्यायाचार्य इस ग्रन्थका निर्दोष सम्पादन कर सकते थे क्या ? जब हमने पहली बार इस ग्रन्थको पढ़ा तो बहुतसा विषय अस्पष्ट रह गया, लेकिन पंडितजीके साथ बैठकर अध्ययन किया, प्रायः सभी विषय स्पष्ट हो गया।

दूसरी बार अष्टसहस्री पढ़नेसे पूर्व न्यायके अन्य ग्रन्थोंको पढ़ एवं पढ़ा चुके थे। दूसरी बार पढ़ते समय ऐसा अनुभव हुआ कि लोगोंको यह ग्रन्थ 'कष्टसहस्री' प्रतीत क्यों हुआ ? समाधान भी मिल गया कि जो न्यायका क्रमसे अध्ययन नहीं करते, उन्हें ही यह वैसा प्रतीत होता है। न्यायकी कुन्जी 'परीक्षामुख', इसकी टीका 'प्रमेयरत्नमाला', 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' एवं न्यायके अन्यान्य ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद प्रस्तुत ग्रन्थराज का अध्ययन करनेमें कोई कठिनाई नहीं है, ऐसा अनुभव है। "परीक्षामुखके" सूत्रोंको गमोकार मंत्र जैसा रट लिया जाये तो उच्च कोटिके न्याय ग्रन्थोंके पढ़नेमें रुचि बढ़ जाती है, क्योंकि पढ़नेमें कठिनाई नहीं जाती।

हमारी पढ़नेमें रुचि देखकर, पण्डितजी पढ़ाते समय कभी-कभी बीचमें ही कह दिया करते थे- महाराज ! आप दस-पाँच वर्ष पूर्व पढ़नेके लिये आ गये होते तो न्यायग्रन्थोंके पठन-पाठन की परंपरा चिरकाल तक चलती रहती। वर्तमानमें आप जैसे बहुत ही कम साधु हैं, जो न्याय एवं व्याकरण जैसे विषयको पढ़नेमें रुचि रखते हों। यह कहते अवश्य सुने गये हैं- जब इस समय शास्त्रार्थ तो होते नहीं, फिर इन ग्रन्थोंको पढ़नेकी क्या उपयोगिता है ? हमने कहा- हाँ, सुना तो है। हम पण्डितजी से अकलंकस्वामीके न्यायग्रन्थोंका अध्ययन करना चाहते थे, लेकिन उनकी अवस्थाको देखते हुए वैसा सम्भव न हो सका। अन्यत्र दुबारा मिलने, भेंट होने पर हमने कहा कि पण्डितजी न्यायके ये ग्रन्थ अल्मारियोंकी शोभा बढ़ाते हुए दीमकके लिये होंगे, दिमाग के लिये नहीं ? वे कहने लगे- महाराजश्री ! इन्हें तो आप स्वयं ही लगायें।

एक दिन अध्ययन प्रारम्भ होने से पूर्व पण्डितजीके साथ आये हुए जिज्ञासु कहने लगे- क्या आवश्यकता है इस समय इन ग्रन्थोंको पढ़ने की। हमने कहा- इसका समाधान पण्डितजी बहुत अच्छीतरहसे कर सकते हैं; फिर भी हम अपने अनुभवसे कहें कि जितनी आवश्यकता हमें नहीं है, उतनी उन्हें है जो अपने आपको 'जैन' कहकर भी एकान्त पकड़ बैठे हैं। वे कहने लगे- कैसे ? 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नहीं करता' यह मान्यता स्त्रीमुक्तिका ही नहीं सारे मिथ्यामतोंका समर्थक कैसे ? लिखी जा रही मुमुक्षुसमीक्षा पढ़कर समझ लेना। यह भी अनुभव किया है कि समयसार जैसे अध्यात्मग्रन्थोंके विषय को गहराईसे समझनेके लिये द्रव्यानुयोगके अतिरिक्त अन्य अनुयोगोंके विषयको समझना परम आवश्यक है। समयसार ग्रन्थमें भी आचार्य कुन्दकुन्दने मतान्तरोंका नाम लेते हुए उल्लेख किया है, लेकिन वह अध्यात्मग्रन्थ होनेसे उनका विस्तृत विवेचन नहीं किया, अतः उन्हें विस्तारसे समझनेके लिये न्यायग्रन्थोंको पढ़ना आवश्यक प्रतीत हुआ / होता है।

मैं समझता हूँ न्यायग्रन्थोंके आधार पर एवं न्यायशैली से जितने अच्छे ढंगसे अध्यात्म ग्रन्थोंको पण्डितजी जैसे विद्वान् समझा सकते हैं वैसा कोई सिद्धान्ताचार्य भी नहीं समझा सकते हैं। न्यायग्रन्थोंको पढ़नेसे बुद्धि इतनी तार्किक एवं तीक्ष्ण हो जाती है, जो तत्त्वकी गहराईमें पहुँचनेमें एक असाधारण कारण है। धर्मका रूप ले चुकी समाज में व्याप्त कुरीतियोंको कुरीति समझ लेना उपरोक्त बुद्धि की तीक्ष्णता पर ही निर्भर है, यह भी अनुभव है। 'शास्त्री', 'आचार्य',

‘सिद्धान्ताचार्य’ जैसी उपाधिसे विभूषित पण्डित पैसे एवं सम्मानके प्रलोभनमें आकर एकान्तमतके समर्थक बन बैठे। इस विषय में पण्डितजीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करनेमें अतिशयोक्ति नहीं होगी कि उन्हें उपरोक्त प्रलोभन छू भी नहीं सका। हम समझते हैं— इसका मुख्य कारण उनका न्यायविद् होना है। ‘न्यायका’ एक अर्थ यह भी होता है जिसे अन्यायके प्रतिकूल अर्थके रूपमें जाना जाता है। कहनेका तात्पर्य है— इन्होंने प्रलोभनमें न आकर धर्म ही कमाया, पापमय धन नहीं। यही चिरकालसे संचित धर्म उन्हें निर्दोष समाधिके लिये प्रेरित करता है। उपरोक्त तरीकेसे धन कमाया होता तो शायद है उपरोक्त प्रेरणा न मिलती। जैसे अधिकांश विद्वानोंको नहीं मिली, जिनका लक्ष्य धन रहा है। वैसे तो प्रायः लोग हर किसीके दीर्घजीवनकी कामना किया करते हैं, लेकिन जैन सिद्धान्तमें एकान्त है कहाँ ?

मैं समन्तभद्र स्वामीका अनन्य भक्त हूँ, उनके प्रति श्रद्धाका मुझमें अतिरेक है। पण्डितजी न्यायविद् हैं। अतः यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि उनकी भी स्वामी जी के प्रति मेरी ही जैसी स्थिति होगी, क्योंकि स्वामी जी, मानो, न्यायके अवतार थे, जिनका पण्डितजीने ज्ञानके क्षेत्रमें अनुसरण किया है, उन्हें अपना आदर्श बनाया है। जीवनभर और अन्तके समय में उन्हींके द्वारा रचित श्रावकाचारको आदर्श बनाकर उन्हींके समान स्वर्गका अधिकारी बनकर मोक्ष चाहते हैं। अर्थात् ‘उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां’ इत्यादि श्लोकके अनुसार धर्मके लिए शरीरको छोड़ना चाहते हैं। उपरोक्त चारोंमेंसे कोई कारण उपस्थित होने पर कौन विवेकी करेगा किसीके दीर्घजीवन की कामना।

ब्रह्मचारी ‘संदीपजी’ जैनके सक्रिय सहयोगसे पण्डितजी द्वारा सम्पादित अष्टसहस्री ग्रन्थके प्रकाशनको पण्डितजी अपने सांख्यिक प्रत्यक्षसे देख सकें, यह तो अच्छी बात है, अन्यथा अपने अवधिज्ञानसे तो देखेंगे ही, इसके लिये उन्हें हमारा बहुत-बहुत आशीर्वाद है कि वे पण्डितमरण करें, न कर सकें साहस, तो बाल पण्डित ही सही। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं वीर भी मरता है, संयमी भी मरता है और असंयमी भी मरता है, जब दोनों ही मरते हैं तो वीरता के साथ ही मरण करना चाहिए। इत्यलम्।

चातुर्मास-प्रवास
देवरी (सागर) म०प्र०

— मुनि सरलसागर

सम्पादकीय

जैन साहित्य और पुरातत्त्वके वेत्ता स्व. पं. जुगलकिशोरजी 'मुख्तार' सरसावा, जिला, सहारनपुरकी हमेशा प्रेरणा रही कि मैं न्यायदीपिका और आप्तपरीक्षाके सम्पादनकी तरह तार्किक-शिरोमणि आचार्य विद्यानंदकी अष्टसहस्रीका, जिसे 'कष्टसहस्री' कहा जाता है, सम्पादन करूँ। उनके विचारको मूर्त रूप देनेके हेतु उन्होंने ही पाटन (राज.) में स्थित श्वेताम्बर-शास्त्रभण्डारमें मौजूद विक्रम सं. १४५४में लिखी प्रति मुनि जिनविजय जी द्वारा माँगाकर दी। प्रति सुन्दर, स्वच्छ और स्पष्ट पढ़ी जाती है। इसी प्राचीन प्रति परसे अष्टसहस्रीका सम्पादन किया। साथमें ललितपुरके शास्त्र-भण्डारमें उपलब्ध और पं. श्यामलालजी द्वारा प्राप्त, सतना (म०प्र०) के दिग० जैन मंदिरमें मौजूद एवं श्री नीरजजी द्वारा प्राप्त एवं वर्णीभवन मोराजी, सागर (म०प्र०) के शास्त्रभण्डारमें उपलब्ध और पं० दयाचंदजी जैन साहित्याचार्य द्वारा प्राप्त प्रतियोंकी भी सहायता ली गई है, कहीं-कहीं छोड़ भी दिया गया है तथा इन सब प्रतियोंका संकेत 'प' से पाटन, 'ल' से ललितपुर, 'स' से सतना और 'सा' से सागर किया गया है।

मुद्रित प्रतिमें प्राप्त "श्रीमदकलङ्क" तथा "वीरसेनाख्य" एवं "कष्टसहस्री सिद्धा"— ये तीन पद्य पाटन की प्रतिमें अनुपलब्ध हैं। साथ ही अन्तिम दो पद्य ललितपुर एवं सागरकी प्रतियोंमें नहीं पाये जाते, केवल "श्रीमदकलङ्क" पद्य पाया जाता है। पाटनकी प्रति कालगणनाकी दृष्टिसे सबसे प्राचीन है। सम्पादनमें हमने उसे ही प्रमुखता दी है। इस प्रतिके लेखकने कालगणना सूचक एक पद्य संस्कृतमें स्वयं रचकर दिया है, जो निम्न प्रकार है :

वेदेषुयुगभूसंज्ञे वत्सरे योगिनीपुरे।

लिखितोऽयं तपापक्षशालायां वाचनाकृतो ॥२०॥

पाटनकी प्रतिको हमने अधिक शुद्ध देखा एवं पाया तथा मुद्रित प्रतिको प्रायः अशुद्ध, अतएव उसका सम्पादन अभीष्ट था, किन्तु इस कार्यमें अनेक विघ्न-बाधाएँ आयीं। श्री महावीर जी (राज.) में पूर्वसंयोजक माननीय श्री गोपीचंदजी पाटनीसे इसकी चर्चा की। उन्होंने कहा कि ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जैनविद्या संस्थानसे छपनेके लिए हमें प्रदान करें। किन्तु उक्त बाधाओंके कारण उस समय उन्हें न दिया जा सका, न ही पूर्वसंयोजक श्रीज्ञानचंदजी खिन्दूकाको दे पाया। प्रसन्नताकी बात है कि इन दोनों पूर्व संयोजकोंकी प्रेरणासे श्री महावीरजीकी कमेटी एवं वर्तमान संयोजक डॉ० कमलचन्द्रजी सौगाणीको प्रकाशित करनेका पूर्ण श्रेय मिला।

यद्यपि न्यायग्रन्थोंका प्रकाशन एवं पठन-पाठन अब दुर्लभ हो रहा है। फिर भी आचार्य विद्यानंदकी इस कृतिके महत्त्वको देखकर जैनविद्या संस्थानने प्रकाशनका प्रशंसनीय कार्य किया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वर्तमानमें परम पूज्य श्री १०८ ज्ञानसागरजीके परम शिष्य एवं सर्वाधिक ख्याति प्राप्त आचार्य श्रीविद्यासागरजीने अतिशय क्षेत्र रामटेकजीमें मुझे निर्देश एवं आदेश दिया कि अष्टसहस्रीका सम्पादन करो, उसे ताम्रपत्र में टंकित किया जावेगा। उनकी आज्ञाको शिरोधार्य कर ५० वर्ष पूर्व अनछपी प्रस्तुत अष्टसहस्री अब छप रही है। अन्ततः इसका श्रेय भी श्री दिग० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजीकी कमेटी, उसके अध्यक्ष श्रीनरेशकुमारजी सेठी, पूर्व संयोजक डॉ० गोपीचंदजी पाटनी, पूर्व संयोजक श्रीज्ञानचंदजी खिन्दूका और वर्तमान संयोजक डॉ० कमलचन्द्रजी सौगाणीको प्राप्त है।

उल्लेख्य है कि परम पूज्य मुनि श्री १०८ सरलसागरजी महाराज इसका अध्ययन करनेके लिए ३५५ कि०मी० दूर खातेगांव से चलकर बीना आये थे, तथा जिसका उल्लेख महाराज ने स्वयं अपने प्रवचन में किया था और वे निश्चयतः हमसे अध्ययनरत रहे। महाराजश्रीने भी इसके सम्पादन-प्रकाशन के लिए प्रेरणा दी। प्रसन्नता है कि एक दिन ग्रन्थ की समाप्ति होने पर हर्षोल्लास भी प्रगट किया। उनका मंगल आशीर्वाद भी इसमें अन्यत्र प्रकाशित है।

मेरे सहायक कुशाग्रबुद्धि अध्येता ब्रह्मचारी संदीपजी 'सरल' को इस अवसर पर नहीं भुलाया जा सकता। उन्होंने मेरे निर्देशानुसार इसकी पाण्डुलिपि आदिके कार्यको बड़ी लगन से किया। मैं उन्हें धन्यवाद कैसे दूँ, वे चारित्रकी दृष्टिसे मुझसे अधिक पदासीन हैं। जैन न्यायमें यह कहा गया है कि "सामग्री जनिका कार्यस्य नैकं कारणम्"। इस युक्तिके अनुसार किसी भी कार्यकी जनक सामग्री होती है, एक कारण नहीं। अतएव सहयोग करनेवाले ये सभी महानुभाव मेरे साथ इसके सम्पादनमें सम्बद्ध हैं। मैं अकेला नहीं। दुर्भाग्य है कि पिछले १५ माहसे अस्वस्थ चला आ रहा हूँ। उसी अस्वस्थतामें यह सम्पादकीय लिखा गया है। इसका फाइनल प्रूफ प्रो० उदयचन्द्रजी वाराणसीने देखनेकी कृपा की, जो मेरे अतिनिकटवर्ती परम शिष्य रहे और अब काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें जैनबौद्धदर्शन विभाग के अध्यक्ष पदसे सेवानिवृत्त हैं। उन्हें आशीर्वाद देता हूँ। इसीके साथ बाबूलालजी जैन 'फागुल्ल' का प्रयत्न एवं मुद्रण में सहयोग प्रशंसनीय है। आप भी प्रो० उदयचन्द्रजीके साथ श्रीदिग० जैन अतिशय क्षेत्र पपौराजीमें मेरे योग्य शिष्य रहे हैं। उन्हें भी मेरा आशीर्वाद है।

—(डॉ०) दरबारीलाल कोठिया

सेवानिवृत्त रीडर

प्राच्यविद्या-धर्मविज्ञान संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

स्थान—

बीना-इटावा (सागर) म० प्र०

१०/७/१९९७

प्रस्तावना

1. देवागम और समन्तभद्र

१. देवागम :

(क) नाम

प्रस्तुत कृतिका नाम 'देवागम' है। प्राचीन ग्रन्थकारोंने प्रायः इसी नामसे इसका उल्लेख किया है। अकलङ्कदेवने इसपर अपना विवरण (अष्टशती-भाष्य) लिखनेकी प्रतिज्ञा करते हुए उसके आरम्भमें इसका यही नाम दिया है और उसे 'भगवत्स्तव' (भगवान् का स्तोत्र) कहा है।^१ विद्यानन्दने भी 'अष्टसहस्री (पृ० २९४)' में अकलङ्कदेवके अष्टशतीगत 'स्वोक्तपरिच्छेदे' पदकी व्याख्या 'देवागमाख्ये.....शास्त्रे' करके इसका 'देवागम' नाम स्वीकार किया है।^२ वादिराज,^३ हस्तिमल्ल^४ आदि ग्रन्थकारोंने भी अपने ग्रन्थोंमें समन्तभद्रकी उल्लेखनीय कृतिके रूपमें इसका इसी नामसे निर्देश किया है। आश्चर्य नहीं कि जिस प्रकार 'कल्याणमंदिर', 'भक्तामर', 'एकीभाव' आदि स्तोत्र 'कल्याणमंदिर', 'भक्तामर', 'एकीभाव' जैसे आद्य पदोंसे आरम्भ होनेके कारण वे उन नामों से ख्यात हैं, उसी प्रकार यह 'स्तव' भी 'देवागम' पदसे आरम्भ होनेसे 'देवागम' नामसे अधिक प्रसिद्ध रहा हो और इसीसे ग्रन्थकारों द्वारा वह इसी नामसे विशेषरूपसे उल्लिखित हुआ हो। स्तवकारने^५ इसका 'आप्तमीमांसा' नाम दिया है, जिसे अकलङ्कदेवने^६ 'सर्वज्ञविशेषपरीक्षा' कहा है। विद्यानन्द^७ ने अपने ग्रन्थोंमें 'देवागम' नामके अतिरिक्त इसके 'आप्तमीमांसा' नामका भी उपयोग किया है। इससे मालूम पड़ता है कि यह कृति जहाँ 'देवागम' नामसे जैन साहित्यमें विश्रुत है वहाँ वह 'आप्तमीमांसा' नामसे भी। और इस तरह यह महत्त्वपूर्ण रचना दोनों नामोंसे प्रख्यात है।

(ख) परिचय :

यह दश परिच्छेदोंमें विभक्त है और ये परिच्छेद विषय विभाजनकी दृष्टिसे स्वयं ग्रन्थकारोक्त हैं।^८ ग्रन्थकारकी यह दश-संख्यक परिच्छेदोंकी कल्पना हमें आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रके दश अध्यायोंका स्मरण दिलाती है। अन्तर इतना ही है कि सूत्र-ग्रन्थ गद्यात्मक तथा सिद्धान्तशैलीमें रचित हैं और देवागम पद्यात्मक एवं दार्शनिक शैलीमें रचा गया है। उस समय दार्शनिक रचनाएँ प्रायः कारिकात्मक तथा इष्टदेव की स्तुतिरूपमें रची जाती थीं। नागार्जुन, वसुबन्धु आदि दार्शनिकोंकी रचनाएँ इसी प्रकारकी उपलब्ध होती हैं। समन्तभद्रने भी समयकी मांगके अनुरूप अपने तीन (स्वयम्भू, युत्तयनुशासन और देवागम) स्तोत्र दार्शनिक एवं कारिकात्मक शैलीमें रचे हैं।

प्रथम परिच्छेद

इसके दस परिच्छेदों में कुल ११४ कारिकाएँ हैं। प्रथम परिच्छेद में १-२३ (कारिकाएँ) हैं। १-३ तक उन विशेषताओंका उल्लेख करके मीमांसा की गई है, जिनसे आप्त माननेकी बात कही जाती है। ४थीमें ऐसे व्यक्ति-विशेषकी सम्भावना की है, जो निर्दोष हो। ५वींमें ऐसे हेतुसे सामान्य आप्त (सर्वज्ञ) का संस्थापन (अनुमान) किया है जो साध्यका अविनाभावी तथा निर्दोष है। ६ठीमें वह सामान्य आप्तत्व युक्तिपूर्वक अर्हत् में पर्यवसित किया गया है और कहा गया है कि चूँकि उनका शासन (तत्त्वप्ररूपण) प्रमाणाविरुद्ध है, अतः वही आप्त प्रमाणित है। ७वींमें वर्णित है कि

जो एकान्त-तत्त्वके प्ररूपक हैं उनका वह एकान्त-प्ररूपण प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। ८वींमें यह बताया गया है कि एकान्तवादियोंका वह तत्त्व प्ररूपण प्रत्यक्ष-विरुद्ध कैसे है। यतः एकान्तवादी स्वपरवैरी हैं, अतः उनका पुण्यपापादिप्ररूपण उनके यहाँ सम्भव नहीं है। ९-११ तक तीन कारिकाओं द्वारा वस्तुको सर्वथा भाव (विधि) रूप स्वीकार करने पर प्रागभाव आदि चारों अभावोंके अपह्नवका दोष दिया गया है। बताया गया है कि प्रागभावका अपलाप करने पर किसीका उत्पाद नहीं हो सकेगा-अर्थात् कार्य अनादि हो जायेगा, प्रध्वंसाभावके न रहने पर किसीका नाश नहीं होगा-अर्थात् कार्य द्रव्य अनन्त हो जायेगा, अन्योन्याभावके निषेध करने पर 'यह अमुक है, अमुक नहीं' ऐसा निर्धारण नहीं हो सकेगा- अर्थात् सब सबरूप हो जायेंगे और अत्यन्ताभावके लोप हो जाने पर वस्तुका अपना प्रतिनियत स्वरूप न रहेगा। इस तरह सारी वस्तुव्यवस्था चौपट (समाप्त) हो जायेगी।

कारिका १२ द्वारा उन्हें दोष दिया गया है जो वस्तुको सर्वथा अभाव (शून्य) रूप मानते हैं। कहा गया है कि अभावरूप वस्तु स्वीकार करने पर उसे स्वयं जाननेके लिए बोध (ज्ञान) और दूसरोंको जनाने-बतानेके लिए वचनरूप साधन-प्रमाणों तथा अनभिमत भावरूप वस्तुको स्वयं दोषपूर्ण जानने और दूसरोंको दोषपूर्ण बतानेके लिए उक्त दोनों (बोध और वचनरूप) दूषण-प्रमाणोंको स्वीकार करना आवश्यक है, जो सर्वथा अभाववादमें सम्भव नहीं, क्योंकि वे दोनों भावरूप हैं। कारिका १३ में सर्वथा भाव और सर्वथा अभाव दोनों रूप वस्तुको मानने पर विरोध तथा उसे सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय) स्वीकार करने पर उसका 'अवाच्य' शब्दसे भी कथन न कर सकनेका दोष दिखाया गया है।

१४-२२ तक ९ कारिकाओं द्वारा स्याद्वाद (अपेक्षावाद) से वस्तुको अनेकान्तात्मक अर्थात् भाव (विधि) और अभाव (निषेध) रूप विरोधी युगलको लेकर उसे सप्तभङ्गात्मक (सप्तधर्मरूप) सिद्ध किया है। २३वीं कारिका द्वारा एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि विरोधी युगलोंको लेकर भी वस्तु में सप्तभङ्ग (सप्तभङ्ग) की योजना करने की सूचना की गई है।

इस तरह इस प्रथम परिच्छेद में भाव और अभाव की एकान्त मान्यताओं की मीमांसा की गई है, जो ग्रन्थकारके समयमें चर्चित एवं बद्धमूल थीं। साथ ही उनका नय-विवक्षा से समन्वय करके उनमें सप्तभङ्गी द्वारा अनेकान्त की स्थापना की है।

द्वितीय परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेदमें २४ से ३६ तक १३ कारिकाएँ हैं। २४-२७ तक चार कारिकाओं द्वारा अद्वैतैकान्त (सर्वथा एकवाद) की समीक्षा की गई है और कहा गया है कि वस्तुको सर्वथा एक मानने पर क्रियाभेद, कारकभेद, पुण्य-पापरूप कर्मद्वैत, सुख-दुःखरूप फलद्वैत, इहलोक-परलोकरूप लोकद्वैत, विद्या-अविद्यारूप ज्ञानद्वैत और बन्ध-मोक्षरूप जीवकी शुद्धाशुद्ध दो अवस्थाएँ ये सब अद्वैतमें सम्भव नहीं हैं। इसके सिवाय हेतु से अद्वैत की सिद्धि करने पर साधन और साध्यका द्वैत स्वीकार करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। यदि बिना हेतु के ही अद्वैत माना जाये, तो द्वैतको भी बिना हेतु के मान लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त अद्वैतवादमें यह भी विचारणीय है कि 'अद्वैत' पदमें जो 'द्वैत' शब्द पड़ा हुआ है उसका वाच्य द्वैत है या नहीं? क्योंकि नामवाली वस्तुका निषेध उसके अस्तित्वको स्वीकार किये बिना नहीं हो सकता और द्वैतको स्वीकार करने पर सर्वथा अद्वैतकी मान्यता समाप्त हो जाती है। यथार्थमें अद्वैत द्वैतका निषेध है और द्वैत वस्तुभूत अद्वैतैकान्तमें स्वीकृत न होने से उसका निषेधरूप सर्वथा अद्वैत कैसे माना जा सकता है?

कारिका २८ के द्वारा सर्वथा द्वैत (अनेक) वादी वैशेषिकों के अनेकवाद की आलोचना करते हुए प्रतिपादन किया गया है कि जिस पृथक्त्व गुण से द्रव्यादि पदार्थों को पृथक् (अनेक) कहा जाता है वह उनसे अपृथक् है या पृथक्? उसे उनसे अपृथक् तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि वैसा उनका सिद्धान्त नहीं है। यदि उसे उनसे पृथक् कहा जाये तो

वह पृथक्त्व गुण अपनी सत्ता कायम नहीं रख सकता, क्योंकि वह अनेकों में रहकर ही अपने अस्तित्व को स्थिर रखता है। इस प्रकार वैशेषिकों के अनेकवाद की मान्यताका आधार स्तम्भ (पृथक्त्वगुण) जब ढह जाता है तो उसपर आधारित अनेकवाद का प्रासाद भी धराशायी हो जाता है।

बौद्ध भी अनेकवादी हैं। पर उनका अनेकवाद वैशेषिकोंके अनेकवादसे भिन्न है। वे अन्वयरूप एकत्व न मानकर सर्वथा पृथक्-पृथक् अनेक विसदृश क्षणोंको ही वस्तु स्वीकार करते हैं। उनकी इस मान्यताकी भी २९-३१ तक तीन कारिकाओं द्वारा समीक्षा की गई है। कहा गया है कि मालाके दानोंमें सूत की तरह क्षणों में अन्वयरूप एकत्व न मानने पर उनमें सन्तान, सादृश्य, समुदाय और प्रेत्यभाव आदि नहीं बन सकते, क्योंकि क्षणोंका एक दूसरेसे एकत्वरूप सम्बन्ध नहीं है। इसके अतिरिक्त ज्ञान और ज्ञेय इन दोनोंको 'सत्' की अपेक्षासे भी भिन्न मानने पर दोनों ही असत् हो जावेंगे। और उस हालतमें न ज्ञान की स्थिति रहेगी और न बाह्य तथा अन्तस्तत्त्वरूप आभ्यन्तर ज्ञेय ही बन सकेगा। वचनोंसे भी उनकी स्थिति नहीं रोपी जा सकती है, क्योंकि वचन सामान्य (अन्यापोह) मात्रको कहते हैं, जो अवस्तु है, विशेष (स्वलक्षणात्मक वस्तु) को नहीं, और ऐसी दशामें समस्त वचन यथार्थतः वस्तुके वाचक न होने से मिथ्या (असत्य) ही हैं।

कारिका ३२ के द्वारा वस्तुको सर्वथा एक और अनेक दोनों (उभय) रूप अङ्गीकार करने पर विरोध तथा अवाच्य (अनुभय) स्वीकार करने पर 'अवाच्य' शब्द द्वारा भी उसका निर्वचन न हो सकने का दोष प्रदर्शित किया गया है। ३३-३६ तक ४ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनय (कथञ्चिद्वाद) से एक और अनेक के विरोधी युगलकी अपेक्षा से सप्तभङ्गीकी योजना करके वस्तुमें कथंचित् एक और कथंचित् अनेक के अनेकान्तकी स्थापना की गई है।

इस प्रकार दूसरे परिच्छेद में एक (अद्वैत) और अनेक (द्वैत) के बारेमें रूढ़ एकान्त धारणाओंकी समालोचना करके इस युगलकी अपेक्षा वस्तु को सप्तभङ्गात्मक (अनेकान्तरूप) सिद्ध किया है।

तृतीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेदमें ३७ से ६० तक २४ कारिकाएँ हैं। ३७-४० तक चार कारिकाओं द्वारा सांख्यदर्शन के एकान्त नित्यवाद की आलोचना में कहा गया है कि प्रधान एवं पुरुषको सर्वथा नित्य स्वीकार करनेपर उनमें किसी भी प्रकार के विकार की सम्भावना नहीं है। क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व न किसी को कारक कहा जा सकता है और न ज्ञप्ति से पूर्व किसी को प्रमाण कह सकते हैं। अकारकस्वभाव छोड़कर कारकस्वभाव ग्रहण करने रूप उत्पत्ति होने के बाद कारक और अज्ञापकस्वभाव छोड़कर ज्ञापकस्वभाव ग्रहण करने रूप ज्ञप्ति होने के अनन्तर ज्ञापक (प्रमाण) व्यवहार होता है। एकरूप रहने के कारण एकान्त नित्य (प्रधान व पुरुष) से किसी की उत्पत्ति अथवा ज्ञप्ति आदिरूप कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है और इसलिए उसे न कारक कहा जा सकता है और न प्रमाण। इन्द्रियों से जैसे घटादि अर्थकी अभिव्यक्ति होती है वैसे ही प्रधानरूप कारक या प्रमाण से महदादि की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार की मान्यता भी युक्त नहीं है, क्योंकि प्रमाण तथा कारक दोनों सर्वथा नित्य होने से उनका अभिव्यक्ति के लिए भी व्यापार सम्भव नहीं है। अन्यथा अभिव्यक्ति से पूर्व रहने वाले अनभिव्यञ्जक स्वभाव को छोड़ने तथा व्यञ्जक स्वभाव को ग्रहण करनेरूप अवस्थान्तरको प्राप्त करनेसे उसे अनित्य मानना पड़ेगा। अतः महदादि प्रधान से अभिव्यंग्य (विकार्य) भी नहीं हो सकते। इसी तरह एकान्त नित्य पक्षमें पुरुष की तरह सत्कार्यकी न उत्पत्ति सम्भव है और न अभिव्यक्ति, क्योंकि सदा विद्यमान रहने से उसमें किसी भी तरह का परिणमन (परिवर्तन), चाहे वह उत्पत्तिरूप हो और चाहे अभिव्यक्तिरूप, नहीं बन सकता है। पुण्य, पाप, प्रेत्यभाव (पर्यायान्तर), बन्ध और मोक्ष ये सब परिणाम भी एकान्त नित्य (अपरिणामी पुरुषवाद) में असम्भव हैं। नित्य जब सदा एकरूपे (कूटस्थ) रहेगा तो उसमें कोई विकृति नहीं हो सकती तथा बिना विकृति के पुण्य-पापादि, जो भिन्न कालों में होनेवाली अवस्थाविशेष हैं, कैसे सम्भव हैं, यह विचारणीय है।

४१-५४ तक चउदह कारिकाओं द्वारा एकान्त अनित्यपक्ष (क्षणिकवाद) में दोष दिये गये हैं। कहा गया है कि वस्तु को सर्वथा अनित्य (क्षणिक) स्वीकार करने पर भी उक्त प्रेत्यभावादि नहीं बन सकते, क्योंकि पूर्वापर क्षणोंमें परस्पर अन्वय (ध्रौव्यात्मक बन्धनरूप कड़ी) न होने के कारण प्रत्यभिज्ञा, स्मरण, धारणा, अभिलाषा आदि ज्ञानधारा प्रवाहित नहीं हो सकती। ऐसी दशा में न पूर्व क्षण को कारण और न उत्तरक्षण को कार्य कहा जा सकता है। सर्वथा क्षणिकवाद में न असत्कार्य की उत्पत्ति, न कार्य-कारणभाव, न हिंस्य-हिंसकभाव, न गुरु-शिष्यभाव, न पति-पत्नीभाव, न मातृ-पुत्रभाव, न बद्ध-मुक्तभाव और न स्कन्धसन्ततियाँ ही बन सकती हैं।

५५ के द्वारा सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य दोनों (उभयैकान्त) के स्वीकार में विरोध और न सर्वथा नित्य तथा न सर्वथा अनित्य दोनों के निषेधरूप (अनुभयैकान्त) में 'अवाच्य' शब्द से उसका कथन न कर सकने का दोष प्रदर्शित किया गया है।

५६-६० तक ५ कारिकाओं द्वारा स्याद्वादनय से वस्तु को कथञ्चित् नित्य, कथञ्चित् अनित्य, कथञ्चित् उभय, कथञ्चित् अनुभय आदि सप्तभङ्गात्मक अनेकान्त सिद्ध किया है। इस प्रकार इस परिच्छेद में नित्यानित्य के विरोधी युगल की अपेक्षा पूर्ववत् सप्तभङ्गी दिखायी गई है। उल्लेखनीय है कि दो महत्त्वपूर्ण दृष्टान्तों (लौकिक एवं लोकोत्तर) द्वारा भी वस्तु में नित्यता (ध्रौव्य) और अनित्यता (उत्पाद-व्यय) दोनों को प्रतीतिसिद्ध बतलाया गया है।

चतुर्थ परिच्छेदः

चौथे परिच्छेद में ६१-७२ तक १२ कारिकाएँ हैं, जिनके द्वारा भेद और अभेद का विचार किया गया है। ६१-६६ तक ६ कारिकाओंमें भेदवादी वैशेषिकों की एकान्तभेद मान्यता की समीक्षा की गई है। कहा गया है कि यदि कार्य और कारण में, गुण और गुणी में तथा सामान्य और सामान्यवानों (द्रव्य, गुण, कर्म) में सर्वथा अन्यत्व (भेद) माना जाये तो एक (कार्य-अवयवी आदि) का अनेकों (कारणों-अवयवों आदि) में रहना (वृत्ति) सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रश्न उठता है कि वह एक अनेकों में (प्रत्येक में) अंशरूप से रहता है या सम्पूर्णरूप से ? प्रथमपक्ष तो ठीक नहीं, कारण कि उस एक के अंशों को नहीं माना गया है— उसे निरंश स्वीकार किया गया है। द्वितीय पक्ष भी ठीक नहीं है, क्योंकि जितने कारण (अवयव) होंगे उतने ही कार्य (अवयवी) मानना पड़ेंगे। यदि उस एक (अवयवी) में अंश कल्पना करें, जो यथार्थ में स्वकीय सिद्धान्त विरुद्ध है, तो फिर उसे एक कैसे कहा जा सकता है— उसे सांश (अनेक) ही प्रतिपादन करना चाहिए। इस तरह सर्वथा भेदवाद में यह वृत्ति-दोष अनिवार्य है— जिसे दूर नहीं किया जा सकता है। इसी प्रकार इस भेदवाद में सामान्य व समवाय सम्बन्ध की, जिन्हें भिन्न पदार्थ स्वीकार किया है, अपने आश्रयों में वृत्ति नहीं बनती। कारण यह है कि जिन नाशशील एवं उत्पादशील व्यक्तियों (घट-पट-गो आदि) में उन दोनों की स्थिति स्वीकार की गई है उनके नाश या उत्पाद होने पर उन दोनों का न नाश होता है और न उत्पाद। ऐसी स्थिति में आश्रय के बिना आश्रयी (सामान्य तथा समवाय) कहाँ और कैसे रहेंगे ? जबकि उन्हें प्रत्येक व्यक्ति में सम्पूर्णरूप से रहनेवाला तथा नित्य और निष्क्रिय माना गया है। निष्क्रिय होने से वे नाशशील व्यक्ति के नाश और उत्पादशील व्यक्ति के उत्पाद के समय अन्यत्र (दूसरे व्यक्तियों में) जा नहीं सकते तथा नित्य होने से वे व्यक्ति के साथ न नष्ट हो सकते हैं और न उत्पन्न। अतः उनका विधान 'दुविधा में दोनों गये माया मिली न राम' कहावत को चरितार्थ करता है। अर्थात् सामान्य और समवाय में परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है ? इसका कारण यह है कि वे द्रव्य न होने से उनमें संयोग सम्बन्ध तो स्वयं वैशेषिकों को भी इष्ट नहीं है। समवाय भी उनमें सम्भव नहीं है, क्योंकि उन्हें अवयव-अवयवी, गुणा-गुणी आदि रूप से स्वीकृत नहीं किया गया। 'सामान्यं समावायि' सामान्य समवायवाला है, इस प्रकार से उनमें विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि एक समवाय के सिवाय अन्य समवायान्तर वैशेषिकों ने नहीं माना। अन्यथा अनवस्था दोष से वह मुक्त नहीं हो सकता है। हाँ, उनमें एकार्थसमवाय की कल्पना की जा सकती थी, पर वह भी नहीं की

जा सकती, क्योंकि घटत्वादि सामान्य घटादि में समवाय से रह जाने पर भी समवाय उनमें समवेत नहीं है। स्पष्ट है कि वैशेषिकों ने समवाय के रहने के लिए अन्य समवाय नहीं स्वीकार किया— एक ही समवाय उन्होंने माना है। इस तरह जब सामान्य और समवाय दोनों में परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं है तो ये असम्बद्ध रहकर द्रव्यादि से सम्बन्धित नहीं हो सकते। फलतः तीनों (सामान्य, समवाय और द्रव्यादि) बिना सम्बन्ध के खपुष्प तुल्य ठहरते हैं।

वैशेषिकों में कोई, परमाणुओं में पाक (अग्निसंयोग) होकर द्व्यणुकादि अवयवी में क्रमशः पाक मानते हैं और कोई परमाणुओं में किसी भी प्रकार की विकृति न होने से उनमें पाक (अग्नि-संयोग) न मानकर केवल द्व्यणुकादि (अवयवी) में पाक स्वीकार करते हैं। जो परमाणुओं में पाक नहीं मानते उनका कहना है कि परमाणु नित्य (अप्रच्युत-अनुत्पन्न-स्थिर एकरूप) हैं और इसलिये वे द्व्यणुकादि सभी अवस्थाओं में एक रूप बने रहते हैं— उनमें किसी भी प्रकार की अन्यता (भिन्नरूपतारूप परिणति) नहीं होती। उनमें सर्वदा अनन्यता (एकरूपता) विद्यमान रहती है। इसी (किन्ही वैशेषिकों की) मान्यता को आचार्य समन्तभद्र ने 'अणुओं का अनन्यतैकान्त' कहा है और कारिका ६७ के द्वारा उसकी भी समीक्षा की है।^१ उन्होंने इस मान्यता में दोषोद्घाटन करते हुए बताया है कि यदि अणु द्व्यणुकादि संघातदशा में भी उसी प्रकार के बने रहते हैं जिस प्रकार वे विभाग के समय रहते हैं, (क्योंकि उनमें अन्यता (भिन्नरूपता) नहीं होती, अन्यथा उनमें अनित्यता का प्रसंग आयेगा) तो वे असंहत (अमिश्र-बिना मिले) ही रहेंगे और उस हालत में अवयवीरूप पृथिवी आदि चारों भूत भ्रान्त (मिथ्या) ही होंगे और जब पृथिवी आदि अवयवीरूप कार्य भ्रान्त ठहरते हैं तो उनके जनक परमाणु भी भ्रान्त स्वतः सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि कार्य निश्चय ही अनुरूप कारण की ही सूचना करता है। इस तरह वैशेषिकों के अनन्यतैकान्त में न वास्तविक पृथिव्यादिरूप अवयवी बनता है और न वास्तविक उनके कारणरूप परमाणु ही सिद्ध होते हैं तथा इन दोनों के न बनने पर उनमें रहने वाले गुण, जाति (सामान्य), विशेष, समवाय और कर्म ये कोई भी पदार्थ घटित नहीं होते।

आगे कारिका ६८ के द्वारा सांख्योंके अनन्यतैकान्त (अभेदैकान्त) की भी आलोचना करते हुए कहा गया है कि यदि कार्य (महदादि) और कारण (प्रधान) दोनों में सर्वथा अनन्यता (अभेद) हो, तो उनमें से एकका अस्तित्व रहेगा, दूसरे का अभाव हो जायेगा। फलतः वह एक भी दूसरे का अविनाभावी होने से उसके अभाव में न रह सकेगा। इसके अतिरिक्त इस अभेदैकान्तमें कार्य और कारण की लोकप्रसिद्ध द्वित्वसंख्या कभी भी उपलब्ध न होगी। यदि उसे संवृति से माना जाये, तो वह संवृति मिथ्या ही है और इसलिए संवृति तथा शून्यता दोनों में कोई अन्तर नहीं है।

कारिका ७० के द्वारा सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद दोनों के स्वीकार में विरोध तथा न सर्वथाभेद और न सर्वथा अभेद अर्थात् अनुभय (अवाच्य) मानने में 'अवाच्य' शब्द द्वारा भी उसका निरूपण न हो सकने का दोष प्रदर्शित किया गया है। ७१-७२ द्वारा उन अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि में कथञ्चित् भेद, कथञ्चित् अभेद आदि सप्तभङ्गी-प्रक्रिया की योजना करके उनमें अनेकान्त सिद्ध किया है और यह दिखाया है कि किस तरह उनमें अभेद (एकत्व) है और किस तरह उनमें भेद (नानात्व) आदि है।

इस प्रकार इस परिच्छेदमें भेद और अभेदको लेकर विभिन्न वादियों द्वारा मान्य भेदैकान्त, अभेदैकान्त आदि एकान्तों की आलोचना और स्याद्वादनय से उनमें अनेकान्त की व्यवस्था की गई है।

पञ्चम परिच्छेदः

इस परिच्छेदमें ७३-७५ तक तीन कारिकाओं द्वारा उन वादियों की मीमांसा करते हुए जैन दृष्टि प्रस्तुत की गई है जो सर्वथा अपेक्षासे या सर्वथा अनपेक्षा आदिसे वस्तुस्वरूपको सिद्ध मानते हैं। कारिका ७३ में कहा गया है कि यदि धर्म और धर्मोक्ती, विशेषण और विशेष्य की, कार्य और कारण की तथा प्रमाण और प्रमेय आदि की सिद्धि सर्वथा अपेक्षासे मानी जाये तो उनकी कभी भी व्यवस्था नहीं हो सकती, क्योंकि वे उसी प्रकार अन्योन्याश्रित रहेंगे जिस प्रकार

किसी नदीमें डूबते हुए दो तैराक एक दूसरे के आश्रय होते हैं और फलतः दोनों ही डूब जाते हैं। यदि उनकी सिद्धि सर्वथा अनपेक्षा से (स्वतः) ही स्वीकार की जाय तो अमुक कार्य-कारण हैं, अमुक धर्म-धर्म हैं, अमुक विशेषण-विशेष्य हैं, अमुक प्रमाण-प्रमेय हैं और अमुक सामान्य-विशेष हैं, इस प्रकार का नियत व्यवहार नहीं बन सकेगा, क्योंकि ये सब व्यवहार परस्पर की अपेक्षा से होते हैं।

कारिका ७४ में सर्वथा उभयवादियोंके उभयैकान्त में विरोध और सर्वथा अनुभयवादियोंके अनुभयैकान्तमें 'अनुभय' शब्द द्वारा भी कथन न हो सकनेका दोष दिया गया है।

७५ द्वारा स्याद्वादनय से वस्तुस्वरूप की सिद्धि प्रदर्शित की गई है। कहा गया है कि धर्म-धर्मभाव, कार्य-कारणभाव, विशेषण-विशेष्यभाव और प्रमाण-प्रमेयभाव का व्यवहार तो अपेक्षासे सिद्ध होता है। परन्तु उनका स्वरूप स्वतः सिद्ध है। यथार्थमें कार्यमें कार्यता, कारणमें कारणता, प्रमाणमें प्रमाणता, प्रमेयमें प्रमेयता आदि स्वयं सिद्ध हैं, वे परापेक्ष नहीं हैं। अन्यथा किसी भी वस्तु का अपना स्वतंत्र स्वरूप नहीं बन सकेगा। जैसे कर्ताका स्वरूप कर्मपेक्ष और कर्म का स्वरूप कर्त्रपेक्ष नहीं है तथा बोधक का स्वरूप बोध्यापेक्ष और बोध्य का स्वरूप बोधकापेक्ष नहीं है। पर उनका व्यवहार अवश्य परस्पर-सापेक्ष है। उसी प्रकार धर्म-धर्म आदि का स्वरूप तो स्वयं सिद्ध है, किन्तु उनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है। इस तरह इस परिच्छेदमें अपेक्षा और अनपेक्षा के विरोधी युगल में भी सप्तभङ्गी की योजना करके अनेकान्तकी व्यवस्था की गई है।

षष्ठ परिच्छेदः

षष्ठ परिच्छेद में ७६ से ७८ तक तीन कारिकाओं द्वारा हेतुवाद और अहेतुवाद की एकान्त मान्यताओं में दोषोद्घाटन करते हुए उनमें सप्तभङ्गी की योजनापूर्वक समन्वय (अनेकान्त स्थापन) किया गया है।

कारिका ७६ में सर्वथा हेतुवाद से वस्तुसिद्धि मानने पर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से वस्तुज्ञान के अभाव का प्रसङ्ग तथा आगम से सर्वसिद्धि स्वीकार करने पर परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों के प्रतिपादक वचनोंसे भी विरोधी तत्त्वों की सिद्धिका प्रसङ्ग दिया गया है।

कारिका ७७ में पूर्ववत् उभयैकान्त में विरोध और अवाच्यतैकान्त में 'अवाच्य' शब्दद्वारा भी उसका निर्वचन न कर सकनेका दोष प्रदर्शित है।

इस परिच्छेद की अन्तिम ७८ वीं कारिका में हेतुवाद और अहेतुवाद दोनों से वस्तुसिद्धि होनेका निर्देश करते हुए सप्तभङ्गात्मक अनेकांत प्रदर्शित किया गया है। कहा गया है कि जहाँ आप्त वक्ता न हो वहाँ हेतु से साध्यकी सिद्धि की जाती है और उस सिद्धि को हेतु-साधित कहा जाता है तथा जहाँ आप्त वक्ता हो वहाँ उसके वचन से वस्तु की सिद्धि होती है और वह सिद्धि आगम-साधित कही जाती है। इस प्रकार वस्तु-सिद्धि का अङ्ग उपायतत्त्व (हेतुवाद और अहेतुवाद) भी अनेकान्तात्मक है।

सप्तम परिच्छेदः

इस परिच्छेद में ७९-८७ तक ९ कारिकाएँ हैं, जिनके द्वारा ज्ञानैकान्त और बाह्यार्थैकान्त आदि एक-एक एकान्तों के स्वीकार करने में आनेवाले दोषोंको दिखलाते हुए निर्दोष अनेकान्त की स्थापना की गई है।

कारिका ७९ के द्वारा बतलाया गया है कि यदि सर्वथा ज्ञानतत्त्व ही हो, बाह्य अर्थ न हो, तो सभी बुद्धियाँ और सभी वचन मिथ्या हो जायेंगे, क्योंकि दोनों का प्रामाण्य बाह्य अर्थ पर निर्भर है, जिनका ज्ञात और कथ्य बाह्यार्थ सत्य निकलता है उन्हें प्रमाण और जिनका सत्य नहीं निकलता उन्हें प्रमाणाभास कहा जाता है। परन्तु ज्ञानैकान्तवाद में बाह्यार्थ को स्वीकार न करने के कारण किसी भी बुद्धि और किसी भी वचन की प्रमाणता का निश्चय नहीं हो सकता और इसलिये उन्हें मिथ्या ही कहा जावेगा और जब वे मिथ्या हैं तो वे प्रमाणाभासकी कोटिमें प्रविष्ट हैं। किन्तु बिना प्रमाण के उन्हें प्रमाणाभास भी कैसे कहा जा सकता है।

तात्पर्य यह कि सर्वथा ज्ञानतत्त्व को ही स्वीकार करने पर प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों ही नहीं बनते और उनके न बनने पर किस तरह ज्ञानमात्र को वास्तविक और बाह्यार्थ को अवास्तविक सिद्ध किया जा सकता है।

८० के द्वारा साध्य और साधन की विज्ञप्ति से विज्ञप्तिमात्र तत्त्व की सिद्धि के प्रयास को भी निरर्थक बतलाया गया है, क्योंकि उक्त प्रकार से सिद्धि करने पर प्रतिज्ञादोष और हेतु दोष आते हैं। स्पष्ट है कि विज्ञप्तिमात्रतत्त्व को माननेवालों के यहाँ न साध्य (प्रतिज्ञा) है और न हेतु। अन्यथा द्वैत का प्रसङ्ग आयेगा।

८१ के द्वारा उन्हें दोष दिया गया है जो केवल बाह्यार्थ स्वीकार करते हैं, अन्तरङ्गार्थ (ज्ञान) को नहीं मानते। कहा गया है कि यदि सर्वथा बाह्यार्थ ही हो, ज्ञान न हो, तो न संशय होगा, न विपर्यय और न अनध्यवसाय। इतना ही नहीं, सत्यासत्य का निर्णय भी नहीं किया जा सकेगा। फलतः जो विरोधी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं उनके भी मोक्षादि कार्योंकी सिद्धि हो जायेगी। इसके अतिरिक्त स्वप्नबुद्धियों का स्वार्थ के साथ सम्बन्ध न होने से उन्हें अविसंवादी नहीं कहा जा सकेगा।

कारिका ८२ के द्वारा सर्वथा उभयवाद में विरोध और सर्वथा अनुभयवाद में 'अनुभय' शब्द से भी उसका कथन न हो सकने का दोष पूर्ववत् दिखाया गया है।

कारिका ८३ के द्वारा स्याद्वाद से वस्तुव्यवस्था करने पर कोई दोष नहीं आता, यह दिखलाते हुए कहा गया है कि स्वरूप-संवेदन की अपेक्षा कोई ज्ञान प्रमाणाभास नहीं है। पर बाह्य प्रमेय की अपेक्षा प्रमाण और प्रमाणाभास दोनों हैं। जिस ज्ञान का बाह्य प्रमेय ज्ञात होनेके बाद वही उपलब्ध होता है तो वह प्रमाण है तथा जिसका बाह्य प्रमेय ज्ञात होने के बाद वही उपलब्ध नहीं होता, अपितु अन्य मिलता है वह प्रमाणाभास है। इस तरह स्वरूपसंवेदन की अपेक्षा सभी ज्ञान प्रमाण हैं, कोई प्रमाणाभास नहीं है। किन्तु बाह्य प्रमेय की सत्यता से प्रमाण और असत्यता से प्रमाणाभास होता है। अतः प्रमाण और प्रमाणाभासकी व्यवस्था अन्तरङ्गार्थ (ज्ञान) और बाह्यार्थ दोनों को स्वीकार करने से होती है, किसी एक से नहीं। यही अनेकान्तरूप वस्तुतत्त्व है जिसकी स्याद्वाद से उक्त प्रकार व्यवस्था होती है।

कारिका ८४ द्वारा उन (बौद्धों) का समाधान किया गया है जो बाह्यार्थ नहीं मानते, केवल उसकी शाब्दिक (काल्पनिक) प्रतीति स्वीकार करते हैं। उनके लिए कहा गया है कि कोई भी शब्द क्यों न हो, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है। उदाहरणार्थ जीवशब्द को ही लीजिए, उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है क्योंकि वह एक संज्ञा है। जो संज्ञा होती है उसका वाच्य बाह्यार्थ अवश्य होता है, जैसे हेतुशब्द अपने वाच्य हेतुरूप बाह्यार्थ को लिए हुए है। यह भी उल्लेखनीय है कि जीवशब्दका प्रयोग शरीर या इन्द्रियों आदि के समूह में नहीं होता, क्योंकि ऐसी लोकरूढ़ि नहीं है। 'जीव गया, जीव मौजूद है' इस प्रकार का जिसमें व्यवहार होता है उसी में यह लोकरूढ़ि नियत है। कोई भी व्यक्ति यह व्यवहार न शरीर में करता है, क्योंकि वह अचेतन है, न इन्द्रियों में करता है, क्योंकि वे मात्र उपभोग की साधन हैं और न शब्दादि विषयों में करता है, क्योंकि वे भोग्यरूप से व्यवहृत होते हैं। वह तो भोक्ता आत्मा में 'जीव' यह व्यवहार करता है। अतः 'जीव' शब्द जीवरूप बाह्यार्थ सहित है। माया, अविद्या, अप्रमा आदि जो भ्रान्तिसूचक संज्ञायें हैं वे भी माया, अविद्या, अप्रमा आदि अपने भावात्मक अर्थों से सहित हैं। जैसे प्रमासंज्ञा अपने प्रमारूप अर्थ से सहित है। इन संज्ञाओंको मात्र वक्ता के अभिप्राय की सूचिका भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि श्रोताओंकी जो उन संज्ञाओं (नामों) को सुनकर उस उस अर्थक्रिया में प्रवृत्ति का नियम देखा जाता है वह अभिप्राय से सम्भव नहीं है। अतः संज्ञाओं (शब्दों) को अभिप्राय का सूचक नहीं मानना चाहिए, किन्तु उन्हें सत्यार्थ (बाह्यार्थ) का सूचक स्वीकार करना चाहिए।

अगली ८५-८७ तक तीन कारिकाओं द्वारा ग्रन्थकार अपने उक्त कथन का सबल समर्थन करते हुए प्रतिपादन करते हैं कि प्रत्येक वस्तु की तीन संज्ञायें होती हैं। बुद्धिसंज्ञा, शब्दसंज्ञा और अर्थसंज्ञा तथा ये तीनों संज्ञायें बुद्धि, शब्द और अर्थ इन तीन की क्रमशः वाचिका हैं और तीनों से श्रोता को उनके प्रतिबिम्बात्मक बुद्धि, शब्द और अर्थरूप तीन बोध

होते हैं। अतः 'जीव' यह शब्द केवल जीवबुद्धि या जीवशब्द का वाचक न होकर 'जीव अर्थ' 'जीवशब्द' और 'जीवबुद्धि' इन तीनों का वाचक है। वास्तव में उनके प्रतिबिम्बात्मक तीन बोध होने से उन तीनों संज्ञाओं के वाच्यार्थ तीन हैं, यह ध्यान देने पर स्पष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ तीन प्रकार का होता है— बुद्ध्यात्मक, शब्दात्मक और अर्थात्मक। और तीनों की वाचिका तीन संज्ञायें होती हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है और इस तरह समस्त संज्ञायें (शब्द) अपने अर्थ सहित हैं।

यद्यपि विज्ञानवादीके लिए ऊपर कहा गया हेतु (संज्ञा होने से) असिद्ध है, क्योंकि उसके यहाँ विज्ञान के अलावा अन्य कोई संज्ञा (शब्द) नहीं है। उसके लिए ग्रन्थकार कहते हैं कि जब हम कुछ कहते या सुनते या जानते हैं तो हम वक्ता, श्रोता या प्रमाता कहे जाते हैं और ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं तथा इन तीनों के तीन कार्य भी अलग-अलग होते हैं। वक्ता अभिधेय का ज्ञान करके वाक्य बोलता है, श्रोता उसको श्रवण कर उसका बोध करता है और प्रमाता शब्द और अर्थरूप प्रमेय की परिच्छिति (प्रमा) करता है। ये तीनों ही उन तीनों के बिलकुल जुड़े-जुड़े कार्य हैं। विज्ञानवादी इन अनुभव सिद्ध पदार्थों का अपह्नव करनेका साहस कैसे कर सकता है। ऐसी दशा में वह हेतु को असिद्धादि दोषों से युक्त नहीं कह सकता। यदि वह इन अनुभव सिद्ध पदार्थों (अभिधेय, अभिधेय के ग्राहक वक्ता, श्रोता और प्रमाता को विभ्रम कहे तो उसका विज्ञानवाद और साधक प्रमाण (वाक्य और बोध) भी विभ्रमकोटि में आने से कैसे बच सकते हैं ? और प्रमाण के विभ्रम होने पर उसे जो इष्ट अन्तर्ज्ञेय (ज्ञान) है वह और जो उसे इष्ट नहीं है ऐसा बहिर्ज्ञेय दोनो ही, जिन्हें तादृश (प्रमाणरूप) और इतर-अन्यादृश (अप्रमाणरूप) माना जाता है, विभ्रम ही सिद्ध होंगे। ऐसी हालत में सर्वथा विज्ञानवाद में हेयोपादेयका तत्त्वज्ञान कैसे हो सकता है ?

यदि प्रमाण को अभ्रान्त कहें तो उसके लिए बाह्यार्थका स्वीकार आवश्यक है। उसके बिना प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था संभव नहीं है, क्योंकि उन्हीं ज्ञानों तथा शब्दों में प्रमाणता होती है जिनका बाह्यार्थ होता है और जिनका बाह्यार्थ नहीं होता उन्हें प्रमाणाभास माना जाता है। यथार्थ में जिस बुद्धि का ज्ञात अर्थ प्राप्त नहीं होता उसे असत्य कहा जाता है। इसी प्रकार जिस शब्द का अभिहित अर्थ मिलता है वह सत्य और जिसका अभिहित अर्थ नहीं मिलता उसे असत्य माना जाता है। इस प्रकार बाह्यार्थ के सद्भाव और असद्भाव में ही बुद्धि और शब्द प्रमाण एवं प्रमाणाभास कहे जाते हैं। सर्वथा ज्ञानैकान्त में यह प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था सम्भव नहीं है। अतः उक्त प्रकार से बाह्यार्थ अवश्य सिद्ध होता है और उसके सिद्ध हो जाने पर वक्ता आदि तीन और उनके बोधादि तीन भी सिद्ध हो जाते हैं। अतएव उक्त 'संज्ञात्व' हेतु असिद्धादि दोष युक्त नहीं है।

इस प्रकार इस परिच्छेद में ज्ञापकोपायतत्त्व में भी सप्तभङ्गी की योजना करके उसे स्याद्वादनय से अनेकान्तात्मक सिद्ध किया गया है।

अष्टम परिच्छेदः

इस परिच्छेद में ८८ से ९१ तक चार कारिकायें हैं। ८८वीं कारिका के द्वारा सर्वथा दैववाद की मान्यता में दोष दिखलाते हुए कहा है कि यदि एकान्ततः दैव से ही इष्टानिष्ट वस्तुओं की निष्पत्ति स्वीकार की जाय तो उनका निष्पादक दैव किससे निष्पन्न होता है, यह प्रश्न उपस्थित होता है ? उसकी निष्पत्ति पौरुष से तो मानी नहीं जा सकती, क्योंकि 'सब पदार्थों की सिद्धि दैव से ही होती है' इस मान्यता की समाप्ति हो जाती है। यदि उसकी निष्पत्ति अन्य दैव से कही जाय तो मोक्ष कभी किसीको हो ही नहीं सकेगा, क्योंकि वह अन्य दैव पूर्व दैवसे उत्पन्न होगा और वह दैव भी और पूर्ववर्ती दैवसे उत्पन्न होगा और वह दैव भी और पूर्ववर्ती दैव से होगा और इस तरह पूर्व-पूर्व दैवों का जहाँ तांता बना रहेगा वहाँ पौरुष निष्फल सिद्ध होगा।

८९ वीं कारिका के द्वारा सर्वथा पौरुषवाद को भी दोषपूर्ण बतलाते हुए कहा गया है कि यदि सर्वथा पौरुष से ही

सभी इष्टानिष्ट वस्तुओंकी निष्पत्ति हो तो पौरुष किससे उत्पन्न होता है, यह बताया जाय ? दैव से तो उसकी निष्पत्ति कही नहीं जा सकती, क्योंकि 'पौरुषसे ही सब पदार्थों की सिद्धि होती है' यह प्रतिज्ञा टूट जाती है। अगर अन्य पौरुष से उसकी निष्पत्ति कही जाय तो किसी भी प्राणी का पौरुष (प्रयत्न) निष्फल नहीं होना चाहिए—सभीका पौरुष सफल होना चाहिए। पर ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः दैवैकान्तकी तरह पौरुषैकान्त भी सदोष है और इसलिए वह भी ग्राह्य नहीं है। कारिका ९० के द्वारा उभयैकान्त में विरोध और अनुभयैकान्त में 'अनुभय' शब्द से भी उसका प्रतिपादन न हो सकने का दोष पूर्ववत् बताया गया है।

कारिका ९१ के द्वारा स्याद्वादसे पदार्थों की सिद्धि की गई है। जहाँ इष्टानिष्ट वस्तुओंका समागम बुद्धिव्यापार के बिना मिलता है वहाँ उनकी प्राप्ति दैवसे है और जहाँ उनका समागम बुद्धिव्यापारपूर्वक होता है वहाँ पौरुषकृत है।

इस प्रकार इस परिच्छेद में दैवैकान्त, पौरुषैकान्त आदि एकान्तों को त्रुटिपूर्ण बतलाते हुए उनमें स्याद्वाद से वस्तुसिद्धि की व्यवस्था की गई है और यहाँ भी पूर्ववत् सप्तभङ्गीको योजना दिखलाई है।

नवम परिच्छेदः

इस परिच्छेद में पिछले परिच्छेद में वर्णित दैवकारकोपायतत्त्व के पुण्य और पाप ये दो भेद करके उनकी स्थिति पर विचार किया गया है। पुण्य किन कारणों से होता है और पाप किन बातों से, यही इस परिच्छेद का विषय है, क्योंकि पुण्य और पाप के सम्बन्ध में भी ऐकान्तिक मान्यताएँ हैं।

इसमें चार कारिकाएँ हैं। ९२ वीं कारिका के द्वारा उस मान्यता की समीक्षा की है जिसमें दूसरेमें दुःख उत्पन्न करने से पापबन्ध और सुख उत्पन्न करने से पुण्यबन्ध स्वीकृत है। पर यह मान्यता युक्त नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर दूध आदि दूसरे में सुख तथा कण्टकादि दुःख उत्पन्न करने के कारण उनके भी पुण्यबन्ध और पापबन्ध मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि चेतन ही बन्धयोग्य है, अचेतन दुग्धादि एवं कण्टकादि नहीं, तो वीतराग (कषाय रहित) भी पुण्य और पाप से बंधेंगे, क्योंकि वे अपने भक्तोंमें सुख और अभक्तों में दुःख उत्पन्न करनेमें निमित्त पड़ते हैं। यदि कहा जाय कि उनका उन्हें सुख, दुःख उत्पन्न करने का अभिप्राय न होने से उन्हें पुण्य-पापबन्ध नहीं होता तो परमें सुख उत्पन्न करने से पुण्य और दुःख उत्पन्न करनेसे पापबन्ध होता है, यह एकान्त मान्यता नहीं रहती।

९३ वीं कारिका के द्वारा उन वादियोंकी मीमांसा की है जो कहते हैं कि अपने में दुःख उत्पन्न करने से तो पुण्य और सुख उत्पन्न करने से पापका बन्ध होता है। कहा गया है कि ऐसा सिद्धान्त मानने पर वीतरागमुनि और विद्वान् मुनि भी क्रमशः काय-क्लेशादि दुःख तथा तत्त्वज्ञानादि सुख अपनेमें उत्पन्न करनेके कारण पुण्य-पाप से बंधेंगे। फलतः वे कभी भी संसार-बन्धन से छुटकारा न पा सकेंगे। अतः यह एकान्त भी संगत प्रतीत नहीं होता।

९४ के द्वारा उभयैकान्त में विरोध और अनुभयैकान्त में 'अनुभय' शब्द से भी उसका निर्वचन न हो सकनेका दोष पूर्ववत् प्रदर्शित किया गया है।

कारिका ९५ के द्वारा स्याद्वादसे पुण्य और पाप की व्यवस्था की गई है। युक्तिपूर्वक कहा गया है कि सुख-दुःख, चाहे अपने में उत्पन्न किये जायें और चाहे परमें। यदि वे विशुद्धि (शुभ परिणामों) अथवा संक्लेश (अशुभ परिणामों) से पैदा होते हैं या उन परिणामों के जनक हैं तो क्रमशः उनसे पुण्यास्त्रव और पापास्त्रव होता है। यदि ऐसा नहीं है तो जो दोष ऊपर दिया गया है उसका होना दुर्निवार है। यथार्थ में पुण्य और पाप अपने को या परको सुख-दुःख पहुँचाने मात्र से नहीं होते हैं, अपितु अपने शुभाशुभ परिणामों पर उनका होना निर्भर है। जो सुख-दुःख शुभ परिणामों से जन्य हैं या उनके जनक हैं उनसे सो पुण्य का आस्त्रव होता है और जो अशुभ परिणामोंसे जन्य या उनके जनक हैं वे नियमसे पापास्त्रव के कारण या कार्य हैं। यह वस्तु-व्यवस्था है। इस प्रकार स्याद्वादमें ही पुण्य-पाप की व्यवस्था बनती है, एकान्तवाद में नहीं।

दशम परिच्छेद

इस अन्तिम परिच्छेद में ९६-११४ तक उन्नीस कारिकायें हैं। कारिका ९६ के द्वारा सांख्यदर्शन के उस सिद्धान्तकी समीक्षा की गई है, जिसमें कहा गया है कि 'अज्ञान से बन्ध होता है और ज्ञान से मोक्ष'। परन्तु यह सिद्धान्त युक्त नहीं है, क्योंकि ज्ञेय अनन्त है और इसलिए किसी-न-किसी ज्ञेय का अज्ञान बना रहेगा। ऐसी स्थिति में कभी भी कोई पुरुष केवली (सर्वज्ञ) नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार अल्पज्ञान (प्रकृति-पुरुष का विवेक मात्र) से मोक्ष मानना भी युक्त नहीं है, क्योंकि अल्पज्ञान के साथ बहुत-सा अज्ञान भी रहेगा। ऐसी दशा में बन्ध ही होगा, मोक्ष कभी न हो सकेगा। इस प्रकार विचार करने पर ये दोनों ही एकान्त दोषपूर्ण हैं और इसलिए वे ग्राह्य नहीं हैं।

९७ के द्वारा उभयैकान्त में विरोध और अवाच्यतैकान्त में 'अवाच्य' शब्द के द्वारा उसका भी निर्देश न हो सकने का दोष दिया गया है।

९८ के द्वारा स्याद्वाद से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था बतलाते हुए कहा है कि मोहसहित अज्ञान से बन्ध होता है, मोहरहित अज्ञान से नहीं। इसी तरह मोहरहित अल्पज्ञान से मोक्ष सम्भव है और मोहसहित अल्पज्ञान से नहीं। अतः बन्ध का कारण केवल अज्ञान नहीं है और न मोक्ष का कारण केवल अल्पज्ञान है। यथार्थ में मोह के सद्भाव में बन्ध और मोह के अभाव में मोक्ष अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध होते हैं। अज्ञान का बन्ध के साथ और ज्ञानका मोक्ष के साथ अन्वयव्यभिचार तथा व्यतिरेकव्यभिचार होने से उनका उनके साथ न अन्वय है और न व्यतिरेक। और जब उनका उनके साथ अन्वय-व्यक्तिरेक नहीं है तो उनमें कार्यकारण भाव भी नहीं बन सकता। अतः मोहसहित अज्ञान से बन्ध और मोहरहित थोड़े से भी ज्ञान से मोक्ष की व्यवस्था मानी जानी चाहिए।

कारिका ९९ में उनकी समीक्षा अन्तर्निहित है जो प्राणियों की अनेक प्रकार की इच्छादि की सृष्टिको ईश्वरकृत मानते हैं—उसे उनके शुभाशुभ कर्मजन्य स्वीकार नहीं करते। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्राणियों की इच्छादि की विचित्र सृष्टि उनके स्वकर्मानुसार होती है, ईश्वर उसका कर्त्ता नहीं है और उनका वह कर्म उनके शुभाशुभ परिणामों से अर्जित होता है, क्योंकि समस्त संसारी जीव शुद्धि (शुभ परिणाम) और अशुद्धि (अशुभ परिणाम) की अपेक्षा से दो भागों में विभक्त हैं।

उल्लिखित शुद्धि और अशुद्धि ये दोनों जीवों की एक प्रकारकी शक्तियाँ हैं जो उनमें पाव्य और अपाव्य शक्तियों की तरह नैसर्गिक होती हैं, यह कारिका १०० में प्रतिपादन किया गया है। कारिका १०१ में प्रमाण का लक्षण और भेद बतलाये गये हैं। तत्त्वज्ञान का नाम प्रमाण है। तत्त्वज्ञान दो प्रकार का है— अक्रमभावी और क्रमभावी। जो एक साथ सम्पूर्ण पदार्थों को जानता है ऐसा केवलज्ञान अक्रमभावी है। तथा जो क्रमसे पदार्थों को जानते हैं, ऐसे मति आदि चार ज्ञान क्रमभावी हैं। अक्रमभावी ज्ञान स्याद्वादरूप होता है। किन्तु क्रमभावी ज्ञान स्याद्वाद और नयरूप है।

कारिका १०२ में प्रमाणफलका निर्देश करते हुए उसे दो प्रकार का बतलाया है— एक साक्षात्फल और दूसरा परम्पराफल। अक्रमभावि (केवल ज्ञान) प्रमाणका साक्षात्फल अज्ञाननिवृत्ति और परम्पराफल उपेक्षा (वस्तुओं में रागद्वेषका अभाव) है। क्रमभावि प्रमाणका साक्षात्फल अज्ञाननाश है और परम्पराफल हानबुद्धि, उपादानबुद्धि तथा उपेक्षाबुद्धि है।

कारिका १०३ में सूचित किया है कि वक्ताके प्रत्येक वाक्यमें उसके आशयका बोधक 'स्यात्' निपातपद प्रकट या अप्रकट रूपमें अवश्य विद्यमान रहता है जो एक धर्म (बोध्य) का बोधक (वाचक) होता हुआ अन्य अनेक धर्मों (अनेकधा) का द्योतक होता है। यह बात सामान्य वक्ताके वाक्योंके विषयमें ही नहीं है, केवलियोंके भी वाक्योंमें 'स्यात्' निपातपद निहित रहता है और वह एक (विवक्षित) धर्मका प्ररूपक होता हुआ अन्य सभी (अविवक्षित) धर्मोंका अस्तित्वप्रकाशक होता है।

कारिका १०४ में उसी 'स्यात्' के वाद (मान्यता) को, अर्थात् स्याद्वादको स्पष्ट किया गया है। कहा गया है कि

किञ्चित्, कथञ्चित् शब्दोंसे जिसका विधान होता है और जिसमें एकान्तकी गन्ध नहीं है तथा जो सप्तभङ्गीनय से विवक्षित (उपादेय) का विधायक एवं अविवक्षितों (हेयों-शेष धर्मों) का निषेधक (सन्मात्र सूचक) है वह स्याद्वाद है। कथञ्चिद्वाद, किञ्चिद्वाद इसीके पर्याय हैं।

कारिका १०५ में स्याद्वाद का महत्त्व घोषित करते हुए कहा गया है कि तत्त्वप्रकाशनमें स्याद्वादका वही महत्त्व है जो केवलज्ञान का है। दोनों ही समस्त तत्त्वोंके प्रकाशक हैं। उनमें यदि अन्तर है तो इतना ही कि केवलज्ञान साक्षात् समस्त तत्त्वोंका प्रकाशक है और स्याद्वाद असाक्षात् (परोक्ष) उनका प्रकाशक है।

कारिका १०६ में प्रतिपादन है कि उल्लिखित तत्त्वप्रकाशन स्याद्वाद (श्रुत-अहेतुवाद-आगम) के अतिरिक्त नय से भी होता है और नय से यहाँ हेतु विवक्षित है। जो स्याद्वादके द्वारा जाने गये अर्थ के विशेष (धर्म) का गमक है तथा सापेक्ष के साधर्म्य एवं विपक्षके वैधर्म्य (अन्यथानुपपन्नत्व) को लिए हुए है अर्थात् जो साध्य का अविनाभावी होता हुआ उस (साध्य) का साधक है वह हेतु है। व्याख्याकारोंने इस कारिकामें ग्रन्थकार द्वारा नयलक्षणके भी कहे जाने का व्याख्यान किया है। उनके व्याख्यानके अनुसार नय तत्त्वज्ञान का वह महत्त्वपूर्ण उपाय है जो स्याद्वादद्वारा प्रमित अनेकान्त के एक-एक धर्मका बोध कराता है। समग्रका ग्राहक ज्ञान तो प्रमाण है और असमग्रका ग्राहक नय है। यही इन दोनोंमें भेद है।

कारिका १०७ में जैन सम्मत वस्तु (प्रमेय) का स्वरूप निरूपित है। ऊपर नय का निर्देश किया जा चुका है। उसके तथा उसके भेदों, उपभेदों (उपनयों) के विषयभूत त्रिकालवर्ती धर्मों (गुण-पर्यायों) के समुच्चय (समष्टि) का नाम द्रव्य (वस्तु-प्रमेय) है। यह समुच्चय संयोगादि सम्बन्धरूप न होकर कथञ्चित् अविभ्राङ्गभाव सम्बन्ध (तादात्म्य) रूप है। वस्तुका कोई भी धर्म उसके शेष धर्मों से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न। सभी धर्म परस्पर मैत्रीभावके साथ वस्तुमें वर्तमान हैं और वे सभी वस्तुकी आत्मा (स्वरूप) हैं। इस प्रकार के सहअस्तित्वात्मक सम्बन्ध को अविष्वग्भाव सम्बन्ध कहते हैं। वस्तु सत्सामान्यकी अपेक्षासे एक होती हुई भी धर्म-धर्मोंके भेद से अनेक रूप भी है। अथवा यों कहें कि वह न सर्वथा एक है और न सर्वथा अनेक है, अपितु एकानेकात्मक जात्यन्तररूप है।

कारिका १०८ में उस शङ्काका समाधान प्रस्तुत है, जिसमें कहा गया है कि जैनदर्शन में एकान्तोंके समूहका नाम अनेकान्त है और एकान्त को मिथ्या (असत्य) माना गया है। अतः उनका समूह (अनेकान्त) भी मिथ्या कहा जायेगा। अनेक असत्य मिलकर एक सत्य नहीं बन सकते। इसलिए उक्त एकान्तसमुच्चयरूप अनेकान्तको जो ऊपर वस्तु कहा गया है वह सम्यक् नहीं है? इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि निरपेक्ष एकान्तोंके समूहको यदि मिथ्या कहा जाता है तो वह हमें इष्ट है, क्योंकि स्याद्वादियोंके यहाँ वस्तुमें निरपेक्ष एकान्तता नहीं है। स्याद्वादी सापेक्ष एकान्तको स्वीकार करते हैं तथा उनके ही समूहको अनेकान्त मानते हैं, निरपेक्ष एकान्तों के समूह को नहीं। उन्होंने स्पष्टतया निरपेक्ष नयों (एकान्तों)को मिथ्या (असत्य) और सापेक्षोंको वस्तु (सम्यक्-सत्य) कहा है, क्योंकि वे ही अर्थक्रिया-कारी हैं।

कारिका १०९में वाचकके स्वरूपकी भी स्याद्वाददृष्टि से व्यवस्था की गई है। जो विधि वाक्यों को केवल विधिकी और निषेध वाक्यको केवल निषेधका नियामक मानते हैं उनकी समीक्षा करते हुए कहा गया है कि चाहे विधि वाक्य हो, चाहे निषेध वाक्य, दोनों ही विधि और निषेधरूप अनेकान्तत्मक वस्तुका बोध कराते हैं। जब विधि वाक्य बोला जाता है तो उसके द्वारा अपने विवक्षित विधि धर्मका प्रतिपादन होनेके साथ प्रतिषेध धर्मका भी मौन अस्तित्व स्वीकार किया जाता है—उसका निराकरण या लोप करके वह मात्र विधिकी ही बोध नहीं कराता। इसी प्रकार प्रतिषेध वाक्य भी अपने विवक्षित प्रतिषेध धर्मका कथन करनेके साथ अविनाभावी विधि धर्मका भी मौन ज्ञापन करता है— उसका निरास या उपेक्षा करके केवल निषेधको ही सूचित नहीं करता। इसका कारण यह है कि प्रत्येक वस्तु अनन्तधर्मा है— तद् और अतद् इन विरोधी धर्मोंको अपनेमें समाये हुए है। अतः कोई भी वाक्य उसके इस स्वरूपका लोप करके मनमानी नहीं कर सकता।

हाँ, वह अपने विवक्षित वाच्यका मुख्यतया और शेषका गौणरूपसे अवगम कराता है। इसी तथ्यको प्रस्तुत करनेके लिये स्याद्वाददर्शनमें वक्ता द्वारा बोले गये प्रत्येक वाक्य में 'स्यात्' निपात-पद कहीं प्रकट और कहीं अप्रकट रूपसे अवश्य रहता है। यदि विधि वाक्य या निषेध वाक्य केवल विधि या केवल निषेधके ही नियामक हों तो अन्य विरोधी धर्मोंका लोप होनेसे उनका अविनाभावी अभिधेय धर्मका भी अभाव हो जायेगा और तब वस्तुमें कोई भी धर्म (विशेषण) न रहने पर वह अविशेष्य (शून्य) हो जायेगी।

११०-११३ तक चार कारिकाओंके द्वारा वाच्यके स्वरूपमें अङ्गीकार करनेवाले एकान्तवादियोंके अभिनिवेशोंकी समीक्षा करते हुए स्याद्वादसे वाच्यके भी स्वरूपकी स्थापना की है। ग्रन्थकार कहते हैं कि प्रत्येक (वाक्य) तद् और अतद्रूप वस्तुको कहता है, यह हम ऊपर देख चुके हैं, तो 'तद्रूप' ही वस्तु है' ऐसा कथन करनेवाला वचन सत्य नहीं है और जब वह सत्य नहीं तब असत्य वाक्योंके द्वारा तत्त्वार्थ (यथार्थ वस्तु)का उपदेश कैसे हो सकता है ? विधिवादियोंको इसपर गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

'यदि कोई कहे कि वाक्य प्रतिषेध द्वारा ही अर्थ का नियमन या सूचन करते हैं तो ऐसी एकान्त मान्यता भी युक्त नहीं है', क्योंकि वाणीका स्वभाव है कि वह अन्य वचन द्वारा प्रतिपाद्य अर्थका निषेध करती हुई अपने अर्थ सामान्यका भी प्रतिपादन करती है। जो वाणी ऐसी नहीं है वह खपुष्पके समान मिथ्या है।

वाणी केवल अन्यव्यावृत्तिरूप (अन्यापोह) सामान्यका प्रतिपादन करती है, विशेष (स्वलक्षण)का नहीं, यह कथन भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि अन्यव्यावृत्ति मृषा होनेसे वह शब्दका अर्थ (वाच्य) नहीं हो सकती। जिस शब्द से जिस अर्थविशेष की प्रतीति, प्राप्ति और जिसमें प्रवृत्ति हो वही उस शब्द का अर्थ है। तुच्छरूप अन्यव्यावृत्ति किसी भी शब्दसे ज्ञात या प्राप्त नहीं होती और न उसमें किसीकी प्रवृत्ति होती है। अतः वह शब्दका वाच्य नहीं है। चूँकि घटपटादि शब्दोंसे घटपटादि विशेष अभिप्रेतोंकी प्रतीति एवं प्राप्ति होती है और उन शब्दोंको सुनकर श्रोताकी उन्हींमें प्रवृत्ति होती है, अतः घटादि शब्दोंका वाच्य घटादि अभिप्रेत विशेष है, अघटादिव्यावृत्ति नहीं। अतः 'स्यात्' पदसे अङ्कित वचन ही सत्यके सूचक एवं प्रकाशक हैं। जो वचन 'स्यात्' पदसे अङ्कित नहीं वे सत्यका प्रकाशन नहीं कर सकते।

जो अभीप्सित अर्थका कारण है और प्रतिषेध्य (विरोधी)का अविनाभावी है वही शब्दका विधेय है और वही आदेय तथा उसका प्रतिषेध्य हेय है। यथार्थमें वक्ताके लिये जो इष्ट है उसे कहने तथा जो इष्ट नहीं उसके निषेध करनेके लिये ही उसके द्वारा शब्दका प्रयोग किया जाता है। और जिसके लिये शब्दका प्रयोग होता है वही उसका वाच्य है। अतः शब्दका वाच्य न सर्वथा विधि है और न सर्वथा अन्यव्यावृत्ति (निषेध) है, अपितु उभयात्मक (अनेकान्तरूप) वस्तु उसका वाच्य है। इस प्रकार सभी वस्तुएँ— प्रमाण, प्रमेय, वाचक, वाच्य आदि स्वभावतः स्याद्वाद मुद्राङ्कित हैं।

इस अन्तिम परिच्छेदकी अन्तिम कारिका ११४ है। इसमें ग्रन्थका उपसंहार करते हुए ग्रन्थकारने अपनी प्रस्तुत कृतिका प्रयोजन प्रदर्शित किया है। कहा है कि हमने यह आप्तमीमांसा कल्याणके इच्छुक लोगोंके लिये की है, जिससे वे यह जान सकें, श्रद्धा कर सकें और समाचरण भी कर सकें कि सम्यक् कथन अमुक है और मिथ्या कथन अमुक है और इस तरह सम्यक् कथन की सत्यता एवं उपादेयता तथा मिथ्या कथनकी असत्यता एवं हेयताका उन्हें अवधारण हो सके। इससे आचार्य महोदयके परहित सम्पादन-प्रवण हृदयका और उनकी दर्शनविशुद्धि, प्रवचनवात्सल्य तथा मार्गप्रभावना जैसी उच्च भावनाओंका परिचय मिलता है।

(ग) देवागमकी व्याख्याएँ :

ऊपर देवागम और उसके प्रतिपाद्य विषय का कुछ परिचय दिया गया है। अब उसकी व्याख्याओंका भी परिचय देनेका प्रयास किया जाता है।

देवागम पर तीन व्याख्याएँ उपलब्ध हैं— १. देवागम-विवृति (अष्टशतीभाष्य), २. देवागमालङ्कार (आप्तमीमांसालङ्कार-अष्टसहस्री) और ३. देवागमवृत्ति।

१. देवागम-विवृति (अष्टशती) :

इसके रचयिता आ० अकलङ्कदेव हैं। यह देवागमकी उपलब्ध व्याख्याओंमें सबसे प्राचीन और अत्यन्त दुरूह व्याख्या है। इसके परिच्छेदोंके अन्तमें जो समाप्ति-पुष्पिकावाक्य पाये जाते हैं उनमें इसका आप्तमीमांसाभाष्य (देवागम-भाष्य) के नामसे उल्लेख हुआ है।^{११} आ० विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके तृतीय परिच्छेदके आरम्भमें जो ग्रन्थ-प्रशंसामें पद्य दिया है उसमें उन्होंने इसका 'अष्टशती' नाम भी निर्दिष्ट किया है।^{१२} सम्भवतः आठसौ श्लोक-प्रमाण रचना होने से इसे उन्होंने 'अष्टशती' कहा है। लगता है कि इस अष्टशतीको ध्यानमें रखकर ही अपनी 'देवागमालंकृति' व्याख्याको उन्होंने आठ हजार श्लोक-प्रमित बनाया और 'अष्टसहस्री' नाम रखा। इस तरह यह अकलङ्कदेव की व्याख्या देवागम-विवृति, आप्तमीमांसा-भाष्य (देवागम-भाष्य) और अष्टशती इन तीनों नामोंसे जैन वाङ्मयमें विश्रुत है। इसका प्रायः प्रत्येक स्थल इतना जटिल एवं दुरवगाह है कि साधारण विद्वानोंका इसमें प्रवेश सम्भव नहीं है। उसके मर्म एवं रहस्य को 'अष्टसहस्री'के सहारे ही ज्ञात किया जा सकता है। भारतीय दर्शन-साहित्यमें इसकी जोड़की रचना दुर्लभ है। अष्टसहस्रीके अध्ययनमें जिस प्रकार कष्टसहस्रीका अनुभव होता है उसी प्रकार इस अष्टशतीके अभ्यास में भी कष्टशतीका अनुभव उसके अभ्यासीको पद-पद पर होता है।

२. देवागमालंकृति (अष्टसहस्री)

यह आ० विद्यानन्दकी अपूर्व एवं महत्त्वपूर्ण रचना है। इसे आप्तमीमांसालंकृति, आप्तमीमांसालङ्कार और देवागमालङ्कार इन नामोंसे भी साहित्य में उल्लिखित किया गया है। आठ हजार श्लोक-प्रमाण होनेसे इसे लेखकने स्वयं 'अष्टसहस्री' भी कहा है।^{१३} देवागमकी तीनों व्याख्याओं में यह विस्तृत और प्रमेयबहुल व्याख्या है। इसमें देवागमकी कारिकाओं और उनके प्रत्येक पद-वाक्यादिका विस्तारपूर्वक अर्थोद्घाटन किया है। साथ ही उपर्युक्त अष्टशती के प्रत्येक पद वाक्यादिका भी विशद अर्थ एवं मर्म प्रस्तुत किया है। अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें इस तरह आत्मसात् कर लिया गया है, कि यदि दोनोंको भेद-सूचक पृथक्-पृथक् टाइपोंमें न रखा जाय तो पाठकको यह जानना कठिन है कि यह अष्टशतीका अंश है और यह अष्टसहस्रीका। विद्यानन्दने अष्टशतीके आगे, पीछे और मध्य की आवश्यक एवं अर्थोपयोगी सान्दर्भिक वाक्यरचना करके अष्टशतीको अष्टसहस्रीमें मणि-प्रवाल-न्यायसे अनुस्यूत किया है और अपनी तलस्पर्शिनी अद्भुत प्रतिभाका चमत्कार दिखाया है। वस्तुतः यदि विद्यानन्द यह देवागमालंकृति न रचते तो अष्टशतीका गूढ़ रहस्य अष्टशतीमें ही छिपा रहता और मेधावियोंके लिये भी वह रहस्यपूर्ण बनी रहती। देवागम और अष्टशतीके व्याख्यानोंके अतिरिक्त इसमें विद्यानन्दने कितना ही नया विचारपूर्ण प्रमेय और अपूर्व चर्चाएँ भी प्रस्तुत की हैं। व्याख्याकारने अपनी इस व्याख्याके महत्त्व की उद्घोषणा करते हुए लिखा है—

'हजारशास्त्रोंका पढ़ना-सुनना एक तरफ है और एकमात्र इस कृतिका अध्ययन एक ओर है ; क्योंकि इस एकके अभ्याससे ही स्वसमय और परसमय दोनोंका ज्ञान हो जाता है।' व्याख्याकारकी यह घोषणा न मदोक्ति है और न अतिशयोक्ति। अष्टसहस्री स्वयं इसकी निर्णायिका है। देवागममें यतः दश परिच्छेद हैं अतः उसके व्याख्यास्वरूप अष्टसहस्रीमें भी दश परिच्छेद हैं। प्रत्येक परिच्छेदका आरम्भ और समाप्ति दोनों एक-एक गम्भीर पद्य द्वारा किये गये हैं। इस पर लघुसमन्तभद्र (१३वीं शती) ने 'अष्टसहस्री-विषमपदतात्पर्यटीका' और श्वेताम्बर विद्वान् यशोविजय (१७ वीं शती) ने 'अष्टसहस्रीतात्पर्यविवरण' नामकी व्याख्याएँ लिखी हैं, जो अष्टसहस्रीके विषमपदों, वाक्यों और और स्थलोंका स्पष्टीकरण करती हैं। यह देवागमालंकृति कोई ८० वर्ष पूर्व सन् १९१५में सेठ नाथारङ्ग जी गांधी सोलापुर द्वारा एक बार प्रकाशित हो चुकी है। पर वह अब अप्राप्य है। अब आधुनिक सम्पादन के साथ इसका यह शुद्ध संस्करण प्रकट हो रहा है।

३. देवागम-वृत्ति— यह देवागमकी लघुपरिमाणकी व्याख्या है। यह न अष्टशतीकी तरह दुरूह है और न अष्टसहस्रीके

समान विस्तृत एवं गम्भीर है। कारिकाओंका व्याख्यान भी लम्बा नहीं है और न दार्शनिक विस्तृत ऊहापोह है। मात्र कारिकाओं और उनके पद-वाक्योंका शब्दार्थ और कहीं-कहीं फलितार्थ अतिसंक्षेपमें प्रस्तुत किया गया है। पर हाँ कारिकाओंका अर्थ समझनेके लिये यह वृत्ति पर्याप्त उपयोगी है। इसके रचयिता आचार्य वसुनन्दि हैं, जिन्होंने वृत्तिके अन्तमें स्वयं लिखा है^{१४} कि मैं मन्दबुद्धि और विस्मरणशील व्यक्ति हूँ। मैंने अपने उपकार के लिए ही इस देवागमका संक्षिप्त विवरण किया है। वृत्तिकार के इस स्पष्ट आत्मनिवेदनसे इस वृत्तिकी लघुरूपता और उसका प्रयोजन अवगत हो जाता है। उल्लेखनीय है कि वसुनन्दि के समक्ष देवागम की ११४ कारिकाओं पर ही अष्टशती और अष्टसहस्री उपलब्ध होते हुए तथा 'जयति जगति' आदि कारिकाको विद्यानन्दके उल्लेखानुसार किसी पूर्ववर्ती आचार्यकी देवागम-व्याख्याका समाप्ति-मङ्गल पद्य जानते हुए भी उन्होंने उसे देवागम की ११५ वीं कारिका किस आधार पर माना और उसका विवरण किया ? यह चिन्तनीय है। हमारा विचार है कि प्राचीनकालमें साधुओंमें देवागमका पाठ करने और उसे कठस्थ रखनेकी परम्परा रही है। वसुनन्दिने देवागमकी ११४ कारिकाओंके साथ उक्त अज्ञात देवागम-व्याख्याका समाप्तिमङ्गल-पद्य भी अङ्कित कर दिया होगा और उसपर ११५ का अङ्क डाल दिया होगा। वसुनन्दिने अष्टशती और अष्टसहस्री टीकाओं परसे जानकारी एवं अनुसन्धान किये बिना देवागमका अर्थ हृदयङ्गम रखनेके लिए यह देवागम-वृत्ति लिखी होगी और उसमें कण्ठस्थ सभी (११५) कारिकाओंका विवरण लिखा होगा। यही कारण है कि प्रस्तुतवृत्तिमें न कहीं अष्टशती के पद-वाक्यादिका निर्देश मिलता है और न कहीं अष्टसहस्री के। अस्तु। यह देवागमवृत्ति कलकत्ता की सनातन जैन ग्रन्थमाला द्वारा सन् १९१४ में एक बार प्रकाशित हो चुकी है। इसे अब अच्छे संस्करण के रूप में पुनः मुद्रित होना चाहिए।

(घ) देवागम-रचनाका मूलाधार :

ऊपर देवागम और उसकी व्याख्याओंका परिचय देनेके बाद उसकी रचनाके मूलाधार पर भी यहाँ विचार किया जाता है। आचार्य विद्यानन्दका जैनवाङ्मय में सम्मानपूर्ण स्थान है और उनकी कृतियों को आप्तवचन जैसा माना जाता है। विद्यानन्दके उल्लेखानुसार स्वामी समन्तभद्र ने देवागमकी रचना तत्त्वार्थसूत्रके आरम्भमें स्तुत आप्तकी मीमांसाके लिये की थी। उनके वे उल्लेख निम्न प्रकार हैं :—

- (१) 'शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिः.....' —अष्टस० आदिमङ्गल, श्लो० १, पृ० १।
 (२) 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूद्भेतृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञस्यैवान्य योगव्यवच्छेदेन व्यवस्थापनपरा परीक्षेयं विहिता।' —अष्टस० पृ० २९४।
 (३) श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य, प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
 स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथित-पृथु-पथं स्वामि-मीमांसितं तत् विद्यानन्दैः स्वशक्त्या..... ॥ —आप्तप० का० १२३, पृ० २६२।

(४) '.... इति संक्षेपतः शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्यान्वयः सम्प्रदायाव्यवच्छेदलक्षणः पदार्थ-घटनालक्षणो वा लक्षणीयः, प्रपञ्चतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्'। —(आप्तप० का० १२०, पृ० २६१-२६२।

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि तत्त्वार्थशास्त्र (तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थसूत्र, निःश्रेयसशास्त्र या मोक्षशास्त्र)के आरम्भमें जिन 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि तीन असाधारण विशेषणोंसे आप्तकी वन्दना शास्त्रकार आचार्य उमास्वामीने की है उन्हीं विशेषणों की मीमांसा (सोपपत्ति विचारणा) स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसा में की है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वार्थसूत्रका 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गलस्तोत्र आप्तमीमांसा की रचना का मूलाधार है। विद्यानन्दके उक्त उल्लेखोंमें आये हुए 'शास्त्रावतार-रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं', 'शास्त्रकारैः कृतं यत् स्तोत्रं-स्वामिमीमांसितं तत्',... 'शास्त्रादौ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य मुनिपुङ्गवैर्विधीयमानस्य.. तदन्वयस्याक्षेप-समाधानलक्षणस्य श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिभिर्देवागमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्'

जैसे स्पष्ट और अर्थगर्भ शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं, जो आप्तमीमांसाको तत्त्वार्थसूत्रके मङ्गलस्तोत्रका व्याख्यान असन्दिग्ध घोषित कर रहे हैं। विद्यानंदने अपने इस कथनको साधार और परम्परागत बतलानेके लिए उसे अकलङ्कदेवके अष्टशतीगत उस प्रतिपादनसे भी प्रमाणित किया है जिसमें अकलङ्कदेवने आप्तकी मीमांसा (परीक्षा) करनेके कारण समन्तभद्र पर किये जानेवाले अश्रद्धालुता और अगुणज्ञताके आक्षेपोंका उत्तर देते हुए कहा है कि ग्रन्थकार ने देवागमादि मङ्गलपूर्वक की गई 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तवके विषयभूत परमात्माके गुणविशेषोंकी परीक्षाको स्वीकार किया है, इससे उनमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनों बातें स्वयं सिद्ध हो जाती हैं, क्योंकि उनमें एककी कमी रहने पर परीक्षा सम्भव नहीं है। निश्चय ही ग्रन्थकारने शास्त्रन्याय (तत्त्वार्थशास्त्रकी पद्धति-मङ्गल-विधानपूर्वक शास्त्रकरण)का अनुसरण करके ही आप्तमीमांसाकी रचनाका उपक्रम किया है और इससे सहज ही जाना जा सकता है कि ग्रन्थकारमें श्रद्धा और गुणज्ञता दोनों हैं। अकलङ्कका वह प्रतिपादन इस प्रकार है :—

‘देवागमेत्यादिमंगलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव स्वयं श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते। तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः। शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासात्।

—अष्टश० अष्टस० पृ० २।

विद्यानंदने अकलङ्कदेवके इस प्रतिपादन और अपने उक्त कथनका इसी अष्टसहस्री (पृ० ३) में समन्वय भी किया है और इस तरह अपने निरूपणको उन्होंने परम्परागत सिद्ध करके उसमें प्रामाण्य स्थापित किया है।

(ड) ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ स्तोत्र तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरणः

जहाँ विद्यानंद और अकलङ्कदेवके उपर्युक्त उल्लेखोंसे सिद्ध है कि स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमांसा ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ आदि स्तोत्रके व्याख्यानमें लिखी गई है वहाँ विद्यानंदके ही उक्त उल्लेखों परसे यह भी स्पष्ट है कि वे उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रका मंगलाचरण मानते हैं तथा तत्त्वार्थ अथवा तत्त्वार्थशास्त्रसे उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छ रचित दशाध्यायी तत्त्वार्थसूत्र ही विवक्षित है^{१५}। इस सम्बन्धमें पर्याप्त ऊहापोह एवं विस्तारपूर्वक विचार अन्यत्र किया जा चुका है^{१६}। परन्तु कुछ विद्वान् विद्यानंदके उक्त उल्लेखोंका साभिप्राय अर्थविपर्यास करके उसे सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद देवनन्दिकी रचना बतलाते हैं^{१७}। उनका प्रयास है कि प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा खोजपूर्ण अनेकविध प्रमाणोंसे निर्णीत स्वामी समन्तभद्रके विक्रम सं० दूसरी-तीसरी शताब्दीके समयको वि० सं० सातवीं-आठवीं शताब्दी सिद्ध किया जाये।

यहाँ उनकी स्थापनाओंको देकर उनपर सूक्ष्म और गहराईसे विचार किया जाता है :—

(१) आप्तपरीक्षागत प्रयोगोंसे सिद्ध है कि ‘सूत्रकार’ शब्द केवल आचार्य उमास्वामीके लिए ही प्रयुक्त नहीं होता था, दूसरे आचार्योंके लिए भी उसका प्रयोग किया जाता था।

(२) तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्रकी अनुपपत्ति उपस्थापन और उसके परिहारकी चर्चासे स्पष्ट फलित होता है कि विद्यानंदके सामने तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें ‘मोक्षमार्गस्य नेतारम्’ श्लोक नहीं था।

(३) अष्टसहस्री तथा आप्तपरीक्षाके कुछ विशेष उल्लेखोंसे सिद्ध होता है कि इसी श्लोकके विषयभूत आप्तकी मीमांसा समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसामें की।

१. समीक्षा :

इन तीनों स्थापनाओंकी यहाँ समीक्षाकी जाती है। प्रथम स्थापना के समर्थनमें विद्यानंद के ग्रन्थों से कोई ऐसा उल्लेखनीय प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया, जिसमें उन्होंने उमास्वामीके अतिरिक्त अन्य किसी आचार्यको सूत्रकार या शास्त्रकार कहा हो। तथ्य तो यह है कि विद्यानंदने अपने किसी भी ग्रन्थ में उमास्वामीके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थकर्ताको सूत्रकार या शास्त्रकार नहीं लिखा। जहाँ कहीं अन्य ग्रन्थकर्ताओंके उन्होंने अवतरण दिये हैं उन्हें उन्होंने उनके नाम से या

ग्रन्थनामसे केवल 'तदुक्तम्' कहकर उल्लेखित किया है, सूत्रकार या शास्त्रकारके नामसे नहीं। सूत्रकार या शास्त्रकार शब्दका प्रयोग केवल उमास्वामीके लिए किया है। इस सम्बन्धमें हमने विद्यानन्दके ग्रन्थों परसे खोजकर ३३ अवतरण उदाहरणार्थ अन्यत्र दिये हैं^{१८}, जिनसे स्पष्ट है कि विद्यानन्दकी प्रकृति अन्य आचार्योंको सूत्रकार या शास्त्रकार लिखनेकी नहीं रही, केवल उमास्वामीके लिए ही इन दोनों शब्दोंका उन्होंने प्रयोग किया है। किसी लेखकका जो सूत्रलक्षण 'सूत्रं हि सत्यं सयुक्तिकं चोच्यते...' उन्होंने कहींसे उद्धृत किया है उससे इतना ही सिद्ध करना उन्हें अभिप्रेत है कि इस लक्षणानुसार भी तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंमें सूत्रता है। उससे यह अभिप्राय कदापि नहीं निकाला जा सकता है कि उन्होंने अन्य लेखकको भी शास्त्रकार या सूत्रकार कहा है।

२. दूसरी स्थापना के समर्थन में जो यह कहा गया है कि उक्त मङ्गल श्लोककी व्याख्याकारों द्वारा व्याख्या न होने से वह तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गल पद्य नहीं है। वह भी युक्त नहीं है; क्योंकि व्याख्याकारोंको यह आवश्यक नहीं है कि वे व्याख्येय ग्रन्थ के मङ्गलाचरण की भी व्याख्या करें। उदाहरणार्थ श्वेताम्बर 'कर्मस्तव' नामक द्वितीय कर्मग्रन्थ और 'षडशीति' नाम के चतुर्थ कर्मग्रन्थको लीजिए। इनमें मङ्गलाचरण उपलब्ध है। पर उनके भाष्यकारों ने अपने भाष्यों में उनका भाष्य या व्याख्यान नहीं किया है। फिर भी वे मङ्गलाचरण उन्हीं ग्रन्थोंके माने जाते हैं। एक अन्य उदाहरण और लीजिए, श्वेताम्बर तत्त्वार्थाधिगमसूत्रमूलके साथ जो ३१ सम्बन्धकारिकाएँ पायी जाती हैं उनका स्वोपज्ञभाष्यमें कोई व्याख्यान या भाष्य नहीं किया गया। फिर भी उन्हें सूत्रकार-रचित माना जाता है। बात यह है कि व्याख्याकार मूलके उन्हीं पदों और वाक्योंकी व्याख्या करते हैं जो कठिन होते हैं या जिनके सम्बन्ध में विशेष कहना चाहते हैं। जो पद-वाक्यादि सुगम होते हैं उन्हें वे 'सुगमम्' कहकर या बिना कहे अव्याख्यात छोड़ देते हैं। 'मोक्षमार्गस्य... श्लोक भी सुगम है। इसीसे उसकी व्याख्याकारोंने व्याख्या नहीं की।'^{१९} 'अतः उक्त श्लोकको अव्याख्यात होनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि वह सूत्रकारकृत नहीं है।'

इस स्थापनाके समर्थनमें एक बात यह भी कही गई है कि विद्यानन्दको यदि उक्त मङ्गल-स्तोत्र उमास्वामी प्रणीत अभिप्रेत होता तो वे 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे... आदि सोत्थानिका वाक्य द्वारा अनुपपत्तिस्थापन और उसका परिहार न कर उसीका यहाँ निर्देश करते। इस सम्बन्ध में हम इतना ही पूछना चाहते हैं कि स्थापनाकारने उक्त उत्थानिकावाक्य सहित पद्योंसे उक्त अर्थ कैसे निकाला? क्योंकि विद्यानन्दने यहाँ केवल उस प्रसङ्गोपात्त अनुपपत्तिको प्रस्तुत करके उसका परिहार किया है, जिसमें अनुपपत्तिकारने कहा कि जब न कोई मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष है और न कोई प्रतिपाद्यविशेष, तब प्रथम सूत्र की रचना असंगत है? इस अनुपपत्तिका परिहार करते हुए वे कहते हैं कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि मङ्गल स्तोत्र द्वारा सर्वज्ञ, वीतराग और मोक्षमार्गके नेता की स्तुति करके सिद्ध कर दिया है कि मोक्षमार्गका प्रवक्ताविशेष है और प्रतिपाद्यविशेष भी है। और इसलिए भावी श्रेयसे युक्त होनेवाले ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा की मोक्षमार्गको जाननेकी अधिलाषा होने पर सूत्रकार द्वारा प्रथम सूत्रका रचा जाना संगत है। विद्यानन्दका वह पूरा स्थल इस प्रकार है :—

“ननु च तत्त्वार्थशास्त्रस्यादिसूत्रं तावदनुपपन्नं प्रवृत्तविशेषस्याभावेऽपि प्रतिपाद्यविशेषस्य च कस्यचित्प्रतिपित्सायामेव प्रवृत्तत्वादित्यनुपपत्तिचोदनायामुत्तरमाह—

प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे साक्षात्प्रक्षीणकल्मषे ।

सिद्धे मुनीन्द्रसंतुत्ये मोक्षमार्गस्य नेतरि ॥

सत्यां तत्प्रतिपित्सायामुपयोगात्मकात्मनः ।

श्रेयसा योक्ष्यमाणस्य प्रवृत्तं सूत्रमादिमम् ॥

तेनोपपन्नमेवेति तात्पर्यम् ।”

—त० श्लोक०, पृ० ४ ।

विद्यानंदने यहाँ 'प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थे', 'साक्षात्प्रक्षीणकल्पये' और 'मोक्षमार्गस्य नेतारि' पदोंके द्वारा आप्तके जिन गुणोंका उल्लेख किया है वे वही हैं जो 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि स्तोत्र में अभिहित हैं— उसीका यहाँ उन्होंने अनुवाद (पुनरावर्तन) किया है। 'सिद्धे मुनीन्द्रसंस्तुत्ये' पदके द्वारा तो उन्होंने स्पष्ट कर दिया है कि मुनीन्द्र (सूत्रकार) ने उक्त विशेषणोंसे आप्तकी स्तुति करनेके बाद ही आदिसूत्र रचा। हमें आश्चर्य है कि विद्यानंदके जो उल्लेख स्थापनाकारके रचनात्र भी साधक न होकर उसके लिए 'स्ववधाय कृत्योत्थापन' रूप हैं, उन्हें प्रस्तुत करनेका साहस क्यों किया जाता है।

३. तीसरी स्थापनामें जो उक्त स्तोत्रके व्याख्यानस्वरूप आप्तमीमांसाके लिखे जानेकी बात कही गई है उसमें कोई विवाद नहीं है। पर जब उस स्तोत्रको विद्यानंदके उल्लेखों द्वारा, जो स्थापनाकारके अभिप्रायके लेशमात्र भी साधक नहीं है, पूज्यपाद-देवनन्दिका सिद्ध करनेकी असफल चेष्टाकी जाती है तब भारी आश्चर्य होता है। 'प्रोत्थानारम्भकाले' इस आप्त-परीक्षागत पदका सीधा और प्रकरणसंगत अर्थ है—

'प्रयत्नारम्भसमय में अथवा अवतरणारम्भसमयमें'। परन्तु इस सीधे अर्थको अङ्गीकार न कर उसका अर्थ किया गया है कि 'उत्थान शब्दका अर्थ है पुस्तक, अतएव प्रोत्थान शब्दका अर्थ हुआ प्रकृष्ट उत्थान अर्थात् वृत्ति या व्याख्यान, अतएव 'प्रोत्थानारम्भकाले', का अर्थ हुआ 'व्याख्यानारम्भकाले'। प्रश्न है कि प्रकृष्टसे वृत्ति या व्याख्यानका ग्रहण कैसे कर लिया गया? क्योंकि उसका समर्थन न किसी कोषसे होता है और न परम्परागत किसी स्रोतसे। यदि विद्यानंदको उक्त स्रोत पूज्यपाद-देवनन्दिकी वृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) का बताना इष्ट होता तो वे इतना बुद्धिव्यायाम न कर पाठकोंको उलझनमें न डालते और 'प्रोत्थानारम्भकाले' न लिखकर 'व्याख्यानारम्भकाले' लिख सकते थे। इसी तरह 'शास्त्रकारैः कृतं' के स्थान पर 'वृत्तिकारैः कृतं' दे सकते थे। इससे श्लोककी रचनामें कोई क्षति भी नहीं होती। किन्तु विद्यानंदको यह सब इष्ट ही नहीं था। वे असन्दिग्ध रूपमें उक्त स्तोत्रको तत्त्वार्थशास्त्रका मानते थे और उसे शास्त्रकार, न कि वृत्तिकार रचित स्वीकार करते थे और शास्त्रकार या सूत्रकारसे उन्हें आचार्य गृद्धपिच्छ (उमास्वामी) ही अप्रिप्रेत थे।

अतः विद्यानंदके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकगत उक्त उल्लेख, अष्टसहस्रीमें आये 'शास्त्रारम्भेऽभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्ग-प्रणेतृतया...' आदि निर्देश और आप्तपरीक्षागत 'श्रीमतत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेः... प्रोत्थानारम्भकाले... शास्त्रकारैः कृतं यत्। स्तोत्रं..., इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।' उल्लेखों से असन्दिग्ध है कि वे 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' स्तोत्रका कर्ता शास्त्रकारको मानते हैं और 'शास्त्रकार'से उन्हें एकमात्र तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य गृद्धपिच्छ ही विवक्षित हैं, सर्वार्थसिद्धिकार पूज्यपाद-देवनन्दि नहीं। विद्यानंदने अपने सभी ग्रन्थोंमें 'शास्त्रकार' और सूत्रकार पदोंका प्रयोग केवल तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके लिए किया है। इसी प्रकार तत्त्वार्थ, तत्त्वार्थशास्त्र, या निःश्रेयसशास्त्र शब्दोंका प्रयोग भी उन्हींके तत्त्वार्थसूत्रके लिए हुआ है, व्यापक या अन्य अर्थमें नहीं, यह हम ऊपर देख चुके हैं।

विद्यानंदके उपर्युक्त उल्लेखोंके अलावा उक्त मङ्गलश्लोकको सूत्रकार गृद्धपिच्छ-उमास्वामीकृत बतलानेवाला एक अतिस्पष्ट, एवं अप्रान्त उल्लेख और प्राप्त हुआ है। वह निम्न प्रकार है:—

'गृद्धपिच्छाचार्येणापि तत्त्वार्थशास्त्रस्यादौ' मोक्षमार्गस्य नेतारम्' इत्यादिना अर्हन्नमस्कारस्यैव परममंगलतया प्रथम-मुक्तत्वात्।'।

—गो०जी०, म०प्र० टी०, पृ० १४।

यह उल्लेख सात-आठ सौ वर्ष प्राचीन गोम्मतसार जीवकाण्डकी मन्दप्रबोधिका टीकाके रचयिता सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य अभयचन्द्र (१२वीं-१३वीं सदी) का है। इसमें उन्होंने उक्त मङ्गलस्तोत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकृत स्पष्ट लिखा है और उसे तत्त्वार्थशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) के आरम्भमें उनके द्वारा रचा गया बतलाया है, उसे पूज्यपाद-देवनन्दिकी तत्त्वार्थवृत्तिका नहीं कहा। इससे प्रकट है कि आजसे सातसौ-आठसौ वर्ष पूर्व भी वह गृद्धपिच्छाचार्यके तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गल-स्तोत्र माना जाता था। इस उल्लेखकी एक बात और ध्यातव्य है। वह यह कि प्राचीन समयमें तत्त्वार्थशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रको ही कहा जाता था और उससे आचार्य गृद्धपिच्छ रचित तत्त्वार्थसूत्र ही लिया जाता था।

देवागम और उसकी व्याख्याओंके प्रसङ्गसे इतनी चर्चा करनेके उपरान्त अब उसके कर्ताके सम्बन्धमें भी विचार किया जाता है।

२. समन्तभद्र :

इस मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण कृतिके उपस्थापक आचार्य समन्तभद्र हैं, जो साहित्य और शिलालेखों में विशिष्ट सम्मानके प्रदर्शक 'स्वामी' पदसे विभूषित मिलते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द और गृद्धपिच्छके पश्चात् जैन वाङ्मयको जिस मनीषीने सर्वाधिक प्रभावित किया और जो यशोभाजन हुआ वह यही स्वामी समन्तभद्र हैं। इनका यशोगान शिलालेखों तथा वाङ्मय के मूर्धन्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंमें बहुलतया उपलब्ध है। अकलङ्कदेवने स्याद्वादतीर्थका प्रभावक और स्याद्वादमार्ग का परिपालक, विद्यानन्दने स्याद्वादमार्गाग्रणी, वादिराजने सर्वज्ञका प्रदर्शक, मलयगिरिने आद्यस्तुतिकार तथा शिलालेखोंमें वीर शासनकी सहस्रगुणीवृद्धि करनेवाला, श्रुतकेवलिसन्तानोन्नायक, समस्तशास्त्रविद्यानिधि, शास्त्रकर्ता एवं कलिकालगणधर कहकर उनका कीर्तिगान किया है। यथार्थमें जब तत्त्वनिर्णय ऐकान्तिक होने लगा और उसे उतना ही माना जाने लगा तथा आर्हत-परम्परा ऋषभादि तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्थापक स्याद्वादन्यायको भूलने लगी, तो इसी महान् आचार्यने उसे उज्जीवित एवं प्रभावित किया। अतः ऐसे शासन-प्रभावक और तत्त्वज्ञान-प्रसारक मूर्धन्य मनीषीका विद्वानों द्वारा गुणगान हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

इनका विस्तृत परिचय और समयादिका निर्णय श्रद्धेय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने 'स्वामीसमन्तभद्र' नामक इतिहास-ग्रन्थमें दिया है। वह इतना प्रभावपूर्ण, अविकल और शोधात्मक है कि आज भी उसमें संशोधन, परिवर्तन या परिवर्धनकी गुंजाइश प्रतीत नहीं होती। वह बिल्कुल नया और चिन्तनपूर्ण है। उसमें इतनी सामग्री निहित है कि उसपर शोधार्थी अनेक शोध-प्रबन्ध लिख सकते हैं। अतएव यहाँ समन्तभद्रके परिचयादि की पुनरावृत्ति न करके केवल उनकी उपलब्धियोंपर प्रकाश डालनेका प्रयास करेंगे।

(क) समन्तभद्रके पूर्वका युग :

जैन अनुश्रुतिके अनुसार जैनधर्मके प्रवर्तक क्रमशः कालके अन्तरालको लिए चौबीस तीर्थकर हुए हैं। इनमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव, बाईसवें अरिष्टनेमि, तेईसवें पार्श्वनाथ और चौबीसवें वर्द्धमान-महावीर तो ऐतिहासिक और लोकप्रसिद्ध भी हैं। इन तीर्थकरोंके द्वारा जो उपदेश दिया गया वह द्वादशांग कहा गया है। जैसे बुद्धके उपदेशको त्रिपिटक कहा जाता है। वह द्वादशाङ्गश्रुत दो भागोंमें विभक्त है—

अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य। ये दो भेद प्रवक्ताविशेषके कारण हैं। जो श्रुत तीर्थकरों तथा उनके प्रधान एवं साक्षात् शिष्यों द्वारा उक्त है वह अङ्गप्रविष्ट है तथा जो इसके आधारसे उत्तरवर्ती प्रवक्ताओं द्वारा रचा गया वह अङ्गबाह्य है। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्यके भी क्रमशः बारह और चौदह भेद हैं। अङ्गप्रविष्टके बारहभेदोंमें एक दृष्टिवाद है जो बारहवां श्रुत है। इस बारहवें दृष्टिवादश्रुत^{१०}में विभिन्नवादियोंकी एकान्त दृष्टियों एवं मान्यताओंके निरूपण और समीक्षाके साथ उनका स्याद्वादन्यायसे समन्वय किया गया है। इस तथ्यको समन्तभद्रने अपनी कृतियोंमें 'स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तम्' जैसे पद प्रयोगों द्वारा व्यक्त किया है^{११} और सभी तीर्थङ्करोंको स्याद्वादी (स्याद्वाद-प्राप्तपादक) कहा है। अकलङ्कदेवने भी उन्हें स्याद्वादका प्रवक्ता तथा उनके शासन-उपदेशका स्याद्वादके अमोघ लांछनसे चिह्नित बतलाया है।^{१२}

'षट्खण्डागम'में यद्यपि स्याद्वादकी स्वतंत्र चर्चा नहीं मिलती, फिरभी सिद्धान्त-प्रतिपादन 'स्यात्' (सिया) शब्दको लिये हुए अवश्य मिलता है। उदाहरणार्थ मनुष्योंको पर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दोनों बतलाते हुए कहा गया है कि 'सिया पज्जता, सिया अपज्जता अर्थात् मनुष्य 'स्यात्' पर्याप्तक हैं, 'स्यात्' अपर्याप्तक हैं। इसी प्रकार से आगमके कुछ दूसरे विषयोंका भी प्रतिपादन उपलब्ध होता है। आचार्य कुन्दकुन्दने उक्त दो (विधि और निषेध) वचन-प्रकारोंमें पांच वचन-प्रकार और मिलाकर सात वचनप्रकारोंसे वस्तु (द्रव्य) निरूपणका स्पष्ट उल्लेख किया है। यथा—

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥

—पंचास्तिकाय गा० १४/

स्यादस्ति द्रव्यं, स्यान्नास्ति द्रव्यं, स्यादुभयं, स्यादवक्तव्यं, स्यादस्त्यवक्तव्यं, स्यान्नास्त्यवक्तव्यं, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यं' इन सात भङ्गोंका यहाँ उल्लेख हुआ है और उनको लेकर आदेशवशात् (नयविवक्षानुसार) द्रव्यनिरूपण करनेकी सूचना की है। कुन्दकुन्दने यह भी प्रतिपादन किया है^{१३} कि यदि सदरूप ही द्रव्य हो तो उसका विनाश नहीं हो सकता और यदि असदरूप ही हो तो उसका उत्पाद सम्भव नहीं है और चूँकि यह देखा जाता है कि जीव मनुष्यपर्यायसे नष्ट, देवपर्यायसे उत्पन्न और जीवसामान्यसे ध्रुव रहनेसे वह उत्पाद-व्यय ध्रौव्यस्वरूप है।

इससे प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दके समयमें जैनवाङ्मय में दर्शनका रूप तो आने लगा था, पर उसका अभी विकास नहीं हो सका था। आचार्य गृद्धपिच्छके तत्त्वार्थसूत्रमें कुन्दकुन्द द्वारा प्रदर्शित दर्शनके रूपमें कुछ वृद्धि मिलती है। एक तो उन्होंने प्राकृतमें सिद्धान्त-प्रतिपादनकी पद्धतिको संस्कृत-गद्य सूत्रोंमें बदल दिया। दूसरे, उपपत्तिपूर्वक सिद्धान्तोंका निरूपण आरम्भ किया। तीसरे, आगम-प्रतिपादित ज्ञानमार्गणागत मत्यादि ज्ञानोंको प्रमाण-संज्ञा देना, उसके प्रत्यक्ष और परोक्ष दो भेद करना, दर्शनान्तरोंमें पृथक् प्रमाणरूपमें स्वीकृत स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान को मतिज्ञान कहकर उनका 'आद्ये परोक्षम्' (त०सू० १-११) सूत्रद्वारा परोक्षप्रमाण में ही अन्तर्भाव करना और नैगमादिनयोंको अर्थाधिगमका उपाय बताना आदि नया चिन्तन प्रारम्भ किया। इतना होने पर भी दर्शनमें उन एकान्तवादों, संघर्षों और अनिश्चयोंका तार्किक समाधान नहीं हो पाया था, जो उस समयकी चर्चके विषय थे।

(ख) तत्कालीन स्थिति:

विक्रमकी दूसरी-तीसरी शताब्दीका समय भारतवर्षके इतिहासमें दार्शनिक क्रान्तिका समय रहा है। इस समय विभिन्न दर्शनों में अनेक क्रान्तिकारी विद्वान् हुए हैं। श्रमण और वैदिक दोनों परम्पराओंमें अश्वघोष, मातृचेट, नागार्जुन, कणाद, गौतम, जैमिनि जैसे प्रतिद्वन्दी विद्वानोंका आविर्भाव हुआ और ये सभी अपने मंडन और दूसरेके खंडनमें लग गए। शास्त्रार्थकी बाढ़-सी आ गई। सद्वाद-असद्वाद, शाश्वतवाद-उच्छेदवाद, अद्वैतवाद-द्वैतवाद और अवक्तव्यवाद-वक्तव्यवाद इन चार^{१४} विरोधी युगलोंको लेकर तत्त्व की मुख्यतया चर्चा होती थी और उनका चार कोटियोंसे विचार किया जाता था तथा वादियोंका अपनी इष्ट एक-एक कोटि (पक्ष) को ही मानने का आग्रह रहता था। इस खींचतानके कारण अनिश्चय (अज्ञान)वादी संजयके 'अनुयायी तत्त्वको अनिश्चित ही बतलाते थे।^{१५} उपर्युक्त युगलोंमें लगनेवाली चार कोटियाँ इस प्रकार होती थीं—

१. सदसद्वाद

- | | |
|------------------------|--------------|
| (१) तत्त्व सत् है। | एक पक्ष |
| (२) तत्त्व असत् है। | द्वितीय पक्ष |
| (३) तत्त्व उभय है। | तृतीय पक्ष |
| (४) तत्त्व अनुभय है। | चतुर्थ पक्ष |

२. शाश्वत-अशाश्वतवाद

- | |
|--------------------------|
| (१) तत्त्व शाश्वत है। |
| (२) तत्त्व अशाश्वत है। |
| (३) तत्त्व उभय है। |
| (४) तत्त्व अनुभय है। |

३. द्वैत-अद्वैतवाद

- (१) तत्त्व द्वैत है ।
- (२) तत्त्व अद्वैत है ।
- (३) तत्त्व उभय है ।
- (४) तत्त्व अनुभय है ।

४. वक्तव्यावक्तव्यवाद

- (१) तत्त्व वक्तव्य है ।
- (२) तत्त्व अवक्तव्य है ।
- (३) तत्त्व उभय है ।
- (४) तत्त्व अनुभय है ।

(ग) समन्तभद्रकी देन :

समन्तभद्रने प्रतिपादन किया कि तत्त्व उक्त चार ही कोटियोंमें समाप्त नहीं हैं, अपितु सात कोटियों में वह पूर्ण होता है।^{१६} उन्होंने स्पष्ट किया कि तत्त्व तो अनेकान्तरूप है^{१७}— एकान्तरूप नहीं और अनेकान्त विरोधी दो धर्मों (सत्-असत्, शाश्वत-अशाश्वत, एक-अनेक आदि)के युगलके आश्रयसे प्रकाशमें आनेवाले वस्तुगत सात धर्मोंका समुच्चय है।^{१८} और ऐसे-ऐसे अनन्त सप्तधर्म-समुच्चय विराट् अनेकान्तात्मक तत्त्व-सागरमें अनन्त लहरोंकी तरह लहरा रहे हैं और इसीसे उसमें अनन्त सप्तकोटियाँ (सप्तभङ्गियाँ) भरी पड़ी हैं। हाँ, द्रष्टाको सजग और समदृष्टि होना चाहिए। उसे यह ध्यान रहे कि वक्ता या ज्ञाता तत्त्वको जब अमुक एक कोटिसे कहता या जानता है तो तत्त्वमें वह धर्म अमुक अपेक्षासे रहता हुआ भी अन्य धर्मोंका निषेधक नहीं है। केवल वह विवक्षावश मुख्य और अन्य धर्म गौण हो जाते हैं।^{१९} इसे समझनेके लिये उन्होंने प्रत्येक कोटि (भङ्ग-वचनप्रकार)के साथ 'स्यात्' निपात पद लगानेकी सिफारिशकी^{२०} और 'स्यात्' का अर्थ 'कथञ्चित्'— किसी एक दृष्टि-किसी एक अपेक्षा बतलाया^{२१}, साथ ही उन्होंने प्रत्येक कोटिकी निर्णयात्मकताको प्रकट करनेके लिए प्रत्येक वाक्यके साथ 'एवकार पद का प्रयोग भी निर्दिष्ट किया,^{२२} जिससे उस कोटिकी वास्तविकता प्रमाणित हो, काल्पनिकता या सांवृतिकता नहीं। तत्त्वप्रतिपादनकी इन सात कोटियोंको उन्होंने एक नया नाम भी दिया। वह नाम है— भङ्गिनी प्रक्रिया-सप्तभङ्गी^{२३} अथवा सप्तभङ्गनय^{२४}। समन्तभद्रकी वह परिष्कृत 'सप्तभङ्गी' इस प्रकार प्रस्तुत हुई :

सदसद्वाद

- (१) स्यात् सदरूप ही तत्त्व है।^{२५}
- (२) स्यात् असदरूप ही तत्त्व है।
- (३) स्यात् उभयरूप ही तत्त्व है।
- (४) स्यात् अनुभय (अवक्तव्य) रूप ही तत्त्व है।
- (५) स्यात् सद और अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है।^{२६}
- (६) स्यात् असद और अवक्तव्यरूप ही तत्त्व है।
- (७) स्यात् सद और असद तथा अवक्तव्य रूप ही तत्त्व है।

इस सप्तभङ्गी में प्रथमभङ्ग स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे, द्वितीय पर द्रव्य क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षासे, तृतीय दोनोंकी क्रमशः सम्मिलित अवस्थाओंसे, चतुर्थ दोनों (सत्त्व-असत्त्व) को एक साथ कह न सकने से, पंचम प्रथम चतुर्थके संयोग से, षष्ठ द्वितीय-चतुर्थके मेलसे और सप्तम तृतीय-चतुर्थके मिश्र रूपसे विवक्षित हैं और प्रत्येक भङ्गका प्रयोजन पृथक्-पृथक् है। जैसा कि समन्तभद्रके निम्न प्रतिपादनसे प्रकट है :

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
 असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥
 क्रमार्पितद्वयात् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः ।
 अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥
 धर्मे धर्मेन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिणः ।
 अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता ॥

—आप्तमी० का० १५, १६, २१

समन्तभद्र ने सदसद्वादकी तरह अद्वैत द्वैतवाद, शाश्वत-अशाश्वतवाद, वक्तव्य-अवक्तव्यवाद, अन्यता-अन्यतावाद, अपेक्षा-अनपेक्षावाद, हेतु-अहेतुवाद, विज्ञान-बहिर्हर्यवाद, दैव-पुरुषार्थवाद, पाप-पुण्यवाद और बन्ध-मोक्षकारणवाद इन एकान्तवादोंपर भी विचार प्रकट किया तथा उक्त प्रकारसे उनमें भी सप्तभङ्गी (सप्तकोटियों)की योजना करके स्याद्वादकी स्थापना की ।^{३०} इस तरह विचारकोंको उन्होंने स्याद्वाद दृष्टि (तत्त्व-विचार की पद्धति) देकर तत्कालीन विचार संघर्षको मिटानेमें महत्त्वपूर्ण योगदान किया । साथ ही दर्शनके लिए जिन उपादानोंकी आवश्यकता होती है, उनका भी उन्होंने सृजन किया तथा आर्हत दर्शनको अन्य दर्शनोंके समक्ष ही नहीं, उसे गौरवपूर्ण भी बनाया ।

जिन उपादानोंकी उन्होंने सृष्टि करके उन्हें जैन-दर्शनको प्रदान किया, वे इस प्रकार हैं :—

- (१) प्रमाणका स्वपरावभासि लक्षण ।
- (२) प्रमाणके अक्रमभावि और क्रमभावि भेदों की परिकल्पना ।^{३१}
- (३) प्रमाणके साक्षात् और परम्पराफलोंका निरूपण ।^{३०}
- (४) प्रमाणका विषय^{३१}
- (५) नयका स्वरूप^{३२}
- (६) हेतुका स्वरूप^{३३}
- (७) स्याद्वादका स्वरूप^{३४}
- (८) वाच्यका स्वरूप^{३५}
- (९) वाचकका स्वरूप^{३६}
- (१०) अभावका वस्तुधर्म-निरूपण एवं भावान्तर कथन^{३७}
- (११) तत्त्वका अनेकान्तरूप प्रतिपादन
- (१२) अनेकान्तका स्वरूप^{३८}
- (१३) अनेकान्तमें भी अनेकान्तकी योजना^{३०}
- (१४) जैन दर्शनमें अवस्तुका स्वरूप^{३९}
- (१५) स्यात् निपातका स्वरूप^{४०}
- (१६) अनुमानसे सर्वज्ञकी सिद्धि^{४१}
- (१७) युक्तियोंसे स्याद्वादकी व्यवस्था^{४२}
- (१८) आप्तका तार्किक स्वरूप^{४३}
- (१९) वस्तु (द्रव्य-प्रमेय)का स्वरूप^{४४}

जैन न्यायके इन उपादानोंका उपस्थापन अथवा विकास करनेके कारण ही समन्तभद्रको जैनन्यायका आद्य-प्रवर्तक कहा गया है ।^{४०}

(घ) कृतियाँ :

समन्तभद्रकी ५ कृतियाँ उपलब्ध हैं :

१. देवागम— इसमें ११४ कारिकायें हैं। आप्तकी इसमें परीक्षा की है।

२. स्वयम्भूस्तोत्र— इसमें चौबीस तीर्थकरोंका दार्शनिक शैली में गुणस्तवन है। इसमें १४३ पद्य हैं।

३. युत्पत्यनुशासन— इसमें भी वीरकी स्तुतिके बहाने दार्शनिक निरूपण है। यह ६४ पद्योंमें समाप्त है।

४. जिनशतक (स्तुति-विद्या)— यह ११६ पद्योंकी आलंकारिक अपूर्व काव्य-रचना है। चौबीस तीर्थकरोंकी

इसमें स्तुति की गई है।

५. रत्नकरण्डश्रावकाचार— यह उपासकाचार-विषयक १५० पद्योंकी अत्यन्त प्राचीन और महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक कृति है।

इनमें आदिकी तीन दार्शनिक, चौथी काव्य और पांचवीं धार्मिक कृतियाँ हैं।

इनके अतिरिक्त इनकी जीवसिद्धि जैसी कुछ कृतियोंके उल्लेख मिलते हैं। पर वे अनुपलब्ध हैं।

२. अष्टशती और अकलंकदेव

आचार्य अकलंकदेव ईसाकी सातवीं-आठवीं शतीके तीक्ष्णबुद्धि एवं महान् प्रभावशाली तार्किक हैं। ये जैन न्यायके प्रतिष्ठाता कहे जाते हैं। जैनधर्मके अनेकांत, स्याद्वाद आदि सिद्धान्तों पर जब तीक्ष्णता से बौद्ध और वैदिक विद्वानों द्वारा दोहरा प्रहार किया जा रहा था, तब सूक्ष्मप्रज्ञ अकलंकदेव ने उन प्रहारोंको अपने वादविद्या-कवचसे निरस्त करके अनेकांत, स्याद्वाद, सप्तभंगी आदि सिद्धान्तोंको सुरक्षित किया था तथा विरोधियों को सबल जवाब दिया था। इन्होंने सैकड़ों शास्त्रार्थ किये और जैन न्याय पर बड़े जटिल एवं दुरूह ग्रन्थोंकी रचना की।

इनके वे न्याय ग्रन्थ निम्न हैं— १. न्यायविनिश्चय, २. सिद्धि-विनिश्चय, ३. प्रमाणसंग्रह, ४. लघीयस्त्रय, ५. देवागम-विवृति (अष्टशती), ६. तत्त्वार्थवार्तिक व उसकाभाष्य आदि। इनमें तत्त्वार्थवार्तिक व भाष्य तत्त्वार्थसूत्रकी विशाल, गम्भीर और महत्त्वपूर्ण व्याख्या है। इसमें अकलंकदेवने सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्यका अनुसरण करते हुए सिद्धान्त, दर्शन और न्याय तीनोंका विशद विवेचन किया है। विद्यानन्दने सम्भवतः इसी कारण— “सिद्धेर्वात्राकलंकस्य महतो न्यायवेदिनः” (त० श्लो० पृ० २७७) वचनों द्वारा अकलंकको ‘महान्यायवेत्ता’ (जस्टिस) (न्यायधीश) कहा है।

अष्टसहस्री और आचार्य विद्यानन्द :

आचार्य विद्यानन्द उन सारस्वतोंमें गणनीय हैं, जिन्होंने एक-से-एक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थोंकी रचना की है। इनका समय ई० ७७५-८४० है। इन्होंने अपने समग्र ग्रन्थ प्रायः दर्शन और न्याय पर ही लिखे हैं, जो अद्वितीय और बड़े महत्त्वके हैं।

ये दो तरह के हैं—

१. टीकात्मक और २. स्वतंत्र। टीकात्मक ग्रन्थ निम्न हैं—

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक- (सभाष्य)— आचार्य गृद्धपिच्छके सुप्रसिद्ध ‘तत्त्वार्थसूत्र’ पर कुमारिलके मीमांसाश्लोक-वार्तिक और धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिककी तरह विद्यानन्दने पद्यात्मक तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक रचा है और उसके पद्य वार्तिकों पर उन्होंने स्वयं गद्यमें भाष्य अथवा व्याख्यान लिखा है। यह भाष्य तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकभाष्य, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-व्याख्यान, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कार और श्लोकवार्तिकभाष्य इन नामोंसे कथित होता है। जैन दर्शनके प्राणभूत ग्रन्थोंमें यह प्रथम कोटिका ग्रन्थरत्न है। विद्यानन्दने इसकी रचना करके कुमारिल, धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध इतर तार्किकोंके जैनदर्शन पर किये गये आक्षेपोंका सबल जवाब ही नहीं दिया, किन्तु जैनदर्शनका मस्तक भी उन्नत किया है। हमें तो भारतीय दर्शन-साहित्यमें ऐसा एक भी ग्रन्थ दृष्टिगोचर नहीं होता जो श्लोकवार्तिककी समानता कर सके।

श्लोकवार्तिककी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें कितनी ही चर्चाएँ अपूर्व हैं। यह ग्रन्थ सेठ रामचन्द्रनाथरङ्गजी सोलापुर द्वारा १९१८में प्रथमबार प्रकाशित हुआ था। यही ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद एवं विवेचन सहित सात खण्डोंमें

आचार्य कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुरसे प्रकाशित हुआ था। किन्तु अब अनुपलब्ध है।

२. अष्टसहस्री-देवागमालङ्कार— प्रस्तुत कृति है।

३. युत्त्यनुशासनालङ्कार— आप्तमीमांसाकार समन्तभद्रकी बेजोड़ दूसरी रचना 'युत्त्यनुशासन' है। यह एक महत्वपूर्ण और गम्भीर स्तोत्रग्रन्थ है। आप्तमीमांसामें अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीरकी परीक्षा की गई है और परीक्षाके बाद उनके आप्त सिद्ध हो जाने पर इस (युत्त्यनुशासन) में उनकी गुणस्तुति की गई है। इसमें कुल पद्य ६४ हैं। परन्तु एक-एक-पद्य इतना दुरूह और गम्भीर है कि प्रत्येकके व्याख्यान में एक-एक स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा जा सकता है। आचार्य विद्यानन्दने इस स्तोत्रग्रन्थको 'युत्त्यनुशासनालंकार' नामक सुविशद व्याख्यानसे अलंकृत किया है। यह उनका मध्यम परिमाणका टीका ग्रन्थ है— न ज्यादा बड़ा है और न ज्यादा लघु है। इसे उन्होंने आप्तपरीक्षा और प्रमाणपरीक्षा के बाद रचा है, क्योंकि इसमें उन दोनोंके उल्लेख हैं। यह टीका मूल ग्रन्थके साथ वि-सं० १९७७ में 'माणिकचन्द्र दिग० जैन ग्रन्थमाला' से प्रकाशित हो चुकी है। किन्तु अब वह अनुपलब्ध है। पुनः नवीन संस्करण प्रकाशित होना चाहिए।

विद्यानन्दके मौलिक स्वतन्त्र ग्रन्थोंका परिचय इस प्रकार है :—

१. विद्यानन्द महोदय— यह आचार्य विद्यानन्दकी सर्वप्रथम रचना है। इसके बाद ही उन्होंने श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ बनाये हैं। श्लोकवार्तिक आदिमें अनेक जगह इस ग्रन्थके उल्लेख किये हैं और विस्तारसे उसमें जानने एवं प्ररूपण करनेकी सूचनाएँ की हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ श्लोकवार्तिकसे भी विशाल और महत्वपूर्ण होगा। आज यह अनुपलब्ध है।

२. आप्तपरीक्षा— इस ग्रन्थमें कुल १२४ कारिकाएँ हैं और उनपर स्वयं विद्यानन्दस्वामीकी 'आप्तपरीक्षालङ्कृति' नामकी स्वोपज्ञ टीका है, जो बहुत ही विशद और प्रसन्न है। इसमें दर्शनान्तरीय मदार्थोंकी व्यवस्थित मीमांसा और उनके उपदेशकों (ईश्वर, कपिल, बुद्ध और ब्रह्म) की विशद, विस्तृत और युक्तिपूर्ण परीक्षा की गयी है, जो प्रायः अन्यत्र अलभ्य है।

प्रमाणपरीक्षा— यह विद्यानन्द की तीसरी स्वतन्त्र रचना है। इसे उन्होंने आप्तपरीक्षाके बाद रचा है, क्योंकि प्रमाणपरीक्षामें आप्तपरीक्षाका उल्लेख हुआ है और वहाँ अनादि एक ईश्वरके प्रतिक्षेप करनेका निर्देश किया गया है। इसमें प्रमाणके विषयका सुन्दर प्रतिपादन किया है।

पत्रपरीक्षा— यह ग्रन्थकारकी चतुर्थ मौलिक रचना है। इसमें दर्शनान्तरीय पत्रलक्षणोंकी समालोचनापूर्वक जैनदृष्टिसे पत्रका बहुत सुन्दर लक्षण किया है। यह रचना विद्यानन्दकी सर्व तर्करचनाओंमें अतिलघु रचना है। यह वीर सेवा मंदिर ट्रस्टसे आधुनिक संपादनके साथ द्वितीय संस्करणके रूपमें प्रकाशित है।

सत्यशासनपरीक्षा— इसमें पुरुषार्थ आदि १२ शासनोंकी परीक्षा करनेकी प्रतिज्ञा की गई है। परन्तु १२ शासनोंमेंसे ९ शासनोंकी पूरी और प्रभाकरशासनकी अधूरी, परीक्षाएँ ही इसमें उपलब्ध होती हैं। प्रभाकर-शासनका शेषांश, तत्त्वोपप्लवशासनपरीक्षा और अनेकान्तशासन परीक्षा इसमें अनुपलब्ध हैं। इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ विद्यानन्दकी अन्तिम समयकी रचना है और वे इसे पूरी नहीं कर सके।

श्रीपुरपार्श्वनाथ-स्तोत्र— इसमें कुल ३० पद्य हैं। ग्रन्थका विषय श्रीपुरस्थ भगवान् पार्श्वनाथ हैं। कपिलादिकमें अनाप्तता बतलाकर उन्हें आप्त सिद्ध किया गया है और उनके वीतरागित्व, सर्वज्ञत्व और मोक्षमार्गप्रणेतृत्व इन असाधारण गुणोंकी स्तुति की गई है।

आचार्य विद्यानन्दकी इन कृतियोंके परिचयसे प्रतीत होता है कि आचार्यश्री समग्र भारतीय दर्शनोंके प्रौढ़ विद्वान् थे, और यावज्जीवन उन्हीं के अध्ययन-अध्यापनमें रत रहे। प्रस्तावनाके अंतमें स्वामी समन्तभद्र और अकलंकदेवके साथ उन्हें कोटिशः नमन करता हूँ।

विनम्र

दरबारीलाल कोठिया

प्रस्तावना-टिप्पण

१. कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः'

—अष्टश० प्रारम्भिक पद्य २।

२. इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे'... :

—अष्टस० पृ० २९४.

३. स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।

देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥

—पार्श्व० च०।

४. देवागमनसूत्रस्य श्रुत्या सदृशानान्वितः।

— विक्रान्त कौ० प्र०

५. इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम्।

—देवागम का० ११४

६. अष्टश०, देवागम का० ११४।

७. अष्टस० पृ० १, आप्तपरीक्षा पृ० २३३, २६२, वीरसेवा-मंदिर, २१ दरियागंज, दिल्ली-२।

८. 'स्वोक्तपरिच्छेदे...'

— अष्टश०, देवागम का० ११४।

९. अष्टसहस्री (पृ० २२२) में इस ६७ वीं कारिकाके उत्थानिकावाक्यके आरम्भिक 'अपरः प्राह' पद पर टिप्पण देते हुए टिप्पणकारने, जो उसका अर्थ 'सौगतः' दिया है वह ठीक नहीं है। यहाँ सारा सन्दर्भ वैशेषिकोंका है, सौगतोंका नहीं।

१०. आचार्य विद्यानन्दने अष्टसहस्रीके अन्तमें आचार्य अकलङ्कदेवके समाप्ति मङ्गलसे पूर्व 'केचित्' शब्दोंके साथ देवागमके किसी व्याख्याकारका 'जयति जगति' आदि समाप्ति मङ्गल पद्य दिया है, उससे प्रतीत होता है कि अकलङ्कदेवसे पूर्व भी देवागम पर किसी आचार्यकी व्याख्या रही है, जो विद्यानन्दको प्राप्त थी या उसकी उन्हें जानकारी थी और उसपर से ही उन्होंने उल्लिखित समाप्ति मङ्गल पद्य दिया है। लघुसमन्तभद्र (वि० सं० १३वीं शती) ने वादीभसिंह द्वारा देवागम (आप्तमीमांसा) के उपलालन-व्याख्यान करनेका उल्लेख अष्टसहस्री-टिप्पण (पृ० १) में किया है। पर वह भी आज अनुपलब्ध है। देवागमके महत्व और विश्रुति को देखते हुए आश्चर्य नहीं कि उस पर विभिन्न कालोंमें विविध टीका-टिप्पणादि लिखे गये हों। अलङ्कदेवने अष्टशती (का० ३३की विवृति) में एक स्थान पर 'पाठान्तरमिदं बहु संगृहीतं भवति' शब्दोंका प्रयोग करके देवागमके पाठ भेदों और उसकी अनेक व्याख्याओंकी ओर स्पष्ट संकेत किया है।

११. इत्याप्तमीमांसाभाष्ये दशमः परिच्छेदः ॥छ॥

१२. अष्टशती ग्रथितार्था साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात्।

विलसदकलाङ्गधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्या ॥

—अष्ट स० पृ० १७८

१३. श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः।

विज्ञायेत ययैव स्वसमय-परसमयसद्भावः ॥

—अष्टस० पृ० १५७।

१४. श्रीमत्समन्तभद्राचार्यस्य-.... देवागमाख्याः कृतेः संक्षेपभूतं विवरणं कृतं श्रुतं विस्मरणशीलेन वसुनन्दिना जडमतिनाऽऽत्मोपकाराय ।

—वसुनन्दि, देवागमवृत्ति, पृ० ५०, सना० जैन० ग्रन्था०

१५. (क) कथं पुनस्तत्त्वार्थः शास्त्रं येन तदारम्भे परमेष्ठिनामाध्यानं विधीयत इति चेत् तल्लक्षणयोगत्वात् ।....तच्च तत्त्वार्थस्य दशाध्यायीरूपस्यातीति शास्त्रं तत्त्वार्थः'

—त० श्लो०, पृ० २ ।

(ख) इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा । आ० १२४ ।

(ग) दशाध्याये परिच्छन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति ।

फलं स्यादुपवासस्य भाषितं मुनिपुङ्गवैः ॥

१६. 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक लेखकके दो लेख, अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७, १०-११ ।

१७. 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' के कर्ता 'पूज्यपाद-देवनन्दि', शीर्षक लेख, मुनि हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ, पृ० ५६३ ।

१८-१९. 'तत्त्वार्थसूत्रका मङ्गलाचरण' शीर्षक लेख । अनेकान्त वर्ष ५, किरण ६-७, पृ० २३२ ।

२०. 'एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां षष्ठ्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च क्रियते ।

—वीरसेन, धवला पु० १, पृ० १०८

२१. बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतु बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः । स्याद्वादिनो नाथ ! तवैव युक्तं नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता ॥

—स्वयम्भू० स्तो० श्लो० १४ ।

२२. (क) धर्मतीर्थकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः ।

ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये ॥

—ल० का० १-१

(ग) वन्दित्वा परमार्हतां समुदायं गां सप्तभङ्गीविधिं ।

स्याद्वादादमृतगर्भिणीं प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयाम् ॥

—अष्टश० मङ्गलश्लो० १ ।

२३. पंचास्तिकाय गा० १५, १७.

२४. सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।

सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादिति ते ॥

—स्वयम्भू० श्लो० ११ ।

२५. 'दीघनिकाय-सामञ्जसफलसुत्त'में संजयका मत 'अमराविक्षेपवाद'के रूपमें मिलता है । अमरा एक प्रकार की मछलीका नाम है । उसके समान विक्षेप (चंचलता-अस्थिरता)का होना-मानना अमराविक्षेपवाद है ।

२६. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।

सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥

—आप्तमी० का० १०४ ।

२७. (अ) 'तत्त्वं त्वनेकान्तमशेषरूपम्'

—युत्तयनु० ४६ ।

(आ) एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वं प्रमाणसिद्धं तदतत्स्वभावम् ।

—स्वयम्भू० ४१ ।

(इ) न सच्च नासच्च न दृष्टमेकमात्मान्तरं सर्वनिषेधगम्यम् ।
दृष्टं विमिश्रं तदुपाधिभेदात् स्वप्नेऽपि वै तत्त्वदृषेः परेषाम् ॥
—युक्त्यनु० ३२ ।

२८. (क) विधिनिषेधोऽनभिलाप्यता च त्रिकेशस्त्रिद्विश एक एव ।
त्रयो विकल्पास्तव सप्तधाऽमी स्याच्छब्दनेयाः सकलेऽर्थभेदे ॥
—युक्त्य० ४५ ।

(ख) विधेयं वार्यं चानुभयमुभयं मिश्रमपि तत्
विशेषैः प्रत्येकं नियमविषयैश्चापरिमितैः ।
सदान्योन्यापेक्षैः सकलभुवनज्येष्ठगुरुणा
त्वया गीतं तत्त्वं बहुनय विवक्षेतरवशात् ॥
—स्वयम्भू० का० ११८

२९. (क) विधिनिषेधश्च कथञ्चिदिष्टो विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था ।
—स्वयम्भू० का० २५

(ख) विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते ।
—स्वयम्भू० ५३

३०. (अ) वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनमपि ॥
—आप्तमी० का० १०३

(आ) तद्द्योतनः स्याद् गुणतो निपातः
युक्त्य० ४३ ।

३१. स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।
आप्तमी० १०४

३२. (क) यदेवकारोपहितं पदं तदस्वार्थतः स्वार्थमवच्छिनत्ति ।
युक्त्य० ४१ ।

(ख) अनुक्ततुल्यं यदनेवकारं व्यावृत्त्यभावात्त्रियमद्वयेऽपि ।
युक्त्य० ४२ ।

३३. प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नर्यं विशारदः ।
आप्तमी० २३ ।

३४. 'सप्तभङ्गानपापेक्षः.....'
आप्तमी० १०४ ।

३५. कथञ्चित् ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न न सर्वथा ॥
आप्तमी० १४ ।

३६. अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥
आप्तमी० १६ ।

३७. आप्तमी० का० २३, ११३ ।
 ३८. स्वयम्भू-स्तोत्र का० ६३ ।
 ३९. आप्तमीमांसा का० १०१ ।
 ४०. उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादान-हान-धीः ।
 पूर्वाऽवाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥

—आप्तमी० १०२ ॥

४१. आप्तमी० १०७ ।
 ४२-४३. आप्तमी० १०६ ।
 ४४. आप्तमी० १०४ ।
 ४५. आप्तमी० १११, ११२ ।
 ४६. आप्तमी० १०९ ।
 ४७. भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः, भावान्तरं भाववदर्हतस्ते ।
 युक्त्य० ५७ ।

४८. युक्त्यनु० २३ ।
 ४९. आप्तमी० १०७, १०८ ।
 ५०. स्वयम्भू-स्तोत्र १०३ ।
 ५१. आप्तमी० ४८, १०५ ।
 ५२. स्वयम्भू० १०२ ।
 ५३. आप्तमी० ५ ।
 ५४. आप्तमी० ११३ ।
 ५५. जैन दर्शन, स्याद्वादाङ्क, वर्ष २, अङ्क ४-५, पृ० १७० ।
 ५६. आप्तमी० का० ४, ५, ६ ।
 ५७. आप्तमी० १०७ ।



ॐ नमः सर्वज्ञाय
श्रीमद्विद्यानन्दाचार्यविरचिता आप्तमीमांسالङ्कृत्यभिधा

अष्टसहस्री

श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्राचार्यरचितदेवागमाख्याप्तमीमांसायुता
श्रीमदकलङ्कदेवकृताष्टशत्यपरनामाप्तमीमांसाभाष्यसमन्विता च

आप्तमीमांसाभाष्यमङ्गलाचरणम्

उद्दीपीकृतधर्मतीर्थमचलज्योतिर्ज्वलत्केवलाऽऽ -

लोकाऽऽलोकितलोकलोकमखिलैरिन्द्रादिभिर्वन्दितम् ।

वन्दित्वा परमार्हतां समुदयं गां सप्तभङ्गीविधिं

स्याद्वादादमृतगर्भिणीं प्रतिहतैकान्तान्यकारोदयाम् ॥१॥

तीर्थं सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधे -

र्भव्यानामकलङ्कभावकृतये प्राभावि काले कलौ ।

येनाचार्यसमन्तभद्रयतिना तस्मै नमः सन्ततं

कृत्वा विव्रियते स्तवो भगवतां देवागमस्तत्कृतिः ॥२॥

अष्टसहस्रीमङ्गलाचरणम्

श्रीवर्द्धमानमभिवन्द्य समन्तभद्रमुद्भूतबोधमहिमानमनिन्द्यवाचम् ।

शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयास्य ॥१॥

१. श्रेयः श्रीवर्द्धमानस्य परमजिनेश्वरसमुदायस्य समन्तभद्रस्य तदमलवाचश्च संस्तवनमाप्तमीमांसितस्या-
लङ्करणे तदाश्रयत्वात्, तदन्यतमासम्भवे तदघटनात् । तद्वृत्तिकारैरपि तत एवोद्दीपीकृतेत्यादित्संस्तवन-
विधानात् ।

२. देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिपतैव स्वयं श्रद्धागुण-
ज्ञातालक्षणं प्रयोजनमाक्षिप्तं लक्ष्यते, तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः । शास्त्रन्यायानुसारितया
तथैवोपन्यासात् । इत्यनेन ग्रन्थकारस्य श्रद्धागुणज्ञातालक्षणे प्रयोजने साध्ये शास्त्रारम्भस्तवविषयाप्तगु-
णातिशयपरीक्षोपक्षेपस्य साधनत्वसमर्थनात् । शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रं
देवागमाभिधानमिति निर्णयः ।

(आप्तमीमांसितं शास्त्रं देवागमाख्यमिति कुतः ? तदेव स्पष्टयति)

३. मङ्गलपुरस्सरस्तवो हि शास्त्रावताररचितस्तुतिरुच्यते । मङ्गलपुरस्सरमस्येति मङ्गलपुरस्सरः शास्त्रावतारकालस्तत्र तेन रचितः स्तवो मङ्गलपुरस्सरस्तव इति व्याख्यानात् । तद्विषयो यः परमात्मा तद्गुणातिशयपरीक्षा तद्गोचराप्तमीमांसितमेवोक्तम् ।

४. तदेव^{३३} निश्श्रेयसशास्त्रस्यादौ^{३४} तन्निबन्धनतया^{३५} मङ्गलार्थतया च मुनिभिः^{३६} संस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छतां^{३७} सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थमाप्तमीमांसां विदधानां^{३८} श्रद्धागुणज्ञताभ्यां प्रयुक्तमनसः कस्माद् देवागमादिविभूतितो^{३९}हं महान्नाभिष्टुत^{४०} इति स्फुटं पृष्टां^{४१} इव स्वामिसमन्तभद्राचार्याः प्राहुः—

देवागमनभोयानचामरादिविभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

५. देवागमादीनामादिशब्देन प्रत्येकमभिसम्बन्धादेवागमादयो^{४२} नभोयानादर्थैश्चामरादर्थैश्च विभूतयः परिगृह्यन्ते ताश्च भगवतीव मायाविष्वपि मष्करिप्रभृतिषु दृश्यन्ते इति तद्वत्तया भगवन्नोऽस्माकं परीक्षा-प्रधानानां न महान् स्तुत्योऽसि ।

६. आज्ञाप्रधानो^{४३} हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयः, तादृशो मायाविष्वपि भावात्^{४४}, इत्यागमाश्रयोयं स्तवः ।

७. श्रेयोमार्गस्य प्रणेता भगवान् स्तुत्यो महान्, देवागमननभोयानचामरादिविभूतिमत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतोरप्यागमाश्रयत्वात्^{४५} । तस्य च प्रतिवादिनः प्रमाणत्वेनासिद्धेः । तदागमप्रामाण्यवादिनामपि विपक्षवृत्तितया गमकत्वायोगात्^{४६}, तदागमादेव हेतोर्विपक्षवृत्तित्वसिद्धेः । परमार्थपथप्रस्थायियथोदितविभूतिमत्त्वस्य हेतोर्मर्यादोपनिर्मिततद्विभूतिमद्भिर्मायाविभिर्न व्यभिचारः, सत्यधूमवत्त्वादेः पावकादौ साध्ये स्वप्नोपलब्धधूमादिमता देशादिनाऽनैकान्तिकत्वप्रसङ्गात् सर्वानुमानोच्छेदोपपत्तेः, इति चेत्; तर्हि मा भूदस्य^{४७} हेतोर्व्यभिचारः ।

८. पारमार्थिक्यः पुरन्दरभेरीनिनादादिकृतप्रतीघातागोचरचारिण्यो यादृश्यो यथोदितविभूतयस्तीर्थकरे भगवति त्वयि तादृश्यो मायाविष्वपि नेत्यतस्त्वं महानस्माकमसीति^{४८} व्याख्या, ग्रन्थविरोधाभावात्^{४९} इति कश्चित्^{५०} सोपि कुतः प्रमाणात्प्रकृतहेतुं^{५१} विपक्षासम्भविर्न^{५२} प्रतीयात्^{५३} । न तावत्प्रत्यक्षादनुमानाद्वा, तस्य तदविषयत्वात् । नाप्यागमादिसिद्धप्रामाण्यात्तत्प्रतिपत्तिः, अतिप्रसङ्गात् । प्रमाणतः सिद्धप्रामाण्यादागमात्-प्रतिपत्तौ ततः साध्यप्रतिपत्तिरेवास्तु परम्परापरिश्रमपरिहारश्चैवं^{५४} प्रतिपत्तुः स्यात् । ततः सूक्तं सर्वथा नातो हेतोस्त्वमसि नो महान्, तस्यागमाश्रयत्वात् इति ।

(अन्तरङ्गबहिरङ्गविग्रहादिमहोदयेनापि न महानिति प्रतिपादयति)

९. तर्ह्यन्तरङ्गबहिरङ्गविग्रहादिमहोदयेनान्यजनातिशायिना^{५५} सत्येन^{५६} स्तोतव्योहं महानिति भगवत्पर्यनुयोगे सतीव प्राहुः—

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादिमहोदयः ।

दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिर्मत्सु सः ॥२॥

१०. आत्मानमधिश्रित्य वर्तमानोऽध्यात्ममन्तरङ्गो विग्रहादिमहोदयः शश्वन्निःस्वेदत्वादिः, परानपेक्षत्वात् । ततो बहिर्गन्धोदकवृष्ट्यादिर्बहिरङ्गः, देवोपनीतत्वात् । स च सत्यः, मायाविष्वसत्त्वात् । दिव्यश्च, मनुजेन्द्राणांमप्यभावात् । स एष बहिरन्तःशरीरादिमहोदयोऽपि पूरणादिष्वसम्भवी व्यभिचारी, स्वर्गिषु भावादक्षीणकषायेषु । ततोऽपि न भवान् परमात्मेति स्तूयते ।

११. अर्थं यादृशो घातिक्षयजः स भगवति न तादृशो देवेषु यैर्नानैकान्तिकः स्यात् । दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स नैवास्तीति व्याख्यानादभिधीयते; तदाप्यागमाश्रयत्वादहेतुः पूर्ववत् ।

१२. ननु प्रमाणसंप्लववादिनां प्रमाणप्रसिद्धप्रामाण्यादागमात्साध्यसिद्धावपि तत्प्रसिद्धसाधनजनिता-
नुमानात्पुनस्तत्प्रतिपत्तिरविरुद्धैवेति चेत्, न; उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसंप्लवस्यानभ्युपगमात् । सति हि प्रतिपत्तुरुपयोगविशेषे देशादिविशेषसमवधानां दागमात्प्रतिपन्नमपि हिरण्यरेतसं स पुनरनुमानात्प्रतिपत्सते । तत्प्रतिबद्धधूमादिसाक्षात्करणात्प्रतिपत्तिविशेषघटनात् । पुनस्तमेव प्रत्यक्षतो बुभुत्सते, तत्करणसम्बन्धात्-
द्विशेषप्रतिभाससिद्धेः । न चैवमागमानुगम्ये साध्ये साधने च तत्प्रतिपत्तिविशेषोऽस्तीति किमकारणमत्र प्रमाणसंप्लवोऽभ्युपगम्यते । प्रत्यक्षनिश्चितेऽग्नौ धूमे च तदभ्युपगमप्रसङ्गात्, सर्वथा विशेषाभावात् । ततो देवागमनभोयानचामरादिविभूतिभिरिवान्तरङ्गबहिरङ्गविग्रहादिमहोदयेनापि न स्तोत्रं भगवान् परमात्माऽर्हति ।

(तीर्थकरत्वेनापि न महानिति कथयति)

१३. तर्हि तीर्थकृत्सम्प्रदायेन स्तुत्योऽहं महानिति भगवदाक्षेपप्रवृत्ताविव साक्षादाहुः—

तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः ।

सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

१४. भगवतो महत्त्वे साध्ये तीर्थकरत्वं साधनं कुतः प्रमाणात्सिद्धम् ? न तावदध्यक्षात्, तस्य तदविषयत्वात् साध्यवत् । नाप्यनुमानात्, तदविनाभाविलिङ्गाभावात् । समयोत्सिद्धम्; इति चेत्, पूर्ववदागमाश्रयत्वादगमकत्वमस्य व्यभिचारश्च । न हि तीर्थकरत्वमाप्ततां साधयति शक्रादिष्वसम्भवि, सुगतादिषु दर्शनात् । यथैव हि भगवति तीर्थकरत्वसमयोऽस्ति तथा सुगतादिष्वपि । सुगतस्तीर्थकरः कपिलस्तीर्थकर इत्यादिसमयाः सन्तीति सर्वे महान्तः स्तुत्याः स्युः । न च सर्वे सर्वदर्शिनः परस्पर-
विरुद्धसमयाभिधायिनः । तदुक्तम्—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा ।

तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥१॥ (उद्धृत, त.सं.का. ३१४९)

१५. ततोऽनैकान्तिको हेतुस्तीर्थकरत्वाख्यो न कस्यचिन्महत्त्वं साधयतीति कश्चिदेव गुरुर्महान् भवेत् ? नैव भवेदित्यायातम् ।

१६. अत एव न कश्चित्पुरुषः सर्वज्ञः स्तुत्यः । श्रेयोऽर्थिनां श्रुतेरेव श्रेयःसाधनोपदेशसिद्धेः; इत्यपरः । तं प्रत्यपीयमेव कारिका योज्या । कथम् ? तीर्थं कृन्तन्तीति तीर्थकृतो मीमांसकाः, सर्वज्ञागमनिराकरणवादित्वात् । तेषां समयास्तीर्थकृत्समयास्तीर्थच्छेदसम्प्रदाया भावनादिवाक्यार्थप्रवादा

इत्यर्थः । तेषां च परस्परविरोधादाप्तता संवादकता^{१३५} नास्तीति^{१३६} कश्चिदेव सम्प्रदायो भवेद्गुरुः संवादको नैव भवेदिति व्याख्यानात् । तदेवं वक्तव्यम्—

भावना यदि वाक्यार्थो^{१३८} नियोगो नेति का प्रमा ।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ हतौ भट्ट-प्रभाकरौ ॥२॥
कार्यार्थे चोदनाज्ञानं संविधौ किन्न तत्प्रमा ।
द्वयोश्चेद्धन्त तौ नष्टौ भट्ट-वेदान्तवादिनौ ॥३॥

(भाट्टः प्रभाकराभिमतं नियोगवाक्यार्थं प्रतिक्षिप्य स्वपक्षं भावनावाक्यार्थं स्थापयति)

१७. ननु^{१४१} च भावना वाक्यार्थ इति सम्प्रदायः श्रेयान्, नियोगे बाधकसद्भावात् । नियुक्तोऽहमनेनाग्निष्टोमादिवाक्येनेति निरवशेषो योगो हि नियोगः, तत्र मनागप्ययोगस्य^{१४२} सम्भवाभावात् । स चानेकविधः प्रवक्तुमतभेदात् । केषाञ्चिल्लिङादिप्रत्ययार्थः^{१४३(क)} शुद्धोऽन्यनिरपेक्षः^{१४४} कार्यरूपो नियोगः^{१४५} ।

प्रत्ययार्थो नियोगश्च यतः शुद्धः प्रतीयते ।
कार्यरूपश्च तेनात्र^{१४६} शुद्धं कार्यमसौ मतः ॥४॥
विशेषणं तु यत्तस्य^{१४७} किञ्चिदन्यत्प्रतीयते ।
प्रत्ययार्थो न तद्युक्तं धात्वर्थः स्वर्गकामवत् ॥५॥
प्रेरकत्वं तु यत्तस्य^{१४८} विशेषणमिहेष्यते ।
तस्याप्रत्ययवाच्यत्वाच्छुद्धे कार्ये नियोगता ॥६॥

१८. इति वचनात् ।

१९. परेषां^{१४९} शुद्धा प्रेरणा^{१५०} नियोग इत्याशयः ।

प्रेरणैव नियोगोऽत्र शुद्धा^{१५१} सर्वत्र गम्यते ।
नाप्रेरितो यतः कश्चिन्नियुक्तं स्वं प्रबुध्यते ॥७॥

२०. प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इति केचन मन्यन्ते ।

ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञातं पूर्वं यदा भवेत् ।
स्वसिद्धयै^{१५२} प्रेरकं तत्स्यादन्यथा^{१५३} तन्न सिद्ध्यति^{१५४} ॥८॥

२१. कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यपरे ।

प्रेर्यते पुरुषो नैव कार्येणोह विना क्वचित् ।
ततश्च प्रेरणा प्रोक्ता नियोगः कार्यसङ्गता ॥९॥

२२. कार्यस्यैवोपचारतः^{१५५} प्रवर्तकत्वं नियोग इत्यन्ये ।

प्रेरणाविषयः^{१५६} कार्यं^{१५७} न तु तत्प्रेरकं स्वतः ।
व्यापारस्तु प्रमाणस्य प्रमेयै^{१५८} उपचर्यते ॥१०॥

२३. कार्यप्रेरणयोः^{१७०} सम्बन्धो नियोग इति चेत् ।

प्रेरणा हि विना कार्यं प्रेरिका नैव कस्यचित् ।

कार्यं वा प्रेरणायोगो नियोगस्तेन^{१७१} सम्मतः ॥११॥

२४. तत्समुदायो^{१७२} नियोग इति चापरे ।

परस्पराविनाभूतं^{१७३} द्वयमेतत्प्रतीयते ।

नियोगः समुदायोऽस्मात्कार्यप्रेरणयोर्मतः ॥१२॥

२५. तदुभयस्वभावविनिर्मुक्तो^{१७४} नियोग इति चान्ये ।

सिद्धमेकं^{१७५} यतो ब्रह्म गतमाम्नायतः^{१७६} सदा ।

सिद्धत्वेन न तत्कार्यं प्रेरकं कुतः^{१७७} एव तत् ॥१३॥

२६. यन्त्रारूढो^{१७८} नियोग इति कश्चित् ।

कामी^{१७९} यत्रैव^{१८०} यः कश्चिन्नियोगे सति^{१८१} तत्र सः ।

विषयारूढमात्मानं^{१८२} मन्यमानः प्रवर्त्तते ॥१४॥

२७. भोग्यरूपो^{१८३} नियोग इत्यपरः ।

ममेदं भोग्यमित्येवं भोग्यरूपं प्रतीयते ।

ममत्वेन च विज्ञानं भोक्तार्येव व्यवस्थितम् ॥१५॥

स्वामित्वेनाभिमानो हि भोक्तुर्यत्र भवेदयम् ।

भोग्यं तदेव विज्ञेयं तदेव स्वं निरुच्यते ॥१६॥

साध्यरूपतया येन^{१८४} ममेदमिति गम्यते ।

तत्प्रसाध्येन रूपेण भोग्यं स्वं व्यपदिश्यते ॥१७॥

सिद्धं रूपं हि यद्भोग्यं न नियोगः स तावता ।

साध्यत्वेनेह^{१८५} भोग्यस्य प्रेरकत्वान्नियोगता^{१८६} ॥१८॥

२८. पुरुष एव नियोग इत्यन्यः ।

ममेदं कार्यमित्येवं मन्यते पुरुषः सदा ।

पुंसः कार्यविशिष्टत्वं^{१८७} नियोगोऽस्य^{१८८} च वाच्यता ॥१९॥

कार्यस्य^{१८९} सिद्धौ जातायां तद्युक्तः^{१९०} पुरुषस्तदा ।

भवेत्साधित इत्येवं पुमान् वाक्यार्थ उच्यते ॥२०॥

(भाट्टः पूर्वोक्तप्रकारणैकादशभेदं नियोगं प्रदर्श्य प्रमाणादिविकल्पैस्तं दूषयति)

२९. सौ^{१९१}यमेकादशप्रकारोऽपि नियोगो विचार्यमाणो बाध्यते, प्रमाणाद्यष्टविकल्पानतिक्रमात् ।

प्रमाणं किं नियोगः स्यात्प्रमेयमथवा पुनः ।

उभयेन विहीनो वा द्वयरूपोऽथवा पुनः ॥२१॥

शब्दव्यापाररूपो वा व्यापारः पुरुषस्य वा ।

द्वयव्यापाररूपो वा द्वयव्यापार एव वा ॥२२॥

३०. तत्रैकादशभेदोऽपि नियोगो यदि प्रमाणम्, तदा विधिरेव वाक्यार्थः, इति वेदान्तवादप्रवेशः।
प्रभाकरस्य स्यात्, प्रमाणस्य चिदात्मकत्वात्, चिदात्मनः प्रतिभासमात्रत्वात्, तस्य च परमब्रह्मत्वात्।
प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः कार्यरूपतया न प्रतीयते घटादिवत्। प्रेरकरूपतया वा नानुभूयते, वचनदिवत्।
कर्मकरणसाधनतया हि तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो नान्यथा। किं तर्हि? 'दृष्टव्योऽरेऽयमात्मा
श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' (बृहदार० २/४/५) इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तरविलक्षणेन
प्रेरितोऽहमिति जाताकूतेनाकारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति। स एव विधिरिति वेदान्तवादिभिरभिधानात्।

३१. प्रमेयत्वं तर्हि नियोगस्यास्तु, प्रमाणत्वे दोषाभिधानात्; इत्यप्यसत्; प्रमाणाभावात्। प्रमेयत्वे हि तस्य
प्रमाणमन्यद्वाच्यम्,— तदभावे प्रमेयत्वायोगात्। श्रुतिवाक्यं प्रमाणमिति चेत्; न, तस्यचिदात्मकत्वे
प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारात्। संविदात्मकत्वे श्रुतिवाक्यस्य पुरुष एव श्रुतिवाक्यमिति स एव प्रमाणम्।
तत्संवेदनविवर्तोऽस्तु नियुक्तोऽहमित्यभिमानरूपो नियोगः प्रमेयमिति, नायं पुरुषादन्यः प्रतीयते, यतो
वेदान्तवादिमतप्रवेशोऽस्मिन्नपि पक्षे न भवेत्।

३२. तर्हि प्रमाणप्रमेयरूपो नियोगो भवत्वित्यप्ययुक्तम्, संविद्विवर्तत्वापत्तेः,— अन्यथा प्रमाणप्रमेय-
रूपतानुपपत्तेः। तथा च स एव चिदात्मोभयस्वभावतयाऽऽत्मानमादर्शयन्निर्योग इति सिद्धो ब्रह्मवादः।

३३. अनुभयस्वभावो नियोग इति चेत्, तर्हि संवेदनमात्रमेव पारमार्थिकम्, तस्य कदाचिद-
प्यहेयत्वादेनुभयस्वभावत्वसम्भवात्। प्रमाणत्वप्रमेयत्वव्यवस्थाभेदविकलस्य तन्मात्रदेहतया तस्य
वेदान्तवादिभिर्निरूपितत्वान्तन्मतप्रवेश एव।

३४. यदि पुनः शब्दव्यापारो नियोग इति मतम्, तदा भट्टमतानुसरणमस्य दुर्निवारम्, शब्दव्यापारस्य
शब्दभावनारूपत्वात्।

३५. अथ पुरुषव्यापारो नियोगः, तदेव परमतानुसरणम्, पुरुषव्यापारस्यापि भावनास्वभावत्वात्।
शब्दात्मव्यापारभेदेन भावनायाः परेण द्वैविध्याभिधानात्।

३६. तदुभयरूपो नियोग इति चेत्, पर्यायेण युगपद्वा? यदि पर्यायेण, स एव दोषः,
क्वचित्कदाचिच्छब्दव्यापारस्य पुरुषव्यापारस्य च भावनास्वभावस्य नियोग इति नामकरणात्। युगपदुभयस्वभावत्वं
पुनरेकत्र विरुद्धं न शक्यं व्यवस्थापयितुम्।

३७. तर्हि तदनुभयव्यापाररूपो नियोगोऽङ्गीकर्तव्य इति चेत्, सोऽपि विषयस्वभावो वा स्यात्
फलस्वभावो वा निःस्वभावो वा? गत्यन्तराभावात्। विषयस्वभाव इति चेत्, कः पुनरसौ विषयः?

‘अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः’ () इत्यादिवाक्यस्यार्थो यागादिविषय इति चेत्, स^{२५३} तद्वाक्यकाले स्वयमविद्यमानो विद्यमानो वा ? यद्यविद्यमानः, तदा तत्स्वभावो नियोगोऽप्यविद्यमान एवेति कथमसौ वाक्यार्थः, खपुष्पवत् । बुद्ध्यारूढस्य भाविनस्तस्य वाक्यार्थत्वे सौगतमतानुसरणप्रसङ्गः । अथ तद्वाक्यकाले विद्यमानोऽसौ, तर्हि न नियोगो वाक्यस्यार्थः, तस्य यागादिनिष्पादनार्थत्वात्, निष्पन्नस्य च यागादेः पुनर्निष्पादनायोगात्, पुरुषादिवत् । अथ तस्य^{२५४} किञ्चिदनिष्पन्नं रूपं तन्निष्पादनार्थो नियोग इति मतम्, तर्हि तत्स्वभावो नियोगोऽप्यनिष्पन्न इति कथं वाक्यार्थः । स्वयमसन्निहितस्य^{२५५} कल्पनारूढस्य वाक्यार्थत्वे स^{२५६} एव सौगतमतप्रवेशः ।

३८. फलस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षो न कक्षीकर्तव्यः, तस्य^{२५६} नियोगत्वाघटनात् । न हि स्वर्गादिफलं नियोगः, फलान्तरपरिकल्पनप्रसङ्गात्, निष्फलस्य नियोगस्यायोगात् । फलान्तरस्य च फलस्वभावनियोगवादिनां नियोगत्वापत्तौ तदन्यफलपरिकल्पनेऽनवस्थाप्रसङ्गः । फलस्य^{२५७} वाक्यकाले स्वयमसन्निहितत्वाच्च तत्स्वभावो नियोगोऽप्यसन्निहित एवेति कथं वाक्यार्थः ? तस्य^{२५८} वाक्यार्थत्वे निरालम्बनशब्दवादाश्रयणात् कुतः प्रभाकरमतसिद्धिः ।

३९. निःस्वभावो नियोग इत्ययमपि पक्षोऽनेनैव प्रतिक्षिप्तः ।

४०. किञ्च सन्नेव वा नियोगः स्यादसन्नेव वा उभयरूपो वाऽनुभयरूपो वा ? प्रथमपक्षे विधिवाद एव । द्वितीयपक्षे निरालम्बनवादः । तृतीयपक्षे तूभयदोषानुषङ्गः । चतुर्थपक्षे^{२५९} व्याघातः, सत्त्वासत्त्वयोः परस्परव्यवच्छेदरूपयोरेकतरस्य निषेधेऽन्यतरस्य विधानप्रसक्तेः, सकृदेकत्र प्रतिषेधायोगात् । सर्वथा सदसत्त्वयोः प्रतिषेधेऽपि कथञ्चिदसत्त्वसत्त्वविधानाददोष इति चेत्स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गः प्रभाकरस्य ।

४१. किञ्च^{२६०} नियोगः सकलोऽपि प्रवर्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्तकस्वभावो वा ? प्रवर्तकस्वभावश्चेत् प्राभाकराणामिव ताथागतादीनामपि प्रवर्तकः स्यात्, तस्य सर्वथा^{२६१} प्रवर्तकत्वात् । तेषां विपर्ययासादप्रवर्तक इति चेत्, परेषामपि विपर्ययासादप्रवर्तकोऽस्तु । शक्यं हि वक्तुं प्राभाकरा विपर्यस्तत्वाच्छब्दनियोगात् प्रवर्तन्ते, नेतरे, तेषामविपर्यस्तत्वादिति । सौगतादयो विपर्यस्ताः, तन्मतस्य प्रमाणबाधितत्वात्, न पुनः प्राभाकरा इत्यपि पक्षपातमात्रम्, तन्मतस्यापि प्रमाणबाधितत्वाविशेषात् । यथैव हि प्रतिक्षणविनश्चरसकलार्थकथनं प्रत्यक्षादिविरुद्धं तथा नियोक्तृनियोगाद्विषयादिभेदपरिकल्पनमपि, सर्वप्रमाणानां विधिविषयताव्यवस्थापनेन तद्वाधकत्वोपपत्तेः । यदि पुनरप्रवर्तकस्वभावः शब्दनियोगः, तदा सिद्ध एव तस्य^{२६२} प्रवृत्तिहेतुत्वायोगः । स च वाक्यार्थत्वाभावं साधयति ।

४२. किञ्च नियोगः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेत्, न ततः प्रेक्षावतां प्रवृत्तिः, अप्रेक्षावत्त्वप्रसङ्गात्, ‘प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते’ () इति प्रसिद्धेश्च । प्रसिद्धचण्डनरपतिवचननियोगादफलादपि प्रवर्तनदर्शनाददोष इति चेत्, न; तस्यापायपरिक्षणफलत्वात् । तन्नियोगादप्रवर्तने हि तदाशोल्लङ्घनकृतमपायोऽवश्यंभावीति । तर्हि वेदवचनादपि नियुक्तः प्रत्यवायपरिहाराय प्रवर्तताम्, ‘नित्यनैमित्तिकं कुर्यात्प्रत्यवायजिहीसया’ () इति वचनात् । कथमिदानीं ‘स्वर्गकामः’

() इति वचनमवतिष्ठते 'जुहुयाज्जुहोतु होतव्यम्' () इति लिट्लोटत्वप्रत्ययान्तेर्निदेशमात्रादेव नियोगमात्रस्य सिद्धेः, तत एव प्रवृत्तिसम्भवात् ।

४३. यदि पुनः फलसहितो नियोग इति पक्षः, तदा फलार्थितैव प्रवर्तिका, न नियोगः, तमन्तरेणापि फलार्थिनां प्रवृत्तिदर्शनात् । पुरुषवचनान्नियोगेऽयमुपालम्भो नापौरुषेयाग्निहोत्रादिवाक्यात्, तस्यानुपलभ्यत्वादिति चेत्, 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' () इत्यादिवचनमपि विधिमात्रप्रतिपादकमनुपलभ्यमस्तु तैत एव । तथा च वेदान्तवादसिद्धिः । तस्मान्न नियोगो वाक्यार्थः, कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुत्वाभावात्, विधिर्वत् । सर्वेषु च पक्षेषु नियोगस्य प्रत्येकं विचार्यमाणस्यायोगात्त्र वाक्यार्थत्वमवतिष्ठते । तथा हि—

४४. न तावत्कार्यं शुद्धं नियोग इति पक्षो घटते, प्रेरणानियोज्यवर्जितस्य नियोगस्यासम्भवात् । तस्मिन्नियोगसंज्ञाकरणे स्वकम्बलस्य कूदालिकेति नामान्तरकरणमात्रं स्यात् । न च तावता स्वैष्टिसिद्धिः, शुद्धा प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेनोपास्तम्, नियोज्यफलरहितायाः प्रेरणायाः प्रलापमात्रत्वात्त्रियोगरूपतानुपपत्तेः । प्रेरणासहितं कार्यं नियोग इत्यप्यसम्भाव्यम्, नियोज्यविरोधे नियोगविरोधात् । कार्यसहिता प्रेरणा नियोग इत्यप्यनेन निरस्तम् । कार्यस्यैवोपचारतः प्रवर्तकत्वं नियोग इत्यप्यसारम्, नियोज्यादिनिरपेक्षस्य कार्यस्य प्रवर्तकत्वोपचारायोगात् । कदाचित्त्वचित्परमार्थतस्तस्य तथानुपलम्भाच्च । कार्यप्रेरणयोः सम्बन्धो नियोग इति च न सङ्गतम्, ततो भिन्नस्य सम्बन्धस्य सम्बन्धनिरपेक्षस्य नियोगत्वाघटनात् । सम्बन्ध्यात्मनः सम्बन्धस्य नियोगत्वमित्यपि दुरन्वयम्, प्रेर्यमाणपुरुषनिरपेक्षयोः सम्बन्ध्यात्मनोरपि कार्यप्रेरणयोर्नियोगत्वानुपपत्तेः । तत्समुदायनियोगवादोऽप्यनेन प्रत्याख्यातः । कार्यप्रेणाविनिर्मुक्तस्तु नियोगो न विधिवादमतिशेते । यत्पुनः स्वर्गकामः पुरुषोऽग्निहोत्रादिवाक्यनियोगे सति यागलक्षणं विषयमारूढमात्मानं मन्यमानः प्रवर्तते इति यन्नारूढनियोगवचनम्, तदपि न परमात्मवादप्रतिकूलम्, पुरुषाभिमानमात्रस्य नियोगत्ववचनात्, तस्य चाविद्योदयनिबन्धनत्वात् । भोग्यरूपो नियोग इति चायुक्तम्, नियोक्तप्रेरणशून्यस्य भोग्यस्य तद्भावानुपपत्तेः । पुरुषस्वभावोऽपि न नियोगो घटते, तस्य शाश्वतिकत्वेन नियोगस्य शाश्वतिकत्वप्रसङ्गात् । पुरुषमात्रविधेरैव तथैवाभिधाने वेदान्तवादः परिसमाप्तः कुतो नियोगवादो नाम ।

(भट्टः प्रभाकराभिमतं नियोगवादं निराकृत्य वेदान्ताङ्गीकृतं विधिवादं प्रतिक्षिपति)

४५. नन्वेवं नियोगनिराकरणेऽपि विधेर्वाक्यार्थत्ववचनात्त्र भावना वाक्यार्थः सिद्धो भट्टस्य, इति न चेत्तरि निधेयम्, विधेरपि विचार्यमाणस्य बाध्यमानत्वात् ।

४६. सोऽपि हि प्रमाणरूपो वा स्यात् प्रमेयरूपो वा तदुभयरूपो वाऽनुभयरूपो वा पुरुषव्यापाररूपो वा शब्दव्यापाररूपो वा द्वयव्यापाररूपो वाऽद्वयव्यापाररूपो वेत्यष्टौ विकल्पान्नातिक्रामति । तथा हि प्रमाणं विधिरिति कल्पनायां प्रमेयं किमपरं स्यात् ? तत्स्वरूपमेवेति चेत्, न; सर्वथा निरंशस्य सन्मात्रदेहस्य विप्रमाणप्रमेयरूपद्वयविरोधात् । कल्पितत्वात्तद्रूपद्वयस्य तत्राविरोध इति चेत्, कथमिदीनामन्यापोहः शब्दा प्रतिषिध्यते, संविन्मात्रस्याप्रमाणत्वव्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या च प्रमेयत्वमिति परैरभिध

शक्यते । वस्तु^{३६१}स्वभावाभिधायकत्वाभावे शब्दस्यान्यापोहाभिधायकत्वेऽपि^{३६३} क्वचित्रवर्तकत्वायोगान्नान्यापोहः
शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि वस्तुस्वरूपाभिधायिनोऽपि शब्दस्यान्यापोहानभिधायित्वेऽन्यपरिहारेण^{३६५} क्वचिप्रवृत्ति-
निबन्धनतापायाद्विधिरपि शब्दार्थो माभूत् । परमपुरुषस्यैव विधेर्यत्त्वान्तर्दैन्यस्यासम्भवात्तान्यपरिहारेण^{३६६} प्रवृत्तिरिति
चेत्, कथमिदानीं “द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा” () इत्यादिवाक्यान्नैरात्म्यपरिहारेणात्मनि^{३६७} प्रवृत्तिः,
नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रसङ्गात् । नैरात्म्यादेरनाद्यविद्योपकल्पितत्वात्^{३६८} तद्दर्शनादौ प्रवृत्तिरिति चेत्,
कथमन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न भवेत् ? परब्रह्मणो विधिरेवान्यस्यानाद्यविद्योपकल्पितस्य नैरात्म्यादेः परिहार इति चेत्,
कथमेवमन्यापोहवादिनोऽपि परापोहनमेव स्वरूपविधिर्न भवेत् ? तस्यान्यापोहवादविरोधान्नैवमिति चेत्,
विधिवादिनोऽपि^{४०१} तथा विधिवादविरोधादन्यापोहाभ्युपगमो माभूत् । परमार्थताऽन्यापोहो विधिवादिना
नैवाभ्युपगम्यते, तस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेन प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वसिद्धेः, परमपुरुषत्वात्;
प्रतिभासस्वरूपवत् । तस्याप्रतिभासमानत्वे व्यवस्थानुपपत्तेरन्यथाऽतिप्रसङ्गात् । शब्दज्ञानेऽनुमानज्ञाने
वाऽन्यापोहस्य प्रतिभासनेऽपि तत्समानाधिकरणतया प्रतिभासनात् ततोऽन्यत्वम् । तस्य च शब्दानुमानज्ञानस्य
प्रतिभासमात्रात्मकत्वात्त्राथान्तरत्वमिति चेत्, कथमिदानीमुपनिषद्वाक्यं प्रतिभासमात्रादन्यल्लिङ्गं वा, यतः
तत्प्रतिपत्तिः प्रेक्षावतः स्यात् । तस्य परमब्रह्मविवर्तकत्वाद्विवर्तस्य च विवर्तिनोऽभेदेन परिकल्पनात्तत्प्रतिपत्ति-
रिति चेत्, कथं तत्परिकल्पिताद्वाक्याल्लिङ्गाद्वा परमार्थपथावतारिणः परमब्रह्मणः प्रतिपत्तिः, परिकल्पिताद्धूमादेः
पारमार्थिकपावकादिप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । पारमार्थिकमेवोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमब्रह्मरूपत्वेन, इति चेत्, तर्हि यथा
तत्पारमार्थिकं तथा साध्यसमं कथं पुरुषाद्वैतं व्यवस्थापयेत् ? यथा च प्रतिपाद्यजनस्य प्रसिद्धं तथा न
पारमार्थिकम्, द्वैतप्रसङ्गात् । इति कुतः परमार्थसिद्धिः ? ततस्तामप्युपगच्छता पारमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च
प्रतिपत्तव्यम् ।

४७. तच्चैचित्स्वभावम्, चित्स्वभावत्वे परसंवेद्यत्वविरोधात्, प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात्, तत्सुखादिवत् ।
प्रतिपाद्यचित्स्वभावत्वे वा न प्रतिपादकसंवेद्यत्वं प्रतिपाद्यसुखादिवत् । तस्य तदुभयचित्स्वभावत्वे
प्राश्निकादिसंवेद्यत्वविरोधः, तदुभयसुखादिवत् । सकलजनचित्स्वभावत्वे प्रतिपादकादिभावानुपपत्तिः,
अविशेषात् । प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वाददोष इति चेत्, यैव प्रतिपादकस्याविद्या
प्रतिपादकत्वोपकल्पिका सैव प्रतिपाद्यस्य प्राश्निकादेश्चाविशिष्टा प्रतिपादकत्वमुपकल्पयेत् । प्रतिपाद्यस्य चाविद्या
प्रतिपाद्यत्वोपकल्पनपरा प्रतिपादकादेरविशिष्टा प्रतिपाद्यत्वं परिकल्पयेत् प्रतिपादकादीमभेदात्तदविद्यानामभेद-
प्रसङ्गात् । भेदे वा प्रतिपादकादीनां भेदसिद्धिः, विरुद्धधर्माध्यासात् । अनाद्यविद्योपकल्पित एव तदविद्यानां
भेदो न पारमार्थिक इति चेत्, परमार्थतस्तर्ह्यभिन्नास्तदविद्या इति स एव प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्गः ।
यदि पुनरविद्यापि प्रतिपादकादीनामविद्योपकल्पितत्वादेव न भेदाभेदविकल्पसहा, नीरूपत्वात् इति मतम्; तदा
परमार्थपथावतारिणः प्रतिपादकादय इति बलादायातम्, तदविद्यानामविद्योपकल्पितत्वे
विद्यात्वविधेरवश्यम्भावितात् । तथा च प्रतिपादकादिभ्यो भिन्नमुपनिषद्वाक्यम्, संकृतसंवेद्यत्वा^{४४३}नुपपत्तेः,
इत्यचित्स्वभावं तत् सिद्धं बहिर्वस्तु, तद्वद् घटादिवस्तुसिद्धिः, इति न प्रतिभासाद्वैतव्यवस्था, प्रतिभास्यस्यापि

सुप्रसिद्धत्वात् । प्रतिभाससमानाधिकरणात् पुनः प्रतिभासस्य कथञ्चिद्भेदेऽपि न विरुद्ध्यते । घटः प्रतिभासत इति प्रतिभासविषयो भवतीत्युच्यते, विषयविषयिणोरभेदोपचारात्, प्रस्थप्रमितं धान्यं प्रस्था इति यथा । ततः सामानाधिकरण्यादुपचरितानुपचरितैकत्वसिद्धिः । मुख्यं सामानाधिकरण्यं क्व सिद्धमिति चेत्, संवेदनं प्रतिभासते भाति चकास्तीत्यादिव्यवहारे मुख्यं तत् । वैयधिकरण्यव्यवहारस्तु गौणस्तत्र, संवेदनस्य प्रतिभासनमिति पटस्य प्रतिभासनमित्यत्र तस्य मुख्यत्वप्रसिद्धेः । कथञ्चिद्भेदमन्तरेण सामानाधिकरण्यस्यानुपपत्तेः । तत् एव कथञ्चिद्भेदसिद्धिः । शुक्लः पट इत्यत्र सर्वथा शुक्लपटयोरैक्ये हि न सामानाधिकरणात् पटः पट इति यथा । नापि सर्वथा भेदेऽपि, हिमवन्मकराकरवत् । तथाऽन्यापोहस्य प्रतिभाससमानाधिकरणात् पटः पट इति यथा । नापि सर्वथा भेदेऽपि, हिमवन्मकराकरवत् । तथाऽन्यापोहस्य प्रतिभासमानस्य प्रतिभाससमानाधिकरणत्वेऽपि प्रतिभासाद्भेदव्यवस्थितेस्तद्विषयः शब्दः कथं विधिविषय एव समवतिष्ठते । तथाऽभ्युपगमे च कथमन्यपरिहारेण क्वचित्प्रवर्तकः शब्दः, यतो विधिविषयः स्यात्, इति सूक्तं विधेः प्रमाणत्वे तस्यैव प्रमेयत्वकल्पनायामन्यापोहानुपवेशोऽन्यथा अन्यत्र प्रमेयं वाच्यमिति ।

४८. प्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनायामपि प्रमाणमन्यद्वाच्यमिति, तस्यैवोभयस्वभावत्वविरोधात् । कल्पनावशाद्विधेः प्रमाणरूपत्वेऽन्यापोहवादानुषङ्गस्याविशेषात् ।

४९. प्रमाणप्रमेयरूपो विधिरिति कल्पनाप्यनेन निरस्ता ।

५०. तदनुभयरूपो विधिरिति कल्पनायां तु खरशृङ्गादिवदवस्तुतापत्तिः, प्रमाणप्रमेयस्वभावरहितस्य विधेः स्वभावान्तरेण व्यवस्थानायोगात् । प्रमात्रादेरपि प्रमेयत्वोपपत्तेः, अन्यथा तत्र प्रमाणवृत्तेरभावात्सर्वथा वस्तुत्वहानिः ।

५१. शब्दव्यापारो विधिरिति चेत्, सा शब्दभावनैव ।

५२. पुरुषव्यापारः स इति चेत्, साऽर्थभावनैव स्यात् ।

५३. एतेनोभयव्यापाररूपो विधिरिति प्रत्याख्यातम् ।

५४. तदनुभयव्यापाररूपस्तु विधिर्विषयस्वभावश्चेत्, तस्य वाक्यकालेऽसन्निधानान्निरालम्बनशब्दवादप्रवेशः । फलस्वभावश्चेत्, स एव दोषः, तस्यापि तदाऽसन्निधानादन्यथा विधेरनवतारात् । निस्स्वभावो विधिरिति कल्पनायां तु विधिर्वाक्यार्थ इति न किञ्चिद्वाक्यार्थ इत्युक्तं स्यात् ।

(सदादिभेदचतुष्टयेनापि विधिर्निरस्यते)

५५. किञ्च, यदि विधिः सन्नेव तदा न कस्यचिद्विधेयः, पुरुषस्वरूपवत् । अथासन्नेव तथापि न विधेयः, खरविषाणादिवत् । अथ पुरुषरूपतया सन् दर्शनादिरूपतया त्वसन्निति विधेयः स्यात्, तदोभयरूपतापत्तिः । न सन्नाप्यसन् विधिरिति चेत्, तदिदं व्याहतम्, सर्वथा सत्त्वप्रतिषेधे सर्वथैवासत्त्वविधिप्रसङ्गात् । तन्निषेधे वा सर्वथा सत्त्वविधानानुषङ्गात् । सकृदुभयप्रतिषेधे तु कथञ्चित्सदसत्त्वविधानान्मतान्तरानुषङ्गात् कुतो विधिरेव वाक्यार्थः ।

(प्रवर्तकाप्रवर्तकस्वभावद्वयेनापि समालोचयति)

५६. किञ्च, विधिः प्रवर्तकस्वभावो वा स्यादप्रवर्तकस्वभावो वा ? प्रवर्तकस्वभावश्चेद्वेदान्तवादिनामिव तात्थागतादीनामपि प्रवर्तकः स्यात् । तेषां विपर्यासात्र प्रवर्तक इति चेत्, तत एव वेदान्तवादिनामप्रवर्तक इत्यपि वक्तुं शक्यते । सौगतादीनामेव विपर्यासोऽप्रवर्तमानानां न पुनः प्रवर्तमानानां विधिवादिनाम्, इत्यप्रामाणिकमेवेष्टम्, उभयेषां समानाक्षेपसमाधानत्वात् । यदि पुनरप्रवर्तकस्वभाव एव विधिः, तदा कथं वाक्यार्थः स्यान्नियोगवत् ।

(फलाफलाभ्यामपि तन्निराकरोति)

५७. किञ्च, विधिः फलरहितो वा स्यात् फलसहितो वा ? फलरहितश्चेन्न प्रवर्तको नियोगवदेव । पुरुषा-
द्वैते न कश्चित्कुतश्चित्प्रवर्तते इति चेत्, कथमप्रवर्तको विधिः सर्वथा वाक्यार्थः कथ्यते, तथा नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात् । तथा 'द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा' () इत्यादिवाक्यादात्मनि दर्शनश्रवणमननध्यानविधाने प्रतिपत्तुरप्रवृत्तौ किमर्थस्तद्वाक्याभ्यासः ? फलसहितो विधिरिति कल्पनायां फलार्थितयैव लोकस्य प्रवृत्तिसिद्धेर्वृथा विधिकथनम्, नियोगकथनवत् । तथापि विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगोऽपि वाक्यार्थः कुतो न भवेत् । पटादिवत् पदार्थान्तरत्वेनाप्रतिभासनान्नियोज्यमानविषयनियोक्तधर्मत्वेन वाऽनवस्थानात्र नियोगो वाक्यार्थः इति चेत्, तदितरत्र समानम्, विधेरपि घटादिवत् पदार्थान्तरत्वेनाप्रतिभासनात्, विधाप्यमानविषयविधायकधर्मत्वेनानवस्थितेश्च । यथैव हि नियोज्यस्य पुंसो धर्मे नियोगेऽननुष्ठेयता, नियोगस्य सिद्धत्वात्, अन्यथाऽनुष्ठानोपरमाभावानुषङ्गात्, कस्य चिद्रूपस्यासिद्धस्याभावात् । असिद्धरूपतायां वा नियोज्यत्वविरोधाद्वन्ध्यास्तनन्धयादिवत् । सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे तस्यैवासिद्धरूपेण वा नियोज्यतायामेकस्य पुरुषस्य सिद्धासिद्धरूपसङ्करान्नियोज्येतरत्वविभागासिद्धिः । तद्रूपासङ्करे वा भेदप्रसङ्गादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोः सम्बन्धाभावोऽनुपकारात् । उपकारकल्पनायामात्मनस्तदुपकार्यत्वे नित्यत्वहानिः । तयोरात्मोपकार्यत्वे सिद्धरूपस्य सर्वथोपकार्यत्वव्याघातः । असिद्धरूपस्याप्युपकार्यत्वे गगनकुसुमादेरुपकार्यतानुषङ्गः ।

सिद्धासिद्धरूपयोरपि कथञ्चिदसिद्धरूपोपगमे प्रकृतपर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्थानुषङ्गादित्युपलम्भः । तथा विधाप्यमानस्य पुरुषस्य धर्मे विधावपि सिद्धस्य पुंसो दर्शनश्रवणानुमननध्यानविरोधः । तद्विधाने वा सर्वदा तदनुपरतिप्रसक्तिः । दर्शनादिरूपेण तस्यासिद्धौ विधानव्याघातः, कूर्मरोमादिवत् । सिद्धरूपेण विधाप्यमानस्य विधाने तस्यैवासिद्धरूपेण वा विधाने सिद्धासिद्धरूपसङ्कराद्विधाप्येतरत्वविभागासिद्धिः । तद्रूपासङ्करे वा भेदप्रसङ्गादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोस्तत्सम्बन्धाभावादिदोषासङ्गनस्याविशेषः । तथा विषयस्य यागलक्षणस्य धर्मे नियोगे तस्यापरिनिष्पन्नत्वात् । स्वरूपाभावाद्वाक्येन प्रत्येतुमशक्यत्वस्य विधावपि विषयधर्मे समानत्वात् कुतो विषयधर्मो विधिः ? पुरुषस्यैव विषयतयाऽवभासमानस्य विषयत्वात्, तस्य च परिनिष्पन्नत्वात् तद्धर्मस्य विधेरसम्भवं इति चेत्, तर्हि यजनाश्रयस्य द्रव्यादेः सिद्धत्वात्, तस्यैव विषयत्वात्कथं तद्धर्मो नियोगोऽपि न सिद्ध्येत् । येन रूपेण विषयो विद्यते तेन तद्धर्मो नियोगोऽपीति तदनुष्ठानाभावे विधिविषयो येन रूपेणास्ति तेन तद्धर्मस्य विधेः कथमनुष्ठानम् ? येनाशेन नास्ति तेनानुष्ठानमिति चेत्, तन्नियोगेऽपि समानम् । कथमसन्नियोगोऽनुष्ठीयते, अप्रतीयमानत्वात्, खरविषाणवत्, इति चेत्, तत एव विधिरपि नानुष्ठेयः । प्रतीयमानत्वादननुष्ठेयतया वा

सिद्धत्वादनुष्ठेयो विधिरिति चेत्, नियोगोऽपि तथाऽस्तु^{५६३}। ननु^{५६४}नुष्ठेयतयैव नियोगोऽवतिष्ठते, न प्रतीयमानतया, तस्याः सकलवस्तुसाधारणत्वात्। अनुष्ठेयता च यदि प्रतिभाता कोऽन्यो नियोगो यस्यानुष्ठितिः ? इति चेत्, तर्हि विधिरपि न प्रतीयमानतया प्रतिष्ठामनुभवति, किन्तु विधीयमानतया^{५६५}। सा चेदनुभूता कोऽन्यो विधिर्नाम, यस्य विधानमुपनिषद्वाक्यादुपवर्ण्यते।

५८. ननु^{५६६} द्रष्टव्यादिवाक्येनात्मदर्शनादिकं विहितं ममेति प्रतीतेरप्रतिक्षेपाहो विधिः कथमपाक्रियते ? किमिदानीमग्निहोत्रादिवाक्येन यागादिविषये नियुक्तोऽहमिति प्रतीतिर्न विद्यते येन नियोगः प्रतिक्षिप्यते। सा प्रतीतिरप्रमाणमिति चेत्, विधिप्रतीतिः कथमप्रमाणं न स्यात् ? विधिप्रतीतेः पुरुषदोषरहितवेदवचनेन जनितत्वादिति चेत्, तत एव नियोगप्रतीतिरप्यप्रमाणं मा भूत्, सर्वथाऽप्यविशेषात्^{५६७}। तथापि नियोगस्य विषयधर्मस्यासम्भवे विधेरपि तद्धर्मस्य न सम्भवः।

५९. शब्दस्य विधायकस्य धर्मो विधिः, इत्यपि न निश्चेतुं शक्यम्, नियोगस्यापि नियोक्तृशब्दधर्मत्वप्रतिघाताभावानुषक्तेः। शब्दस्य सिद्धरूपत्वात्तद्धर्मो नियोगः कथमसिद्धः, येनासौ सम्पाद्यते कस्यचित्; इत्यपि न मन्तव्यम्; विधिसम्पादनविरोधात्, तस्यापि सिद्धोपनिषद्वाक्यधर्मत्वाविशेषात्। प्रसिद्धस्यापि सम्पादने पुनः पुनस्तत्सम्पादनप्रवृत्त्यनुपरमात् कथमुपनिषद्वचनस्य प्रमाणता, तदपूर्वार्थताविरहात्, स्मृतिवत्^{५६८}। तस्य वा प्रमाणत्वे नियोगवाक्यं प्रमाणमस्तु, विशेषाभावात्।

(विधिप्रतिपादकं वाक्यं विधिं कथं प्रतिपादयति ? प्रधानभावेनाप्रधानभावेन वेति विकल्पद्वयेन दूषयति)

६०. किञ्च तद्विधिविषयं वाक्यं गुणभावेन प्रधानभावेन वा विधौ प्रमाणं स्यात् ? यदि गुणभावेन, तदा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' () इत्यादिरपि तदस्ति, गुणभावेन विधिविषयत्वस्य भावात्, तत्र भट्टमतानुसारिभिर्भावनाप्राधान्येनोपगमात्, प्राभाकरैश्च नियोगगोचरत्वस्य प्रधानताऽङ्गीकरणात्। तौ च भावनानियोगौ नोऽद्विषयौ प्रवर्तन्ते प्रतीयेते वा, सर्वथाऽप्यसतोः प्रतीतौ प्रवृत्तौ वा शशविषाणादेरपि तदनुषक्तेः। सद्रूपतया च तयोर्विधिनान्तरीयकत्वसिद्धेः, सिद्धं गुणभावेन विधिविषयत्वं वाक्यस्य। इति नाप्रमाणतापत्तिः, येन कर्मकाण्डस्य पारमार्थिकता न भवेत्। प्रधानभावेन विधिविषयं चोदनावाक्यं प्रमाणम्; इति चायुक्तम्; विधेः सत्यत्वे द्वैतावतारात्। तदसत्यत्वे प्राधान्यायोगात्। तथा हि—यो योऽसत्यः स स न प्रधानभावमनुभवति, यथा तदविद्याविलासः, तथा चासत्यो विधिरिति न प्रधानभावेन तद्विषयतोपपत्तिः।

(विधिवादी विस्तरतः स्वपक्षं समर्थयति)

६१. स्यान्मतम्, न सम्यगवधारितं विधेः स्वरूपं भवतो, तस्यैव यतो व्यवस्थितत्वात्। प्रतिभासमात्राद्धि पृथग्विधिः कार्यतया न प्रतीयते, घटादिवत्, प्रेरकतया च नाध्यवसीयते, वचनादिवत्। कर्मकरणसाधनतया हि तत्प्रतीतौ कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो नान्यथा। किं तर्हि ? 'द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' () इत्यादिशब्दश्रवणादवस्थान्तरविलक्षणेन प्रेरितोऽहमिति जाताकूतेनाकारेण स्वयमात्मैव प्रतिभाति। स एव विधिरित्युच्यते। तस्य च ज्ञानं विषयतया सम्बन्धमधिष्ठतीति प्रधानभावविभावना विधेर्न

विहन्यते, तथाविधवेदवाक्यादात्मन एव विधायकतया प्रतिभासनात् । तद्दर्शनश्रवणानुमननध्यानरूपस्य विधीयमानतयाऽनुभवात् । तथा च स्वयमात्माऽऽत्मानं द्रष्टुं श्रोतुमनुमन्तुं ध्यातुं प्रवर्तते । तथा प्रवृत्त्यसम्भवे ह्यात्मना प्रेरितोऽहमित्यवगतिरप्रामाणिकी स्यात् । ततो नासत्यो विधिर्येन प्रधानता तस्य विरुध्यते नापि सत्यत्वे द्वैतसिद्धिः, आत्मस्वरूपव्यतिरेकेण तदभावात्, तस्यैकस्यैव तथा प्रतिभासनादिति ।

(भाट्टः पुनरपि नियोगपक्षमभ्युपगम्य विधिं दूषयति)

६२. तदप्यसत्यम्, नियागादिवाक्यार्थस्यापि निश्चयात्मकतया प्रतीयमानत्वात् । तथा हि— नियोगस्तावदग्निहोत्रादिवाक्यादिव द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मेत्यादिवचनादपि प्रतीयत एव । नियुक्तोऽहमनेन वाक्येनेति निरवशेषो योगः प्रतिभाति, मनागप्ययोगाशङ्कानवतारादवश्यकर्तव्यतासम्प्रत्ययात् । कथमन्यथा तद्वाक्यश्रवणादस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते, मेघध्वन्यादेरपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात् ।

(विधिवाक्यं स्वाभिधेयं विधिमितरार्थं निराकृत्य प्रतिपादयति, तदनिराकृत्य वेति विकल्पद्वयेन भाट्टः पुनर्दूषयति)

६३. किञ्च, शब्दाद् द्रष्टव्योऽरेऽयमात्मेत्यादेरात्मद्रष्टव्यतादिविधिस्तदद्रष्टव्यतादिव्यवच्छेदरहितो यदीष्यते, तदा न कस्यचित्प्रवृत्तिहेतुः, प्रतिनियतविषयविधिनान्तरीयकत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः, तस्य चातद्विषयपरिहाराविनाभावित्वात्, कटः कर्तव्य इति यथा । न हि कटे कर्तव्यताविधिरतद्व्यवच्छेदमन्तरेण व्यवहारमार्गमवतारयितुं शक्यः । परपरिहारसहितो विधिः शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि विधिप्रतिषेधात्मकः शब्दार्थ इति कुतो विध्येकान्तस्य प्रतिष्ठा, प्रतिषेधैकान्तवादवत् ।

(विधिवादी कथयति—परपरिहारो गौणो विधिस्तु मुख्यः, स एव च प्रवृत्त्यङ्गत्वेन शब्दार्थ इति)

६४. स्यान्मतम्, परपरिहारस्य गुणीभूतत्वाद्विधेरेव प्रवृत्त्यङ्गत्वेन प्राधान्याद्विधिः शब्दार्थ इति ।

(भावनावादी भाट्टस्तदपि दूषयति)

६५. कथमिदानीं शुद्धकार्यादिरूपनियोगव्यवस्थितिर्न स्यात्, कार्यस्यैव शुद्धस्य प्रवृत्त्यङ्गतया प्रधानत्वोपपत्तेः, नियाज्यादेस्तत्रापि गुणीभावात् । तद्वत्प्रेरणादिस्वभावनियोगवादिनां प्रेरणादौ प्रधानताभिप्रायात्, तदितरस्य सतोऽपि गुणभावाध्यवसायाद्युक्तो शब्दार्थः । शुद्धकार्यप्रेरणादिषु स्वाभिप्रायात् कस्यचित्प्रधानभावेऽपि पराभिप्रायात्प्रधानत्वाभावात् । तदन्यतरस्यापि स्वभावस्याव्यवस्थितेनैकस्यापि शब्दार्थत्वमिति चेत्, तर्हि पुरुषाद्वैतवाद्याशयवशाद्विधेः प्रधानत्वेऽपि ताथागतमताश्रयणादप्रधानताघटनात् सोऽपि न प्रतिष्ठामापद्येत, विप्रतिपत्तिसद्भावाविशेषात् ।

(विधिवादी विधेरेव प्रधानत्वेन वाक्यार्थत्वं समर्थयन्नाह)

६६. स्यान्मतिरेषा ते विधेरेव सर्वत्र प्रधानता, प्रवृत्त्यङ्गत्वोपपत्तेः । न पुनः प्रतिषेधस्य, सर्वथा प्रवृत्त्यङ्गत्वानुपपत्तेः । क्वचित्प्रवर्तितुकामो हि सर्वस्तद्विधिमन्वेषते, तत्र पररूपप्रतिषेधान्वेषणे परिनिष्ठानुपपत्तेः पररूपाणामानन्त्यात् क्वचित्प्रतिषेद्धमशक्तश्च । तद्धि पररूपं न तावत्स्वयमप्रतिपद्य क्रमशः प्रतिषेद्धं शक्यम्, प्रतिषेधस्य निर्विषयत्वप्रसङ्गात् । नापि प्रतिपद्य, तत्प्रतिपत्तेरपि पररूपप्रतिषेधापेक्षत्वात्, तस्यापि च प्रतिपन्नस्यैव

प्रतिषेधेऽनवस्थानुषङ्गात् । युगपत्सकलपररूपप्रतिषेधे परस्पराश्रयानुषङ्गात् । सिद्धे सकलपररूपप्रतिषेधे प्रतिषेधसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तत्परिहारेण तत्प्रतिपत्तिपूर्वकसकलपररूपप्रतिषेधसिद्धिरिति ।

(भावनावादी भाट्टो विधिवादिनस्तदेतत्कथनं दूषयति)

६७. तदेतदनालोचिताभिधानं मण्डनमिश्रस्य, सर्वथा विधेरपि प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेः । सर्वो हीष्टे वस्तुनि प्रवर्तितुमना जनोऽनिष्टपरिहारं तत्रान्वेषते, अन्यथाऽनिष्टेऽपि प्रवृत्तौ समीहितव्याघातप्रसक्तेः । अनिष्टप्रतिषेधश्च प्रत्यक्षादिवत् कुतश्चिदाक्यादपि शक्यः प्रतिपत्तुम्, केवलविधिप्रतिपत्तेरेवान्यप्रतिषेधप्रतिपत्तिरूपत्वात्, केवलभूतलप्रतिपत्तेरेव घटाभावप्रतिपत्तिसिद्धेः । न ह्ययं प्रतिपत्ता किञ्चिदुपलभमानः पररूपैः सङ्गीर्णमुपलभते, यतः प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिषेधः साध्यते । न च सर्वथा तैरसङ्गीर्णमेव, सदाद्यात्मनापि तदसङ्गरे तस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । परस्मात्कथञ्चिद् व्यावृत्ताव्यावृत्तात्मकं च कुतश्चित्प्रमाणदुपलभमानोऽर्थो परव्यावृत्तिद्वारेण वा प्रवर्तते विधिद्वारेण वेति । विधेरिवान्यापोहस्यापि प्रवृत्त्यङ्गतोपपत्तेर्न विधिरेव प्रधानम्, विधात्रेव प्रत्यक्षमुपनिषद्वाक्यं चेति नियमस्यासम्भवात् । अन्यथा ततो विद्यावदविद्याविधानानुषङ्गात् । सोऽयमविद्याविवेकेन सन्मात्रं कुतश्चित्प्रतीयन्नेव न निषेद्धं प्रत्यक्षमन्यद्वेति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? कथं वा प्रत्यक्षादेर्निषेद्धत्वाभावं प्रतीयात् ? यतस्तत्प्रतिपत्तिः, तस्यैवाभावविषयत्वसिद्धेः । प्रत्यक्षादेर्विधातृत्वप्रतिपत्तिरेव निषेद्धत्वाभावप्रतिपत्तिरिति चेत्, तर्हि सिद्धं भावाभावविषयत्वं तस्येति न परोदितो विधिर्वाक्यार्थः सिद्ध्यति, नियोगस्यैव वाक्यार्थत्वोपपत्तेः प्राभाकरमतसिद्धिः ।

(सम्प्रति भाट्टो वेदान्तवादिनां विधिवाक्यार्थं ताथागतानामन्यापोहवाक्यार्थं प्राभाकराणां च नियोगवाक्यार्थं प्रदूष्य स्वाभिमतं भावनावाक्यार्थं प्रतिपादयति)

६८. स एव वाक्यार्थोऽस्त्वित्ययुक्तम्, धात्वर्थवन्नियोगस्य परोपवर्णितस्वरूपस्य वाक्यार्थतया प्रतीत्यभावात्, सर्वत्र भावनाया एव वाक्यार्थत्वप्रतीतेः । सा हि द्विधा—शब्दभावनाऽर्थभावना च ।

शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ।

इयं त्वन्यैव सर्वार्था सर्वाख्यातेषु विद्यते ॥२३॥ () इति वचनात् ।

६९. तत्र शब्दभावना शब्दव्यापारः । शब्देन हि पुरुषव्यापारो भाव्यते, पुरुषव्यापारेण धात्वर्थो धात्वर्थेन फलमिति । न चैव पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारवद्भात्वर्थे च पुरुषव्यापारवत् फले धात्वर्थे भावनाऽनुषज्यते, तस्य शुद्धस्य सन्मात्ररूपतया विधिरूपत्वप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

सन्मात्रं भावलिङ्गं स्यादसंपृक्तं तु कारकैः ।

धात्वर्थः केवलः शुद्धो भाव इत्यभिधीयते ॥२४॥

तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।

सा सत्ता सा महानात्मा यामाहुस्त्वतलादयः ॥२५॥ () इति च ।

७०. प्रतिक्षिप्तश्चैवविधो विधिवादो नियोगवादिनैवेति नास्माकमत्रातितरामादरः । अथ ततोऽन्यो धात्वर्थः सोऽपि न प्रत्ययार्थशून्यः कुतश्चिद्वाक्यात्प्रतीयते तदुपाधेरेव तस्य ततः प्रत्ययात् । प्रत्ययार्थस्तत्र प्रतिभासमानोऽपि

न प्रधानं कर्मादिवत्, अन्यत्रापि सम्भवात्, इति चेत्, तर्हि^{७२६} धात्वर्थोऽपि यजनादिः प्रधानं मा भूत्, प्रत्ययान्तरेऽपि भावात् प्रकृतप्रत्ययापायेऽपीति समानं पश्यामः । यदि पुनः क्रिया सकल(धातु)व्यापिनी धात्वर्थः, सर्वधातुषु भावात्, तदा सैव भावना किं नेष्यते, सर्वार्थेषु सद्भावात् । यथैव हि जुहुयाज्जुहोतु होतव्यमिति लिङादयः क्रियां हवनावच्छिन्नां प्रतिपादयन्ति तथा सर्वाख्यातप्रत्यया अपि, पचति पपाच पक्ष्यतीति पचनावच्छिन्नायाः क्रियाया एव प्रतिपत्तेः । पाकं करोति चकार करिष्यतीति । तथा च लिङादिप्रत्ययप्रत्याय्यः करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इत्यायातम् । स च भावनास्वभाव एवेति न धात्वर्थ एव वाक्यार्थतया प्रतीयते । नापि कार्यादिरूपो नियोगः ।

(शब्दव्यापाररूपो नियोग इति मतमपि भाट्टो दूषयति)

७१. ननु शब्दव्यापाररूपो नियोगः प्रतीयत एव । शब्दो हि स्वव्यापारस्य पुरुषव्यापारकरणलक्षणस्य प्रतिपादको, न पुनः कारकः, शब्दादुच्चरितानियुक्तोऽहमनेनेति प्रतिपत्तृणां प्रतिपत्तेः, अन्यथाऽनुपपत्तेः, इति चेत्; तर्हि भावनेन नियोग इति शब्दान्तरेणोक्ता स्यात् । तदुक्तम्—

शब्दादुच्चरितादात्मा नियुक्तो गम्यते नरैः ।

भावनातः परः को वा नियोगः परिकल्प्यताम् ॥२६॥ () इति ।

७२. स्थान्तम्—यदि शब्दव्यापारो भावना कथमगृहीतसङ्केतो नावगच्छति नियुक्तोऽहमनेनेति, स्वभावतस्तस्य नियोजकत्वात्, सङ्केतग्रहणस्यानुपयोगित्वादिति; तदसमाचीनमेव; सङ्केतस्य तथाऽवगतौ सहकारित्वात्, 'सामग्री जनिका नैक कारणम्' () इति प्रसिद्धेः ।

७३. ननु च सङ्केतसामग्री न प्रेरणं भावनायां वा व्याप्रियते, अर्थवेदने तस्याः प्रवृत्तेः, अर्थप्रतीतौ पुरुषस्य स्वयमेव तत्र तदर्थितया प्रवृत्तेः । इदं कुर्विति प्रेरणाध्येषणयोरेव हि प्रतीतिः, तदप्रतीतौ नियुक्तत्वाप्रतिपत्तेः । नियुक्तत्वं च नाम कार्ये व्यापारितत्वं । कार्ये व्यापृतामवस्थां प्रतिपद्ये नियोजको नियुङ्क्ते । सा च तस्य भाविन्यवस्था न स्वरूपेण साक्षात्कर्तुं शक्या । स्वरूपसाक्षात्करणे हि सर्वं तदेव सिद्धमिति न नियोगः स्यात्सफलः । ततः प्रयोजको बाध्यमानप्रतीतिक एव । तदुक्तम्—

यथा प्रयोजकस्तत्र बाध्यमानप्रतीतिकः ।

प्रयोज्योऽपि तथैव स्याच्छब्दो बुद्ध्यर्थवाचकः ॥२७॥ ()

७४. यथैव हि प्रयोजकस्य शब्दस्य प्रयोज्येन पुरुषेण स्वव्यापारशून्यमात्मानं प्रतीयता प्रयोजकत्वप्रतीतिर्बाध्यमाना निरालम्बना तथा प्रयोज्यत्वप्रतीतिरपि तेनैव स्वव्यापाराविष्टमात्मानमप्रतीयता बाध्यते । शब्दात् सा प्रतीतिरिति च न युक्तम्, तस्य बुद्ध्यर्थख्यापनत्वात् । सोऽपि हि शब्दो बुद्ध्यर्थमेव ख्यापयति । एवं मया प्रतिपादितमेवं मया प्रतिपन्नमिति द्वयोरपि प्रतिपादकप्रतिपाद्योरध्यवसायात् । पौरुषेयवचनाद्धि मयैवं तावत्प्रतिपन्नमस्य तु वक्तुरयमभिप्रायो भवतु मा वाऽभूदिति प्रतिपत्ताऽध्यवस्यति । अपौरुषेयादपि शब्दादेवमयमर्थो मया प्रतिपन्नोऽस्य भवतु मा वा भूदिति वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थः पौरुषेयशब्दस्य

यो वा बुद्धौ प्रकाशतेऽर्थः, अपौरुषेयत्वाभिमतशब्दस्य तत्र प्रामाण्यं न पुनर्बाह्यार्थत्वनिबन्धनम् । तदुक्तम्—

वक्तृव्यापारविषयो योऽर्थो बुद्धौ प्रकाशते ।

प्रामाण्यं तत्र शब्दस्य नार्थतत्त्वनिबन्धनम् ॥२८॥ () इति वचनात् ।

७५. ततो विवक्षारूढ एवार्थो वाक्यस्य, न पुनर्भावना, इति प्रभाकरः ।

(वाक्यस्य विवक्षारूढार्थं मन्यमानस्य प्रज्ञाकरस्य बौद्धस्य मतमपि ग्रन्थकृदूषयति)

७६. सोऽपि न परीक्षकः, प्रत्यक्षादिव शब्दाद्वहिरर्थप्रतिपत्तिसिद्धेः । यथैव हि प्रत्यक्षात्प्रतिपत्-
प्रणिधानसामग्रीसव्यपेक्षात्प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्तिस्तथा सङ्केतसामग्रीसव्यपेक्षादेव शब्दाच्छब्दार्थप्रतिपत्तिः
सकलजनप्रसिद्धा, अन्यथा ततो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्त्ययोगात् । न चार्थवेदनादेवार्थे पुरुषस्यार्थिनः स्वयमेव
प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्तक इति वक्तुं युक्तम्, प्रत्यक्षादेरप्येवमप्रवर्तकत्वप्रसङ्गात्, तदर्थेऽपि सर्वस्याभिलाषादेव प्रवृत्तेः ।
परम्परया प्रत्यक्षादिप्रवर्तकमिति चेत्, तथो वचनमपि प्रवर्तकमस्तु, विशेषाभावात् । यथा च प्रत्यक्षस्य
सलिलादिरर्थः, तस्य तत्र प्रतीतेः, तथा वाक्यस्य भावना प्रेरणा वा, तस्यैव तत्र प्रतीतेरबाध्यमानत्वात् ।

(प्रज्ञाकरो भावनाप्रेरणारूपवाक्यार्थं दूषयन्नाह)

७७. नन्विदं कुर्विति वचनात्कार्ये व्यापारितत्वं पुरुषस्य नियुक्तत्वम् । न च कार्ये व्यापृतावस्था भाविनी
तेन साक्षात्कर्तुं शक्या, तत्साक्षात्करणे नियोगस्याफलत्वप्रसङ्गात् । ततो बाध्यमानैव तत्प्रतीतिरिति ।

(प्रज्ञाकरोक्तं समालोच्य प्रत्यक्षादेर्वाक्यस्य वा बहिरर्थं द्रढयति)

७८. तदेतदसमञ्जसमालक्ष्यते, अन्यत्रापि समानत्वात्, प्रत्यक्षस्य हि प्रवर्तकत्वं
प्रवृत्तिविषयोपदर्शकत्वमुच्यते । प्रवृत्तिविषयश्चार्थक्रियाकारि सलिलादिः । सा च तस्यार्थक्रियाकारिता भाविनी न
साधनावभासिना वेदनेन साक्षात्कर्तुं शक्या, तत्साक्षात्करणे प्रवृत्तिर्नैकल्यात् । ततोध्यक्षस्य प्रवर्तकत्वं
बाध्यमानप्रतीतिकमेवेति शक्यं वक्तुम् । यदि पुनरर्थक्रियाकारिताऽपि साधनावभासिनि वेदने प्रतिभातैव,
एकत्वाध्यवसायात्; तदा शब्दादपि पुरुषस्य कार्यव्यापृतता तैव एव प्रतिभातेति किं नानुमन्यते । तथो सति
बुद्ध्यारूढोऽर्थः शब्दस्य स्यात्; इति चेत्; तेषां हि प्रत्यक्षस्य बुद्ध्यध्यवसितोऽर्थः किन्न भवति, यतो
निरालम्बनमेव प्रत्यक्षं न स्यात् । परमार्थतः प्रत्यक्षमपि न प्रवर्तकम्, स्वरूपस्य स्वतो गतेः संवेदनाद्वैतस्य
सिद्धेः, इति चेत्; पुरुषाद्वैतस्य कुतो न सिद्धिः ? तस्य नित्यसर्वगतस्यैकस्य संवित्यभावात्; इति चेत्
क्षणिकनिर्णयस्यैकस्य संवित्तिः किं कस्यचित्कदाचिदस्ति, यतस्तत्सिद्धिरैव । ततः पुरुषाद्वैतवत्संवेदनाद्वैतस्य
सर्वथा व्यवस्थापयितुमशक्तेर्भेदवादे च प्रत्यक्षस्य प्रवर्तकत्वायोगाद्विनाभिन्नात्मकं वस्तु प्रातीतिकमभ्युपगन्तव्यम्,
विरोधादेश्चित्रज्ञानेनोत्सारितत्वात् । भेदस्याभेदस्य वा सांवृतत्वे सर्वथाऽर्थक्रियाविरोधात् । तथा च
शब्दात्कार्यव्यापृतताया व्यक्तिरूपेण भाविन्या अपि शक्तिरूपेण पुरुषस्य सतः कथञ्चिदभिन्नाया शब्दज्ञाने तदेव
प्रतिभासनेऽपि न नियोगो निष्फलः स्यात्, प्रत्यक्षतः सलिलादौ प्रवृत्तिवत् । तत्र हि
सलिलादेरर्थक्रियार्थगताप्रतिभासनेऽपि व्यक्तार्थक्रियानुभवाभावात्तदर्थं प्रवर्तनं प्रतिपत्तुः सफलतामियति,

^{८६९}नान्यथा । एवं ^{८७०}शब्दादात्मनः ^{८७१}कार्यव्यापृततायोग्यताप्रतिपत्तावपि ^{८७३}व्यक्तकार्यव्यापृततानुभवाभावात् पुरुषस्य नियोगः ^{८७४}सफल एव, ^{८७५}समानन्यायात्, ^{८७६}तथा ^{८७७}प्रतीतेरेवाऽबाध्यत्वसिद्धेः । ततो ^{८७८}न विवक्षारूढ एव शब्दस्यार्थः प्रमाणबलादवलम्बितुं युक्तः सन्मात्रविधिवत् ।

(शब्दभावनारूपे नियोगे वाक्यार्थे मन्यमाने प्रज्ञाकरः पुनर्दोषमाविष्करोति भाट्टस्तमपि परिहरति)

७९. यदप्युक्तम्—नियोगो यदि शब्दभावनारूपो वाक्यार्थस्तथा सति देवदत्तः पचेदिति कर्तुरनभिधानात्कर्तृकरणयोस्तृतीयेति तृतीया प्राप्नोति । कर्त्रभिधाने त्वनभिहिताधिकारात्तिडैव चोक्तत्वात् भवतीति । तदप्युक्तम्, भावनाविशेषणत्वेन कर्तुः प्रतिपादनात् । भावना हि करोत्यर्थः । स च देवदत्तकर्तृकः प्रतिभाति । पचेद्देवदत्तः पाकं कुर्यादिति पाकावच्छिन्नायाः क्रियार्या देवदत्तकर्तृकायाः प्रतीतेः, सर्वदेव विशेषणविशेष्ययोः प्रतिभासाविरोधात्, नीलोत्पलादिवत् । ततो नेदं प्रज्ञाकरवचश्चारु—

क्रमप्रतीतिरेवं स्यात् प्रथमं भावनागतिः ।

तत्सामर्थ्यात्पुनः पश्चाद्यतः कर्ता प्रतीयते ॥२९॥ () इति ।

(प्रज्ञाकरेण पुनरप्युक्तं दूषणं निराकरोति भाट्टः)

८०. यदप्यभ्यधायि—द्विवचनबहुवचने च न प्राप्नुतः, एकत्वाद्व्यापारस्य । अथ कारकभेदाद्व्यापारभेदो भविष्यति, क्रियते कटो देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामिति महदसमञ्जसं स्यात् । तथा हि—

एकत्वात्कर्मणः प्राप्तं क्रियैकत्वं तथाभिदः ।

कर्तृभेदादितिथं च किं कर्तव्यं विचक्षणैः ॥३०॥

८१. तदप्यसत्यम्; प्रतीतिविरोधात् । प्रतीयते हि धात्वर्थस्याभेदादेकवचनं देवदत्तयज्ञदत्ताभ्यामास्यते । स च धात्वर्थो न नियोगः, नियोगस्य प्रत्ययार्थत्वात् । स च धात्वर्थोतिरिक्तः कर्तृसाध्यः । तस्य कर्तृभेदाद्भेद इति । ततः कटं कुरुत इति द्विवचनम् । धात्वर्थस्तु शुद्धो न कारकभेदाद्भेदी ।

(योगाचारमतानुयायी प्रज्ञाकरः पुनः शङ्कते)

८२. स्यादाकूतम्—

सम्बन्धाद्यदि तद्भेदो धात्वर्थस्याप्यसौ भवेत् ।

सोऽपि निर्वर्त्य एवेति तद्भेदेनैव भिद्यताम् ॥३१॥

८३. अस्माकं तु

विवक्षापरतन्त्रत्वाद्भेदाभेदव्यवस्थितेः ।

लाभिधानात्कारकस्य सर्वमेतत्समञ्जसम् ॥३२॥

८४. क्रिया हि कर्तुः कर्मणश्च भेदेन विवक्ष्यते । सा यदा लकारेणाभिधीयते न कर्ता, तदा कर्तरि तृतीया भवति । यदा कर्ताऽभिधीयते तदा प्रथमार्थत्वात्प्रथमा भवति । क्रियते महात्मना करोति महात्मा, इति ।

(तदपि निराकरोति भाट्टः)

८५. तदेतदपि पक्षपातमात्रं सौगतस्य, भेदाभेदयोर्वस्तुरूपयोः प्रतीतिसिद्धत्वेन तद्विवक्षावशात्तथा व्यवहारस्य पारमार्थिकत्वोपपत्तेः । ततो युक्ता शब्दव्यापाररूपा शब्दभावना पुरुषव्यापाररूपाऽर्थभावना च । तत्र हि कर्तृव्यापारस्तिङ्गं प्रतिपाद्यते । स एव च भावना । तथा चाह—^{१४३}भावार्थाः कर्मशब्दाः । भावनं भावो^{१४६} ण्यन्ताद्धप्रत्ययः । तथा च सति भावनैवासौ । भावना च कर्तृव्यापारः । स चोदितः स्वव्यापारे प्रवर्तते । () इति । नियोगस्य च तद्विशेष्यत्वादप्रधानत्वादवाक्यार्थत्वम् । नियोगविशिष्टत्वाच्च भावनायास्तथा प्रतिपादने नियमेन प्रवर्तते ।

कथं चासौ स्वव्यापारं प्रतियन्नेव प्रवर्तते ? अन्यथा स्वव्यापारे एव न चोदितो भवेत् ।

(बौद्धः पुनः शङ्कते—भोः । वेदवाक्येन प्रतिपादितो यागादिलक्षणो व्यापारो मम कर्तव्य इति पुरुषो भाविनं स्वर्गादिफलमनवगम्य कथं यागकर्मणि प्रवर्तते)

८६. ^{१५८}स्थान्तम्—

^{१५९}व्यापार एष मम ^{१६०}किमवश्यमिति मन्यते ।

फलं विनैव नैव चेत् स फलाधिगमः कुतः ॥३३॥ () इति ।

(भाट्टस्तस्येमां शङ्कां निराकुर्वन्नाह)

८७. तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; 'अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः' () इत्यादिवेदवाक्यसामर्थ्यादेव पुरुषेण तदा ममैष व्यापार इति प्रत्येतुं शक्यत्वात् । ममेदं कर्तव्यमिति फलमपश्यन् कथं प्रत्येतीति चेत्; प्रत्यक्षतः कथं प्रत्येति ? फलयोग्यतायाः प्रतीतेरिति चेत्; वाक्यादपि तत् एव तथा प्रत्येतु । फलस्यातीन्द्रियत्वात् कथं तद्योग्यता स्वव्यापारस्य कर्त्रा प्रतीयते इति चेत्, प्रत्यक्षेऽपि समानमेतत् । प्रतिपत्तुरभ्यासमामर्थ्यात्प्रत्यक्षविषये फलयोग्यतानिश्चय इति चेत्; तत् एव च कर्तुः स्वव्यापारे तद्योग्यतानिश्चयोऽस्तु, सर्वथा विशेषाभावात् ।

(प्रज्ञाकरो भावनाया वाक्यार्थत्वे पुनरपि दूषणमापादयति)

८८. ^{१७०}यदप्यवादि प्रज्ञाकरेण—

यजते पचतीत्यत्र भावना न प्रतीयते ।

यजाद्यर्थातिरेकेण तस्या वाक्यार्थता कुतः ॥३४॥

यागं करोति पाकं च यदि भेदः प्रतीयते ।

एवं सत्यनवस्था स्यादसमञ्जसताकरी ॥३५॥

८९. ^{१७१}करोति यागं स्वव्यापारं निष्पादयति यागनिष्पत्तिं निर्वर्तयति । ^{१७०}व्यपदेशा एते यथा कथञ्चिद्भेदपरिकल्पनापुरस्सराः । नैतेभ्योऽस्ति पदार्थतत्त्वव्यवस्था इति । ^{१७४}'शिलापुत्रकस्य शरीरम्' इति ^{१७५}भेदव्यवहारा भेदमन्तरेणापि दृश्यन्ते ।

^{१८१}यथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यपि^{१८२} गीयते ।

^{१८३}ततः परा पुनर्दृष्टा करोतीति न हि क्रिया ॥

^{१८४}यजिक्रिया च^{१८५} द्रव्यस्य विशेषादपरा न हि^{१८६} ।

^{१८७}सामानाधिकरण्येन देवदत्ततया गतेः ॥ () इति ।

(भाट्टस्तदपि निराकुर्वन्नाह)

९०. तदपि न परीक्षाक्षमम्—

यजते पचतीत्यत्र भावनायाः प्रतीतितः ।

यजाद्यर्थातिरेकेण युक्ता वाक्यार्थता ततः ॥ ३६ ॥

यागं करोति पाकं चेत्येवं भेदेऽवभासिते ।

काऽनवस्था भवेत्तत्र तत्प्रतीत्यनुसारिणाम् ॥ ३७ ॥

९१. यजते यागं करोतीति हि यथा प्रतिपत्तिः, तथा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यपि सैव प्रतीतिः, स्वव्यापारशब्देन यागस्याभिधानात् । निष्पादयतीत्यनेन तु करोतीति प्रतीतेः । यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयतीति नार्थभेदः । यागनिष्पत्तिं निर्वर्तयतीत्यत्रापि यागनिष्पत्तिर्याग एव, निर्वर्तनं करणमेव । ततो यागं करोतीति प्रतीतं स्यात् । ततो नैते व्यपदेशा यथा^{१८८} कथञ्चिद्भेदपरिकल्पनापुरस्सराः, प्रतीयमानकरोत्यर्थविषयत्वात्, यागं करोति विदधात्येवमादिव्यपदेशवत् । ततो युक्तैवैतेभ्यः^{१८९} पदार्थतत्त्वव्यवस्था, अनवस्थाऽनवतारात् ।

(पुनरपि प्रज्ञाकरशङ्कां निरस्यन् भाट्ट आह)

९२. अथ^{१९०} यजते यागं करोति यागक्रियां करोतीत्येवमनवस्थोच्यते^{१९१} तर्हि^{१९२} स्वरूपवेदनं संवेदयते^{१९३} इत्यप्यनवस्था^{१९४} स्यात् । अथ स्वरूपं संवेदयते इत्यनेनैव स्वरूपसंवेदनप्रतिपत्तेः स्वरूपसंवेदनं संवेदयते इत्यादिनिरर्थकत्वादयुक्तम्, तर्हि^{१९५} यागं करोतीत्यनेनैव यागावच्छिन्नक्रियाप्रतिपत्तेर्यागक्रियां करोतीत्यादिवचनमनर्थकमेव, व्यवच्छेद्याभावात् । यजते इत्यनेनैव यागावच्छिन्नक्रियाप्रतीतेर्यागं करोतीत्यपि वचनमनर्थकम्; इति चेत्, सत्यम्, यदि तद्वचनादेव तथा प्रत्येति । यस्तु न प्रत्येति तं प्रति विशेषणविशेष्यभेदकथनपरत्वात्तथाऽभिधानस्य नानर्थक्यम् । शिलापुत्रकस्य शरीरं राहोः शिर इत्यादिभेदव्यवहारा अपि न कथञ्चिद्भेदमन्तरेण प्रवर्तन्ते, गौणत्वप्रसङ्गात् । शिलापुत्रकस्य राहोरित्युच्यमाने हि किमिति सन्देहः, तद्व्यवच्छिन्नये शरीरं शिर इत्यभिधानमन्यस्य कार्यादिव्यवच्छेदकमुपपन्नम् । तस्मिंश्च सति कस्येति संशयः स्यात् । तद्व्यपोहनाय शिलापुत्रकस्य राहोरित्यभिधानं श्रेयः, अवस्थातद्वतोः कथञ्चिद्भेदात् । शरीरं हि शिलापुत्रकस्यावस्था, अवयवोपचयलक्षणावस्थान्तरव्यावृत्ता । शिलापुत्रकः पुनरवस्थाता, खण्डाद्यवस्थान्तरेष्वपि प्रतीतेः । एतेन राहुरवस्थाता शिरोऽवस्थायाः व्याख्यातः । सांवृतोऽवस्थाता, अवस्थाव्यतिरेकेणानुपलब्धेरिति चेत्, न; उभयासत्त्वात् । अवस्थातुरसत्त्वे सांवृतत्वे वाऽवस्थायाः सत्त्वाऽसांवृतत्वविरोधात्, खपुष्पसौरभवत् कृत्रिमफणिस्फटादिवच्च । ततो वस्तुस्वरूपाश्रय एव यागं करोतीति व्यपदेशः, सत्यप्रतीतिकत्वात्, संविदमनुभवतीत्यादिव्यपदेशवत् ।

^{१०२१} तथा द्विजस्य व्यापारो याग इत्यभिधीयते ।

ततः परा च निर्बाधा करोतीति क्रियेष्यते ॥३८॥

^{१०३०} यजिक्रियापि ^{१०३१} भावस्य ^{१०३२} विशेषादपरैव ^{१०३३} हि ।

सामानाधिकरण्येन ^{१०३४} देवदत्ततया गतेः ॥३९॥ ()

(भाट्टः कारिकयोरनयोरर्थं स्पष्टयन् यागकर्तुस्तद्व्यापारस्य च यागलक्षणस्य करोतीति सामान्यक्रियाया यजिक्रियायाश्च तद्विशेषरूपायाः पारमार्थिकं भेदं प्रदर्शयति)

९३. द्विजो हि व्यापृतेतरावस्थानुयायी 'स एवायम्' इत्येकत्वप्रत्ययवर्शविशान्निश्चितात्मा परमार्थस्सन्नेकः ।
यागस्तु तद्व्यापारः प्रागभूत्वा भवन् पुनरपगच्छन्ननित्यतामात्मसात्कुर्वन्भेदप्रत्ययविषयस्ततोऽपर एव,
^{१०३०} कथञ्चिद्विरुद्धधर्माध्यासात्, तथा ^{१०३१} यागेतरव्यापारव्यापिनी करोतीति क्रियाऽनुस्यूतप्रत्ययवेद्या तद्विपरीतात्मनो
यागादर्थांतरभूता सर्वथाऽप्यप्रतिक्षेपाहोऽनुभूयते, यजते यागं करोति देवदत्त इति ^{१०३४} समानाधिकरणतया देवदत्तेन
सहावगतेः । सर्वथा तदैक्ये तद्विरोधात्, पटतत्त्वात्मवत् । किं करोति देवदत्तः ? यजति पचतीति
प्रश्नोत्तरदर्शनात् । करोतीति निश्चितेऽपि यज्यादिषु सन्देहाच्च । तथा हि—^{१०४३} यस्मिन्निश्चीयमानेऽपि यन्न निश्चीयते
तत्ततः कथञ्चिदन्यत्, यथाऽन्यदेहे निश्चीयमानेऽप्यनिश्चीयमाना बुद्धिः । करोतीति निश्चीयमानेऽप्यनिश्चीयमानश्च
यज्यादिरिति ।

(प्रज्ञाकरः पुनः सामान्यविशेषक्रिययोस्तादात्म्यं साधयन्नाह)

९४. स्यान्मतम्—

^{१०५५} करोत्यर्थयजत्यर्थौ विभिन्नौ यदि तत्त्वतः ।

अन्यत्सन्दिग्धमन्यस्य कथने दुर्घटः क्रमः ॥४०॥ ()

९५. नहि करोतीति क्रियातो विभिन्नायां यज्यादिक्रियायां सन्देहे ततोऽन्यत्र करोत्यर्थे निश्चिते प्रश्नः श्रेयान्,
अनिश्चिते ^{१०५७} एव प्रश्नस्य साधीयस्त्वात् । ततः करोत्यर्थयज्यार्थयोस्तादात्म्यमेषितव्यम्, तत्रैव
प्रश्नोत्तरदर्शनादिति ।

(भाट्टस्तदेतन्मतं निराकरोति)

९६. तदेतदनुपपन्नम्, करोत्यर्थस्य सामान्यरूपत्वात् तद्विशेषरूपत्वाच्च यज्यादेः । सामान्यविशेषयोश्च
कथञ्चिदभेदोपगमात् । सन्दिग्धस्यैव ^{१०५९} कथनात्प्रश्नोत्तरक्रमस्य ^{१०६०} दुर्घटत्वाघटनात् । तदभेदेकान्ते एव तस्य
दुर्घटत्वात् ।

(प्रज्ञाकरः सामान्यमाक्षिप्यमाणं विशेषं च पारमार्थिकं मन्यमानो भाट्टेनोक्तं दूषयति)

९७. स्यादाकृतं ते—

सामान्यं न विशेषेण विना किञ्चित्प्रतीयते ।

सामान्याक्षिप्यमाणस्य न हि ^{१०६३} नामाप्रतीतता ॥४१॥

९८. केवलसामान्यप्रतीतौ हि विशेषांशे सन्देह इत्युक्तम्; तस्या प्रतीतत्वात् । घटप्रतीतौ हिमवदादिवत् ।
अथ सामान्येन विशेष आक्षिप्यते, तथा सोऽपि प्रतीत एवेति कथं संशयः ? न हि प्रतीतत्वादपर आक्षेपः । अथ
प्रतीत एवासौ सामान्येन न तु विशेषेण, तस्य सामान्यरूपेणाक्षेपात् । ननु तदेव सामान्यमाक्षेपकं तदेवाक्षेप्यमिति
कथमेतत् । न च सामान्यादपरं सामान्यमाक्षेप्यमस्ति । तथा सति ततोऽप्यपरं ततोऽप्यपरमित्यनवस्था । ननु
सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयो युक्त एव, न त्वनुपलम्भादभाव एव युक्तः
सामान्येनानुपलम्भप्रमाणवादिनः । अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भादभावो नानुपलब्धिमात्रात्, तथा
सत्यनुपलब्धेरैव संशयः, व्यर्थमेतत्सामान्यप्रत्यक्षादिति । यदि
सामान्यप्रत्यक्षतायामप्युपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिर्न स्यात्, स्यात् संशयः । अथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धिरेव
न सम्भवति सामान्यप्रत्यक्षतायाम् । एवं तर्हि सैवानुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिः संशयहेतुरिति प्राप्तम्,
विशेषस्मृतेरिति च व्यर्थम् । न हि विशेषस्मृतिव्यतिरेकेणापरः संशयः, उभयांशावलम्बिस्मृतिरूपत्वात् संशयस्य ।
दृश्यते च कन्याकुब्जादिषु सामान्यप्रत्यक्षतामन्तरेणापि प्रथमतरमेव स्मरणात्संशयः । तस्मात्करोतीति तदेव
यज्यादिकमनियमेन प्रतीयमानं सामान्यतोदृष्टानुमानात्सामान्यम् ।

(भाट्टः प्रज्ञाकरोक्तान् दोषान् निराकरोति)

९९. तदेतदपि प्रज्ञापराधविजृम्भितं प्रज्ञाकरस्य, करोत्यर्थसामान्यस्याध्यवसाये
यज्याद्यर्थविशेषानवगतावेव तत्संशयोपगमात् । न च सामान्ये व्यवसिते ततोऽन्यत्र विशेषेऽनवसिते
संशीतावतिप्रसङ्गः, सामान्यविशेषयोः कथाञ्चिदभेदात् । हिमवद्भटादीनां तु परस्परमत्यन्तभेदात् । एकत्र निश्चयेऽपि
नानवगततदन्यतमे संशीतिर्यतोऽतिप्रसङ्गः, स्यात् । नापि सामान्येनाक्षिप्ते तद्विशेषे संशयोपगमोऽस्ति,
यतस्तदाक्षेपपक्षनिक्षिप्तदोषोपक्षेपः । न चैवमनभिमततद्विशेषेण संशयोऽनुषङ्गी, स्मरणविषये एव विशेषेऽनेकत्र
संशयप्रतीतेः । 'सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च संशयः' () इति वचनात् । सामान्ये ह्युपलभ्यमाने
तदविनाभाविनो विशेषस्यानुपलम्भेऽपि नाभावः सिद्ध्यति, तदभावे तस्याप्यभावप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

निर्विशेषं तु सामान्यं भवेच्छविषाणवत् ।

सामान्यरहितत्वाच्च विशेषस्तद्वदेव हि ॥४२॥

१००. न चैवं विशेषेऽदृश्यानुपलब्धेरेव संशयः, स्मृतिनिरपेक्षत्वप्रसङ्गात् । विशेषस्मृतिरेव संशय इति
चेत्; न; साध्यसाधनव्याप्तिस्मृतेरपि संशयत्वप्रसङ्गात् । सर्वसाधनानां
संशयितसाध्यव्याप्तिकत्वापत्तेस्तत्स्मृतेरचलितत्वाच्च संशयत्वमिति चेत्, तर्हि चलिता प्रतिपत्तिः संशयः । सा
चोभयविशेषस्मृत्युत्तरकालभाविनी, तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात् । न पुनर्विशेषस्मृतिरेव, सामान्योपलब्धिवत् ।
तदुभयांशावलम्बिनी स्मृतिः संशीतिरित्यपि फल्गुप्रायम्, तदविचलनेऽपि संशीतिप्रसङ्गात् ।
सामान्याप्रत्यक्षतायामपि कन्याकुब्जादिषु प्रथमतरमेव स्मरणात् संशयदर्शनाच्च सामान्योपलम्भः संशयहेतुरिति
चेत्; न; असिद्धत्वात् । तत्रापि हि प्रासादादिसन्निवेशविशेषविषयः संशयः कन्याकुब्जनगरसामान्योपलम्भपुरस्सर
एव सर्वथानुपलम्भे संशयविरोधात्, सर्वथोपलम्भवत् । योऽपि तद्भावाभावविषयः संशयः, सोपि

नगरादिसामान्योपलम्भपूर्वक एव । नगरादिकं सामान्यतस्तावत्प्रसिद्धम् । कन्याकुब्जादिनामकं तु तदस्ति किं वा नास्तीत्युभयांशावलम्बिनः प्रत्ययस्योत्पत्तेः । न च नगरं^{११३०} नाम न किञ्चिदिति वक्तुं शक्यम्, प्रत्यासत्तिविशेषस्य प्रासादादिसमूहस्य नगरत्वोपवर्णनात् । तत्रानुस्यूतप्रत्ययहेतोर्नगरत्वसामान्यस्य सिद्धेस्तदुपलम्भपूर्वकस्तद्विशेषे संशयो न विरुध्यत एव । ततः करोत्यर्थसामान्योपलम्भात्तद्विशेषयज्याद्यर्थस्यानुपलब्धेरनेकविशेषस्मरणाच्च युक्तस्तत्र सन्देहः^{११३१} । न हि तदेव यज्यादिकमनियमेन^{११३२} करोतीत्युपलब्धुं शक्यम् । करोत्यर्थसामान्यासम्भवे सामान्येषु सामान्यान्तरासम्भवात् । तत्सम्भवे वाऽनवस्थाप्रसङ्गात् । न चैवं सर्वत्र सामान्यमन्तरेणैवान्वितप्रत्ययो गौण इति वक्तुं शक्यम्, मुख्याभावे गौणस्यानुपपत्तेः^{११३३} । विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः सामान्याकारो मुख्यः स्वलक्षणेषु पुनरारोप्यमाणो गौण इति चेत्, न; विशेषाकारस्यापि तत्र गौणत्वप्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानो विशेषाकारो मुख्यः बहिः स्वलक्षणेषु स एवाध्यारोप्यमाणो गौण इति ।

(अत्र सौत्रान्तिकेन प्रसक्तं विज्ञानवादमतं भाट्टो निरस्यति)

१०१. नन्वेवमपि ज्ञानविशेषाः^{११३४} परमार्थतः सिद्धा बहिरर्थविशेषास्तु न वास्तवा इति विज्ञानवादमतमायातम् । तर्हि विज्ञानसामान्यं वस्तुभूतं न बहिरर्थसामान्यमिति सामान्यविशेषात्मकं विज्ञानं परमार्थसदायातं न क्षणिकविज्ञानस्वलक्षणवादमतम् । विकल्पज्ञानेऽपि न वास्तवः सामान्याकारः, तस्यानाद्यविद्योपपादितत्वात्, संवेदनस्वरूपस्यैवासाधारणस्य परमार्थसत्त्वात्, इति चेत्, न; विपर्ययस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वात् । संवेदनेऽपि नासाधारणाकारः पारमार्थिकः, तस्यानाद्यविद्योदयनिबन्धनत्वात्, संवेदनसामान्यस्यैव वास्तवत्वादिति वदतोऽन्यस्यापि निवारयितुमशक्यत्वात् । न वस्तुभूतं संवित्सामान्यम्, वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषङ्गात्, बहिरर्थसामान्यवत्, इति चेत्, तर्हि न संविद्विशेषः परमार्थसन्, विचार्यमाणायोगात्, बहिरर्थविशेषवत्, इत्यप्यन्यो ब्रूयात् । तथा च सत्याऽऽश्रयासिद्धो हेतुरित्युभयत्र समानं दूषणम् । साधनविकलं निदर्शनमित्यपि न चोद्यम्, समानत्वात् । संवित्स्वलक्षणाद्वैतोपगमात्सिद्धसाधनमिति चेत्, संवित्सामान्याद्वैतोपगमात्परस्यापि सिद्धसाधनं कुतो न भवेत् ? संवित्सामान्याद्वैतं प्रतीतिविरुद्धम्, विशेषसंविदभावे जातुचिदसंवेदनादिति चेत्, संवित्स्वलक्षणाद्वैतमपि तर्हि प्रतीतिविरुद्धमेव, संवित्सामान्याभावे तद्विशेषसंवेदनस्य सकृदप्यभावात्, सर्वाक्षेपसमाधीनां समानत्वात् । ततो निर्बाधप्रतीतिबलाद्धेदव्यवस्थायां सामान्यव्यवस्थाऽस्तु सुघटैवान्तःसंवेदनेषु । तद्वद्बहिरर्थेषु च सामान्यविशेषव्यवस्थोररीकर्तुं युक्ता, निर्बाधप्रतीतिसिद्धत्वाविशेषात् ।

१०२. एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं धर्मकीर्तिना—

अतद्रूपपरावृत्तवस्तुमात्रप्रवेदनात् ।

सामान्यविषयं प्रोक्तं लिङ्गं भेदाप्रतिष्ठितेः ॥४३॥ () इति ।

१०३. तद्रूपानुवृत्तस्य वस्तुमात्रस्य निर्बाधबोधाधिरूढस्य सिद्धेर्भेदमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वात्, सर्वदा बहिरन्तश्च भेदाभेदात्मनो वस्तुनः प्रतिभासनात् ।

(बौद्धस्य भेदाभेदौ विवक्षामात्रवशवर्तिनौ मन्यमानस्य मतं निराकरोति)

१०४. न चैतौ भेदाभेदौ विवक्षामात्रवशवर्तिनौ, सर्वत्र तत्सङ्करप्रसङ्गात् । येनात्मना भेदव्यवस्था तेनैवाभेदव्यवस्थितिः स्यात्, तद्विवक्षाया निरङ्कुशत्वात् । पूर्ववासनाप्रतिनियमाद्विवक्षायाः प्रतिनियमसिद्धेर्न तद्वशाद्भेदाभेदव्यवस्थितौ सङ्करप्रसङ्ग इति चेत्, कुतस्तद्वासनाप्रतिनियमः ? प्रबोधकप्रत्ययप्रतिनियमात्, इति चेत्, न; तदनियमे तदनियमप्रसङ्गात् । पूर्वस्ववासनाप्रतिनियमात्प्रकृतवासनाप्रतिनियम इति चेत्, न; तस्याः संविदव्यभिचारे वस्तुस्वभावतापत्तेः । कदाचित्तद्व्यभिचारे भेदाभेदव्यवस्थितेरपि व्यभिचारप्रसक्तेः कुतो न तत्सङ्करप्रसक्तिः ? सुदूरमपि गत्वा वस्तुस्वभावावलम्बनादेव तत्परिहारमिच्छता वस्तुस्वभावावेव भेदाभेदौ परेणाभ्युपगन्तव्यौ । ततो यदभिन्नं साधारणं वस्तुरूपं तदेव सामान्यं सिद्धम् । न पुनरन्यापीहमात्रं विकल्पबुद्धिपरिनिष्ठितम्, यतः करोतिसामान्यं यज्यादिविशेषव्यापि वास्तवं न भवेत् । तदुपलम्भेऽपि च विशेषे सन्देहोऽनुपलभ्यमानेऽपि स्मृतिविषये न स्यात् ।

(प्रज्ञाकरः सामान्यं विशेषादभिन्नं मन्यमानो वदति—भोः भाट्ट ! बुद्धिभेदादेव पदार्थभेदव्यवस्था, स एव वास्तवो न सामान्यं वास्तवं बुद्ध्यभेदात् ।

एतन्मतमपि भाट्टो निरस्यति)

१०५. ननु च स्थाणुपुरुषविविक्तमपरमूर्ध्वतासामान्यं यज्यादिविशेषव्यतिरिक्तं च करोति, सामान्यं न वास्तवमस्ति बुद्ध्यभेदात् । नहि बुद्धिभेदमन्तरेण पदार्थभेदव्यवस्थितिरस्त्यतिप्रसङ्गात् । तदुक्तम्—

न भेदाद्विन्नमस्त्यन्यत्सामान्यं बुद्ध्यभेदतः ।

बुद्ध्यकारस्य भेदेन पदार्थस्य विभिन्नता ॥४४॥

१०६. तदेतदसदेव, सामान्यभेदयोर्बुद्धिभेदस्य सिद्धत्वात् । सामान्यबुद्धिर्हि तावदनुगताकारा विशेषबुद्धिः पुनर्व्यावृत्ताकाराऽनुभूयते । दूरादूर्ध्वतासामान्यमेव च प्रतिभाति न स्थाणुपुरुषविशेषौ, तत्र सन्देहात् । तद्विशेषपरिहारेण प्रतिभासनमेव सामान्यस्य ततो व्यतिरेकावभासनम्, एतावन्मात्रलक्षणत्वात्तद्व्यतिरेकस्य । यदप्युक्तम्—

ताभ्यां तद्व्यतिरेकश्चेत् किन्नादूरेऽवभासनम् ।

दूरेऽवभासमानस्य सन्निधानेऽतिभासनम् ॥४५॥

१०७. तदप्युक्तम्, विशेषेऽपि समानत्वात् । सोऽपि हि यदि सामान्याद्व्यतिरिक्तस्तदा दूरे वस्तुनः स्वरूपे सामान्ये प्रतिभासमाने किन्न प्रतिभासते ? न हीन्द्रधनुषि नीले रूपे प्रतिचाकसति पीतारूपं दूरान्न प्रतिचकास्ति । अथ निकटदेशसामग्री विशेषप्रतिभासस्य जनिका न दूरदेशवर्तिनां प्रतिपतृणामिति न विशेषप्रतिभासः, तर्हि सामान्यप्रतिभासस्य जनिका दूरदेशसामग्री काचित्रिकटदेशवर्तिनां नास्ति, ततो न निकटे तत्प्रतिभासनमिति समः समाधिः । अस्ति च निकटे सामान्यस्य प्रतिभासनं स्पष्टम्, विशेषप्रतिभासनवत् । यादृशं तु दूरे तस्यास्पष्टं प्रतिभासनं तादृशं न निकटे विशेषप्रतिभासनवदेव । विशेषो हि यथा दूरादस्पष्टः प्रतिभाति न

तथा ^{१२५८} सन्निधाने, ^{१२५९} स्वसामग्र्यभावात् । ^{१२५०} अत एव च न सामान्यप्रतिभासने
^{१२५२} विशेषेष्वप्रतिभासमानेष्वस्पष्टप्रतिभासव्यवहारः, ^{१२५३} प्रतिभासमानस्वरूपे एव ^{१२५४} सामान्ये विशेषे
^{१२५५} वाऽस्पष्टव्यवहारदर्शनात् । न ^{१२५६} ह्यप्रतिभासिताऽन्यप्रतिभासिता वा कस्यचिदस्पष्टप्रतिभासिता । किं तर्हि ? कुतश्चिद्
^{१२५७} दृष्टादृष्टकारणकलापादस्पष्टज्ञानोत्पत्तिरर्थेष्वस्पष्टता, ^{१२५८} विषयधर्मस्य विषयेषूपचारात् । संवेदनस्यैव ह्यस्पष्टता धर्मः,
^{१२५९} स्पष्टतावत् । तस्यां ^{१२६०} विषयधर्मत्वे सर्वदा ^{१२६१} तथा प्रतिभासप्रसङ्गात् ^{१२६२} कुतः प्रतिभासपरावृत्तिः स्यात् । न चास्पष्टं संवेदनं
^{१२६३} निर्विषयमेव, ^{१२६४} संवादकत्वात्, ^{१२६५} स्पष्टसंवेदनवत् । ^{१२६६} क्वचिद्विसंवाददर्शनात् सर्वत्र ^{१२६७} विसंवादे स्पष्टसंवेदनेऽपि
^{१२६८} तत्प्रसङ्गात् । ततो ^{१२६९} नैतत्साधु—

^{१२७०} बुद्धिरेवातदाकारा ^{१२७१} तत ^{१२७२} उत्पद्यते ^{१२७३} यदा ।

^{१२७४} तदाऽस्पष्टप्रतीभासव्यवहारा ^{१२७५} जगन्मतः ॥४६॥

१०८. चन्द्रद्वयादिप्रतिभासे तद्व्यवहारप्रसक्तेः । न च ^{१२७६} मीमांसकानां सामान्यं ^{१२७७} विशेषेभ्यो भिन्नमेवाऽभिन्नमेव
^{१२७८} वा, तस्य कथञ्चित्ततो भिन्नाभिन्नात्मनः ^{१२७९} प्रतीतेः । प्रमाणसिद्धे च सामान्यविशेषात्मनि जात्यन्तरे वस्तुनि तद्-
^{१२८०} ग्राहिणो ज्ञानस्य सामान्यविशेषात्मकत्वोपपत्तेर्न ^{१२८१} काचिद् बुद्धिरविशेषाकारा ^{१२८२} सर्वथास्ति । नाप्यसामान्याकारा, सर्वदा
^{१२८३} उभयाकारायास्तस्याः ^{१२८४} प्रतीतेः ।

(बुद्धेरर्थाकारत्वं बौद्धाभिमतं निराकरोति)

१०९. न चार्थाकारा ^{१२८५} बुद्धिः, तस्या ^{१२८६} निराकारत्वात्, तत्र ^{१२८७} प्रतिभासमानस्याकारस्यार्थधर्मत्वात् । न च
^{१२८८} निराकारत्वे संवेदनस्य ^{१२८९} प्रतिकर्मव्यवस्था ततो ^{१२९०} विरुध्यते, ^{१२९१} प्रतिनियतसामग्र्यवशात् ^{१२९२} प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकतया
^{१२९३} तस्योत्पत्तेः ^{१२९४} प्रतिकर्मव्यवस्थासिद्धेः । साकारज्ञानवादिनामपि ^{१२९५} तथाभ्युपगमस्यावश्यम्भावितत्वात् । अन्यथा
^{१२९६} सकलसमानाकारव्यवस्थापकत्वापत्तेः ^{१२९७} संवेदनस्य तदसिद्धेः । ततोऽसामान्याकारा ^{१२९८} बुद्धिः सामान्यावभासिनी
^{१२९९} कुतश्चिदस्पष्टा ^{१३००} कस्मिंश्चिद्वस्तुन्यविशेषाकारा च ^{१३०१} विशेषावभासिनीति दूरे सामान्यस्य ^{१३०२} प्रतिभासोऽस्पष्टः स्याद्विशेषस्य
^{१३०३} च ^{१३०४} कस्यचित्, ^{१३०५} सकलविशेषरहितस्य सामान्यस्य ^{१३०६} प्रतिभासासम्भवात् । न ^{१३०७} चोर्ध्वतासामान्ये ^{१३०८} विशेषे च
^{१३०९} प्रतिनियतदेशत्वादौ ^{१३१०} प्रतिभासमाने ^{१३११} स्थाणुपुरुषविशेषयोः ^{१३१२} सन्देहानुपपत्तिः, ^{१३१३} तयोरप्रतिभासनात्,
^{१३१४} तत्प्रतिभासनसामग्र्यभावात्, ^{१३१५} अनुस्मरणे सति ^{१३१६} सन्देहघटनात् । तद्वत्पचति यजत इत्यादिक्रियाविशेषाप्रतिभासने
^{१३१७} करोतीतिक्रियासामान्यस्य ^{१३१८} प्रतिनियतदेशादिरूपस्य ^{१३१९} प्रतिभासने युक्तः ^{१३२०} सन्देहः किं करोतीति ! तथा ^{१३२१} प्रश्ने च पचति
^{१३२२} यजते इत्यादि प्रतिवचनं न ^{१३२३} दुर्घटम्, ^{१३२४} कथञ्चित्पृष्टस्यैव ^{१३२५} प्रतिपादनात् । एवं च ^{१३२६} यजनादिक्रियाविशेषाणां ^{१३२७} साधारणरूपा
^{१३२८} करोतीति ^{१३२९} क्रिया ^{१३३०} कथञ्चित्ततो ^{१३३१} व्यतिरेकेणोपलभ्यमाना ^{१३३२} कर्तृव्यापाररूपाऽर्थभावना ^{१३३३} विभाव्यत एव,
^{१३३४} शब्दव्यापाररूपशब्दभावनावत् ^{१३३५} सकलबाधकरहितत्वनिर्णयात् । ^{१३३६} सैव ^{१३३७} च ^{१३३८} वाक्यार्थो न
^{१३३९} पुनर्नियोगोऽन्यापोहादिवदिति ^{१३४०} भट्टसम्प्रदाय एव ^{१३४१} संवादकः ^{१३४२} सिद्धः । कार्यं ^{१३४३} चार्थं ^{१३४४} चोदनायाः ^{१३४५} प्रमाण्यं तत एव, न
^{१३४६} स्वरूपं ^{१३४७} तत्र ^{१३४८} बाधकसद्भावात्सर्ववेदान्तवादनिराकरणान्न ^{१३४९} भट्टस्य ^{१३५०} कञ्चिदपि ^{१३५१} प्रतिघात इति ^{१३५२} कश्चित् ।

(इतो ग्रन्थकृद् भावनाव्याख्यार्थं मन्यमानानां भाट्टानामपि मतमपाकरोति)

११०. अत्र प्रतिविधीयते—यत्तावदुक्तं^{१३१०} 'शब्दव्यापारः शब्दभावना' इति, तत्र शब्दात्तद्व्यापारो-
ऽनर्थान्तरभूतोऽर्थान्तरभूतो वा स्यात्? यद्यर्थान्तरभूतस्तदा कथमभिधेयः, शब्दस्य स्वात्मवत्^{१३११}। न
ह्येकस्यैवानंशस्य^{१३१२} प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावो युक्तः, संवेद्यसंवेदकभाववत्^{१३१३}, स्वैष्टविपर्यासेन तद्भावापत्तेः^{१३१४},
प्रतिनियमहत्वभावात्^{१३१५}। तद्भेदपरिकल्पनया प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावे तस्य सांवृतत्वप्रसङ्गात्^{१३१६}। स्वरूपमपि शब्दः
श्रोत्रेण गम्यति बहिरर्थवत्^{१३१७} स्वव्यापारेण^{१३१८}, ततस्तस्य^{१३१९} प्रतिपादक इति चेत्^{१३२०}; न^{१३२१}; रूपादीनामपि
स्वरूपप्रतिपादकत्वप्रसङ्गात्^{१३२२}। तेऽपि हि स्वं स्वं स्वभावं चक्षुरादिभिर्गमयन्ति, चक्षुरादीनां स्वातन्त्र्येण तत्र
प्रवर्तनात्^{१३२३}, तत्प्रयोज्यत्वात्^{१३२४}, तेषां च रूपादीनां निमित्तभावेन प्रयोजकत्वात्^{१३२५}, स्वयमधीयानादीनां^{१३२६}
कारीषाग्न्यादिवत्^{१३२७}।

१११. अथ रूपादयः प्रकाश्या एव ततोऽर्थान्तरभूतानां चक्षुरादीनां प्रकाशकादीनां सद्भावात्, इति मतम्;
तथैव^{१३२८} शब्दस्वरूपं प्रकाशयमस्तु, ततोऽन्यस्य श्रोत्रस्य प्रकाशकस्य भावात्^{१३२९}।

११२. सत्यमेतदिन्द्रियबुद्धेर्विषयभावमनुभवन् प्रकाश्य एव शब्दः, रूपादिवत्। प्रतिपादकस्तु स्वरूपे
शाब्दीं बुद्धिमुपजनयन्नभिधीयत इति चेत्^{१३३०}; न^{१३३१}; तत्र वाच्यवाचकभावसम्बन्धाभावात्^{१३३२}। तस्य च
द्विषत्वेनैकत्रानवस्थितेः^{१३३३}।

११३. यदि पुनरर्थान्तरभूत एव शब्दात्तद्व्यापार इति मतम्, तदा स शब्देन प्रतिपाद्यमानो व्यापारान्तरेण
प्रतिपाद्यते चेत्तर्हि तद्भाव्यः स्यात्^{१३३४}। व्यापारान्तरं तु भावनानुषज्येत^{१३३५}। तदपि यदि शब्दादर्थान्तरं तदा तद्भाव्यं
व्यापारान्तरेण स्यात्^{१३३६}। तत्तु भावनेत्यपरापरभाव्यभावनापरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गः^{१३३७}।

११४. अथ वाक्यात्तद्व्यापारः कथञ्चिदनर्थान्तरम्, विष्वग्भावेनानुपलभ्यमानत्वात्, कुण्डादेर्बदरादिवत्^{१३३८}।
कथञ्चिदनर्थान्तरं च विरुद्धधर्माध्यासात्^{१३३९}। तदनुत्पादेऽप्युत्पादात्, तदविनाशेऽपि च विनाशात्, आकाशान्धकारवत्,
इति मतम्; तदाऽप्युभयदोषानुषङ्गः^{१३४०}।

(भट्टो जैनानां संवेदनमाश्रित्य स्वपक्षं साधयितुं प्रयतते)

११५. स्यान्मतम्—अग्निष्टोमादिवाक्यमुपलभ्यमानं पुरुषव्यापारस्य^{१३४१} भावकमिदमित्यनुभवाद्वाक्यस्थ एव
तद्व्यापारो भावना वाक्यस्य विषयतां समञ्जति, तथा प्रतीतेः^{१३४२}। अन्यथा सर्वत्र विषयविषयिभावसम्भावनाविरोधात्^{१३४३}।
संवेदनमपि हि भवतां स्वव्यापारं विषयीकुर्वन् तदनर्थान्तरभूतमर्थान्तरभूतं वा कथञ्चिदुभयस्वभावं वा संवेदयेत्?^{१३४४}
प्रथमपक्षे न संवेद्यसंवेदकभावः, संवेदनतद्व्यापारयोः सर्वथाऽनर्थान्तरत्वात्, वाक्यतद्व्यापारयोः^{१३४५}
प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाववत्^{१३४६}। द्वितीयपक्षेऽपि न तयोस्तद्भावः, अनवस्थानुषङ्गात्^{१३४७}, तद्वत्^{१३४८}। तृतीयपक्षे तु
तदुभयदोषप्रसक्तिः, तद्वदेव^{१३४९}। कुतः संवेद्यसंवेदकभावः सिध्येत्? स्वार्थसंवेदनमेव व्यापारविशिष्टं^{१३५०}
संवेदनमबाधमनुभूयमानं विकल्पशतेनाप्यशक्यनिराकरणं संवेद्यसंवेदकभावं साधयतीत्यभिधाने परस्यापि शब्दः^{१३५१}
स्वव्यापारविशिष्टः^{१३५२} पुरुषव्यापारं भावयतीत्यबाधकप्रतीतिसद्भावाद्वाक्यव्यापारो भावनाव्याक्यस्य विषयो^{१३५३}
व्यवतिष्ठते एवेति^{१३५४}।

(जैनो भट्टस्यैतन्मतं समुत्सारयति)

११६. तदनुपपन्नम्, वैषम्यात्। संवेदनेन हि संवेद्यमानः स्वात्माऽर्थो वा तस्य विषयः, न पुनः संवेदकः स्वात्मा। तत्संवेद्यत्वेऽन्यस्य संवेदनस्यात्मनः संवेदकत्वोपपत्तेराकाङ्क्षापरिक्षयादनवस्थानवतारात्। वाक्येन तु भाव्यमानः पुरुषव्यापारो न तस्य विषयः। स्वव्यापारस्तु भावकत्वलक्षणो भावनाख्यो विषयोऽभ्युपगम्यते इति मनागपि न साम्यम्, तथाप्रतीत्यभावाच्च। न हि कश्चिद्वाक्यश्रवणादेव प्रत्येति—स्वव्यापारोऽनेन वाक्येन मम प्रतिपादित इति। किं तर्हि? जात्यादिविशिष्टोऽर्थः क्रियाख्योऽनेन प्रकाशित इति प्रतीतिः, सर्वेण वाक्येन क्रियाया एव कर्मादिविशेषणविशिष्टायाः प्रकाशनात्, देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेनेत्यादिवत्। सैवाभ्याजनादिव्यवच्छिन्ना क्रिया भावना अभ्याज अभ्याजनं कुर्विति प्रतीतेरिति चेत्; न; तस्याः पुरुषस्थत्वेन सम्प्रत्ययाच्छब्दात्मभावनारूपत्वायोगात्। तथा च कथमिदमवतिष्ठते—

शब्दात्मभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ॥४७॥ () इति।

११७. यदप्युक्तम्, अर्थभावना पुरुषव्यापारलक्षणा वाक्यार्थ इति; तदप्ययुक्तम्; नियोगस्य वाक्यार्थत्वप्रसङ्गात्। नियुक्तोऽहमनेन वाक्येन यागादाविति प्रतिपत्तुः प्रतीते। इष्टस्तादृशो नियोगो भावनास्वभावः शुद्धकार्यादिरूपस्यैव नियोगस्य निराकरणादिति चेत्; न; तस्यापि प्रधानभावापितस्य करोत्यर्थादिविशेषणस्य वाक्यार्थत्वोपपत्तेः। निरपेक्षस्य तु करोत्यर्थस्यापि वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः। न च करोत्यर्थ एव वाक्यार्थ इति युक्तम्, यज्याद्यर्थस्यापि वाक्यार्थतयाऽनुभवात्। करोतिसामान्यस्य सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वम्, 'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः' () इति वचनात्। न पुनर्यज्यादिक्रियाविशेषाः, तेषामनित्यत्वाच्छब्दार्थताऽघटनात्; इति चेत्; न; यज्यादिक्रियासामान्यस्य सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापिनो नित्यत्वाच्छब्दार्थत्वाविशेषात्। सर्वक्रियाव्यापित्वात्करोतिसामान्यं शब्दार्थ इति चेत्, तर्हि सत्तासामान्यं शब्दार्थोऽस्तु करोतावपि तस्य सद्भावात्, महाक्रियासामान्यरूपत्वात्। यथैव हि पचति पाकं करोति, यजते यागं करोतीति प्रतीतिस्तथा पचति पाचको भवति, यजते याजको भवति, करोति कारको भवतीत्यपि प्रत्ययोऽस्ति। ततः करोतीतरार्थव्यापित्वाद्भवत्यर्थस्यैव शब्दार्थत्वं युक्तमुत्पश्यामः।

(क्रियारहितवस्तुन्यपि भवत्यर्थो वर्तत एव। ततो न भवत्यर्थस्य क्रियास्वभावत्वमिति भट्टेनोक्ते जैनस्तद् दूषयति)

११८. स्यान्मतम्—'निर्व्यापारोऽपि वस्तुनि भवत्यर्थस्य क्रियास्वभावत्वम्, निष्क्रियेषु गुणादिषु भावनाऽभावप्रसङ्गात्' () इति चेत्; न; करोत्यर्थोऽपि समानत्वात्। परिस्पन्दात्मकव्यापाररहितोऽपि करोत्यर्थस्य भावात्, तिष्ठति स्थानं करोतीति प्रतीतेः। गुणादिषु च करोत्यर्थाभावे सर्वथा कारकत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः। तत एव करोत्यर्थो व्यापकः, सति सर्वत्र भावात्। अन्यथा तस्याकारकत्वेनावस्तुत्वात्सत्त्वविरोधात्। भवनक्रियेत्यादिव्यवहारदर्शनाच्च सत्ता करोत्यर्थविशेषणमेव, करोत्यर्थस्यैव सर्वत्र प्राधान्याद्वाक्यार्थत्वमिति चेत्; न; तस्य नित्यस्यैकस्यानंशस्य सर्वगतस्य सर्वथा विचार्यमाणस्यासम्भवात्।

(करोत्यर्थसामान्यं नित्यमिति वदतो भट्टस्य मतं निराक्रियते)

११९. 'नित्यं' ^{१४३६} करोत्यर्थसामान्यम्, प्रत्यभिज्ञायमानत्वात्, शब्दवत् इति चेत्; न; हेतोर्विरुद्धत्वात्, कथञ्चिन्नित्यत्वस्येष्टविरुद्धस्य ^{१४३८} साधनात्, सर्वथा नित्यस्य प्रत्यभिज्ञानायोगात्, तदेवेदमिति पूर्वोत्तरपर्यायव्यापिन्येकत्र ^{१४३९} प्रत्ययस्योत्पत्तेः, पौर्वापर्यरहितस्य ^{१४४०} पूर्वापरप्रत्ययविषयत्वासम्भवात्। धर्माविव पूर्वापरभूतौ न धर्मिसामान्यमिति चेत्, कथं ^{१४४१} तदेवेदमित्यभेदप्रतीतिः ? पूर्वापरस्वरूपयोरतीतवर्तमानयोस्तदित्यतीतपरामर्शना स्मरणेनेदमिति वर्तमानोल्लेखिना प्रत्यक्षेण च विषयीक्रियमाणयोः परस्परं भेदात्। करोतिसामान्यादेकस्मात्तयोः कथञ्चिदभेदादभेदप्रतीतिरिति चेत्, ^{१४४२} सिद्धं तस्य कथञ्चिदनित्यत्वम्, अनित्यस्वधर्माव्यतिरेकात्। न ह्यनित्यादभिन्नं नित्यमेव युक्तमनित्यस्वात्मवत्। सर्वथा नित्यस्य क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च। तदनित्यं सामान्यम्, विशेषादेशात्, शब्दवत्। तत एवानेकं तद्वत्।

(करोतिसामान्यमेकमित्यपि भट्टस्य मतं दूषयति)

१२०. 'करोतीति स्वप्रत्ययाविशेषादेकं करोतिसामान्यम्, सदिति स्वप्रत्ययाविशेषादेकसत्तासामान्यवत्; इति चेत्; न; सर्वथा स्वप्रत्ययाविशेषस्यासिद्धत्वात्। प्रतिकरोत्यर्थव्यक्तिं करोतीति प्रत्ययस्य विशेषात्, प्रतिसद्व्यक्ति सदितिप्रत्ययवत्। तद्व्यक्तिविषयो विशेषप्रत्यय इति चेत्, ^{१४४३} तर्हि या व्यक्तयः सामान्यात्सर्वथा यदि भिन्नाः प्रतिपाद्यन्ते, तदा यौगमतप्रवेशो मीमांसकस्य। अर्थं ^{१४४४} कथञ्चिदभिन्नाः, तदा सिद्धं सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वम्, विशेषप्रत्ययविषयेभ्यो विशेषेभ्यः कथञ्चिदभिन्नस्य सामान्यस्य विशेषप्रत्ययविषयत्वोपपत्तेः, विशेषस्वात्मवत्। ततोऽनेकमेव करोतिसामान्यम्, सत्तासामान्यवत्।

(करोतिसामान्यमनंशमिति मन्यमानस्य भट्टस्य मतं दूषयति)

१२१. नाप्यनंशम्, कथञ्चित्सांशत्वप्रतीतेः, सांशेभ्यो विशेषेभ्योऽनर्थान्तरभूतस्य सांशत्वोपपत्तेः, तत्स्वात्मवत्।

(इत्थमेव तत्सर्वगतत्वाभ्युपमे तन्मतं दूषयति)

१२२. तथा न सर्वगतं तत्सामान्यम्, व्यक्त्यन्तरालेऽनुपलभ्यमानत्वात्। तत्रानभिव्यक्तत्वात्स्यानुपलम्भ इति चेत्, ^{१४४५} तत एव व्यक्तिस्वात्मनोऽपि तत्रानुपलम्भोऽस्तु। तस्य तत्र सद्भावावेदक-प्रमाणाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भ इति चेत्, सामान्यस्यापि विशेषाभावादसत्त्वादेवानुपलम्भोऽस्तु, व्यक्त्यन्तराले तस्यापि सद्भावावेदकप्रमाणाभावात् ^{१४४६} प्रत्यक्षतस्तथाननुभावात्, खरविषाणादिवत्।

(व्यक्त्यन्तराले सामान्यसाधने दूषणं प्रदर्शयति)

१२३. व्यक्त्यन्तरालेऽस्ति सामान्यम्, युगपद्विभक्तदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वात्, वंशादिवत्, इत्यनुमानात्तत्र तत्सद्भावासिद्धिः, इति चेत्; न; हेतोः प्रतिवाद्यसिद्धत्वात्। न हि भिन्नदेशासु व्यक्तिषु

सामान्यमेकम्, यथा स्थूणादिषु वंशादिरिति प्रतीयते, यतो युगपद्भिन्नदेशस्वाधारवृत्तित्वे सत्येकत्वं तस्य सिध्यत्
स्वाधारान्तरालेऽस्तित्वं साधयेत् । प्रतिव्यक्तिसदृशपरिणामलक्षणस्य सामान्यस्य
भेदाद्विसदृशपरिणामलक्षणविशेषवत् । यथैव हि काचिद्व्यक्तिरूपलभ्यमाना व्यक्त्यन्तराद्विशिष्टा
विसदृशपरिणामदर्शनादवतिष्ठते, तथा सदृशपरिणामदर्शनात्किञ्चित्केनचित्समानमवसीयत इति निर्बाधमेव,
तेनायं समानः, सोऽनेन समान इति समानप्रत्ययात् ।

(भाट्टस्य शङ्का निराकुर्वन् सामान्यस्य सदृशपरिणामरूपत्वेनानेकत्वं समर्थयति)

१२४. ननु पूर्वमननुभूतव्यक्त्यन्तरस्यैकव्यक्तिदर्शने समानप्रत्ययः भवति, तत्र सदृशपरिणामस्य भावादिति
चेत्, तवापि विशिष्टप्रतीतिः कस्मान्न भवति वैसादृश्यभावात् । परापेक्षत्वाद्विशिष्टप्रतीतेरिति चेत्, तत एव तत्र
समानप्रत्ययोऽपि मा भूत् । न हि स परापेक्षो न भवति, परापेक्षामन्तरेण (तस्य) क्वचित्कदाचिदप्यभावात्,
द्वित्वादिप्रत्ययवहूरत्वादप्रत्ययवद्वा । द्विविधो हि वस्तुधर्मः परापेक्षः परानपेक्षश्च, वर्णादिवत्स्थौल्यादिवच्च ।

(पुनरपि भाट्टः शङ्कते—सामान्यस्य सदृशपरिणामरूपत्वे स एवायं गौरिति प्रत्ययः शबलं दृष्ट्वा धवलं
पश्यतः कथं घटेतेति शङ्कां निरस्यन्नाह)

१२५. ननु च सादृश्ये सामान्ये स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं शबलं दृष्ट्वा धवलं पश्यतो घटेतेति चेत्,
एकत्वोपचारादिति ब्रूमः । द्विविधं ह्येकत्वं मुख्यमुपचरितं चेति । मुख्यमात्मादिद्रव्ये, सादृश्ये तूपचरितमिति ।
मुख्ये तु तत्रैकत्वे तेन समानोऽयमिति प्रत्ययः कथमुपपद्येत ? तयोरेकसामान्ययोगादिति चेत्, न;
सामान्यवन्ताविति प्रत्ययप्रसङ्गात् । अभेदोपचारे तु सामान्यतद्वतोः सामान्यमिति प्रत्ययः स्यात्, न तेन
समानोऽयमिति । यष्टिसहचरितः पुरुषो यष्टिरिति यथा, यष्टिपुरुषयोरभेदोपचारात् । मृण्मये गवि सत्यगवसदृशे
गोसादृश्यस्य सामान्यस्य भावाद्वोत्वजातिप्रसङ्ग इति चेत्, न; सत्यगवैव्यवहारहेतोः सादृश्यस्य तत्राभावात्,
तद्भावे तस्य सत्यत्वप्रसङ्गात् । भावैर्गवादिभिः स्थापनैर्गवादेः सादृश्यमात्रं तु गवादिमात्रव्यवहारकारणं
तदेकजातिवन्निबन्धनमनुद्ध्यत एव सत्त्वादिसादृश्यवत् । ततो न मीमांसकाभ्युपगंतस्वभावं
करोतिसामान्यमुपपद्यते यत्सकलयज्यादिक्रियाविशेषव्यापि कर्तृव्यापाररूपभावनारूपां प्रतिपद्यमानं वाक्येन
विषयीक्रियेत । प्रतिनियतक्रियागतस्य तु करोतिसामान्यस्य शब्दविषयत्वे यज्यादिसामान्यस्य कथं तद्विनिवार्येत,
येन तदपि वाक्यार्थो न स्यात् ।

१२६. तदेवं भावनावाक्यार्थसम्प्रदायो न श्रेयान्, बाधकसद्भावात्रियोगादिवाक्यार्थसम्प्रदायवदिति
श्रुतिसम्प्रदायावलम्बिनां मतम् । “अत एव न कश्चित्सर्वज्ञः” इत्युक्तम्, श्रुतेरविशेषादप्रमाणतापत्तेरिति
सूक्तम् ।

(तदेवाकलङ्कविवृतमष्टसहस्रीकारः स्पष्टयति)

१२७. यथैव हि सुगतादयः परस्परविरुद्धक्षणिकनित्याद्येकान्तसमयाभिधायिनः सर्वे न सर्वदर्शिन इति न

कश्चित्सर्वज्ञस्तथा श्रुतयोऽपि परस्परविरुद्धकार्यार्थस्वरूपाद्यभिधायिन्यः सर्वा न प्रमाणभूता इति न काचिदपि श्रुतिः प्रमाणं स्यात् । न हि कार्येऽर्थे श्रुतिरपौरुषेयी, न पुनः स्वरूपे, येनापौरुषेयत्वात्तदन्यतरश्रुतिजनितमेव ज्ञानं प्रमाणं दोषवर्जितैः कारणैर्जनितत्वादुपपद्यते । बाधवर्जितत्वं तु नैकत्राप्यस्ति हिंसाद्यभिधायिनः “श्वेतमजमालभेत भूतिकामः” () इत्यादेः “सधनं हन्यात्” () इत्यादेरिव धर्मे प्रमाणत्वानुपपत्तेः । पुरुषाद्वैताभिधायिनश्च “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” () इत्यादेः “सर्वं प्रधानमेव” () इत्यादेरिव स्वविषये प्रमाणत्वायोगात् । अपूर्वार्थत्वं पुनः सर्वस्याः श्रुतेरविशिष्टम्, प्रमाणान्तराप्रतिपत्तेः धर्मादौ परब्रह्मादौ च प्रवृत्तेः । न च काचिच्छ्रुतिः स्वयं प्रतिपादयत्यन्यव्यवच्छेदेन कार्ये एवार्थे अहं प्रमाणं न स्वरूपे, स्वरूपे एव वा न कार्येऽर्थे सर्वथेत्यविशेषः सिद्धः ।

(अत्र मीमांसकः श्रुतेः स्वत एव स्वार्थप्रतिपादनं साधयति)

१२८. ननु च पदानि तावल्लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि तेष्वेव वेदे, तेषामध्याहारादिभिरर्थस्यापरिकल्पनीयत्वादपरिभाषितव्यत्वाच्च । सति सम्भवे लौकिकपदार्थज्ञश्च विद्वानश्रुतपूर्वं काव्यादिवाक्यार्थमवबुध्यमानो दृष्टस्तद्वच्छ्रुतिवाक्यार्थमपि कश्चित्स्वत एवाश्रुतपूर्वमवबोद्धुमर्हतीति युक्तं श्रुतेः स्वयमेवान्यव्यवच्छेदेन स्वार्थप्रतिपादनमिति कश्चित् ।

(जैनस्तद्दूषयन्नाह)

१२९. सोऽपि न परीक्षाचतुरः, सर्वस्याः श्रुतेस्तथाभावाविशेषात् । न च भावनैव नियोग एव वा लौकिकवाक्यस्यार्थः शक्यः प्रतिष्ठापयितुम्, येन वैदिकवाक्यस्यापि स एवार्थः स्यात् । नापि सन्मात्रविधिरेव कस्यचिद् वाक्यस्यार्थः शक्यप्रतिष्ठः, येन श्रुतिवाक्यस्यापि स एवार्थोऽन्ययोगव्यवच्छेदेन स्यात्, तत्रानेकबाधकोपन्यासात् । ततः सुगतादिवच्छ्रुतयोऽपि न प्रमाणमित्यायातम् ।

(अधुना चार्वाकमतमुपस्थापयति तद्दूषयति च)

१३०. तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रमाणिकैवेष्टिः । न कश्चित्तीर्थकरः प्रमाणम्, नापि समयो वेदोऽन्या वा तर्कः, परस्परविरोधात् ।

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नासौ मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥४८॥

() इति वचनात् ।

१३१. कश्चिद् देवतारूपो गुरुर्बृहस्पतिर्भवेत् संवादकः, प्रत्यक्षसिद्धपृथिव्यादितत्त्वोपदेशात्, इति प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिच्छन्ति ये तेषां लौकायतिकानामिष्टिप्रामाणिकैव, प्रत्यक्षतस्तद्व्यवस्थापनासम्भवात् । न खलु प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषयम्, अतिप्रसङ्गात् । सर्वज्ञस्य हि मुनेः प्रमाणान्तरस्य च वेदाद्यागमस्यानुमानस्य च तर्काख्यस्याभावं यदि किञ्चित् प्रत्यक्षं व्यवस्थापयेत् तत्राप्रवर्तमानत्वात्, तदा

^{१५७८}पुरुषान्तरादिप्रत्यक्षान्तराणामप्यभावं तदेव गमयेत्, तद्विषयाणां च ^{१५७९}क्षमादीनाम्, इत्यतिप्रसङ्गः, स्वयमिष्टस्य ^{१५८०}बृहस्पत्यादिप्रत्यक्षस्यापि सविषयस्याभावसिद्धेः ।

(चार्वाकः प्रत्यक्षं तद्विषयं पृथिव्यादिकं च प्रत्यक्षान्तरेण व्यवस्थापयति, जैनस्तन्निराकरोति)

१३२. ^{१५८१}अथ प्रत्यक्षान्तरं स्वयमात्मानं व्यवस्थापयति पृथिव्यादि स्वविषयं च, तत्र प्रवर्तनात्, अतो न तदभावप्रसङ्गः, इति मतम्, तर्हि ^{१५८३}सर्वज्ञोऽपि स्वसंवेदनादात्मानं स्वर्गापूर्वादिविषयं च व्यवस्थापयतीति कथं तदभावसिद्धिः ? प्रमाणान्तरस्य च तद्वचनस्याहेतुवादरूपस्य हेतुवादरूपस्य च स एव व्यवस्थापकः स्यादिति ^{१५८८}कुतस्तदभावसिद्धिः ?

१३३. सर्वज्ञः ^{१५८९}स्वपरव्यवस्थापकोऽस्तीत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत्, स्वप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः ^{१५९१}प्रत्यक्षान्तरं ^{१५९२}स्वपरविषयमस्तीत्यत्र किं प्रमाणम् ? ^{१५९३}तथाप्रसिद्धिरन्यत्रापीति न प्रत्यक्षं तदभावावेदकम्, अतिप्रसङ्गस्य दुष्परिहरत्वात् ।

(चार्वाको यदि अनुमानेन प्रत्यक्षं तद्विषयं च साधयेत् तदा परो दोषानाह)

१३४. ^{१५९५}नानुमानम्, असिद्धेः । ^{१५९६}प्रत्यक्षमेकमेव ^{१५९७}प्रमाणम्, अगोणित्वात्प्रमाणस्य, अनुमानादर्थनिश्चयो दुर्लभः, ^{१५९८}सामान्ये ^{१५९९}सिद्धसाधनाद्विशेषेऽनुगमाभावात्सर्वत्र ^{१६००}विरुद्धाव्यभिचारिणः ^{१६०१}सम्भवात्, इति स्वयमनुमानं ^{१६०२}निराकुर्वन्ननुमानादेव ^{१६०३}सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावं व्यवस्थापयतीति कथमनुमत्तः ? प्रतिपत्तुः ^{१६०४}प्रसिद्धं हि प्रमाणं ^{१६०५}स्वप्रमेयस्य निश्चायकं नाप्रसिद्धम्, अतिप्रसङ्गादेव । ^{१६०६}परप्रसिद्धानुमानं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावग्राहकमिति चेत्, तत् ^{१६०७}परस्य प्रमाणतः ^{१६०८}सिद्धं प्रमाणमन्तरेण वा ? यदि ^{१६०९}प्रमाणतः ^{१६१०}सिद्धं नाऽनात्मसिद्धं नाम, ^{१६११}परस्यैवात्मनोऽपि वादिनः ^{१६१२}सिद्धत्वात्, ^{१६१३}प्रमाणसिद्धस्य सर्वेषामविप्रतिपत्तिविषयत्वात्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्, ^{१६१४}प्रत्यक्षस्यापि प्रमाणासिद्धस्य ^{१६१५}विप्रतिपत्तिविषयत्वापत्तेरनात्मसिद्धत्वप्रसङ्गात् । ततो यत्परस्य ^{१६१६}प्रमाणतः ^{१६१७}सिद्धं तच्चार्वाकस्यात्मसिद्धम्, यथा ^{१६१८}प्रत्यक्षम्, ^{१६१९}प्रमाणसिद्धं च ^{१६२०}परस्यानुमानम्, तस्मान्नाऽनात्मसिद्धम् । ^{१६२१}अथ ^{१६२२}प्रमाणमन्तरेण ^{१६२३}सिद्धम्, एवं तवापि ^{१६२४}तत्सिद्धिप्रसङ्गोऽविशेषात् । ^{१६२५}अन्यथा ^{१६२६}परस्यापि न ^{१६२७}सिद्धयेत्, अतिप्रसङ्गादेव । तथा हि—यत् ^{१६२८}प्रमाणमन्तरेण ^{१६२९}सिद्धं ^{१६३०}तत्परस्यापि न ^{१६३१}सिद्धम्, यथा ^{१६३२}तदनभिमतं तत्त्वम्, ^{१६३३}प्रमाणमन्तरेण ^{१६३४}सिद्धं च ^{१६३५}परस्यानुमानम् । तत्र ^{१६३६}सिद्धम्, ^{१६३७}स्वयमनभिमततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात् । ^{१६३८}तदिमे ^{१६३९}स्वयमेकेन ^{१६४०}प्रमाणेन ^{१६४१}सर्वं ^{१६४२}सर्वज्ञरहितं ^{१६४३}पुरुषसमूहं ^{१६४४}संविदन् ^{१६४५}एवात्मानं ^{१६४६}निरस्यन्तीति ^{१६४७}व्याहतमेतत्, ^{१६४८}अतिप्रसङ्गादेव । ^{१६४९}स्वयमनिष्टं ^{१६५०}ह्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमेषां ^{१६५१}स्यात्, ^{१६५२}इन्द्रियप्रत्यक्षेण ^{१६५३}सर्वज्ञरहितस्य ^{१६५४}पुरुषसमूहस्य ^{१६५५}संवेदानुपपत्तेः, ^{१६५६}प्रमाणान्तराभावस्येव ^{१६५७}प्रमाणान्तरमन्तरेण, इति सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य ^{१६५८}सर्वज्ञत्वाभावं ^{१६५९}प्रत्यक्षतः ^{१६६०}संविदन् ^{१६६१}सर्वज्ञः ^{१६६२}स्यात् । तथा सति ^{१६६३}व्याहतमेतत् ^{१६६४}सर्वज्ञप्रमाणान्तराभाववचनं ^{१६६५}चार्वाकस्य । ^{१६६६}प्रत्यक्षैकप्रमाणैषणं वा ^{१६६७}व्याहतमस्य, ^{१६६८}देशकालनरान्तरप्रत्यक्षाणां ^{१६६९}स्वयं ^{१६७०}प्रत्यक्षतः ^{१६७१}प्रामाण्यस्य ^{१६७२}साधने ^{१६७३}सर्वसाक्षात्कारित्वप्रसङ्गात् । ^{१६७४}संवादकत्वादिलिङ्गजनितानुमानात्तत्साधनेऽनुमानप्रामाण्यसिद्धिप्रसक्तेः । ^{१६७५}परस्य ^{१६७६}प्रसिद्धेनानुमानेन ^{१६७७}तत्प्रमाणताव्यवस्थापने ^{१६७८}स्वस्यापि ^{१६७९}तत्सिद्धेरनिवार्यत्वात्, ^{१६८०}अन्यथा ^{१६८१}परस्यापि ^{१६८२}तदप्रसिद्धेः । ^{१६८३}कुतः ^{१६८४}प्रत्यक्षमेकमेव ^{१६८५}प्रमाणं न ^{१६८६}पुनरन्यदिति व्यवस्था स्यात् ?

(अधुना चार्वाकमतं निराकृत्य 'तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रामाणिकैवेष्टिः' इत्यकलङ्कोक्तवचनस्यैव

व्याख्यान्तरद्वारा तत्त्वोपप्लववादिमतमपि निरस्यति)

१३५. तथेष्टत्वाददोष इत्येकेषामप्रामाणिकैवेष्टिः । एके हि तत्त्वोपप्लववादिनः सर्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतमेवेच्छन्ति । तेषां प्रमाणरहितैव तथेष्टिः सर्वमनुपप्लुतमेवेतीष्टेन विशिष्यते ।

('न खलु' इत्याद्यकलङ्कवचनस्यैव ग्रन्थकृतत्वोपप्लववादिमतेन व्याख्यान्तरं प्रदर्शयन् तन्मतं पुनरपि दूषयति)

१३६. न खलु प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्तराभावविषयम्, अतिप्रसङ्गात् । नानुमानम्, असिद्धेः । सर्वं हि प्रत्यक्षमनुमेयमत्यन्तपरोक्षं च वस्तु जानन्तीति सर्वज्ञानि प्रमाणान्तराणि प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणविशेषाः, तेषामभावं स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वा कथं व्यवस्थापयेत्, यतस्तद्विषयं स्यात् ? तथा सति सर्वं प्रमाणं सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वविषयं भवेदिति कुतस्तत्त्वोपप्लवः ? परस्य सिद्धं प्रमाणं तदभावविषयमिति चेत्, परस्य प्रमाणतः सिद्धं प्रमाणमन्तरेण वा ? यदि प्रमाणतः सिद्धं नानात्मसिद्धं नाम, प्रमाणसिद्धस्य नानात्मनां वादिप्रतिवादिनां सिद्धत्वाविशेषात् । अन्यथा परस्यापि न सिद्धयेत्, प्रमाणमन्तरेण सिद्धस्यासिद्धत्वाविशेषात् । तदिमे तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन केनचिदपि प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा सकलतत्त्वपरिच्छेदकप्रमाणविशेषरहितं सर्वं पुरुषसमूहं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहतमेतत्, तथा तत्त्वोपप्लववादित्वव्याघातात् ।

(तत्त्वोपप्लववादिनोऽनुपप्लुतवादं दूषयन्ति)

१३७. ननु चानुपप्लुतवादिनोऽपि प्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं च प्रमाणतः सिद्धयेत् प्रमाणमन्तरेण वा ? प्रमाणतश्चेत्तदपि प्रमाणान्तरतः सिद्धयेदित्यनवस्थानात्कुतः प्रमाणतत्त्वव्यवस्था ? यदि पुन प्रथमं प्रमाणं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येव्यते, तदेतरेतराश्रयणान्नैकस्यापि व्यवस्था । स्वतः प्रमाणस्य प्रामाण्यव्यवस्थितेरयमदोष इति चेत्, न; सर्वप्रवादिनां तत्र विप्रतिपत्त्यभावप्रसङ्गात् । कुतश्चित्प्रमाणात्तद्विप्रतिपत्तिनिराकरणे तत्रापि प्रमाणान्तराद् विप्रतिपत्तिनिराकरणेन भाव्यमित्यनवस्थानमप्रतिहतप्रसरमेव । परस्परं विप्रतिपत्तिनिराकरणे चान्योन्यसंश्रयणं दुरुत्तरम् । प्रमाणमन्तरेण तु प्रमाणादितत्त्वं यदि सिद्धयेत्, तदा तदुपप्लवव्यवस्थापि तथा दुःशक्या निराकर्तुम् ।

१३८. स्यान्मतम्—विचारोत्तरकालं प्रमाणादितत्त्वव्यवस्थितिः । विचारस्तु यथाकथञ्चित्क्रियमाणो नोपालम्भार्हः, सर्वथा वचनाभावप्रसङ्गादिति । एवं तर्हि तत्त्वोपप्लववादिनामपि विचारादुत्तरकालं तत्त्वोपप्लवव्यवस्था तथैवास्तु, सर्वथा विशेषाभावात् ।

१३९. एवं च तत्र प्रमाणतत्त्वमेव तावद्विचार्यते—कथं प्रमाणस्य प्रामाण्यम् ? किमुदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन, बाधारहितत्वेन, प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वा ? यद्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन,

तदा सैव कारकाणामदुष्टता कुतोऽवसीयते ? न तावत्प्रत्यक्षात्, नयनकुशलतादेः^{१६६३} संवेदनकारणस्यातीन्द्रियस्यादुष्टतायाः प्रत्यक्षीकर्तुमशक्तेः । नानुमानात्, तदविनाभाविलिङ्गाभावात् । विज्ञानं^{१६६४} तत्कार्यं लिङ्गमिति चेत्, न; विज्ञानसामान्यस्य तदव्यभिचारित्वाभावात् । प्रमाणभूतं विज्ञानं तल्लिङ्गमिति चेत्,^{१६६५} कुतस्तस्य प्रमाणभूतताऽवसायः ? तददुष्टकारणारब्धत्वादिति चेत्, सोऽयमन्योन्याश्रयः । सिद्धे विज्ञानस्य^{१६६६} प्रमाणभूतत्वे निर्दोषकारणारब्धत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च प्रमाणभूतत्वसिद्धिरिति ।

१४०. किञ्च,^{१६६७} चक्षुरादिकारणानां गुणदोषाश्रयत्वे तदुपजनितसंवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तिर्न स्यात्, गुणदोषाश्रयपुरुषवचनजनितवेदनवत् । गुणाश्रयतयैव तन्निश्चये तदुत्थविज्ञाने दोषाशङ्कानिवृत्तौ पुंसोऽपि कस्यचिद् गुणाश्रयत्वेनैव निर्णये तद्वचनजनितवेदने दोषाशङ्कानिवृत्तेः किमपौरुषेयशब्दसमर्थनायासेन ? अथ पुरुषस्य^{१६६८} गुणाधिकरणत्वमेवाशक्यनिश्चयम्, परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वात्, तद्व्यापारादेः साङ्कर्यदर्शनात्, निर्गुणस्यापि^{१६६९} गुणवत् इव व्यापारादिसम्भवादुपवर्ण्यते, तर्हि चक्षुरादीनामप्यतीन्द्रियत्वसाङ्कर्योपलब्धेः कुतो गुणाश्रय-^{१६७०} त्वनियमनिश्चयः शक्यः कर्तुम् ? कस्यचिदपौरुषेयस्यापि च ग्रहोपरागादेः शुक्लवस्त्रादौ पीतज्ञानहेतोरुपलक्षणाद्वेदस्यापौरुषेयस्यापि मिथ्याज्ञानहेतुत्वसंभावनायां कथमिव निश्शङ्कं याज्ञिकानां^{१६७१} तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयः ? ततो नादुष्टकारकजन्यत्वेन कस्यचित्प्रमाणाता ।

(तत्त्वोपप्लववादी विकल्पचतुष्टये प्रथमविकल्पं 'अदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन प्रमाणस्य प्रामाण्यमिति मतं' दूषयित्वा 'बाधारहितत्वेन प्रमाणस्य प्रामाण्यम्' इति द्वितीयविकल्पं दूषयति)

१४१. नापि बाधानुत्पत्त्या, मिथ्याज्ञानेऽपि स्वकारणवैकल्याद्वाधस्यानुत्पत्तिसम्भवात् प्रमाणत्वप्रसक्तेः । अथ^{१६७२} यथार्थग्रहणनिबन्धना बाधानुत्पत्तिरप्रमाणाऽसंभवनी प्रमाणत्वसाधिनीति मतम्, कुतस्तस्याः^{१६७३} सत्यार्थग्रहणनिबन्धनत्वनिश्चयः ? संविदः प्रमाणत्वनिश्चयादिति चेत्, परस्पराश्रयः । सति प्रमाणत्वनिश्चये संवेदनस्य यथार्थग्रहणनिबन्धनबाधानुत्पत्तिर्निर्णयस्तस्मिँश्च सति प्रमाणत्वनिश्चय इति । अन्यतः प्रमाणत्वनिश्चये^{१६७४} किमेतया बाधानुत्पत्त्या ? न च बाधानुत्पत्तेर्यथार्थग्रहणनिबन्धनत्वं स्वत एव निश्चीयते, सन्देहाभावप्रसङ्गात् । दृश्यते च सन्देहः, किं यथार्थग्रहणात्रोऽत्र बाधानुत्पत्तिराहोस्वित् स्वकारणवैकल्यादित्युभयसंस्पर्शप्रत्ययोत्पत्तेः,^{१६७५} क्वचिद् दूरे मरीचिकायां जलज्ञाने स्वकारणवैकल्याद्वाधकप्रत्ययानुत्पत्तिप्रसिद्धेरभ्यासदेशे^{१६७६} तत्कारणसाकल्याद्वाधकज्ञानोत्पादात् ।

१४२. किञ्च,^{१६७७} अर्थसंवेदनानन्तरमेव बाधानुत्पत्तिस्तत्प्रामाण्यं व्यवस्थापयेत् सर्वदा वा ? न तावत्प्रथमविकल्पः संभवति, मिथ्याज्ञानेऽपि क्वचिदनन्तरं बाधानुत्पत्तिदर्शनात् । सर्वदा बाधानुत्पत्तेः संविदि^{१६७८} प्रामाण्यनिश्चयश्चेत्, न, तस्याः प्रत्येतुमशक्यतवात्, संवत्सरादिविकल्पेनापि बाधोत्पत्तिदर्शनात् । चिरतरकालं^{१६७९} बाधस्यानुत्पत्तावपि स्वकारणवैकल्यात् कालान्तरेष्वसौ नोत्पत्स्यते इति कुतो निश्चयनीयः ? क्वचित्तु मिथ्याज्ञाने^{१६८०} तज्जन्मन्यपि बाधा नोपजायते, स्वहेतुवैकल्यात् । न चैतावता तत्प्रामाण्यम् ।

१४३. किञ्च, क्वचिद्देशे स्थितस्य बाधानुत्पत्तिः प्रतिपत्तुः सर्वत्र वाऽर्थसंविदि प्रामाण्यहेतुः ? न

तावत्प्रथमः पक्षः, ^{१७०३} कस्यचिन्मिथ्याबोधस्यापि ^{१७०४} प्रमाणत्वापत्तेः । नापि द्वितीयः, कस्यचिद्दूरे स्थितस्य बाधानुत्पत्तावपि समीपे बाधोत्पत्तिप्रतीतेः सर्वत्र स्थितस्य बाधानुत्पत्तिसन्देहात्, समीपे बाधानुत्पत्तावपि दूरे बाधोत्पत्तिसंभवात् ।

१४४. किञ्च, कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः सर्वस्य वा ? न तावत्कस्यचिद्बाधानुत्पत्तिः संविदि प्रामाण्यहेतुः, विपर्ययेऽपि भावात्, मरीचिकादौ तोयज्ञाने देशान्तरगमनादिना बाधानुत्पत्तावपि प्रमाणत्वाभावात् । ^{१७०५} सर्वस्य बाधानुत्पत्तिरर्थसंवेदने प्रामाण्यकारणमिति चेत्, न, तस्याः किञ्चिज्ज्ञातुमशक्तेः । शक्तौ वा तस्य सर्वज्ञत्वापत्तेः, ^{१७०६} असर्वज्ञव्यवहाराभावप्रसङ्गात्, सर्वदेशकालपुरुषापेक्षया बाधाकाभावनिरणयस्ययान्यथानुपपत्तेः । इति न बाधारहितत्वेन संवेदनस्य प्रामाण्यम् ।

(प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रमाणस्य प्रामाण्यमिति नैयायिकमतमपि तृतीयविकल्पद्वारा तत्त्वोपप्लववादी दूषयन् प्रमाणतत्त्वं निरस्यति)

१४५. ^{१७०८} नापि ^{१७०९} प्रवृत्तिसामर्थ्येन, ^{१७१०} अनवस्थाप्रसक्तेः । ^{१७११} प्रवृत्तिसामर्थ्यं ^{१७१२} हि ^{१७१३} फलेनाभिसम्बन्धः ^{१७१४} सजातीयज्ञानोत्पत्तिर्वा ? यदि ^{१७१५} फलेनाभिसम्बन्धः, सोऽवगतोऽनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेत् ? न तावदनवगतः, अतिप्रसङ्गात् । ^{१७१६} सोऽवगतश्चेत्, तत एव प्रमाणादन्यतो वा ? न तावत्तत एव, परस्पराश्रयानुषङ्गात् । सति ^{१७१७} फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमे तस्य ^{१७१८} प्रमाणत्वनिश्चयात् तस्मिंश्च सति ^{१७१९} तेन तदवगमात् । अन्यतः प्रमाणात्सोऽवगत इति चेत्, तदन्यत्प्रमाणं कुतः प्रामाण्यव्यवस्थामास्तिष्णुते ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति चेत्, तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि ^{१७२०} फलेनाभिसम्बन्धस्तदाऽनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेदित्यादि पुनरावर्तत इति चक्रकप्रसङ्गः । एतेन ^{१७२१} सजातीयज्ञानोत्पत्तिः ^{१७२२} प्रवृत्तिसामर्थ्यं संवित्प्रामाण्यस्यागमकं प्रतिपादितम्, सजातीयज्ञानस्य प्रथमज्ञानात्प्रामाण्यनिश्चये परस्पराश्रयणस्याविशेषात् । प्रमाणान्तरात्तत्प्रामाण्यनिरणयेऽनवस्थानुषङ्गात् ।

१४६. ^{१७२३} प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुः प्रमेयदेशोपसर्पणं प्रमेयस्य प्रतिपत्तौ स्यादप्रतिपत्तौ वा ? न तावदप्रतिपत्तौ, सर्वत्र सर्वस्य ^{१७२४} प्रवृत्तिप्रसङ्गात् । ^{१७२५} प्रतिपत्तौ चेत्, ^{१७२६} निश्चितप्रामाण्यात् संवेदनात्तत्प्रतिपत्तिरनिश्चितप्रामाण्याद्वा ? प्रथमपक्षे परस्पराश्रयणमेव, सति प्रवर्तकस्य संवेदनस्य प्रामाण्यनिश्चये ततः प्रमेयप्रतिपत्तिः, सत्यां च प्रमेयप्रतिपत्तौ प्रवृत्तेः सामर्थ्यात्तत्प्रामाण्यनिश्चयात् । ^{१७२७} प्रमाणान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ प्रथमसंवेदनस्य वैयर्थ्यम्, स एव च पर्यनुयोगोऽनवस्थापत्तिकरः । ^{१७२८} द्वितीयपक्षे तु ^{१७२९} प्रामाण्यनिश्चयानर्थक्यम्, स्वयमनिश्चितप्रामाण्यादेव संवेदनात्प्रमेयप्रतिपत्तिप्रवृत्तिसिद्धेः । ^{१७३०} संशयात्प्रवृत्तिदर्शनाददोष इति चेत्, ^{१७३१} किमर्थमिदानीं ^{१७३२} प्रमाणपरीक्षणम् ? ^{१७३३} लोकवृत्तानुवादाथमिति चेत्, ^{१७३४} तर्हि ^{१७३५} लोकवृत्तं ^{१७३६} कुतो निर्विवादं प्रसिद्धम्, यस्यानुवादार्थं ^{१७३७} प्रमाणशास्त्रप्रणयनम् ? न तावत्स्वत एव, ^{१७३८} प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ ^{१७३९} प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमिति परतः ^{१७४०} प्रामाण्यानुवादविरोधात् । स्वतः प्रसिद्धं हि ^{१७४१} प्रमाणप्रमेयरूपं ^{१७४२} लोकवृत्तं ^{१७४३} तथैवानुवदितुं युक्तं ^{१७४४} नान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । ^{१७४५} यथाऽनूद्यतेऽस्माभिस्तथैव ^{१७४६} लोकवृत्तं प्रसिद्धं स्वत इति चेत्, न, 'स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यम्' () इत्यन्यैर्लोकवृत्तस्यानुवादात् तथैव

प्रसिद्धिप्रसङ्गात्। स^{१७४३} मिथ्यानुवाद इति चेत्, त^{१७४८}वापि मिथ्यानुवादः कुतो न भवेत्? त^{१७४९}था लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वादिति चेत्, प^{१७५०}रोऽप्येवं ब्रूयात्। तथैव लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वे तथानुवादस्य सत्यत्वं तत्सत्यत्वाच्च तथैव लोकवृत्तस्य प्रसिद्धत्वमितीतरेतराश्रयत्वमप्युभयोः^{१७५१} समानम्। त^{१७५२}था लोकवृत्तान्तरात्तस्य^{१७५३} प्रसिद्धौ पुनरनवस्था दुर्निवारैव। इति न प्रवृत्तिसामर्थ्यात्संविदः प्रामाण्यनिश्चयानुवादो युक्तः। ततो न प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रामाण्यं व्यवतिष्ठते।

(तत्त्वोपप्लववादी 'अविसंवादित्वेन प्रमाणस्य प्रामाण्यं व्यवतिष्ठते' इति बौद्धमतमपि चतुर्थविकल्पद्वारा दूषयन् प्रमाणतत्त्वं निराकुरुते)

१४७. नाप्यविसंवादित्वेन,^{१७५६} तदविसंवादस्यार्थक्रियास्थितिलक्षणस्यानवगतस्य^{१७५७} प्रामाण्यव्यवस्थाहेतुत्वायोगात्। तस्यावगतस्य तद्धेतुत्वे कुतस्तदवगमस्य प्रामाण्यम्? संवादान्तरादिति चेत्, न, तदवगमस्यापि संवादान्तरात्प्रामाण्यनिर्णयेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। अथार्थक्रियास्थितिलक्षणाविसंवादज्ञानस्याभ्यासदशायां^{१७५९} स्वतः प्रामाण्यसिद्धेरदोषः, कोऽयमभ्यासो नाम? भूयः संवेदने संवादानुभवनमिति चेत्, तज्जातीयेऽतज्जातीये^{१७६०} वा? तत्रातज्जातीये न तावदेकत्र संवेदने भूयः संवादानुभवनं संभवति क्षणिकवादिनः। सन्तानापेक्षया^{१७६१} संभवतीति चेत्, न, सन्तानस्यावस्तुत्वादपेक्षानुपपत्तेः। वस्तुत्वे वा तस्यापि क्षणिकत्वसिद्धेः कुतस्तदपेक्षया^{१७६२} सोऽभ्यासः? सन्तानस्याक्षणिकत्वे वा 'यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकम्' इति न सिद्ध्येत्। तज्जातीये भूयः^{१७६३} संवादानुभवनमिति चेत्, न, जातिनिराकरणवादिनः क्वचित्तज्जातीयत्वानुपपत्तेः। अन्यापोहलक्षणाया जात्या^{१७६४} क्वचित्तज्जातीयत्वमुपपन्नमेवेति चेत्, न, अन्यापोहस्यावस्तुरूपत्वात्। तस्य वस्तुरूपत्वे वा जातित्वविरोधात्,^{१७६५} स्वलक्षणस्यासाधारणरूपस्य वस्तुत्वोपगमात्।

१४८. तदेवं सामान्यतः प्रमाणलक्षणानुपपत्तौ विशेषतोऽपि प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपपत्तेर्न प्रमाणतत्त्वं विचार्यमाणं व्यवतिष्ठते। तदव्यवस्थितौ कुतः प्रमेयतत्त्वव्यवस्थेति विचारात्तत्त्वोपप्लवव्यवस्थितिः।

(अत्र तत्त्वोपप्लववादिमतं निराकुर्वन्नाह)

१४९. इत्येतदपि सर्वमसारम्, तत्त्वोपप्लवस्यापि विचार्यमाणस्यैवमव्यवस्थितेरनुपप्लुततत्त्वसिद्धि-^{१७६६} निराकरणायोगात्।

१५०. अथ तत्त्वोपप्लवः सर्वथा न विचार्यः, तस्योपप्लुतत्वादेव, विचारासहत्वात्, अन्यथा-^{१७६७} ऽनुपप्लुततत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्। केवलं तत्त्ववादिभिरभ्युपगतस्य प्रमाणप्रमेयतत्त्वस्य^{१७६८} विचाराक्षमत्वात्तत्त्वोपप्लवसिद्धिः, इति मतम्, तदपि फल्गुप्रायम्, यथातत्त्वमविचारितत्वात्।^{१७६९}

(जैनस्तत्त्वोपप्लववादिमतं समालोचयन्निराकरोति)

१५१. न ह्यदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन संवेदनस्य प्रमाणत्वं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, बाधारहितत्वमात्रेण वा। नापि प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा वा, प्रतिपादितदोषोपनिपातात्। किं तर्हि? सुनिश्चितासम्भवबाधकत्वेन। न चेदं^{१७७०}

स्वार्थव्यवसायात्मनो ज्ञानस्य ^{१७९७}दुर्बबोधम् । सकलदेशकालपुरुषापेक्षया सुष्ठु निश्चितमसम्भवद्बाधकत्वं हि प्रमाणस्याभ्यस्तविषये स्वत एवावसीयते, स्वरूपवत् । अनभ्यस्ते तु परत इति नानवस्थेतिरेतराश्रयदोषोपनिपातः । स्वार्थव्यवसायात्मकत्वमेव हि ^{१७९८}सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वम् । तच्चाभ्यासदशायां न परतः प्रमाणात्साध्यते, येनावस्था स्यात्, परस्पराश्रयो वा, तस्य स्वत एव सिद्धत्वात् । तथाऽनभ्यासदशायामपि ^{१७९९}परतः स्वयंसिद्धप्रामाण्याद्वेदनात् पूर्वस्य तथाभावसिद्धेः कुतोऽनवस्थादिदोषावकाशः ?

(को नामाभ्यासोऽनभ्यासो वा इति प्रतिपादयति)

१५२. क्वचिदभ्यासानभ्यासौ तु प्रतिपत्तुरदृष्टविशेषवशाद्देशकालादिविशेषवशाच्च भवन्तौ सम्प्रतीतावेव, ^{१८०१}यथावरणक्षयोपशममात्मनः ^{१८०२}सकृदसकृद्वा स्वार्थसंवेदनेऽभ्यासोपपत्तेः । ^{१८०३}स्वार्थव्यवसायावरणोदये चासंवेदन- ^{१८०४}संकृतसंवेदने वा ^{१८०५}संवेदनपौनःपुन्येऽपि ^{१८०६}वाऽनभ्यासघटनात् । ^{१८०७}पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानान्वित- ^{१८०८}स्वभावस्थितिलक्षणत्वेनात्मनः ^{१८०९}परिणामिनोऽभ्यासानभ्यासाविरोधात् । सर्वथा क्षणिकस्य नित्यस्य वा ^{१८१०}प्रतिपत्तुस्तदनुपपत्तेरभीष्टत्वात् ।

(अत्र तत्त्वोपप्लववादी जैनं प्रति पृच्छति)

१५३. नन्विदं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वं संवेदनस्य कथमसर्वज्ञो ज्ञातुं समर्थ इति चेत्, सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य ^{१८११}सर्वं संवेदनमसुनिश्चितासम्भवद्बाधकमित्यप्यसकलज्ञः कथं जानीयात् ? तत् एव संशयोऽस्त्विति चेत्, सोऽपि ^{१८१२}तथाभावेतरविषयः सर्वस्य सर्वदा सर्वत्रेति कथमसर्वज्ञः शक्तोऽवबोद्धुम् ? स्वसंवेदने ^{१८१३}तथाऽवबोधोत्सर्वत्र ^{१८१४}तथाऽवबोध इति चेत्, तर्ह्यनुमानमायातम्, विवादाध्यासितं संवेदनं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धम्, ^{१८१५}संवेदनत्वात्, अस्मत्संवेदनवदिति । तच्च यदि ^{१८१६}सुनिश्चितासम्भवद्बाधकं सिद्धम्, तदा तेनैव साधनस्य व्यभिचारः । ^{१८१७}अथ न तथा सिद्धम्, कथं साध्यसिद्धिनिबन्धनम् ? अतिप्रसङ्गात् । स्वसंवेदनं च प्रतिपत्तुः ^{१८१८}किञ्चित् क्वचित् ^{१८१९}कदाचित् ^{१८२०}सुनिश्चितासम्भवद्बाधकं ^{१८२१}किञ्चित्द्विपरीतं प्रसिद्धं न वा ? यदि न प्रसिद्धम्, कथं सन्देहः ? ^{१८२२}क्वचिदप्रसिद्धोभयविशेषस्य ^{१८२३}तत्सामान्यदर्शनेनैव ^{१८२४}तत्परामर्शिप्रत्ययस्य ^{१८२५}सन्देहस्यासम्भवाद् ^{१८२६}भूभवनसंवर्द्धितोत्थितमात्रस्य तादृशः ^{१८२७}स्थाणुपुरुषविषयसन्देहवत् । यदि ^{१८२८}पुनस्तदुभयं ^{१८२९}प्रसिद्धम्, तदा स्वतः परतो ^{१८३०}वा ? ^{१८३१}अभ्यासदशायां स्वतोऽनभ्यासदशायां परत एवेति चेत्, ^{१८३२}सिद्धमलङ्कारशासनम्, सर्वस्य संवेदनस्य ^{१८३३}स्यात्स्वतः ^{१८३४}स्यात्परतः ^{१८३५}प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्व्यवस्थानात्, अन्यथा क्वचिद् व्यवस्थातुमशक्तेः ।

१५४. एतेन तत्त्वोपप्लववादिनः किमदुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वेन बाधकानुत्पत्त्या प्रवृत्तिसामर्थ्येनान्यथा ^{१८३६}वेत्यादिविकल्पसन्दोहहेतुकप्रश्नानुपपत्तिः ^{१८३७}प्रकाशिता, स्वयमन्यत्रान्यदा ^{१८३८}कथञ्चिदप्रतिपत्तद्विकल्पस्य पुनः ^{१८३९}क्वचित्त्परामर्शिसंशयप्रत्ययायोगात् । ^{१८४०}क्वचित्कदाचिददुष्टकारकसन्दोहोत्पाद्यत्वादिविशेषप्रतिपत्तौ तु कुतस्तत्त्वो- ^{१८४१}पप्लवसिद्धिः ? ^{१८४२}पराभ्युपगमात्तत्प्रतिपत्तेरदोष इति चेत्, स तर्हि ^{१८४३}पराभ्युपगमो यदि ^{१८४४}प्रमाणात्प्रतिपत्तः स्वयं तदा कथं ^{१८४५}प्रमाणप्रमेयतत्त्वोपप्लवः ? ^{१८४६}पराभ्युपगमान्तरात्तत्प्रतिपत्तौ तदपि ^{१८४७}पराभ्युपगमान्तरमन्यस्मात्पराभ्युपगमात्प्रतिपत्तव्य- ^{१८४८}मित्यनवस्था । ^{१८४९}पराभ्युपगमं च स्वयं प्रतियन्नेव न प्रत्येमीति ब्रुवाणः कथं स्वस्थः ? ^{१८५०}स्वयमप्रतियन्तु पराभ्युपगमं ^{१८५१}ततः किञ्चित्प्रत्येतीति ^{१८५२}दुर्बबोधमेतत् ।

(ततस्तत्त्वोपप्लववादिमतं न युक्तमिति प्रदर्शयति)

१५५. सौ^{१८५५}यं किञ्चिदपि स्वयं निर्णीतमनाश्रयन् क्वचिद्विचारणायां व्याप्रियत इति न बु^{१८५६}ध्यामहे, किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारस्यानिर्णीतेऽर्थे प्रवृत्तेः । सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिद्विचारणाऽनवतारात् । तदुक्तम्—

किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते ।

सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा ॥ ॥ () इति ।

१५६. ततः सूक्तं तत्त्वोपप्लववादिनः स्वयमेकेन प्रमाणेन स्वप्रसिद्धेन परप्रसिद्धेन वा विचारोत्तरकालमपि प्रमाणतत्त्वं प्रमेयतत्त्वं चोपप्लुतं संविदन्त एवात्मानं निरस्यन्तीति व्याहृतमिति ।

(मीमांसक-चार्वाक-तत्त्वोपप्लववादिनां मतं समीक्ष्य ब्रह्माद्वैताद्यद्वैतवादिनां नैयायिकादिद्वैतवादिनां च मतं समालोचयन् तेषां सर्वेषामाप्तता नास्तीति कारिकाव्याख्यानमनवद्यं प्रदर्शयति)

१५७. तदेवं^{१८५७} कारिकाव्याख्यानमनवद्यमवतिष्ठते । “तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां तथा सर्वमवगतमिच्छता-
माप्तता नास्ति, परस्परविरुद्धाभिधानात्, एकानेकप्रमाणवादिनां स्वप्रमाव्यावृत्तेः” इति । एकप्रमाणवादिनो हि संवेदनाद्वैतावलम्बिनश्चित्राद्वैताश्रयिणः परब्रह्मशब्दाद्वैतभाषिणश्च सुगतादयो यथा तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदन्तोऽपि चार्वाकाः, परमागमनिराकरणसमयत्वात्^{१८५८} । यथा च कपिलादयोऽनेकप्रमाणवादिनस्तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथा तत्त्वोपप्लववादिनोपि, तैरेकस्यापि प्रमाणस्यानभिधानात्, नैकप्रमाणवादिनोऽनेकप्रमाणवादिन इति व्याख्यानात् । तथा सर्वमाप्तागमपदार्थजातमवगतमिच्छन्तोऽप्यनेकप्रमाणवादिनो वैनयिकास्तीर्थच्छेदसम्प्रदायाः । तेषामशेषाणामाप्तता नास्ति, परस्परविरुद्धयोरर्थयोरभिधानात् ।

१५८. तत्र संवेदनाद्वैतानुसारिणः स्वपक्षसाधनस्य परपक्षदूषणस्य वा संविदद्वैतविरुद्धस्याभिधानम्, तथा द्वैतप्रसिद्धेः । संवृत्त्या^{१८५९} तदुपगमे न परमार्थतः संविदद्वैतसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात् । एतेन चित्राद्वैतपरमब्रह्माद्यवलम्बिनां परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिवर्णितम् । प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति वदता प्रमाणोत्तरसामान्यव्यवस्थापनस्य संवादेतरस्वभावलिङ्गजानुमानिबन्धनस्य परचित्तावबोधस्य च व्यापारादिकार्यलिङ्गोत्थानुमाननिमित्तस्य परलोकादिप्रतिषेधस्य चानुपलब्धिलिङ्गोद्भूतानुमानहेतुकस्य प्रत्यक्षैकप्रमाणविरुद्धस्याभिधानं प्रतिपत्तव्यम्, तथा प्रमाणान्तरसिद्धेः । परोपगमात्तत्स्वीकरणे स्वयं प्रमाणोत्तरसामान्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः कुतः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादः ? अतिसङ्गात्^{१८६०} ।

१५९. तथाऽनेकप्रमाणवादिनां कपिलकणभक्षाक्षपादजैमिनिमतानुसारिणां स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियम-
विरुद्धस्य सामस्त्येन साध्यसाधनसम्बन्धज्ञानस्याभिधाने बोद्धव्यम्, प्रमाणान्तरस्योहस्य सिद्धेः । यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोऽप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति न प्रत्यक्षस्य सामर्थ्यम्, तस्य सन्निहितविषयप्रतिपत्तिफलत्वात् । नाप्यनुमानस्य, अनवस्थानात्, तद्व्याप्यपरानुमानगम्यत्वादिति वैशेषिकस्योहः प्रमाणान्तरमनिच्छतोऽप्यायातम् । एतेन सौगतस्य प्रमाणान्तरमापादितम् । तथाऽऽगमस्यापि

व्याप्तिग्रहणेऽनधिकारात्कपिलस्योहः प्रमाणम्, नैयायिककस्य च तत्रापमानस्याप्यसमर्थत्वात्, प्राभाकरस्य चार्थापत्तेरप्यनुमानवत्तत्राव्यापारात्, भट्टमतानुसारिणश्चाभावस्यापि तत्रानधिकृतत्वात् ।

१६०. तथैकमपि प्रमाणमनभ्युपगच्छतां तत्त्वोपप्लवावलम्बिनामनेकप्रमाणवादिनां तत्त्वोपप्लवोपगमस्य प्रमाणसिद्ध्यविनाभाविनः सकलतत्त्वोपप्लवविरुद्धस्याभिधानमवगन्तव्यम् । वैनयिकानां तु सर्वमवगतमिच्छतां परस्परविरुद्धाभिधानं विरुद्धसंवेदनं प्रसिद्धमेव, सुगतमतोपगमे कपिलादिमतोपगमस्य विरोधात् ।

१६१. ततः सिद्धो हेतुः परस्परविरोधत इति तीर्थकत्समयानां सर्वेषामाप्तत्वाभावं साधयति ।

(न वयं परतः प्रमाणात्स्वमतसिद्धिं कुम, अपितु स्वत एव संविदद्वैतादीनां प्रमितिं साधयाम इति परवादिनां पक्षमपि दूषयति)

१६२. यदि पुनः संविदद्वैतादीनां स्वतः प्रमितिप्रसिद्धेः प्रमाणान्तरतः स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनाभावान्न परस्परविरुद्धाभिधानं स्वसंवेदनैकप्रमाणवादिनाम्, नापीन्द्रियजप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनाम्, प्रत्यक्षप्रामाण्यस्य प्रत्यक्षत एव सिद्धेः, अनुमानादिप्रामाण्याभावस्यापि तत एव प्रसिद्धेः प्रमाणान्तराप्रसङ्गात् । तथाऽनेकप्रमाणवादिनामपि स्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमस्य स्वत एव सिद्धेः प्रमाणान्तरस्योहस्याप्रसङ्गात् । विरुद्धाभिधानं सम्भवतीति मतम्, तदाऽपि न तेषामाप्तताऽस्ति, स्वप्रमाव्यावृत्तेः, अन्यथाऽनैकान्तिकत्वात् । न हि संविदद्वैतेऽन्यत्र वा स्वस्य स्वेनैव प्रमा सम्भवति, निरंशत्वात्प्रमातृप्रमाणप्रमेयस्वभावव्यावृत्तौ प्रमाया व्यावृत्तेः, तदव्यावृत्तौ प्रमात्रादिस्वभावाव्यावृत्तेरैकान्तिकत्वाभावात् प्रमात्राद्यनेकस्वभावस्यैकस्य संवेदनस्यानेकान्तात्मनोऽनुमननात्, संवित् स्वयं स्वेन स्वं संवेदयत इति प्रतीतेः । नापीन्द्रियजप्रत्यक्षे स्वप्रमा घटते, भूतवादिभिस्तस्यास्वसंविदितत्त्वोपगमात्, इति सिद्धा तत्र स्वप्रमाया व्यावृत्तिः । ततो न प्रत्यक्षत एव प्रमाणेतरसामान्यस्थित्यादिः । तदव्यावृत्तौ वा स्वार्थव्यवसायात्मकत्वसिद्धेः स्याद्वादाश्रयणादैकान्तिकत्वाभावादनैकान्तिकत्वम् । एतेनानैकप्रमाणवादिनामनेकस्मिन् प्रमाणे स्वप्रमाव्यावृत्तिर्व्याख्याता । तदव्यावृत्तौ वाऽनैकान्तिकत्वप्रसक्तिः, अनेकशक्त्यात्मकस्वार्थव्यवसायात्मकानेकप्रमाणसिद्धेः । तत्त्वोपप्लववादिनां तु तत्त्वोपप्लवे स्वप्रमाया व्यावृत्तिः सिद्धैव । तदव्यावृत्तौ तत्त्वोपप्लवैकान्तिकत्वाभावप्रसक्तिश्च । ततो नैतेषामाप्तता ।

(सम्प्रति भट्टकलङ्कदेवस्यैवाष्टशतीवचनव्याख्यानमुखेन सर्वथा नित्यानित्यवादिनां सांख्यसौगतादीनां मतं निरस्यति)

१६३. किञ्च, सर्वप्रमाणविनिवृत्तेरितरथा सम्प्रतिपत्तेः । ये तावदेकं नित्यं प्रमाणं स्वभावभेदाभावाद्वदन्ति तेषां सर्वप्रमाणविनिवृत्तिः, येऽप्यनेकमनित्यं प्रतिक्षणं स्वभावभेदादावक्षते तेषामपि, प्रत्यक्षादिप्रमाणानां नित्यैकान्तादनित्यैकान्ताच्चैतरेणैव प्रकारेण कथञ्चिन्नित्यानित्यात्मकत्वेन सम्प्रतिपत्तेः । ततो नैतेषां नित्यानित्यैकान्तप्रमाणवादिनां तीर्थकत्समयानामाप्तता ।

(ये वक्तृत्वेन्द्रियबुद्धीच्छापुरुषत्वादिहेतुभिर्वीतरागसर्वज्ञं निराकुर्वन्ति, तान् प्रत्यक्षशतवचनव्याख्या- द्वाराऽष्टसहस्रीकारः समाधत्ते)

१६४. किञ्च, वागक्षबुद्धीच्छापुरुषत्वादिकं^{१९०६} क्वचिदेनाविलज्ञानं निराकरोति न पुनस्तत्प्रतिषेधवादिषु^{१९०९} तथेति परमगहनमेतत्^{१९१०}। तथा हि तीर्थच्छेदसम्प्रदायास्तथैकान्तवादिनो^{१९११} नाऽनाविलज्ञाना^{१९१२} अविशिष्टवागक्षबुद्धीच्छादिमत्त्वादविशिष्टपुरुषत्वादेर्वा रथ्यापुरुषवत्, इति नैषामाप्तता। तत्प्रतिषेधवादिनां पुनः स्याद्वादिनां नाप्तः कश्चिदविशिष्टवागादिमानविशिष्टपुरुषो वा, तस्य युक्तिशास्त्रविरोधिवाक्त्वेनाभ्युपगतत्वात्, ^{१९१५ १९१६ १९१७} करणक्रमव्यवधानातिवर्तिबुद्धित्वात्, ^{१९१८} इच्छारहितत्वाद्विशुद्धपुरुषातिशयत्वादिति। ^{१९२०} यथा वागादिकं निर्दोषज्ञाननिराकरणसमर्थं न तथा स्याद्वादन्यायवेदिभिरभिष्टूयमाने भगवतीति परमगहनमेतत्, ^{१९२१} अयुक्तिशास्त्रविदामगोचरत्वादकलङ्कधिषणाधिगम्यत्वात्।

१६५. तदित्यं^{१९२३} सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वम्। तेन^{१९२४} कः परमात्मा चिदेव^{१९२५} भवभृता^{१९२६} प्रभुः। ^{१९२७} लब्ध्युपयोगसंस्काराणामावरणनिबन्धनानामत्यये सकलस्याद्वादन्यायविद्विषामाप्तत्वप्रतिक्षेपप्रकारेण हि स्याद्वादिन एवाप्तस्याप्रतिक्षेपार्हत्वेन सुनिर्णीतासम्भद्वाधकप्रमाणत्वं सिद्ध्यति। तेनैवं कारिकायास्तुरीयः पादो व्याख्यायते। कः परमात्मा पराऽऽत्यन्तिकी मा लक्ष्मीर्यस्येति विग्रहात्। चिदेव ज्ञ एव न पुनः कथञ्चिदप्यज्ञः, चिदिति शब्दस्य ^{१९३०} मुख्यवृत्त्याश्रयणात्, ^{१९३१ १९३२} कथञ्चिदचित्यपि चिच्छब्दस्य प्रवृत्तौ गौणत्वप्रसङ्गात्।

(परमात्मन इन्द्रियसंस्कारानुरोधत एव ज्ञानमित्याशङ्क्य तन्निराकरोति ज्ञत्वमेवेति च साधयति)

१६६. ननु^{१९३४} च परमात्मा साक्षाद्वस्तु जानन्निन्द्रियसंस्कारानुरोधत एव जानीयान्नान्यथा, तद्वेदनस्य^{१९३५} प्रत्यक्षत्वविरोधात्। न चेन्द्रियसंस्काराः सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमलम्, सम्बद्धवर्तमार्थविषयत्वात्, “सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिभिः।” () इति वचनात्। ततो न ज्ञ एव भाव्यतीतासम्बद्धार्थज्ञानाभावादज्ञत्वत्वस्यापि भावात्; इति न मन्तव्यम्; ‘लब्ध्युपयोगसंस्काराणामत्यये’ इति वचनात्। लब्ध्युपयोगौ हीन्द्रियम्, “लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियम्” (त. सू. २) इति वचनात्। तयोः संस्काराः स्वार्थधारणाः। तेषामत्यये सति ज्ञ एव स्यात्। कुतः पुनर्भावेन्द्रियसंस्काराणामत्यये सति ज्ञ एव स्यान्न तु द्रव्येन्द्रियाणामत्यये, अतीन्द्रियप्रत्यक्षतोऽशेषार्थसाक्षात्कारित्वोपगमात्; इत्यपि न शङ्कनीयम्, भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात्। कात्स्न्यतो ज्ञानावरणसंक्षये हि^{१९३६} भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् सिद्धः। न च सकलावरणसंक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनानां सम्भवः, कारणाभावे कार्यानुपपत्तेः। ^{१९३७ १९३८ १९३९ १९४० १९४१ १९४२ १९४३ १९४४}

(भावेन्द्रियाणि आवरणक्षयोपशमनिबन्धनान्यभ्युपगतानि, तत्कथं तान्यावरणनिबन्धनानीत्याशङ्क्य तत्परिहरति)

१६७ ननु^{१९४५} चावरणक्षयोपशमनिबन्धनत्वाद्भावेन्द्रियाणां कथमावरणनिबन्धनत्वमिति चेत्, देशघातिज्ञाना-^{१९४६} वरणस्पृष्टकोदये सति सर्वघातिज्ञानावरणस्पृष्टकानामुदयाभावे^{१९४७ १९४८ १९४९ १९५० १९५१} सदवस्थायां च तेषां भावादावरणनिबन्धनत्व-^{१९५२} सिद्धेरचोद्यमेतत्। न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा सम्भाव्यते; इत्यपि शङ्का न श्रेयसी; तस्य भवभृतां प्रभुत्वात्। न हि भवभृत्सामान्ये दृष्टो धर्मः सकलभवभृत्प्रभौ सम्भावयितुं शक्यः, तस्य^{१९५३ १९५४} संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतत्वात्।

(पुनरपि मीमांसकः सर्वज्ञस्याभावं शङ्कते)

१६८. ^{१९५५}ननु च सुनिर्णीतासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वात्तथाविधो भवभृतां प्रभुः साध्यते । ^{१९५६}तच्चासिद्धम्, सुनिश्चितासम्भवत्साधकप्रमाणत्वस्य तद्वाधकस्य सद्भावात् । न हि ^{१९५७}तत्साधकं प्रत्यक्षम् । नाप्यनुमानम्, तदेकदेशस्य लिङ्गस्यादर्शनात् । तदुक्तम्—

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।

दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ॥ () इति ।

आगमोऽपि न तावन्नित्यः सर्वज्ञस्य प्रतिपादकोऽस्ति, तस्य कार्यं एवार्थं प्रामाण्यात् । स्वरूपेऽपि प्रामाण्येऽतिप्रसङ्गात् । स सर्ववित् स लोकविदित्यादेः () हिरण्यगर्भः सर्वज्ञ इत्यादेः () चागमस्य नित्यस्य ^{१९६०}कर्मार्थवादप्रधानत्वात्तात्पर्यासम्भवादन्वयार्थप्रधानैर्वचनैरन्यस्य सर्वज्ञस्य विधानासम्भवात् । ^{१९६१}पूर्वं ^{१९६२}कुतश्चिदप्रसिद्धस्य तैरनुवादायोगात् । अनादेरागमस्यादिमत्सर्वज्ञप्रतिपादनविरोधाच्च । नाप्यनित्यस्तत्प्रणीत एवागमस्तस्य प्रकाशको युक्तः, परस्पराश्रयप्रसङ्गात् । नरान्तरप्रणीतस्तु न प्रमाणभूतः सिद्धो यतः सर्वज्ञप्रतिपत्तिः स्यात् । असर्वज्ञप्रणीताच्च वचनान्मूलवर्जितात्सर्वज्ञप्रतिपत्तौ स्ववचनात्किञ्च तत्प्रतिपत्तिः, अविशेषात् । तदुक्तम्—

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधनः ।

न च ^{१९६३}मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्पते ॥

^{१९६४}न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते ।

न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ॥

अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् ।

कृत्रिमेण त्वसत्येन ^{१९६५}स कथं प्रतिपाद्यते ॥

अथ ^{१९६६}तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽज्ञैः प्रतीयते ।

प्रकल्प्येत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ॥

^{१९६७}सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन ^{१९६८}तदस्तित्वात् ।

कथं तदुभयं सिद्ध्येत् सिद्धमूलान्तरादृते ॥

असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् ।

सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किं न जानते ॥ () इति ।

नोपमानमपि सर्वज्ञस्य साधकम्, तत्सदृशस्य जगति कस्यचिदप्यभावात् । तदुक्तम्—

सर्वज्ञसदृशं कश्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति ।

उपमानेन सर्वज्ञं जानीयाम ततो वयम् ॥ ॥ () इति ।

नार्थापत्तिरपि सर्वज्ञस्य साधिका, तदुत्थापकस्यार्थस्यान्यथानुपपद्यमानस्याभावात् । धर्माद्युपदेशस्य बहुजन-^{१९७१}परिगृहीतस्यान्यथाभावात् । तथा चोक्तम्—

उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः ।
 अन्यथाप्युपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत् ॥
 बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसम्भवः ।
 उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ॥
 ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम् ।
 त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ॥ () इति ।

न च प्रमाणान्तरं सदुपलम्भकसर्वज्ञस्य साधकमस्ति । मा भूदत्रत्येदानीन्तनानामस्मदादिजनानां सर्वज्ञस्य साधकं प्रत्यक्षाद्यन्यतमं देशान्तरकालान्तरवर्तिनां केषाञ्चिद्भविष्यतीति चायुक्तम्—

यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।

दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥ () इति ।

इति वचनात् । तथा हि—विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणमत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीयार्थ-
 ग्राहकं भवति तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्,
 अत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् ।

१६९. ननु च यथाभूतमिन्द्रियादिजनितं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथाभूतमेव देशान्तरे कालान्तरे
 च तादृशं साध्यतेन्यथाभूतं वा ? तथाभूतं चेत्, सिद्धसाधनम् । अन्यथाभूतं चेत्, अप्रयोजको हेतुः, जगतो
 बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्ववत्; इति चेत्; तदसत्, तथाभूतस्यैव तथा साधनात्,
 सिद्धसाधनस्याप्यभावात्, अन्यादृशप्रत्यक्षाद्यभावात् । तथा हि—विवादापन्नं
 प्रत्यक्षादिप्रमाणमिन्द्रियादिसामग्रीविशेषानपेक्षं न भवति, प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्, प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् । न
 गृध्रवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वाऽऽलोकानपेक्षिणाऽनेकान्तः,
 कात्यायनाद्यनुमानातिशयेन जैमिन्याद्यागमातिशयेन वा, तस्यापीन्द्रियादिप्रणिधानसामग्रीविशेषमन्तरेणासम्भवात्,
 स्वार्थान्तिलङ्घनाभावात्, अतीन्द्रियाननुमेयाद्यर्थाविषयत्वाच्च । तथा चोक्तम्—

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थान्तिलङ्घनात् ।
 दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥
 येऽपि सातिशयो दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः ।
 स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ॥
 प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टुं क्षमोपि सन् ।
 स्वजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परात्ररान् ॥
 एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् ।
 न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥

ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः ।
 प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ॥
 ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु ।
 न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ॥
 तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि ।
 न स्वर्गदेवताऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ॥
 दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
 न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥ ()

इति न दृष्टप्रत्यक्षादिविजातीयातीन्द्रियप्रत्यक्षादिसम्भावना, यतः सम्भाव्यव्यभिचारिता साधनस्य स्यात् ।
 पुरुषविशेषस्य तत्सम्भावनायां सम्भाव्यव्यभिचारित्वमेवेति चेत्, न; तस्यासिद्धत्वात् । साधकाभावात्सर्वपुरुषाणां
 त्रिविप्रकृष्टार्थसाक्षात्कारित्वानुपपत्तेरिति ।

(मीमांसकोक्तं सर्वज्ञाभावं निरस्य सर्वज्ञसद्भावं साधयति)

१७०. तदेतत्सर्वमपरीक्षिताभिधानं मीमांसकस्य । न हि सर्वज्ञस्य निराकृतेः प्राक्
 सुनिश्चितासम्भवत्साधकप्रमाणत्वं सिद्धम्, येन परः प्रत्यवतिष्ठेत । नापि बाधकासम्भवात्परं प्रत्यक्षादेरपि
 विश्वासनिबन्धनमस्ति । तत्प्रकृतेऽपि सिद्धं यदि तत्सत्तां न साधयेत्, सर्वत्राप्यविशेषात्तदभावे दर्शनं
 नादर्शनमतिशेतेऽनाश्वासाद्विभ्रमवत् ।

(मीमांसकः पुनरपि शङ्कते)

१७१. स्यान्मतम्—मा सिधत्सर्वज्ञनिराकरणात्पूर्वं सुनिश्चितासम्भवत्साधकप्रमाणत्वम्, स्वप्रत्यक्षस्य
 सर्वज्ञान्तरप्रत्यक्षस्य च तत्साधकस्य सम्भवात् । परोपदेशलिङ्गाक्षानपेक्षाऽवितथाऽशेषसूक्ष्माद्यर्थप्रतिपादकतद्-
 वचनविशेषात्मकलिङ्गजनितानुमानस्य च तत्साधकस्य सम्भवादनदिप्रवचनविशेषस्य च तदुद्घोतितस्य
 तत्साधकत्वेन सिद्धेः । निराकरणादुत्तरकालं तु सिद्धमेवेति; तदपि स्वमनोरथमात्रम्; सर्वज्ञस्य निराकृतेरयोगात्
 सर्वथा बाधकाभावात् । सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिलक्षणज्ञापकानुपलम्भनं सर्वज्ञस्य बाधकमिति चेत्, न;
 तस्य स्वसम्बन्धिनः परचेतोवृत्तिविशेषादिना व्यभिचारात्, सर्वसम्बन्धिनोऽसिद्धत्वात् ।

तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

स्वसम्बन्धि यदीदं स्याद्व्यभिचारि पयोनिधेः ।
 अम्भःकुम्भादिसंख्यानैः सद्भिरज्ञायमानकैः ॥
 सर्वसम्बन्धि तद्बोद्धुं किञ्चिद्बोधैर्न शक्यते ।
 सर्वबोधोऽस्ति चेत्कश्चित्तद्बोद्धा किं निषिध्यते ॥

सर्वसम्बन्धि सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् ।
 न चक्षुरादिभिर्वेद्यमत्यक्षत्वाददृष्टवत् ॥
 नानुमानादलिङ्गत्वात्^{२०३५} क्वार्थापत्त्युपमागतिः ।
 सर्वज्ञस्यान्यथाभावसादृश्यानुपपत्तितः^{२०३६} ॥
 सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् ॥
 केवलागमगम्यं च कथं मीमांसकस्य^{२०३७} तत् ॥
 कार्येण चोदनाज्ञानं प्रमाणं यस्य^{२०३८} सम्मतम् ।
 तस्य स्वरूपसत्तायां^{२०३९} तन्नैवातिप्रसङ्गतः^{२०४०} ॥
 तज्ज्ञापकोपलम्भस्याभावोऽभावप्रमाणतः^{२०४१} ॥
 साध्यते चेन्न तस्यापि सर्वत्राप्यप्रवृत्तितः^{२०४२} ॥
 'गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा तत्प्रतियोगिनम् ।
 मानसं नास्तिताज्ञानं येषामक्षानपेक्षया ॥'^{२०४३}
 तेषामशेषनृज्ञाने स्मृते तज्ज्ञापके^{२०४४} क्षणे ।
 जायेत नास्तिताज्ञानं मानसं तत्र नान्यथा^{२०४५} ॥
 न चाशेषनरज्ञानं संकृत्साक्षादुपेयते^{२०४६} ।
 न क्रमादन्यसन्तानप्रत्यक्षत्वानभीष्टितः^{२०४७} ॥
 यदा च क्वचिदेकत्र भवेत्तन्नास्तितागतिः^{२०४८} ।
 नैवान्यत्र तदा सास्ति^{२०४९} क्वेवं सर्वत्र नास्तिता^{२०५०} ॥
 प्रमाणान्तरतोऽप्येषां^{२०५१} न सर्वपुरुषग्रहः^{२०५२} ।
 तल्लिङ्गादेरसिद्धत्वात्^{२०५३} सहोदीरितदूषणात्^{२०५४} ॥
 तज्ज्ञापकोपलम्भोऽपि सिद्धः पूर्व न जातुचित्^{२०५५} ।
 यस्य स्मृतौ प्रजायेत नास्तिताज्ञानमाञ्जसम्^{२०५६} ॥
 परोपगमतः सिद्धः स चेन्नास्तीति साध्यते^{२०५७} ।
 व्याधातस्तत्प्रमाणत्वेऽन्योन्यं सिद्धो न सोऽन्यथा^{२०५८} ॥
 नन्वेवं सर्वथैकान्तः परोपगमतः कथम् ।
 सिद्धो निषिध्यते जनैरिति चोद्यं न श्रीमताम् ॥
 प्रतीतेऽनन्तधर्मात्मन्यर्थे स्वयमबाधिते^{२०५९} ।
 को दोषः^{२०६०} सुनयैस्तत्रैकान्तोपप्लवसाधने^{२०६१} ॥
 अनेकान्ते हि विज्ञानमेकान्तानुपलम्भनम्^{२०६२} ।
 तद्विधिस्तन्निषेधश्च मतो नैवान्यथा गतिः ॥

नैव^{२०६३} सर्वत्र^{२०६४} सर्वज्ञज्ञापकानुपदर्शनम् ।

सिद्धं, तद्दर्शनारोपो^{२०६५} येन तत्र निषिध्यते ।। (त. श्लो. वा.) इति ।

१७२. तदेवमसिद्धं ज्ञापकानुपलम्भनं सर्वज्ञस्य न बाधकमिति सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वमेव^{२०६५} साधकम् । तथा हि—अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वात्, प्रत्यक्षादिवत् । प्रत्यक्षादेस्तावद्विश्वासनिबन्धनं^{२०६६} बाधकासम्भव एव सुनिश्चितः । न ततोऽपरं संवादकत्वं प्रवृत्तिसामर्थ्यमदुष्टकारणजन्यत्वं वा, तस्य तत्रावेश्यं भावादिति प्रत्यक्षादिप्रमाणमुदाहरणम्, वादिप्रतिवादिनोः प्रसिद्धत्वात्, साध्यसाधनधर्माविकलत्वात् । सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणश्च स्यादविद्यमानश्चेति सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकमिदं साधनं न मन्तव्यम्, विपक्षे बाधकसद्भावात् । तथा हि—यदसत्तत्र सुनिश्चितासम्भवाद्वाधकप्रमाणम्, यथा मरीचिकायां तोयं सम्भवद्वाधकप्रमाणम्, मेरुमूर्धनि मोदकादिकं च सन्दिग्धासम्भवद्वाधकम् । सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणश्च सर्वज्ञः । इति प्रकृते सर्वज्ञे सिद्धमपि साधनं यदि सत्तां न साधयेत्तदा दर्शनं^{२०६७} नादर्शनमतिशयीत, अनाश्वासात्, स्वप्नादिविभ्रमवत्, तस्य^{२०६८} सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वस्याभावे सर्वत्र दर्शने दर्शनाभासे च विशेषाभावात् । साधकबाधकप्रमाणाभावात्सर्वज्ञे संशयोस्त्वित्युक्तम्, यस्मात् साधकबाधकप्रमाणयोर्निर्णयाद्^{२०६९} भावाभावयोरविप्रतिपत्तिरनिर्णयादरेका स्यात् । साधकनिर्णयात्तत्सत्तायामविप्रतिपत्तिर्बाधकनिर्णयात्सत्तायाम् । उभयनिर्णयस्तु न सम्भवत्येव^{२०७०} क्वचित्, व्याघातात्, साधकबाधकाभावनिरणयवत् । साधकानिर्णयात्पुनः सत्तायामारेका स्याद्वाधकानिर्णयादसत्तायामिति विपश्चितामभिमतो न्यायः । ततो भवभृतां प्रभौ^{२०७१} सुनिश्चितमसम्भवद्वाधकप्रमाणत्वं सत्तायाः सिद्ध्यत् सुनिश्चितासम्भवत्साधकप्रमाणत्वं व्यावर्त्येव, विरोधात् । नैवमेतत्तत्र सिद्ध्यति, येन सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वस्य व्यावर्तकं स्यात् । ततः सिद्धो भवभृतां प्रभुः सर्वज्ञ एव । न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोऽस्ति यत्र क्रमेत, तत्स्वभावान्तरप्रतिषेधात् ।

(ग्रन्थकारो भवभृतां प्रभोरज्ञत्वस्वभावं निराकृत्य ज्ञस्वभावत्वं साधयति)

१७३. कुतः पुनस्तस्याज्ञत्वलक्षणस्वभावान्तरप्रतिषेधः सिद्धः यतोसौ ज्ञस्वभाव एव स्यात्, सर्वश्चार्थस्तस्य विषयः स्यात्, ततस्तं क्रमेतैव ? इति चेत्, चोदनाबलाद्भूताद्यशेषार्थज्ञानान्यथानुपपत्तेः । सोऽयं 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषान्' (.) इति स्वयं प्रतीयन् सकलार्थज्ञानस्वभावतामात्मनो न प्रत्येतीति कथं स्वस्थः ? तच्च न ज्ञानमात्मनो भिन्नमेव मीमांसकस्य कथञ्चिदभेदोपगमात्, अन्यथा मतान्तरप्रसङ्गात् । ततो नाज्ञस्वभावः पुरुषः क्वचिदपि विषये, सर्वविषये चोदनाज्ञानोत्पत्तेर्विकल्पज्ञानोत्पत्तेर्वा, सर्वत्र तदनुपपत्तौ विधिप्रतिषेधविचाराघटनात् ।

(ज्ञस्वभावत्वे आत्मनः कथं क्वचित्कस्यचिदज्ञानमित्याशङ्कां निराकरोति)

१७४. कथमेवं कस्यचित्क्वचिदज्ञानं स्यात् ? इति चेत्, उच्यते; चेतनस्य सतः सम्बन्ध्यन्तरं मोहोदयकारणं मदिरादिवत् । तत्कुतः सिद्धम् ? विवादाध्यासितो जीवस्य मोहोदयः सम्बन्ध्यन्तरकारणको

मोहोदयत्वान्मदिरादिकारणकमोहोदयवत्, इत्यनुमानात् । यत्सम्बन्ध्यन्तरं तदात्मनो ज्ञानावरणादि कर्मेति । तदभावे साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वं पश्यति, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात् ।

(अज्ञानकारणं ज्ञानावरणं कर्म तदभावे कात्स्न्यतोऽज्ञानाभावे भवतीति प्रतिपादयति)

१७५. कथं पुनर्ज्ञानावरणादिसम्बन्ध्यन्तरस्याभावे साकल्येन विरतमोहः^{२१०६} स्यात्, यतः सर्वमतीतानागतवर्तमानानन्तार्थव्यञ्जनपर्यायात्मकं जीवादितत्त्वं साक्षात्कुर्वीतेति चेत्; इमे ब्रूमहे । यद्यस्मिन् सत्येव भवति तत्तदभावे न भवत्येव । यथाऽग्नेरभावे धूमः । सम्बन्ध्यन्तरे सत्येव भवति चात्मनो व्यामोहः^{२१०८}, तस्मात्तदभावे स न भवतीति निश्चीयते । देशकालतः प्रत्यासन्नमेव पश्येद्विरतव्यामोहोपि सर्वात्मना न पुनर्विप्रकृष्टम्; इत्ययुक्तम्; प्रत्यासत्तेर्ज्ञानाकारणत्वाद्विप्रकर्षस्य चाज्ञानानिबन्धनत्वात्, तद्भावेपि ज्ञानाज्ञानयोरभावान्नयनतारकाञ्जनवच्चन्द्रार्कादिवच्च । योग्यतासद्भावेतराभ्यां ज्ञानाज्ञानयोः क्वचिद्भावे योग्यतेव ज्ञानकारणम्, प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोरकिञ्चित्करत्वात् । सा पुनर्योग्यता देशतः कात्स्न्यतो वा व्यामोहविगमस्तत्प्रतिबन्धिकर्मक्षयोपशमक्षयलक्षण इति साकल्येन विरतव्यामोहः सर्वं पश्यत्येव । तदुक्तम्—

ज्ञौ ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबद्धरि ।^{२१२१}

दाहोऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबद्धरि ॥ ॥ ()

(प्रत्यासत्तिविप्रकर्षवदिन्द्रियमपि न ज्ञानकारणमिति निगदति)

१७६. अत एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनसंस्कृतचक्षुषो यथाऽऽलोकानपेक्षा । अत एव । कुत एव ? साकल्येन विरतव्यामोहत्वादेव सर्वदर्शनादेव वा । यो हि देशतो विरतव्यामोहः किञ्चिदेवास्फुटं पश्यति वा तस्यैवाक्षापेक्षा लक्ष्यते, न तद्विलक्षणस्य प्रक्षीणसकलव्यामोहस्य सर्वदर्शिनः, सर्वज्ञत्वविरोधात् । न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः सम्भवति साक्षात्परम्परया वा ।

(अवधिमनःपर्ययज्ञानिनोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा ? इत्यत्राह)

१७७. ननु चावधिमनःपर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शनयोः कथमक्षानपेक्षा संलक्षणीया ? तदावरणक्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः । न चैवं साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वाऽनैकान्तिकत्वं शङ्कनीयम्, विपक्षेऽक्षापेक्षे मतिश्रुतज्ञाने तदसम्भवात् । अवधिमनःपर्ययज्ञाने तदसम्भवात् पक्षाव्यापकत्वादेतुत्वमिति चेत्; न; सकलप्रत्यक्षस्यैव पक्षत्ववचनात्, तत्र चास्य हेतोः सद्भावात्, विकलप्रत्यक्षस्यावधिमनःपर्ययाख्यस्यापक्षीकरणात् । न चास्मदादिप्रत्यक्षेऽक्षापेक्षोपलक्षणात्सकलवित्प्रत्यक्षेऽपि साऽस्त्येवेति वक्तुं शक्यम्, अञ्जनादिभिरसंस्कृतचक्षुषोऽस्मदादेरालोकापेक्षोपलक्षणात् तत्संस्कृतचक्षुषोऽपि कस्यचिदालोकापेक्षाप्रसङ्गात् । नक्तञ्चराणामालोकापायेऽपि स्पष्टरूपावलोकनप्रसिद्धेर्नालोको नियतं कारणं प्रत्यक्षस्येति चेत्, तर्हि सत्यस्वप्नज्ञानस्येक्षणादिज्ञानस्य च स्पष्टस्य चक्षुराद्यनपेक्षस्य प्रसिद्धेरक्षमपि नियतं प्रत्यक्षकारणं माभूत् । ततो यथाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषामालोकानपेक्षा स्फुटं रूपेक्षणो तथा साकल्येन

विरतव्यामोहस्य सर्वसाक्षात्करणेऽक्षानपेक्षा इति करणक्रमव्यवधानातिवर्तिसकलप्रत्यक्षो भवभृतां गुरुः प्रसिद्धयत्येव ।

(तृतीयकारिकां विस्तरतो वैशद्येन च व्याख्याय पूर्वोक्तमुपसंहरन् चतुर्थकारिकाव्याख्यानस्योत्थानिकामाह)

१७८. यतश्चासौ न देवागमादिविभूतिमत्त्वादध्यात्मं बहिरपि दिव्यसत्यविग्रहादिमहोदयाश्रयत्वाद्वा महान्, नापि तीर्थकृत्वमात्रात् । यतश्च तीर्थच्छेदसम्प्रदायोऽपि वैदिको नियोगभावनादिसम्प्रदायो न संवादकः प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिसम्प्रदायस्तत्त्वोपप्लववादिसम्प्रदायो वा सर्वाप्तवादो वा न प्रमाणभूतो व्यवतिष्ठते, ततः सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणो भगवन् ! भवानेव भवभृतां प्रभुरात्यन्तिकदोषावरणहान्या साक्षात्प्रबुद्धाशेषतत्त्वार्थत्वेन च मुनिभिः सूत्रकारादिभिरभिष्टूयत इति समन्तभद्राचार्यैर्निरूपिते सति कुतस्तावदात्यन्तिकी दोषावरणहानिर्मायि विनिश्चितेति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः—

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषाऽस्त्यतिशायनात् ।

क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

१७९. दोषावरणसामान्ययोर्हानेः प्रसिद्धत्वाद्धर्मित्वं न विरुद्धयते । तत्प्रसिद्धिः पुनरस्मदादिषु देशतो निर्दोषत्वस्य ज्ञानादेश्च कार्यस्य निश्चयाद्धवत्येव, अन्यथा तदनुपपत्तेः । सा क्वचिन्निश्शेषाऽस्तीति साध्यते, वादिप्रतिवादिनोरत्र विप्रतिपत्तेः । अतिशायनादिति हेतुः । क्वचित्कनकपाषाणादौ किट्टकालिकादिबहिरन्तर्मलक्षयो यथेति दृष्टान्तः, प्रसिद्धत्वात् । स हि कनकपाषाणादौ प्रकृष्यमाणो दृष्टो निश्शेषः । तद्दोषावरणहानिरपि प्रकृष्यमाणाऽस्मदादिषु प्रतीता सती क्वचिन्निश्शेषाऽस्तीति सिद्ध्यति । कः पुनर्दोषो नामावरणाद्भिन्नस्वभाव इति चेदुच्यते । वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः । न हि दोष एवावरणमिति प्रतिपादने कारिकायां दोषावरणयोरिति द्विवचनं समर्थम् । ततस्तत्सामर्थ्यादावरणात्पौद्गलिकज्ञानावरणादिकर्मणो भिन्नस्वभाव एवाज्ञानादिर्दोषोऽभ्यूह्यते । तद्धेतुः पुनरावरणं कर्म जीवस्य पूर्वस्वपरिणामश्च । स्वपरिणामहेतुक एवाज्ञानादिरित्ययुक्तम्, तस्य कादाचित्कत्वविरोधाज्जीवत्वादिवत् । परपरिणामहेतुक एवेत्यपि न व्यवतिष्ठते, मुक्तात्मनोपि तत्प्रसङ्गात्, सर्वस्य कार्यस्योपादानसहकारिसामग्रीजन्यतयोपगमात्तथा प्रतीतेश्च । तथा च दोषो जीवस्य स्वपरपरिणामहेतुकः, कार्यत्वान्माषपाकवत् । नन्वेवं निश्शेषावरणहानौ दोषहानेः सामर्थ्यसिद्धत्वादोषहानौ वावरणहानेरन्यतरहानिरेव निश्शेषतः साध्येति चेन्न, दोषावरणयोर्जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थत्वादुभयहानेर्निश्शेषत्वसाधनस्य । दोषो हि तावदज्ञानं ज्ञानावरणस्योदये जीवस्य स्याददर्शनं दर्शनावरणस्य, मिथ्यात्वं दर्शनमोहस्य, विविधमचारित्रमनेकप्रकारचारित्रमोहस्य, अदानशीलत्वादिर्दानाद्यन्तरायस्येति, तथा ज्ञानदर्शनावरणे तत्प्रदोषनिह्वयमात्सर्यान्तरायाऽऽसादनोपघातेभ्यो जीवमास्रवतः, केवलश्रुतसंघर्षमदेवावर्णवादाद्दर्शनमोहः, कषायोदयातीव्रपरिणामाच्चारित्रमोहः, विघ्नकरणादन्तराय इति तत्त्वार्थे प्ररूपणात् । समर्थयिष्यते चायं कार्यकारणभावो दोषावरणयोः “कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः” (आ.मी.९९) इत्यत्र ।

१८०. अथ^{२१७५} दोष एवाविद्यातृष्णालक्षणश्चेतसोऽनादितद्वासनोद्भूतः^{२१७६ २१७७} संसारहेतुर्नावरणं पौद्गलिकम्, तेन^{२१७८} मूर्तिमता चित्तस्यामूर्तस्यावरणायोगादिति वदतो बौद्धान्निराकर्तुमावरणग्रहणम्, मूर्तिमतापि मदिरादिना^{२१७९} चित्तस्यामूर्तस्यावरणदर्शनात्, तत्सम्बन्धाद्विभ्रमसंवेदनात्, अन्यथा तदनुपपत्तेः । मदिरादिनेन्द्रियाण्येवात्रियन्त इति चेन्न, तेषामचेतनत्वे तदावरणासंभवात्, स्थाल्यादिवद्विभ्रमायोगात् । चेतनत्वे^{२१८०} तेषाममूर्तत्वेपि मूर्तिमतावरणमायातमिति प्रायेणान्यत्र चिन्तितम् । ततो दोषहानिवदावरणहानिरपि निश्शेषा क्वचित्साध्या, तदावरणस्य दोषादन्यस्य मूर्तिमतः प्रसिद्धेः । अत एव^{२१८१} लोष्टादौ निश्शेषदोषावरणनिवृत्तेः सिद्धसाध्यतेत्यसमीक्षिताभिधानम्, साध्यापरिज्ञानात् ।

१८१. प्रध्वंसाभावो हि दोषावरणयोः साध्यो न पुनरत्यन्ताभावः, तस्यानिष्टत्वात्,^{२१८२} सदात्मनो^{२१८३} मुक्तिप्रसङ्गात् । नापीतरेतराभावः,^{२१८४} तस्य प्रसिद्धत्वात्, दोषावरणयोरनात्मत्वादात्मनश्चादोषावरणस्वभावत्वात् । प्रागभावोऽपि न साध्यस्तर्तु^{२१८५} एव, प्रागविद्यमानस्य दोषावरणस्य स्वकारणादात्मनि प्रादुर्भावाभ्युपगमात् । न च लोष्टादौ दोषावरणयोः प्रध्वंसाभावः सम्भवति, तस्य भूत्वा अभवनलक्षणत्वात्,^{२१८६} तयोस्तत्रात्यन्तमभावात् । तन्न सिद्धसाध्यता ।

१८२. नन्वेवं दोषावरणयोहनिरतिशायनान्निश्शेषतायां साध्यायां बुद्धेरपि किञ्च परिक्षयः^{२१८७} स्याद्विशेषाभावादतोऽनैकान्तिको^{२१८८} हेतुरित्यशिक्षितलक्षितम्, चेतनादिगुणव्यावृत्तेः^{२१८९} सर्वात्मना^{२१९०} पृथिव्यादेरभिमतत्वात् । ननु च पृथिव्यादौ सर्वात्मना^{२१९१} चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावस्याभावाद्^{२१९२} बुद्धिहान्यानैकान्तिकमेवातिशायनमित्यप्यनवबोधविजृम्भितम्, पृथिव्यादौ पुद्गले पृथिवीकायिकादिभिरात्मभिः शरीरत्वेन गृहीते स्वायुषः क्षयात्त्यक्ते चेतनादिगुणस्य व्यावृत्तेः सर्वात्मना प्रध्वंसाभावरूपत्वेन स्याद्वादिभिरभिमतत्वात्, “न हि स कश्चित्पुद्गलोस्ति यो न जीवैरसकृद्भुक्तोज्झितः” इति वचनात् । प्रसिद्धश्च^{२१९३} पृथिव्यादौ चेतनादिगुणस्याभावः, अनुपलम्भान्यथानुपपत्तेः । अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्युक्तम्,^{२१९४} परचेतन्यनिवृत्तावारेकापत्तेः,^{२१९५} संस्कृतृणां पातकित्वप्रसङ्गात्, बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात् ।

१८३. स्यान्मतं ते,^{२१९६} व्यापारव्याहाराकारविशेषव्यावृत्तिसमयवशात्तद्दृशं^{२१९७} लोको विवेचयति—नास्त्यत्र^{२१९८} मृतशरीरे चैतन्यम्, व्यापारव्याहाराकारविशेषानुपलब्धेः, कार्याविशेषानुपलम्भस्य कारणविशेषाभावाविनाभावित्वात्, चान्दनादिधूमानुपलम्भस्य तत्समर्थचान्दनादिपावकाभावाविनाभावित्ववत् । तथा नास्त्यस्य रोगो ज्वरादिः स्पर्शादिविशेषानुपलब्धेर्भूतग्रहादिर्वा, चेष्टाविशेषानुपलब्धेः । सम्यग्वैद्यशास्त्रभूततन्त्रादिसमयवशादत्यन्ताभ्यस्त-^{२१९९} चैतन्यरोगादिकार्यविशेषाणां लोकानां तद्विवेकोपपत्तिरिति, तदेतत्पृथिव्यादौ सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तावपि^{२२००} समानम्—नास्त्यत्र भस्मादिपृथिव्यादौ पृथिवीचेतनादिगुणः, व्यापारव्याहाराकारविशेषव्यावृत्तेरिति समयवशात्तत्सिद्धान्तविल्लोको विवेचयति ।

१८४. स्यादाकूतं^{२२१२} ते, 'व्यापारादिविशेषस्यानुपलब्धेस्तज्जननसमर्थचेतनादिगुणव्यावृत्तिसिद्धावपि तज्जननासमर्थचेतनादिव्यावृत्त्यसिद्धेर्न सर्वात्मना तद्व्यावृत्तिसिद्धिः' इति, तदसमञ्जसम्, व्यापाराद्यशेषकार्य-जननासमर्थस्य शरीरिणां चेतनादेरसम्भवात्, संभवे वा शरीरित्वविरोधात्। ततः^{२२१४} कार्यविशेषानुपलब्धेः सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेः सिध्यत्येव, मृतशरीरादेः परचैतन्यरोगादिनिवृत्तिवत्।

१८५. यदि पुनरयं^{२२१६} निर्बन्धः सर्वत्र विप्रकर्षिणामभावासिद्धेस्तदा^{२२१५} कृतकत्वधूमादेर्विनाशानलाभ्यां^{२२१६} व्याप्तेरसिद्धेर्न कश्चिद्धेतुः। ततः शौद्धोदनिशिष्यकाणामनात्मनीनमेतत्^{२२१७}, अनुमानोच्छेदप्रसङ्गात्। न हि जैमिनीयमतानुसारिणो विप्रकर्षिणामर्थानामभावासिद्धिमनुमन्यन्ते, वेदे कर्त्रभावासिद्धिप्रसङ्गात्^{२२१८} सर्वज्ञाद्यभावसाधनविरोधाच्च। ते तामनुमन्यमाना वा शौद्धोदनिशिष्यका एव। न चैवामेतदात्मनीनम्, अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वात्, साध्यसाधनयोर्व्याप्त्यसिद्धेः। परोपगमाद् व्याप्तिसिद्धेर्नानुमानोच्छेद इति चेन्न, तस्यापि परोपगमान्तरात्सिद्धावनवस्थाप्रसङ्गात्, तस्यानुमानात्सिद्धौ परस्परश्रयप्रसङ्गात्। प्रसिद्धेनुमाने ततः परोपगमस्य सिद्धिस्तत्सिद्धौ च ततो व्याप्तिसिद्धेरनुमानप्रसिद्धिरिति। ततो न श्रेयानयं निर्बन्धः सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिः पृथिव्यादेर्न सिध्यत्येवेति। तत्प्रसिद्धौ च न बुद्धिहान्या हेतोर्व्यभिचारः तस्याः सपक्षत्वात्। तथा हि—यस्य हानिरतिशयवती तस्य कुतश्चित् सर्वात्मना व्यावृत्तिः, यथा बुद्ध्यादिगुणस्याश्मनः। तथा च दोषादेर्हानिरतिशयवती कुतश्चिन्निवर्तयितुमर्हति सकलकलङ्कमिति कथमकलङ्कसिद्धिर्न भवेत्?

१८६. ननु च यदि प्रध्वंसाभावो हानिस्तदा सा पौद्गलिकस्य ज्ञानावरणादेः कर्मद्रव्यस्य न संभवत्येव नित्यत्वात्, तत्पर्यायस्य तु हानावपि कुतश्चित् पुनः प्रादुर्भावान्न निशेषा हानिः स्यात्। निशेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापि हानिप्रसङ्गः, तस्य तदविनाभावात्। तथा च निरन्वयविनाशसिद्धेरात्मादिद्रव्याभावप्रसङ्ग इति कश्चित्, सोप्यनवबुद्धिसिद्धान्त एव। यस्माद् मणेरमलादेर्व्यावृत्तिः क्षयः, सतोत्यन्तविनाशानुपपत्तेः। तादृगात्मनोपि कर्मणो निवृत्तौ परिशुद्धिः। प्रध्वंसाभावो हि क्षयो हानिरिहाभिप्रेता। सा च व्यावृत्तिरेव मणेः कनकपाषाणाद्वा मलस्य किट्टादेर्वा। न पुनरत्यन्तविनाशः। स हि द्रव्यस्य वा स्यात्पर्यायस्य वा? न तावद् द्रव्यस्य, नित्यत्वात्। नापि पर्यायस्य द्रव्यरूपेण ध्रौव्यात्। तथाहि—विवादापन्नं मण्यादौ मलादि पर्यायार्थतया नश्वरमपि द्रव्यार्थतया ध्रुवं सत्त्वान्यथानुपपत्तेः। शब्देन व्यभिचार इति चेन्न, तस्य द्रव्यतया ध्रौव्याभ्युपगमात्। विद्युत्प्रदीपादिभिरनेकान्त इत्ययुक्तम्, तेषामपि द्रव्यत्वतो ध्रुवत्वात्, क्षणिकैकान्ते सर्वार्थक्रियाविरोधस्याभिधानात्। ततो यादृशी मणेरमलादेर्व्यावृत्तिर्हानिः परिशुद्धिस्तादृशी जीवस्य कर्मणां निवृत्तिर्हानिः। तस्यां च सत्यामात्यन्तिकी शुद्धिः सम्भाव्यते, सकलकर्मपर्यायविनाशेपि कर्मद्रव्यस्याविनाशात्तस्याकर्मपर्यायाक्रान्ततया परिणमनात्, मलद्रव्यस्य मलात्मकपर्यायतया निवृत्तावप्यमलात्मकपर्यायाविष्टतया परिणमनवत्। तदेतेन तुच्छः प्रध्वंसाभावः सर्वत्र प्रत्याख्यातः,

कार्योत्पादस्यैव पूर्वाकारक्षयरूपत्वप्रतीतेः । समर्थयिष्यते चैतत् “कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात्” (आ.मी.)
इत्यत्र^{२२४८} । तेन मणेः कैवल्यमेव मलादेर्वैकल्यम् । कर्मणोपि वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव ततो
नातिप्रसज्यते ।^{२२४९} द्रव्यार्थतया बुद्धेरात्मन्यविनाशात्सर्वात्मना परिक्षयाप्रसङ्गात् । पर्यायार्थतया परिक्षयेपि
सिद्धान्ताविरोधात् ।

१८७. ननु^{२२५०} च यथा कर्मद्रव्यस्य कर्मस्वभावपर्यायनिवृत्तावप्यकर्मात्मकपर्यायरूपतयावस्थानम्, तथात्मनो
बुद्धिपर्यायतयानिवृत्तावप्यबुद्धिपर्यायतयावस्थानात् सिद्धान्तविरोध एवेत्यतिप्रसज्यत इति चेन्न^{२२५१}, वैषम्यात्^{२२५२} ।
कर्मद्रव्यं हि पुद्गलद्रव्यम् । तस्यात्मनि पारतन्त्र्यं कुर्वतः कर्मत्वपरिणामस्तदकुर्वतोऽकर्मत्वपरिणामेनावस्थानम्,
रूपादिमत्त्वसामान्यलक्षणत्वात्पुद्गलद्रव्यस्य कर्मत्वलक्षणत्वाभावादविरुद्धमभिधीयते । बुद्धिद्रव्यं तु जीवः । तस्य
बुद्धिः पर्यायः । तत् सामान्यं लक्षणम्, “उपयोगो लक्षणम्” (त.सू. २.८) इति वचनात् । न च लक्षणाभावे
लक्ष्यमवतिष्ठते,^{२२५४} तस्य तदलक्षणत्वप्रसक्तेर्येनाबुद्धिपर्यायात्मकतयावस्थानं जीवस्य निःशेषतो बुद्धिपरिक्षयेप्य-
विरुद्धं^{२२५६} स्यात् ।

१८८. नन्वेवमज्ञानादेर्दोषस्य पर्यायार्थतया हानिर्निश्शेषा सिध्येदावरणवन्न पुनर्द्रव्यार्थतया बुद्धिवत् ।
ततो दोषसामान्यस्यात्मन्यवस्थानात् निर्दोषत्वसिद्धिरित्यपरः^{२२५८}, सोप्यतत्त्वज्ञ एव, यतः प्रतिपक्ष
एवात्मनामागन्तुको मलः परिक्षयी स्वनिर्हासनिमित्तविवर्धनवशात् ।^{२२५९} द्विविधो ह्यात्मनः परिणामः—
स्वाभाविक आगन्तुकश्च । तत्र स्वाभाविको नन्तज्ञानादिरात्मस्वरूपत्वात् । मलः पुनरज्ञानादिरागन्तुकः,
कर्मोदयनिमित्तकत्वात् । स चात्मनः प्रतिपक्ष एव । ततः परिक्षयी । तथा हि—यो यत्रागन्तुकः^{२२६०}
स तत्र स्वनिर्हासनिमित्तविवर्धनवशात्परिक्षयी । यथा जात्यहेम्नि ताम्रादिमिश्रणकृतः कालिकादिः ।
आगन्तुकश्चात्मन्यज्ञानादिर्मल इति स्वभावहेतुः । न तावदयमसिद्धः । कथम् ? यो^{२२६१} यत्र कादाचित्कः स
तत्रागन्तुकः, यथा स्फटिकाश्मनि लोहिताद्याकारः । कादाचित्कश्चात्मनि दोष इति । न चेदं कादाचित्कत्वमसिद्धम्,
समयज्ञानादिगुणाविर्भावदशायामात्मनि दोषानुपपत्तेः । ततः प्राक् तत्सद्भावाद्गुणाविर्भूतिदशायामपि तिरोहितदोषस्य
सद्भावात् कादाचित्कत्वम्, सातत्यसिद्धिरिति चेन्न^{२२६२}, गुणस्याप्येव^{२२६३} सातत्यप्रसङ्गात् । तथा च
हिरण्यगर्भदेर्वेदार्थज्ञानकालेपि वेदार्थज्ञानप्रसङ्गः । ज्ञानाज्ञानयोः परस्परविरुद्धत्वादेकत्रैकदा न प्रसङ्ग इति चेत्तत्
एव सकलगुणदोषयोरेकत्रैकदा प्रसङ्गो मा भूत् । पुनर्दोषस्याविर्भावदर्शनाद्गुणकालेपि सत्तामात्रसिद्धिरिति चेत्तर्हि
गुणस्यापि पुनराविर्भूतिदर्शनाद्दोषकालेपि सत्तामात्रसिद्धिरस्तु,^{२२६४} सर्वथा विशेषाभावात् । तथा चात्मनो
दोषस्वभावत्वसिद्धिवद्गुणस्वभावत्वसिद्धिः कुतो निवार्येत ? विरोधादिति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिरेव निवार्यताम्,
तस्य गुणस्वभावत्वसिद्धेः । कुतः सति चेद्दोषस्वभावत्वसिद्धिः कुतः ? संसारित्वान्यथानुपपत्तेः,^{२२६५} इति चेत्,
तत्संसारित्वं सर्वस्यात्मनो यद्यनाद्यनन्तं तदा प्रतिवादिनोऽसिद्धम्, प्रमाणतो मुक्तिसिद्धेः । कुत इति चेदिमे
प्रवदामः—क्वचिदात्मनि संसारोत्पन्नं निवर्तते,^{२२६६} तत्कारणात्यन्तनिवृत्त्यन्यथानुपपत्तेः । संसारकारणं हि
मिथ्यादर्शनादिकमुभयप्रसिद्धं^{२२६७} क्वचिदत्यन्तं निवृत्तिमत्, तद्विरोधिसम्यग्दर्शनादिपरमप्रकर्षसद्भावात् । यत्र

यद्विरोधिपरप्रकर्षसद्भावस्तत्र तदत्यन्तं निवृत्तिमद्भवति, यथा चक्षुषि तिमिरादिः । नेदमुदाहरणं साध्यसाधनधर्मविकलम्, कस्यचिच्चक्षुषि तिमिरादेरत्यन्तनिवृत्तिमत्वप्रसिद्धेस्तद्विरोधिविशिष्टाञ्जनादिपरम-^{२२८४} प्रकर्षसद्भावसिद्धेश्च निर्विवादत्वात् ।

१८९. कथं मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि निश्चीयते, इति चेत्,^{२२८५} तत्प्रकर्षे^{२२८६} तदपकर्षदर्शनात् । यद्धि प्रकृष्यमाणं यदपकर्षति तत् तद्विरोधि सिद्धम् । यथोष्णस्पर्शः प्रकृष्यमाणः शीतस्पर्शमपकर्षस्तद्विरोधी । मिथ्यादर्शनादिकमपकर्षति च प्रकृष्यमाणं क्वचित्सम्यग्दर्शनादि तत् तद्विरोधि । कथं पुनः सम्यग्दर्शनादेः क्वचित्परमप्रकर्षसद्भावः सिद्धः, इति चेत्, प्रकृष्यमाणत्वात्^{२२८७} । यद्धि प्रकृष्यमाणं तत् क्वचित्परमप्रकर्षसद्भाव-^{२२८८} भागदृष्टम्, यथा नभसि परिमाणम्, प्रकृष्यमाणं च सम्यग्दर्शनादि, तस्मात्परमप्रकर्षसद्भावभाक् । परत्वापरत्वाभ्यां व्यभिचार इति चेत्; न; तयोरपि सपर्यन्तजगद्वादिनां परमप्रकर्षसद्भावभाक्त्वसिद्धेः । न चापर्यन्तं जगदिति वक्तुं शक्यम्, विशिष्टसन्निवेशत्वात्पर्वतवत् । यत्पुनरपर्यन्तं तत्र विशिष्टसन्निवेशं सिद्धम्, यथा व्योम, विशिष्टसन्निवेशं च जगत् तस्मात्सर्वतः सपर्यन्तमिति निगदितमन्यत्र । संसारेणानेकान्त इति चेन्न, तस्याप्यभ्यव्ययीवेषु^{२२९०} परमप्रकर्षसद्भावसिद्धौ प्रकृष्यमाणत्वेन प्रतीतेः । एतेन मिथ्यादर्शनादिभिर्व्यभिचार प्रत्याख्यातः, तेषामप्यभ्यव्येषु परमप्रकर्षसद्भावात् । ततो नानैकान्तिकं प्रकृष्यमाणत्वं परमप्रकर्षसद्भावे साध्ये । नापि विरुद्धम्, सर्वथा विपक्षाद्व्यावृत्तेः । इति क्वचिन्न मिथ्यादर्शनादिविरोधि सम्यग्दर्शनादि परमप्रकर्षसद्भावं साधयति । स च सिध्यन्मिथ्यादर्शनादेरत्यन्तनिवृत्तिं गमयति । सा च गम्यमाना स्वकार्यसंसारात्यन्तनिवृत्तिं निश्चाययति । यासौ संसारस्यात्यन्तनिवृत्तिः सा मुक्तिरिति । तदन्यथानुपपत्तेरात्मनो ज्ञानादिगुणस्वभावत्वसिद्धेर्न दोषस्वभावत्वसिद्धिः, विरोधात् । प्रसिद्धायां क्वचिदात्मनि निःश्रेयसभाजि गुणस्वभावतायामभ्यव्यादावपि तन्निर्णयः, जीवस्यान्यथानुपपत्तेः । प्रसिद्धे च सर्वस्मिन्नात्मनि ज्ञानादिगुणस्वभावत्वे दोषस्वभावत्वासिद्धेः । सिद्धं दोषस्य कादाचित्कत्वमागन्तुकत्वं साधयति । ततः स एव परिक्षयी स्वनिर्हासनिमित्तविवर्द्धनवशादिति सुस्पष्टमाभाति, दोषनिर्हासनिमित्तस्य सम्यग्दर्शनादेर्विवर्द्धनप्रसाधनात् । इत्यावरणस्य द्रव्यकर्मणो दोषस्य च भावकर्मणो भूभूत इव महतोत्यन्तनिवृत्तिसिद्धेः कर्मभूभूतां भेत्ता मोक्षमार्गस्य प्रणेता स्तोतव्यः समवतिष्ठते विश्वतत्त्वानां ज्ञाता च ।

१९०. ननु निरस्तोपद्रवः सन्नात्मा कथमकलङ्कोपि विप्रकर्षिणमर्थं प्रत्यक्षीकुर्यात् । न हि नयनं निरस्तोपद्रवं विगलिततिमिरादिकलङ्कपटलमपि देशकालस्वभावविप्रकर्षभाजमर्थं प्रत्यक्षीकुर्वत् प्रतीतम्, स्वयोग्यस्यैवार्थस्य तेन प्रत्यक्षीकरणदर्शनात् । निरस्तग्रहोपरागाद्युपद्रवोपि दिवसकरः प्रतिहतधनपटलकलङ्कश्च स्वयोग्यानेव वर्तमानानर्थान् प्रकाशयन्नुपलब्धो नातीतानागतानर्थानयोग्यानि निति जीवोपि निरस्तरागादिभावकर्मोपद्रवः सन् विगलितज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मात्मककलङ्कोऽपि च कथं विप्रकृष्टमर्थमशेषं प्रत्यक्षीकर्तुं प्रभुः ? मुक्तात्मा भवन्नपि न चोदनाप्रामाण्यप्रतिबन्धविधायी, धर्मादौ तस्या एव प्रामाण्यप्रसिद्धेत्, मुक्तात्मनस्तत्राप्रमाणत्वात्, तस्यानन्दादिस्वभावपरिणामेपि धर्मज्ञत्वाभावादप्रतिषेध्यत्वात् । तदुक्तम्—

धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु

केवलोऽत्रोपयुज्यते ।

सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥१॥" ()

इति वदन्तमिव स्तोतुः^{२३१३} प्रज्ञातिशयचिकीर्षया भगवन्तं प्रत्याहुः^{२३१४}—

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

१९१. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकर्षिणोर्थाः परमाण्वादयः, अन्तरिताः कालविप्रकर्षिणो रामादयः, दूरास्तु देशविप्रकर्षिणो हिमवदादयस्ते कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, यथाऽग्न्यादिः, इत्येवं सर्वज्ञस्य सम्यक् स्थितिः स्यात् ।

१९२. अथ^{२३१७} मतमेतत्—‘सूक्ष्मादयोर्था यथाभूताः^{२३१८} कस्यचित्प्रत्यक्षा दृष्टास्तथाभूता एव^{२३१९} तथानुमेयत्वेन साध्यन्तेऽन्यथाभूता वा ? यथाभूताश्चेत्सिद्धसाध्यता, सूक्ष्माणां सहस्रधा भिन्नकेशाग्रादीनामन्तरितानां च प्रपितामहादीनां दूरार्थानां च हिमवदादीनां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रसिद्धेः । अन्यथाभूतानां तु कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासाधने-ऽनुमेयत्वादित्यप्रयोजको हेतुः, क्षमाधरादीनां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्वादिवत् । धर्म्यसिद्धिश्च, परमाण्वादीनामप्रसिद्धत्वात्’ इति, तदयुक्तम्, विवादाध्यासितानां सूक्ष्माद्यर्थानां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन साध्यत्वादप्रसिद्धं साध्यमिति वचनात् । धर्मादयोऽपि^{२३२३} कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन वादिप्रतिवादिनोर्विवादापन्नास्तत एव^{२३२४} कस्यचित्प्रत्यक्षा इति साधयितुं युक्ता न पुनरन्ये । न चैवं^{२३२५} धर्म्यसिद्धिः, धर्मादीनामसर्वज्ञवादिनोपि याज्ञिकस्य^{२३२६} सिद्धत्वात् । नन्वेवं भूधरादीनां धीमद्धेतुकतया विवादापन्नानां तथा साध्यत्वे कथमप्रयोजको हेतुः, सन्निवेशविशिष्टत्वादिति, चेत्, स्वभावभेदात् । यादृशमभिनवभवनादिषु सन्निवेशविशिष्टत्वमक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्ध्युत्पादकं धीमद्धेतुत्वमेव व्याप्तं प्रतिपन्नम्, तादृशमेव जीर्णप्रासादादिषूपलभ्यमानं धीमद्धेतुत्वस्य प्रयोजकं स्यान्नान्यादृशं भूधरादिषु प्रतीयमानमकृतबुद्ध्युत्पादकमिति स्वयं मीमांसकैरभिधानात् । नैवमनुमेयत्वम्, तस्य स्वभावभेदाभावात् । न हि साध्याविनाभावनियमनिश्चयैकलक्षणलिङ्गजनितज्ञानविषयत्वमनुमेयत्वमग्न्यादौ^{२३२७} धर्मादौ च लिङ्गिनि भिद्यते, येन किञ्चित्^{२३२८} प्रयोजकमपरमप्रयोजकमिति विभागोऽवतरेत् । स्वभावकालदेशविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यनुमानमुत्सारयति, यावान् कश्चिद्भावः स सर्वः क्षणिक इत्यादिव्याप्तेरसिद्धौ प्रकृतोपसंहारायोगादविप्रकर्षिणामनुमितेरानर्थक्यात् । सत्त्वादेरनित्यत्वादिना^{२३२९} व्याप्तिमिच्छतां सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्व्याहतं पश्यामः ।

१९३. स्यान्मतम्—‘केचिदार्थाः प्रत्यक्षाः, यथा घटादयः, केचिदनुमेयाः कदाचित् क्वचित्^{२३३०} प्रत्यक्षप्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गाः, केचिदागममात्रगम्याः सर्वदा स्वभावादिविप्रकर्षिणो धर्मादयः, तेषां सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिगोचरत्वायोगात् । तदुक्तम्—

सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् ।

केवलागमगम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोः ॥ () इति ।

१९४. ततो धर्मादीनामनुमेयत्वमसिद्धमुद्भावयन्नपि नानुमानमुत्सारयति, तस्यानुमेयेथे व्यवस्थानात् ।' इति; तदसत्, धर्मादीनामप्यनित्यत्वादस्वभावतयानुमेयत्वोपपत्तेः । यथा हि—यावान्कश्चिद्भावः पर्यायाख्यः स सर्वोऽनेकक्षणस्थायितया क्षणिकः, यथा घटस्तथा च धर्मादिरिति मीमांसकैरपि कुतश्चित् पर्यायत्वादेरनित्यत्वेन व्याप्तिः साधनीया, तदसिद्धौ प्रकृतेऽपि धर्मादौ, पर्यायश्च धर्मादिरित्युपसंहारायोगात् । कथं चायं स्वभावादिविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमभिधानः सुखादीनामविप्रकर्षिणामनुमितेरानर्थक्यं परिहरेत् ? शश्वदविप्रकर्षिणामनुमितेरनिष्टेरदोष इति चेत्, क्व पुनरियमनुमितिः स्यात् ? कदाचिदविप्रकर्षिणामन्यदा देशादिविप्रकर्षणानां प्रतिपन्नाविनाभाविलिङ्गानामनुमिति रिति चेत्, कथमेवं शश्वदप्रत्यक्षाया बुद्धेरनुमानं यत इदं शोभेत ? 'ज्ञाते त्वर्थेनुमानादवगच्छति बुद्धिम्' इति । अर्थापत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तेरदोष इति चेत्, धर्मादिप्रतिपत्तिरपि तत एवास्तु । यथैव हि बहिरर्थपरिच्छित्यन्यथानुपपत्तेर्बुद्धिप्रतिपत्तिस्तथा श्रेयःप्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्त्या धर्माधर्मादिप्रतिपत्तिरपि युक्ता भवितुम् । श्रेयःप्रत्यवायादेरन्यथाप्युपपत्तेः क्षीणार्थापत्तिरिति चेन्न, तदुत्पत्तौ दृष्टकारणव्यभिचाराददृष्टकारणप्रतिपत्तेः, रूपादिज्ञानादिन्द्रियशक्तिप्रतिपत्तिवत् । न चार्थापत्तिरनुमानादन्यैव, अनुमानस्यैवार्थापत्तिरिति नामकरणात् । ततो बुद्ध्यादेः शश्वद्विप्रकर्षिणोनुमेयत्वमसिद्धौ धर्मादेरपि तत्सिद्धिः ।

१९५. ये तु ताथागतादयः सत्त्वकृतकत्वादेरनित्यत्वादिना व्याप्तिमिच्छन्ति, तेषां सिद्धमनुमेयत्वमनवयवेनेति न किञ्चिद्व्याहतमसर्वज्ञवादिनां सर्वज्ञवादिनां च, स्वभावादिविप्रकर्षेणैष्वनुमेयत्वव्यवस्थितेः ।

१९६. एतेनात्यन्तपरोक्षेणैष्वनुमेयत्वाभावाद्भागासिद्धमनुमेयत्वमित्येतदपि प्रत्याख्यातम्, तेषामपि कथञ्चिदनेकान्तात्मकत्वादस्वभावतयानुमेयत्वमसिद्धेः । अथवानुमेयत्वं श्रुतज्ञानादिगम्यत्वं हेतुः, मतेरनुपश्रान्मीयमानत्वाद्, अनुमेयाः सूक्ष्मादयोर्था इति व्याख्यानान्मतिपूर्वज्ञानस्य श्रुतत्वात्, "श्रुतं मतिपूर्वम्" (त.सू. १.२०) इति वचनात् । न चैतदसिद्धं प्रतिवादिनोपि सर्वस्य श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वोपगमात् । 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलम् () इति स्वयमभिधानात् । तदुक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

सूक्ष्माद्यर्थोपि चाध्यक्षः कस्यचित्सकलः स्फुटम् ।

श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वान्नदीद्वीपादिदेशवत् ॥

न हेतोः सर्वथैकान्तैरनेकान्तः कथञ्चन ।

श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वात्तेषां दृष्टेष्टबाधनात् ॥

स्थानत्रयाविसंवादि श्रुतज्ञानं हि वक्ष्यते ।

तेनाधिगम्यमानत्वं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि ॥ इति ॥

१९७. ततोनुमेयाः सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः सिद्धा एव । तेऽनुमेया न कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च स्युः, किं व्याहन्यते ? इति समानमग्न्यादीनाम् । अग्न्यादयोनुमेयाः स्युः कस्यचित्प्रत्यक्षाश्च न स्युरिति । तथा चानुमानोच्छेदः स्यात्, सर्वानुमानेषूपालम्भस्य समानत्वात् । शक्यं हि वक्तुं धूमश्च क्वचित्स्यादग्निश्च न

स्यादिति । तदभ्युपगमेऽस्वसंवेद्यविज्ञानव्यक्तिभिरध्यक्षं किं लक्ष्येत प्रमाणतया परमप्रमाणतयेति न
 किञ्चिदेतत् तथा नैतत्तया वा अयमभ्युपगन्तुमर्हति । प्रत्यक्षं प्रमाणमविसंवादित्वादनुमानादिकमप्रमाणम्,
 विसंवादित्वादिति लक्ष्यतोनुमानस्य बलाद् व्यवस्थितेन प्रत्यक्षमेकमेव प्रमाणमिति व्यवतिष्ठते ।
 ततोनुमानमिच्छता याज्ञिकेनेव लौकायतिनेनापि प्रसिद्धाविनाभावनियमनिश्चयलक्षणादनुमेयत्वहेतोः सूक्ष्माद्यर्थानां
 कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसिद्धिरेषितव्या ।

१९८. स्यान्मतम्—बाधितविषयोयं हेतुरनुमानेन पक्षस्य बाधनात् । तथाहि—न कश्चित् सूक्ष्माद्यर्थ-
 साक्षात्कारी, प्रमेयत्वात् सत्त्वाद्वस्तुत्वादस्मदादिवत् । न चेदं साधनमसिद्धं व्यभिचारि वा, प्रत्यक्षाद्यविसंवादि-
 त्वात् । तदुक्तम्—

प्रत्यक्षाद्यविसंवादि प्रमेयत्वादि यस्य तु ।
 सद्भाववारणे शक्तं को नु तं कल्पयिष्यति ।। () इति ।

१९९. तदप्यसम्यक्, तत् एव कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारित्वसिद्धेः । सूक्ष्माद्यर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः
 प्रमेयत्वात्सत्त्वाद्वस्तुत्वाद्वा स्फटिकादिवत् । अनुमेयेनात्यन्तपरोक्षेण चार्थेन व्यभिचार इति चेन्न, तस्य
 पक्षीकरणात् । तदेवं प्रमेयत्वसत्त्वादिर्यत्र हेतुलक्षणं पुष्पाति, तं कथं चेतनः प्रतिषेद्धुमर्हति संशयितुं वा ।
 सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणस्तस्यैव सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वादस्तित्वसिद्धेरबाधितविषयत्वस्यापि
 परोपगतहेतुलक्षणस्य प्रकृतहेतोः पोषणात् ।

२००. ननु च सर्वज्ञस्यास्तित्वे साध्ये सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वं हेतुः सर्वज्ञभावधर्मश्चेदसिद्धः । को
 हि नाम सर्वज्ञभावधर्मं हेतुमिच्छन् सर्वज्ञमेव नेच्छेत् ? सर्वज्ञभावधर्मश्चेद्विरुद्धः, ततः सर्वज्ञनास्तित्वस्यैव सिद्धेः ।
 सर्वज्ञभावाभावधर्मश्चेद्व्यभिचारी, सपक्षविपक्षयोर्वृतेः । तदुक्तम्—

असिद्धो भावधर्मश्चेद्व्यभिचार्युभयाश्रयः ।

विरुद्धो धर्मोऽभावस्य स सत्तां साधयेत् कथम् ।। () इति ।

धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणामसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वात् कथं सकलविदि
 सत्त्वसिद्धिरिति ब्रुवन्नपि देवानांप्रियस्तद्धर्मिस्वभावं न लक्षयति । स हि तावदेवं सौगतमतमाश्रित्य ब्रुवाणः
 प्रष्टव्यः—शब्दानित्यत्वसाधनेपि कृतकत्वादावयं विकल्पः किं न स्यादिति । शक्यं हि वक्तुम्,
 कृतकत्वादिहेतुर्यद्यनित्यशब्दधर्मस्तदाऽसिद्धः । को हि नामानित्यशब्दधर्मं हेतुमिच्छन्ननित्यशब्दमेव नेच्छेत् ? अथ
 नित्यशब्दधर्मस्तदा विरुद्धः, साध्यविरुद्धसाधनात् । अथोभयधर्मस्तदा व्यभिचारी, सपक्षेतरयोर्वर्तमानात् । इति
 सर्वानुमानोच्छेदः, क्वचित्पावकादौ साध्ये धूमवत्त्वादावपि विकल्पस्यास्य समानत्वात् ।

२०१. विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशधर्मिधर्मत्वे कार्यत्वादेरसंभवद्वाधकत्वादेरपि सन्दिग्धसद्भाव-
 धर्मिधर्मत्वं सिद्धं बोद्धव्यम् ।

२०२. ननु च शब्दादेर्धर्मिण शब्दत्वादिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धानित्यत्वादिसाध्यधर्मकस्य धर्मो हेतुः कृतकत्वादिरिति युक्तम्, सर्वथाप्यसिद्धसत्ताकस्य तु सर्वज्ञस्य कथं विवादापन्नसद्भावधर्मकस्य धर्मो हेतुरसंभवद्वाधकत्वादिर्युज्यते, 'प्रसिद्धो धर्मी, अप्रसिद्धधर्मविशेषणविशिष्टतया स्वयं साध्यत्वेनेप्सितः पक्षः' () इति वचनात्, कथञ्चिदप्यप्रसिद्धस्य धर्मित्वायोगादिति कश्चित्; सोपि यदि सकलदेशकालवर्तिनं शब्दं धर्मिणमाचक्षीत तदा कथं प्रसिद्धो धर्मीति ब्रूयात्, तस्याप्रसिद्धत्वात्। परोपगमात् सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मीति चेत्, स्वाभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मी किन्न भवेद्धेतुधर्मवत्। परं प्रति समर्थित एव हेतुधर्मः साध्यसाधन इति चेत्, धर्म्यपि परं प्रति समर्थित एवास्तु विशेषाभावात्।

२०३. किञ्च, सर्वथा प्रसिद्धसत्ताको धर्मी कथञ्चिद्वा? सर्वथा चेच्छब्दादिरपि धर्मी न स्यात्, तस्याप्रसिद्ध-साध्यधर्मोपाधिसत्ताकत्वात्। कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकः शब्दादिर्धर्मीति चेत्, सर्वज्ञः कथं धर्मी न स्यात्? प्रसिद्धात्मकत्वादिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य च धर्मिणोभ्युपगमे सर्वथा नाप्रसिद्धसत्ताकत्वम्, कथञ्चित्प्रसिद्धसत्ताकत्वात्। स्याद्वादिनो हि कश्चिदात्मा सर्वज्ञोस्तीति पक्षप्रयोगमाचक्षते नान्यथा। ततोयमुपालभमानो धर्मिस्वभावं न लक्षयत्येव, प्रकृतानुमाने सर्वज्ञस्य धर्मित्वावचनाच्च। सूक्ष्माद्यर्था एव ह्यत्र धर्मिणः प्रयुक्तास्तावत् प्रसिद्धसत्ताका एव, परमाण्वादीनामपि प्रमाणप्रसिद्धत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्।

२०४. ननु सूक्ष्मादयोऽर्थाः किमिन्द्रियप्रत्यक्षेण कस्यचित्प्रत्यक्षाः साध्या उतातीन्द्रियप्रत्यक्षेण? प्रथमविकल्पेऽनुमानविरुद्धः पक्षः सूक्ष्माद्यर्था न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयाः सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहितत्वात्। ये तु कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषयास्ते न सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिता दृष्टाः, यथा घटादयः, सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहिताश्च सूक्ष्माद्यर्थास्तस्मान्न कस्यचिदिन्द्रियज्ञानविषया' इति केवलव्यतिरेकिणानुमानेन बाध्यमानत्वात्। न च सर्वथेन्द्रियसम्बन्धरहितत्वमसिद्धम्, साक्षात्परमाणुधर्मादीनामिन्द्रियसम्बन्धाभावात्। तथा हि—न कस्यचिदिन्द्रियं साक्षात्परमाण्वादिभिः सम्बध्यते, इन्द्रियत्वात्, अस्मदादीन्द्रियवत्। योगजधर्मानुगृहीतमिन्द्रियं योगिनस्तैः साक्षात्सम्बध्यते इति चेत्, कोयमिन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहो नाम? स्वविषये प्रवर्तमानस्यातिशयाधानमिति चेत्तदसंभव एव, परमाण्वादौ स्वयमिन्द्रियस्य प्रवर्तनाभावात्। प्रवर्तने वा योगजधर्मानुग्रहस्य वैयर्थ्यात्। तत एवेन्द्रियस्य परमाण्वादिषु प्रवृत्तौ परस्पराश्रयप्रसङ्गः। सतीन्द्रियस्य योगजधर्मानुग्रहे परमाण्वादिषु प्रवृत्तिः सत्यां च तस्यां योगजधर्मानुग्रह इति। परमाण्वादिष्विन्द्रियस्य प्रवृत्तौ सहकारित्वं योगजधर्मानुग्रहस्य, इति चेन्न, स्वविषयातिक्रमेण तस्य तत्र तदनुग्रहायोगात्, अन्यथा कस्यचिदेकस्येन्द्रियस्य सकलरसादिषु प्रवृत्तौ तदनुग्रहप्रसङ्गात्। दृष्टविरोधान्नैवमिति चेत्, समानमन्यत्र। यथैव हि चक्षुरादीनि प्रतिनियतरूपादिविषयाणि दृष्टानि नाप्रतिनियतसकलरूपादिविषयाणि, तथोपलब्धिलक्षणप्राप्तानि महत्त्वोपेतानि पृथिव्यादिद्रव्याणि तत्समवेतरूपादीनि चक्षुरादीन्द्रियगोचरतया प्रसिद्धानि, न पुनः परमाण्वादीनि। अथ समाधिविशेषोत्थधर्ममाहात्म्याद् दृष्टातिक्रमेण परमाण्वादिषु

चक्षुरादीनि प्रवर्तन्ते, न पुना रसादिष्वेकमिन्द्रियम्, ^{२४८७} इति न किञ्चिद्विशेषव्यवस्थानिबन्धनमन्यत्र जाड्यात् ।

२०५. एतेन ^{२४८८} परम्परया परमाणुरूपादिष्विन्द्रियसम्बन्धः प्रतिध्वस्तः, संयोगाभावे संयुक्तसमवा-
यादीनामसंभवात् । श्रोत्रे सकलशब्दसमवायासंभवे शब्दत्वेन समवेतसमवायासंभववत् ।

२०६. यदि ^{२४८९} पुनरेकमेवान्तःकरणं योगजधर्मानुगृहीतं युगपत्सकलसूक्ष्माद्यर्थविषयमिष्यते, तदापि ^{२४९०} दृष्टातिक्रमे
एव, मनसो युगपदनेकत्र विषये प्रवृत्त्यदर्शनात् । तत्र ^{२४९१} दृष्टातिक्रमेष्टौ वा स्वयमात्मैव समाधिविशेषोत्थधर्म-
विशेषवशादन्तःकरणनिरपेक्षः साक्षात् सूक्ष्माद्यर्थान् पश्यतु, किमिन्द्रियेणेवान्तःकरणेन ? तथा च नेन्द्रियजज्ञानेन
कस्यचित्प्रत्यक्षाः सूक्ष्माद्यर्थाः संभाव्यन्ते ।

२०७. अतीन्द्रियप्रत्यक्षेण ^{२४९२} कस्यचित्प्रत्यक्षाः साध्यन्ते इति चेत्, ^{२४९३} अप्रसिद्धविशेषणः पक्षः,
^{२४९४} क्वचिदतीन्द्रियज्ञानप्रत्यक्षत्वस्याप्रसिद्धेः सांख्यं प्रति विनाशी शब्द इत्यादिवत् । साध्यशून्यश्च ^{२४९५} दृष्टान्तः
स्यादग्न्यादेरतीन्द्रियप्रत्यक्षविषयत्वाभावात्, इति केचित् ।

२०८. तेपि न सम्यग्वादिनः, सूक्ष्माद्यर्थानामिन्द्रियजप्रत्यक्षेण ^{२४९६} कस्यचित्प्रत्यक्षत्वासाधनात्तत्पक्षनिक्षिप्त-
दोषानवतारात् । तथा साध्यतां ^{२४९७} स्याद्वादिभिरपि तद्दोषसमर्थनात् । नाप्यतीन्द्रियप्रत्यक्षेण ^{२४९८} कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं
साध्यते, येनाप्रसिद्धविशेषणः पक्षः साध्यशून्यश्च ^{२४९९} दृष्टान्तः स्यात्, प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्व-
साधनात् । प्रसिद्धे च सूक्ष्माद्यर्थानां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे सर्वज्ञत्वस्य सम्यक्स्थित्युपपत्तेस्तत्प्रत्यक्ष-
स्येन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वं सिध्यत्येव । तथा हि—योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम्, सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वात्,
यत्रेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं तत्र ^{२५००} सूक्ष्माद्यर्थविषयं दृष्टम्, यथास्मदादिप्रत्यक्षम्, सूक्ष्माद्यर्थविषयं च योगिप्रत्यक्षं
प्रसिद्धम्, तस्मादिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम् । नावधिमनःपर्ययप्रत्यक्षाभ्यां हेतुर्व्यभिचारी, तयोरपीन्द्रियानिन्द्रिया-
नपेक्षत्वसिद्धेः ।

२०९. ननु ^{२५०१} च कस्येदं सूक्ष्माद्यर्थप्रत्यक्षत्वं साध्यते ? अर्हतोऽनर्हतः ^{२५०२} सामान्यात्मनो वा ? यदि
विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्वमर्हतः ^{२५०३} साध्यते, पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् । अत एव ^{२५०४} व्याप्तिर्न सिद्ध्येत् ।
अनर्हतश्चेदनिष्ठानुषङ्गोपि । कः पुनः ^{२५०५} सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम् ?
इत्येतद्विकल्पजालं ^{२५०६} शब्दनित्यत्वेपि समानम्, न केवलं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशीतौ वा ।
तदयमनुमानमुद्रां ^{२५०७} भिनत्ति । न कश्चित्सूक्ष्मादिसाक्षात्कारी, पुरुषत्वादेः, रथ्यापुरुषवत् । विवादापन्नः पुरुषः
सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वेन ^{२५०८} संशयित एव, विप्रकृष्टस्वभावत्वात्, पिशाचादिवत् । इति सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य
प्रतिषेधने संशीतौ वा ^{२५०९} तावदिदं विकल्पजालं समानं सिद्धमेव । स हि तत्र प्रतिषेधं संशयं वा साधयन् किमर्हतः
साधयेदनर्हतः ^{२५१०} सामान्यात्मनो वा ? अर्हतश्चेदप्रसिद्धविशेषणः पक्षो व्याप्तिश्च न सिद्ध्येत्, दृष्टान्तस्य
साध्यशून्यतानुषङ्गात् । अनर्हतश्चेत् ^{२५११} स एव दोषो बुद्धादेः परस्यासिद्धेरनिष्ठानुषङ्गश्च,
अर्हतस्तत्प्रत्यक्षत्वविघ्नाननिश्चयात् । कः पुनः ^{२५१२} सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यस्य विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्व-

प्रतिषेधसंशयौ साध्येते ? इति । ^{२५२६}तद्वच्छब्दनित्यत्वसाधनेपि समानमेतद्विकल्पजालम् । तथाहि— ^{२५२७}अयं शब्दानां नित्यत्वं साधयन् सर्वगतानां साधयेदसर्वगतानां वा सामान्यात्मनां वा ? वर्णानां नित्यत्वमकृतकत्वादिना सर्वगतानां यदि साधयति स्यादप्रसिद्धविशेषणः ^{२५२८}पक्षः, ^{२५२९}इतरथानिष्ठानुषङ्गः । ^{२५३०}कीदृक् पुनः सामान्यं नाम ^{२५३१}यदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतत्वसाधनेपि ^{२५३२}समानम् । तद्वि ^{२५३३}वर्णानाममूर्तानां साधयेन्मूर्तानां तदुभयसामान्यात्मनां वा ? यद्यमूर्तानां ^{२५३४}सर्वगतत्वं साधयेत्तदाऽप्रसिद्धविशेषणता पक्षस्य । अथ मूर्तानामनिष्ठानुषङ्गः । ^{२५३५}कीदृक् पुनः सामान्यं नाम ^{२५३६}यदुभयदोषप्रसङ्गपरिहाराय कल्प्येत ? सर्वगतेतरसामान्यात्मन इव मूर्तेतरसामान्यात्मनोऽसम्भवाद्वर्णेषु । तदयमनुमानमुद्रां सर्वत्र भिनति, इति नानुमानविचारणायामधिकृतः स्यात् । ^{२५३७}अविवक्षितविशेषस्य ^{२५३८}पक्षीकरणे ^{२५३९}समः समाधिरित्यलमप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघैः । यथैव हि शब्दस्याविवक्षितसर्वगतत्वासर्वगतत्वविशेषस्याकृतकत्वादिहेतुना नित्यत्वे साध्ये न कश्चिद् दोषः स्यात् । नाप्यविवक्षितामूर्तत्वेतरविशेषस्य ^{२५४०}सर्वत्रोपलभ्यमानगुणत्वादिनां ^{२५४१}सर्वगतत्वे, तथैवाविवक्षितार्हदन्तर्द्विशेषस्य कस्यचित्पुरुषस्य ^{२५४२}विप्रकृष्टार्थसाक्षात्करणेपि ^{२५४३}साध्येऽनुमेयत्वादिहेतुना न ^{२५४४}कश्चिदोषं ^{२५४५}पश्यामोन्यत्राप्रतिष्ठितमिथ्याविकल्पौघेभ्यः ^{२५४६}प्रकृतसाधनाप्रतिबन्धिभ्यः, ^{२५४७}तेषामप्रतिष्ठितत्वात्, ^{२५४८}साधनाभासे इव ^{२५४९}सम्यक्साधनेपि ^{२५५०}स्वाविषयेवतारात् । ततो निरवद्यमिदं साधनं कस्यचित्सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वं साधयति ।

२१०. नन्वस्तु नामैवं कस्यचित्कर्मभूभृद्वेदित्वमिव विश्वतत्त्वसाक्षात्कारित्वम्, प्रमाणसद्भावात् । स तु परमात्माऽर्हन्नेवेति कथं निश्चयो यतोहमेव महानभिवन्द्यो भवतामिति ^{२५५१}व्यवसितोभ्यनुज्ञानपुरस्सरं ^{२५५२}भगवतो विशेष-सर्वज्ञत्वपर्यनुयोगे सतीवाचार्याः प्राहुः—

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥६॥

२११. दोषास्तावदज्ञानरागद्वेषादय उक्ताः । निष्क्रान्तो दोषेभ्यो निर्दोषः । ^{२५५५}प्रमाणबलात्प्रसिद्धः सर्वज्ञो वीतरागश्च सामान्यतो यः स त्वमेवार्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । यो यत्र ^{२५५६}युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टः, यथा क्वचिद् व्याध्युपशमे भिषग्वरः ^{२५५७}। युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् ^{२५५८}मुक्तिसंसारतत्कारणेषु, तस्मान्निर्दोष इति निश्चयः । युक्तिशास्त्राभ्यामविरोधः कुतो मद्वाचः ^{२५५९}सिद्धोऽनवयवेनेति चेत्, यस्मादिष्टं ^{२५६०}मोक्षादिकं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते । तथा हि—यत्र ^{२५६१}यस्माभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्, यथा रोगस्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे ^{२५६२}भिषग्वरः, न बाध्यते च प्रमाणेन भगवतोऽभिमतं ^{२५६३}मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वम्, तस्मात्तत्र ^{२५६४}युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् । इति विषयस्य ^{२५६५}युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो ^{२५६६}युक्तिशास्त्राविरोधित्व-साधनम् । कथमत्र कारिकायामनुपातो ^{२५६७}भिषग्वरो दृष्टान्तः कथ्यते इति चेत्, स्वयं ग्रन्थकारेणान्यत्राभिधानात्—

त्वं शम्भवः संभवतर्षरोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके ।

आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथा नाथ रुजां प्रशान्त्यै ॥

(स्वयंभू. ११(३.१) श्लोक)

इति स्तोत्रप्रसिद्धेः । इह ^{२५७०} दृष्टान्तावचनं तु संक्षेपोपन्यासान्न विरुध्यते, अन्यथानुपपन्नत्वनियमैकलक्षण-
प्राधान्यप्रदर्शनार्थं वा ।

२१२. तत्र ^{२५७२} भगवतोभिमतं मोक्षतत्त्वं तावन्न प्रमाणेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य तद्बाधकत्वायोगात् । नास्ति
कस्यचिन्मोक्षः, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वात्, कूर्मरोमादिवत्, इत्यनुमानेन बाध्यते, इति चेन्न,
मोक्षस्यानुमानादागमाच्च ^{२५७५} प्रसिद्धप्रामाण्यादस्तित्वव्यवस्थापनात्, क्वचिद्विषावरणक्षयस्यैवानन्तज्ञानादिस्वरूप-
लाभफलस्यानुमानागमप्रसिद्धस्य मोक्षत्वात्;—

‘बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः’ (त.सू. १०, २)

इति वचनात् । ^{२५७७} तत एव नागमेनापि मोक्षतत्त्वं बाध्यते, तस्य ^{२५७८} तत्सद्भावावेदकत्वव्यवस्थितेः । तथा
मोक्षकारणतत्त्वमपि न ^{२५७९} प्रमाणेन विरुध्यते, प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षप्रतिपत्तेरभावात्, तेन ^{२५८०} तद्बाधनायोगात् ।
नानुमानेनापि तद्बाधनम्, ^{२५८१} ततो मोक्षस्य कारणवत्त्वसिद्धेः । सकारणको मोक्षः, प्रतिनियतकालादित्वात्, ^{२५८३}
पटादिवत् । तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र सर्वस्य सद्भावानुपपन्नः, परापेक्षारहितत्वाद् इति । नागमेनापि
मोक्षकारणतत्त्वं बाध्यते, तस्य तत्साधकत्वात्—‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ (त.सू. १, १) इति
वचनात् । तथा संसारतत्त्वमपि न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षतः संसाराभावासिद्धेः, ^{२५८५} तस्य तद्बाधकत्वाघटनात् ।
स्वोपात्तकर्मवशादात्मनो भवान्तरावाप्तिः संसारः । स न प्रत्यक्षविषयो येन प्रत्यक्षं तं बाधेत ।

२१३. अनुमानं ^{२५८६} तद्बाधकमिति चेन्न, ^{२५८७} तदभावप्रतिबद्धलिङ्गाभावात् ।
^{२५८८} गर्भादिमरणपर्यन्तचैतन्यविशिष्टकायात्मनः पुरुषस्य जन्मनः पूर्वं मरणाच्चोत्तरं नास्ति भवान्तरम्, अनुपलब्धेः,
खपुष्पवत्, इत्यनुपलम्भः संसाराभावग्राहकः संसारतत्त्वबाधक इति चेन्न, तस्यासिद्धेः । प्राणिनामाद्यं चैतन्यं
चैतन्योपादानकारणकम्, ^{२५९१} चिद्विवर्तत्वात्, मध्यचैतन्यविवर्तवत् । तथाऽन्त्यचैतन्यपरिणामश्चैतन्यकार्यः, तत एव,
तद्वत् । इत्यनुमानेन पूर्वोत्तरभावोपलम्भाद्यथोक्तसंसारतत्त्वसिद्धेः । गोमयादेरचेतनात्वाच्चेतनस्य
वृश्चिकादेरुत्पत्तिदर्शनात्तेन व्यभिचारी हेतुरिति चेन्न, ^{२५९६} तस्यापि पक्षीकरणात् । वृश्चिकादिशरीरस्याचेतनस्यैव
गोमयादेः सम्मूर्च्छनम्, न पुनर्वृश्चिकादिचैतन्यविवर्तस्य, तस्य पूर्वचैतन्यविवर्तदेवोत्पत्तिप्रतिज्ञानात् ।
खड्गिचरमचित्तेन चित्तान्तरानुपादानेन व्यभिचारः साधनस्येत्यपि स्वमनोरथमात्रम्, ^{२६००} तस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धत्वात्,
निरन्वयक्षणक्षयस्य ^{२६०३} प्रतिक्षेपात् ।

२१४. ननु च यथाद्यः पथिकाग्निररणिनिर्मथनोत्थोऽनग्निपूर्वको दृष्टः, परस्त्वग्निपूर्वक एव, तथाद्यं चैतन्यं
कायाकारादिपरिणतभूतेभ्यो भविष्यति, ^{२६०४} परं तु चैतन्यपूर्वकम्, विरोधाभावात्; इति कस्यचित्प्रत्यवस्थितिः
स्वपक्षघातिनी जातिरेव, ^{२६०५} चिद्विवर्तत्वस्य हेतोः साध्येन व्याप्तेरखण्डनात् । प्रथमपथिकाग्नेरनग्न्युपादानत्वे
जलादीनामप्यजलाद्युपादानत्वोपपत्तेः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्य तत्त्वान्तरभावविरोधः । तथा हि—येषां
परस्परमुपादानोपादेयभावस्तेषां न ^{२६०८} तत्त्वान्तरत्वम्, यथा ^{२६०९} क्षितिविवर्तानाम्, परस्परमुपादानोपादेयभावश्च
पृथिव्यादीनाम्, इत्येकमेव पुद्गलतत्त्वं पृथिव्यादिविवर्तमवतिष्ठेत ।

२१५. अथ न क्षित्यादीनां परस्परमुपादानोपादेयभावः, सहकारिभावोपगमात् । कथमपौर्विकोपादानः प्रथमः पथिकपावकः प्रसिद्ध्येत्, यतस्तद्वदचेतनपूर्वकं प्रथमचैतन्यं प्रसज्येत ? यथैव हि प्रथमाविर्भूत-पावकादेस्तिरोहितपावकान्तरादिपूर्वकत्वं तथा गर्भचैतन्यस्याविर्भूतस्वभावस्य तिरोहितचैतन्यपूर्वकत्वमिति किञ्च व्यवस्था स्यात् ?

२१६. स्यान्मतम्, सहकारिमात्रादेव प्रथमपथिकाग्नैरुपजननोपगमात्तिरोहिताग्न्यन्तरोपादानत्वंमसिद्धमिति; तदसत्, अनुपादानस्य कस्यचिदुपजननादर्शनात् । शब्दविद्युदादेरुपादानादर्शनाददोष इति चेन्न, शब्दादिः सोपादान एव, कार्यत्वात्, घटादिवत्, इत्यनुमानात्तस्यादृश्योपादानस्यापि सोपादानत्वस्य साधनात् । नन्वेतु सर्वोग्निरग्न्यन्तरोपादान एव, सर्वस्य सजातीयोपादानत्वव्यवस्थितेः । चेतनस्य तु चेतनान्तरोपादानत्वनियमो न युक्तः, तस्य भूतोपादानत्वघटनात्, भूतचेतनयोः सजातीयत्वात्तत्त्वान्तरत्वासिद्धेः, इति चेन्न, तयोर्भिन्नलक्षणत्वात्तत्त्वान्तरत्वोपपत्तेः, तोयपावकयोरपि तैर् एव परैस्तत्त्वान्तरत्वसाधनात् । तथा हि—तत्त्वान्तरं भूताच्चैतन्यम्, तद्भिन्नलक्षणत्वान्यथानुपपत्तेः । न तावदसिद्धो हेतुः, क्षित्यादिभूतेभ्यो रूपादिसामान्यलक्षणैः स्वसंवेदनलक्षणस्य चैतन्यस्य तद्भिन्नलक्षणत्वसिद्धेः । न हि भूतानि स्वसंवेदनलक्षणानि, अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्प्रत्यक्षत्वात् । यत्पुनः स्वसंवेदनलक्षणं तत्र तैर् प्रतीयम्, यथा ज्ञानम्, तैर् च भूतानि तस्मान्न स्वसंवेदनलक्षणानि । अनेकयोगिप्रत्यक्षेण सुखादिसंवेदनं व्यभिचारी हेतुरिति न शङ्कनीयम्, अस्मदादिग्रहणात् । ज्ञानस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वमसिद्धमिति चेन्न, बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्त्या तस्य स्वसंवेदनलक्षणत्वसिद्धेः । यो ह्यस्वसंवेदनलक्षणः स न बहिरर्थस्य परिच्छेदको दृष्टोः, यथा घटादिरिति विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावात्सिद्धा हेतोरन्यथानुपपत्तिः । प्रदीपादिनान्ते इति चेन्न, तस्य जडत्वेन बहिरर्थपरिच्छेदकत्वासम्भवात्, बहिरर्थपरिच्छेदकज्ञानोत्पत्तिकारणत्वात् प्रदीपादेर्बहिश्चक्षुरादिरिव परिच्छेदकत्वोपचारात् । न चोपचरितेनार्थपरिच्छेदकेन प्रदीपादिना मुख्यस्यार्थपरिच्छेदकत्वस्य हेतोर्व्यभिचारचोदनं विचारचतुरचेतसां कर्तुमुचितम्, अतिप्रसङ्गात् । स्वरूपमात्रपरिच्छेदनव्यापृते सुखादिज्ञाने बहिरर्थपरिच्छेदकत्वाभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेन्न, तस्यापि स्वतो बहिर्भूतसुखादिपरिच्छेदकत्वाद्बहिरर्थपरिच्छेदकत्वसिद्धेः कुम्भादिवेदनस्यापि सर्वथा स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वानुपपत्तेः, सदाद्यात्मना कुम्भादे संवेदनादभेदप्रतीतेः, अन्यथा तदसत्त्वप्रसङ्गात् । कथञ्चित्स्वबहिर्भूतत्वं तु सुखादिसंवेदनात्सुखादेरपि प्रतीयत एव, सुखादि-तत्संवेदनयोः कारणादिभेदाद्भेदव्यवस्थितेः । तर्हि घटादिज्ञानवत् सुखादिज्ञानस्यापि स्वबहिर्भूतार्थपरिच्छेदकत्वात्ततोऽन्यस्य विज्ञानस्यासम्भवात्किं स्वस्य संवेदकं ज्ञानं स्यात्, इति चेन्न, तस्यैव घटादि-सुखादिज्ञानस्य स्वरूपसंवेदकस्य सतः परसंवेदकत्वोपगमात् स्वसंवेदनसिद्धेः, स्वपरव्यवसायात्मकत्वात् सर्ववेदनस्य ।

२१७. स्वात्मनि क्रियाविरोधान्न स्वरूपसंवेदकं ज्ञानमिति चेत्, का पुनः क्रिया स्वात्मनि विरुध्यते ? न तावद्भात्वर्थलक्षणा, भवनादिक्रियायाः क्षित्यादिष्वभावप्रसङ्गात् । परिस्पन्दात्मिका क्रिया स्वात्मनि विरुद्धेति चेत्, कः पुनः क्रियायाः स्वात्मा ? क्रियात्मैवेति चेत्, कथं तस्यास्तत्र विरोधः ? स्वरूपस्य

विरोधकत्वायोगात् । अन्यथा सर्वभावानां स्वरूपविरोधान्निस्स्वरूपतानुषङ्गात् । विरोधस्य द्विष्टत्वाच्च न क्रियायाः स्वात्मनि विरोधः । क्रियावदात्मा क्रियायाः स्वात्मेति चेत्, कथं तत्र विरोधः ? क्रियावित्येव सर्वस्याः क्रियायाः प्रतीतेरविरोधसिद्धेः । अथ क्रिया करणं निष्पादनं स्वात्मनि विरुद्धमित्यभिमतम्, तर्हि न ज्ञानं स्वरूपं निष्पादयति, इत्युच्यते येन विरोधः स्यात् । इत्यसिद्धः स्वात्मनि क्रियाविरोधः, स्वकारणविशेषान्निष्पद्यमानस्य ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशनरूपत्वात्, प्रदीपस्य स्वपरोद्योतनरूपत्ववत्, यथैव हि रूपज्ञानोत्पत्तौ प्रदीपः सहकारित्वाच्चक्षुषो रूपस्योद्योतकः कथ्यते, तथा स्वरूपज्ञानोत्पत्तौ तस्य सहकारित्वात्स्वरूपोद्योतकोपि । ततो ज्ञानं स्वपररूपयोः परिच्छेदकम्, तत्राज्ञाननिवृत्तिहेतुत्वान्यथानुपपत्तेः, इत्यविरुद्धं पश्यामः । स्वसंवेदनमन्तस्तत्त्वस्य लक्षणं भूतासम्भवतीति भिन्नलक्षणत्वं तयोः सिद्ध्यत्येव । तच्च सिद्ध्यत् तत्त्वान्तरत्वं साध्यति, तच्चाऽसजातीयत्वम् । तदप्युपादानोपादेयभावाभावम्, तयोस्तत्प्रयोजकत्वात् । तदेवं भूतचैतन्ययोर्नास्त्युपादानोपादेयभावोः, विभिन्नलक्षणत्वात्, इति व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धिः, उपादानोपादेयभावव्यापकस्य सजातीयत्वविशेषस्य विरुद्धेन तत्त्वान्तरभावेन व्याप्ताभिन्नलक्षण-त्वात्प्रतिषेध्याभावसाधनात् । न ह्यत्र सजातीयत्वविशेषस्योपादानोपादेयभावव्यापकत्वमसिद्धम्, विजातीयत्वाभिमतयोः पयःपावकयोः सत्त्वादिना सजातीययोरपि तदनुपगमात् कथञ्चिद्विजातीययोरपि मृत्पिण्डघटाकारयोः पार्थिवत्वादिना विशिष्टसामान्येन सजातीययोरुपादानोपादेयभावसिद्धेः । कथं तर्हि सजातीयत्वविशेषस्य तत्त्वान्तरभावेन विरोध इति चेत्, तत्त्वान्तरभूतयोस्तदनुपलम्भात्, पूर्वाकारपरित्यागा-ऽजहद्वृत्तोत्तराकारान्वयप्रत्ययविषयस्योपादानत्वप्रतीतेः, परित्यक्तपूर्वाकारेण द्रव्येणात्मसात्क्रियमाणोत्तराकारस्योपादेयत्वनिर्जानादन्यथातिप्रसङ्गात् । कथं तत्त्वान्तरभावेन भिन्नलक्षणत्वं व्याप्तमिति चेत् तदभावेन उपपद्यमानत्वात् । किण्वादिमदिरादिपरिणामयोरतत्त्वान्तरभावेपि भिन्नलक्षणत्वस्य दर्शनात्, तस्तेनाव्याप्तेरिति चेन्न, तयोर्भिन्नलक्षणत्वासिद्धेः, किण्वादेरपि मदजननशक्तिसद्भावान्मदिरादिपरिणामवत् । सर्वथ मदजननशक्तिविकलत्वे हि किण्वादेर्मदिरादिपरिणामदशायामपि तद्वैकल्यप्रसङ्गः ।

२१८. नन्वेवं भूतान्तस्तत्त्वयोरपि भिन्नलक्षणत्वं मा भूत्, कायाकारपरिणतभूतविशेषावस्थातः प्राणि-क्षित्यादिभूतानां चैतन्यशक्तिसद्भावादन्यथा तदवस्थायामपि चैतन्योद्भूतिविरोधादिति न प्रत्यवस्थेयम् । चैतन्यस्यानाद्यनन्तत्वप्रसिद्धेरात्मवादिनामिष्टप्रतिष्ठानात् । न चैवं चैतन्यं भूतविवर्तः, क्षित्यादितत्त्वस्या-तद्विवर्तत्वप्रसङ्गात्, अनाद्यनन्तत्वाविशेषात् । ततो भिन्नलक्षणत्वं तत्त्वान्तरत्वेन व्याप्तं भूतचैतन्ययोस्तत्त्वान्तर-साध्यत्येयम् । इति चैतन्यपरिणामोपादान एवाद्यचैतन्यपरिणामः प्राणिनामन्त्यचैतन्योपादेयश्च जन्मान्तरा-चैतन्यपरिणामः सिद्धः । पूर्वभवपरित्यागेन भवान्तरपरिग्रह एव च संसारः । इति प्रसिद्धेन प्रमाणेन संसारतत्त्वं बाध्यते, नानुमानेन, (तेन तत्साधनात् ।) नाप्यागमेन, तस्य तत्प्रतिपादकतया श्रुतेः—

‘संसारिणस्त्रसंस्थावराः’ (त. सू. २.१२) इति वचनात् ।

२१९. तथा संसारोपायतत्त्वमपि न प्रसिद्धेन बाध्यते, प्रत्यक्षस्य तदबाधकत्वात् । निर्हेतु-

संसारोऽनाद्यनन्तत्वात्, आकाशवत्, इत्यनुमानेन तद्बाध्यते, इति चेन्न, पर्यायार्थदिशात्संसारस्यानाद्यनन्तत्वासिद्धेः^{२६८९}
दृष्टान्तस्यापि साध्यसाधनविकलत्वात्, द्रव्यार्थदिशात्^{२६९०} तस्य^{२६९१} तथा साधने^{२६९२} सिद्धसाध्यतानुषक्तेः ।
सुखदुःखादिभावपरिवर्तनलक्षणस्य संसारस्य द्रव्यक्षेत्रकालभावभविष्यविशेषहेतुकत्वाप्रतीतेश्च^{२६९३} नाहेतुकसंसारसाधनानु-
मानमनवद्यम् । इति न किञ्चिदनुमानं संसारोपायतत्त्वस्य बाधकम् । नाप्यागमः, तस्य तत्साधकत्वात्—‘मिथ्या-
दर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः’—(त.सू. ८, १) इति वचनात्, बन्धहेतूनामेव संसारहेतुत्वात् । तदेवं
मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वं भगवतोभिमतं प्रसिद्धेन प्रमाणेन युक्तिशास्त्राख्येनाबाध्यं सिध्यतद्वाचो
युक्तिशास्त्राविरोधित्वं साधयति, तच्च^{२६९४} निर्दोषत्वम् । इति त्वमेव स सर्वज्ञो वीतरागश्च संस्तोतुं युक्तो नान्यं^{२६९५}
इत्युच्यते ।

२२०. विप्रकर्ष्यपि भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना कस्यचित्प्रत्यक्षं सोत्र भवानर्हन्नेव । दृश्यलक्षणाद्भिन्न-^{२७००}
लक्षणमदृश्यस्वभावस्तत्सम्बन्धित्वेन विप्रकर्षि परमाण्वादिकम् । तथा वर्तमानकालाद्भिन्नः कालोऽतीतोनागतश्च,^{२७०१}
तत्सम्बन्धित्वेन रावणशङ्खादि । तथा दर्शनयोग्यादेशाद्भिन्नदेशोऽनुपलब्धियोगस्तत्सम्बन्धित्वेन मकराकरादि ।^{२७०२}
तद्भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वादिना स्वभावकालदेशविप्रकर्ष्यपि कस्यचित्प्रत्यक्षं साधितम् । सोत्र भवानर्हन्नेव, न पुनः
कपिलादय इति । एतत्कुतो निश्चितमिति चेत्, अन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वात् । ये
न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषाः, यथा दुर्वैद्यादयः, तथा चान्ये कपिलादय इत्यनुमानान्यायागमाविरुद्ध-
भाषिण एव भगवतोर्हतो निर्दोषत्वमवसीयते । न चात्र न्यायागमविरुद्धभाषित्वं कपिलादीनामसिद्धम्, तदभिमतस्य
मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वस्य प्रसिद्धेन प्रमाणेन बाधनात् ।

२२१. तत्र कपिलस्य तावत्स्वरूपे चैतन्यमात्रेवस्थानमात्मनो मोक्ष इत्यभिमतं तत्प्रमाणेन बाध्यते,^{२७०३}
चैतन्यविशेषेनन्तज्ञानादौ स्वरूपेवस्थानस्य मोक्षत्वसाधनात् । न ह्यनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपम्,^{२७०४}
सर्वज्ञत्वादिविरोधात् । प्रधानस्य सर्वज्ञत्वादिवस्वरूपम्, नात्मन इति चेत्, न, तस्याचेतनत्वादाकाशवत् । ज्ञानादेर-
प्यचेतनत्वादचेतनप्रधानस्वभावत्वं युक्तमेवेति चेत्, कुतस्तदचेतनत्वसिद्धिः ? ‘अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्त्वात्,^{२७०५}
घटादिवत्, इत्यनुमानादिति चेन्न, हेतोरनुभवेन व्यभिचारात्, तस्य चेतनत्वेप्युत्पत्तिमत्त्वात् । कथमुत्पत्तिमाननुभव
इति चेत्, परापेक्षत्वात्, बुद्ध्यादिवत् । परापेक्षो सौ ‘बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात्, बुद्ध्यध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते’^{२७०६}
() इति वचनात् । बुद्ध्यध्यवसितार्थानपेक्षत्वेनुभवस्य सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य पुंसोनुभवप्रसङ्गात्, सर्वस्य
सर्वदर्शित्वोपपत्तेः, तदुपायानुष्ठानवैयर्थ्यमेव स्यात् । यदि पुनरनुभवसामान्यमात्मनो नित्यमनुत्पत्तिमदेवेति मतेम्,^{२७०७}
तदा ज्ञानादिसामान्यमपि नित्यत्वादननुत्पत्तिमद्भवेदित्यसिद्धो हेतुः । ज्ञानादिविशेषाणामुत्पत्तिमत्त्वात्रासिद्ध इति चेत्,
तर्ह्यनुभवविशेषाणामप्युत्पत्तिमत्त्वादनेकान्तिकोसौ कथं न स्यात् ? नानुभवस्य विशेषाः सन्तीति चायुक्तम्,^{२७०८}
वस्तुत्वविरोधात् । तथा हि—नानुभवो वस्तु, सकलविशेषरहितत्वात्, खरविषाणवत् । नात्मनानेकान्तः, तस्यापि
सामान्यविशेषात्मकत्वात्, अन्यथा तद्वदवस्तुत्वापत्तेः । कालात्ययापदिष्टशायं हेतुः, ज्ञानादीनां^{२७०९}
स्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वाच्चेतनत्रसिद्धेरध्यक्षबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वात् ।

२२२. अथ^{२७२३} चेतनसंसर्गादचेतनस्यापि^{२७२४} ज्ञानादेश्चेतनत्वप्रतीतिः^{२७२५} प्रत्यक्षतो भ्रान्तैव । तदुक्तम्—^{२७२६} 'तस्मात्तत्संसर्गादचेतनं^{२७२७} चेतनावदिह^{२७२८} लिङ्गम्' () इति । तदप्यर्चिताभिधानम्,^{२७२९} शरीरादेरपि चेतनत्वप्रतीतिप्रसङ्गाच्चेतनसंसर्गाविशेषात् । शरीराद्यसंभवी बुद्ध्यादेरात्मना संसर्गविशेषोस्तीति चेत्, स कोन्योन्यत्र कथञ्चित्तादात्म्यात्,^{२७३०} तददृष्टकृतकत्वादिविशेषस्य शरीरादावपि भावात् । ततो नाचेतना ज्ञानादयः, स्वसंविदितत्वात्, अनुभववत् ।^{२७३१} स्वसंविदितास्ते, परसंवेदनान्यथानुपपत्तेरिति प्रतिपादितप्रायम् । तथा चात्मस्वभावा^{२७३२} ज्ञानादयः, चेतनत्वात्, अनुभववदेव । इति न चैतन्यमात्रेवस्थानं मोक्षः, अनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीतेः ।

२२३. एतेन बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदादात्मत्वमात्रेवस्थानं मुक्तिः,^{२७३४} इति कणभक्षाक्षपादमतं प्रमाणेन बाधितमुपदर्शितम्, पुंसो नन्तज्ञानादिस्वरूपत्वसाधनात्, स्वरूपोपलब्धेरेव मुक्तित्वसिद्धेः ।

२२४. स्यान्मतम्^{२७३५} 'न बुद्ध्यादयः पुंसः स्वरूपम्, ततो भिन्नत्वात्, अर्थान्तरवत् । ततो भिन्नास्ते, तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वात्,^{२७३६} घटादिवत् । तद्विरुद्धधर्माधिकरणत्वं पुनस्तेषामुत्पादविनाशधर्मकत्वात्, आत्मनोनुत्पादविनाशधर्मकत्वात्प्रसिद्धम्' इति; तदयुक्तम्, विरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि सर्वथा भेदासिद्धेर्मेचकज्ञान-^{२७३७} तदाकारवत् । एकं हि मेचकज्ञानमनेकश्च तदाकारो नीलादिप्रतिभासविशेष इत्येकत्वानेकत्वविरुद्धधर्माधिकरणत्वेपि^{२७३८} मेचकज्ञानतत्प्रतिभासयोर्न भेदोभ्युपगम्यते, मेचकज्ञानत्वविरोधात् । यदि पुनर्युगपदनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमेकमेव,^{२७३९} न तत्रानेकप्रतिभासविशेषसम्भवः, यतो विरुद्धधर्माधिकरणत्वमभेदेपि स्यादिति मतम्, तदापि तत्किमनेकया शक्त्यानेकमर्थं युगपद् गृह्णाति किं वैकया ? यद्यनेकया तदेकमनेकशक्त्यात्मकमिति स एव विरुद्धधर्माध्यासः । ततोनेकशक्तेरनेकत्वधर्माधारभूतायाः पृथक्त्वात् । तस्य त्वेकत्वधर्माधारत्वात्रैकत्र विरुद्धधर्माध्यास इति चेत्कथमनेका शक्तिस्तस्येति व्यपदिश्यते ? ततो भेदादर्थान्तरवत् ।^{२७४०} सम्बन्धादिति चेत्, तर्हि तदनेकया शक्त्या संबध्यमानमनेकेन रूपेण कथमनेकरूपं न स्यात् ? तस्याप्यनेकरूपस्य ततो न्यत्वात्तदेकमेवेति चेत्कथं तत्तस्येति व्यपदेष्टव्यम् ? सम्बन्धादिति चेत्स एव दोषोऽनिवृत्तश्च पर्यनुयोगोऽनवस्थानात् । यदि पुनरेकेनैव रूपेणानेकया शक्त्या संबध्यते, तदानेकविशेषणत्वविरोधः । पीतग्रहणशक्त्या हि येन स्वभावेन संबध्यते तेनैव नीलादिग्रहणशक्त्या चेत् पीतग्राहित्वविशेषणमेव मेचकज्ञानं स्यान्न नीलादिग्राहित्वविशेषणमिति पीतज्ञानमेव स्यान्न तु मेचकज्ञानम् । अथैकया शक्त्यानेकमर्थं तद्गृह्णातीति द्वितीयविकल्पः समाश्रीयते, तदापि सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गः । पीतग्रहणशक्त्या ह्येकया यथा नीलादिग्रहणं तथातीतानागतवर्तमानाशेषपदार्थग्रहणमपि केन निवार्येत ? अथ न पीतग्रहणशक्त्या नीलग्रहणशक्त्या वा पीतनीलाद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते, किं तर्हि, नीलपीतादिप्रतिनियता-^{२७४१} नेकार्थग्रहणशक्त्यैकयेति मतम्, तदा न कार्यभेदः कारणशक्तिभेदव्यवस्थाहेतुः स्यादित्येकहेतुकं विश्वस्य वैश्वरूप्यं प्रसज्येत । तथा चानेकारणप्रतिवर्णनं सर्वकार्योत्पत्तौ विरुध्यते । तदभ्युपगच्छता मेचकज्ञानमने-^{२७४२} कार्थग्राहि नानाशक्त्यात्मकमुररीकर्तव्यम् । तेन च विरुद्धधर्माधिकरणेनैकेन प्रकृतहेतोरनैकान्तिकत्वात् ज्ञानादीना-^{२७४३} मात्मनो भेदैकान्तसिद्धयेनात्मानन्तज्ञानादिरूपो न भवेत् । निराकरिष्यमाणत्वाच्चाग्रतो गुणगुणिनोरन्यतैकान्तस्य न ज्ञानादयो गुणाः सर्वथात्मनो भिन्नाः शक्याः प्रतिपादयितुं यतोऽशेषविशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तिर्व्यवतिष्ठेत ।

२२५. ननु च धर्माधर्मयोस्तावन्नवृत्तिरात्यन्तिकी मुक्तौ प्रतिपत्तव्या, अन्यथा तदनुपपत्तेः । तत्रिवृत्तौ च तत्फलबुद्ध्यादिविनिवृत्तिरवश्यंभाविनी, निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यनुपपत्तेः । मुक्तस्यात्मनोऽन्तःकरणसंयोगाभावे वा न तत्कार्यस्य बुद्ध्यादेरुत्पत्तिः, इत्यशेषगुणनिवृत्तिर्मुक्तौ सिद्ध्यत्येवेति केचित्; तेप्यदृष्टहेतुकानां बुद्ध्यादीनामात्मान्तःकरणसंयोगजानां च मुक्तौ निवृत्तिं ब्रुवाणा न निवार्यन्ते, कर्मक्षयहेतुकयोस्तु प्रशम-सुखानन्तज्ञानयोर्निवृत्तिमाचक्षाणास्ते न स्वस्थाः, प्रमाणविरोधात् । ततः कथञ्चिद्बुद्ध्यादिविशेषगुणानां निवृत्तिः कथञ्चिदनिवृत्तिर्मुक्तौ व्यवतिष्ठते । न चैवं सिद्धान्तविरोधः—‘बन्धहेत्वभावनिरर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः’ (त. सू. १०.२) इत्यनुवर्तमाने ‘औपशमिकादिभव्यत्वानां चान्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः’ (त. सू. १०.३-४) इति सूत्रसद्भावात् ।

२२६. तत्रौपशमिकक्षायोपशमिकौदयिकपारिणामिकभावानां दर्शनज्ञानगत्यादीनां भव्यत्वस्य च विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यभिसम्बन्धान्मुक्तौ विशेषगुणनिवृत्तिरिष्टा, ‘अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्यः’ (त. सू. १०.४) इति वचनात् । अनन्तज्ञानदर्शनसिद्धत्वसम्यक्त्वानामनिवृत्तिश्चेति युक्तं तथा वचनम् । कथमेवमनन्तसुखसद्भावो मुक्तौ सिद्ध्येदिति चेत्, सिद्धत्ववचनात् । सकलदुःखनिवृत्तिरात्यन्तिकी हि भगवतः सिद्धत्वम् । सैव चानन्तप्रशमसुखम्, इति सांसारिकसुखनिवृत्तिरपि मुक्तौ न विरुध्यते ।

२२७. अनन्तसुखमेव मुक्तस्य, न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष इत्यपरः सोपि युक्त्यागमाभ्यां बाध्यते । तदनन्तं सुखं मुक्तौ पुंसः संवेद्यस्वभावसंवेद्यस्वभावं वा ? संवेद्यं चेत्, तत्संवेदनस्यानन्तस्य सिद्धिः, अन्यथानन्तस्य सुखस्य स्वयं संवेद्यत्वविरोधात् । यदि पुनरसंवेद्यमेव तत्तदा कथं सुखं नाम ? सातसंवेदनस्य सुखत्वप्रतीतेः ।

२२८. स्यान्मतं तै, अभ्युपगम्यते एवानन्तसुखसंवेदनं परमात्मनः । केवलं बाह्यार्थानां ज्ञानं नोपेयते तस्येति, तदप्येवं सम्प्रधार्यम्—किं बाह्यार्थभावाद्बाह्यार्थसंवेदनाभावो मुक्तस्येन्द्रियापायाद्वा ? प्रथमपक्षे सुखस्यापि संवेदनं मुक्तस्य न स्यात्, बाह्यार्थवदभावात् । पुरुषाद्वैतवादे हि बाह्यार्थभावो यथाभ्युपगन्तव्यस्तथा सुखाभावोपि, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात् । अथ द्वैतवादावलम्बिनां सतोपि बाह्यार्थस्येन्द्रियापायादसंवेदनं मुक्तस्येति मतम्, तदप्यसंगतम्, तत एव सुखसंवेदनाभावप्रसङ्गात् । अथान्तःकरणाभावेपि मुक्तस्यातीन्द्रियसंवेदनेन सुखसंवेदनमिष्यते, तर्हि बाह्यार्थसंवेदनमस्तु तस्यातीन्द्रियज्ञानेनैवेति मन्यताम्, सर्वथा विशेषाभावात् ।

२२९. येऽपि निरास्रवचित्तसन्तानोत्पत्तिर्मोक्ष इत्याचक्षते; तेषामपि मोक्षतत्त्वं युक्त्याभ्युपायेन च बाध्यते, प्रदीपनिर्वाणोपमशान्तनिर्वाणवत्, चित्तानां तत्त्वतोऽन्वितत्वसाधनात् सन्तानोच्छेदानुपपत्तेश्च निरन्वयक्षणक्षयैकान्ताभ्युपायेन च मोक्षाभ्युपगमबाधनस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

२३०. तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि कपिलादिभिर्भाषितं न्यायागमविरुद्धम् । तद्विज्ञानमात्रं न परनिःश्रेयसकारणम्, प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि शरीरेण सहावस्थानान्मिथ्याज्ञानवत् । न तावदिहासिद्धो

हेतुः सर्वज्ञानामपि कपिलादीनां स्वयं प्रकर्षपर्यन्तावस्थाप्राप्तस्यापि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानोपगमात्^{२८१३}।
 साक्षात्सकलार्थज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं शरीराभावे कुतोयमाप्तस्योपदेशः^{२८१३} प्रवर्तेत ?
 अशरीरस्याप्तस्योपदेशकरणविरोधात्, आकाशवत्। तस्यानुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्योपदेश इति चेत्^{२८१४} न,
 तस्याप्रमाणत्वशङ्काऽनिवृत्तेरन्याऽज्ञानपुरुषोपदेशवत्। यदि पुनः शरीरान्तरानुत्पत्तिर्निश्रेयसं न गृहीतशरीरनिवृत्तिः,
 तस्यै^{२८१५} साक्षात्सकलतत्त्वज्ञानं कारणम्, न तु गृहीतशरीरनिवृत्तेः, फलोपभोगात्तदुपगमात्^{२८१६}। ततः पूर्वोपात्तशरीरेण
 सहावतिष्ठमानात्तत्त्वज्ञानादाप्तस्योपदेशो युक्त इति मतम्^{२८१७}, तदा हेतुः सिद्धोभ्युपगमस्तत्तावत्। स च
 परनिःश्रेयसोऽकारणत्वं तत्त्वज्ञानस्य साध्यत्येव, भाविशरीरस्येवोपात्तशरीरस्यापि निवृत्तेः परनिःश्रेयसत्वात्^{२८१८}, तस्य
 च तद्भावेप्यभावात्^{२८१९}। फलोपभोगकृतोपात्तकर्मक्षयापेक्षं तत्त्वज्ञानं परनिःश्रेयसकारणम्, इत्यप्यनालोचिताभिधानम्,
 फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौपक्रमिकविकल्पानतिक्रमात्^{२८२०}। तस्यौपक्रमिकत्वे कुतस्तदुपक्रमोन्यत्र तपोतिशयात्। इति
 तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकं परनिःश्रेयसमायातम्। समाधिविशेषादुपात्ताशेषकर्मफलोपभोगोपगमाददोष इति चेत्^{२८२१}, कः
 पुनरसौ समाधिविशेषः ? स्थिरीभूतं ज्ञानमेव स इति चेत्। तदुत्पत्तौ परनिःश्रेयसस्य भावे स
 एवाप्तस्योपदेशाभावः। सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यावस्थायामसमाधिरूपस्योपजनने युक्तोऽयं योगिनस्तत्त्वोपदेश इति
 चेत्^{२८२२} न सकलतत्त्वज्ञानस्यास्थैर्यविरोधात्^{२८२३}, तस्य कदाचिच्चलनानुपपत्तेः, अक्रमत्वाद्विषयान्तरसंचरणाभावात्,
 अन्यथा सकलतत्त्वज्ञानत्वासंभवादस्मदादिज्ञानवत्। अर्थं तत्त्वोपदेशदशायां योगिनोपि ज्ञानं विनेयजनप्रतिबोधाय
 व्याप्रियमाणमस्थिरमसमाधिरूपं पश्चान्निवृत्तसकलव्यापारं स्थिरं समाधिव्यपदेशमास्कन्दतीत्युच्यते^{२८२४}, तर्हि
 समाधिश्चारित्रमिति नाममात्रं भिद्यते^{२८२५}, नार्थः, तत्त्वज्ञानादशेषाज्ञाननिवृत्तिफलादन्यस्य परमोपेक्षालक्षणस्वभावस्य
 समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपातिपरमशुक्लध्यानस्य तपोतिशयस्य समाधिव्यपदेशकरणात्। तथा च चारित्रसहितं
 तत्त्वज्ञानमन्तर्भूततत्त्वार्थश्रद्धानं परनिःश्रेयसकारणमनिच्छतामपि कपिलादीनामग्रे व्यवस्थितम्। ततो न्यायविरुद्धं^{२८२६}
 सर्वथैकान्तवादिनां ज्ञानमेव मोक्षकारणतत्त्वम्। स्वागमविरुद्धं च, सर्वेषामागमे प्रव्रज्याद्यनुष्ठानस्य^{२८२७}
 सकलदोषोपरमस्य च बाह्यास्याभ्यन्तरस्य च चारित्रस्य मोक्षकारणत्वश्रवणात्।

२३१. तथा संसारतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविरुद्धम्। तथा हि—नास्ति नित्यत्वाद्येकान्ते कस्यचित्संसारः
 विक्रियानुपलब्धेः^{२८२८}, इति न्यायविरोधः। समर्थयिष्यते तदागमविरोधश्च स्वयं पुरुषस्य संसाराभाववचनात्^{२८२९}, गुणानां
 संसारोपपत्तेः। परेषां संवृत्यां संसारव्यवस्थितेः।

२३२. तथा संसारकारणतत्त्वं चान्येषां न्यायागमविरुद्धम्। तद्वि मिथ्याज्ञानमात्रं तैरुरीकृतम्। न च
 तत्कारणः संसारः, तन्निवृत्तावपि संसारानिवृत्तेः। यन्निवृत्तावपि यत्र निवर्तते न तत्तन्मात्रकारणम्। यथा
 तक्षादिनिवृत्तावप्यनिवर्तमानं देवगृहादि न तन्मात्रकारणम्। मिथ्याज्ञाननिवृत्तावप्यनिवर्तमानश्च संसारः। तस्मात्
 मिथ्याज्ञानमात्रकारणक इति। अत्र न हेतुरसिद्धः^{२८३०}, सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ मिथ्याज्ञाननिवृत्तावपि दोषानिवृत्तौ संसारानिवृत्तेः
 स्वयमभिधानात्। दोषाणां संसारकारणत्वावेदकागमस्वीकरणाच्च। तन्मात्रं संसारकारणतत्त्वं न्यायागमविरुद्धं
 सिद्धम्। तदेवमन्येषां न्यायागमविरुद्धभाषित्वादहर्त्रेव युक्तिशास्त्राविरोधिकाक् सर्वज्ञो वीतरागश्च निश्चीयते। ततः
 स एव सकलशास्त्रादौ प्रेक्षावतां संस्तुत्यः।

२३३. ये^{२८५८} त्वाहुः—‘सतोपि यथार्थदर्शिनो^{२८५९} वीतरागस्येदन्तया^{२८६०} निश्चेतुमशक्तेस्तत्कार्यस्य^{२८६१} व्यापारादेस्तद्व्यभिचारादवीतरागेपि^{२८६२} दर्शनात्, सरागाणामपि^{२८६३} वीतरागवच्चेष्टमानानामनिवारणान्न^{२८६४} कस्यचित् स^{२८६५} त्वमेवाप्त इति निर्णयः संभवति’, इति तेषामपि^{२८६६} विचित्राभिसन्धितया^{२८६७} व्यापारव्याहारादिसाङ्कर्येण^{२८६८} क्वचिदप्यतिशयानिर्णये^{२८६९} कैमर्थक्याद्विशेषेष्टिः, ज्ञानवतोपि^{२८७०} विसंवादात्, क्व पुनराश्वासं^{२८७१} लभेमहि ? न हि^{२८७२} ज्ञानवतो वीतरागात्पुरुषाद्^{२८७३} विसंवादः क्वचित्संभवति, सुगतादावप्यनाश्वासप्रसङ्गात्, तस्य^{२८७४} कपिलादिभ्यो^{२८७५} विशेषेष्टेरानर्थक्यप्रसङ्गात् । न च व्यापारव्याहाराकारविशेषाणां^{२८७६} तत्र साङ्कर्यं^{२८७७} सिध्यति, विचित्राभिसन्धितानुपपत्तेः,^{२८७८} तस्याः^{२८७९} पृथग्जने रागादिमत्पज्ञे प्रसिद्धे प्रक्षीणदोषे भगवति निवृत्तेः, अस्य यथार्थप्रतिपादनाभिप्रायतानिश्चयात् ।^{२८८०} कुतश्चायं सर्वस्य विचित्राभिप्रायतामदृश्यां व्यापारादिसाङ्कर्यहेतुं निश्चिनुयात् ? शरीरित्वादेहेतोः स्वात्मनीवेति चेत्,^{२८८१} तत एव सुगतस्यासर्वज्ञत्वनिश्चयोऽस्तु । तत्रास्य हेतोः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वात् तन्निश्चयः । शरीरी च^{२८८२} स्यात्सर्वज्ञश्च, विरोधाभावात्, विज्ञानप्रकर्षे शरीराद्यप्रकर्षदर्शनादिति चेत्तत एव सर्वज्ञस्य विचित्राभिप्रायतानिश्चयोपि^{२८८३} मा भूत्, तत्रापि प्रोक्तहेतोः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वाविशेषात् । सोऽयं विचित्रव्यापारादिकार्यदर्शनात्सर्वस्य^{२८८४} विचित्राभिसन्धितां निश्चिनोति, न पुनः कस्यचिद्वचनादिकार्यातिशयनिश्चात् सर्वज्ञत्वाद्यतिशयमिति^{२८८५} कथमनुन्तः ? कैमर्थक्याच्चास्य सन्तानान्तरस्वसन्तानक्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादेर्विशेषस्येष्टिः ?^{२८८६} विप्रकृष्टस्वभावत्वाविशेषात्, वेद्यवेदकोकाररहितस्य संवेदनाद्वैतस्य वा विशेषस्य प्रमाणभूतस्य जगद्धितैषिणः^{२८८७} शास्तुस्तायिन शोभनं गतस्य सम्पूर्णं वा गतस्य पुनरनावृत्त्या सुष्ठु, वा गतस्य तस्य विशेषस्येष्टिः ?^{२८८८} सर्वत्रानाश्वासाविशेषात् । न चैवंवादिनः किञ्चिदनुमानं नाम, निरभिसन्धीनामपि बहुलं^{२८८९} कार्यस्वभावानियमोपलम्भात्, सति काष्ठादिसामग्रीविशेषे क्वचिदुपलब्धस्य तदभावे प्रायशोनुपलब्धस्य^{२८९०} मण्यादिकारणकलापेपि संभवात् । यज्जातीयो यतः संप्रेक्षितस्तज्जातीयात्तादृगिति दुर्लभनियमतायां^{२८९१} धूमधूमकेत्वादीनामपि व्याप्यव्यापकभावः कथमिव निर्णीयेत ? वृक्षः शिंशपात्वादिति लताचूतादरपि^{२८९२} क्वचिदेव दर्शनात् प्रेक्षावतां किमिव निःशङ्कं चेतः स्यात् ? तदेतदृष्टसंशयैकान्तवादिनां विदग्धम-^{२८९३} कटानामिव स्वलाङ्गलभक्षणम् ।

२३४. ननु^{२८९४} च काष्ठादिसामग्रीजन्योऽग्निर्यादृशो दृष्टो न तादृशो मण्यादिसामग्रीप्रभव इति, यज्जातीयो यतो^{२८९५} दृष्टः स तादृशादेव न पुनरन्यादृशादपि, यतो धूमपावकयोर्व्याप्यव्यापकभावो न निर्णीयते, तथा यादृशं चूतत्वं^{२८९६} वृक्षत्वेन व्याप्तं तादृशं न लतात्वेन, यतः शिंशपात्ववृक्षत्वयोरपि व्याप्यव्यापकभावनियमो दुर्लभः स्यात्, इति^{२८९७} कश्चित्, सोपि प्रतीतेरपलापकः, कार्यस्य तादृशतया प्रतीयमानस्यापि कारणविशेषातिवृत्तिदर्शनात् । यत्नतः^{२८९८} परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तत इति चेत्, स्तुतं प्रस्तुतम्, व्यापारादिविशेषस्यापि किञ्चिज्ज्ञरागादिमदसंभविनो^{२८९९} यत्नतः परीक्षितस्य भगवति ज्ञानाद्यतिशयानतिवृत्तिसिद्धेः । एतेन यत्नतः परीक्षितं व्याप्यं व्यापकं नातिवर्तत इति^{२९००} ब्रुवतापि स्तुतं प्रस्तुतमित्युक्तं वेदितव्यम्, पुरुषविशेषत्वादेः स्वभावस्य व्याप्यस्य^{२९०१} सर्वज्ञत्वादिव्यापकस्वभावानतिक्रमसिद्धेस्तद्विशेषात् । ततोऽयं प्रतिपन्नुरपराधो नानुमानस्येत्यनुकूलमाचरेति ।^{२९०२} मन्दतरधियां धूमादिकमपि परीक्षितमुक्षमाणां ततो धूमध्वजादिबुद्धेरपि व्यभिचारदर्शनात् । प्रज्ञातिशयवतां तु सर्वत्र^{२९०३} परीक्षाक्षमाणां यथा धूमादिः पावकादिकं न व्यभिचरति, तथा व्यापारव्याहाराकारविशेषः

क्वचिद्विज्ञानाद्यतिशयमपीत्यनुकूलाचरणम् । एवं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वं भगवतोर्हत एव सर्वज्ञत्वं साधयतीत्यभिधाय तदेव तत्^{२१२३} सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वमर्हत्येव सकलज्ञत्वं साधयति नान्यत्रेत्यविरोध इत्यादिना स्पष्टयति, स्वामीति शेषः । यद्यस्मादविरोधः सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वं त्वय्येव तस्माच्च त्वमेव स इत्यभिधानमसंबन्धात् । स एवाविरोधः कुतः सिद्ध इत्यारेकायां 'यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते' इत्यभिधानात् । तत्रेष्टं^{२१२४} मतं शासनमित्युपचर्यते, निराकृतवाचोपि^{२१२५} क्वचिदविप्रतिषेधात् । न पुनरिच्छाविषयीकृतमिष्टम्, प्रक्षीणमोहे भगवति मोहपर्यायात्मिकायास्तदिच्छायाः^{२१२६} संभवाभावात् । तथा हि—नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तम्, प्रणष्टमोहत्वात्, यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम्, न स प्रणष्टमोहो यथा किञ्चिज्ज्ञः, प्रणष्टमोहश्च सर्ववित्प्रमाणतः^{२१२७} साधितः, तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम्, इति केवलव्यतिरेकी हेतुर्निराकृतवाचं^{२१२८} साधयति, अव्यभिचारात् । न सर्वविदिच्छामन्तरेण वक्ति, वक्तृत्वात्, अस्मदादिवत्, इत्यनेन निराकृतवाचो विप्रतिषेध इति चेत्; नायं नियमोऽस्ति । तदभ्युपगमे को दोष इति चेत्, नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात् ।

२३५. न हि सुषुप्तौ गोत्रस्खलनादौ वाग्व्याहारादिहेतुरिच्छास्ति ।^{२१२९} प्रतिसंविदिताकारेच्छा तदा संभवन्ती पुनः स्मर्येत वाञ्छान्तरवत् । न ह्यप्रतिसंविदिताकारेच्छा संभवति या पश्चान्न स्मर्यते । पूर्वकालभाविनीच्छा तदा वागादिप्रवृत्तिहेतुप्रतिसंविदिताकारानुमेया सम्भवत्येवेति चेत्, किं पुनस्तदनुमानम् ? विवादाध्यासिता वागादिप्रवृत्तिरिच्छापूर्विका, वागादिप्रवृत्तित्वात्, प्रसिद्धेच्छापूर्वकवागादिप्रवृत्तिवदिति चेन्न, हेतुरप्रयोजकत्वात् । यथाभूतस्य हि जाग्रतो न्यमनसो वा वागादिप्रवृत्तिरिच्छापूर्विका प्रतिपन्ना देशान्तरे कालान्तरे च तथाभूतस्यैव तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्विका साधयितुं शक्या न पुनरन्यादृशोतिप्रसङ्गात् । न च सुषुप्तस्यान्यमनस्कस्य वा तत्प्रवृत्तिरिच्छापूर्वकत्वेन व्याप्तावगता, तदवगतेरसंभवात् । सा हि स्वसन्ताने तावन्न संभवति, सुषुप्त्यादिविरोधात् । सुषुप्तोन्यमनस्कश्च प्रवृत्तिमिच्छापूर्विकामवगच्छति चेति व्याहतमेतत् । पश्चादुत्थितोवगच्छतीति चेदिदमपि तादृगेव । स्वयमसुषुप्तोन्यमनाश्च सुषुप्त्यान्यमनस्कप्रवृत्तिमिच्छापूर्वकत्वेन व्याप्तामवगच्छतीति ब्रूवोः^{२१३०} कथमप्रतिहतवचनपथः स्वस्थैरास्थीयते ? तदानुमानात्तदवगतेरदोष इति चेन्न, अनवस्थाप्रसङ्गात्, तदनुमानस्यापि व्याप्तिप्रतिपत्तिपुरस्सरत्वात् तद्व्याप्तेरप्यनुमानान्तरापेक्षत्वात्, सुदूरमपि गत्वा प्रत्यक्षतस्तद्व्याप्तिप्रतिपत्तेरघटनात् ।

२३६. एतेन^{२१३१} सन्तानान्तरे तद्व्याप्तेरवगतिरपास्ता, अनुमानात्तदवगतावनवस्थानाविशेषात्, प्रत्यक्षतस्तदवगतेरसंभवाच्च । इति नानुमेया सुषुप्त्यादाविच्छास्ति तत्काला पूर्वकाला वा, तदनुमानस्यानुदायात् । तथा च सर्वज्ञप्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वे साध्ये वक्तृत्वादिहेतोः सुषुप्त्यादिना व्यभिचारात्तदनियम एव । ततश्चैतन्यकरणपाटव्योरेव साधकतमत्वम् ।

२३७. ननु च सत्यपि चैतन्ये करणपाटवे च वचनप्रवृत्तेरदर्शनाद्विवक्षापि तत्सहकारिकारणपेक्ष्यते एवेति चेत्, सहकारिकारणान्तरं न वै नियतमपेक्षणीयम्, नक्तञ्चरादेः संस्कृतचक्षुषो वाऽनपेक्षितालोकसन्निधेः

रूपोपलम्भात् । न चैवं संवित्करणपाटवयोरप्यभावे विवक्षामात्रात्कस्यचिद्वचनप्रवृत्तिः प्रसज्यते, संवित्करणवैकल्ये यथाविवक्षं वाग्वृत्तेरभावात् । न हि शब्दतोऽर्थतश्च शास्त्रपरिज्ञानाभावे तद्व्याख्यानविवक्षायां सत्यामपि तद्वचनप्रवृत्तिर्दृश्यते, करणपाटवस्य चाभावे स्पष्टशब्दोच्चारणम्, बालमूकादेरपि तत्प्रसङ्गात् । ततश्चैतन्यं करणपाटवं च वाचो हेतुरेव नियमतो न विवक्षा, विवक्षामन्तरेणापि सुषुप्त्यादौ तद्दर्शनात् । न च दोषजातिस्तद्धेतुर्यतस्तां वाणी नातिवर्तेत, तत्प्रकर्षापकर्षानुविधानाभावाद् बुद्ध्यादिवत् । न हि यथा बुद्धेः शक्तेश्च प्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते, तथा दोषजातेरपि, तत्प्रकर्षे वाचोपकर्षात् तदपकर्षे एव तत्प्रकर्षात्, यतो वक्तुर्दोषजातिरनुमीयेत । सत्यपि च रागादिदोषो कस्यचिद् बुद्धेर्यथार्थव्यवसायित्वादिगुणस्य सद्भावात् सत्यवाक्प्रवृत्तेरुपलम्भात् । कस्यचित्तु वीतरागद्वेषस्यापि बुद्धेर्यथार्थव्यवसायित्वादिदोषस्य भावो वितथवचनस्य दर्शनाद्विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते, न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा । तदुक्तम्—

विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता ।

वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्ध्यः ॥ ()

इति । ततः साधूपादेशि—‘तत्रैष्टं मतं शासनमुपचर्यते ।’ इति ।

२३८. तत्प्रसिद्धेन न बाध्यते । प्रमाणतः सिद्धं प्रसिद्धम् । तदेव कस्यचिद्बाधनं युक्तम् । विशेषणमेतत् परमतापेक्षम्, अप्रसिद्धेनाप्यनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण बोधाऽकल्पनात् । न ह्यनेकान्तशासनस्य प्रत्यक्षतः सिद्धोस्त्यनित्यत्वधर्मो बाधकः, सर्वथा नित्यत्वादिधर्मवत् । अनुमानात्सिद्धो बाधक इति चेन्न तै प्रमाणात्प्रतिबन्धसिद्धेरभ्युपगमात् । न खलु परेषां प्रत्यक्षमग्निधूमयोः क्षणभङ्गसद्भावयोर्वा साकल्येन व्याप्तिं प्रति समर्थम्, अविचारकत्वात्सन्निहितविषयत्वाच्च । अस्मदादिप्रत्यक्षं हि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिग्राहि परैरभ्युपगन्तव्यम्, न योगिप्रत्यक्षम्, अनुमानवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, योगिप्रत्यक्षेण देशतः कात्स्न्यतो वा निश्शेषसाध्यसाधनव्यक्तिसाक्षात्करणे समारोपस्याप्यभावात्, तद्व्यवच्छेदनार्थमप्यनुमानोपयोगायोगात् । तच्च निर्विकल्पकमिव सविकल्पकमपि न विचारकम्, पूर्वापरपरामर्शशून्यत्वादभिलापसंसर्गरहितत्वात् । सन्निहितविषयं च, देशकालस्वभावविविक्तार्थागोचरत्वात् । तत्र साकल्येन व्याप्तिग्रहणसमर्थम् ।

२३९. न चानुमानमनवस्थानुषङ्गात् । व्याप्तिग्राहिणोनुमानस्यापि व्याप्तिग्रहणपुरस्सरत्वात्तद्व्याप्तेरप्यनुमानान्तरापेक्षत्वात् क्वचिदप्यवस्थानाभावात् । एवमप्रसिद्धव्याप्तिकं च कथमनुमानमेकान्तवादिनामनित्यत्वाद्येकान्तधर्मस्य साधकं येन प्रमाणसिद्धः सर्वथैकान्तोऽनेकान्तशासनस्य बाधकः स्यात् । स्याद्वादिनां तु, परोक्षान्तर्भाविना नस्तर्केण सम्बन्धो व्यवतिष्ठते, तस्य विचारकत्वात्, प्रत्यक्षानुपलम्भसहकारिणो मतिज्ञानविशेषपरोक्षतर्कज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषादुपजायमानस्य यावान् कश्चिद् धूमः स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवतीति शब्दयोजनासहितपरामर्शात्मकत्वात्कालत्रयत्रिलोकवर्तिसाध्यसाधन-व्यक्तिविषयत्वाच्च व्याप्तिं प्रति समर्थत्वात्, प्रत्यक्षवद्व्याप्तिग्रहणपूर्वकत्वाभावादनुमानोहान्तरान-

पक्षत्वादनवस्थाननुषङ्गात्, संवादकत्वेन समारोपव्यवच्छेदकत्वेन च प्रमाणत्वात्। तदप्रमाणत्वे न लैङ्गिकं प्रमाणमिति शेषः, समारोपव्यवच्छेदाविशेषात्। तर्कतः सम्बन्धस्याधिगमे समारोपविरोधात्। न हि निर्विकल्पकोधिगमोस्ति, यतस्तत्र समारोपोपि स्यात्। किं तर्हि? अधिगमोपि व्यवसायात्मैव, तदनुत्पत्तौ सतोपि दर्शनस्य साधनान्तरापेक्षया सन्निधानाऽभेदात्, सुषुप्तचैतन्यवत्।

२४०. सन्निधानं हीन्द्रियार्थसन्निकर्षः। तत्स्वयमप्रमाणमाख्यत् तथागतः, साधनान्तरापेक्षत्वात् तस्यार्थपरिच्छित्तौ। तत एव दर्शनस्याप्रमाणत्वम्। सुषुप्तचैतन्यवत्, स्वयं संशयविपर्यासानध्यवसायाव्यवच्छेदकत्वात्। तद्व्यवच्छेदिनो निश्चयस्य जननात्प्रमाणं दर्शनमिति चेत्, तत एव सन्निकर्षः प्रमाणमस्तु। तस्यासाधकतमत्वात् प्रमाणत्वमिति चेत्, कुतस्तस्यासाधकतमत्वम्? अचेतनत्वात्, घटादिवत्, इति चेत्, दर्शनस्याप्यसाधकतमत्वं चेतनत्वात् सुषुप्तचैतन्यवत्किं न स्यात्। यस्य भावार्थः परिच्छिन्नो व्यवहियतेऽभावे चाऽपरिच्छिन्नस्तद्दर्शनं साधकतममिति चेत्, सन्निकर्षः साधकतमोऽस्तु, भावाभावयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात्। न हि सन्निकर्षस्य भावे भाववत्त्वमभावेऽभाववत्त्वमर्थपरिच्छित्तेरप्रतीतम्। नाप्यर्थस्यान्यत् परिच्छिन्नत्वम्, तत्परिच्छित्युत्पत्तेः परिच्छित्तिरुत्पन्ना चेत्, परिच्छिन्नोर्थ उच्यते। अथ निर्विकल्पकदृष्टौ सत्यामर्थस्य परिच्छित्तिर्निश्चयात्मकार्थ परिच्छेदव्यवहारहेतुरुत्पद्यते नासत्याम्। अतस्तस्याः साधकतमत्वमिति तवाकूतम्, तदपि न समीचीनम्। सन्निकर्षादेव तदुत्पत्त्यविरोधात्। कथमचेतनात्सन्निकर्षाच्चेतनस्यार्थनिश्चयस्योत्पत्तिर्न विरुध्यते, इति चेत्, तवा कथमचेतनादिन्द्रियादेरविकल्पदर्शनस्य चेतनस्योत्पत्तिरविरुद्धा। चेतनान्मनस्कारादिन्द्रियादिसहकारिण दर्शनस्योत्पत्तिरिति चेत्तर्हि चेतनादात्मनः सन्निकर्षसहकारिणोऽर्थनिश्चयोत्पत्तिरपि कथं विरुध्यते। य स्वार्थव्यवसायात्मकोधिगमो न भवेत्। स च साकल्येन साध्यसाधनसम्बन्धस्तर्कादेवेति प्रमाणं तर्क स्वार्थाधिगमफलत्वात्, समारोपव्यवच्छेदकत्वात् संवादकत्वात् च, अनुमानादिवत्। ततः स्याद्वादि व्याप्तिसिद्धेरस्त्यनुमानम्, न पुनरेकान्तवादिनाम्, यतोनुमानसिद्धेन सर्वथैकान्तोनानेकान्तस्य बाधाकल्पना स्यात् इत्यप्रमाणसिद्धेनापि बाधा कल्पनीयैव परैः, अन्यथा स्वमतनियमाघटनात्। तथा सति सूक्तं परमतापेक्षं विशेष प्रसिद्धेन न बाध्यते इति।

२४१. एतेन यदुक्तं भट्टेन—

नरः कोप्यस्ति सर्वज्ञः स तु सर्वज्ञ इत्यपि।
साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत्॥
सिसाधयिषितो योर्थः सोनया नाभिधीयते।
यस्तूच्यते न तत्सिद्धौ किञ्चिदस्ति प्रयोजनम्॥
यदीयागमसत्यत्वसिद्धौ सर्वज्ञतोच्यते।
न सा सर्वज्ञसामान्यसिद्धिमात्रेण लभ्यते॥

यावद्बुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा ।
यत्र वचनं सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः ॥
अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे वचसोन्यस्य सत्यता ।
सामानाधिकरण्ये हि तयोरङ्गाङ्गिता भवेत् ॥

२४२. इति तन्निरस्तम्, भगवतोर्हत एव युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वेन च सर्वज्ञत्ववीतरागत्वसाधनात् । ततस्त्वमेव महान् मोक्षमार्गस्य प्रणेता नान्यः कपिलादिः । यस्मात्—

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥७॥

२४३. त्वन्मतमनेकान्तात्मकं वस्तु तज्ज्ञानं च । तदेवामृतम्, अमृतस्य मोक्षस्य कारणत्वात्, सर्वथा निर्बाधत्वेन परितोषकारित्वाच्च । ततो बाह्याः सर्वथैकान्तास्तदभिनिवेशिनश्च वादिनः । ते चाप्ताभिमानदग्धा एव विसंवादकत्वेन तत्त्वतोऽनाप्तत्वादवयमाप्ता इत्यभिमानेन स्वरूपात्रच्यावितत्वाद्गधा इव दग्धा इति समाधिवचनत्वात्, तेषां स्वेष्टस्य सदाद्येकान्तस्य दृष्टबाधनात् ।

२४४. अनेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणं बहिरन्तश्च सकलजगत्साक्षीभूतं विपक्षे प्रत्यक्षविरोध-
लक्षणमनेन दर्शयति । सदाद्येकान्तविरोधस्यानेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणलक्षणात्वात्, बहिरिवान्तरपि तत्त्वस्यानेकान्तात्मकतया सकलदेशकालवर्तिप्राणिभिरनुभवनात् सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वसिद्धेः । न हि किञ्चिद्रूपान्तरविकलं सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तरूपं संवेदनमन्यद्वा संपश्यामो यथात्र प्रतिज्ञायते, चित्रज्ञानवत् कथञ्चिदसंकीर्णविशेषैकात्मनः सुखादिचैतन्यस्य वर्णसंस्थानाद्यात्मनः स्कन्धस्य च प्रेक्षणात् ।

२४५. स्यान्मतम्—‘सुखादिचैतन्यमसङ्कीर्णविशेषात्मकमेव न पुनरेकात्मकम्, सुखचैतन्यादाह्लादना-
कारान्मेयबोधनाकारस्य विज्ञानस्यान्यत्वात्, विरुद्धधर्माध्यासस्यान्यत्वसाधनत्वात्, अन्यथा विश्वस्यैकत्व-
प्रसङ्गात्’ इति, तदसत्, चित्रज्ञानस्याप्येकात्मकत्वाभावप्रसङ्गात्, पीताकारसंवेदनस्य नीलाद्याकारसंवेदना-
दन्यत्वात्, तद्वद्विरुद्धधर्माध्यासात् । यदि पुनरशक्यविवेचनत्वात्पीताद्याकारसंवेदनमेकात्मकमुरीक्रियते, तदा सुखादिसंवेदनेन कोपराधः कृतः ? तस्याप्यशक्यविवेचनत्वादेवैकात्मकत्वोपपत्तेः, पीताद्याकाराणामिव सुखाद्याकाराणां चैतन्यान्तरं नेतुमशक्यविवेचनत्वसद्भावात् । तर्ह्येकात्मकमेव सुखादिचैतन्यं न पुनरसंकीर्णविशेषात्मकमित्यपि न मन्तव्यम्, चित्रज्ञानस्याप्यसंकीर्णविशेषात्मकत्वाभावप्रसङ्गात् । तथा च सति न तच्चित्रमेकज्ञानवत् । चित्रज्ञाने पीताद्याकारप्रतिभासस्याविद्योपकल्पितत्वादेकात्मकत्वमेव वास्तवमिति चेत्कथमेकानेकाकारयोः प्रतिभासाविशेषेपि वास्तवेतरत्वप्रविवेकः ? एकाकारस्यानेकाकारेण विरोधात्तस्यावास्तवत्वे कथमेकाकारस्यैवावास्तवत्वं न स्यात् ? स्वप्नज्ञानेऽनेकाकारस्यावास्तवस्य प्रसिद्धेश्चित्रज्ञानेपि तस्यावास्तवत्वं युक्तं कल्पयितुमिति चेत्, केशादावेकाकारस्याप्यवास्तवत्वसिद्धेस्तत्रावास्तवत्वं

कथमयुक्तम् ? पीताद्याकारस्य संवेदनादभेदेऽनेकत्वविरोधाद्भेदे प्रतिभासासम्भवात्, प्रतिभासे वा संवेदना-
न्तरत्वापत्तेरवास्तवत्वमेवेति चेत्, तत एवैकारस्यावास्तवत्वमस्तु, तस्यापि पीताद्याकारप्रतिभासेभ्योनर्थान्तर-
तायामेकत्वविरोधादर्थान्तरतायां संवित्यभावात्, सवितौ वा ज्ञानान्तरत्वप्रसक्तेर्विशेषाभावात् । ततो न
चित्रज्ञानेऽनेकाकारप्रतिभासस्यैव प्रेक्षावद्भिरवास्तवत्वं शक्यं कल्पयितुम्, येनेदमेवाभिधीयमानं शोभेत—

किं स्यात्सा चित्रतैकस्यां न स्यात्तस्यां मतावपि ।
यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ।।

इति । न पुनरिदमपि—

किं नु स्यादेकता न स्यात्तस्यां चित्रमतावपि ।
यदीदं रोचते बुद्ध्यै चित्रायै तत्र के वयम् ।। ()

२४६. ननु चैकस्यां मतां चित्रतापायेपि संवेदनमात्रस्य भावान्न स्वरूपस्य स्वतो गतिर्विरुध्यते ।
संवेदनमात्रस्य त्वपाये सा विरुद्धयेतेति चेन्न, तदभावेपि नानापीतादिप्रतिभाससद्भावात्तदविरोधात् । नन्वेवं
नीलसंवेदनस्यापि प्रतिपरमाणुभेदात्रीलाणुसंवेदनैः परस्परं भिन्नैर्भवितव्यम्, तत्रैकनीलपरमाणुसंवेदनस्याप्येव
वेद्यवेदकसंविदाकारभेदात्, त्रितयेन भवितव्यम्, वेद्याकारादिसंवेदनत्रयस्यापि, प्रत्येकमपरस्ववेद्याकारादिसंवेदन-
त्रयेण, इति परापरवेदनत्रयकल्पनादनवस्थानात्र क्वचिदेकसंवेदनसिद्धिः संविदद्वैतविद्विषाम् ।
क्वचिदप्येकात्मकत्वानभ्युपगमे च कुतो नानात्मव्यवस्था ? वस्तुन्येकत्रापैकवस्त्वपेक्षयानेकत्वव्यवस्थोपपत्तेः
क्वचिदैक्योपगमे वा कथं चित्रमतौ नैक्यमविरुद्धम् ? चित्राकारापायेपि तस्य सम्भवात् । इति कश्चित्
सोप्यप्रेक्षापूर्ववादी, तथा सति चित्रज्ञाने संविदाकारवदेकस्य पीताकारस्य नीलाद्याकारस्य च सद्भावासिद्धिः
परस्परापेक्षयानेकत्वसिद्धेरनेकचैतन्यव्याप्तस्यानेकाकारस्य चित्रज्ञानस्यान्तरेकानेकात्मकत्वसाधनं
निदर्शनत्वोपपत्तेः ।

२४७. स्यान्मतम्—सुखादीनां चैतन्यं व्यापकं भवत् किमेकेन स्वभावेन भवत्यनेकेन स्वभावेन वा
यद्येकेन तदा तेषामेकस्वरूपत्वापत्तिः । अथानेकेन तदा सोप्यनेकस्वभावः परेणानेकेन स्वभावेन व्यापनी
इत्यनेनवस्था । अथैकादृशेन स्वभावेन सुखादयश्चैतन्येन व्याप्यन्ते तदानेकेन स्वभावेन सजातीयेनेत्युक्तं स्यात् । त
च सैवानवस्था । न च गत्यन्तरमस्ति येन सुखादिव्याप्यैकं चैतन्यं सिद्ध्येदिति । तदेतच्चित्रज्ञानेपि समानम् । त
पीताद्याकारव्यापिनः स्वयं संवेदनात्र दोष इति चेत्, सुखादिव्यापिनश्चैतन्यस्य सह क्रमेण च स्व
संवेदनात्कथमुपालम्भः स्यात् ? न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । न च सुखादीनां चैतन्यव्याप्तत्वसंवे
भ्रान्तम्, अचेतनत्वग्राहिप्रमाणाभावात् । अचेतनाः सुखादयः, उत्पत्तिमत्त्वात्, घटादिवत्, इत्यनु
सुखाद्यचेतनत्वग्राहीति चेन्न, तस्य प्रत्यक्षबाधितविषयत्वात्, चित्समन्वितानामेव सुखादि
स्वसंवेदनप्रत्यक्षे सर्वदा प्रतिभासनात् । अनुमानविरुद्धश्च पक्षः । तथा हि—चेतनाः सुखादि

स्वसंवेद्यत्वात्, पुरुषवत् । पुरुषसंसर्गातिषां^{३१३७} स्वसंवेद्यत्वात् स्वतः संवेद्यत्वमसिद्धमिति चेन्न, जातुचिदस्वसंवेद्यत्वाऽप्रतीतेस्तथा^{३१३८} वक्तुमशक्तेः । अन्यथा पुरुषस्य स्वसंवेद्यसुखादिसंबन्धात्स्वसंवेद्यत्वम्, न स्वत इति^{३१३९} वदन्तो निवारयितुमशक्यत्वात्, चैतन्यविशेषण हेतोर्व्यभिचारप्रतिपादनाच्च । न ततोऽचेतनत्वसिद्धिः सुखादीनाम् । न चैषां चेतनत्वसाधनेऽपसिद्धान्तः स्याद्वादिनां प्रसज्येत, चैतन्यजीवद्रव्यार्थादेशाच्चेतनत्वप्रसिद्धेः^{३१४०} सकलौपशमिकादिभावानां सुखज्ञानादिप्रतिनियतपर्यायार्थादेशादेव सुखादीनां ज्ञानदर्शनाभ्यामन्यत्ववचनात् ।^{३१४१} तथापि ज्ञानात्मकाः सुखादयः, ज्ञानाभिन्नहेतुजत्वाद्विज्ञानान्तरवत्, इति चेन्न, सर्वथा विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वासिद्धत्वात्, सुखादीनां सद्ब्रह्मोदयादिनिमित्तत्वाद्विज्ञानस्य तु ज्ञानावरणान्तरायक्षयोपशमादिनिबन्धनत्वात् । कथञ्चिद्विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं तु रूपालोकादिनानैकान्तिकम्,^{३१४२} यथैव हि ततो विज्ञानस्योत्पत्तिस्तथा रूपालोकादिक्षणान्तरोत्पत्तिरपीति परैः स्वयमभिधानात् ।^{३१४३}

२४८. तदेतेन^{३१४४} यदध्यधायि—^{३१४५}

तदतद्रूपिणो^{३१४६} भावास्तदतद्रूपहेतुजाः ।
तत्सुखादि^{३१४७} किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥ ()

२४९. तदपास्तम्, सुखादीनां विज्ञानरूपत्वासिद्धेः,

सुखमाह्लादनाकारं^{३१४८} विज्ञानं मेयबोधनम् ।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यूनः कान्तासमागमे ॥ ()

२५०. इति वचनादतद्रूपाः^{३१४९} सुखादयः इति । अतद्रूपाणां^{३१५०} तद्रूपोपादानत्वे सर्वस्य सर्वोपादानत्वप्रसक्तिः । न च सुखादयो विज्ञानाभिन्नोपादानाः स्युः ।

२५१. विज्ञानाभिन्नसहकारित्वं तु यथा सुखादीनां तथा रूपादीनामुपि^{३१५१} इति । ततस्तेषां विज्ञानात्मकत्वसाधने रूपादीनामपि तथात्वसाधनं स्यात् । तदुक्तम्—^{३१५२}

तदतद्रूपिणो^{३१५३} भावास्तदतद्रूपहेतुजाः ।
तद्रूपादि^{३१५४} किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम् ॥ () इति ।

यदि पुनरिन्द्रियानिन्द्रियहेतुजत्वं विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वमित्यभिधीयते, तदपि न सुखादीनां ज्ञानत्वं साधयति, द्रव्येन्द्रियानिन्द्रियैर्व्यभिचारात् ।^{३१५५} इति नैकान्ततो ज्ञानात्मकाः सुखादयः, द्रव्यार्थत एव तेषां चेतनत्वोपपत्तेः, चेतनद्रव्यादात्मनोऽनर्थान्तरभूतानामचेतनत्वविरोधात् ।^{३१५६}

२५२. एतेन ज्ञानादर्थान्तरभूतत्वात्सुखादीनामचेतनत्वमेवेति^{३१५७} वदन्तोऽपाकृताः प्रत्येतव्याः, चेतनादात्मनोनर्थान्तरत्वेन कथञ्चिच्चेतनत्वसिद्धेः । आत्मनश्चेतनत्वमसिद्धमिति चेन्न, तस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । तथात्मा चेतनः, प्रमातृत्वात्, यस्त्वचेतनः स न प्रमाता, यथा घटादिः, प्रमाता चात्मा, तस्माच्चेतन इत्यनुमानाच्च तत्सिद्धम् । प्रमितिस्वभावचेतनासमवायादात्मनि चेतनत्वसाधने सिद्धसाध्यतेति चेन्न,^{३१५८} स्वयं

सामान्यतश्चेतनत्वसाधनात्, तदभावे चेतनाविशेषप्रमितिसमवायायोगात्, ^{३१६६}पटादिवत्, कथञ्चित्तादात्म्यस्यैव
समवायस्य साधनात्। ^{३१६७}चेतनोदप्यात्मनः कथमभिन्नाः सुखादयो भिन्नप्रतिभासविरोधादिति चेन्न, ^{३१६८}तत्र सर्वथा
भिन्नप्रतिभासस्यासिद्धत्वात्, कथञ्चिद्विन्नप्रतिभासस्य ^{३१७०}कथञ्चिदभेदाविरोधात्, चित्रज्ञानवदेव सुखाद्यात्मनः
पुरुषस्यैकस्य घटनात्, सर्वेषामेकानेकात्मनश्चित्रज्ञानस्येष्टत्वात्। तत्सिद्धं चित्रज्ञानवत्कथञ्चिदसंकीर्णविशेषैकात्मनः
सुखादिचैतन्यस्य प्रेक्षणं तथा वर्णसंस्थानाद्यात्मनः ^{३१७३}स्कन्धस्य च। न हि वर्णादीनामेव प्रेक्षणं ^{३१७४}प्रत्यक्षबुद्धौ, न पुनः
^{३१७६}स्कन्धस्यैकस्येति कल्पनमुपपन्नम्, ^{३१७७}सर्वाग्रहणप्रसङ्गात्, ^{३१७८}स्कन्धव्यतिरेकेण वर्णादीनामनुपलम्भात्
^{३१७९}स्कन्धस्यैवासत्त्वात्।

२५३. अथ 'प्रत्यासन्नासंसृष्टा रूपादिपरमाणवः प्रत्यक्षाः, तेषां ^{३१८०}स्वकारणसामग्रीवशात्प्रत्यक्षसंविज्जन-
नसमर्थानामेवोत्पत्तेः, ^{३१८१}स्कन्धस्यापि तत एव ^{३१८२}परेषां प्रत्यक्षतोपपत्तेरन्यथा' ^{३१८३}सर्वस्कन्धानां प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्,
स्कन्धत्वाविशेषात्। तदविशेषेपि ^{३१८४}केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वेऽपरेषामप्रत्यक्षत्वस्वभावत्वे ^{३१८५}पिशाचशरीरादीनां तथा
स्वकारणादुत्पत्तेः ^{३१८६}परमाणूनामपि ^{३१८७}केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वमन्येषामप्रत्यक्षत्वं तत एवास्तु, ^{३१८८}किमवयविपरिकल्पनया ?
तस्याऽमूल्यदानक्रयित्वात्। स हि ^{३१८९}प्रत्यक्षे स्वात्मानं न समर्पयति, ^{३१९०}प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छतीत्यमूल्यदानक्रयीति,
^{३१९१}विकल्पबुद्धावेव तस्य ^{३१९२}प्रतिभासनाद्विचार्यमाणस्य ^{३१९३}सर्वथानुपपन्नत्वात्' इति मतम्, ^{३१९४}तदप्यसंगतमेव,
प्रत्यासन्नासंसृष्टपरमाणूनां ^{३१९५}तथात्वेन ^{३१९६}कस्यचित्कदाचिन्निश्चयासत्त्वात् ^{३१९७}प्रत्यक्षतानुपपत्तेः, ^{३१९८}स्कन्धस्यैव
स्फुटमध्यक्षेवभासनात् तथा निश्चयनाच्च ^{३१९९}प्रत्यक्षत्वघटनात्। न च ^{३२००}परमाणुवत्सर्वे स्कन्धाः समपरिमाणा एव, येन
केषाञ्चित्प्रत्यक्षत्वे सर्वेषां ^{३२०१}प्रत्यक्षस्वभावता स्यात्, ^{३२०२}अणुमहत्त्वादिपरिमाणभेदेन ^{३२०३}तेषामदृश्येतरस्वभाव-
भेदाद्भेदसिद्धेः। न चायममूल्यदानक्रयी, ^{३२०४}प्रत्यक्षे स्वसमर्पणेन ^{३२०५}प्रत्यक्षतास्वीकरणात्, ^{३२०६}सर्वथा विचार्यमाणस्यापि
घटनात्। ^{३२०७}विचारयिष्यते चैतत्पुरस्तात्।

२५४. अपरः ^{३२१०}प्राह—स्कन्ध एव, न वर्णादयस्ततो न्ये सन्ति, तस्यैव चक्षुरादिकरणभेदाद्वर्णादिभेद-
प्रतिभासनात्, ^{३२११}किञ्चिदङ्गुलिपिहितनयनभेदाद्दीपकालिकाभेदप्रतिभासनवदिति; ^{३२१२}तदप्यसम्यक्; सत्ताद्यद्वैतप्रसङ्गात्।
शक्यं हि वक्तुम्, सत्तैवैका, न ^{३२१३}द्रव्यादयस्ततोर्थान्तरभूताः सन्ति ^{३२१४}कल्पनाभेदात्तद्भेदप्रतिभासनादिति। न चैतद्युक्तमिति
निवेदयिष्यते। ततश्चित्रज्ञानवन्न केवलं ^{३२१५}सुखाद्यात्मनश्चैतन्यस्य प्रेक्षणं सिद्धम्। किं तर्हि ? ^{३२१६}वर्णसंस्थानाद्यात्मनः
स्कन्धस्यापि। ततः ^{३२१७}सूक्तम्— न हि ^{३२१८}किञ्चिद्रूपान्तरविकलं ^{३२१९}सदेकान्तरूपमसदेकान्तरूपं वा, ^{३२२०}नित्यैकान्तरूपम-
नित्यैकान्तरूपं वा, ^{३२२१}अद्वैतैकान्तरूपं ^{३२२२}द्वैताद्येकान्तरूपं वा, ^{३२२३}संवेदनमन्तस्तत्त्वमन्यद्बहिस्तत्त्वं ^{३२२४}संपश्यामो यथा
प्रतिज्ञायते सर्वथैकान्तवादिभिरिति।

२५५. सामान्यविशेषैकात्मनः ^{३२२५}संवित्तिरेकान्तस्यानुपलब्धिर्वा ^{३२२६}सर्वतः सिद्धा ^{३२२७}चक्षुरादिमतामनार्हत-
कल्पनामस्तंगमयतीति ^{३२२८}किं नः ^{३२२९}प्रमाणान्तरेण। न तावत्सामान्यैकान्तस्योपलब्धिर्विशेषस्याप्युपलब्धेः
नापि ^{३२३०}विशेषैकान्तस्य, ^{३२३१}सामान्यस्यापीक्षणात्। न सामान्यविशेषैकान्तयोरेव ^{३२३२}परस्परनिरपेक्षयोः, ^{३२३३}एकात्मनोप्युप-
लक्षणात्। न चैकात्मन एव ^{३२३४}सामान्यविशेषैकात्मनः, ^{३२३५}ततो जात्यन्तरस्य ^{३२३६}संवित्तेः। ^{३२३७}सर्वं हि वस्तु सामान्यं

विशेषापेक्षया विशेषः सामान्यापेक्षया वाऽपोद्धारकल्पनायाम्, स्वरूपेण तु सामान्यविशेषात्मकमेकम्, तस्य संवित्तिश्चक्षुरादिमतामनार्हतकल्पनामस्तङ्गमयति, चक्षुरादिविकलानामेव तत्संभवात् । एकान्तस्यानुपलब्धिर्वातामस्तङ्गमयति तत एव । तथा हि—नास्ति सर्वथैकान्तः सर्वदानेकान्तोपलब्धेरिति स्वभावविरुद्धोपलब्धिः, नास्ति सर्वथैकान्तोऽनुपलब्धेरिति स्वभावानुपलब्धिर्वा सर्वतश्चक्षुरादेः संवेदनात्सिद्धाऽध्यवसीयते ।

२५६. ननु ^{३२३४} 'सर्वथैकान्तस्य क्वचित्कदाचिदुपलब्धौ न सर्वत्र सर्वदा प्रतिषेधः सिद्धयेत्, तस्यानुपलब्धौ नानेकान्तेन विरोधः, सत एव कथञ्चित्केनचिद्विरोधप्रतीतेः । प्रतिषेधश्च न स्यात्, तत एव ।' इति कश्चित्; तदसत्; सर्वथैकान्तस्याध्यारोप्यमाणस्य प्रतिषेधसाधनात्, तद्विरुद्धोपलब्धिसिद्धेस्तत्स्वभावानुपलब्धिसिद्धेश्च, स्वयमन्यथा कस्यचिदनिष्टतत्त्वप्रतिषेधायोगादिष्टतत्त्वनियमानुपपत्तेः । अथवा ^{३२३६} प्रत्यक्षमेव सामान्यविशेषात्मकमेकं वस्तु ^{३२३७} विदधत्सर्वथैकान्तं ^{३२३९} प्रतिषेधयतीति किं नः ^{३२४०} प्रमाणान्तरेणानुमानेनानुपलब्धिलिङ्गेन ^{३२४१} समर्थनापेक्षेण, ^{३२४२} प्रयासमन्तरेणेष्टानिष्टतत्त्वविधिप्रतिषेधसिद्धेः । न हि ^{३२४३} दृष्टाज्ज्येष्ठं ^{३२४४} गरिष्ठमिष्टम्, ^{३२४५} तदभावे ^{३२४६} प्रमाणान्तराप्रवृत्तेः, ^{३२४७} समारोपविच्छेदविशेषाच्च ।

२५७. ननु च दृष्टं प्रत्यक्षमिष्टं पुनरनुमानादिप्रमाणम् । तत्र यथा दृष्टं ज्येष्ठम्, अनुमानादेरग्रेसरत्वात्, ^{३२४८} तथानुमानाद्यपि ^{३२४९} प्रत्यक्षात्, ^{३२५०} तस्यापि ^{३२५१} तदग्रेसरत्वात्, क्वचिदनुमानाद्युत्तरकालं प्रत्यक्षस्य प्रवृत्त्युपलक्षणत्वात् । यथा च दृष्टमविसंवादकत्वाद्वरिष्ठमिष्टात् तथेष्टमपि, तदविशेषात् । ततः कथं दृष्टमिष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठं च व्यवतिष्ठते, न पुनरिष्टं दृष्टादिति न ^{३२५२} चौघमनवद्यम्, दृष्टस्य ^{३२५३} लिङ्गादिविषयस्याभावेऽनुमानादेः प्रमाणान्तरस्याप्रवृत्तेः, अनुमानान्तराल्लिङ्गादिप्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात् प्रत्यक्षस्यैव नियतसकलप्रमाणपुरस्सरत्वप्रसिद्धेज्येष्ठत्वोपपत्तेः, प्रत्यक्षस्यानुमानादिना विनैव प्रवृत्तेरनुमानादेर्दृष्टात्पुरस्सरत्वाभावात्, ततो ज्येष्ठत्वायोगात् । दृष्टस्यैव ^{३२५४} चेष्टाद्वरिष्टत्वात् ^{३२५५} समारोपविच्छेदविशेषात् । न हि ^{३२५६} यादृशो ^{३२५७} दृष्टात्समारोपविच्छेदो ^{३२५८} विशेषविषये ^{३२५९} प्रतिनिवृत्ताकाङ्क्षोऽक्षूणतया ^{३२६०} लक्ष्यते ^{३२६१} तादृशोऽनुमानादेः, ^{३२६२} तेन ^{३२६३} सामान्यतः ^{३२६४} समारोपस्य ^{३२६५} व्यवच्छेदनात् । ^{३२६६} दृष्टस्यान्वयव्यतिरेकयोः ^{३२६७} स्वभावभेदप्रदर्शनार्थत्वाच्च ^{३२६८} गरिष्ठत्वसिद्धेः । ^{३२६९} प्रत्यक्षमेव ^{३२७०} हि ^{३२७१} स्वविषये ^{३२७२} सामान्यविशेषात्मकत्वान्वयस्य ^{३२७३} विधिलक्षणस्य ^{३२७४} सर्वथैकान्तव्यतिरेकस्य ^{३२७५} च ^{३२७६} प्रतिषेधलक्षणस्य ^{३२७७} स्वभावभेदप्रदर्शन- ^{३२७८} प्रयोजनमुपलक्ष्यते साक्षात्, न पुनरनुमानादि, तस्य सामान्यतस्तत्प्रदर्शनप्रयोजकत्वात् । किमर्थं ^{३२७९} पुनरार्हतस्येष्टस्य ^{३२८०} प्रसिद्धेनाबाधनं ^{३२८१} भगवतोर्हतः ^{३२८२} परमात्मकत्वं ^{३२८३} चाभिधायं ^{३२८४} सर्वथैकान्तस्य ^{३२८५} दृष्टेन ^{३२८६} बाधनं ^{३२८७} स्वयमसम्मतस्य, ^{३२८८} कपिलादीनां ^{३२८९} परमात्मत्वाभावं च ^{३२९०} सामर्थ्यलभ्यमपि ^{३२९१} ब्रवीति ^{३२९२} ग्रन्थकार इति चेत् ।

२५८. अनेकान्तैकान्तयोरुपलम्भानुपलम्भयोरेकत्वप्रदर्शनार्थं तावदुभयमाह मतान्तरप्रतिक्षेपार्थं वा, ^{३२९३} यदाह ^{३२९४} धर्मकीर्तिः—^{३२९५} साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगतावुभयप्रतिपादनं ^{३२९६} पक्षादिवचनं वा ^{३२९७} निग्रहस्थानमिति । न ^{३२९८} तद्युक्तम्; ^{३२९९} कुत इति चेत्, ^{३३००} साधनसामर्थ्येन ^{३३०१} विपक्षव्यावृत्तिलक्षणेन ^{३३०२} पक्षं ^{३३०३} प्रसाधयतः ^{३३०४} केवलं ^{३३०५} वचनाधिक्योपालम्भच्छलेन ^{३३०६} पराजयाधिकरणप्राप्तिः ^{३३०७} स्वयं निराकृतपक्षेण ^{३३०८} प्रतिपक्षिणा ^{३३०९} लक्षणीया, इति ^{३३१०} वचनात् ।

२५९. यथोक्तेन हि साधनसामर्थ्येन स्वपक्षं साधयतः सद्वादिनः सभ्यसमक्षं जय एवेति युक्तम्, न केवलं वचनाधिक्योपालम्भव्याजेन पराजयाधिकरणप्राप्तिः साधीयसी, स्वसाध्यं प्रसाध्य नृत्यतोपि दोषाभावाल्लोकवत्। सा च स्वयं निराकृतपक्षेण प्रतिवादिना लक्षणीया, इत्यपि न युक्तम्, परेण निराकृतपक्षस्यैव पराजयप्राप्तियोग्यत्वनिश्चयात्, लोकवदेव। यदि पुनः स्वपक्षमसाधयतो वादिनो वचनाधिक्येन प्रतिवादी पराजयप्राप्तिं लक्षयेत्, तदा स्वपक्षं साधयन्नसाधयन्वा ? प्रथमपक्षे स्वपक्षसिद्धयैव परस्य पराजितत्वाद् वचनाधिक्योद्भावनमनर्थकम्, तस्मिन् सत्यपि पक्षसिद्धिमन्तरेण जयायोगात्। द्वितीयपक्षे तु युगपद्वादिप्रतिवादिनोः पराजयप्रसङ्गो जयप्रसङ्गो वा, स्वपक्षसिद्धेरभावाविशेषात्।

२६०. स्यान्मतम्—‘न स्वपक्षसिद्धयसिद्धिनिबन्धनौ जयपराजयौ तयोर्ज्ञानाज्ञाननिबन्धनत्वात्। तत्र साधर्म्यवचने वैधर्म्यवचनेपि वार्थस्य प्रतिपत्तौ तदुभयवचनात् साधनवचनसामर्थ्याज्ञानं वादिनः स्यादेव। प्रतिवादिनस्तु तदुद्भावयतस्तज्ज्ञानम्। अतस्तद्धेतुकौ तयोर्जयपराजयौ कथमयुक्तौ स्याताम्।’ इति; तदपि न परीक्षाक्षमम्; वादिप्रतिवादिनः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, क्वचिदेकत्रापि पक्षे ज्ञानाज्ञानयोः सम्भवात्। न हि शब्दादौ नित्यत्वस्यानित्यत्वस्य वा ज्ञानाज्ञानपरीक्षायामेकस्य तद्विज्ञानमपरस्य तदविज्ञानं जयस्य पराजयस्य वा निबन्धनं न सम्भवति, साधनसामर्थ्याज्ञानाज्ञानवत्। युगपत्साधनसामर्थ्याज्ञाने च वादिप्रतिवादिनोः कस्य जयः पराजयो वा स्यात् ? तदविशेषात्। न कस्यचिदिति चेत्, तर्हि साधनवादिनो वचनाधिक्यकारिणो यथा साधनसामर्थ्याज्ञानं तथा प्रतिवादिनोऽपि वचनाधिक्यदोषोद्भावनात् तस्य तदोषमात्रे ज्ञानसिद्धेः। न हि यो यदोषं वेत्ति सः तद्गुणमपि, कुतश्चिन्मारणशक्तौ विदितायामपि विषद्रव्यस्य कुष्टापनयनादिशक्तौ वेदनानुदयात्। ततो न जयः पराजयो वा स्यात्।

२६१. स्यान्मतम्—‘साधनवादिना साधु साधनं वक्तव्यं दूषणवादिना च तद्दूषणम्, तत्र वादिनः प्रतिवादिना सभायामसाधनाङ्गवचनस्योद्भावेन साधु साधनाभिधानाज्ञानसिद्धेः पराजयः प्रतिवादिनस्तु तद्दूषणज्ञाननिर्णयाज्जयः स्यात्।’ इति; तदप्यपेशलम्; विकल्पानुपपत्तेः। स हि प्रतिवादी निर्दोषसाधनवादिनो वचनाधिक्यमुद्भावयेत्साधनाभासवादिनो वा ? प्रथमविकल्पे वादिनः कथं साधनस्वरूपाज्ञानम् ? तद्वचने इयत्ताज्ञानस्यैवाभावात्। द्वितीयविकल्पे तु न प्रतिवादिनो दूषणज्ञानमवस्थिते, साधनाभासस्यानुद्भा- वनात्तद्विज्ञानसिद्धेः। तद्वचनाधिक्यदोषस्य ज्ञानादूषणज्ञोऽसाविति चेत्साधनाभासाज्ञानाददूषणज्ञोपीति नैकान्ततो वादिनं जयेत्, तददोषोद्भावनलक्षणस्य पराजयस्यापि निवारयितुमशक्तेः। अथ वचनाधिक्यदोषोद्भावनादेव प्रतिवादिनो जयसिद्धौ साधनाभासोद्भावनमनर्थकमिति मन्यसे, नन्वेवं साधनाभासानुद्भावनात्तस्य पराजयसिद्धौ वचनाधिक्योद्भावनं कथं जयाय प्रकल्प्येत ? यदि पुनः साधनाभासं वचनाधिक्यं चोद्भावयन्प्रतिवादी जयतीति मतम्, तदास्य महती द्विष्टकामिता, साधर्म्यवचनादेवार्थगतौ वैधर्म्यवचनमनर्थकत्वाद् द्विष्ट्वा साधनाभासोद्भावनादेव परस्य न्यक्कारसिद्धौ तद्वचनाधिक्योद्भावनस्यानर्थकस्यापि कामितत्वात्।

२६२. अथ न वचनाधिक्यमात्रे^{३३१० ३३११} द्विष्यते, अर्थादापन्नस्य^{३३१२} स्वशब्देनाभिधानस्य द्विष्टत्वादिति मतम्; तदपि न सङ्गतम्; निगमनवचनदोषस्य प्रतिज्ञावचनदोषोद्भावनोद्गतस्यानुद्भावनप्रसङ्गात्। प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं हि निगमनम्। तच्च प्रतिज्ञावचनस्य दुष्टत्वप्रतिपत्तौ^{३३१३} दुष्टं सामर्थ्यात्^{३३१४} प्रतीयते एव। अथार्थादापन्नस्यापि निगमनवचनदुष्टत्वस्योद्भावनमदोषोद्भावनभयादभिमन्यते,^{३३१५} तर्हि^{३३१६} साधर्म्यवचनाद्वैधर्म्यस्यार्था-^{३३१७}दायात्तस्याप्यसाधनाङ्गवचनभयादभिधानं^{३३१८} मन्यताम्, विशेषाभावात्। न हि साधर्म्यमेव वैधर्म्यमेव वा साधनस्याङ्गम्, पक्षधर्मत्ववत्तदुभयस्यापि^{३३१९} साधनाङ्गत्वात्। साधनस्य त्रिरूपत्वप्रतिज्ञानात्। ततो न ज्ञानाज्ञानमात्रनिबन्धनौ जयपराजयौ शक्यव्यवस्थौ, यथोदितदोषोपनिपातात्। स्वपक्षसिद्धयसिद्धिनिबन्धनौ तु तौ निरवद्यौ, पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्याभावात्,^{३३२०} कस्यचित्कुतश्चित्स्वपक्षसिद्धौ सुस्थितायां परस्य पक्षसिद्धेरसंभवात्। सकृत्तज्जयपराजययोरप्रसक्तेः। न हि वादिना साध्याविनाभावनियमैकलक्षणेन हेतुना स्वपक्षसिद्धौ विधातुं शक्यायामपि प्रतिज्ञोदाहरणादिवचनमनर्थकमपजयाय प्रकल्प्यते,^{३३२१} तद्विघाताहेतुत्वात् ततः प्रतिपक्षासिद्धेः, प्रतिपाद्याशयानुरोधतस्तत्प्रयोगात्तत्प्रतिपत्तिविशेषस्य प्रयोजनस्य सद्भावात्। नापि हेतोर्विरुद्धतोद्भावादेव प्रतिवादिनः स्वपक्षसिद्धौ सत्यामपि दोषान्तरानुद्भावनं तस्य पराजयाय प्रकल्प्यते,^{३३२२} तत एव।

२६३. एतेन स्वपक्षसिद्धौ कृतायामपि परपक्षनिराकरणम्, तस्मिन्^{३३२३} वा स्वपक्षसाधनाभिधानं न वादिप्रतिवादिनोर्जयप्राप्तिप्रतिबन्धकमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यम्।

२६४. तदेवं साधर्म्यवैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगतौ तदुभयवचनं वादिनो निग्रहाधिकरणमित्ययुक्तं च व्यवस्थितम्।^{३३२४} प्रतिज्ञादिवचनं निग्रहस्थानमित्येतत्कथमयुक्तमिति चेदुच्यते। प्रतिज्ञानुपयोगे शास्त्रादिष्वपि नाभिधीयेत,^{३३२५} विशेषाभावात्। न हि शास्त्रे प्रतिज्ञा नाभिधीयते एव अनियतकथायां वा, अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोऽयं शिशपात्वात्, इत्यादिवचनानां शास्त्रे दर्शनात्,^{३३२६} विरुद्धोऽयं हेतुरसिद्धोयमित्यादिप्रतिज्ञावचनानामनियत-^{३३२७}कथायां प्रयोगात्। परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्राकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेव, उपयोगित्वात्तस्येति चेद्वादेपि सोस्तु, तत्रापि तेषां तादृशत्वात्, वादेपि विजिगीषुप्रतिपादनायाचार्याणां प्रवृत्तेः।^{३३२८} नियतकथायां प्रतिज्ञाया न प्रयोगो युक्तः, तद्विषयस्यार्थाद्वैधर्म्यमानत्वात्, निगमनादिवत्, इति चेत्; तत एव शास्त्रादिष्वपि। न हि तत्र विजिगीषवो न प्रतिपाद्याः प्रतिज्ञादिविषयो वा सामर्थ्यान्न गम्यते।^{३३२९} शास्त्रादाविजिगीषूणामपि प्रतिपाद्यत्वात् प्रतिज्ञादेरप्रयोगे केषाञ्चिन्मन्दधियां प्रकृतार्थाप्रतिपत्तेर्गम्यमानस्य विषयस्यापि प्रयोगः, तत्प्रतिपत्त्यर्थत्वात्, इति चेत्, जिगीषवः किमु मन्दमतयो न सन्ति? येन तथा^{३३३०} तेषामप्रतिपद्यमानानां प्रतिपत्तये प्रतिज्ञादिप्रयोगो न स्यात्। इति विशेषाभावादेव शास्त्रादौ वादे च प्रतिज्ञादेरभिधानमनभिधानं वाभ्युपगन्तव्यमविशेषणैव।

२६५. ननु च प्रतिज्ञायाः प्रयोगेपि हेत्वादिवचनमन्तरेण^{३३३१} साध्याप्रसिद्धेर्व्यर्था^{३३३२} प्रतिज्ञा हेत्वादिवचनादेव च साध्यप्रसिद्धेर्निगमनादिकमकिञ्चित्करमेवेति कश्चित्सोपि यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकम्, यथा घटः, संश्र शब्द इति त्रिलक्षणं हेतुमभिधाय यदि^{३३३३} समर्थयते, कथमिव सन्ध्यामतिशते? स्वहेतुसमर्थनमन्तरेण^{३३३४}

तदभिधानेपि तदर्थप्रतिपत्तेः । तावतार्थप्रतिपत्तौ समर्थनं वा निगमनादिकम् कथमतिशयीत ?
 अकिञ्चित्करत्वाविशेषात्, यतः पराजयो न भवेत्, ताथागतस्य हेत्वाद्यभिधाने तत्समर्थनाभिधाने वा ।
 हेत्वाद्यनभिधाने कस्य समर्थनमिति चेत्तथा सन्धाया अप्यनभिधाने क्व हेत्वादिः प्रवर्तताम् ? गम्यमाने
 प्रतिज्ञाविषये एवेति चेत्, गम्यमानस्य हेत्वादेः समर्थनमस्तु । गम्यमानस्यापि हेत्वादेर्मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं वचनमिति
 चेत्, तथा सन्धावचने कोऽपरितोषः ।

२६६. स्यान्मतम्—समर्थनं नाम हेतोः साध्येन व्याप्तिं प्रसाध्य धर्मिणि सद्भावसाधनम् । यथा
 यत्सत् कृतकं वा तत्सर्वमनित्यम्, यथा घटादिः, सन् कृतको वा शब्द इति । यश्चैवं स सर्वो नश्वरो यथा
 घटादिः, इति वा प्रयोगक्रमनियमाभावात्, इष्टार्थसिद्धेरुभयत्राविशेषात्, प्राक् सत्त्वं धर्मिणि प्रसाध्य
 साधनस्य पश्चादपि साध्येन व्याप्तिप्रसाधनस्याविरोधात् । व्याप्तिप्रसाधनं पुनर्विपर्यये बाधकप्रमाणोपदर्शनम् ।
 यदि पुनः सर्वं सत्कृतकं वा प्रतिक्षणविनाशि न स्यान्नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात् ।
 अर्थक्रियासामर्थ्यं सत्त्वलक्षणमतो व्यावृत्तमित्यसदेव तत्स्यात् । सर्वसामर्थ्योपाख्याविरहलक्षणं हि
 निरुपाख्यमिति । एवं साधनस्य साध्यविपर्यये बाधकप्रमाणानुपदर्शने विरोधाभावादस्य विपक्षे नित्ये
 वृत्तेरदर्शनेपि सन् कृतको वा स्यान्नित्यश्चेत्यनिवृत्तिरेव शङ्कायाः । ततो व्यतिरेकस्य सन्देहादनैकान्तिको
 हेत्वाभासः स्यात् । न ह्यदर्शनमात्राद्व्यावृत्तिः, विप्रकृष्टेष्वर्थेष्वसर्वदर्शिनोऽदर्शनस्याभावासाधनात्,
 अर्वादर्शनेन सतामपि केषाञ्चिदर्शनामदर्शनात् । बाधकं पुनः प्रमाणम् । यस्य क्रमयौगपद्याभ्यां न
 योगो न तस्य क्वचित्सामर्थ्यम् । अस्ति चाक्षणिके सः । इति प्रवर्तमानमसामर्थ्यमसल्लक्षणमाकर्षति ।
 तेन यत्सत्कृतकं वा तदनित्यमेवेति सिध्यति, तावता च साधनधर्ममात्रान्वयः साध्यधर्मस्य स्वभावहेतुलक्षणं
 सिद्धं भवति । अत्राप्यदर्शनमप्रमाणं यतः क्रमयौगपद्याऽयोगस्यैवासामर्थ्येन व्याप्त्यसिद्धेः पूर्वस्यापि हेतोः
 सत्त्वादेर्न व्याप्तिसिद्धिः । पुनरिहापि साधनोपगमेनवस्थाप्रसङ्ग इति न चोद्यम्, इष्टस्याभावसाधनस्या-
 दर्शनस्य प्रमाणत्वाप्रतिषेधात् । यददर्शनं विपर्ययं साधयति हेतोः साध्यविपर्यये तदपि
 विरुद्धप्रत्युपस्थानाद्बाधकं प्रमाणमुच्यते । एवं हि स हेतुः साध्याभावेऽसन् सिध्येद्यदि तत्र प्रमाणवत्
 स्वविरुद्धेन बाध्येत । अन्यथा तत्रास्य बाधकासिद्धौ संशयो दुर्निवारः । न च सर्वानुपलब्धिर्भावस्य
 बाधिका, दृश्यानुपलब्धेरेव तद्बाधकत्वात् । तत्र सामर्थ्यं क्रमाक्रमयोगेन व्याप्तं सिद्धम्, प्रकारान्तरासम्भवात्
 तेन व्यापकधर्मानुपलब्धिरक्षणे सामर्थ्यं बाधत इति क्रमयौगपद्यायोगस्य सामर्थ्याभावेन व्याप्तिसिद्धेर्नानवस्था
 प्रसङ्ग इति स्वभावहेतोः समर्थनम् ।

२६७. कार्यहेतोरपि, यत्कार्यलिङ्गं कारणसाधनायोपादीयते, तस्य तेन कार्यकारणभावप्रदर्श
 प्रमाणाभ्याम् । यथेदमस्मिन् सति भवति, सत्स्वपि तदन्येषु समर्थेषु तद्धेतुषु तदभावे न भवतीति । ए
 ह्यस्यासन्दिग्धं तत्कार्यत्वं समर्थितं भवति । अन्यथा केवलं तदभावे न भवतीत्युपदर्शनेऽन्यस्यापि तत्राभा

सन्दिग्धमस्य सामर्थ्यं स्यात्, अन्यत्तत्र समर्थं तदभावे तत्र भूतमिति शङ्कायाः प्रतिनिवृत्त्यभावात् । एतन्निवृत्तौ पुनर्निवृत्तौ यदृच्छासंवादो मातृविवाहोचितदेशजन्मनः पिण्डखर्जूरस्य देशान्तरेषु मातृविवाहाभावेऽभाववत् । एवं समर्थितं तत्तस्य कार्यं सिद्ध्यति । सिद्धं स्वसंभवेन तत्संभवं साधयति, कार्यस्य कारणाव्यभिचारात् । अव्यभिचारे च स्वकारणैः सर्वकार्याणां सदृशो न्याय इति ।

२६८. अनुपलब्धेरपि समर्थनम्, प्रतिपत्तुरुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिसाधनम् । तादृशस्यैवानुपलब्धेरसद्व्यवहारसिद्धेः, अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य प्रतिपत्तुप्रत्यक्षोपलब्धिनिवृत्तावप्यभावासिद्धेः । तत्रोपलब्धिलक्षणप्राप्तिः स्वभावविशेषः कारणान्तरसाकल्यं च स्वभावविशेषः । यत्र त्रिविधेन विप्रकर्षेण विप्रकृष्टं यदनात्मरूपप्रतिभासविवेकेन प्रतिपत्तुप्रत्यक्षप्रतिभासिरूपं स तादृशः सत्स्वन्येषूपलम्भकारणेषु तथानुपलब्धोऽसद्व्यवहारविषयः । ततोऽन्यथा सति लिङ्गे संशयः । अत्रापि सर्वमेवंविधमसद्व्यवहारविषयः । इति व्याप्तिः—कस्यचिदसतोभ्युपगमेऽन्यस्य तल्लक्षणाविशेषात् । न ह्येवंविधस्यासत्त्वानभ्युपगमेऽन्यत्र तस्य योगः । न ह्येवंविधस्य सतः सत्स्वन्येषूपलम्भकारणेष्वनुपलब्धिः । अनुपलभ्यमानं त्वीदृशं नास्तीत्येतावन्मात्रनिमित्तोयमसद्व्यवहारः, अन्यस्य तन्निमित्तस्याभावादिति । तच्चैवं त्रिविधस्य हेतोः समर्थनं न रूपान्तरम्, विपक्षाव्यावृत्तिरूपत्वात्, तृतीयस्यैव रूपस्यासपक्षासत्त्वलक्षणस्यैवं प्रतिपादनात् । तदवचने साधनाङ्गस्य त्रिरूपलिङ्गस्यावचनादसाधनाङ्गवचनं निग्रहाधिकरणं प्रसज्येत । निगमनादेस्तु हेतुरुपातिरिक्तत्वादभिधानमनर्थकम्, त्रिरूपहेतुना साध्यार्थप्रतिपत्तेर्विहितत्वात् । ततो निगमनादीनतिशेते एव समर्थनमिति ।

२६९. तदेतदपि स्वदर्शनानुरागमात्रं सौगतस्य, निगमनादेरपि साधनावयवत्वात्, 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनय-निगमनान्यवयवाः' () इति परैरभिधानात्, निगमनस्योपनयस्य वा संगरस्यैवावचने न्यूनाख्यस्य निग्रहस्थानस्य प्रसक्तेः, 'हीनमन्यतमेनापि न्यूनम्' () इति वचनात् ।

२७०. यदि पुन साधनावयवत्वेऽपि निगमनादेर्वचनमयुक्तम्, हेत्वादिनैवार्थप्रत्यायनात्, इति मतम्; तदा समर्थनस्य हेतुरूपत्वेऽपि निर्दोषहेतुप्रयोगादेव साध्यप्रसिद्धेस्तदभिधानमनर्थकं कथं न भवेत् ? यतः समर्थनं निगमनादीनतिशयोक्तम् ।

२७१. हेतोर्विपक्षव्यावृत्तिसाधनलक्षणस्य समर्थनस्यावचने रूपान्तरसत्त्वेऽपि गमकत्वासम्भवात्, निगमनाद्यवचनेऽपि गमकत्वोपपत्तेः समर्थनं निगमनादीनतिशयोक्तम्; इति चेत्, हन्त हतोसि, पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वयोर्हेतुरुपत्पापायपत्तेः, अन्यथानुपपन्नत्वस्यैव तथा हेतुलक्षणत्वसिद्धेः, तस्यैव समर्थनरूपत्वात्, तद्भावे एव हेतोः प्रयोजकत्वदर्शनात्, पक्षधर्मत्वादियोगे वादिनोऽसाधनाङ्गवचनस्य निग्रहस्थानस्य प्रसक्तेः । प्रतिपाद्यानुरोधतः पक्षधर्मत्वादिवचनात् निग्रहस्थानप्राप्तिः, इति चेत्, तथा निगमनादिवचनादपि सा मा भूत्, सर्वथातिशयोक्तत्वात् ।

२७२. यदि पुनरयं निर्बन्धः^{३५१२} प्रतिपाद्यानुरोधतोप्यतिरिक्तवचनमसाधनाङ्गवचनं^{३५१३} निग्रहस्थानमिति, तदा सत्त्वमात्रेण^{३५१४} नश्वरत्वसिद्धावुत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिवचनमतिरिक्तविशेषणोपादानात्^{३५१५} कृतकत्वप्रयत्ना-
नन्तरीयकत्वादिषु च कप्रत्ययातिरेकादसाधनाङ्गवचनं पराजयाय प्रभवेत् ।^{३५१६} क्वचित्पक्षधर्मत्वप्रदर्शनम्,^{३५१७}
संश्र शब्द इत्यविगानात् । यस्य निरुपाधि सत्त्वं प्रसिद्धं तं प्रति शुद्धः स्वभावहेतुः प्रयुज्यते, नश्वरः शब्दः^{३५१८}
सत्त्वादिति । यस्य त्वनर्थान्तरभूतविशेषणं सत्त्वं प्रसिद्धं तं प्रति सोनर्थान्तरभूतविशेषण एवोत्पत्तिमत्त्वादिति ।^{३५१९}
यस्य पुनरर्थान्तरभूतविशेषणं सत्त्वं संप्रसिद्धं तं प्रत्यर्थान्तरभूतविशेषण एव कृतकत्वादिति, 'अपेक्षितपरव्यापारो
हि भावः कृतकः' () इति वचनात् । तथा कृतकत्वात्प्रयत्नानन्तरीयकत्वादित्यादिषु च स्वार्थिकस्य^{३५२०}
कप्रत्ययस्याभिधानमपि तादृशशब्दप्रसिद्ध्यनुसारिणं प्रति नातिरिक्तमुच्यते, अन्यथा प्रयोगे तदपरितीषात् । तथा च^{३५२१}
यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं यथा घट इतीयतां शब्देप्यविगानेन सत्त्वप्रतिपत्तावपि संश्र शब्द इति पक्षधर्मप्रदर्शनं^{३५२२}
नातिरिक्तवचनम्, तदन्तरेण तत्प्रतिपत्तुमशक्तं प्रति तथा वचनाच्छक्तं प्रति तदवचनात्, 'विदुषा वाच्यो हेतुरेव हि
केवलः' () इति वचनान्न पराजयाय कस्यचित्प्रभवेत्, इति वदन्तः सौगताः प्रतिपाद्यानुरोधतः साधर्म्यवचनेपि^{३५२३}
वैधर्म्यवचनं तद्वचनेपि च साधर्म्यवचनं पक्षादिवचनं वा नेच्छन्तीति किमपि महाद्भुतम् । तथा तदिष्टौ वा तद्वचनं^{३५२४}
निग्रहाधिकरणमित्युक्तमेव व्यवतिष्ठते ।^{३५२५}

२७३. किञ्च, क्वचित्पक्षधर्मत्वप्रदर्शनं संश्र शब्द इत्यविगानात्, त्रिलक्षणवचनसमर्थनं च^{३५२६}
असाधनाङ्गवचनमपजयप्राप्तिरिति व्याहतम् । संश्र शब्द इति वचनमन्तरेणापि शब्दे सत्त्वप्रतीतेस्तस्य^{३५२७}
निग्रहस्थानत्वप्रसङ्गात् । प्रतिज्ञावचनवदसाधनाङ्गत्वात्तस्यानिग्रहस्थानत्वे वा संग्रहवचनादेरप्यपजयप्राप्तिविरोधा-^{३५२८}
त्पक्षधर्मप्रदर्शनमसाधनाङ्गवचनादपजयप्राप्त्या व्याहतमेव । त्रिलक्षणवचनसमर्थनं च, तदन्तरेणापि^{३५२९}
त्रिलक्षणवचनस्य साधनाङ्गत्वसिद्धौ प्रतिज्ञादिवचनस्य साधनाङ्गत्वसिद्धेरन्यथा तस्य प्रतिज्ञादिवचनवद-^{३५३०}
पजयप्राप्तिनिबन्धनत्वप्रसक्तेः । ततस्तद्व्याहृतिं परिजिहीर्षतां गम्यमानस्यापि वचनं नासाधनाङ्गवादिनो^{३५३१}
निग्रहाधिकरणमिति प्रतिपत्तव्यम् ।^{३५३२}

२७४. नन्वेवमप्रस्तुतस्यापि नाटकादिघोषणस्य द्वादशलक्षणप्ररूपणस्य वा निग्रहाधिकरणत्वं न स्यादिति^{३५३३}
चेत्, एवमेतत् । तथा न्यस्यापि प्रस्तुतेरस्य वादिनोक्तावितरस्य स्वपक्षमसाधयत्^{३५३४}
विजयासंभवान्निग्रहस्थानमयुक्तम्, स्वपक्षं साधयतस्तु तत्सिद्ध्यैव विजयसंभवादितरस्य पराजयप्राप्तेर्ना^{३५३५}
प्रस्तुतादिवचनं निग्रहस्थानम् । साधनाङ्गस्यावचनं वादिनो निग्रहस्थानम्, स्वेष्टसाधनवचनमभ्युपगम्यो^{३५३६}
ऽप्रतिभया तूष्णीभावात्, इत्यप्यनेन प्रत्युक्तम् । प्रतिवादिनोप्यदोषोद्भावनं दोषस्यानुद्भावनं वानेन प्रत्युक्तम्^{३५३७}
न्यायस्य समानत्वात् । किमेवं वादिना कर्तव्यम्; इति चेत्, विजिगीषुणोभयं कर्तव्यम्^{३५३८}
स्वपरपक्षसाधनदूषणम् । ततः किम्; इति चेत्, अतोऽन्यतरेणासिद्धानैकान्तिकवचनेपि जल्पापरिसमाप्ति^{३५३९}
कस्यचित्स्वपक्षसिद्धेरभावात् । कथं तर्हि वादपरिसमाप्तिर्वादिप्रतिवादिनोरिति चेत्, निराकृतावस्थापितविपक्ष^{३५४०}
स्वपक्षयोरेव जयेतरव्यवस्था, नान्यथा । तदुक्तम्—

स्वपक्षसिद्धिरेकस्य ^{३५७४} निग्रहोन्यस्य वादिनः ।
नासाधनाङ्गवचनं ^{३५७५} नादोषोद्भावनं ^{३५७६} द्वयोः ॥ () इति

इति । तथा तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकेऽप्युक्तम्—

स्वपक्षसिद्धिपर्यन्ता ^{३५७८} शास्त्रीयार्थविचारणा ।
वस्त्वाश्रयत्वतो ^{३५७९} यद्वल्लौकिकार्थविचारणा ॥ () इति ।

२७५. ^{३५७९} इति दर्शयन्नुभयमाह—ग्रन्थकारः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यः । ‘स त्वमेवासि निर्दोषः’ ^{३५८०} इति,
‘त्वन्मतामृतबाह्यानाम्’ ^{३५८१} इत्यादि च, गम्यमानस्यापि वचने दोषाभावात् ।

२७६. ननु च सर्वथैकान्तवादिनामपि कुशलाकुशलस्य कर्मणः परलोकस्य च प्रसिद्धेराप्तत्वोपपत्तेर्महत्वं
किं न स्तुतमित्याशङ्क्यामिदमाहुः—

कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् ।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ॥८॥

२७७. ^{३५८४} कायवाङ्मनःकर्म क्रिया, ^{३५८५} त्रिविधो योग आस्रवः, तद् ^{३५८७} द्विविधं कुशलाकुशलभेदात्,
‘कायवाङ्मनःकर्म योगः’, ‘स’ आस्रवः, ‘शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य’ (त.सू. ६, १, २, ३) इति
वचनात् । ^{३५८९} प्रेत्यभावः ^{३५९०} परलोकः । तद्धेतुर्वा ^{३५९१} धर्मोऽधर्मश्च, ^{३५९२} कारणे कार्योपचारात् । चशब्दान्नि-
श्रेयसादिपरिग्रहः । ^{३५९३} एतत्सर्वमेकान्तग्रहरक्तेष्वनित्यैकान्ताद्यभिनिवेशपरवशीकृतेषु मध्ये न क्वचित्संभवति,
तेषां ^{३५९५} स्ववैरित्वात्, तत्त्वोपप्लववादिवत् । ^{३५९६} स्ववैरिणस्ते ^{३५९७} परवैरित्वात् तद्वत् । किं पुनः स्वं को वा
परः ? ^{३५९८} पुण्यं पापं च कर्म तत्फलं ^{३५९९} कुशलमकुशलं च स्वम्, तत्सम्बन्धः ^{३६००} परलोकादिश्च, ^{३६०१} तस्य स्वयमेकान्त-
वादिभिरिष्टत्वात् । ^{३६०२} परः पुनरनेकान्तः, तस्य तैरनिष्टत्वात् । तद्वैरित्वं तु तेषां ^{३६०३} तत्प्रतिषेधाभिधानात् । ^{३६०४} तत् स्ववैरित्वं
साधयति, यस्मात् ^{३६०५} कर्मफलसंबन्धपरलोकादिकमेकान्तवादिनां प्रायेणेष्टं ^{३६०६} तदनेकान्तप्रतिषेधेन बाध्यते ।

२७८. ननु ^{३६०९} च ^{३६१०} शून्यवादिभिरद्वैतावलम्बिभिश्च ^{३६११} तस्यानिष्टत्वात्कथं सर्वेषामेकान्तवादिनां तदिष्टम्;
इति चेन्न; तैरपि ^{३६१२} संवृत्त्या प्रायेणेष्टत्वात् । कथं ^{३६१३} पुनरनेकान्तप्रतिषेधेन तद्बाध्यते, इति चेत्, क्रमाक्रमयोः
प्रतिषेधात्, ^{३६१४} तयोरनेकान्तेन ^{३६१५} व्याप्तत्वात्, ^{३६१६} तत्प्रतिषेधेने ^{३६१७} तत्प्रतिषेधसिद्धेः । ^{३६१८} क्रमाक्रमप्रतिषेधे
चार्थक्रियाप्रतिषेधः, ^{३६२०} तस्यास्ताभ्यां व्याप्तत्वात् । अर्थक्रियाप्रतिषेधे च कर्मादिकं ^{३६२१} विरुध्यते, तस्य तया
व्याप्तत्वात् । ^{३६२२} यदि वानेकान्तप्रतिषेधेन ^{३६२३} क्षणिकाद्येकान्तविरोधः, तदेकान्तस्यानेकान्ताविनाभावित्वात् । तस्यापि
स्वरूपेण ^{३६२४} सत्त्वेऽनेकान्तरूपेण ^{३६२५} चासत्त्वव्यवस्थायामनेकान्तस्य ^{३६२६} दुर्निवारत्वात्तदविनाभावित्वं ^{३६२७} सिद्धमेव,
अन्यथा ^{३६२८} तद्व्यवस्थानुपपत्तेः । इति ^{३६२९} परवैरित्वात् ^{३६३०} स्ववैरित्वम् । तथा च ^{३६३१} कथं कर्मादिकमनाश्रयं न
विरुध्यते ? ^{३६३२} ततोनुष्ठानमभिमतव्याघातकृत्, ^{३६३३} सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तेषु ^{३६३४} कस्यचित्कुतश्चित्कदा-
चित्क्वचित्प्रादुर्भावासम्भवात् ।

२७९. ननु च 'कस्यचित्कर्मणः पुण्यपापाख्यस्य कुतश्चिदनुष्ठानात्कायादिव्यपारलक्षणात्कव-
चिदात्मनि कदाचित्संसारिदशायां जन्म मा भूत् मा सर्वथा सतस्तदघटनात्, कर्मफलस्य वा
शुभाशुभपरलोकलक्षणस्य कर्मविशेषात्, तत्त्वज्ञानादेर्वा निश्चयेयस्य च, सर्वथा सद्भावाविशेषात्। तस्यासतस्तु
ततो जन्मास्तु प्रागसतः पश्चात्प्रादुर्भावदर्शनात्, इति चेन्न, उभयत्र तद्विरोधाविशेषात्। न हि सर्वात्मना सर्वस्य
भूतावेव जन्म विरुद्धमपि तु सर्वथाऽभावेऽपि व्यलीकप्रतिभासानामनुपरमप्रसङ्गात्।

२८०. ननु च शून्यवादिनः स्वप्नदशायामिवान्यदापि व्यलीकप्रतिभासानां कर्मादीनां कथमनुपरमप्रसङ्गः,
यतः संवृत्या कर्मादिजन्माविरुद्धं न भवेदिति चेन्न, साध्यसमत्वादुदाहरणस्य। यथैव ह्यस्वप्नदशायां
व्यलीकप्रतिभासानामहेतुकत्वादनुपरमप्रसङ्गः शून्यवादिनां तथा स्वप्नावस्थायामपि, तदविशेषात्।
तेषामविद्यावासनाहेतुकत्वादहेतुकत्वमसिद्धमिति चेन्न, अनाद्यविद्यावासनाया अप्यसत्त्वे वितथप्रतिभासहेतुत्व-
विरोधात्, खपुष्पवत्, सत्त्वे वा सर्वथा शून्यवादानवतारात्। संवृतिसत्त्वात्तस्याः शून्यवादावतार इति चेत्, तर्हि
परमार्थतोसत्यविद्या कथं वितथप्रतिभासहेतुः स्यात्? स्वरूपेण सदेव हि किञ्चिद्वितथप्रतिभासानपि
जनयद्दृष्टम्, यथा चक्षुषि तिमिरादिकम्, न पुनरसत्खरविषाणम्। इति सर्वशून्यवादिनो व्यलीक-
प्रतिभासानुपरमप्रसङ्ग एव, अहेतुकत्वात्। ततो नाभावैकान्ते कस्यचित्कुतश्चित्कदाचित्कवचिज्जन्म संभवति,
सदसदनेकान्तप्रतिषेधाद्भावैकान्तवत्। न केवलं स्वभावनैरात्ये एवायं दोषः, किन्त्वन्तरुभयत्र वा
निरन्वयसत्त्वेऽपि, कार्यस्य निर्हेतुकत्वाविशेषाज्जन्मविरोधसिद्धेः, जन्मनि वा तस्यानुपरतिप्रसङ्गात्।

२८१. नन्वन्तस्तत्त्ववादिनो योगाचारस्य पूर्वविज्ञानादुत्तरविज्ञानस्योत्पत्तेः सौत्रान्तिकस्य
चान्तर्बहिस्तत्त्वोभयवादिनः पूर्वार्थक्षणादुत्तरार्थक्षणस्य प्रादुर्भावात्कुतो निष्कारणत्वं कार्यस्य; इति चेत्, न,
कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणत्वानुपपत्तेश्चिरतरातीतवत्। कार्यकालं प्राप्नुवतोपि कारणत्वादर्शनादन्यथा सर्वस्य
समानक्षणवर्तिनस्तत्कारणत्वप्रसङ्गात्। यस्य भावाभावयोः कार्यस्य भावाभावौ, तदेव कारणमिति कल्पनायाम्
सत्यभवतः स्वयमेव नियमेन पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्व विरुद्धम्। तत्र तदकारणत्वसाधनादन्यकार्यवत्, तस्य वा
तदकार्यत्वासिद्धेस्तद्वत्। तत्कार्यमेव तदनन्तरं सम्भवतीति चेत्, कालान्तरेपि किन्न स्यात्?
तदभावाविशेषात्, समनन्तरवत्। कालान्तरेपि किञ्चिद्भवत्येव मूषिकाऽलक्षविष-
विकारं विद्याविराज्यादिनिमित्तकरतलरेखादिवच्चेति चेत्, समर्थं सत्यभवतः पुनः कालान्तरे
भाविनस्तत्प्रभावाभ्युपगमे कथमक्षणिकेऽर्थक्रियानुपपत्तिः तत्सत्त्वासत्त्वयोरविशेषात्। स्वसत्ताक्षणात्पूर्वं
पश्चाच्चासति समर्थं कारणे स्वकालनियताऽर्थक्रियोपपद्यते, न पुनः शश्वत्सतीति कुतो नियमः?
कारणसामर्थ्यपेक्षिणः फलस्य कालनियमकल्पनायामचलपक्षेपि समानः परिहारः। यथैव हि क्षणिकं
कारणं यद्यदा यत्र यथोत्पित्सु कार्यं तत्तदा तत्र तथोत्पादयति, तस्यैवंविधसामर्थ्यसद्भावात्
तत्सामर्थ्यपेक्षिणः कार्यस्य स्वकालनियमः सिद्ध्यतीति कल्प्यते, तथा नित्यमपि कारणं यद्यदा यत्र यथा
फलमुत्पित्सु तत्तदा तत्र तथोपजनयति, तस्य तादृशसामर्थ्ययोगात् तत्सामर्थ्यपेक्षिणः फलस्य कालनियमः
किन्न कल्पयितुं शक्यः? शाश्वतिकस्य प्रतिकार्यं सामर्थ्यभेदादनित्यत्वप्रसङ्ग इति चेन्न, क्षणिकस्याप्येकस्य

युगपदनेककार्यकारिणः ^{३७०७}प्रतिकार्यं ^{३७०८}सामर्थ्यभेदादनेकत्वप्रसङ्गात् । ^{३७०९}क्षणवर्तिन ^{३७१०}एकस्मात्कारणस्वभावमभेदात्
^{३७११}विचित्रकर्मणामुत्पत्तौ ^{३७१२}कूटस्थेऽपि किं न स्यात् ^{३७१३}क्रमशः ^{३७१४}कार्योत्पत्तिः ? तस्यापि ^{३७१५}तथाविधैकस्वभावत्वात् ।
^{३७१६}कथमत्रोत्पत्तिर्नाम ? ^{३७१७}तत्र ^{३७१८}समानः ^{३७१९}पर्यनुयोगः, ^{३७२०}सदसतोरनुत्पत्तेर्निष्पन्नखपुष्पवत् । नित्यं ^{३७२१}कथमुत्पद्यते
^{३७२२}सत्त्वान्निष्पन्नवदिति ^{३७२३}पर्यनुयुज्यते, न पुनः ^{३७२४}क्षणिकं ^{३७२५}कथं ^{३७२६}प्रादुर्भवेत्, ^{३७२७}असत्त्वात्खपुष्पवदिति ^{३७२८}पर्यनुयोगार्हमिति
^{३७२९}पक्षपातमात्रम् । ^{३७३०}सतः ^{३७३१}पुनर्गुणान्तराधानमनेकं ^{३७३२}क्रमशोऽप्यनुभवतः ^{३७३३}किं ^{३७३४}विरुद्ध्येत ? ^{३७३५}नन्वेकत्वं ^{३७३६}विरुद्ध्येत । तद्धि
^{३७३७}गुणान्तराधानमनेकं ^{३७३८}क्रमशोऽनुभवन् ^{३७३९}यद्येकेन ^{३७४०}स्वभावेनानुभवेत्तदा ^{३७४१}तस्यैकस्वभावतापत्तिः, ^{३७४२}अन्यथा
^{३७४३}निर्हेतुकत्वप्रसङ्गात्, ^{३७४४}तदनुभवनस्य ^{३७४५}नियमायोगात् । ^{३७४६}अथानेकेन ^{३७४७}स्वभावेन ^{३७४८}तदनुभवेत्तदा ^{३७४९}कथमेकस्वभावता तस्य ।
^{३७५०}अनेकस्य ^{३७५१}स्वभावस्य ^{३७५२}ततो ^{३७५३}भेदात्तस्यैकरूपत्वे ^{३७५४}कुतोऽयमस्यानेकस्वभावः ? ^{३७५५}सम्बन्धात्तस्य स इति ^{३७५६}कल्पनायां स
^{३७५७}सम्बन्धः ^{३७५८}स्वस्वभावैर्गुणान्तराधानानुभवनहेतुः ^{३७५९}किमेकेन ^{३७६०}स्वभावेन ^{३७६१}स्यादनेकेन ^{३७६२}वेति स एव ^{३७६३}पर्यनुयोगोऽनवस्था च;
^{३७६४}इति कश्चित्, ^{३७६५}सोऽपि ^{३७६६}दूषणाभासवादी, ^{३७६७}स्वयमिष्टस्यैकस्य ^{३७६८}ज्ञानस्य ^{३७६९}ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यविरोधप्रसङ्गात्, ^{३७७०}प्रकृत-
^{३७७१}पर्यनुयोगस्याविशेषात् । ^{३७७२}क्षणस्थायिनः ^{३७७३}कस्यचिदेव ^{३७७४}ग्राह्यग्राहकाकारवैश्वरूप्यान्ध्युपगमेऽपि ^{३७७५}संविदितज्ञानस्य
^{३७७६}ग्राह्यग्राहकाकारविवेकं ^{३७७७}परोक्षं ^{३७७८}ब्रिभाणस्य ^{३७७९}सामर्थ्यप्राप्तेः, ^{३७८०}संवेदनस्यैकस्य ^{३७८१}प्रत्यक्षपरोक्षाकारतया
^{३७८२}वैश्वरूप्यसिद्धेः । ^{३७८३}संविद्रूपतया ^{३७८४}संवेदनस्य ^{३७८५}प्रत्यक्षतैव ^{३७८६}ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि ^{३७८७}प्रत्यक्षता, न पुनः ^{३७८८}परोक्षता,
^{३७८९}यतो ^{३७९०}वैश्वरूप्यं ^{३७९१}प्रकृतपर्यनुयोगयोग्यं ^{३७९२}भवेदिति ^{३७९३}चेत्, न; ^{३७९४}तथा ^{३७९५}सकृदप्यप्रतिभासमानाद् ^{३७९६}ब्रह्माद्वैतवत्,
^{३७९७}ग्राह्यग्राहकाकाराक्रान्तस्यैव ^{३७९८}सर्वदा ^{३७९९}वेदनस्यानुभवात् । ^{३८००}ततः ^{३८०१}संवेदनमेकमनेकं ^{३८०२}प्रत्यक्षपरोक्षाकारौ ^{३८०३}बिभ्राणं
^{३८०४}सामर्थ्यप्राप्तमेव, ^{३८०५}अन्यथा ^{३८०६}शून्यसंविदोर्विप्रतिषेधात् । ^{३८०७}ग्राह्यग्राहकाकारशून्यतया ^{३८०८}हि ^{३८०९}शून्यम्,
^{३८१०}संवेदनमात्रमुपयतस्तत्संविदुपपद्यते, न पुनः ^{३८११}संविन्मात्रमप्यसदुपवर्णयतः, ^{३८१२}विप्रतिषेधात्स्वेष्टासिद्धेः
^{३८१३}प्रलापमात्रप्रसक्तेः । ^{३८१४}तदयं ^{३८१५}योगाचारः ^{३८१६}सौत्रान्तिको वा ^{३८१७}सर्वथा ^{३८१८}शून्यं ^{३८१९}संविदद्वैतं ^{३८२०}वानिच्छन्, ^{३८२१}क्षणस्थायि ^{३८२२}कारणं
^{३८२३}स्वसत्तायां ^{३८२४}कार्यं ^{३८२५}कुर्वदध्युपगच्छन् ^{३८२६}क्रमोत्पत्तिमुपरुणद्धि, ^{३८२७}सकलजगदेकक्षणवृत्तिप्रसङ्गात् । ^{३८२८}कालान्तरे ^{३८२९}कार्यं
^{३८३०}कुर्वत्कारणं ^{३८३१}क्षणिकमध्युपगच्छतां ^{३८३२}नायं ^{३८३३}दोष इति ^{३८३४}चेन्न, ^{३८३५}तेषामपि ^{३८३६}कारणस्य ^{३८३७}कार्यकालप्राप्तौ
^{३८३८}क्षणभङ्गभङ्गानुषङ्गात्, ^{३८३९}तदप्राप्नुवतस्तत्कृतौ ^{३८४०}व्यलीककल्पनाविशेषेण ^{३८४१}कूटस्थानतिशायनात् । ^{३८४२}यथैव हि
^{३८४३}कूटस्थमपरिणामित्वात्क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियायामसमर्थमपि ^{३८४४}व्यलीककल्पनया ^{३८४५}क्रमाक्रमसमाक्रान्तकार्यपरम्पराम्
^{३८४६}कुर्वदध्युपगम्यते ^{३८४७}नित्यैकान्तवादिभिः ^{३८४८}सांख्यादिभिस्तथा ^{३८४९}क्षणिकमपि ^{३८५०}स्वसत्ताक्षणात् ^{३८५१}पूर्वं ^{३८५२}पश्चाच्चात्यन्तम-
^{३८५३}सत्सर्वथार्थक्रियायामसामर्थ्यं ^{३८५४}प्रथयदपि ^{३८५५}संवृत्त्या ^{३८५६}क्रमाक्रमवृत्तिकार्यमालां ^{३८५७}निर्वर्तयदुरीक्रियते ^{३८५८}क्षणिकवादिभिरिति
^{३८५९}कूटस्थादनतिशायनं ^{३८६०}क्षणिकस्य ^{३८६१}सिद्धमेव । ^{३८६२}ततः ^{३८६३}सुभाषितं ^{३८६४}समन्तभद्रस्वामिभिः
^{३८६५}कुशलाद्यसंभूतिरेकान्तग्रहरक्तेष्विति । ^{३८६६}परस्परनिरपेक्षसदसदुभयैकान्तनित्यानित्योभयैकान्तवादिनोऽपि

२८२. तदेवं सर्वथैकान्तवादिनां दृष्टेष्टविरुद्धभाषित्वादज्ञानादिदोषाश्रयत्वसिद्धेराप्तत्वानुपपत्तेस्त्वमेव
 भगवन्नर्हन् सर्वज्ञो वीतरागश्च युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वेन निर्दोषतया निश्चितो महामुनिभिस्तत्त्वार्थशासनारम्भेभिष्टुतः
 तत्सिद्धिनिबन्धनत्वात्, इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालङ्कारे व्यासतः समर्थितं प्रतिपत्तव्यम् ।

२८३. ननु च भाव एव पदार्थानामिति निश्चये दृष्टेष्टविरोधाभावात्तद्वादिनो निर्दोषत्वसिद्धेराप्तत्वोपपत्तेः
स्तुत्यताऽस्त्विति भगवत्पर्यनुयोगे^{३७७६} सतीवाहुः—

भावैकान्ते^{३७७७} पदार्थानामभावानामपह्नवात्^{३७७९} ।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्^{३७८०} ॥९॥

२८४. पदार्थाः प्रकृत्यादीनि पञ्चविंशतितत्त्वानि—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः^{३७८१} प्रकृतिविकृतयः^{३७८२} सप्त ।

षोडशकश्च^{३७८३} विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः^{३७८४} पुरुषः ॥ () इति वचनात् ।

२८५. तेषामस्तित्वमेवेति निश्चयो भावैकान्तः । तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने सर्वेषामितरेतराभावादीनामभाव-
नामपह्नवः^{३७८५} स्यात् । ततः^{३७८६} सर्वात्मकत्वादिप्रसङ्गः । तत्र व्यक्ताव्यक्तयोस्तावदितरेतराभावस्यापह्नवे
व्यक्तस्याव्यक्तात्मकत्वे सर्वात्मकत्वम् । तथा च—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं^{३७८७} लिङ्गम् ।

सावयवं परतन्त्रं^{३७८८} व्यक्तं^{३७८९} विपरीतमव्यक्तम् ॥ ()

इति व्यक्ताव्यक्तलक्षणभेदकथनविरोधः । प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्ताभावनिरूपणे प्रकृतेः पुरुषात्मकत्वे सर्वात्मकत्वमेव ।

तथा च—

त्रिगुणमविवेकि विषयः^{३७९०} सामान्यमचेतनं^{३७९१} प्रसवधर्मि ।

व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ ()

२८६. इति तल्लक्षणभेदकथनव्याघातः । प्रागभावस्यापह्नवे महदहङ्कारादेर्विकारस्यानादित्वप्रसङ्गः । तथा

च—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गुणश्च^{३८००} षोडशकः ।

तस्मादपि षोडशकात्^{३८०१} पञ्चभ्यः^{३८०२} पञ्चभूतानि ॥ ()

२८७. इति सृष्टिक्रमकथनं विप्रतिषिध्यते । प्रध्वंसाभावस्यापह्नवे तस्यानन्तत्वप्रसङ्गात्, पृथिव्यादीनि
पञ्चमहाभूतानि पञ्चसु तन्मात्रेषु लीयन्ते—पृथिव्या गन्धरूपरसस्पर्शशब्दतन्मात्रेषु प्रवेशात्,
सलिलस्य रसादिषु, तेजसो रूपादिषु, वायोः स्पर्शशब्दतन्मात्रयोः, आकाशस्य शब्दतन्मात्रेणुप्रवेशात् ।
तन्मात्राणां च पञ्चानां बुद्धीन्द्रियाणां कर्मेन्द्रियाणां च मनसा सह षोडशकस्य गणस्याहङ्कारेऽन्तर्भावस्तस्य च
महति, महतः प्रकृताविति संहारनिवेदनमतिव्याकुलं स्यात् । ततः सर्वमस्वरूपम्, स्वेनासाधारणेन रूपेण
कस्यचित्तत्त्वस्य व्यवस्थानाघटनात् । तच्च—

सर्वस्योभयरूपत्वे^{३८०३}

तद्विशेषनिराकृतेः^{३८०४}

चोदितो दधि खादेति किमुष्टं नाभिधावति ॥ ()

इति दूषणास्पदमतावकं मतम्, न तव भगवतोर्हतः, कथञ्चिदभावापह्नवाभावात्^{३८०५} ।

२८८. ननु च व्यक्ताव्यक्तयोरितरेतराभावस्य तत्त्वभावस्य, प्रकृतिपुरुषयोरत्यन्ताभावस्य च तद्रूपस्य, महदहङ्कारादीनां प्रागभावस्य च स्वकारणस्वभावस्य, महाभूतादीनां प्रध्वंसाभावस्य च स्वान्तर्भावाश्रयस्वरूपस्य साङ्ख्यैरभ्युपगमादभावापह्नवासिद्धेः कथं सर्वात्मकत्वादिदोषः ? इति चेत्, न, तथा भावैकान्तविरोधात्, सर्वस्य भावाभावात्मकत्वप्रसक्तेः । न हि वयमपि भावादर्थान्तरमेवाभावं संगिरामहे, तस्य नीरूपत्व-प्रसङ्गात्, नास्तीति प्रत्ययजनकत्वरूपसद्भावादभावस्य नीरूपत्वाभावोपगमे तस्य भावस्वभावत्वसिद्धेः, प्रत्ययाभिधानविषयस्यार्थक्रियाकारिणः पदार्थस्य भावस्वभावत्वप्रतिज्ञानात्, नास्तित्वस्य वस्तुधर्मत्वादस्तित्ववत् । वस्तुनोस्तीति प्रत्ययविषयो हि पर्यायोस्तित्वम्, नास्तीति प्रत्ययविषयवस्तु नास्तित्वम् । निष्पर्यायद्वयैकान्तपक्षे सर्वात्मकत्वादिदोषानुषङ्गः कथं परिहर्तुं शक्यः ? सर्वविवर्तात्मकस्यैकस्यानाद्यनन्तस्य प्रधानस्येष्टत्वात्, तद्व्यतिरेकेण सकलविशेषाणां तत्त्वतोऽसंभवात्सिद्धसाधनमिति चेन्न, प्रकृतिपुरुषयोरपि विशेषाभावानुषङ्गात्, सत्ताव्यतिरेकेण तयोरप्रतिभासनात् सत्ताद्वैतप्रसङ्गात् । तदेवास्तु, चेतनेतरविशेषाणामविद्योपकल्पितत्वात्, इति चेत्, कुतः पुनर्विशेषानपह्नुवीत ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य विधायकत्वनियमात्, विशेषप्रतिषेधे प्रवृत्त्ययोगात् । नाप्यनुमानादागमाद्वा, तस्यापि प्रतिषेधकत्वानिष्टेः, अन्यथा प्रतिषेधकत्वप्रसङ्गात् । स्वयं न कुतश्चित्प्रमाणादयं विशेषानपह्नुते । किं तर्हि ? तत्साधनव्यभिचारात् । वस्तुविशेषसाधनवादिना हि न कारणभेदस्तत्साधनं प्रयोक्तव्यम्, तस्याभेदवादिनं प्रत्यसिद्धत्वात् । नापि विरुद्धधर्माध्यासः, तत एव । किं तर्हि ? संविन्निर्भासभेदाद्भावस्वभावभेदः प्रकल्प्येत । स पुनरभेदेऽप्यात्मनः खण्डशः प्रतिभासनाद् व्यभिचारी ।

२८९. ननु ज्ञानात्मनः खण्डशः प्रतिभासनस्य विभ्रान्तत्वात्तत्त्वतस्तस्यैकत्वान्न तेन व्यभिचारः । तदुक्तम्—

अविभागोपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनैः ।

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ ()

इति चेत्, तदन्यत्रापि विभ्रमाभावे कोशपानं विधेयम् । शक्यं हि वक्तुम्, संविन्निर्भासभेदः कुतश्चित्प्रतिपत्तुर्विभ्रम एव, तत्त्वतः संविन्मात्रस्याद्वयस्य व्यवस्थितेः ।

यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो नरः ।

सङ्कीर्णमिव मात्राभिर्भिन्नाभिरभिमन्यते ॥

तथेदममलं ब्रह्म निर्विकल्पमविद्याया ।

कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति ॥ (बृहदा. भा. ३. ५. ४३-४४)

इति वचनात् । तथा चासिद्धं विशेषसाधनं न साध्यसाधनायालम् । तदेकं चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासभेद-वशाद्भूपादिव्यपदेशभाग् ग्राह्यग्राहकसंवित्तिवत् । चक्षुरादिज्ञानप्रतिभासभेदोप्यसिद्ध एवाभेदवादिन इति चेत्, ग्राह्यग्राहकसंवित्तिप्रतिभासभेदोपि भेदवादिनः किमेकत्र ज्ञानात्मनि सिद्धः ? संवृत्या सिद्ध इति चेत्,

समः ^{३८५९} समाधिः । योऽपीतरेतराभावप्रत्ययाद्भावस्वभावभेदं ^{३८६०} साधयेत्तस्य इतरेतराभावविकल्पोऽपि ^{३८६१}
 कथमयमर्थः ^{३८६२} न स्याद्गुणादिविकल्पवत् । ^{३८६३} वर्णादिप्रत्ययो ^{३८६४} भावस्वभावभेदं ^{३८६५} स्वसाध्यमर्थमन्तरेणैव ^{३८६६}
 भावाद्भयभिचारित्वादयर्थः, न ^{३८६७} पुनरितरेतराभावप्रत्यय इत्यशक्यव्यवस्थम्, ^{३८६८} तस्य
 भावाभावयोरभेदेपीतरेतराभावप्रत्ययेन ^{३८६९} व्यभिचारात् । न हि वस्तुव्यतिरिक्तमसन्नाम, ^{३८७०} प्रमाणस्यार्थविषयत्वात् ।
 प्रत्यक्षमभावविषयं ^{३८७१} भवत्येव, ^{३८७२} तस्येन्द्रियैः ^{३८७३} संयुक्तविशेषणसम्बन्धसद्भावात्, ^{३८७४} घटाभावविशिष्टं ^{३८७५} भूतलं
 गृह्णामीति ^{३८७६} प्रत्ययात्, इति चेत्, न; तस्य ^{३८७७} भूतलादिभावविषयत्वात् । ^{३८७८} अभावदृष्टौ हि
 तदवसानकारणाभावाद्भावदर्शनमनवसरं ^{३८७९} प्राप्नोति । ^{३८८०} क्रमतोनन्तररूपाभावप्रतिपत्तावेवोपक्षीण-
 शक्तिकत्वप्रसङ्गात् । ^{३८८१} प्रत्यक्षस्य ^{३८८२} क्वचित्प्रतिपत्ता ^{३८८३} स्मर्यमाणस्य ^{३८८४} घटस्याभावप्रतिपत्तौ
 तदपररूपस्यानन्तरस्यास्मर्यमाणत्वं ^{३८८५} भावदर्शनावसरकारणम्, इति चेत्, न; ^{३८८६} प्रत्यक्षस्य ^{३८८७} स्मरणान-
 पेक्षत्वात्, तस्य ^{३८८८} स्मृत्यपेक्षायामपूर्वार्थसाक्षात्कारित्वविरोधात् । ^{३८८९} भावप्रत्यक्षं ^{३८९०} किञ्चित् ^{३८९१} स्मरणनिरपेक्षम्,
 योगिप्रत्यक्षवत् । ^{३८९२} किञ्चित् ^{३८९३} स्मरणापेक्षं ^{३८९४} सुखादिसाधनार्थव्यवसायवत् । ^{३८९५} क्वचिदभावंप्रत्यक्षं ^{३८९६} स्मरणनिरपेक्षम्,
 योगिनोऽभावप्रत्यक्षं ^{३८९७} यथा । ^{३८९८} क्वचिदभावप्रत्यक्षम्, पुनः ^{३८९९} प्रतिषेध्यस्मरणापेक्षमेव, ^{३९००} तथा प्रतीतेः, इति चेत्, न;
 स्मरणापेक्षस्य ^{३९०१} विकल्पज्ञानस्य ^{३९०२} प्रत्यक्षत्वविरोधात्, ^{३९०३} अनुमानादिवत् । ^{३९०४} प्रत्यक्षस्य ^{३९०५} सकल-
 कल्पनाविषयत्वात्स्मृत्यपेक्षायामनवस्थाप्रसङ्गात्, ^{३९०६} स्मृतेः ^{३९०७} पूर्वानुभवापेक्षत्वात्पूर्वानुभवस्याप्यपरस्मृत्यपेक्षत्वात्,
 सुदूरमपि गत्वा ^{३९०८} कस्यचिदनुभवस्य ^{३९०९} स्मृतिनिरपेक्षत्वे ^{३९१०} प्रकृतानुभवस्यापि ^{३९११} स्मृतिसापेक्षत्वकल्पनावैयर्थ्यात् । न च
 स्मृतिः ^{३९१२} पूर्वानुभूतार्थविषया ^{३९१३} कश्चिदप्यपूर्वार्थे ^{३९१४} ज्ञानमुपजनयितुमलम्, ^{३९१५} तस्यास्तत्प्रत्यभिज्ञानमात्रजननसामर्थ्य-
 प्रतीतेर्दृष्टे ^{३९१६} सजातीयार्थेपि ^{३९१७} स्मृतेः ^{३९१८} सादृश्यप्रत्यभिज्ञानजनकत्वसिद्धेः । ^{३९१९} पूर्वानुभूते ^{३९२०} घटे ^{३९२१} स्मृतिस्ततो ^{३९२२} विजातीयार्थान्तरे
 तदभावे ^{३९२३} विज्ञानमुपजनयतीति ^{३९२४} शिलाप्लवं ^{३९२५} कः ^{३९२६} श्रद्धधीतान्यत्र ^{३९२७} जडात्मनः । ^{३९२८} ततः ^{३९२९} स्मृतिनिरपेक्षमेव ^{३९३०} सर्वं ^{३९३१} प्रत्यक्षम् ।
 तच्च ^{३९३२} यद्यभावविषयं ^{३९३३} स्यात्तदा ^{३९३४} भावदर्शनमनवसरमेव, ^{३९३५} तत्कारणाभावात् । ^{३९३६} प्रतिपत्तुर्भावदिदृक्षा
 भावदर्शनकारणमित्यपि न सम्यक्, ^{३९३७} पुरुषेच्छानपेक्षत्वात्प्रत्यक्षस्य, ^{३९३८} सत्यामपि ^{३९३९} घटदिदृक्षायां ^{३९४०} तद्विकले ^{३९४१} प्रदेशे
 दर्शनाभावादसत्यामपि ^{३९४२} सति ^{३९४३} घटे ^{३९४४} दर्शनसद्भावात् । इति न ^{३९४५} प्रत्यक्षमभावं ^{३९४६} प्रत्येति, ^{३९४७} तस्य ^{३९४८} सन्मात्रविषयत्वात्तत्रैव
 प्रमाणत्वोपपत्तेरव्यभिचारात् । ^{३९४९} सकलशक्तिविरहलक्षणस्य ^{३९५०} निरुपाख्यस्य ^{३९५१} स्वभावकायदेरभावात्कुत-
 स्तत्प्रमितिः ^{३९५२} स्यादानुमानिकी ? नहि ^{३९५३} निरुपाख्यस्य ^{३९५४} स्वभावः ^{३९५५} कश्चित्संभवति, ^{३९५६} भावस्वभावत्वप्रसङ्गात् । नापि
 कार्यम्, ^{३९५७} तत एव । इति ^{३९५८} कुतः ^{३९५९} स्वभावात्कार्याद्वा ^{३९६०} हेतोस्तत्प्रमितिः ? ^{३९६१} अनुपलब्धिः ^{३९६२} पुनस्तस्यासिद्धिमेव
 व्यवस्थापयेदिति ^{३९६३} ततोपि ^{३९६४} न ^{३९६५} तत्प्रमितिः । ^{३९६६} भावानामनुपलब्धेस्तत्प्रमितिरित्यपि ^{३९६७} न ^{३९६८} सम्यक्, ^{३९६९} ततो
 भावान्तरस्वभावस्यैवाभावस्यावभासनात् ।

२९०. एतेन ^{३९७०} विरोधिलिङ्गात् ^{३९७१} निरुपाख्यस्याभावस्य ^{३९७२} प्रमितिरपास्ता । ^{३९७३} सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तेस्तत्प्र-
 मितिरित्यपि ^{३९७४} मिथ्या, ^{३९७५} तस्या अपि ^{३९७६} निरुपाख्यत्वे ^{३९७७} क्वचित्प्रमितिजननासंभवात्, ^{३९७८} आत्मनः ^{३९७९} सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चक-
 रूपत्वेनापरिणामस्य ^{३९८०} प्रसज्यप्रतिषेधरूपस्य ^{३९८१} प्रमाणत्वविरोधात् । यदि ^{३९८२} पुनरन्यवस्तुविज्ञानरूपा ^{३९८३} तन्निवृत्तिस्तदा ^{३९८४} न ^{३९८५} ततो
 निरुपाख्यस्य ^{३९८६} प्रमितिः, ^{३९८७} वस्त्वन्तररूपस्यैवाभावस्य ^{३९८८} सिद्धेः । न च ^{३९८९} प्रकारान्तरमस्ति ^{३९९०} किञ्चित्, ^{३९९१} इति ^{३९९२} कुतस्तत्प्रमितिः ।

२९१. मा भूत्रिरुपाख्यस्याभावस्य प्रत्यक्षतोऽन्यतो वा प्रमाणात्प्रतिपत्तिस्तथापि न सत्ताद्वैतस्य सिद्धिः, वस्तुनानात्वस्यैव ततः परिच्छित्तेरित्यपरः, स्तस्यापि वस्तुनानात्वं बुद्ध्यादिकार्यनानात्वात्प्रतीयेत, नान्यथा, अतिप्रसङ्गात्। तदपि व्यभिचार्येव, विपक्षपि भावात्। तथाहि—स्वभावाभेदेपि विविधकर्मता दृष्टा युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टिविषयक्षणवत्। न ह्येकत्र नर्तक्यादिकक्षणे युगपदुपनिबद्धदृष्टीनां प्रेक्षकजनानां विविधकर्मबुद्धिव्यपदेशसुखादिकार्यमसिद्धम्, येन तस्य स्वभावाभेदेपि विविधकर्मता न भवेत्। शक्तिनानात्वे प्रसवविशेषात्। स चेद् व्यभिचारी, कुतस्तद्गतिः ? तस्यापि शक्तिनानात्वोपगमात्र बुद्ध्यादिः प्रसवविशेषो व्यभिचारीति चेत्, न, अनवस्थाप्रसङ्गात्, नर्तक्यादीक्षणैकशक्तावपि बुद्ध्यादिकार्यनानात्वाच्छक्तिनानात्वप्रसङ्गात्, तथा तच्छक्तावपि। इति सुदूरमपि गत्वा बुद्ध्यादिप्रसवविशेषसद्भावेपि शक्तिनानात्वाभावे कथं नासौ व्यभिचारी स्यात् ? इति कुतो वस्तुनानात्वगतिः ? केवलमविद्या स्वभावदेशकालावस्थाभेदानात्मनि परत्र वा सतः स्वयमसती मिथ्याव्यवहारपदवीमुपनयति यतः क्षणभङ्गिनो भिन्नसंततयः स्कन्धा विकल्परन्नन्यथा वा इति सत्ताद्वैतवादी विशेषानपह्नुवीत, तद्रूपादिस्कन्धानां द्रव्यादिपदार्थानां वा निरुपाख्याभावानामिव, परमार्थतः क्षणिकत्वाक्षणिकत्वतदुभयानुभयरूपत्वादिविशेषसाधनेपि साधनव्यभिचारात्, सापि प्रतिभासकार्याद्यभेदेपि कस्यचिदेकत्वं साधयतीति साध्यसाधनयोरभेदे किं केन कृतं स्यात् ? पक्षविपक्षादेरभावात्। कस्यचिद्धि सन्मात्रदेहस्य परब्रह्मणस्तद्वादी एकत्वं प्रतिभासनात्तत्कार्यात्तत्स्वभावाद्वा साधयेदन्यतो वा ? तच्च साधनं साध्यादभिन्नमेव, अन्यथा द्वैतप्रसङ्गात्। साध्यसाधनयोरभेदे च किमेकत्वं केन प्रतिभासकार्यादिना निर्णीतं स्यात्, पक्षस्य विपक्षस्य सपक्षस्य चाभावात्। साध्यधर्माधारतया हि प्रसिद्धो धर्मो पक्षः। स च सर्वेषामर्थानां धर्मिणामप्रसिद्धौ ततोऽन्यत्वेन साध्यधर्मस्य चैकत्वस्यासंभवे कथं प्रसिध्येन्नाम ? विपक्षश्च तद्विरुद्धस्ततोऽन्यो वा नाद्वैतवादिनोस्ति। तथा सपक्षश्च साध्यधर्माविनाभूतसाधनप्रदर्शनफलस्तस्य दूरोत्सारित एव। तत्सिद्धौ वा भेदवादप्रसिद्धिः। पराभ्युपगमात्पक्षादिसिद्धेरदोष इति चेन्न, स्वपरविभागासिद्धौ पराभ्युपगमस्याप्यसिद्धेः। एतेन यदुक्तम्—सर्वेर्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः, प्रतिभाससमानाधिकरणतयाऽवभासमानत्वात्, प्रतिभासस्वात्मवत्, इति ब्रह्माद्वैतस्य साधनं तदपि प्रत्याख्यातम्।

२९२. आम्नायात्तत्सिद्धिरित्यप्यसंभाव्यम्, तस्यापि साध्यादभेदे साधनत्वायोगात्। ततः साध्यसाधनयोरभेदे किं सत्ताद्वैतं केनानुमानेनागमेन प्रत्यक्षेण वा प्रमाणेन साधितं स्यात्, पक्षसपक्षविपक्षाणामाम्नायस्येन्द्रियादेशानुमानागमप्रत्यक्षज्ञानात्मकप्रमाणकारणस्याभावान्नैव तत्कृतं स्यात्। न क्वचिदसाधना साध्यसिद्धिः, अतिप्रसङ्गात्। साधनं हि प्रमाणं साध्यते निश्चीयतेऽनेनेति। तद्गहिता न साध्यस्य प्रमेयस्य सिद्धिः, शून्यतादिसिद्धिप्रसङ्गात्। स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति तु संविदद्वैतवादिनोपि समानम्। किं बहुना, सर्वस्य स्वेष्टतत्त्वं प्रत्यक्षादिप्रमाणाभावेपि व्यवतिष्ठेत, स्वरूपस्य स्वतो गतेः, इत्यतिप्रसङ्ग एव, पुरुषाद्वैतवदनेकान्तवादस्यापि सिद्धेः, संविदद्वैतवदनेकसंवेदनस्यापि सिद्धेः, इति न सत्ताद्वैतं निष्पर्यायं

शक्यमभ्युपगन्तुम् । विचारयिष्यते चैतत् प्रपञ्चतोप्रे । तदलमतिप्रसङ्गन । ततो भावा एव नानात्मादय इति भावैकान्तोऽभ्युपगम्यताम् । तत्र च सर्वात्मकत्वादोषानुषङ्गः परिहर्तुमशक्यः ।

२९३. संप्रति घटादे शब्दादेश्च प्रागभावप्रध्वंसाभावनिहववादिनं प्रति दूषणमुपदर्शयन्तः कारिकामाहुः—

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निहवे ।

प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥

२९४. कार्यस्यात्मलाभात्प्रागभवनं प्रागभावः । स च तस्य प्रागनन्तरपरिणाम एवेत्येके, तेषां तत्पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ कार्यसद्भावप्रसङ्गः । तत्रेतराभावरूपस्य तदभावस्योपगमान्नायं दोष इति चेत्, तदनन्तरपरिणामेपि तत् एव कार्यस्याभावसिद्धेः किमर्थं प्रागभावः परिकल्प्यते ? कार्यस्य प्रागभावाभावस्वभावत्वसिद्ध्यर्थमिति चेत्, कथमेवं कार्यात्पूर्वपर्यायेण रहितेषु तत्पूर्वोत्तराखिलपरिणामेषु कार्यस्वभावत्वं न प्रसज्येत ? प्रागभावाभावस्वभावत्वाविशेषेऽपि कश्चिदेवेष्टः पर्यायः कार्यम्, न पुनरितरे परिणामा इत्यभिनिवेशमात्रम् ।

२९५. स्यादाकूतम्—‘कार्यात्प्रागनन्तरपर्यायस्तस्य प्रागभावः । तस्यैव प्रध्वंसः कार्यं घटादि, न पुनरितरेतराभावो येन तत्पूर्वोत्तरसकलपर्यायाणां घटत्वं प्रसज्येत । न च तेषां प्रागभावप्रध्वंसरूपतास्ति, तदितरेतराभावरूपतोपगमात्’ इति, तदेतदपि सुगतमतानुसरणं स्याद्वादवादिनामायातम्, स्वमतविरोधात् । प्रागभावो ह्यनादिरिति तन्मतम् । तच्च घटस्य प्रागनन्तरपर्यायमात्रप्रागभावस्योपगमे विरुध्यते । द्रव्यार्थादेशादनादिः प्रागभावोभिमत इति चेत्, किमिदानीं मृदादिद्रव्यं प्रागभावः ? तथोपगमे कथं प्रागभावाभावस्वभावता घटस्य घटेत, द्रव्यस्याभावासंभवात् । तत् एव न जातुचिद् घटस्योत्पत्तिः स्यात् । यदि पुनः पूर्वपर्यायाः सर्वेऽप्यनादिसन्ततयो घटस्य प्रागभावोऽनादिरिति मतम्, तदापि प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि घटस्योत्पत्तिप्रसङ्गः । तथा सति घटस्यानादित्वं पूर्वपर्यायनिवृत्तिसन्ततेरप्यनादित्वात् ।

२९६. ननु च न प्रागनन्तरपर्यायः प्रागभावो घटस्य, नापि मृदादिद्रव्यमात्रम्, न च तत्पूर्वसकलपर्यायसन्ततिः । किं तर्हि ? द्रव्यपर्यायात्मा प्रागभावः । स च स्यादनादिः स्यात्सादिरिति स्याद्वाददर्शनं निराकुलमेवेति चेन्न, एवमप्युभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गात् । द्रव्यरूपतया तावदनादित्वे प्रागभावस्यानन्तत्वप्रसक्तेः सर्वदा कार्यानुत्पत्तिः स्यात् । पर्यायरूपतया च सादित्वे प्रागभावात्पूर्वमप्युत्पत्तिः पश्चादिव कथं निवार्येत ? न च गत्यन्तरमस्ति । ‘ततो न भावस्वभावः प्रागभावः, तस्य भावविलक्षणत्वात्पदार्थविशेषणत्वसिद्धेः’ । इत्यन्ये, तेपि न समीचीनवाचः, सर्वथा भावविलक्षणस्याभावस्य ग्राहकप्रमाणाभावात् । ‘स्वोत्पत्तेः प्राग्नासीद् घट इति प्रत्ययोऽसद्विषयः, सत्प्रत्ययविलक्षणत्वात् । यस्तु सद्विषयः स न सत्प्रत्ययविलक्षणः, यथा सदद्रव्यमित्यादिप्रत्ययः, सत्प्रत्ययविलक्षणश्चायम्, तस्मादसद्विषयः ।’

इत्यनुमानं प्रागभावस्य ग्रहकमिति चेन्न, प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसाभावादिरिति प्रत्ययेन व्यभिचारात् । तस्याप्यसद्विषयत्वान्न दोष इति चेन्न, अभावानवस्थाप्रसङ्गात् ।

२९७. स्यान्मतम्, भावे भूभागादौ नास्ति कुम्भादिरिति प्रत्ययो मुख्याभावविषयः प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसाभावादिरित्युपचरिताभावविषयः । ततो नाभावानवस्थेति, तदप्ययुक्तम्, परमार्थतः प्रागभावादीनां साङ्ख्यप्रसङ्गात् । न ह्युपचरितेनाभावेन परस्परमभावानां व्यतिरेकः सिध्येत्, सर्वत्र मुख्याभावपरिकल्पना-नर्थक्यप्रसङ्गात् । यदप्युक्तम्— न भावस्वभावः प्रागभावादिः, सर्वदा भावविशेषणत्वादिति, तदपि न सम्यगनुमानम्, हेतोः पक्षाव्यापकत्वात्, न प्रागभावः प्रध्वंसादावित्यादेरभावविशेषणस्याप्यभावस्य प्रसिद्धेः, गुणादिना व्यभिचाराच्च, तस्य सर्वदा भावविशेषणत्वेपि भावस्वभावत्वात् । रूपं पश्यामीत्यादिव्यवहारेण गुणस्य स्वतन्त्रस्यापि प्रतीतेर्न सर्वदा भावविशेषणत्वमस्येति चेत्तर्ह्यभावस्तत्त्वमित्यभावस्यापि स्वतन्त्रप्रतीतेः शश्वद्भावविशेषणत्वं मा सिधत् । सामर्थ्यात्तद्विशेष्यस्य द्रव्यादेः संप्रत्ययात्सदा भावविशेषणमेवाभाव इति चेत्तथैव गुणादिः सततं भावविशेषणमस्तु, तद्विशेष्यस्य द्रव्यस्य सामर्थ्याद्गम्यमानत्वात् ।

२९८. किञ्च, प्रागभावः सादिः सान्तः परिकल्प्यते, सादिरनन्तो वानादिरनन्तो वाऽनादिः सान्तौ वा ? प्रथमे विकल्पे प्रागभावात्पूर्वं घटस्योपलब्धिप्रसङ्गः, तद्विरोधिनः प्रागभावस्याभावात् । द्वितीये प्रागभावकाले घटस्यानुपलब्धिप्रसक्तिः, तस्यानन्तत्वात् । तृतीये तु सदानुपलब्धिः । चतुर्थे पुनर्घटोत्पत्तौ प्रागभावस्याभावे घटोपलब्धिवदशेषकार्योपलब्धिः स्यात्, सर्वकार्याणामुत्पत्त्यमानानां प्रागभावस्यैकत्वात् । यावन्ति कार्याणि तावन्तस्तत्प्रागभावाः । तत्रैकस्य प्रागभावस्य विनाशेपि शेषोत्पत्त्यमानकार्यप्रागभावानामविनाशान्न घटोपलब्धौ सर्वकार्योपलब्धिरिति चेत्, तर्ह्यनन्ताः प्रागभावास्ते स्वतन्त्रा भावतन्त्रा वा ? स्वतन्त्राश्चेत् कथं न भावस्वभावाः कालादिवत् ? भावतन्त्राश्चेत्, किमुत्पन्नभावतन्त्रा उत्पत्त्यमानभावतन्त्रा वा ? न तावदादिविकल्पः, समुत्पन्नभावकाले तत्प्रागभावविनाशात् । द्वितीयविकल्पोपि न श्रेयान्, प्रागभावकाले स्वयमसतामुत्पत्त्यमानभावानां तदाश्रयत्वायोगात्, अन्यथा प्रध्वंसाभावस्यापि प्रध्वस्तपदार्थाश्रयत्वापत्तेः । न चानुत्पन्नः प्रध्वस्तो वार्थः कस्यचिदाश्रयो नाम, अतिप्रसङ्गात् । यदि पुनरेक एव प्रागभावो विशेषणभेदाद्भिन्न उपचर्यते घटस्य प्रागभावः पटादेर्वेति, तथोत्पन्नपदार्थविशेषणतया तस्य विनाशोप्युत्पत्त्यमानार्थविशेषणत्वेनाविनाशान्नित्यत्वमपीति मतम्, तदा प्रागभावादचतुष्टयकल्पनापि मा भूत्, सर्वत्रैकस्यैवाभावस्य विशेषणभेदात्तथाभेदव्यवहारोपपत्तेः । कार्यस्यैव पूर्वेण कालेन विशिष्टोऽर्थः प्रागभावः, परेण विशिष्टः प्रध्वंसाभावः, नानार्थविशिष्टः स एव चेतरेतराभावः, कालत्रयेप्यत्यन्तनानास्वभावभावविशेषणोत्यन्ताभावः स्यात्, प्रत्ययभेदस्यापि तथोपपत्तेः, सत्तैकत्वेपि द्रव्यादिविशेषणभेदाद्भेदव्यवहारवत् । यथैव हि सत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावादेकत्वं सत्ताया इष्टं भवद्भिस्तथैवासत्प्रत्ययाविशेषाद्विशेषलिङ्गाभावादसत्ताया अप्येकत्वमस्तु । अथ प्राग् नासीदित्यादि-प्रत्ययविशेषादसत्ता चतुर्भेदेष्यते, तर्हि प्रागासीत्पश्चाद्भविष्यति सम्प्रत्यस्तीति कालभेदेन, पाटलि-पुत्रेस्ति चित्रकूटेस्तीति देशभेदेन, घटोस्तीति द्रव्यभेदेन, रूपमस्ति रसोस्तीति गुणभेदेन, प्रसारणमस्ति

गमनमस्तीति कर्मभेदेन च^{४०८४} प्रत्ययविशेषसद्भावात् प्राक्सत्तादयः सत्ताभेदाः किमु नेष्यन्ते ? अथ^{४०८५}
 प्रत्ययविशेषात्तद्विशेषाणान्येव भिद्यन्ते, तस्य तन्निमित्तकत्वात्, न तु सत्ता; ततः सैकेवेति मतम्, तर्हि^{४०८६} तत्
 एवाभावभेदोपि मा भूत्, सर्वथा विशेषाभावात् । न चैकोप्यभावः क्षित्यादिविवर्तघटशब्दादिव्यतिरेकेण प्रत्यक्षतः^{४०८७}
 प्रतिभासते । केवलं^{४०८८} गतानुगतिकतया लोकः पृथिव्यादिभूतचतुष्टयविषयमेव^{४०८९}
 प्रागभावादिविकल्पमात्रवशात्प्रागभावादिव्यवहारं प्रवर्तयति, द्रव्यादिविकल्पमात्राद्द्रव्यादिव्यवहारवत्,^{४०९०}
 प्रमाणादिप्रकृत्यादिरूपस्कन्धादिविकल्पमात्रात्तद्व्यवहारवच्च । ततो न प्रागभावः कश्चिदिह प्रतीयते,^{४०९१}
 प्रध्वंसाभावादिवत् । इति प्रागभावादिनिह्वं कृत्वा पृथिव्यादिकार्यद्रव्यमभ्युपगच्छंश्चार्वाकोनेनोपालभ्यते, न पुनः^{४०९२}
 सांख्योन्या^{४०९३} वा, तस्य कार्यद्रव्यानभ्युपगमात्, तिरोभावाविर्भाववत्परिणामोपगमेपि^{४०९४}
 भावस्वभावप्रागभावाद्यभ्युपगमस्यापि सद्भावात् । तत्र प्रागभावस्य प्रसिद्धस्याप्यपलपनं निह्वः । तस्मिन्क्रियमाणे^{४०९५}
 कार्यद्रव्यं पृथिव्यादिकमनादि स्यात् । प्रध्वंसस्य च धर्मस्य स्वभावस्य प्रच्यवोऽपलापः । तस्मिन्विधीयमाने^{४०९६}
 तदनन्ततां व्रजेत् । न चानाद्यनन्तं पृथिव्यादिकं प्रागभावाद्यपह्नववादिनाभ्युपगन्तुं शक्यते,^{४०९७}
 स्वमतविरोधाल्लोकयतिकत्वहानिप्रसङ्गात् ।

२९९. कथं पुनः प्रागभावः प्रसिद्धः, तस्योक्तदूषणविषयतया व्यवस्थित्यभावादिति चेत्; न; स्याद्वादिभिरभीष्टे^{४१०१}
 प्रागभावे यथोक्तदूषणानवकाशात्, नैयायिकादिभिरभिमतस्य तु तस्य तैरपि निराकरणात् । ऋजुसूत्रनयार्पणाद्धि^{४१०२}
 प्रागभावस्तावत्कार्यस्योपादानपरिणामं एव पूर्वोन्तरात्मा । न च तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्ततौ^{४१०३}
 कार्यसद्भावप्रसङ्गः, प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपतोपगमात् 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोः' इति वक्ष्यमाणत्वात् ।^{४१०४}
 प्रागभावतत्प्रागभावादेस्तु पूर्वपूर्वपरिणामस्य सन्तत्यानादेर्विवक्षितकार्यरूपत्वाभावात् । न च तत्रास्येतेरेतराभावः^{४१०५}
 परिकल्प्यते, येन तत्पक्षोपक्षिप्तदूषणावतारः स्यात् । नाप्येवं प्रागभावस्यानादित्वविरोधः, प्रागभावतत्प्रागभावादेः^{४१०६}
 प्रागभावसन्तानस्यानादित्वोपगमात् । न चात्र सन्तानिभ्यस्तत्त्वान्यत्वपक्षयोः सन्तानो दूषणार्हः,^{४१०७}
 पूर्वपूर्वप्रागभावात्मकभावक्षणानामेवापराभ्युपगमात् सन्तानताभिप्रायात् । सन्तानिक्षणापेक्षया तु^{४१०८}
 प्रागभावस्यानादित्वाभावेपि न दोषः, तथा ऋजुसूत्रनयस्येष्टत्वात् । तथास्मिन्पक्षे पूर्वपर्यायाः सर्वेप्यनादिसंततयो^{४१०९}
 घटस्य प्रागभाव इति वचनेपि न प्रागनन्तरपर्यायनिवृत्ताविव तत्पूर्वपर्यायनिवृत्तावपि घटस्योत्पत्तिप्रसङ्गः, येन^{४११०}
 तस्यानादित्वं पूर्वपर्यायनिवृत्तिसंततरेप्यनादित्वादापाद्यते, घटात्पूर्वक्षणानामशेषाणामपि तत्प्रागभावरूपाणामभावे^{४१११}
 घटोत्पत्त्यभ्युपगमात्, प्रागनन्तरक्षणनिवृत्तौ तदन्यतमक्षणानिवृत्ताविव सकलतत्प्रागभावनिवृत्त्यसिद्धेर्घटोत्पत्ति-^{४११२}
 प्रसङ्गासंभवात् । व्यवहारनयार्पणात् मृदादिद्रव्यं घटादेः प्रागभाव इति वचनेपि प्रागभावाभावस्वभावता घटस्य न^{४११३}
 दुर्घटा, यतो द्रव्यस्याभावासंभवान्न जातुचिदुत्पत्तिर्घटस्य स्यात्, कार्यरहितस्य पूर्वकालविशिष्टस्य मृदादिद्रव्यस्य^{४११४}
 घटादिप्रागभावरूपतोपगमात्, तस्य च कार्योत्पत्तौ विनाशसिद्धेः, कार्यरहिताविनाशमन्तरेण^{४११५}
 कार्यसहिततयोत्पत्त्ययोगात्, कार्योत्पत्तेरेवोपादानात्मकप्रागभावक्षयस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तथा प्रमाणार्पणाद्^{४११६}
 द्रव्यपर्यायात्मा प्रागभाव इत्यभिधानेपि नोभयपक्षोपक्षिप्तदोषानुषङ्गः, प्रागभावस्य द्रव्यरूपतयेव^{४११७}
 पर्यायरूपतयाप्यनादित्वनिरूपणात् । न चानादेरनन्ततैकान्तः सिध्यति, भव्यजीवसंसारस्यानादित्वेपि^{४११८}
 सान्तत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा कस्यचिन्मुक्त्ययोगात् । नापि सान्तस्य सादित्वैकान्तः, कस्यचित्संसारस्य

सान्तत्वेऽप्यनादित्वप्रसिद्धेः । ततो न सर्वदा कार्यानुत्पत्तिः पूर्वमप्युत्पत्तिर्वा घटस्य दुर्निवारा स्यात् । ततो भावस्वभाव एव प्रागभावः । स चैकानेकस्वभावो भाववदेवेति न तदेकत्वानेकत्वैकान्तपक्षभावी दोषोऽवकाशं लभते । न च भावस्वभावे प्रागभावे प्राग् नांसीत्कार्यमिति नास्तित्वप्रत्ययो विरुध्यते, तदभावस्य भावान्तररूपत्वात्, तत्र च नास्तित्वप्रत्ययाविरोधात्, घटविविक्तभूभागे घटनास्तित्वप्रत्ययवत् । तदेवं प्रसिद्धस्यैव प्रागभावस्यापलपनं निहवः ।

३००. परस्य प्रध्वंसाभावः कथं प्रसिद्ध इति चेत्, नयप्रमाणार्पणादिति ब्रूमः । तत्र ऋजुसूत्रनर्यापणात्तावदुपादेयक्षण एवोपादानस्य प्रध्वंसः । न चैवं तदुत्तरक्षणेषु प्रध्वंसस्याभावात्पुनरुज्जीवनं घटादेः प्रसज्येत, कारणस्य कार्योपमर्दनात्मकत्वाभावात्, उपादानोपमर्दनस्यैव कार्योत्पत्त्यात्मकत्वात्, प्रागभावप्रध्वंसयोरुपादानोपादेयरूपतोपगमात्प्रागभावोपमर्दनेन प्रध्वंसस्यात्मलाभात् । कथमभावयोरुपादानोपादेयभाव इति चेत्, भावयोः कथम् ? यद्भावे एव यस्यात्मलाभस्तदुपादानमितरदुपादेयमिति चेत्, तर्हि प्रागभावे कारणात्मनि पूर्वक्षणवर्तिनि सति प्रध्वंसस्य कार्यात्मनः स्वरूपलाभोपपत्तेस्तयोरुपादानोपादेयभावोऽस्तु, तुच्छरूपयोरेवाभावयोस्तद्भावविरोधात् । तथा व्यवहारनयादेशान्मृदादिद्रव्यं घटोत्तरकालवर्ति घटाकारविकलं घटप्रध्वंसः । स चानन्तः समवतिष्ठते । तेन घटात्पूर्वकालवर्ति मृदादिद्रव्यं घटस्य प्रागभाव एव, न पुनः प्रध्वंसः, तथा घटाकारमपि तत्तस्य प्रध्वंसो मा भूत्, घटाकारविकलमिति विशेषणात् ।

३०१. नन्वेवं घटोत्तरकालवर्तिघटाकारविकलसन्तानान्तरमृदादिकमपि तद्घटप्रध्वंसः स्यादिति चेत्, न; द्रव्यग्रहणात् । वर्तमानपर्यायाश्रयरूपमेव हि मृदादिकं तद्द्रव्यमन्वयीष्यते, न पुनः सन्तानान्तरम्, तस्य स्वपर्यायमेवातीतमनागतं वा प्रत्यन्वयिनस्तद्द्रव्यत्वविरहात् । तदेवं प्रसिद्धप्रध्वंसो वस्तुधर्मः । तस्य प्रच्यवोऽपह्नव एव चार्वाकस्य । तस्मिंश्च कार्यद्रव्यं पृथिव्यादिकमनन्ततां व्रजेदिति समन्तभद्रस्वामिनामभिप्रायः । वृत्ति-कारास्त्वकलङ्कदेवा एवमाचक्षते—कपिलमतानुसारिणां प्रागभावानभ्युपगमे घटादेरनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यं स्यात् । न च पुरुषव्यापारमन्तरेण घटादि भवदुपलभ्यते जातुचिदिति कार्यद्रव्यं तदापादनीयम् । तच्च प्रागभावस्य निहवेऽनादि स्यादिति सूक्तं दूषणम्, आपाद्यस्याप्युद्भाव्यदूषणत्वोपपत्तेः ।

३०२. एतेन मीमांसकानां शब्दस्य प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वप्रसङ्गात् पुरुषव्यापारानर्थक्यं स्यादित्युक्तं प्रतिपत्तव्यम् । शब्दस्याभिव्यक्तौ पुरुषव्यापारस्योपगमात्रानर्थक्यमिति चेन्न, ततः प्राक् तदावेदकप्रमाणाभावादभिव्यक्तिकल्पनानुपपत्तेः । कलशादेर्हि समन्धकारावृततनोः प्रदीपव्यापारात्पूर्वं सद्भावावेदकप्रमाणस्य स्पा(स्पर्श)नप्रत्यक्षादेः संभवादुपपन्ना प्रदीपेनाभिव्यक्तिकल्पना, न पुनः शब्दस्य, तदभावात् । प्रत्यभिज्ञानादेस्तद्भावावेदकस्य प्रमाणस्य भावाददोषः, इति चेत्, न, तस्य विरुद्धत्वात् । शब्दस्याभिव्यक्तेः पूर्वं सर्वथाऽसत्त्वात्साध्याद्विपरीतेन कश्चित्सत्त्वेन व्याप्तत्वादन्वया प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद्यनुपपत्तेः । ततोऽभिव्यङ्ग्यविलक्षणत्वाच्च शब्दस्याभिव्यक्तिकल्पना युक्ता । एतेन कुम्भकारादिव्यापाराद् घटाद्यभिव्यक्तिकल्पनो प्रत्युक्ता । कल्पयित्वापि तदभिव्यक्तिं तस्याः प्रागभावोङ्गीकर्तव्यः । तथा हि—सतः शब्दस्य ताल्वादिभिरभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते, न पुनः शब्द एवेति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् ।

३०३. ननु च मीमांसकैः शब्दस्यापौरुषेयत्वप्रदर्शनात्रासौ^{४१९६} प्रागसन् क्रियते । तदभिव्यक्तिस्तु पौरुषेयी । सा प्रागसती क्रियते इति कथं स्वरुचिविरचितस्य दर्शनस्य प्रदर्शनमात्रम्, प्रमाणशक्तिविरचितस्य^{४१९७} तथा दर्शनस्य प्रदर्शनात्, इति चेत्, न; शब्दादभिन्नायास्तदभिव्यक्तेरप्यपौरुषेयत्वात् । तस्याः पौरुषेयत्वात्प्रागसत्त्वे तदभिन्नस्य शब्दस्यापि^{४१९८} तत् एव प्रागसत्त्वमनुमन्यताम्, विशेषाभावात् । शब्दादभिन्नायास्तदभिव्यक्तिरिति चेत्, सा यदि श्रवणज्ञानोत्पत्तिः, सेव कथं प्राक्सती यत्नतः कर्तव्या ? तस्याः प्रागसत्त्वे शब्दस्याश्रावणत्वापत्तेर्नित्यत्वविरोधः, प्रागश्रावणत्वस्वभावत्यागेनोत्तरश्रावणत्वस्वभावोत्पत्तेः कथञ्चिदनित्यत्वमन्तरेणानुपपत्तेः । अथ श्रवणज्ञानोत्पत्तेरभावेऽपि पूर्वं शब्दस्य श्रावणत्वमेवेष्टम्, किमनया श्रवणज्ञानोत्पत्त्याभिव्यक्त्या ?

३०४. स्यान्मतम्—न शब्दधर्मः श्रवणज्ञानोत्पत्तिः, तस्याः कर्मस्थक्रियात्वाभावात् । किं तर्हि ? पुरुषस्वभावः, कर्तृस्थक्रियात्वादिति, तदप्ययुक्तम्, कर्तृवत्तस्याः प्राक्सत्त्वापत्तेरविशेषात्तद्व्यापारानर्थक्यात् । श्रवणज्ञानोत्पत्तियोग्यता शब्दस्याभिव्यक्तिः, इति चेत्, तर्हि योग्यतायां समानश्चर्चः । योग्यतापि हि यदि शब्दधर्मत्वाच्छब्दादभिन्ना तदा कथं तद्वत्सती पुरुषयत्नेन क्रियते ? अथ शब्दादभिन्ना, श्रोत्रस्वभावत्वात्तस्या इति मतिः, तथापि न सा प्रागसती श्रोत्रस्य नभोदेशलक्षणस्य सर्वदा सत्त्वात् तत्स्वभावभूताया योग्यतायाः प्रागपि सत्त्वात् । एतेनात्मधर्मो योग्यता शब्दादभिन्नेति निरस्तम्, नित्यत्वादात्मनः प्रागसत्त्वासम्भवात् । अथ^{४२१५} भिन्नाभिन्ना श्रवणज्ञानोत्पत्तिस्तद्योग्यता चाभिव्यक्तिः शब्दादिति मतम्, तदप्यसत्यम्, पक्षद्वयोक्तदोषानुषङ्गात्, सर्वथा तस्याः प्रागभावायोगात्, तद्योगे वा शब्दवदेव श्रोत्रप्रमात्रोरपि प्रागसतोः प्रयत्नेन करणप्रसङ्गात्, अन्यथा स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रप्रसक्तेः । आवरणविगमोभिव्यक्तिरिति चेत्, तदावरणविगमः प्राक्किमभूत् ? भूतौ वा किं यत्नेन ? विशेषस्याधानमभिव्यक्तिरिति चेत्, ननु विशेषाधानमपि तादृगेव, कर्मकर्तृकरणानां प्रागभावाभावात् । आवरणविगमविशेषाधानयोर्हि शब्दपुरुषश्रोत्राणां स्वरूपत्वे तेषां याज्ञिकैरपि नित्यत्वोपगमात्कथं प्रागभावः संभवेत् ? संभवे वा प्रयत्नकार्यत्वप्रसङ्गः, अभिव्यक्तिवत् । पुरुषप्रयत्नेन अभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते, न पुनस्तत्स्वरूपः शब्दः पुरुषः श्रोत्रं चेति स्वरुचिविरचितदर्शनमात्रम् ।

३०५. एवं हि कपिलमतानुसारिणां घटादेरभिव्यक्तिः प्रागसती चक्रदण्डादिभिः क्रियते न पुनर्घटादिरित्यपि शक्यं प्रदर्शयितुम् । यतोत्र न कश्चिद्विशेषहेतुस्तात्वाद्यो व्यङ्ग्यका न पुनश्चक्रादयोपीति, तं वा घटादेः कारकाः, न पुनः शब्दस्य तात्वाद्योपीति । न हि व्यङ्ग्यकव्यापृतिर्नियमेन व्यङ्ग्यं सन्निधापयति । सन्निधापयति च तात्वादिव्यापृतिर्नियमेन शब्दम् । ततो नासौ तात्वादीनां व्यङ्ग्यश्चक्रादीनां घटादिवत् ।

३०६. नायं दोषः, सर्वगतत्वाद्घटानामित्यपि वार्तम्, प्रमाणबलायात्त्वाभावात्, अन्यत्रापि तथाभावानुषङ्गात् । शक्यं हि वक्तुं घटादीनां सर्वगतत्वाच्चक्रादिव्यापारान्नियमेनोपलब्धिरिति । इष्टत्वाददोषोऽयं कापिलानामिति चेन्न, कारणव्यापारेष्वपि चोद्यानिवृत्तेः, चक्रादीन्यपि कारणानि

स्वव्यापाराणां नियमेन सन्निधापकान्यभिव्यञ्जकानि भवन्तु, तेषां सर्वगतत्वादेवेति चोद्यस्य निवर्तयितुमशक्यत्वात् । एतेनानवस्था प्रत्युक्ता । स्वव्यापारोत्पादने हि कारणानां व्यापारान्तराणि कल्पनीयानि तथा तदुत्पादनेपीत्यनवस्था स्यात्, न पुनः स्वव्यापाराभिव्यक्तौ तत्सन्निधिमात्रादेव तत्सिद्धिः, अन्यथा व्यञ्जककारकयोरविशेषप्रसङ्गात् । कारणव्यापाराणां च कारणेभ्यो भेदैकान्तो वा स्यादभेदैकान्तो वा ? तद्वदेकान्तो तद्वतोनुपयोगः, तावतेतिकर्तव्यतास्थानात् । व्यवहारिणामभिमतकार्यसंपादनमेव हीतिकर्तव्यता । तस्याः स्थानं यदि व्यापारेभ्य एवैकान्ततो भिन्नेभ्यो भावान्भवेत्तदा किं व्यापारवतान्यत्साध्यम् यतस्तस्योपयोगः क्वचिदुपपद्यते ? तद्वतो व्यापाराणामभेदैकान्तेभिव्यक्तिवत्प्रसङ्गस्तद्वत् इव व्यापाराणां सर्वदा सद्भावः । तेषां प्रागभावे वा व्यापाराः प्रागसन्तः क्रियन्ते, न पुनस्तदव्यतिरेकिणोपि तद्वन्त इति स्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम् । एतेनानवस्था प्रत्युक्ता । तद्विशेषैकान्ते तद्वतोनुपयोगः, तावतेतिकर्तव्यतास्थानात् । अभेदैकान्ते पूर्ववत्प्रसङ्गः । परिणामेष्वेष पर्यनुयोगः । परिणामिनो बहुधानकस्य परिणामा घटादयोत्यन्तभिन्ना वा स्युरभिन्ना वा ? कथञ्चिद्वेदाश्रयणे स्याद्वादानुसरणप्रसङ्गात् । तत्र परिणामानां तदभिन्नानां क्रमशो वृत्तिर्मा भूत्, परिणामिनोऽक्रमत्वात् । ततो भिन्नानां व्यपदेशोपि मा भूत्—प्रधानस्यैते परिणामा इति, सम्बन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात् । न हि नित्यं प्रधानं परिणामानामुपकारकम्, तस्य क्रमयौगपद्याभ्यामुपकारकत्वायोगात् । नापि परिणामेभ्यस्तस्योपकारः, तस्य तत्कार्यत्वेनानित्यत्वापत्तेः । तैस्तस्योपकारेपि सर्वं समानमनवस्था च । यावन्तो हि परिणामास्तावन्तस्तस्योपकारास्तत्कृतास्ततो यदि भिन्नास्तदा तस्येति व्यपदेशोपि मा भूत्, सम्बन्धासिद्धेरनुपकारकत्वात् । तद्वत्तत्सैरुपकाररूपकारान्तरपि स एव पर्यनुयोग इत्यनवस्था । ततस्ते यद्यभिन्नास्तदा तावद्वा प्रधानं भिद्येत, ते वा प्रधानैकरूपतां प्रतिपद्येरन् । इति प्रधानस्योपकाराणां चावस्थानासंभवादनवस्था । तस्या भोग्याभावे पुंसो भोक्तृत्वाभावादभावः स्यात्, तस्य तल्लक्षणत्वात् । ततः प्रकृतिपुरुषतत्त्वयोरवस्थानाभावादनवस्था । इति न कपिलमतानुसरणेनापि प्रधानात्मनामशेषतो घटादीनामपि शब्दवदभिव्यङ्ग्यत्वं युक्तं कल्पयितुम्, सर्वदा प्रागभावापह्वे तदभिव्यक्तेरप्यनादित्वप्रसङ्गात्, कार्यद्रव्यवत् ।

३०७. ननु कार्यद्रव्यमसिद्धं कापिलानाम्, कथमनादि ग्रन्थकारेणापाद्यते; इति चेत्; प्रमाणबलात्कार्यत्वं कार्यद्रव्यस्यापाद्यं तथाभिधानाददोषः । कथं कार्यत्वमापाद्यते प्रागभावानभ्युपगमवादिनं प्रति, इति चेत्; 'कार्यं घटादिकम्, अपेक्षितपरव्यापारत्वात्, यत् न कार्यं तत्र तथा दृष्टम्, यथा गगनम्, तथा च घटादिकम्, तस्मात्कार्यम्' इत्यनुमानात् । नात्रासिद्धं साधनम्, कादाचित्कत्वात्, तस्यानपेक्षितपरव्यापारत्वे—कादाचित्कत्वविरोधादाकाशवत् । तदाविर्भावस्य कादाचित्कत्वादपेक्षितपरव्यापारत्वम्, न तु घटादेरिति चेत्; कोयमाविर्भावो नाम ? प्रागनुपलब्धस्य व्यञ्जकव्यापारादुपलम्भ इति चेत्; स तर्हि प्रागसन् कारणैः क्रियते, न पुनर्घटादिरिति स्वरुचिवचनमात्रम् ।

३०८. अथ तस्यापि प्राक् तिरोहितस्य सत एव कारणैराविर्भावान्तरमिष्यते, तर्हि तस्याप्यन्यत्तस्याप्यन्य-दाविर्भावनमित्यनवस्थानात्र कदाचिद् घटादेराविर्भावः स्यात् । अथाविर्भावस्योपलम्भरूपस्य तद्रूपावि-

भवान्तरानपेक्षत्वात्, प्रकाशस्य प्रकाशान्तरानपेक्षत्ववन्नानवस्थेति चेत्; तर्हि तस्य कारणादात्म-
लाभोऽभ्युपगन्तव्यः, ततः कार्यमाविर्भाव इति । तद्वद् घटादिकमपि, अपेक्षितपरव्यापारत्वाविशेषादात्मलाभे । न
ह्यलब्धात्मलाभस्योपलम्भः शक्यः कर्तुम्, सर्वथातिप्रसङ्गात् । तदेवं प्रधानपरिणामतयापीष्टं घटादिकं
कार्यद्रव्यमापाद्यते । तस्य च प्रागभावापह्नवेऽनादित्वप्रसङ्गात्कारणव्यापारानर्थक्यं स्यादिति सूक्तं दूषणम् ।
प्राक्तिरोभावस्योपगमे वा स एव प्रागभावः सिद्धः, तस्य तिरोभाव इति नामान्तरकरणे दोषाभावादुत्पादस्याविर्भाव
इति नामान्तरकरणवत् । ततो न मीमांसकस्य सांख्यमतानुसारणं युक्तम्, सर्वथा शब्दस्य
प्रागभावानभ्युपगमेऽनादित्वप्रसङ्गात्, पुरुषव्यापारानर्थक्यस्य समर्थनात् ।

३०९. तथा विनाशानभ्युपगमे तस्य किंकृतमश्रवणम् ? स्वावरणकृतमिति चेत्, नैतत्सारम्,
तदात्मानमखण्डयतः कस्यचिदावरणत्वायोगात् । तिरोधायकस्य कस्यचिद्वायुविशेषस्य शब्दात्मानं खण्डयत
एवावरणत्वे स्वभावभेदप्रसङ्गः । आवृतानावृतस्वभावयोरभेदानुपपत्तेः तयोरभेदे वा शब्दस्य
श्रुतिरश्रुतिर्वेत्येकान्तः प्रसज्येत, पुरुषव्यापारात्पूर्वमश्रुतिस्तदनन्तरं श्रुतिरिति विभागानुपपत्तेः ।

३१०. स्यान्मतम्—यथा घटादेरात्मानमखण्डयत्तमस्तस्यावरणं तथा शब्दस्यापीति; तदसत्, तस्यापि
तेनात्मखण्डनोपगमात्, दृश्यस्वभावस्य खण्डनात्तमस्तदावरणत्वसिद्धेः सर्वस्य परिणामित्वसाधनात् । तमसापि
घटादेरखण्डने पूर्ववदुपलब्धिः किन्न भवितुमर्हति, तस्य तेनोपलभ्यतयाप्यखण्डनात् ।

३११. ननु च पुरुषव्यापारात्प्राक् पश्चाच्च शब्दस्याखण्डितस्वभावत्वेपि नैकान्ततः श्रुतिः,
सहकारिकारणापेक्षत्वात्, स्वविज्ञानोत्पादने तदश्रुतेरपि तद्वैकल्ये संभवादिति चेत्, तर्हि किमयं शब्दः
स्वविषयसंवित्तिकरणे समर्थोऽसमर्थो वा ? स्वसंवित्युत्पत्तौ कारणान्तरापेक्षा मा भूत् तत्करणसमर्थस्य ।
अन्यथा स्वयमसमर्थस्य सहकारीन्द्रियमनोभिव्यञ्जकव्यापारलक्षणं किमस्यासामर्थ्यं खण्डयत्याहोस्विन्नेति
पक्षद्वितयम् । तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ? तत्खण्डने वा
स्वभावहानिरव्यतिरेकात् । व्यतिरेके व्यपदेशानुपपत्तिः । इति पूर्ववत्सर्वम्, शब्दासामर्थ्ययोः
परस्परमनुपकारकत्वाविशेषात् । शब्दस्य हि तदसामर्थ्येनोपकारः क्रियमाणस्तस्मादभिन्नश्चेत्, स एव कृतः
स्यादिति तन्नित्यत्वहानिः । भिन्नश्चेत्सम्बन्धासिद्धिः, अनुपकारात् । तदुपकारान्तरे वा स एव पर्यनुयोग
इत्थनवस्था, प्रधानतत्परिणामव्यतिरेकपक्षवत् ।

३१२. किञ्च, वर्णाः सर्वे नित्यसर्वगतास्तद्विपरीता वा ? न तावद्वितीयः पक्षोऽनभ्युपगमात्, प्रथमपक्षे तु
वर्णानां व्यापित्वान्नित्यत्वाच्च क्रमश्रुतिरनुपपन्नैव, देशकालकृतक्रमासंभवात् । तदभिव्यक्तिप्रतिनियमात्तेषां
क्रमश्रुतिरिति चेत्, न; अस्मिन्नपि पक्षे समानकरणानां तादृशमभिव्यक्तिनियमायोगात् सर्वत्र सर्वदा
सर्वेषां सङ्कुला श्रुतिः स्यात् । समानं हि करणं वर्णानां श्रुतौ श्रोत्रम्, नीलपीतादीनां रूपविशेषाणां
दृष्टौ चक्षुर्वत् । ततस्तेषामेकव्यञ्जकव्यापारेपि समानदेशकालानां कथमभिव्यक्तिनियमो नीलादिवत् ?
क्वचिदेकत्रैकदापि च सर्ववर्णाभिव्यक्तौ सर्वत्र सर्वदाभिव्यक्तिस्तेषाम्, स्वरूपेणाभिव्यक्तित्वात्, तत्स्वरूपस्य च

व्यापिनित्यत्वात् । खण्डशस्तदभिव्यक्तौ वर्णानां व्यक्तेराकारभेदाद्भेदप्रसक्तेः प्रत्येकमनेकत्वा-
पत्तिरेकानेकात्मकत्वप्रसङ्गो वा । सर्वात्मनाभिव्यक्तौ सर्वदेशकालवर्तिप्राणिनः प्रति तेषामभिव्यक्तत्वात् कथं सर्वत्र
सर्वदा सर्वेषां सङ्कुला श्रुतिर्न स्यात्, यतः कलकलमात्रं न भवेत् ।

३१३. ननु समानोपादानकारणानामभिन्नदेशकालानां समानकरणानामुत्पत्तावपि तद्देशकालवर्तिसकल-
पुरुषाणामविकलसहकारिणां कथं न संकुला श्रुतिः स्यात्, क्रमश्रुतिर्वा न विरुध्येत ? इति चेदत्रोच्यते-
वक्तृश्रोतृविज्ञानयोस्तत्कारणकार्ययोः क्रमवृत्तिमपेक्ष्य परिणामिनां क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योर्न किञ्चिद्विरुद्धं
पश्यामः । समानेपि हि शब्दानामारम्भकपुद्गले तद्देशकालवर्तिन्युपादाने सहकारिणि च बहिरङ्गे तात्वादिकारणे
वक्तृविज्ञानस्य वर्णोत्पत्तौ सहकारिकरणस्याऽऽन्तरस्य क्रममपेक्ष्य क्रमोत्पत्तौ परिणामिनां न किञ्चिद्विरुद्धं
पश्यामः, कारणक्रमानुविधायित्वात्सर्वत्र कार्यक्रमस्य, शब्दपरिणामिनामेव तथाविरोधदर्शनात् । नापि
श्रोतृविज्ञानस्य शब्दकार्यस्य क्रममपेक्ष्य वर्णक्रमप्रतिपत्तौ किञ्चिद्विरुद्धं पश्यामः, प्रमाणक्रमानुविधायित्वा-
त्तत्फलभूतप्रमितिक्रमस्य सततमपरिणामिनामेवात्मनां तद्विरोधनिर्णयात् । तत्र संकुला श्रुतिः स्याद्वादिनां
प्रसज्येत ।

३१४. सर्वगतानामेषः क्रमो दुष्करः स्यात् । ततः क्रमोत्पत्तिप्रतिपत्त्योरन्यथानुपपत्त्या न सर्वगता
वर्णाः, नापि नित्याः प्रत्येतव्याः ।

३१५. ननु च नित्या वर्णाः, प्रत्यभिज्ञानात्, आत्मादिवत्, इति चेत्, क्षणिकेष्वेव करणाङ्गहारादिषु
प्रत्यभिज्ञानाद्विरुद्धो हेतुः । एतेन बुद्धिभिर्यभिचारी च हेतुरुक्तः, 'बुद्धिकर्मभ्यां व्यभिचारः'
इत्यभिधानात् । () ननु बुद्धिकर्मणोरपि नित्यत्वोपगमात्राय दोषः, 'ते अपि नित्ये () इति वचनात्,
तथोपगमे विरोधाभावात्, इति चेत्, तत्क्रियैकत्वेपि किमिदानीमनेकं स्यात् ? तथा बुद्ध्यैकत्वेपि
न किञ्चिदनिकं स्यादित्यपि प्रतिपत्तव्यम्, सर्ववर्णैकत्वप्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम्,
अभिव्यञ्जकभेदाद्वैश्वरूप्यं जलचन्द्रवत् । क्वचित्प्रत्यक्षविरोधे तदन्यत्राप्यविरोधः । कुतः ? यथैव हि
नानादेशजलप्रतिबिम्बितस्य चन्द्रस्यानेकत्वप्रतीतावपि परमार्थतश्चन्द्रैकत्वम्, तथैव
नानादेशव्यञ्जकभेदादकारादिवर्णनानात्वप्रतीतावपि वर्णैकत्वमिति वदतः कः प्रतीघातः । प्रत्यक्षविरोधो
वर्णैकत्ववचने स्यात्, न पुनः क्रियाद्येकत्ववचने याज्ञिकस्येति कुतो विभागः सिध्येत् ? ततो वर्णाद्वैतमनिच्छता
न करणाङ्गहारादिक्रियैका वक्तव्या, येन शब्दस्य नित्यत्वसाधने प्रत्यभिज्ञानं विरुद्धं न स्यात् । तदर्थं
तात्वादिव्यापारजनितश्रावणस्वभावं परित्यज्य विपरीतस्वभावमासादयन्नपि नित्यश्चेन्न किञ्चिदनित्यम् ।
तदेवमकारादिवर्णस्त्रिजगत्यामेकं एवेत्यपि निरस्तम्, युगपद्भिन्नदेशस्वाभावोपलब्धेर्घटादिवत् । भानुनानेकान्त इति
चेत् ? न; तस्य सकृद्भिन्नदेशतयोपलब्धावपि भिन्नस्वभावतयोपलब्ध्यभावात् । प्रत्यासन्नेतरदेशप्रतिपत्तृजनानां
स्पष्टेतरादिभिन्नस्वभावतयोपलब्ध्यमानेनैकपादपेन व्यभिचार इति चेन्न, तस्य भिन्नदेशतयानुपलब्धेः ।
नयनावरणविशेषवशात्सकृद्भिन्नदेशस्वभावतयोपलब्ध्यमानेन चन्द्रद्वयेन व्यभिचार इति चेन्न, भ्रान्तोपलम्भेना-

भ्रान्तोपलम्भस्य व्यभिचारायोगात्, अन्यथा सर्वहेतूनामव्यभिचारासंभवात्। न च शब्दस्यापि सकृद्विभ्र-
देशस्वभावतयोपलम्भो भ्रान्तः, सर्वदा बाधकाभावात्। युगपत्प्रतिनियतदेशमन्द्रतारश्रुतेः कस्यचिदेकत्वे न
क्वचिदनेकत्वसिद्धिः। स एवायमकार इति प्रत्ययमर्शादिकारादेरेकत्वेऽङ्गहारादिक्रियाविशेषस्याप्येकत्वमस्तु, स
एवायमङ्गहारादिरिति प्रत्ययमर्शात्। तथा सर्वस्यार्थविशेषस्यापि। न हि कश्चित्त्वचित्प्रत्ययमर्शो न
स्याद्वर्णवत्। तच्छेषविशेषबुद्धेरभिव्यञ्जकहेतुत्वप्रकल्पितौ सर्व समञ्जसं प्रेक्षामहे, सर्वस्याङ्गहारादेरपि
देशादिविशेषबुद्धेरभिव्यञ्जकहेतुत्वप्रकल्पितेः कर्तुं सुशकत्वात्। तदेतेषां पुद्गलानां करणसन्निपातोपनिपाते
श्रावणस्वभावः शब्दः पूर्वापरकोट्योरसन् प्रयत्नानन्तरीयको घटादिवत्, इति प्रतिपत्तव्यम्, न पुनः प्राक्
पश्चाच्च सन्नेवापौरुषेय इति। तस्य प्रागभाववत्प्रध्वंसस्यापि न प्रचयः श्रेयान्।

३१६. ननु शब्दस्य पुद्गलपर्यायत्वे चक्षुषोपलम्भप्रसङ्गः—‘स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः’ (त.सू.
५.२३) इति वचनात्, अन्यथा सिद्धान्तविरोधात्; इति चेत्; न, गन्धपरमाणुभिरव्यभिचारात्। पुद्गलपर्यायत्वस्य
गन्धपरमाणूनामदृश्यत्वान्न दर्शनमिति चेत्, शब्दपुद्गलानामपि तत एव तन्मा भूत्। अथ मतमेतत्,
चक्षुषोपलभ्योस्तु शब्दः, पुद्गलस्कन्धस्वभावत्वाद्धटवदिति, तदप्यपेशलम्, गन्धस्यापि चक्षुरुपलभ्यत्वप्रसङ्गात्त
एव। अथ तस्यानुद्धूतरूपपुद्गलस्कन्धस्वभावत्वाच्चक्षुरुपलम्भताऽयोग्यत्वाच्च न चक्षुषा दर्शनम्। तत एव
शब्दस्य तन्मा भूत्। शब्दपरमाणूनां ताल्वादिजनितपवनप्रेरितानां विस्तारप्रसङ्ग इति चेन्न, गन्धपरमाणूनामपि
तत्प्रसङ्गात्। तेषां गन्धद्रव्यस्कन्धपरिणतत्वान्न पवनप्रेरितानामपि विस्तारः शरीरवत्, इति चेत्, तर्हि
शब्दपरमाणूनामपि शब्दस्कन्धपरिणतत्वात्कुतो विस्तारप्रसङ्गः? तत एव न विक्षेपो गन्धपरमाणुवत् तेषां
बन्धविशेषात्स्कन्धपरिणामसिद्धेः। मूर्तद्रव्येण प्रतिघातस्तेषां स्यादिति चेन्न, गन्धपरमाणूनामपि तदनुषङ्गात्।
कुड्यादिनास्त्येव तत्प्रतिघात इति चेत्, शब्दपरमाणुप्रतिघातोपि। मूर्तिमद्भिः शब्दपरमाणुभिः स्कन्धपरिणतैः
श्रोतृकर्णपूरणप्रसङ्ग इति चेन्न, गन्धपरमाणुभिरपि घ्राणपूरणप्रसङ्गात्, स्कन्धपरिणामाविशेषात्।

३१७. नन्वेकश्रोत्रप्रवेशाद्योग्यदेशस्थितैरपि श्रोत्रान्तरैः शब्दस्याश्रवणप्रसङ्ग इति चेन्न, एकघ्राणप्रवेशा-
त्प्रतिपत्तन्तराणां योग्यदेशस्थानामपि गन्धस्याप्यघ्राणप्रसङ्गात्। गन्धपरमाणूनां सदृशपरिणाम-(माण)-भाजां
समन्ततः प्रसर्पणाददोष इति चेत्तर्हि शब्दपरमाणूनामपि समानपरिणाम-(माण)-भृतां नानादिक्तया विसर्पणात्स
दोषो मा भूत्। शब्दस्यागमनादीनामदृष्टानामपि परिकल्पनाप्रसङ्ग इति चेत्, गन्धपरमाणूनामपि। अथैषां
प्रतिपत्तिविशेषान्यथानुपपत्त्या निश्चयनात्रागमनादीनामदृष्टपरिकल्पनेति चेत्, शब्दपुद्गलानापि यथा यत्र यदा यावतां
प्रतिपत्तृणामुपलब्धिस्तथा तत्र तदा तावतामुपलब्धियोग्यपरिणाम-(माण)-विशेषोपगमात्। तदेवं शब्दस्य
पुद्गलस्वभावत्वे दर्शनविस्तारविक्षेपप्रतिघातकर्णपूरणैकश्रोत्रप्रवेशाद्युपालम्भो गन्धपरमाणु-
कृतप्रतिविधानतयोपेक्षामर्हति।

३१८. ननु न पुद्गलस्वभावः शब्दः, अस्पर्शत्वात्, सुखादिवत्, इति बाधकसद्भावात् पुद्गलस्वभावत्वं
शब्दस्येति चेत्, न; हेतोरसिद्धत्वात्। यतः कर्णशङ्कुल्यां कटकटायमानस्य प्रायशः
प्रतिघातहेतोर्भवनाद्युपघातिनः शब्दस्य प्रसिद्धिरस्पर्शत्वकल्पनामस्तङ्गमयति।

३१९. ननु च न पुद्गलस्वभावः शब्दः, निश्छिद्रभवनाभ्यन्तरतो निर्गमनात्, तत्र बाह्यतः प्रवेशाद्व्यवधायकाभेदनादेश्च दर्शनात् । यस्तु पुद्गलस्वभावो न तस्यैवं दर्शनम्, यथा लोछादेः, तथा दर्शनं च शब्दस्य, ततो न पुद्गलस्वभाव मिति चेत्; न; पुद्गलस्वभावत्वेपि तदविरोधात् । तस्य हि निश्छिद्रनिर्गमनादयः सूक्ष्मस्वभावत्वात् स्नेहादिस्पर्शादिवन्न विरुध्येरन् । कथमन्यथा पिहितताप्रकल-शाभ्यन्तरातैलजलादेर्बहिर्निर्गमनं स्निग्धतादिविशेषदर्शनादनुमीयेत ? कथं वा पिहितनिश्छिद्रमृदघटादेः सलिलाभ्यन्तरनिहितस्यान्तःशीतस्पर्शोपलम्भात्सलिलप्रवेशोऽनुमीयेत ? तदभेदनादिकं वा तस्य निश्छिद्रतयेक्षणात्कथमुत्प्रेक्षेत ? ततो निश्छिद्रनिर्गमनादिः स्नेहादिस्पर्शादिभिर्व्यभिचारी, न सम्यग्घेतुः, यतः शब्दस्य पुद्गलस्वभावत्वं प्रतिक्षिपेत्, तस्य पुद्गलस्वभावत्वनिर्णयात्सर्वथाप्यविरोधात् । अतो यत्नजनितवर्णाद्यात्मा श्रावणमध्यस्वभावः प्राक् पश्चादपि पुद्गलानां नास्तीति तावानेव ध्वनिपरिणामः सर्वैरभ्युपगन्तव्यः, तस्य सकलकालकलाव्यापित्वे मध्यवत्प्राक्पश्चाच्च श्रावणस्वभावत्वप्रसङ्गात्, प्रयत्नजनित-वर्णपदवाक्यात्मकत्वायोगात् । तत्प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपे कौटस्थ्यं क्रमयौगपद्याभ्यां स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रियां व्यावर्तयतीति निरुपाख्यमित्यभिप्रायः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याणाम्, प्राक्प्रध्वंसाभावप्रतिक्षेपस्य कौटस्थ्येन व्याप्तत्वात्, तस्य च क्रमयौगपद्याभावेन तत्र तद्विरोधात्, तस्यापि स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रियाव्यावर्तनेन तस्य च निरुपाख्यत्वेन सर्वथानर्थक्रियाकारिणः सकलवाग्विकल्पेभ्यो निष्क्रान्तत्वात् ।

३२०. स्यादाकूतम्—वर्णानामानुपूर्व्यपौरुषेयीष्यते, तस्या एव प्राक्प्रध्वंसाभावानभ्युपगमात् । ततो नोपालम्भः श्रेयानिति, तदप्ययुक्तम्, वर्णव्यतिरेकेणानुपूर्व्यसंभवात् । कथञ्चित्क्रियमाणामपि तदानुपूर्विकल्पनां विस्तरेण प्रतिक्षेपस्यामः, 'वक्तृर्यनाप्ते' (का. ७८) इत्यत्र तत्प्रतिक्षेपविस्तरवचनात् । तदिह पर्याप्तम्, तत्प्रबन्धेन सर्वथा प्राक्प्रध्वंसाभावनिह्वये यथानिगदितदूषणगणप्रसङ्गस्य परिहरणासंभवात् ।

अथेतरेतराभावात्यन्ताभावानभ्युपगमवादिनां दूषणमुद्भावयिषवः प्राहुराचार्याः—

सर्वात्मकं तदेक स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे ।

अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥

३२१. तदित्यनेन सर्वप्रवादिनामिष्टं तत्त्वं परामृश्यते । तदेकं सर्वात्मकं स्यात्, अनिष्टात्मनापि भावादन्यापोहस्य व्यतिक्रमे । स्वसमवायिनः समवाय्यन्तरे समवायोन्यत्र समवायः, अत्यन्ताभावव्यतिक्रमः । तस्मिन् सर्वस्येष्टं तत्त्वं सर्वथा न व्यपदिश्येत, स्वेष्टात्मना व्यपदेशोऽनिष्टात्मनापि व्यपदेशप्रसङ्गात्, तेना-व्यपदेशे स्वेष्टात्मनाप्यव्यपदेशापत्तेः, स्वयमिष्टानिष्टात्मनोः कालत्रयेपि विशेषानुपगमात् । कः पुनरन्यापोहो नाम ? स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोहः । स्वभावान्तरादिति वचनात् स्वस्वभावाद्वावृत्तिरन्यापोहः, तस्याः स्वापोहत्वप्रसङ्गात् । अथापि प्रागभावप्रध्वंसाभावयोरन्यापोहत्वप्रसङ्गिरिति चेत्; न, कार्य-द्रव्यात्पूर्वोत्तरपरिणामयोः स्वभावान्तरेपि तस्य तद्व्यावृत्तेर्विशिष्टत्वात् । यदभावे हि नियमतः कार्यस्योत्पत्तिः

स प्रागभावः, यद्भावे च कार्यस्य नियता विपत्तिः स प्रध्वंसः। न चेतरेतराभावस्याभावे भावे च कार्यस्योत्पत्तिर्विपत्तिर्वा जलस्याभावेऽप्यनलस्यानुत्पत्तेः क्वचित्तद्भावे च तस्याऽविपत्तेः। क्वचिदन्धकारस्याभावे रूपज्ञानोत्पत्तेः स प्रागभावस्तस्य स्यादिति न मन्तव्यम्, नियमग्रहणात्, केषाञ्चिदन्धकारेऽपि रूपज्ञानोत्पत्तेः। तत एव नान्धकारं रूपज्ञानस्य प्रध्वंसः, तद्भावे नियमतस्ताद्विपत्त्यप्रतीतेः। ततः सूक्तमन्यापोहलक्षणं स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोह इति, तस्य कालत्रयापेक्षेऽत्यन्ताभावेऽप्यभावादतिव्याप्त्ययोगात्। न हि घटपटयोरितरेतराभावः कालत्रयापेक्षः, कदाचित्पटस्यापि घटत्वपरिणामसंभवात्, तथा परिणामकारणसाकल्ये तदविरोधात्; पुद्गलपरिणामानियमदर्शनात्। न चैवं चेतनाचेतनयोः कदाचित्तादात्म्यपरिणामः, तत्त्वविरोधात्।

३२२. नन्वितरेतराभावस्य व्यतिक्रमे चार्वाकस्य पृथिवीतत्त्वं सकलजलाद्यात्मकमनुषज्यताम्, सांख्यस्य च महदादिपरिणामात्मकमशेषतस्तदस्तु। सौगतानां तु विज्ञानमात्रमुपयतां किं किमात्मकं स्यादिति कश्चित्; सोऽपि न विपश्चित्; सौगतानामपि हि संविदो ग्राह्याकारात्कथञ्चिद्व्यावृत्तावनेकान्तसिद्धिरन्यथा संबन्धासिद्धिः सर्वथा व्यावृत्तौ संविद्ग्राह्याकारयोरुपकार्योपकारकभावानभ्युपगमात्संबन्धान्तराभावात्। अव्यावृत्तावन्यतरस्वभावहानेर्न किञ्चित्स्य्यात्। संविदो ग्राह्याकारेणुप्रवेशे ग्राह्याकार एव स्यान्न संविदाकारः। तथा च तस्याप्यभावः, संविदभावे ग्राह्याकारायोगात्। ग्राह्याकारस्य वा संविद्यनुप्रवेशे संविदेव, न ग्राह्याकारः स्यात्, कस्यचित्संवेदनमात्रस्य विषयाकारविकलस्यानुपलब्धेः।

३२३. ननु च—

नान्योनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः।

ग्राह्यग्राहकवैर्धुयात् स्वयं सैव प्रकाशते॥ ()

इति चेत्; न, एवमपि संवित्तेः स्वलक्षणप्रत्यक्षवृत्तावपि संवेद्याकारविवेकस्वभावान्तरानुपलब्धेः स्वभावव्यावृत्तिः स्वभावान्तरात्सिद्धेति कथं तल्लक्षणाऽन्यापोहव्यतिक्रमः सौगतस्य शक्यः कर्तुम्? चित्रैकज्ञानवादिनः पुनः शबलविषयनिर्भासेऽपि लोहितादीनां परस्परव्यावृत्तिरभ्युपगमनीया, अन्यथा चित्रप्रतिभासासंभवात्तदन्यतमवत्, तदालम्बनस्यापि नीलादेरभेदस्वभावत्वापत्तेर्नीलाद्यन्यतमवत्। प्रतिभासभेदाभावेऽपि नीलादेर्भेदव्यवस्थितौ न किञ्चिदभिन्नमेकं स्यात्, निरंशस्वलक्षणस्याप्यनेकत्वप्रसक्तेः। ततः पीतादिविषयस्वरूपभेदमन्विच्छता तत्प्रतिभासभेदोऽनेकविज्ञानवदेकचित्रज्ञानेऽप्येष्टव्यः। तदिष्टौ च स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिः पारमार्थिकी सिध्यतीति सिद्धस्तल्लक्षणोऽन्यापोहः। तथा चित्रज्ञानस्य स्वनिर्भासेऽभ्यो लोहितादिभ्यो विषयस्य च चित्रपटादेः स्वाकारेभ्यो नीलादिभ्यो व्यावृत्तिः सिद्धा। कुतः प्रमाणादिति चेत्, तद्वत्तस्तेभ्यो व्यावृत्तिः, एकानेकस्वभावत्वाद् घटरूपादिवदित्यनुमानात्। न हि लोहितादिनिर्भासा एव नीलाद्याकारा एव वानेकस्वभावाः, न पुनरेकस्वभावं तद्वद्वेदनं बहिर्द्रव्यं चेति शक्यं वक्तुम्, यतोऽसिद्धो हेतुः, तस्याप्यबाधितप्रतीतिसिद्धत्वात्। अन्यथा द्रव्यमेव स्यान्न रूपादयः। एतेन चित्रज्ञानमेव स्यान्न लोहितादिनिर्भासा इत्युपदर्शितम्। शक्यं हि वक्तुम्, स्वभावैकत्वेऽपि निर्भासवैलक्षण्यं करणसामग्रीभेदमनुविदध्यात्, दूरासन्नैकार्थोपनिबद्धनानादर्शननिर्भासवत्। यथैव हि

चित्रपटादिद्रव्यमेकस्वभावमपि, चक्षुरादिकरणसामग्रीभेदाद्रूपादिविलक्षणाकारम्, तदनुविधानात्, तथा चित्र-
ज्ञानमपि नानान्तःकरणवासनासामग्रीभेदाद्विलक्षणलोहितादिनिर्भासम् । तथानभ्युपगमे प्रतिपुरुषं
विषयस्वभावभेदो वा सामग्रीसम्बन्धभेदात् । क्वचिदेकत्रार्थे दूरस्थपुरुषस्यान्यो हि दूरदेशसामग्री-
संबन्धोन्यश्चासन्नपुरुषस्यान्यदेशसामग्रीसंबन्धः । इति दूरासन्नानामेकत्र वस्तुन्युपनिबद्धनानादर्शनानां
पुरुषाणां निर्भासभेदात्तद्विषयस्य वस्तुनोपि स्वभावभेदोस्तु, विशेषाभावात्, करणसामग्रीभेदवद्दूरदेश-
सामग्रीसंबन्धभेदस्यापि विषयस्वभावभेदमन्तरेणानुपपत्तेः । ततोऽन्तर्बहिश्च स्वभावभेदैकान्तसिद्धेर्न
क्वचिदेकत्वव्यवस्था । अन्यथा निर्भासभेदेपि कस्यचिदेकरूपतोपगमे न केवलं रूपादेरभेदः । किं तर्हि ?
कस्यचित्क्रमशः संबन्ध्यन्तरोपनिपातोपि स्वभावं न भेदयेत् । ततः क्रमवन्त्यपि कार्याणि तत्स्वभावभेदं
नानुमापयेयुः, क्रमशः सुखादिकार्यभेदस्य साधनधर्मस्य क्वचिदेकत्र सामग्रीसंबन्धोपनीतनिर्भासभेदेन
व्यभिचारात् । न चैवं शक्यमभ्युपगन्तुम् । ततो यावन्ति संबन्ध्यन्तराणि तावन्तः प्रत्येकं भावस्वभावभेदाः
परस्परव्यावृत्ताः सह क्रमेण च प्रतिपत्तव्याः ।

३२४. ननु च सर्वथा संबन्धासंभवाद्भावानां पारतन्त्र्यानुपपत्तेः—

पारतन्त्र्यं हि सम्बन्धः सिद्धे का परतन्त्रता ।

तस्मात्सर्वस्य भावस्य सम्बन्धो नास्ति तत्त्वतः ।।

इत्यादि वचनान्न कस्यचित्संबन्ध्यन्तराणि स्वभावभेदनिबन्धनानि सन्तीति चेत्; न द्रव्यक्षेत्रकालभाव-
प्रत्यासत्तिलक्षणस्य संबन्धस्य निराकर्तुमशक्तेः । न हि कस्यचित्केनचित्साक्षात्परम्परया वा संबन्धो
नास्तीति, निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात् । गुणगुणिनोः पर्यायतद्वतोश्च साक्षादविष्वग्भावाख्यसमवायासत्त्वे स्वतन्त्रस्य
गुणस्य पर्यायस्य वाऽसत्त्वप्रसङ्गात् सकलगुणपर्यायरहितस्य द्रव्यस्याप्यसत्त्वापत्तिरिति तयोर्निरुपाख्यत्वम् ।
गुणानां पर्यायाणां च परस्परं स्वाश्रयैकद्रव्यसमवायसम्बन्धाभावेऽप्यनेन निरुपाख्यत्वं प्रतिपादितम् । चक्षूरूपयोः
परम्परया क्षेत्रप्रत्यासत्तेरसत्त्वे योग्यदेशेऽप्ययोग्यवद्रूपे चक्षुर्ज्ञानं न जनयेत् । ततस्तद्ग्राहकानुमानासत्त्वादसत्त्वप्रसङ्गो
रूपस्यापि चेन्द्रियप्रत्यक्षासत्त्वादसत्त्वप्रसक्तिः । इत्युभयोर्निरुपाख्यत्वम् । तथा कारणकार्यपरिणामयोः
कालप्रत्यासत्तेरसत्त्वेऽनभिमतकालयोरिवाभिमतकालयोरपि कार्यकारणभावासत्त्वादुभयोर्निरुपाख्यतापत्तिः । तथा
व्याप्तिव्यवहारकालवर्तिनोर्धूमादिलङ्गाग्न्यादिलिङ्गिनोर्भावप्रत्यासत्त्यसत्त्वे क्वचित्पावकादिलिङ्गिनि
ततोनुमानायोगादनुमानानुमेययोरसत्त्वप्रसङ्गात्रिरुपाख्यत्वप्रसङ्गः । किं बहुना, संवेदनस्य कस्यचित्केनचिद्वेद्याकारेण
प्रत्यासत्तेरसत्त्वे तदुभयोरसत्त्वात्रिरुपाख्यत्वम् । तत्प्रत्यासत्तिसद्भावे वा सिद्धश्चतुर्थापि संबन्धः,
संवित्तदाकारयोर्द्रव्यादिप्रत्यासत्तिचतुष्टयस्यापि भावात्परस्परं पारतन्त्र्यप्रसिद्धेः । सिद्धस्य संविदाकारस्य
संवित्परतन्त्रतानिष्ठौ संविदभावेपि भावप्रसङ्गात् संविदो वा स्वाकारपरतन्त्रतानुपगमे
निराकारसंविदनुषङ्गात्, तथोपगमेपि संविदो वेद्याकारविवेकपरतन्त्रतानभिमतने वेद्याकारात्मताप्रसङ्गात्,
सर्वथा सम्बन्धाभावस्य च भावपरतन्त्रत्वानङ्गीकरणे स्वतन्त्रस्याभावरूपत्वविरोधात् कुतस्तद्व्यवस्था ? तदयं
कस्यचित्सिद्धस्यासिद्धस्य वा परतन्त्रतामुपलभ्य सर्वत्र सिद्धेऽसिद्धे वा का परतन्त्रतेति ब्रुवाणः कथं

न परतन्त्रः ? कस्यचिदसिद्धस्यापि कार्यात्मनः कारणपरतन्त्रतोपपत्तेरन्यथा कारणाभावेपि कार्योत्पत्तेर्निवारणायोगात् । कुतश्चित्कस्यचिदनुत्पत्तौ शश्वत्सत्त्वप्रसङ्गात्, 'सदकारणवन्नित्यम्', () इति वचनात् । संवृत्या पारतन्त्र्योपगमेपि तदोषानतिवृत्तेः संवृतेर्मृषारूपत्वात् । तत्त्वतोपि क्वचित्पारतन्त्र्येष्टौ सिद्धस्तात्त्विकः सम्बन्धः । इति न तत्प्रतिक्षेपः श्रेयान्, यतः सम्बन्ध्यन्तरापेक्षया सकृदसकृच्च संतानान्तरभावस्वभावभेदाः परस्परं व्यावृत्ता न सिद्धेयुः ।

३१५. तदेवं प्रतिक्षणमनन्तपर्यायाः प्रत्येकमर्थसार्थाः, न पुनरेकस्वभावा एव भावाः क्षणमात्रस्थितयः, अन्वयस्यानारतमविच्छेदात् । क्रमशोपि विच्छेदेर्थाक्रियानुपपत्तेः स्वयमसतस्तत्त्वतः क्वचिदुपकारितानुपपत्तेः कुतः कस्यात्मलाभः स्यात् ? कथञ्चिदविच्छेदे पुनः स सुघट एव कारणस्य स्वकार्यात्मना भवतः प्रतिक्षेपायोगात्, स्वभावान्तरानपेक्षणात्, स्वयमुत्पत्तिसोरपि स्वभावान्तरापेक्षणे विनश्वरस्यापि तदपेक्षण-प्रसङ्गात् ।

३२६. एतेन स्थानोः स्वभावान्तरानपेक्षणमुक्तम्, विश्रसा परिणामिनः कारणान्तरानपेक्षोत्पादादित्रय-व्यवस्थानात्तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात् । यतश्चैवं पर्यायार्थिकनयादेशात्प्रतिक्षणमन्तपर्यायः क्रमेणाविच्छिन्नान्वयसंततिरर्थः प्रतीयते, तस्मादयमुत्पत्तिसुरेव विनश्यति जीवादिः, पूर्वदुःखादिपर्यायविनाशा-जहद्वृत्तित्वात्तदुत्तरसुखादिपर्यायोत्पादस्य । नश्वर एव तिष्ठति, कथञ्चिदस्थास्नोर्नशानुपपत्तेरश्वविषाणवत् । स द्रव्यचेतनत्वादिना स्थास्नुरेवोत्पद्यते, सर्वथाप्यस्थास्नोः कदाचिदुत्पादायोगात्तद्वत् । ततः प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं सर्वम्—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' (त.सू. ५.३०) इति वचनात् ।

३२७. नन्वेवं स्थित्यादयो जीवादेर्वस्तुनो यद्यभिन्नास्तदा स्थितिरेवोत्पत्तिविनाशौ, विनाश एव स्थित्युत्पत्तौ, उत्पत्तिरेव विनाशावस्थाने इति प्राप्तम्, एकस्मादभिन्नानां स्थित्यादीनां भेदविरोधात् । तथा च कथं त्रिलक्षणता स्यात् ? अथ भिन्नास्तर्हि प्रत्येकं स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वप्रसङ्गः सत्त्वात्, अन्यथा तदसत्त्वापत्तेः । तथा चानवस्थानात्र समीहितसिद्धिरिति कश्चित्; सोप्यनालोचितपदार्थस्वभावः, पक्षद्वयस्यापि कथञ्चिदिष्टत्वात् । तत्र तद्वतः कथञ्चिदभेदोपगमे स्थित्यादीनां स्थितिरेवोत्पद्यते सामर्थ्याद्विनश्यति च, विनाश एव तिष्ठति सामर्थ्यादुत्पद्यते च, उत्पत्तिरेव नश्यति सामर्थ्यात्तिष्ठतीति च ज्ञायते, त्रिलक्षणाज्जीवादिपदार्थादभिन्नानां स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वसिद्धेः ।

३२८. एतेनैव ततस्तेषां भेदोपगमेपि प्रत्येकं त्रिलक्षणत्वसिद्धिरुक्ता । न चैवमनवस्था, सर्वथा भेदपक्षे तत्प्रसक्तेः, स्याद्वादपक्षे तु तदसंभवात् । येन हि स्वभावेन त्रिलक्षणात्तत्त्वादभिन्नाः स्थित्यादयस्तेन प्रत्येकं त्रिलक्षणाः, पर्यायार्पणात्परस्परं तद्वतश्च भिन्ना अपीष्यन्ते, तथाप्रतीतेः बाधकासंभवात् । ततो निरवद्यमिदं प्रतिक्षणं त्रिलक्षणं सर्वमिति ।

३२९. एतेन कालत्रयापेक्षयापि त्रिलक्षणमुपदर्शितम्, तस्यान्वितेन रूपेण कालत्रयव्यापित्वात्, अन्यथा नुत्यतैकान्ते सर्वथार्थक्रियाविरोधात्, कूटस्थैकान्तवत् । ततो द्रव्यपर्यायात्मकं जीवादि वस्तु,

क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियान्यथानुपपत्तेः, इति प्रमाणोपपन्नम् । तथा च स्थितिरेव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति सामर्थ्यात्स्थितोत्पन्ना विनष्टेति गम्यते । विनाश एव स्थास्यत्युत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थित उत्पन्नो विनष्ट इति च गम्यते । उत्पत्तिरेवोत्पत्स्यते विनङ्क्ष्यति स्थास्यतीति न कुतश्चिदुपरमति । सोत्पन्ना विनष्टा स्थितेति च गम्यते । स्थित्याद्याश्रयस्य वस्तुनोऽनाद्यनन्तत्वादनुपरमसिद्धेः स्थित्यादिपर्यायाणां कालत्रयापेक्षिणामनुपरमसिद्धिः, अन्यथा तस्यातल्लक्षणत्वप्रसङ्गात्सत्त्वविरोधात् ।

३३०. एतेन^{४६०९} जीवादि वस्तु तिष्ठति स्थितं स्थास्यति, विनश्यति विनष्टं विनङ्क्ष्यति, उत्पद्यते उत्पन्नमुत्पत्स्यते चेति प्रदर्शितम्^{४६१०}, कथञ्चित्तदभिन्नस्थित्यादीनामन्यथास्थास्यत्यादिव्यवस्थानुपपत्तेः । तथा चैतेषां नवानामपि विकल्पानां प्रत्येकं नवविकल्पतोपपत्तेरेकाशीतिविकल्पं^{४६११} वस्तुह्यम्^{४६१२} तदभिन्नस्थित्यादिपर्यायाणामपि तावद्भाविकल्पादनुपरमसिद्धेः । यथा च जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशकालविकल्पमशुद्धद्रव्यमनन्तपर्यायं^{४६१३} सह क्रमाच्च चिन्तितं^{४६१४} तथा सन्मात्रं शुद्धद्रव्यमपि^{४६१५} प्रतिपत्तव्यम्, तस्यैव^{४६१६} द्रव्यत्वविशेषणस्य^{४६१७} द्रव्यव्यवहारविषयत्वसिद्धेः ।

३३१. तथाहि—भाव एव द्रवति द्रोष्यत्यदुद्भवद् इति द्रव्यम्, तथा क्षीयन्ते क्षेप्यन्ते क्षिताश्चास्मिन् पदार्था इति क्षेत्रम्, कल्यन्ते कलियिष्यन्ते कलिताश्चास्माद्, इति कालः, भवति भविष्यत्यभूद्, इति भावः पर्याय इति सत्तैव विशेष्यते द्रव्यक्षेत्रकालभावात्मना, तस्या एव तथा व्यवहारविषयत्वघटनात् । ततः परस्परव्यावृत्तस्वभावाननन्तगुणपर्यायान् प्रतिक्षणमासादयन्ती सत्तैव तिष्ठतीत्यादि योज्यम्, तस्या अप्येकाशीतिविकल्पत्वोपपत्तेः । तथा भेदानेव संद्रवन्तीत्यादि प्रतिपत्तव्यं क्षितान् कुर्वन्ती कलयन्ती भवन्ती च सत्तैव तिष्ठतीत्यादियोजनायाः संभवात् । तथा चोक्तम्—

सत्ता सकलपदार्था सविश्वरूपा त्वनन्तपर्याया ।

स्थितिभङ्गोत्पादार्था सप्रतिपक्षा भवत्येका ।।

इति

३३२. तदेवं पर्यायार्थिकनयप्राधान्याद् द्रव्यार्थिकनयगुणाभावात्सर्वस्य स्वभावान्तरव्यावृत्तिः प्रसिद्धाऽन्यापोहव्यतिक्रममपाकरोतीति किं नः प्रयासेन ।

३३३ तथा केषाञ्चित्तत्त्वतोत्यन्ताभावापाकृतौ न क्वचित्किञ्चित्कथञ्चित्^{४६४३} वर्तेत । वर्ततामिति चेत्, तथा सर्वं सर्वथोपलभ्येत । न च ज्ञानादिकं घटादावुपलभ्यते, नापि रूपादिकमात्मादौ । न च किञ्चित्स्वात्मनेव परात्मानाप्युपलभ्येत । ततः किञ्चित्स्वेष्टं^{४६४४} तत्त्वं^{४६४५} क्वचिदनिष्टेष्टं सत्यात्मनानुपलभमानः कालत्रयेपि तत्तत्र तथा नास्तीति प्रतिपद्यते एवेति सिद्धोत्यन्ताभावः । कथं पुनरभावप्रतिपत्तिः ? कथं च न स्यात् ? सर्वथा भावविलक्षणस्याभावस्य वास्तवस्य ग्राहकप्रमाणाभावात्, प्रत्यक्षस्य रूपादिस्वलक्षणविषयत्वादभावे प्रवृत्त्ययोगात्, तस्य तत्कारणत्वविरोधात्, तत्कारणत्वे^{४६४६} स्वलक्षणतापत्तेः, अकारणस्याविषयत्वव्यवस्थितेः, प्रमाणान्तरस्यापि स्वकारणविषयत्वात् ।

तस्य कार्यानुमानत्वे तावदभावस्य कारणत्वप्रसक्तिः । न चासौ युक्तिमती । स्वभावानुमानत्वेपि भावात्मकतापत्तिः,
 अभावस्य स्वभावासंभवात् । असतोनुपलब्धेः पर्युदासवृत्त्या वस्तुनि नियमात् सर्वथाप्यभावाविषयत्वसिद्धिः ।
 तद्विषयोपि भावस्वभाव एवाभावः । कस्यचिदेकस्य कैवल्यमितरस्य वैकल्यमिति ब्रूवन्नपि देवानांप्रियो
 दुर्विदग्धबौद्धो नावधारयति, भावाभावप्रतिपत्तेरभावाभ्युपगमात् । सोयं
 स्वयमनादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितः शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभयाश्रित इति परमार्थतो भावस्या-
 भावस्योभयस्य च प्रतिपत्तेरभाव प्रतिपद्यमानः कथमभावप्रतिपत्तौ प्रकृतपर्यनुयोगं कुर्यात् ? न चेदस्वस्थः,
 परमार्थतः स्वरूपरूपादिभावाभावलक्षणत्वात्सर्वस्य निःश्रेणीपदबन्धाभ्यामिव भावाभावस्वभावाभ्यां
 प्रतिबन्धात्, स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपीष्टस्य संविदद्वयस्य भावे भेदरूपत्वप्रसङ्गात् ।
 पररूपादिभिरिव स्वरूपादिभिरपि तस्याभावे स्वयं प्रकाशनविरोधात् । न किञ्चित्प्रमाणं सर्वात्मना भावमभावं
 वा ग्रहीतुमर्हति, अनियमप्रसङ्गात् । ताथागतानां हि भाव एव प्रमाणविषय इति
 भावप्रमेयैकान्तवादिनामभावप्रतिपत्तिरयुक्तिः । अतो न भावनियमप्रतिपत्तिः,
 कस्यचित्त्वचित्कथञ्चिदसत्त्वासिद्धेः, स्वस्वभावव्यवस्थित्ययोगात् । तेषां तत्प्रमेयतोपसंख्यानं
 प्रमाणद्वयनियमं विघटयति । भावनैरात्म्यस्य प्रमाणाकारणत्वात्प्रतिबन्धनियमोऽपि माभूत्,
 प्रमाणनैरात्म्ययोस्तादात्म्यानिष्ठेस्तदुत्पत्तिप्रतिबन्धस्य विरोधात् । नैरात्म्यात्प्रमाणस्योत्पत्तौ तस्य
 भावस्वभावत्वप्रसक्तेः, तयोः प्रतिबन्धान्तरोपगमे लिङ्गस्य त्रिविधत्वविरोधात् । तदप्रतिबन्धे
 प्रमाणान्तरसिद्धेः कथं प्रमाणद्वयनियमविघटनं न घटेत्, तदुत्पत्त्यभावे प्रत्यक्षस्यानुमानस्य चानुदयात्—

अर्थस्यासंभवेऽभावात् प्रत्यक्षेपि प्रमाणता ।

प्रतिबद्धस्वभावस्य तद्धेतुत्वे समं द्वयम् ॥ इति वचनात् ।

३३४. मानसस्य तु नास्तिताज्ञानस्य स्वकारणसामग्रीवशादुत्पन्नस्याभावपरिच्छेदकत्वे तदेव प्रमाणान्तरम्,
 प्रतिबन्धनियमाभावादिति यथोदितदोषं परिजिहीर्षुणा वस्तुधर्मस्यैवाभावस्य प्रतिपत्तिरभ्युपगन्तव्या, तस्याः
 प्रतिक्षेपापायात् । ततो न भावैकान्ते समीहितसिद्धिः, इति निराकुर्वन्नाह सूरिः—

अभावैकान्तपक्षेपि भावापह्नववादिनाम् ।

बोधवाक्यं प्रमाणं न केन साधनदूषणम् ॥ १२ ॥

३३५.

भावा येन निरूप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्त्वतः ।

यस्मादेकमनेकं च रूपं तेषां न विद्यते ॥ इति ।

३३६. सर्वनैरात्म्यप्रतिज्ञानमभावैकान्तपक्षः । तस्मिन्नपि बोधस्य स्वार्थसाधनदूषणरूपस्य
 वाक्यस्य च परार्थसाधनदूषणात्मनोऽसंभवात्तत्र प्रमाणम् । ततः केन साधनं नैरात्म्यस्य, स्वार्थ
 परार्थ वा ? केन दूषणं बहिरन्तश्च भावस्वभावानाम् ? इति सविस्मयं वचनम् । स्वपरपक्षसाधनदूषणोपगमे तु

सात्सिद्धिरविप्रतिषिद्धा । तथाहि—बहिरन्तश्च परमार्थसत्, तदन्यतरापायेपि साधनदूषणप्रयोगानुपपत्तेः । इति प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ किं त्रिलक्षणपरिकल्पनया ? सपक्षसत्त्वाभावेपि साध्याभावासंभूयता-नियमनिर्णयैकलक्षणमात्रादेव साधनस्य साध्यसिद्धौ समर्थनत्वोपपत्तेः, सपक्षसत्त्वस्याभावेपि सर्वानित्यत्वे साध्ये सत्त्वादेः साधनस्योपगमात्, स्वयमसिद्धधर्मिधर्मस्यापक्षधर्मत्वेपि प्रमाणास्तित्वे चेष्टसाधनस्य हेतोः समर्थनात्, क्वचित्तदभावेपि चान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयवैकल्ये हेतुत्वाघटनात् ।

३३७. स्यादाकूतं ते—‘न परमार्थतः साधनदूषणप्रयोगो नैरात्म्यवादिनः सिद्धो यतो बहिरन्तश्च परमार्थतः सद्वस्तु साध्यते । न चासिद्धाद्धेतोः साध्यसिद्धिः, अतिप्रसङ्गत’ इति, तदपि प्रलापमात्रम्, तत्त्वतो नैरात्म्यस्य साध्यत्वायोगादनैरात्म्यस्य दूष्यत्वायोगवत् । न हि संवृत्या साध्यसाधनव्यवस्था युक्तिमती, परमार्थतोपगमे नैरात्म्यस्य तत्सिद्धेरपि सांवृतत्वप्रसङ्गात्, सांवृतात्साधनाद्वास्तवसाध्यसिद्धयसंभवात् । शून्यसिद्धेरपरमार्थत्वे पुनरनिराकृतसद्भावस्य सर्वस्याशून्यतानुषङ्गात् । तत्साधनं विरुद्धमापद्यते । स्वरूपस्य वेद्यवेदकभावादिशून्यस्य स्वतो गतेः साधनोपन्यासेन तत्र समारोपव्यवच्छेदेपि समान, कुतश्चित्तत्त्वतः समारोपव्यवच्छेदे संवृत्या साध्यसाधनव्यवस्थितरेयोगात्, तत्समारोपव्यवच्छेदस्याप्यपरमार्थत्वे पुनरव्यवच्छिन्नसमारोपस्य बाध्यबाधकभावादिशून्यस्य संविन्मात्रस्य स्वतोपि गत्यनुपपत्तेस्तदशून्यत्वप्रसङ्गात् । ततो हेयोपादेयोपायरहितमह्नीकः केवलं विक्रोशति, तत्त्वोपप्लववादिवत् ।

३३८. अथ संवृत्या हेयस्य सद्वादस्योपादेयस्य च शून्यस्य तन्निषेधविधानोपायस्य चाभ्युपगमात्र शून्यवादिनो निर्लज्जता, नापि विक्रोशमात्रमिति मतिस्तर्हि, यदि संवृत्यास्तीति स्वरूपेणेत्ययमर्थस्तदा कृतमनुकूलम्, केवलं वक्तात्मनो वैयात्य सूचयति, न्यायबलान्वयकृतस्यापि स्वार्थसिद्धिविकलं प्रलपतो धाष्ट्यमात्रप्रसिद्धेः, स्वरूपेणास्तित्वस्य संवेदनवत्सर्वभावानां स्याद्वादिभिरभीष्टत्वात्, तेन तदनुकूलकरणात्संप्रतिपत्तेः । अथ पररूपेण नास्ति इत्ययमर्थस्तथैव स्याद्वादिनाम्, नास्मि विवादात् । एतदपि तादृगेव, पररूपेण ग्राह्यग्राहकाभावादिविकलसंवेदनवत्सर्वपदार्थानां नास्तित्वे विवादाभावात् । तदेतेनोभयानुभयविकल्पः प्रत्युक्तः । यदि हि संवृत्यास्तीति स्वपररूपाभ्यामस्ति नास्ति चेत्ययमर्थस्तदा न कश्चिद्विवादः । अथानुभयरूपेणानुभयमित्यर्थस्तदापि न कश्चिद्विवादः, तथाग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात् । अथ तदस्ति मृषात्मनेति समानश्चर्चः, मृषात्मनास्तित्वस्य स्वपरोभयानुभयरूपास्तित्वविकल्पचतुष्टयेप्युक्त-दोषानुषङ्गात् । संवृतिर्विचारानुपपत्तिरित्युक्तम्, तदभावात् । न हि विचारस्याभावे कस्यचिद् विचारेणानुपपत्तिः शक्या वक्तुम् । नापि शून्यवादिनः किञ्चिन्निर्णीतमस्ति, यदाश्रित्य क्वचिदन्यत्रानिर्णीतेर्ये विचारः प्रवर्तते, तस्य सर्वत्र विप्रतिपत्तेः । तथा चोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके—

किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य विचारोऽन्यत्र वर्तते ।

सर्वविप्रतिपत्तौ तु क्वचिन्नास्ति विचारणा ॥ इति ।

३३९. सोयं सौगतस्तदभावात्तत्परप्रतिपादनार्थं शास्त्रमुपदेष्टारं वा वर्णयन् सर्वं प्रतिक्षिपतीति कथमनुमत्तः ? स्वयमुपदिष्टं विचारप्रतिपादनार्थं शास्त्रादिकं प्रतिक्षिपन्नुन्मत एव स्यात् । अथ मायोपमाः स्वप्नोपमाश्च सर्वे भावा इति सुगतदेशनासद्भावाच्च सर्वं प्रतिक्षिपन्नुन्मतः स्यादिति मतम्, शौद्धोदनेरेव तावत्प्रज्ञापराधोयं लोकातिक्रान्तः कथं बभूवेत्यतिविस्मयमास्महे । तन्मन्ये पुनरद्यापि कीर्तयन्तीति किं बत परमन्यत्र मोहनीयप्रकृतेः ? स्वप्नादिविभ्रमवत्सर्वस्य विभ्रमाददोष इति चेत्, तर्हि विभ्रमे किमविभ्रमो विभ्रमो वा ? तत्राविभ्रमे कथं सर्वविभ्रमः ? विभ्रमेपि कुतोऽसौ विभ्रमः ? विभ्रमेपि विभ्रमे सर्वत्राविभ्रमप्रसङ्गात् । विभ्रमविभ्रमेपि विभ्रमोपगमे स एव पर्यनुयोगोनवस्था चेति दुरन्तं तमः । तदुक्तं न्यायविनिश्चये—

इन्द्रजालादिषु भ्रान्तमीरयन्ति न चापरम् ।

अपि चाण्डालगोपालबाललोलविलोचनाः ।।

तत्र शौद्धोदनेरेव कथं प्रज्ञापराधिनी ।

बभूवेति वयं तावद्बहु विस्मयमास्महे ।।

तत्राद्यापि जडाः सक्तास्तमसो नापरं परम् ।

विभ्रमे विभ्रमे तेषां विभ्रमोपि न सिद्ध्यति ।। इति ।

३४०. ततो नाभावैकान्तः श्रेयान्, स्वेष्टस्य दृष्टबाधनाद्भावैकान्तवत् ।

३४१. परस्परनिरपेक्षभावाभावैकान्तपक्षोपि न क्षेमङ्करः, तत एवेत्यावेदयन्ति स्वामिनः—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

३४२. भावाभावयोरेकतरप्रतिक्षेपैकान्तपक्षोपक्षिप्तदोषपरिजिहीर्षया सदसदात्मकं सर्वमभ्युपगच्छतोपि वाणी विप्रतिषिध्येत, तयोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वात् । न हि सर्वात्मना कञ्चिदर्थं सन्तं तथैवासन्तमाचक्ष्णाणः स्वस्थः, स्वाभ्युपेतेतरनिरासविधानकरणाच्छून्यावबोधवत् । यथैव हि सर्वथाशून्यमवबुध्यमानः स्वसंवेदनादन्यतो वा स्वाभ्युपेतं शून्यतैकान्तं निरस्यति, अनभ्युपेतं प्रमाणादिसद्भावं विधत्ते, तथैव भावाभावयोस्तादात्म्यैकान्तं ब्रुवन् स्वाभ्युपेतं सदसदात्मकं निरस्यति, स्वयमनुभ्युपगतं तु भावैकान्तमभावैकान्तं वा विधत्ते, अभावस्य भावेनुप्रवेशाद् भावस्य वा सर्वथाऽभावे, अन्यथा भावाभावयोर्भेदप्रसङ्गात् । ततो नोभयोरैकात्म्यं श्रेयः स्याद्वादं विद्विषाम्, सदसतोः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधात्, जात्यन्तरस्यैव दर्शनेन सर्वथोभयैकात्म्यस्य बाधनात्तद्वत् ।

३४३. तथा सांख्यस्यैवमुभयैकात्म्यं ब्रुवतस्त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति, नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति, विनाशप्रतिषेधादिति वा तदन्यथापेतमन्यथास्तीति स्याद्वादावलम्बनमन्यसर्पबिलप्रवेशन्यायमनुसरति, त्रैलोक्यस्य व्यक्तात्मनाऽपेतत्वसिद्धेः, अव्यक्तात्मनास्तित्वव्यवस्थितेः—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥ इति वचनात् ।

परमार्थतो व्यक्ताव्यक्तयोरेकत्वात् स्याद्वादावलम्बनं कापिलस्येति चेत्, न, तथा विरोधस्य तदवस्थत्वात् । प्रधानाद्वैतोपगमे तु नोभयैकात्म्यमभ्युपगतं स्यात् । तथा स्वयमनभ्युपगच्छतोपि कथञ्चिदुभयात्मकतत्त्ववादप्रवेशे कथमन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायानुसरणं न स्यात् ? यदृच्छया तदवलम्बनात् । ततो नैवमप्युभयैकानन्तः सिध्यति, विरोधात् ।

अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ १३ ॥

३४४. योऽपि पक्षत्रयोपक्षिप्तदोषजिहासया सर्वथाऽवक्तव्यं तत्त्वमवलम्बेत, सोपि कथम-
वक्तव्यं ब्रूयात् । येनावाच्यतैकान्तेप्यवाच्यमित्युक्तिर्युज्यते । तदयुक्तौ कथं परमवबोधयेत् ? स्वसंविदा
परावबोधनायोगात् । तदनवबोधने कथं परीक्षकतास्य स्यात् ? तस्यापरीक्षकत्वे च कुतोऽन्यस्माद्विशेषः सिध्येत् ?
अपरीक्षिततत्त्वाभ्युपगमस्य सर्वेषां निरङ्कुशत्वात् । नैष दोषः स्वलक्षणमनिर्देश्यं प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्,
इत्यादिवत्सर्वमवाच्यं तत्त्वमिति वचनेपि विरोधाभावात्, परप्रतिपादनस्यान्यथानुपपत्तेः । इति कस्यचिद्वचनम्,
तदप्यसत्, यदसत्ः समुदाहृतम् । सिद्धसाध्यव्यवस्था हि कथामार्गाः । न च स्वलक्षणस्य
सर्वथाप्यनिर्देश्यत्वोपगमे 'स्वलक्षणमनिर्देश्यम्' इति वचनेन तस्य निर्देश्यत्वमविरुद्धम् । अथ स्वलक्षणं
नैतद्वचनेनापि निर्देश्यम्, स्वलक्षणसामान्यस्यैव तेन निर्देश्यत्वात्, स्वलक्षणे निर्देशासंभवात्, न ह्यर्थे
शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा, येन तस्मिन् प्रतिभासमाने तपि प्रतिभासेरत्रिति वचनात् । कल्पनारोपितं
तु स्वलक्षणं तद्धर्मो वा निर्देश्यत्वशब्देन निर्दिश्यते, विरोधाभावात्, इति मतम्, तर्हि स्वलक्षण-
मज्ञेयमपि स्यात् ।

३४५. यथैवाक्षविषयेभिधानं नास्ति, तथाक्षज्ञाने विषयोपि नैवास्ति । ततस्तत्र प्रतिभासमानेपि
न प्रतिभासेत । शक्यं हि वक्तुम्—यो यत्राधेयतया नास्ति तदात्मा वा न भवति स तस्मिन्
प्रतिभासमानेपि न प्रतिभासते, यथाक्षविषये स्वलक्षणे शब्दः, नास्ति चाक्षज्ञाने तथाक्षविषयस्तदात्मा वा न भवति,
इति ।

३४६. यदि पुनर्विषयसामर्थ्यादक्षज्ञानस्योत्पादात्तत्र प्रतिभासमाने स प्रतिभासत एवेति मतम्,
तदप्यसम्यक्, करणशक्तेरपि प्रतिभासप्रसङ्गात् । तथाहि—न केवलं विषयबलाद् दृष्टेरुत्पत्तिः, अपि तु
चक्षुरादिशक्तेश्च । विषयाकारानुकरणाद्दर्शनस्य तत्र विषयः प्रतिभासते, न पुनः करणम्, तदाकाराननुकरणात्,
इति चेत्, तर्हि तदर्थवत्करणमनुकर्तुमर्हति, न चार्थं विशेषाभावात् । दर्शनस्य कारणान्तरसद्भावेपि
विषयाकारानुकारित्वमेव, सुतस्येव पित्राकारानुकरणमित्यपि वार्तम्, स्वोपादानमात्रानु-
करणप्रसङ्गात् । विषयस्यालम्बनप्रत्ययतया स्वोपादानस्य च समनन्तरप्रत्ययतया प्रत्यासत्तिविशेषाद्दर्शनस्य
उभयाकारानुकरणेऽप्यनुज्ञायमाने रूपादिवदुपादानस्यापि विषयतापत्तेः, अतिशयाभावात्, वर्णदिर्वा

तद्वदविषयत्वप्रसङ्गात् । दर्शनस्य तज्जन्मरूपाविशेषेपि तदध्यवसायनियमाद्बहिरर्थविषयत्वम्, इत्यसारम्, वर्णादाविवोपादानेप्यध्यवसायप्रसङ्गात्, अन्यथोभयत्राध्यवसायायोगात् । न हि रूपादावध्यवसायः संभवति, तस्य दर्शनविषयत्वोपगमात्, दर्शनस्यानध्यवसायात्मकत्वात्, तस्याध्यवसायात्मकत्वे स्वलक्षणविषयत्वविरोधात् । अदोषोऽयम्, प्रत्यक्षस्याध्यवसायहेतुत्वादित्यनिरूपिताभिधानं सौगतस्य, तत्राभिलाषाभावात् । यथैव हि वर्णादावभिलाषाभावस्तथा प्रत्यक्षेपि, तस्याभिलाषकल्पनातोऽपोढत्वादनभिलाषात्मकार्थसामर्थ्येनोत्पत्तेः । प्रत्यक्षस्य तदभावेप्यध्यवसायकल्पनायां प्रत्यक्षं किं नाध्यवस्येत् ? स्वलक्षणं स्वयमभिलाषशून्यमपि प्रत्यक्षमध्यवसायस्य हेतुर्न पुना रूपादिरिति कथं सुनिरूपिताभिधानम् ? यदि पुनरविकल्पकादपि प्रत्यक्षाद्विकल्पात्मनोध्यवसायस्योत्पत्तिः, प्रदीपादेः कज्जलादिवद्विजातीयदपि कारणात्कार्यस्योत्पत्तिदर्शनात्, इति मतम्, तदा तादृशोर्थाद्विकल्पात्मनः प्रत्यक्षस्योत्पत्तिरस्तु, तत एव, तद्वत् । जातिद्रव्यगुणक्रियापरिभाषाकल्पनारहितादथात्कथं जात्यादिकल्पनात्मकं प्रत्यक्षं स्यादिति चेत्, प्रत्यक्षात्तद्विहिताद्विकल्पः कथं जात्यादिकल्पनात्मकः स्यादिति समानः पर्यनुयोगः । विकल्पस्य जात्यादिविषयत्वाददोष इति चेत्, न, प्रत्यक्षवत्तस्य जात्यादिविषयत्वविरोधात् । यथैव हि प्रत्यक्षस्याभिलाषसंसर्गयोग्यता नास्ति, तथा तत्समनन्तरभाविनोपि विकल्पस्य, तस्याप्यभिलपने तदभिलप्यमानेन च जात्यादिना संसर्गासंभवात्, स्वोपादानसजातीयत्वात् । कथमिदानीं विकल्पो जात्यादिव्यवसायीति चेत्, न कथमपि । तथा हि कञ्चित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं क्वचिद्विशेष-विशेष्यतत्संबन्धव्यवस्थाग्रहणमपेक्षते, दण्डिवत्,

विशेषणं विशेष्यं च संबन्धं लौकिकी स्थितिम् ।

गृहीत्वा संकल्प्येतत्तथा प्रत्येति नान्यथा ।। () इति वचनात् ।

न चायमियतो व्यापारान् कर्तुं समर्थः, प्रत्यक्षबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्, प्रत्यक्षवत् । कश्चिदाह नैतदेवं दूषणम्, प्रत्यक्षादेवाध्यवसायोत्पत्त्यनभ्युपगमात्, शब्दार्थविकल्पवासनाप्रभवत्वान्मनोविकल्पस्य तद्वासना-विकल्पस्यापि पूर्वतद्वासनाप्रभवत्वादित्यनादित्वाद्वासनाविकल्पसन्तानस्य प्रत्यक्षसंतानादन्यत्वात्, विजातीया-द्विजातीयस्योदयानिष्टेः, तदिष्टौ यथोदितदूषणप्रसङ्गादिति, तस्याप्येवंवादिनः शब्दार्थविकल्पवासना-प्रभवात्तत्तर्हि कथमक्षबुद्धेः रूपादिविषयत्वनियमः सिद्ध्ये ? मनोराज्यादिविकल्पादपि तत्सिद्धिप्रसङ्गात् । अथाक्षबुद्धिसहकारिणो वासनाविशेषादुत्पन्नाद्रूपादिविकल्पादक्षबुद्धेः रूपादिविषयत्वनियमः कथ्यते । तत एवाक्षबुद्धिविषयत्वनियमोप्यभिधीयताम् । अन्यथा रूपादिविषयत्वनियमोपि मा भूत्, अविशेषात् । रूपाद्युल्लेखित्वाद्विकल्पस्य तद्वलात् तदभ्युपगमे वा प्रत्यक्षबुद्धेरभिलाषसंसर्गोपि तद्वदनुमीयेत, तद्विकल्पस्याभिलाषेनाभिलप्यमानजात्याद्युल्लेखितयोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः, तदनुमिताच्चाक्षबुद्ध्यभिलाषसंसर्गाद्रूपाद्य-भिलाषसंसर्गोनुमीयेत । इति शब्दाद्वैतवादिमतसिद्धिः । न च सौगतो दर्शनस्याभिलाषसंसर्गमुपैति । तस्मादयं किञ्चित्पश्यन् तत्सदृशं पूर्वं न स्मर्तुमर्हति तन्नामविशेषास्मरणात् । तदस्मरन्नैव तदभिधानं प्रतिपद्यते । तदप्रतिपत्तौ तेन तत्र योजयति । तदयोजयन्नाध्यवस्यतीति न क्वचिद्विकल्पः शब्दो वेत्यविकल्पाभिधानं जगत् स्यात् ।

३४७. ननु^{४९१९} च नामसंश्रयस्य^{४९२०} विकल्पस्य प्रत्यात्मवेद्यत्वात् सर्वेषामभिधानस्य च श्रोत्रबुद्धौ प्रतिभासनात्कथमविकल्पाभिधानं जगदापद्येतेति चेन्न^{४९२२}, तत्राप्यध्यवसायासंभवात्^{४९२३} । न च स्वसंवेदनेनेन्द्रियप्रत्यक्षेण वा निर्विकल्पकेन विकल्पोभिधानं वा गृहीतं नाम, अतिप्रसङ्गात् । तथाहि—बहिरन्तर्वा गृहीतमप्यगृहीतकल्पक्षणक्षयस्वलक्षणसंवेदनादिवत् । तथा चायातमचेतनत्वं जगतः ।

३४८. ननु च नास्मन्मते कश्चित्किञ्चिन्नीलादिकं सुखादिकं वा संविदन्पूर्वसंविदितं तत्सदृशं तन्नामविशेषं च क्रमशः स्मरति, पूर्वसंविदितसंवेद्यमाननामविशेषयोः सहैव स्मरणात्, तत्संस्कारयोर्दृश्यदर्शनादेव सह प्रबोधात् । ततोयं किञ्चित्पश्यन्नेव तत्सदृशं पूर्वदृष्टं स्मर्तुमर्हति, तदैव तन्नामविशेषस्मरणात्, ततस्तस्येदं नामेत्यभिधानपतिपत्तेः, ततस्तस्य दृश्यस्याभिधानेन योजनाद् व्यवसायघटनान्न किञ्चिद्दूषणमित्यपरः, तस्यापि दृश्यमाननाम्नः पूर्वदृष्टस्य च तत्सदृशस्य सह स्मृतिरयुक्तैव, स्वमतविरोधात्, सकृत्स्मृतिद्वयानभ्युपगमात् कल्पनयोर्बाध्यबाधकभावात् । कथमन्यथाऽश्वं विकल्पयतोपि गोदर्शने कल्पनाविरहसिद्धिः ? नाममात्रेपि सह स्मृतिरयुक्तैव, तन्नामाक्षरमात्राणापि क्रमशोध्यवसानात्, अध्यवसानाभावे स्मृतेरयोगात् क्षणक्षयादिवत् । न च युगपत्तदध्यवसायः संभवति, विरोधात् । अन्यथा संकुला प्रतिपत्तिः स्यात्, नीलमिति नाम्नि नकारादीनां परस्परविक्तिनामप्रतिपत्तेः ।

३४९. किञ्चाभिलापस्य पदलक्षणस्य तदंशानां च वर्णानां नामविशेषस्य स्मृतावसत्यां व्यवसायः स्यात् सत्यां वा ? नाम्नो नामान्तरेण विनापि स्मृतौ केवलार्थव्यवसायः किं न स्यात् ? स्वाभिधानविशेषापेक्षा एवार्था निश्चयेर्व्यवसीयन्ते इत्येकान्तस्य त्यागात्, नाम्नः स्वलक्षणस्यापि स्वाभिधानविशेषानपेक्षस्यैव व्यवसायवचनात् । तदवचने वा न क्वचिद्व्यवसायः स्यात्, नामतदंशानामव्यवसाये नामार्थव्यवसायायोगात् । दर्शनेनाव्यवसायात्मना दृष्टस्याप्यदृष्टकल्पत्वात् सकलप्रमाणाभावः, प्रत्यक्षस्याभावेऽनुमानोत्थानाभावात् । तत एव सकलप्रमेयापायः, प्रमाणापाये प्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः, इत्यप्रमाणप्रमेयत्वमशेषस्यावश्यमनुषज्येत । तदुक्तं न्यायविनिश्चये—

अभिलापतदंशानामभिलापविवेकतः ।

अप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषयज्यते ॥ इति (१.७)

अभिलापविवेकत इत्यभिलापरहितत्वादिति व्याख्यानात् ।

३५०. प्रथमपक्षोपक्षिप्तदोषपरिजिहीर्षया तन्नामान्तरकल्पनायामनवस्था । नामतदंशानामपि नामान्तरस्मृतौ हि व्यवसाये नामान्तरतदंशानामपि व्यवसायः स्वनामान्तरस्मृतौ सत्यामित्यनवस्था स्यात् । तथा च तदेवाप्रमाणप्रमेयत्वमवश्यमनुषज्येत । अत्रापीयमेव कारिका योज्या, 'अभिलापविवेकतः' इत्यभिलापनिश्चयत इति व्याख्यानात् । प्रतिपादितदोषभयात्तदयमशब्द सामान्यं व्यवस्यन् स्वलक्षणमपि व्यवस्येत, सामान्यलक्षणस्वलक्षणयोर्हि भेदाभावात् ।

३५१. नन्वर्थक्रियाकारिणः परमार्थसतः स्वलक्षणत्वात्, ततोऽन्यस्यानर्थक्रियाकारिणः संवृतिसतः सामान्यलक्षणत्वात्तयोः कथमभेदः स्यात् ?—

यदेवार्थक्रियाकारि तदेव परमार्थसत् ।
 अन्यत्संवृत्तिसत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे ॥ () इति वचनात् ।

तयोरभेदे सांवृतेतरस्वभावविरोधात्; इति कश्चित्, सोपि स्वदर्शनानुरागी न परीक्षकः, स्वेनासाधारणेन रूपेण लक्ष्यमाणस्य सामान्यस्यापि स्वलक्षणत्वघटनाद्विशेषवत् । यथैव हि विशेषः स्वेनासाधारणेन रूपेण सामान्यासंभविना विसदृशपरिणामात्मना लक्ष्यते, तथा सामान्यमपि स्वेनासाधारणेन रूपेण सदृशपरिणामात्मना विशेषासंभविना लक्ष्यत इति कथं स्वलक्षणत्वेन विशेषाद्विद्यते ? यथा^{५१७१} च विशेषः स्वामर्थक्रियां कुर्वन् व्यावृत्तिज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारी तथा सामान्यमपि स्वामर्थक्रियामन्वयज्ञानलक्षणां कुर्वत् कथमर्थक्रियाकारि न स्यात् ? तद्वाह्यां पुनर्वाहदोहाद्यर्थक्रियां यथा न सामान्यं कर्तुमुत्सहते तथा विशेषोपि केवलः^{५१७३}, सामान्यविशेषात्मनो^{५१७४} वस्तुनो गवादेस्तत्रोपयोगात् । इत्यर्थक्रियाकारित्वेनापि तयोरभेदः सिद्धः । एकस्माद् द्रव्यात्कथञ्चिदभिन्नत्वसाधनाच्च सामान्यविशेषपरिणामयोरभेदोऽभ्युपगन्तव्यः । तथा च सामान्यं व्यवस्यन्नपि कथञ्चित्तदभिन्नं स्वलक्षणं न व्यवस्यतीति कथमुपपत्तिम् ?

३५२. अथ न द्रव्यं नापि तत्परिणामः सामान्यं विशेषो वा स्वलक्षणम्, किं तर्हि ततो न्यदेव किञ्चित् सर्वथा निर्देष्टुमशक्यं प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमानं तदनुमन्यते, एवमपि जात्यन्तरं सामान्यविशेषात्मकं वस्तु स्वलक्षणमित्यायातम्, तस्यैव परस्परनिरपेक्षसामान्यविशेषतद्द्रव्येभ्योऽन्यस्य प्रत्यक्षसंविदि प्रतिभासनात्, निरन्वयक्षणक्षयिनिरंशपरमाणुलक्षणस्य स्वलक्षणस्य सुष्ठु प्रत्यक्षेणालक्षणत्वात् । तत्र च व्यवसायोक्षजन्मा स्वाभिधानविशेषनिरपेक्षः^{५१८१} किन्न स्यात् ? यतोऽयं स्वलक्षणमशब्दं न व्यवस्येत् । ततः सामान्यवत्स्वलक्षणमध्यवस्यन्नभिलाषेन योजयेत् । ततो न किञ्चित्प्रमेयमनभिलाष्यं नाम श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यम्, शब्दयोजितस्य^{५१८०} श्रुतविषयत्वोपपत्तेः । प्रत्यक्षस्यानभिलाष्यत्वे स्मार्त्तं शब्दानुयोजनं दृष्टसामान्यव्यवसायो यद्यपेक्षेत सोर्थो व्यवहितो भवेत्, तदिन्द्रियज्ञानात्सामान्यव्यवसायो न स्यात् । यथैव हि शब्दसंसृष्टार्थग्राहिसविकल्पकप्रत्यक्षवादिनामर्थोपयोगे सत्यपि स्मार्त्तशब्दानुयोजनापेक्षेऽक्षज्ञाने तदर्थो व्यवहितः स्यात् स्मार्तेन शब्दानुयोजनेनेति तदर्थादक्षज्ञानं सविकल्पकं न स्यात्, तदभावेपि भावात्तद्भावेऽपि चाभावादिति दूषणम्—

अर्थोपयोगेपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम् ।

अक्षधीर्यद्यपेक्षेत सोर्थो व्यवहितो भवेत् ॥ ()

इति वचनात् समुद्भाव्यते, तथैव शब्दानुयोजनासहितार्थग्राहिविकल्पवादिनामपि सौगतानामिन्द्रियज्ञानमुपयोगे सत्यपि विकल्पोत्पत्तौ स्मार्त्तं शब्दानुयोजनं विकल्पो यद्यपेक्षेत, तदा तदिन्द्रियज्ञानं स्वविषयनामविशेषस्मरणेन तद्योजनेन च व्यवहितं स्यात् । तथा च नेन्द्रियज्ञानाद् व्यवसायः स्यात्, तदभावेऽपि भावात्तद्भावेऽपि चाभावादिति दूषणमुद्भावनीयम्,—

ज्ञानोपयोगेपि पुनः स्मार्त्तं शब्दानुयोजनम् ।

विकल्पो यद्यपेक्षेताध्यक्षं व्यवहितं भवेत् ॥ ()

इति वक्तुं शक्यत्वात्, अर्थशब्देन प्रत्यक्षस्याभिधानाद्वा । कदाचिद्विषयेण विषयिणो वचनाद्धर्मकीर्तिकारिकायां एव तन्मतदूषणपरत्वेन व्याख्यातुं शक्यत्वात् ।

३५३. यथा च प्रागजनको योथोभिलापसंसृष्टार्थेन्द्रियबुद्धेः स पश्चादपि स्मार्तशब्दानुयोजनेऽपि तस्योपयोगाविशेषादजनक एव, तेनार्थापायेपि नेत्रधीः शब्दाद्वैतवादिनः स्यादिति धर्मकीर्तिदूषणम्—

यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः ।

स पश्चादपि तेन स्यादार्थापायेपि नेत्रधीः ॥ ()

इति वचनात् । तथा यदिन्द्रियज्ञानं स्मार्तशब्दानुयोजनात्प्रागजनकं सामान्यव्यवसायस्य च तत् पश्चादप्युपयोगाविशेषात् तेनेन्द्रियज्ञानव्यपायेपि सामान्यव्यवसायः स्यात्, तस्य प्रागिवाजनकत्वात्, तदन्तरेणापि दर्शनमयं गौरिति निर्णयः स्यात्—

यः प्रागजनको बुद्धेरुपयोगाविशेषतः ।

स पश्चादपि तेनाक्षबोधापायेपि कल्पना ॥ ()

इति च प्रतिपादनात् ।

३५४. तदेवं दर्शनादध्यवसायः न संभवति, येन दर्शनस्य स्वात्मनः समनन्तरप्रत्ययजन्मतत्सारूप्याविशेषेपि स्वविषयप्रतिनियमः सिध्येत् ।

३५५. किञ्च, सौगतानामनभिलाष्यस्य विशेषस्यानुभवे कथमभिलाष्यस्य स्मृतिः ? अत्यन्तभेदात् स्वलक्षणात्सामान्यस्य, सह्यविन्ध्यवत् । न हि सह्यस्यानुभवे विन्ध्यस्य स्मृतिर्युक्ता । विशेषसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायाद्विशेषस्यानुभवे सामान्यस्य स्मृतिर्युक्तैवेति चेत्, कुतस्तयोरेकत्वाध्यवसायः ? न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य सामान्याविषयत्वात्, नापि तत्पृष्ठभाविनो विकल्पादनुमानाद्वा, तस्य विशेषाविषयत्वात्, तदुभयविषयस्य च कस्यचित्प्रमाणस्यानभ्युपगमात् । तदन्यतरविषयेण तयोरेकत्वाध्यवसायेतिप्रसङ्गात्, त्रिविकृष्टेतयोरप्येकत्वाध्यवसायोपक्षज्ञानात्प्रसज्येत ।

३५६. किं च शब्दार्थयोः संबन्धस्यास्वाभाविकत्वे कथमर्थमात्रं पश्यन् शब्दमनुस्मरेत् शब्दं शृण्वन् तदर्थं वा ? यतोयं व्यवसायः सौगतस्य सिध्येत् । न हि सह्यमात्रं पश्यन् विन्ध्यस्य स्मरेत् ।

३५७. स्यान्मतम्—शब्दस्य विकल्प्येन तदुत्पत्तिलक्षणसंबन्धोपगमात्, तस्य च दृश्येनैकत्वाध्यवसायाद्विशेषस्यानुभवेपि शब्दं तदर्थं वा विकल्प्यं स्मर्तुमीष्टे व्यवहारी, प्रवृत्तिदर्शनदिति, तदप्यसम्यक्, कुतश्चिदपि दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायासंभवस्योक्तत्वात् । ततः स्वत एव व्यवसायात्मकत्वमभ्युपगन्तव्यं प्रत्यक्षस्य, न पुनरभिधानजात्यादियोजनापेक्षया । चक्षुरादिज्ञानस्य कथञ्चिद्व्यवसायात्मकत्वाभावे दृष्टसजातीयस्मृतिर्न स्यात्, दानहिंसाविरतिचेतसः स्वर्गादिफलजननसामर्थ्यसंवेदनवत्, क्षणक्षयानुभवनवद्वा । व्यवसायात्मनो मानसप्रत्यक्षाद् दृष्टसजातीयस्मृतिरिति

चेत्, न, अव्यवसायात्मनोऽक्षज्ञानात् समनन्तरप्रत्ययाद्व्यवसायात्मनो मनोविज्ञानस्योत्पत्तिविरोधाद्
 विकल्पवत्, निर्विकल्पात्मकत्वान्मानसप्रत्यक्षस्याभिलापसंसर्गयोग्यताप्रतिभासाभावात् ।
 अव्यवसायात्मनोप्यक्षज्ञानाददृष्टविशेषसहकारिणः स्यादुत्पत्तिरिति चेत्, किमेवमक्षज्ञानस्य स्वयं
 व्यवसायात्मन एवादृष्टविशेषादुत्पत्तिर्नेष्यते ? तेन नीलादेर्व्यवसाये तत्क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपि
 व्यवसायप्रसङ्गात्राक्षज्ञानं व्यवसायात्मकमिष्टमिति चेत्, तत एव मानसप्रत्यक्षमपि व्यवसायात्मकं मा भूत् ।
 तस्य क्षणक्षयाद्यविषयत्वात् तद्व्यवसायित्वमिति चेत्तत एवाक्षज्ञानस्यापि तन्माभूत् ।
 तथा सति नीलादेः क्षणक्षयादिरन्यः स्यात्, तद्व्यवसायेप्यव्यवसायात्, कूटात्पिशाचादिवदिति चेत्तर्हि
 मानसप्रत्यक्षेणापि नीलादिव्यवसायेपि क्षणक्षयादेरव्यवसायात्ततो भेदोस्तु, तद्वदेव, सर्वथा विशेषाभावात् ।
 कथञ्चिदक्षज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वे तु मानसप्रत्यक्षकल्पनरपि न स्यात्, प्रयोजनाभावात्,
 तत्प्रयोजनस्याक्षज्ञानादेव सिद्धेः ।

३५८. एतेनाव्यवसायात्मकमपि मानसप्रत्यक्षं कल्पयन् प्रतिक्षिप्तः ।

३५९. ननु निर्विकल्पकादप्यक्षज्ञानादभ्यासप्रकरणबुद्धिपाटवार्थत्ववशद् दृष्टसजातीये स्मृतिर्युक्ता,
 सविकल्पकप्रत्यक्षादपि तदभावे तदनुपपत्तेः, प्रतिवाद्याद्युपन्यस्तसकलवर्णपदादिवत्, स्वोच्छ्वासादि-
 संख्यावद्वा । न हि सविकल्पकप्रत्यक्षेण तद्व्यवसायेपि कस्यचिदभ्यासाद्यभावे पुनस्तत्स्मृतिर्नियमतः सिद्धा,
 यतः सविकल्पकत्वप्रकल्पनं प्रत्यक्षस्य फलवत्, इति कश्चित्, सोप्यप्रज्ञाकर एव,
 सर्वथैकस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य क्वचिदभ्यासादीनामितरेषां च सकृदयोगात् । तदन्यव्यावृत्त्या तत्र तद्योग
 इति चेत्, न, स्वमततत्स्वभावस्य तदन्यव्यावृत्तिसंभवे पावकस्याशीतत्वादिव्यावृत्तिप्रसङ्गात्, तत्स्वभावस्य
 तदन्यव्यावृत्तिकल्पने फलाभावात्, प्रतिनियततत्स्वभावस्यैवान्यव्यावृत्तिरूपत्वात् । सविकल्पकप्रत्यक्षवादिनां
 त्वेषामवग्रहेहावायज्ञानादनभ्यासात्मकादन्यदेवाभ्यासात्मकं धारणाज्ञानं प्रत्यक्षम् । तेषां तदभावे
 परोपन्यस्तसकलवर्णपदादिष्ववग्रहादित्रयसद्भावेपि न स्मृतिः । तत्सद्भावे तु स्यादेव, सर्वत्र यथासंस्कारं
 स्मृत्यभ्युपगमात्, क्वचिदभिलापसंस्कारादभिलापस्मृतिवत् । प्रत्यक्षेभिलापसंस्कारविच्छेदे
 कुतस्तद्विकल्पाभिलापसंयोजनं यतः सामान्यमभिलाप्यं स्यात् । प्रत्यक्षगृहीतमेव हि स्वलक्षणमन्यव्यावृत्तं
 साधारणाकारतया प्रतिभासमानं सामान्यं विकल्पाभिलापसुयोजनेनाभिलाप्यमिष्यते ।

३६०. न च ग्राहकप्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासभेदाद्विषयस्वभावाभेदाभावः, सकृदेकार्थोपनिबद्धदर्शन-
 प्रत्यासन्नेतरपुरुषज्ञानविषयवत् । यथा हि सकृदेकस्मिन्नर्थे पादपादावुपनिबद्धदर्शनयोः प्रत्यासन्नविप्रकृष्टपुरुष-
 योर्ज्ञानाभ्यां विषयीकृते स्पष्टास्पष्टप्रतिभासभेदात्र स्वभावभेदः पादपस्य, तस्यैकत्वाव्यतिक्रमात्, तथैव ग्राहकयोः
 प्रत्यक्षस्मृतिप्रतिभासयोर्भेदेपि स्पष्टमन्दतया न तद्विषयस्य भेदः, स्वलक्षणस्यैकस्वभावत्वाभ्युपगमात् । तथा च
 मन्दप्रतिभासिनि स्वलक्षणे घटादौ शब्दविकल्पविषये तत्संकेतव्यवहारनियमकल्पनायामपि कथञ्चिदभिधेयत्वं
 वस्तुनः सिद्धम् । इत्यलं प्रसङ्गेन ।

३६१. रूपादिस्वलक्षण^{५११३}े शब्दाभावादवाच्यमेव तदिति ब्रुवाणस्य^{५११३} प्रत्यक्षेर्थस्याभावात्तस्याज्ञेयत्वप्रसक्तेः^{५११४} समर्थनात् रूपाद्यर्थस्य^{५११५} कथञ्चिज्ज्ञेयत्वेभिलाप्यत्वस्यापि साधनात्^{५११६} प्रकृतार्थपरिसमाप्तौ^{५११७} प्रसङ्गस्य^{५११८} निष्प्रयोजनत्वात् पर्याप्तं प्रसङ्गेन । तस्मादवाच्यतैकान्ते यदवाच्यमित्यभिधानं तदसमञ्जसम्, स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत्स्व-वचन विरोधात्, तदप्यसद्, यदसतः समुदाहृतमिति प्रतिपादनात् । यथैव हि स्वलाक्षणमनिर्देश्यमित्य-वाच्यतैकान्ते वक्तुमशक्यं तथा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमित्यपि, प्रत्यक्षेभिलापसंसर्गाभावे विकल्पानुत्पत्तिप्रसङ्गस्य निवेदितत्वात्, तत्सद्भावे सविकल्पकत्वसिद्धेः ।

३६२. तदेवं स्वामिसमन्तभद्रभानवः स्फुटतरविलसदकलङ्कन्यायगभस्तिभिरपहस्तितसमस्तभावैकान्तादिपरमतध्वान्तसन्ततयोपि रात्मपक्षनिराकरणसमर्थनायतं जयमादिशता भगवाताप्तेन किं पुनर्मे शासनं प्रतिद्वेन न बाध्यते इति स्पष्टं पृष्टा इवाहुः—

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत् ।

तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥१४॥

३६३. चशब्दात्सदवाच्यमेव^{५१२१} कथञ्चिदसदवाच्यमेव^{५१२२} तदुभयावाच्यमेवेष्टं^{५१२३} ते शासनमिति समुच्चीयते,^{५१२४} प्रश्नवशादेकत्र^{५१२५} वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी, इति^{५१२६} वचनात्^{५१२७} । नययोगादिति^{५१२८} वचनान्नयवाक्यानि सप्तैवेति^{५१२९} दर्शयन्ति, ततोऽन्यस्य भङ्गस्यासंभवात् । तत्संयोगजभङ्गस्यापि^{५१३०} कस्यचित्तत्रैवान्तर्भावात्, कस्यचित्तु^{५१३१} पुनरुक्तत्वात् विधिकल्पनाया एव सत्यत्वात्, तथैकमेव^{५१३२} वाक्यमिति न मन्तव्यम्, प्रतिषेधकल्पनायाः सत्यत्वव्यवस्थापनात् । विध्यैकान्तस्य^{५१३३} निराकरणात्^{५१३४} प्रतिषेधकल्पनैव सत्येत्यपि न सम्यक्, अभावैकान्तस्य निराकरणात् । तदपेक्षयापि^{५१३५} नैकमेव वाक्यं युक्तम् । सदर्शप्रतिपादनाय^{५१३६} विधिवाक्यमसदर्थकथनार्थं तु प्रतिषेधवाक्यमिति^{५१३७} वाक्यद्वयमेव, “सदसद्वागस्तत्त्वमिति”^{५१३८} वचनात्, प्रमेयान्तरस्य शब्दविषयस्यासंभवात्, इति न चेतसि^{५१३९} विधेयम्, प्रधानभावापितसदसदात्मनो^{५१४०} वस्तुनः प्रधानभूतैकैकधर्मात्मकादर्थान्तरत्वसिद्धेः, सत्त्ववचनेनैवासत्त्ववचनेनैव वा सदसत्त्वयोः क्रमार्पितयोः प्रतिपादयितुमशक्तेः । सदसदुभयविषयं वाक्यत्रयमेवेति^{५१४१} चायुक्तम्, सहोभयवाक्यस्यावक्तव्यत्वविषयस्य व्यवस्थितेः । तथापि वाक्यचतुष्टयमेवेति चायुक्तम्, सद-^{५१४२} सदुभयावक्तव्यत्वविषयस्य वाक्यान्तरत्रयस्यापि^{५१४३} भावात्—विधिकल्पना (१), प्रतिषेधकल्पना (२), क्रमतो^{५१४४} विधिप्रतिषेधकल्पना (३) सहविधिप्रतिषेधकल्पना च (४) विधिकल्पनासहविधिप्रतिषेधकल्पना च^{५१४५} (५), प्रतिषेधकल्पनासहविधिप्रतिषेधकल्पना च (६), क्रमाक्रमाभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पना (७) च^{५१४६} सप्तभङ्गीति व्याख्यानात् । न चैवं प्रत्यक्षादिविरुद्धविधिप्रतिषेधकल्पनापि सप्तभङ्गी स्यादिति शक्यं वक्तुम्, ‘अविरोधेनेति’^{५१४७} वचनात् । नानावस्त्वाश्रयविधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्ग्यपि प्रसज्यते, इति च न चिन्त्यम्, ‘एकत्र^{५१४८} वस्तुनि’ इति वचनात् ।

३६५. नन्वेकत्रापि जीवादिवस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मसद्भावात्तत्कल्पनानन्तभङ्गी स्यात्, इति चेत्, न, अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामिष्टत्वात्, तत्रैकत्वानेकत्वादिकल्पनयोऽपि सप्तानामेव भङ्गानामुपपत्तेः, प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव संभवात्, “प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गी” इति नियमवचनात् । सप्तविध एव तत्र प्रश्नः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासाघटनात् । सापि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः । सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषयवस्तुधर्मसप्तविधत्वात् ।

३६५. तत्र सत्त्वं वस्तुधर्मः, तदनुपगमे वस्तुनो वस्तुत्वायोगात्, खरविषाणादिवत् । तथा कथञ्चिदसत्त्वम् स्वरूपादिभिरिव पररूपादिभिरपि वस्तुनोऽसत्त्वानिष्टौ प्रतिनियतस्वरूपाभावाद्द्वस्तुप्रतिनियमविरोधात् । एतेन क्रमार्पितोभयत्वादीनां वस्तुधर्मत्वं प्रतिपादितम्, तदभावे क्रमेण सदसत्त्वविकल्पशब्दव्यवहारस्य विरोधात्, सहावक्तव्यतदुत्तरधर्मत्रयविकल्पशब्दव्यवहारस्य चासत्त्वप्रसङ्गात् । न चामी व्यवहारा निर्विषया एव, वस्तुप्रतिपत्तिप्रवृत्तिप्राप्तिनिश्चयात्, तथाविधरूपादिव्यवहारवत् । तस्यापि निर्विषयत्वे सकलप्रत्यक्षादिव्यवहारापह्वात्र कस्यचिदिष्टतत्त्वव्यवस्था स्यात् । ननु च प्रथमद्वितीयधर्मवत् प्रथमतृतीयादिधर्माणां क्रमेतरार्पितानां धर्मान्तरत्वसिद्धेर्न सप्तविधधर्मनियमः सिध्येत्, इति चेत्, न, क्रमार्पितयोः प्रथमतृतीयधर्मयोर्धर्मान्तरत्वेनाप्रतीतेः, सत्त्वद्वयस्यासंभवात्, विवक्षितस्वरूपादिना सत्त्वस्यैकत्वात् । तदन्यस्वरूपादिना सत्त्वस्य द्वितीयस्य संभवेपि विशेषादेशात्तत्प्रतिपक्षभूतासत्त्वस्यापि परस्य भावादपरधर्मसप्तकसिद्धेः सप्तभङ्ग्यन्तरप्रसिद्धेः कथमुपालम्भः ? एतेन द्वितीयतृतीयधर्मयोः क्रमार्पितयोर्धर्मान्तरत्वमप्रतीतिकं व्याख्यातम् । प्रथमचतुर्थयोर्द्वितीयचतुर्थयोस्तृतीयचतुर्थयोश्च सहितयोः कथं धर्मान्तरत्वमेवं स्यादिति चेच्चतुर्थेऽवक्तव्यत्वधर्मे सत्त्वासत्त्वयोरपरामर्शात् । न हि सप्तार्पितयोस्तयोरवक्तव्यशब्देनाभिधानम् । किं तर्हि ? तथार्पितयोस्तयोः सर्वथा वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरस्य तेन प्रतिपादनमिष्यते । न च तेन सहितस्य सत्त्वस्यासत्त्वस्योभयस्य चाऽप्रतीतिर्धर्मान्तरत्वासिद्धिर्वा । प्रथम भङ्गे सत्त्वस्य प्रधानभावेन प्रतीतेः, द्वितीये पुनरसत्त्वस्य, तृतीये क्रमार्पितयोः सत्त्वासत्त्वयोः, चतुर्थेऽवक्तव्यत्वस्य, पञ्चमे सत्त्वसहितस्य, षष्ठे पुनरसत्त्वोपेतस्य, सप्तमे क्रमवत्तदुभययुक्तस्य तत्र शेषधर्मगुणभावाध्यवसायात् ।

३६६. स्यान्मतम्—अवक्तव्यत्वस्य धर्मान्तरत्वे वस्तुनि वक्तव्यत्वस्यापि धर्मान्तरस्य भावादष्टमस्य कथं सप्तविध एव धर्मः सप्तभङ्गीविषयः स्यात्, इति, तदर्थं, सत्त्वादिभिरभिधीयमानस्य वक्तव्यत्वस्य प्रसिद्धेः, सामान्येन वक्तव्यत्वस्यापि विशेषेण वक्तव्यतायामनवस्थानात् । भवतु वा वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वयोर्धर्मयोः सिद्धिः, तथापि ताभ्यां विधिप्रतिषेधकल्पनाविषयाभ्यां सत्त्वासत्त्वाभ्यामिव सप्तभङ्ग्यन्तरस्य प्रवृत्तेर्न तद्विषयसप्तविधधर्मनियमविधातोऽस्ति, यतस्तद्विषयसंशयः सप्तधैव न स्यात्तद्धेतुजिज्ञासा वा तन्निमित्तः प्रश्नो वा वस्तुन्येकत्र सप्तविधवाक्यनियमहेतुः । इति सूक्ता सत्त्वादिधर्मविषया गौः सप्तभङ्गी । सा च स्याद्वादामृतगर्भिणी, स्याद्वचनार्थस्य कथञ्चिच्छब्देन प्रतिपादनात्, तेनानेकान्तस्य द्योतकेन वाचकेन वा तस्याः प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयत्वात् । न चैवं स्याच्छब्दवत्कथञ्चिच्छब्देनैवानेकान्तस्य

प्रतिपादनात्सदादिवचनमनर्थकमाशङ्कनीयम्, ततः सामान्यतोनेकान्तस्य प्रतिपत्तावपि विशेषार्थिना विशेषस्यानुप्रयोगात्, “सामान्यतोपक्रमेपि विशेषार्थिना विशेषोनुप्रयोक्तव्यो वृक्षो न्यग्रोध इति यथा” इति वचनात् । द्योतकपक्षे तु न्यायप्राप्तं सदादिवचनम्, तेनोक्तस्य कथञ्चिच्छब्देन द्योतनात्, तेनानुद्योतने सर्वथैकान्तशङ्काव्यवच्छेदेनाऽनेकान्तप्रतिपत्तेरयोगात्, एवकारावचने विवक्षितार्थाप्रतिपत्तिवत् ।

३६७. नन्वनुक्तोपि कथञ्चिच्छब्दः सामर्थ्यात्प्रतीयते, सर्वत्रैवाकारवत्, इति चेत्, न प्रयोजकस्य स्याद्वादस्यायाकौशले प्रतिपाद्यानां तदप्रतीतेस्तद्वचनस्य क्वचिदवश्यंभावात् । तत्कौशले वा तदप्रयोगोऽभीष्ट एव, सर्वस्यानेकान्तात्मनो वस्तुनः प्रमाणात् साधने “सर्वं सत्” इत्यादिवचनेपि स्यात्सर्वं सदेवेत्यादिसंप्रत्ययोत्पत्तेः । इति प्रपञ्चतोऽन्यत्र प्ररूपितमवगन्तव्यम् ।

३६८. ननु च जीवाद्रिद्रव्यं सदेव कथञ्चिदित्यसिद्धम्, दर्शनावग्रहादिविशेषव्यतिरेकेण तस्यानुपलम्भात्, अश्वविषाणवदिति चेत्, न, अवग्रहेहादेरन्योन्यं स्वलक्षणविवेकैकान्ते जीवान्तरवत् स्वात्मन्यपि सन्तानभेदप्रसङ्गात् । तथा च यदेव मया विषयविषयिसन्निपातदशायां किञ्चिदित्यालोकितां तदेव वर्णसंस्थानादिसामान्याकरेणावगृहीतं पुनः प्रतिनियतविशेषाकरेणेहितं तदेवाकाङ्क्षितविशेषाकरेण वित्तं पुनः कालान्तरस्मृतिहेतुतया चावधारितम्, तदेव कालान्तरे ‘तत्’ इत्याकारेण स्मृतम्, पुनस्तदेवेदमित्याकारेण प्रत्यभिज्ञातम्, ततो यदित्यम्, कार्यकृतदित्यं सर्वत्र सर्वदेति तर्कितम्, ततस्तत्कार्यावबोधनादिभिनिबुद्धम्, तदेव च शब्दयोजनया विकल्पनिरूपणया वा परार्थं स्वार्थं वा श्रुतमित्यनुसन्धानप्रत्ययवदहमेक एव दृष्टाऽवगृहीतेहितेत्याद्यनुसन्धानबुद्धिरपि न क्वचिदास्पदं बध्नीयात् । तथाविधवासनाप्रबोधादनुसन्धानावबोधप्रसिद्धिरिति चेत्साऽनुसन्धानवासना यद्यनुसन्धीयमानदर्शनादिभ्यो भिन्ना तदा संतानान्तरे दर्शनावग्रहादिष्विव स्वसंतानेपि नानुसन्धानबोधमुपजनयेत्, अविशेषात् । तदभिन्ना चेत्तावद्धा भिद्येत । न हि भिन्नादभिन्नमभिन्नं नामेति स्वयमभिधानात् । तथा च तत्प्रबोधात्कथं दर्शनावग्रहादिष्वेकमनुसन्धानज्ञानमुत्पद्येत ? यदि पुनस्तेभ्यः कथञ्चिदभिन्ना वासनानुमन्यते तद्धेतुस्तदा अहमहमिकयात्मा विवर्तनानुभवन्नानादिनिधनः स्वलक्षणप्रत्यक्षः सर्वलोकोनां क्वचिच्चित्रवित्तिक्षणे नीलादिविशेषनिर्भासवदात्मभूतान् परस्परतो विविक्तान् सहक्रमभाविनो गुणपर्यायानात्मसात्कुर्वन् सन्नेव सिद्धः, तस्यैवं वासनेति नामान्तरकरणात् । तदेकत्वाभावे नीलादिविशेषनियतदर्शनानानासंतानसंवेदन-क्षणवच्चित्रसंवेदनं न स्यात् । क्रमवृत्तिसुखादीनामिव दर्शनावग्रहादीनामेकसंतानिपतितत्वादानुसन्धानम-ननिबन्धनत्वमनुमतम्, इति चेत्, तर्हि संततिरात्मैव । तथा क्रमवृत्तीनां सुखादीनां मतिश्रुतादीनां वा तादात्म्यविगमैकान्ते संततिरनेकपुरुषवन्न स्यात् । सुखादिमत्यादीनां नैरन्तर्यादव्यभिचारिकार्यकारणभावा-द्वास्यवासकभावाच्चापामृष्टभेदानामेका संततिः, न पुनरनेकपुरुषे, तदभावादिति चेत्, तर्हि नैरन्तर्यादिरविशेषात्संतानव्यतिकरोपि किन्न स्यात् ? न हि नियामकः कश्चिद्विशेषः, अन्यत्राभेद-परिणामात् । संतानिनां भेदपरिणाम एव नाभेदपरिणामः, संकरप्रसङ्गात् इति चेन्न येनात्मना तेषामभेदस्तेन सद्रव्यचेतनत्वादिना संकरस्येष्टत्वात्, तेनाप्यसंकरे हर्षविषादादिचित्रप्रतिपत्तेरयोगात् । अस्ति

च सैकत्रापि विषये यत्र मे हर्षः प्रागभूतत्रैव विषादो द्वेषो भयादिर्वा वर्तते, अहमेव च हर्षवानासं, संप्रति विषादादिमान् वर्ते नान्य इति क्रमतश्चित्रप्रतिपत्तिरबाधा । ततो जीवः सत्रेव । एवं च यथैकत्र समनन्तरावग्रहादिसदादिस्वभावसंकरपरिणामस्तथैव सर्वत्र चेतनाचेतनेषु संप्रत्यतीतानागतेषु तत्स्वभावाविच्छिन्नेः । अतः कथञ्चित्सदेवेष्टं जीवादि तत्त्वम्, सकलबाधकाभावात् । तर्हि सदेव सर्व जीवादिवस्तु, न पुनरसदिति चेत्, न, सर्वपदार्थानां परस्परमसंकरप्रतिपत्तेरसत्त्वस्यापि सिद्धेः, जीवाजीवप्रभेदानां स्वस्वभावव्यवस्थितेरन्यथानुपपत्तेः । न केवलं जीवाजीवप्रभेदाः सजातीयविजातीयव्यावृत्तिलक्षणाः, किन्तु बुद्धिक्षणेपि, क्वचिद्ग्राह्यग्राहकयोः सितानिर्भासांशपरमाणुसंवित्तयोपि, परस्परपरिहारस्थितिलक्षणत्वादित्यथास्थूलशबलावलोकनाभावात्तदेकांशवत् सर्वथा परस्परमव्यावृत्तानां ग्राह्यग्राहकवितादिनिर्भासावयवपरमाणुसंवित्तीनामेकपरमाणुस्वरूपतापत्तेः । न चैकः परमाणुः स्थूलतया शबलतया वावलोकयितुं शक्यः, विभ्रमप्रसङ्गात् । तथा च सकलचेतनेतरक्षणपरिणामलवविशेषाः परस्परविविक्तात्मानः सिद्धाः, स्वस्वभावस्य स्वभावान्तरेण मिश्रणाभावात् । तदन्योन्याभावमात्रं जगत्, अन्यथा सर्वथैकत्वप्रसङ्गात् ।

३६९. तत्रान्वयस्य विशेषापेक्षणादभावो वा, स्वतन्त्रस्य तस्य जातुचिदप्रतिभासनात् । तदिष्टमसदेव कथञ्चित् ।

३७०. सर्वथा भावाभावोभयात्मकमेव जगदस्तु, तत्र भावस्याभावस्य च प्रमाणसिद्धत्वात् प्रतिक्षेप्तु-मशक्यत्वात्, इत्यपरः, सोपि न तत्त्ववित्, सुयुक्त्यतिलङ्घनात् । न हि भावाभावैकान्तयोर्निष्पर्यायमङ्गीकरणं युक्तं, यथैवास्ति तथैव नास्तीति विप्रतिषेधात् । ततः कथञ्चित्सदसदात्मकं द्रव्यपर्यायनयापेक्षया । द्रव्यनयापेक्षयैव सर्व सत् पर्यायनयापेक्षयैव च सर्वमसदात्मकम्, विपर्यये तथैवासंभवात् । न हि द्रव्यनयापेक्षया सर्वमसत् संभवति, नापि पर्यायनयापेक्षया सर्व सत्, प्रतीतिविरोधात् । भावाभावस्वभावरोहितं तद्विलक्षणमेव वस्तु युक्तमित्यपि न सारम्, सर्वथा जात्यन्तरकल्पनायां वा तदंशनिबन्धनविशेषप्रति-पत्तेरत्यन्ताभावप्रसङ्गात् । न चासावस्ति, सदसदुभयात्मके वस्तुनि स्वरूपादिभिः सत्त्वस्य पररूपादिभिरसत्त्वस्य च तदंशस्य विशेषप्रतिपत्तिनिबन्धनस्य सुनयप्रतीतिनिश्चितस्य प्रसिद्धेः, दधिगुडचातुर्जातकादिद्रव्याद्भावे पानके तदंशदध्यादिविशेषप्रतिपत्तिवत् । न चैवं जात्यन्तरमेवोभयात्मकमिति युक्तं वक्तुम्, सर्वथोभयरूपत्वे वा जात्यन्तरप्रतिपत्तेरयोगात्, पानकवदेव । न हि तत्र दध्यादय एव न पुनर्जात्यन्तरं पानकमित्यभिधातुमुचितं, पानकमिदं सुस्वादु सुरभीति संप्रत्ययात् । तद्वद् वस्तुनि न सदाद्यंश एव प्रतीतिविषयः तदंशिनो जात्यन्तरस्य प्रतीत्यभावापत्तेः । तथा चानवस्थादिदोषानुषङ्गः । येनात्मना सत्त्वं तेनासत्त्वस्याप्यभ्युपगमे येन चासत्त्वं तेन कथञ्चित्सत्त्वानुमनने पुनः प्रत्येकमुभयरूपोपग-मादनवस्था स्यात् । तथानभ्युपगमे नोभयस्वभावमशेषमिति तै प्रतिज्ञाविरोधः । येनात्मना सत्त्वं तेनैवासत्त्वे विरोधो वैयधिकरण्यं वा शीतोष्णस्पर्शविशेषवत् । संकरव्यतिकरौ च, युगपदेकत्र सत्त्वासत्त्वयोः प्रसक्तेः । परस्परविषयगमनाच्च । संशयश्च, कथं सत्त्वं कथं चासत्त्वं वस्तुनीति निश्चयानुत्पत्तेः । अतः

एवाप्रतिपत्तिरभावाश्चानुषज्यते ततः^{५३०९} प्रतिपादितदोषान् परिजिहीर्षुभिः सर्वं वस्तु तदिष्टं^{५३१०} स्यादुभयं, न पुनः सर्वथा^{५३११}, स्यात्कारेण जात्यन्तरत्वस्यापि स्वीकरणात् ।

३७१. तर्ह्यस्तीति न भणामि, नास्तीति च न भणामि, यदपि च भणामि तदपि न भणामीति दर्शनमस्त्विति कश्चित्^{५३१२}, सोपि पापीयान् । तथाहि—सद्भवेतराभ्यामनभिलाष्ये वस्तुनः, केवलं मूकत्वं जगतः स्यात्, विधिप्रतिषेधव्यवहारायोगात् । न हि सर्वात्मनानभिलाष्यस्वभावं बुद्धिरध्यवस्यति । न चानध्यवसेयं प्रमितं नाम, गृहीतस्यापि तादृशस्यागृहीतकल्पत्वात्, मूर्च्छाचैतन्यवदिति । न हि निर्विकल्पकदर्शनप्रतिभासि वस्तु व्यवतिष्ठेत, येनानभिलपत्रपि तत् पश्येत् ।

न सोस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादुते ।

अनुविद्धमिवाभाति सर्वं शब्दे प्रतिष्ठितम् ॥१॥

वाग्रूपता चेदुक्तामेदवबोधस्य शाश्वती ।

न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥२॥

इति दर्शनान्तरमप्यनालोचिततत्त्वम्; सर्वात्मनाभिधेयत्वेपि प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्गात् । चक्षुरादिशब्दादिसामग्री-भेदात्प्रत्यक्षेतरयोर्विशेष इति चेन्न, प्रत्यक्षादिव शब्दादेरपि वस्तुविशेषप्रतिपत्तेरविशेषसिद्धेः, प्रत्यक्षगोचरविशेषस्य शब्दागोचरत्वेऽनभिधेयत्वापत्तेः । प्रत्यक्षात्मकशब्दगोचरत्वात्तस्याप्यभिधेयत्वमेवेति चेत्तथैवानुमानागम-ज्ञानात्मकशब्दविषयत्वमस्तु । ततश्च प्रत्यक्षेतरयोः स्पष्टं विशेषप्रतिभासित्वसिद्धेरविशेषप्रसङ्गः । तयोर्विशेषे तदात्मकशब्दयोर्भेदप्रसङ्गात्कुतः शब्दाद्वैतसिद्धिः ?

३७२. स्यान्मतम्—“अद्वय एव शब्दः केवलं प्रत्यक्षोपाधिः स्पष्टविशेषप्रतिभासात्मकः, शब्दाद्युपाधिः पुनरस्पष्टसामान्यावभासात्मकः, पीतेतरपाधेः स्फटिकस्य पीतेतरप्रतिभासित्ववत्” इति, तदसत्, प्रत्यक्षेतरपाधोनामपि शब्दात्मकत्वे भेदासिद्धेः, तदनात्मकत्वे शब्दाद्वैतव्याघातात्, तेषामवस्तुत्वे स्पष्टेतरप्रतिभासभेदनिबन्धनत्वविरोधात् । तत्प्रतिभासस्याप्यभेदे, स एव प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्गः । तथानभिधेयत्वेपि सत्येतरयोरभेदः स्यात् । यत्सत्तत्सर्वमक्षणिकम्, क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्या-मर्थक्रियाविरोधात्, इत्यादेरिव वाक्यस्य यत्सत्तत् सर्वं क्षणिकमेव, नित्येत् क्रमाकमाभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेरित्यादेरपि वाक्यस्यासत्यत्वप्रसङ्गाद्विपर्यायानुज्ञाद्वा, सर्वथार्थसंस्पर्शित्वाविशेषात्, कस्यचिदनुमानवाक्यस्य कथञ्चिदर्थ-संस्पर्शित्वे सर्वथानभिधेयत्वविरोधात् । सोयं सौगतः स्वपक्षविपक्षयोस्तत्त्वातत्त्वप्रदर्शनाय यत्किञ्चित्प्रणयन् वस्तु सर्वथानभिधेयं प्रतिजानातीति किमप्येतन्महाद्भुतम्, सर्वथाभिधेयरहितेनानुमानवाक्येन सत्यत्वासत्यत्व-प्रदर्शनस्य प्रणेतुमशक्तेः,

साध्याभिधानात्पक्षोक्तिः पारम्पर्येण नाप्यलम् ।

शक्तस्य सूचकं हेतुवचोऽशक्तमपि स्वयम् ॥ () इति वचनात् ।

३७३. स्वयं तत्कृतां^{५३५८} वस्तुसिद्धिमुपजीवति, न तद्वाच्यतां^{५३५९} चेति स्वदृष्टिरागमात्रमनवस्थानुषङ्गात्^{५३६०}, वस्तुनोऽनुमानवाक्यवाच्यतानुपजीवने तत्कृतायाः^{५३६१} सिद्धेरुपजीवनासंभवात्^{५३६२}, अनभिमतप्रतिवादिवचनादपि^{५३६३} तत्सिद्धिप्रसङ्गात्, स्वाभिधेयरहितादपि स्ववचनात्तत्त्वसिद्धिरुपजीव्यते, न पुनः परवचनादिति कथमप्यवस्थाना-
संभवात्। मद्बचनं^{५३६४} वस्तुदर्शनवंशप्रभवं^{५३६५}, न पुनः परवचनमिति स्वदर्शनानुरागमात्रं, न तु परीक्षाप्रधानम्, सर्वस्य
वचसो विवक्षाविषयत्वाविशेषात्। ततो न सर्वथाभिधेयं वस्तुतत्त्वम्, नाप्यनभिधेयम्, बाधकसद्भावात्। किं
तर्हि ? कथञ्चिदवाच्यमेव तवेष्टं^{५३६६} कथञ्चित्सदेव^{५३६७}, कथञ्चिदसदेव^{५३६८}, कथञ्चिदुभयमेवेति तथा चशब्दात्^{५३६९}
कथञ्चित्सदवाच्यमेव^{५३७०}, सर्वथाप्यसतो नभिधेयत्वधर्माव्यवस्थितेः^{५३७१}, कथञ्चिदसदवाच्यमेव^{५३७२}, सर्वथापि^{५३७३}
सतो नभिलाप्यत्वस्वभावासंभवात्^{५३७४} तदभिलाप्यत्वस्यापि सद्भावात्, कथञ्चित्सदसदवाच्यमेव, स्वरूपपररूपाभ्यां
सदसदात्मन एवावाच्यत्वधर्मप्रसिद्धेरित्यपि भङ्गत्रयं समुचितमाचार्यैः, 'अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः
स्वहेतुतः' इत्यग्रे स्वयं समर्थनात्। इह तत्प्रतिज्ञातस्य सिद्धेरप्रतिज्ञातस्य समर्थनाघटनात्^{५३७५} कस्यचित्प्रतिज्ञातस्य
सामर्थ्याद्गम्यमानस्यापि प्रतिज्ञातत्वोपपत्तेः। इति साधीयसी सप्तभङ्गी प्रतिज्ञा, तथा नैगमादिनययोगात्।

३७४. तत्र प्रथमद्वितीयभङ्गयोस्तावन्नययोगमुपदर्शयन्ति स्वामिनः—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।

असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

३७५. सर्वं चेतनमचेतनं वा द्रव्यं पर्यायादिवा भ्रान्तमभ्रान्तं वा स्वयमिष्टमनिष्टं वा सदेव,
स्वरूपादिचतुष्टयात् को नेच्छेत् ? असदेव, पररूपादिचतुष्टयात् तद्विपर्ययात्को नेच्छेत् ? अपितु लौकिकः
परीक्षको वा स्याद्वादी सर्वथैकान्तवादी वा सचेतनस्तथेच्छेदेव, प्रतीतेरपह्नोतुमशक्ते। अथ स्वयमेवं प्रतीयन्नपि
कश्चित्कुनयविपर्यासितमतिनेच्छेत्, स न क्वचिदिष्टे तत्त्वे व्यवतिष्ठेत, स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्था-
पाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य, स्वरूपादिव पररूपादपि सत्त्वे चेतनादेरचेतनादित्वप्रसङ्गात्, तत्स्वात्मवत्।
पररूपादिव स्वरूपादप्यसत्त्वे सर्वथा शून्यतापत्तेः। स्वद्रव्यादिव परद्रव्यादपि सत्त्वे द्रव्यप्रतिनियमविरोधात्।
संयोगविभागादेरनेकद्रव्याश्रयत्वेपि तद्द्रव्यप्रतिनियमो न विरुध्यत एवेति चेन्न, तस्यानेकद्रव्यगुणत्वेनाने-
कद्रव्यस्यैव स्वद्रव्यात्वात्। स्वानाश्रयद्रव्यान्तरस्य परद्रव्यत्वात्ततोपि सत्त्वे स्वाश्रयद्रव्यप्रतिनियमव्याघातस्य
तदवस्थत्वात्। तथा परद्रव्यादिव स्वद्रव्यादपि कस्यचिदसत्त्वे सकलद्रव्यानाश्रयत्वप्रसङ्गात्,
इष्टद्रव्याश्रयत्वविरोधात्। तथा स्वक्षेत्रादिव परक्षेत्रादपि सत्त्वे कस्यचित्प्रतिनियतक्षेत्रत्वाव्यवस्थितेः।
परक्षेत्रादिव स्वक्षेत्रादपि चासत्त्वे निःक्षेत्रतापत्तेः। तथा स्वकालादिव परकालादपि सत्त्वे प्रतिनियतकालत्वा-
व्यवस्थानात्। परकालादिव स्वकालादप्यसत्त्वे सकलकालासंभवित्वप्रसङ्गात्, केव किं व्यवतिष्ठेत ? यतः
स्वेष्टमिष्टतत्त्वव्यवस्था।

३७६. नन्वेवं^{५३९७} स्वरूपादीनां^{५३९८} स्वरूपाद्यन्तरस्याभावात्कथं^{५३९९} व्यवस्था स्यात्, भावे वानवस्थाप्रसङ्गात्^{५३९९} ।
सूदूरमपि गत्वा स्वरूपाद्यन्तराभावेपि^{५४००} कस्यचिद् व्यवस्थायां किमनया^{५४०१} प्रक्रियया स्वगृहमान्यया, यथाप्रतीति^{५४०२}
वस्तुव्यवस्थोपपत्तेः, इति कश्चित्सोपि वस्तुस्वरूपपरीक्षानभिमुखः, वस्तुप्रतीतेरेव^{५४०३} तथा प्ररूपयितुमुपक्रान्तत्वात् ।
अन्यथा नानानिरङ्कुशविप्रतिपत्तीनां^{५४०४} निवारयितुमशक्यत्वात् । वस्तुनां^{५४०५} हि यथैवाबाधिता प्रतीतिस्तथैव^{५४०६}
स्वरूपम्, न च तत्ततोऽन्यदेव प्रतीयते^{५४०७} येन स्वरूपान्तरमपेक्षेत । तथा प्रतीतौ वा तदुपगमेपि^{५४०८} नानवस्था ।
यत्राप्रतिपत्तिस्तत्राव्यवस्थोपपत्तेः । तत्र जीवस्य तावत्सामान्येनोपयोगः^{५४०९} स्वरूपम्, तस्य तल्लक्षणत्वात्,
'उपयोगो लक्षणम्'^{५४१०} (त.सू. २.८) इति वचनात् । ततोऽन्योन्योपयोगः^{५४११} पररूपम् । ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतीयेते ।
तदुपयोगस्यापि विशेषतो ज्ञानस्य स्वार्थाकारव्यवसायः^{५४१२} स्वरूपम् । दर्शनस्यानाकारग्रहणं स्वरूपम्
ज्ञानस्यापि परोक्षस्यावैशद्यं स्वरूपम् । प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपम् । दर्शनस्यापि चक्षुरचक्षुर्निमित्तस्य^{५४१३}
चक्षुराद्यालोचनं स्वरूपम् । अवधिदर्शनस्यावध्यालोचनं स्वरूपम्, परोक्षस्यापि मतिज्ञानस्येन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं^{५४१४}
स्वार्थाकारणग्रहणं स्वरूपम् । अनिन्द्रियमात्रनिमित्तं श्रुतस्य स्वरूपम् । प्रत्यक्षस्यापि विकलस्यावधिमनः-
पर्ययलक्षणस्य मनोक्षानानपेक्षं स्पष्टात्मार्थग्रहणं स्वरूपम् । सकलप्रत्यक्षस्य सर्वद्रव्यपर्यायसाक्षात्करणं^{५४१५}
स्वरूपम् । ततोऽन्यत् सर्वं तु पररूपम् । ताभ्यां सदसत्त्वे प्रतिपत्तव्ये । एवमुत्तरोत्तरिविशेषाणामपि^{५४१६}
स्वपररूपे, तद्विन्दिरभ्यूह्ये, तद्विशेषप्रतिविशेषाणामनन्तत्वात् । द्रव्यक्षेत्रकालाभावविशेषाणामनेनैव^{५४१७} प्रतिद्रव्यपर्यायं
स्वपररूपे प्रतिपादिते ।

३७७. ननु च जीवादिद्रव्याणां षण्णामपि किं स्वद्रव्यं किं वा परद्रव्यम् ? यतः सदसत्त्वे व्यतिष्ठेते,
द्रव्यान्तरस्यासंभवात्, इति चेत्, न तेषामपि शुद्धं सद्रव्यमपेक्ष्य सत्त्वस्य तत्प्रतिपक्षमसद्भवमपेक्ष्यासत्त्वस्य च^{५४१८}
प्रतिष्ठोपपत्तेः । शुद्धद्रव्यस्य स्वपरद्रव्यव्यवस्था कथम् ? तस्य^{५४१९} सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मकत्वात्,
तद्व्यतिरेकणान्यद्रव्याद्यभावात्, इति चेत्, न, सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावानपेक्ष्य सत्त्वस्य, तदभावमपेक्ष्या-^{५४२०}
सत्त्वस्य च व्यवस्थितेः, 'सत्ता सप्रतिपक्षा' इति वचनात् ।

३७८. एतेन^{५४२१} सकलक्षेत्रस्य नभसोनाद्यनन्ताखिलकालस्य च सकलक्षेत्रकालात्मनः^{५४२२} प्रतिनियतक्षेत्र-
कालात्मनश्च स्वपररूपत्वं निश्चितम् । अतः सदसत्त्वव्यवस्था । स्वरूपादिचतुष्टयादिति 'प्यखे'^{५४२३}
कर्मण्युपसंख्यानात् का' । स्वरूपादिचतुष्टयमपेक्ष्य को नेच्छेत्सदेव सर्वमित्यर्थः । एतेनैव विपर्यासादिति^{५४२४}
व्याख्यातम् ।

३७९. ननु स्वसत्त्वस्यैव परासत्त्वस्य प्रतीतेर्न वस्तुनि स्वपररूपादिसत्त्वासत्त्वयोर्भेदो, यतः
प्रथमद्वितीयभङ्गौ घटेते, तदन्यतेरण गतार्थत्वात् । तदघटने च तृतीयादिभङ्गाभावात्कुतः सप्तभङ्गी ? इति चेत्,
न, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षाया स्वरूपभेदात्सत्त्वासत्त्वयोरेकवस्तुनि भेदोपपत्तेः, तयोरभेदे स्वरूपादिचतुष्टया-
पेक्षयेव पररूपादिचतुष्टयापेक्षयापि सत्त्वप्रसङ्गात्, तदपेक्षयेव स्वरूपाद्यपेक्षयापि वाऽसत्त्वप्रसक्तेः । न
चापेक्षाभेदात् क्वचिद्धर्मभेदप्रतीतिर्बाध्यते, बदरापेक्षया बिल्वे स्थूलत्वस्य मातुलिङ्गापेक्षया सूक्ष्मत्वस्य

प्रतीतेर्बाधकाभावात् । सर्वस्यापेक्षिकस्यावास्तवत्वे नीलनीलतरादेः सुखसुखतरादेश्चावास्तवत्वापत्तेर्विशदविशद-
तरादिप्रत्यक्षस्यापि कुतस्तात्त्विकत्वम्, यतो न संविदद्वैतप्रवेशः ? स चायुक्त एव, तद्व्यवस्थापकाभावात् ।

३८० ततः स्यात्सदसदात्मकाः पदार्थाः सर्वस्य सर्वाकरणात् । न हि पटादयो घटादिवत्क्षी-
राद्याहरणलक्षणामर्थक्रियां कुर्वन्ति घटादिज्ञानं वा । तदुभयात्मनि दृष्टान्तः सुलभः, सर्वप्रवादिनां
स्वेष्टतत्त्वस्य स्वरूपेण सत्त्वेऽनिष्टरूपेणासत्त्वे च विवादाभावात् तस्यैव च दृष्टान्ततोपपत्तेः ।

३८१. ननु चैकत्र वस्तुनि सत्त्वमसत्त्वं च युक्तिविरुद्धम्, परस्परविरुद्धयोर्धर्मयोरेकाधिकरणत्वायोगात्,
शीतोष्णस्पर्शवद्भिन्नाधिकरणत्वप्रतीतेः, इति चेत्, न, तयोः कथञ्चिदपितयोर्विरुद्धत्वासिद्धेस्तथा प्रति-
पत्तिः सद्भावाच्च । शाब्देतरप्रत्यययोरेकवस्तुविषययोरेकात्मसमवेतयोः कारणविशेषवशात्परिवृत्तात्मनोः
स्वभावभेदेऽपि कथञ्चिदेकत्वमस्त्येव, विच्छेदानुपलब्धेः । न हि शाब्दप्रत्यक्षवेदनयोरस्पष्टेतरप्रतिभासन-
स्वभावभेदोऽसिद्धः, प्रतीत्यपहवप्रसङ्गात् । नापि तयोरेकवस्तुविषयत्वमेकद्रव्याश्रयत्वं चासिद्धम्,
तत्रानुसंधानप्रत्ययसद्भावात्, यदेव मया श्रुतं तदेव दृश्यते, य एवाहमश्रौषं स एव पश्यामीति प्रतीतेर्बाधका-
भावात् । तयोर्द्रव्यात्मनैकत्वमस्त्येव, विच्छेदस्यानुपलक्षणात् । ननूपादानोपादेयक्षणयोस्तद्भ-
वादेवानुसंधानसिद्धेर्विच्छेदानुपलम्भेऽपि नैकत्वसिद्धिः, एकसंतानत्वस्यैव सिद्धेः, आत्मद्रव्यस्याभावात्, इति
चेत्, न, तदभावे तयोरुपादानोपादेयतानुपपत्तेः । उपादानस्य कार्यकालमात्मानं कथंचिदनयतश्चिरतर-
निवृत्ताविवादविशेषात्कार्योत्पत्तावपि व्यपदेशानुपपत्तेस्तादृशास्वरूपैकत्वमस्त्येव । न च सव्येतरविषाण-
वत्सर्वथासमानकालतोपादानोपादेययोर्यतस्तद्भवो विरुद्धयेत्, द्रव्यसामान्यापेक्षया तयोरेकत्वमिति मननात् ।
विशेषापेक्षया तु नास्त्येव तादृशमेकत्वम् । न हि पौरस्त्यः पाश्चात्यः स्वभावः पाश्चात्यो वा पौरस्त्यः ।
नन्वेवमेकत्वं मा भूत्, पूर्वापरपरिणामानां क्रमस्यैवावस्थानात्, अक्रमस्य तद्विरुद्धत्वादिति न मन्तव्यं
यस्मान्निरपेक्षस्तत्र क्रमोऽपि प्रतिभासविशेषवशात्प्रकल्प्येत, तदेकत्वादिक्रमः किन्न स्यात् ? प्रतिभासैकत्वेऽपि
तदक्रमानुपगमे प्रतिभासविशेषवशात्क्रमः कथमभ्युपगमार्हः स्यात् ? सर्वस्य यथाप्रतिभासं वस्तुनः प्रतिष्ठानात्
प्रतिभासमानयोः क्रमाक्रमयोर्विरोधानवतरणाद्विरोधस्यानुपलम्भलक्षणत्वात् । न च स्वरूपादिना वस्तुनः सत्त्वे
तदैव पररूपादिभिरसत्त्वस्यानुपलम्भोऽस्ति, येन सहानवस्थानलक्षणो विरोधः शीतोष्णस्पर्शविशेषवत्स्यात् ।
परस्परपरिहारस्थितिलक्षणस्तु विरोधः सहैकत्राग्रफलादौ रूपरसयोरिव संभवतोरेव सदसत्त्वयोः स्यात्, न
पुनरसंभवतोः संभवदसंभवतोर्वा ।

३८२. एतेन वध्यघातकभावोऽपि विरोधः फणिनकुलयोरिव बलवदबलवतोः प्रतीतः सत्त्वासत्त्वयोरा-
शङ्कनीयः कथितः, तयोः समानबलत्वात्, इत्येतदग्रे प्रपञ्चयिष्यते ।

३८३. तदेकानेकाकारमक्रमक्रमात्मकमन्वयव्यतिरेकरूपं सामान्यविशेषात्मकं सदसत्परिणामं
स्थित्युत्पत्तिविनाशात्मकं स्वप्रदेशनियतं स्वशरीरव्यापिनं त्रिकालगोचरमात्मानं परं वा कथञ्चित्साक्षात्करोति
परोक्षयति वा केशादिविवेकव्यामुग्धबुद्धिवत् तादृशैकचैतन्यं सुखादिभेदं वस्तु स्वतोऽन्यतः

सजातीयविजातीयाद्विविक्तलक्षणं बिभर्ति । अन्यथाऽनवस्थानात् क्वचित्कथंचिदनियमः स्यात् । सर्वो हि लौकिकः परीक्षकश्च तावदेकमक्रमात्मकमन्वयरूपं सामान्यात्मकं सत्परिणामं स्थित्यात्मकमात्मानं परं वा बहिरर्थसंतानान्तराख्यं द्रव्यापेक्षया साक्षात्करोति, लिङ्गशब्दादिना परोक्षयति वा, भावापेक्षया पुनरनेकाकारं क्रमात्मकं व्यतिरेकरूपं विशेषात्मकमसत्त्वपरिणाममुत्पत्तिविनाशात्मकं, क्षेत्रापेक्षया स्वप्रदेशनियतं निश्चयनयतः, स्वशरीरव्यापिनं व्यवहारनयतः, कालापेक्षया त्रिकालगोचरम् । कथं पुनरीदृशमात्मानं परं वा साक्षात्करोति कथं वा परोक्षयति द्रव्याद्यपेक्षयेति चेत्, उच्यते—साक्षात्करणयोग्यद्रव्याद्यात्मना मुख्यतो व्यवहारतो वा विशदज्ञानेन साक्षात्करणयोग्यद्रव्याद्यात्मना मुख्यतो व्यवहारतो वा विशदज्ञानेन साक्षात्करोति, परोक्षज्ञानयोग्यद्रव्याद्यात्मना अनुमानादिप्रमाणेनाविशदेन परोक्षयति—

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं मुख्यसंव्यवहारतः ।

परोक्षं शेषविज्ञानं प्रमाणं इति संग्रहः ॥ (लघीय०-३)

इति संक्षेपतः प्रत्यक्षपरोक्षयोरेव वस्तुपरिच्छितौ व्यापारवचनात् ।

३८४. कथं तर्हि केशादिविवेकव्यामुग्धबुद्धिः पुरुषो दृष्टान्तः समः स्यात्, इति चेत्, केशमशकमक्षिकादिप्रतिभासात्मना सत्त्वपरिणामं साक्षात्कुर्वन् विवेकाद्यात्मना च कुर्ताश्चिदनुमिन्वन्नुपशृण्वन्वा परोक्षयन्, अविर्वेकादिव्यामोहप्रतिभासात्मना चासत्त्वपरिणामं कथञ्चित्तु साक्षात्कुर्वन् परोक्षयंश्च सम एव स दृष्टान्तः, तथा वैषम्याभावात् ।

३८५. ननु च तद्वस्तु चैतन्यमेवैकमक्रमादिरूपं बिभर्ति, न पुनः सुखादिभेदमनेकाकारं क्रमाद्यात्मकम्, सजातीयाच्चेतनवस्तुनो विजातीयाच्चाचेतनवस्तुनो विविक्तस्वरूपम् । तमेव वा बिभर्ति तादृशं, न पुनश्चैतन्यम्, तत्त्वत इत्यभ्युपगमयोरेकतरानवस्थानेऽन्यतरस्याप्यनवस्थानादुभयानवस्थिति-प्रसङ्गात् । क्वचिदभ्युपगते रूपे कथंचित्प्रत्यक्षादिप्रकारेण स्वाभ्युपगमादिप्रकारेण च नियमासंभवात् । सूक्तम्—“ईदृशं न चेन्न व्यवतिष्ठते” इति ।

तदेवं प्रथमद्वितीयभङ्गौ निर्दिश्य तृतीयादिभङ्गान्निर्दिशन्ति भगवन्तः—

क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं सहावाच्यमशक्तितः ।

अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥ १६ ॥

३८६. क्रमार्पितात्स्वरूपादिचतुष्टयद्वयात्कथंचिदुभयमिति द्वैतं वस्तु, द्वाभ्यां सदसत्त्वाभ्यामिति रथैव द्वीतत्वात्, स्वार्थिकस्याणो विधानाद् द्वैतशब्दस्य सिद्धेः । स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सह वक्तुमशक्तेरवाच्यम्, तथाविधस्य पदस्य वाक्यस्य वा कस्यचिदभिधायकस्यासंभवात् । सदसदुभयभङ्गास्त्ववक्तव्योत्तराः शेषाः पञ्चमषष्ठसप्तमाः, चतुर्भ्योऽन्यत्वात् । ते च स्वहेतुवशान्निर्देष्टव्याः । तद्यथा—कथञ्चित्सदवक्तव्यमेव, स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः । कथंचिदसदवक्तव्यमेव, पररूपादिचतुष्टयोपेक्षत्वे संति

सह—वक्तुमशक्तेः । कथंचित्सदसदक्तव्यमेव, स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षत्वे सति सह वक्तुमशक्तेः । सदसदुभयत्वधर्मेष्वन्यतमापाये वस्तुन्यवक्तव्यत्वधर्मानुपपत्तेः । तेषां तत्र सतामप्यविवक्षायां केवलस्यावक्तव्यत्वस्य भङ्गस्य वचनाद्विरोधानवकाशः ।

३८७. ननु च क्रमार्पितद्वयात्तावद् द्वैतं वस्तु । तत्तु स्वरूपादित एव सत् पररूपादित एवासत्, न पुनस्तद्विपर्ययादिति कुतोऽवसितमिति चेत्, उच्यते, स्वपररूपाद्यपेक्षं सदसदात्मकं वस्तु, न विपर्ययेन, तथाऽदर्शनात् । सकलजनसाक्षिकं हि स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सत्त्वस्य पररूपादिचतुष्टयापेक्षया चासत्त्वस्य दर्शनम्, तद्विपरीतप्रकारेण चादर्शनं वस्तुनीति तत्प्रमाणयता तथैव वस्तु प्रतिपत्तव्यम्, अन्यथा प्रमाणप्रमेयव्यवस्थानुपपत्तेः ।

३८८. कल्पयित्वापि तज्जन्मरूपाध्यवसायान् स्वानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षणं दर्शनं प्रमाणयितव्यम् । तथाहि—बुद्धिरियं यथा प्रत्यासत्त्या कस्यचिदेवाकारमनुकरोति तथा तमेवार्थं नियमेनोपलभेत नान्यथा, पारम्पर्यपरिश्रमं परिहरेत् ।

३८९. ननु तज्जन्मतद्रूपतदध्यवसायेषु सत्सु नीलादौ दर्शनं प्रमाणमुपलभते, तदन्यतमापाये तस्य प्रमाणत्वाप्रतीतेरिति चेत्, न, तदभावेपि स्वानुपलम्भव्यावृत्तिसद्भावादेव प्रमाणत्वप्रसिद्धिः, तज्जन्मनश्चक्षुरादिभिर्व्यभिचारात्तद्रूपस्य सन्तानान्तरसमानार्थविज्ञानेनानेकान्तात्, तद्व्ययलक्षणस्य समानार्थ-समनन्तरप्रत्ययेनानैकान्तिकत्वात्, त्रिलक्षणस्यापि विभ्रमहेतुफलविज्ञानैर्व्यभिचारात्, कमलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे पीताकारज्ञानादुत्पन्नस्य तद्रूपस्य तदाकाराध्यवसायिनोपि ज्ञानस्य स्वसमनन्तरप्रत्यये प्रमाणत्वाभावात् । तदनभ्युपगमे स्वाभ्युपगमासिद्धेः किंसाधनः परमुपालभेत, यतोऽवश्यं दर्शनं नियतस्वविषयानुपलम्भव्यावृत्तिलक्षणं परं विषयानुपलम्भात्मकं न प्रमाणयेत् । न हि स्वयं प्रमाणानभ्युपगमे स्वार्थप्रतिपत्तिः । न चाप्रतिपन्नमर्थं परस्मै प्रतिपादयितुमीशः परमुपालब्धुं वा पराभ्युपगतस्यापि प्रमाणस्य प्रतिपत्तेरयोगात्, पराभ्युपगमान्तरात्तत्प्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात् । तदेकोपलम्भनियमः स्वपरलक्षणाभ्यां भावाभावात्मानं प्रसाधयति । तदभावे न प्रवर्तेत नापि निवर्तेत प्रमाणान्तरवत् । स्वस्यार्थस्य चैकस्यैवोपलम्भो हीतरस्यानुपलम्भः, तस्य विधायक एवान्यस्य निषेधकः, तत्र प्रवर्तक एव वा परत्र निवर्तकः, इति तदेकोपलम्भनियमात्कस्यचित् प्रवृत्तिनिवृत्ती सिध्यतः । तदभावे सन्तानान्तरप्रमाणादिवत् प्रवर्तकान्न कश्चित्प्रवर्तेत निवर्तकाच्च न निवर्तेत, अप्रमाणात्प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा प्रमाणान्वेषणस्य वैयर्थ्यादितिप्रसङ्गाच्च । ततः प्रमाणं प्रत्यक्षमन्यद्वा स्वार्थोपलम्भात्मना परार्थानुपलम्भात्मना च क्रमार्पितेन सदसदात्मकं सिद्धम् । तद्वत्प्रमेयमपि । इति सर्वं वस्तु क्रमार्पितद्वयाद् द्वैतं को नेच्छेत ? सर्वस्य विप्रतिपत्तुमशक्तेरनिच्छतोपि तथा संप्रत्ययात् ।

३९०. कथमवक्तव्यं सर्वमिति चेत्, उच्यते, निष्पर्यायं भावाभावावभिधानं नाङ्गसैव विषयीकरोति, शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्, सर्वस्य पदस्यैकपदार्थविषयत्वप्रसिद्धेः, सदिति पदस्यासदविषयत्वात्,

असदिति पदस्य च सदविषयत्वात्, अन्यथा तदन्यतरपदप्रयोगप्रसंगात्, गौरिति पदस्यापि दिगाद्यनेकार्थविषयतया प्रसिद्धस्य तत्त्वतोनेकत्वात्सादृश्योपचारादेव तस्यैकत्वेन व्यवहरणात्, अन्यथा सर्वस्यैकशब्दवाच्यत्वापत्तेः, प्रत्येकमप्यनेकशब्दप्रयोगवैफल्यात् । यथैव हि शब्दभेदादध्रुवोऽर्थभेदस्तथार्थभेदादपि शब्दभेदः सिद्ध एव, अन्यथा वाच्यवाचकनियमव्यवहारविलोपात् । एतेनैकस्य वाक्यस्य युगपदनेकार्थविषयत्वं प्रत्याख्यातं, स्यात्सदसदेव सर्वं स्वरूपरूपादिचतुष्टयाभ्यामिति वाक्यस्यापि क्रमार्पितोभयधर्मविषयतयोररीकृतस्योपचारादेवैकत्वाभिधानात् । तत्रोभयप्रधानस्य क्रमशो विवक्षितस्य सदसच्छब्दाभ्यां द्वन्द्ववृत्तौ तद्वाक्ये वा स्वपदार्थप्रधानाभ्यामभिधानाद्वा न दोषः, सर्वस्य वाक्यस्यैकक्रियाप्रधानतयैकार्थविषयत्वप्रसिद्धेः । सिद्धमेकार्थनिवेदनशक्तिस्वभावत्वं शब्दस्य, वचनसूचनसामर्थ्यविशेषानतिलङ्घनात् । सदिति शब्दस्य हि सत्त्वमात्रवचने सामर्थ्यविशेषो, नासत्त्वाद्यनेकधर्मवचने, स्यादिति शब्दस्य च वाचकस्यानेकान्तमात्रवचने सामर्थ्यविशेषो न पुनरेकान्तवचने, तस्यैव द्योतकस्याविवक्षिताशेषधर्मसूचने सामर्थ्यविशेषो न पुनर्विवक्षितार्थवचने, तद्वाचकशब्दप्रयोगवैयर्थ्यप्रसक्तेः । न चैवं विधिवचनसूचनसामर्थ्यविशेषमतिक्रम्य प्रवर्तमानः शब्दः प्रसिद्धवृद्धव्यवहारेषूपलभ्यते, यतो निष्पत्तयै भावाभावावभिधीत ।

३९१. स्यान्मतम्—यथासङ्केतं शब्दस्य प्रवृत्तिदर्शनात् सह सदसत्त्वधर्मयोः संकेतितः शब्दस्तद्वाचको न विरुध्यते संज्ञाशब्दवत् इति, तदयुक्तम्, सङ्केतानुविधानेऽपि कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरन्यतर-व्यपदेशार्हत्वादयो दारुवज्रलेखनवत् । न हि यथाऽयसो दारुलेखने कर्तुः शक्तिस्तथा वज्रलेखनेस्ति, यथा वा वज्रलेखने तस्याशक्तिस्तथा दारुलेखनेपीति शक्यं वक्तुम् । नापि यथा दारुणः कर्मणोऽयसालेख्यत्वे शक्तिस्तथा वज्रस्यास्ति, यथा वा वज्रस्य तत्राशक्तिस्तथा दारुणोपीति निश्चयः, क्वचित्कस्यचित्कर्तृकर्मणोः शक्त्योरशक्त्योश्च प्रतिनियततया व्यवस्थितत्वात् । तथा शब्दस्यापि सकृदेकस्मिन्नेकार्थे प्रतिपादनशक्तिर्न पुनरनेकस्मिन् सङ्केतस्य तच्छक्तिव्यपेक्षया तत्र प्रवृत्तेः । सेनावनादिशब्दस्यापि नानेकार्थे प्रवृत्तिः, करितुरगरथपदातिप्रत्यासत्तिविशेषस्यैकस्य सेनाशब्देनाभिधानात् । वनयूथपङ्क्तिमालापानकग्रामादिशब्दानामप्येतेनैवानेकार्थप्रतिपादनपरत्वं प्रत्याख्यातम् । कथमेवं वृक्षाविति पदं द्वयर्थं वृक्षा इति च बह्वर्थमुपपद्यते इति चेत्, केषाञ्चिदेकशेषारम्भात् परेषां स्वाभाविकत्वादभिधानस्येति संगिरामहे । तत्रैकशेषपक्षे द्वाभ्यामेव वृक्षशब्दाभ्यां वृक्षद्वयस्य, बहुभिरेव च वृक्षशब्दैर्बहुनां वृक्षानामभिधानान्नैकस्य शब्दस्य सकृदनेकार्थविषयत्वं, शिष्टलुप्तशब्दयोः सारूप्यादभिधेयसाम्याच्चैकत्वोपचारादेकशब्दप्रयोगोपपत्तेः । स्वाभाविकत्वे त्वभिधानस्य वृक्षशब्दो द्विबहुवचनान्तः । स्वाभावत एव स्वाभिधेयमर्थं द्वित्वबहुत्वविशिष्टमाचष्टे, तथा सामर्थ्यात्, अन्यथा शब्दव्यवहारानुपपत्तेः ।

३९२. ननु च वृक्षा इति प्रत्ययवती प्रकृतिः पदम् । तस्य वाच्यमनेकमेकं च स्याद्वादिभिरिष्यते, न पुनरेकमेव । तथा चोक्तम्—

“अनेकमेकं च पदस्य वाच्यं वृक्षा इति प्रत्ययवत् प्रकृत्या” इति कश्चित्; (स्वय०)

३९३. सोप्येवं प्रष्टव्यः, किमेकमनेकं च सकृत्प्रधानाभावेन पदस्य वाच्यमाहोस्विद्वृणप्रधानभावेन ? इति, न तावत्प्रथमः पक्षः, तथा प्रतीत्यभावात् । वृक्षद्रव्यं हि वृक्षत्वजातिद्वारो वृक्षशब्दः प्रकाशयति, ततो लिङ्गं संख्यां चेति शाब्दी प्रतीतिः क्रमत एव । तदुक्तम्—

स्वार्थमभिधाय शब्दो निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेतम् ।

समवेतस्य तु वचने लिङ्गं संख्यां विभक्तीश्च ॥ (इति)

३९४. प्रधानभावेन च वृक्षार्थः प्रतीयते, बहुत्वसंख्या तु गुणभावेनेति न कस्यचिद्विरोधः, प्रधानगुणभावपक्षस्यैवाभिमतत्वात्, स्यादिति निपातेनानेकस्य धर्मस्याकाङ्क्षणेनैकस्यैव प्रधानस्य गुणानपेक्षस्यापवदनात्, सर्वस्य वाचकतत्त्वस्य गुणप्रधानार्थत्वात्, वाच्यतत्त्वस्य च तथाभूतत्वात् । तदुक्तम्—

आकाङ्क्षिणः स्यादिति वै निपातो गुणानपेक्षे नियमेऽपवादः ।

गुणप्रधानार्थमिदं हि वाक्यं जिनस्य ते तद्विवक्षतामपथ्यम् ॥ (स्वयं)

३९५. नन्वेवं प्रधानभावेनाशेषधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रकाशकं प्रमाणवाक्यं कथमुपपद्येत, येन सकलादेशः प्रमाणाधीनः स्यात्, इति चेत्, कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च द्रव्यपर्यायनयापितेन सकलस्य वस्तुनः कथनात्, इति ब्रूमः । द्रव्यार्थिकनयात्तावदेकस्यैव द्रव्यस्यानन्तपर्यायात्मकस्यादेशः प्रमाणवाक्यं नानेकार्थम्, पर्यायनयाच्च सकलपर्यायाणां कालादिभिरभिन्नानामभेदोपचारादुपचरितमेकमेव वस्तु प्रमाणवाक्यस्य विषय इति न किञ्चिद्वाक्यं पदवदनेकार्थं सकृत् प्रधानभावेन विभाव्यते, संकेतसहस्रेणापि वाचकवाच्ययोः कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरनतिलङ्घनार्हत्वात्कारणकार्यवत्, इत्यनवद्यम् । अन्यथाऽचाक्षुषत्वादयः शब्दादिधर्मा न भवेयुः । शक्यं हि वक्तुम्, रूपवच्चक्षुर्ज्ञानजननशक्तियुक्तः शब्दश्चाक्षुष एव, रसवच्च रसनज्ञानजननसमर्थो रासनो गन्धादिवच्च घ्राणादिज्ञानजननपटुर्घ्राणीयादिः, इति न तस्याचाक्षुषत्वारासनत्वाघ्राणीयत्वादयो धर्माः स्युः, अश्रावणत्वादयश्च रसादिधर्मा न भवेयुः । अतो यावन्ति पररूपाणि तावन्त्येव प्रत्यात्मं स्वभावान्तराणि, तथा परिणामात्, शब्दादीनामन्यथास्वरूपायोगात् । यदि पुनश्चक्षुरादिविज्ञानोत्पादनाऽशक्त्यतिक्रमस्य सर्वदाप्यसंभवादचाक्षुषत्वादयः शब्दादिधर्मा एव श्रावणादिज्ञानजननशक्त्यनतिक्रमाच्छ्रावणत्वादिवत्, इति मतं तदा सदाटिपटस्य सत्त्वाद्येकधर्मप्रतिपादनशक्त्यनतिक्रमात् प्रधानभावापितानेकधर्माभिधानाशक्त्यनतिलङ्घनाच्च नानेकार्थः सकृत्संभवतीत्यनुमन्यताम् । स्यादवक्तव्यमेव सर्वम्, युगपद्वक्तुमशक्तेरिति भङ्गचतुष्टयमुपपन्नम् ।

३९६. द्रव्यपर्यायौ व्यस्तसमस्तौ समाश्रित्य चरमभङ्गत्रयव्यवस्थानम् । व्यस्तं द्रव्यं द्रव्यपर्यायौ समस्तौ सहापितौ समाश्रित्य स्यात्सदवक्तव्यमेव सर्वमिति वाक्यस्य प्रवृत्तिः, द्रव्याश्रयणे सदंशस्य सह द्रव्यपर्यायाश्रयणे वक्तुमशक्तेरवक्तव्यत्वस्य विवक्षितत्वात् । तथा व्यस्तं पर्यायौ समस्तौ (सहापितौ) द्रव्यपर्यायौ चाश्रित्य स्यादसदवक्तव्यमेव सर्वमिति वचनव्यवहारः । व्यस्तौ क्रमापितौ समस्तौ सहापितौ द्रव्यपर्यायौ समाश्रित्य स्यात्सदसदवक्तव्यमेव सर्वमिति शब्दप्रवृत्तिः स्याद्वादाश्रयणव्याख्यानात्, एवमेव

चरमभङ्गत्रयस्य व्यवस्थानात् । परमतापेक्षया तु सत्सामान्यमन्वयि द्रव्यमाश्रित्य सदवक्तव्यमेव, स्वलक्षणलक्षणं विशेषं पर्यायमाश्रित्यान्यापोहसासान्यमसदवक्तव्यमेव, सामान्यविशेषौ तु परस्परमत्यन्तं भिन्नौ द्रव्यपर्यायौ समुदितौ समाश्रित्य सदसदवक्तव्यमेवेति व्याख्यानमकलङ्कदेवैर्व्याधायि । तत्र वस्तु सत्सामान्यं कथं सदप्यवक्तव्यमिति चेत्तस्य परार्थ्युपगमात्, सतोपि वचनानुपपत्तेः ।

३९७. न खलु सर्वात्मना सामान्यं वाच्यं, तत्प्रतिपत्तेरर्थक्रियां प्रत्युनपयोगात् । न हि गोत्वे वाहदोहादावुपयुज्यते, स्वविषयज्ञानमात्रेऽपि तस्याऽसामर्थ्यात् । व्यक्तिसहितस्य सामान्यस्य तत्र सामर्थ्येऽपि न प्रतिपन्नसकलव्यक्तिसहितस्य सामर्थ्यम्, असर्वज्ञस्य सकलव्यक्तिप्रतिपत्तेः सकृदसंभवात् । अप्रतिपन्नाखिलव्यक्तिभिः सहितस्य सामर्थ्यं पुनरेकव्यक्तेरप्यग्रहणे सामान्यज्ञानप्रसङ्गः । कतिपयव्यक्तिसहितस्य सामर्थ्यं तस्य ताभिरुपकारानुपकारविकल्पद्वयानतिक्रमः । प्रथमविकल्पे सामान्यस्य व्यक्तिकार्यत्वप्रसङ्गः तदभिन्नस्योपकारस्य करणात् । ततो भिन्नस्य करणे व्यपदेशासिद्धिः । तत्कृतोपकारेणापि तस्योपकारान्तरकरणेऽनवस्थानम् । द्वितीयविकल्पे व्यक्तिसहभाववैयर्थ्यम्, अकिञ्चित्करसहकारिविरहात् । सामान्येन सहैकज्ञाने व्यापाराद्व्यक्तीनां तत्सहकारित्वेऽपि किमालम्बनभावेन तत्र तासां व्यापारोऽधिपतित्वेन वा ? प्राच्यकल्पनायामेकानेकाकारं सामान्यविशेषज्ञानं स्यान्न पुनरेकसामान्यज्ञानं, स्वालम्बनानुरूपत्वात्सकलविज्ञानस्य । द्वितीयकल्पनायां तु व्यक्तीनामनधिगमेऽपि सामान्यज्ञानप्रसङ्गः । न हि रूपज्ञाने चक्षुषोधिगतस्याधिपतित्वेन व्यापारोऽस्त्यपूर्वस्य वा । सर्वथा नित्यस्य सामान्यस्य क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधाच्च न तस्य कस्याश्चिदर्थक्रियायामुपयोगो यतस्तत्प्रतिपादनाय शब्दप्रयोगः स्यात् । ततो नार्थं कस्यचित्प्रवृत्तिरुपपद्येत ।

३९८. लक्षितलक्षणया वृत्तिः कथंचिदतादात्म्ये न भवेत्, संबन्धान्तरासिद्धेः कार्मुकादिवत् । न हि यथा कार्मुकपुरुषयोः संयोगः संबन्धः सिद्धस्तथा सामान्यविशेषयोरपि । न च समवायः पदार्थान्तरभूतः, तत्प्रतीत्यभावात् । प्रतीयमानस्तु समवायः कथंचिदतादात्म्यमेव, अविष्वग्भावलक्षणत्वात्तस्य, इति शब्देन लक्षितं सामान्यं विशेषात् लक्षयति । ततस्तत्रार्थं क्रियार्थिनः प्रवृत्तिरसंबन्धान्नोपपद्येत, संयोगसमवायव्यतिरिक्तस्य संबन्धान्तरस्यासिद्धेः । विशेषणविशेष्यभावः संबन्धान्तरमिति चेन्न, तस्यापि स्वसंबन्धिव्यतिरेकैकान्ते संबन्धान्तरापेक्षणावश्यकं भावादनवस्थाप्रसङ्गात्, तस्य कथंचित्स्वसंबन्धितादात्म्ये स्वसिद्धान्तविरोधात् । एतेनाविनाभावः संबन्धस्तयोः प्रत्युक्तः । सामान्यविशेषयोः सामान्यविशेषभाव एव संबन्ध इत्यपि मिथ्या, कथञ्चिदतादात्म्ये तदनुपपत्तेः, सह्यविन्ध्यवत् ।

३९९. तत्र नित्यसर्वगतामूर्तैकरूपं सामान्यं सर्वथा व्यक्त्यो भिन्नमन्यद्वा वाच्यम्, अर्थक्रियायां साक्षात्परम्परया चानुपयोगात् । तादृशोऽनुपलम्भात्संकेतोऽपि न सिध्येत् । न चासंकेतितमपि सामान्यं वाच्यं नाम, अतिप्रसङ्गात् । सतापि तादृशान्यव्यावृत्त्यात्मना भवितव्यम्, अन्यथा विशेषवत्त्वभावहानिप्रसङ्गात्, विशेषाणां वा तद्वत्ततो व्यावृत्तेः । परापरसामान्ययोः परस्परं स्वाश्रयाच्च

कथंचिदव्यावृत्तौ स्वरूपसंकरात्प्रतिनियतस्वभावहानेरवश्यंभावाद्विशेषवत्, तद्वतोर्यस्याप्यभाव इति सर्वाभावः प्रसज्येत । सामान्यवादिनां तदभ्युपगममात्रात्सदप्यवक्तव्यमेव सामान्यम् ।

४००. तथा स्वलक्षणैकान्तवादिनां न स्वलक्षणं वाच्यं, तस्यानन्त्यात्संकेताविषयत्वा-
दनन्वयाच्छब्दव्यवहारायोग्यत्वात् । न चान्यापोहः सर्वार्थः शब्दस्य विकल्पस्य वा,
स्वविषयविधिनिरपेक्षस्य गुणभावेनाप्यन्यापोहस्य शब्देन वक्तुमशक्तेर्विकल्पेन च निश्चयनायोगात् ।
साधनवचनमेव त्रिरूपलिङ्गप्रकाशकम्, न ततोऽन्यद्वचनम्, तस्य विवक्षामात्रेपि संभावनाया
एवोपगमादिति चेन्न, तस्याप्यन्यापोहमात्रार्थत्वात् 'अपोहः शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते'
इति वचनात् । सत्यपि च साधनवचनेन नित्यत्वसमारोपव्यवच्छेदे स्वलक्षणस्यानित्यत्वसिद्धौ साधन-
वचनानर्थक्यात् । न शब्दस्य परार्थानुमानरूपस्य विकल्पस्य वा स्वार्थानुमानज्ञानरूपस्य सर्वथान्यापोहोऽर्थः
श्रेयान् । यत्सत्तत्सर्वमनित्यं नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, इति साधनवचनेन नित्यत्वसमारो-
पव्यवच्छेद एव स्वलक्षणस्यानित्यत्वसिद्धिः, अतो न तस्यानर्थक्यम्, इति चेत्, कथमित्थं
सर्वथान्यापोहोऽर्थः समर्थ्यते, स्वलक्षणक्षणक्षयस्य विधानात् । दृश्यविकल्पयोः स्वलक्षणसामान्ययोरेकत्वाध्य-
वसायात् तत्क्षणक्षयस्य विधिः, न पुनर्वस्तुनः सर्वथा विकल्पाभिधानयोर्वस्तुसंस्पर्शाभावात्, इति
चेत्, न, स्वलक्षणसामान्ययोरेकत्वाध्यवसायिना विकल्पेन स्वलक्षणस्याग्रहणात्, अगृहीतेन सह
सामान्यस्यैकत्वाध्यवसायसंभवात्, अन्यथातिप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षतः प्रमितेन स्वलक्षणेन तस्यैकत्वाध्यवसानमिति
चेत्, न, नन्वेवं विकल्पाभिधानयोर्वस्तुसंस्पर्शाभावे स्वलक्षणदर्शनस्याकृतनिर्णयस्य वस्तुसन्निधेरविशेषात्
किं केन प्रमितं स्यात् ? न हि मिथ्याध्यवसायेन तत्त्वव्यवस्था, संशयविपर्यासकारिणापि दर्शनेन
स्वलक्षणस्य प्रमितत्वप्रसङ्गात् । वस्तुसंस्पर्शाभावाविशेषेपि निर्णयस्य जनकं दर्शनं स्वलक्षणस्य
प्रमाणं, न पुनः संशयादेरिति वदन्नात्मनोऽनात्मज्ञतामावेदयति ।

४०१. ननु च निर्णयेन दर्शनविषयसमारोपस्य व्यवच्छेदात्तज्जनकं दर्शनं प्रमाणं, न तु
संशयादेर्जनकं, तेन तदव्यवच्छेदात्, असमारोपितांशे दर्शनस्य प्रमाण्यात् 'क्वाचिद् दृष्टेपि यज्ज्ञानं सामान्यार्थं
विकल्पकम् । असमारोपितान्यांशे तन्मात्रापोहगोचरम् ॥' इति वचनान्नोक्तोपालम्भ इति चेन्न,
समारोपव्यवच्छेदविकल्पस्य स्वसंवेदनव्यवस्थानेपि विकल्पान्तरापेक्षत्वप्रसङ्गात्, नीलादिस्वलक्षणदर्शनवत्,
निर्विकल्पकत्वाविशेषात् ।

४०२. वस्तुदर्शनसमारोपव्यवच्छेदयोरन्यतरस्यापि स्वतस्तत्त्वापरिनिष्ठितावितरेतराश्रयदोषः,
समारोपो हि येन व्यवच्छिद्यते स निश्चयः । स्वरूपमनिश्चिन्वन्नपि यदि स्वतः परिनिष्ठापयेत्तदा वस्तुदर्शनमपि,
विशेषाभावात् । तथा च किं निश्चयापेक्षया ? वस्तुदर्शनस्य निश्चयापेक्षायां वा निश्चयस्वरूपसंवेदनस्यापि
निश्चयान्तरापेक्षणादनवस्था स्यात् । निश्चयाद्वस्तुदर्शनस्य परिनिष्ठितौ वस्तुदर्शनाच्च निश्चयस्वरूपस्य
परस्पराश्रयदोषः स्यात् । ततो न विकल्पवच्छब्दस्य सर्वथान्यापोहोर्थः ।

४०३. एतेनातत्कार्यकारणव्यावृत्तिरेकप्रत्यवमर्शादिज्ञानादेकार्थसाधने हेतुरत्यन्तभेदेपीन्द्रियादिवत् समुदिततरगुडूच्यादिवच्च ज्वरोपशमनादाविति वदन्निराकृतः, सर्वथा ततो वस्तुनि प्रवृत्त्ययोगात् ।

४०४. समयादर्शिनोपि क्वचिदन्वयबुद्ध्यभिधानव्यवहारोऽतत्कार्यकारणव्यतिरेकव्यवस्थायां गुडूच्याद्युदाहरणप्रकल्पितं विपर्यासयति, तस्य वस्तुभूतार्थसादृश्यपरिणामसाधनत्वात् । न हि गुडूच्यादयो ज्वरोपशमनशक्तिसमानपरिणामाभावे ज्वरोपशमहेतवो न पुनर्दधित्रपुषादयोपीति शक्यव्यवस्थं, चक्षुरादयो वा रूपज्ञानहेतवस्तज्जननशक्तिसमानपरिणामविरहिणोपि न पुना रसादय इति निर्निबन्धना व्यवस्थितिः । अतत्कार्यकारणव्यावृत्तिनिबन्धना सा, इति चेत्, कथं तत्कारणकार्यजन्यजनकशक्तिसमानपरिणामाभावेपि केषांचिदतत्कारणकार्यव्यावृत्तिः सिध्येदिति प्रकृतमुदाहरणं कर्कादिव्यक्तीनामश्वादिप्रत्ययं तथा समानपरिणामहेतुकं साधयति ? इति विपर्याससाधनमन्यापोहवादिनाम् । ततोऽमीषामन्यापोहसामान्यमसदवक्तव्यमेव ।

४०५. एतेन स्वलक्षणान्यापोहद्वयं सदसदवक्तव्यमेव सौगतानामापादितमुन्नेयं, स्वलक्षणस्य सतोप्यन्यापोहस्य चासतोपि वक्तुमशक्यत्वात् । इति परमतापेक्षया चरमभङ्गत्रयमुदाहृतम् ।

४०६. नन्वस्तित्वमेव वस्तुनः स्वरूपम्, न पुनर्नास्तित्वम्, तस्य पररूपाश्रयत्वात्, अन्यथातिप्रसङ्गात् इति वदन्तं वादिनं प्रत्याहुराचार्याः—

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।

विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेदविवक्षया ॥१७॥

४०७. एको धर्मो जीवादः । तत्रास्तित्वं नास्तित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि, न पुनर्भिन्नाधिकरणम्, विशेषणत्वात्, यथा हेतौ साधर्म्यं वैधर्म्येण भेदविवक्षया सर्वेषां हेतुवादिनां क्वचिदनुमानप्रयोगे प्रसिद्धम् । सर्वस्य नित्यत्वानित्यत्वादिसाधने हेतौ साधर्म्यस्य व्यतिरेकाविनाभाविनोऽसंभवादयुक्तमुदाहरणम्, इति चेत्, न, तत्रापि तदुभयसद्भावात् । तथा हि—सर्वमित्थमनित्यं वेति प्रतिज्ञायाऽभिप्रेत्य वा प्रमेयत्वादिहेतूपादानेपि व्यतिरेकोस्त्येव, प्रमेयत्वस्य वस्तुधर्मत्वात् । परिणामी जीवः शब्दादिर्वा नापरिणामीति वा, सर्वं चेतनमचेतनं वा विवादापन्नमित्थमनित्यं वा प्रतिज्ञाप्रयोगवादी प्रतिपाद्यानुरोधतः प्रतिज्ञाय, सौगतप्रतिपाद्याशयतोभिप्रेत्य वा, प्रमेयत्वात्, सत्त्वात्, वस्तुत्वात्, अर्थक्रियाकारित्वात् इत्यादिहेतूनामुपादानेपि वादिप्रतिवादिप्रसिद्धेऽर्थेन्वयवत्, खपुष्पादौ साध्यधर्मनिवृत्तौ साधनधर्मनिवृत्तिलक्षणो व्यतिरेकोस्त्येव । खपुष्पादयोपि तत्र व्यवहारमिच्छता प्रमेयाः प्रतिपत्तव्या इति न किञ्चित्प्रमाणं प्रमेयाभावस्यापि तथाभावानुषङ्गेनाव्यवस्थाप्रसङ्गात् । न चैतद्विरुद्धम् स्वलक्षणमनिर्देशम्, इत्यादिवत् । न हि स्वलक्षणस्यानिर्देशस्याप्यनिर्देशशब्देन निर्देशे विरोधोऽस्ति । नापि प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि कल्पनापोढत्वेन कल्पयतः किञ्चिदिरुध्यते, सर्वथा तद्व्यवहारापह्नवप्रसङ्गात् । तथैव खपुष्पादयोऽप्रमेया इति व्यवहरतोपि न तेषामप्रयमेयत्वं विरुध्यते, तत्रमितौ प्रमाणाभावात्,

प्रमेयाभाववत् । तदभावेपि^{५८४३} खपुष्पादीनां प्रमेयत्वं प्रमेयाभावस्यापि प्रमेयत्वानुषङ्गः । तथा च प्रमेयतदभावव्यवस्था कथमास्थीयेत ? एतेन खपुष्पादयः प्रमेयाः शब्दविकल्पविषयत्वात्, घटादिवत्, इत्यनुमानं प्रत्युक्तम्, हेतोः प्रमेयाभावेन व्यभिचारात् । प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमीयमाणत्वात्प्रमेयाः खपुष्पादय इति चेन्न, असिद्धत्वात्साधनस्य । तथा हि—न तै^{५८४५} प्रत्यक्षेण प्रमीयमाणाः, तत्र स्वाकारानर्पकत्वात् । नाप्यनुमानेन, स्वभावकार्यप्रतिबन्धाभावात् । स्वभावेन^{५८४६} केनचित्तेषां प्रतिबन्धे निस्स्वभावत्वविरोधात् । कार्येण च प्रतिबन्धेऽनर्थक्रियाकारित्वव्याघातात् सन्तः खपुष्पादयो व्यवहियेरन् । दर्शने^{५८४७} स्वाकारमनर्पयता स्वभावकार्यप्रतिबन्धाभावे प्रमेयत्वं प्रमाणान्तरमवश्यमाकर्षति । ततो विप्रतिषिद्धमेतत्, खपुष्पादीनां प्रमेयत्वं प्रमाणद्वयनियमविरोधात् । न च प्रमाणान्तरेणापि प्रमीयमाणास्ते, प्रमाणविषयत्वधर्मस्यानाश्रयत्वात् । अन्यथा वस्तुत्वापत्तेः^{५८४८} सदसद्व्यवस्थानुपपत्तेस्तद्व्यवहाराभावः । न च स्वलक्षणमेवान्यापोहः^{५८४९} सर्वथा विधिनियमयोरेकतानत्वासंभवात् । पुष्परहितं खमेव खे पुष्पाभावः, शशादय एव च विषाणरहिताः शशादिषु विषाणाभाव इत्येकविषयौ खशशादितत्पुष्पविषाणविधिनियमौ संभवत एवेति चेन्न, गगनशशादीनां^{५८५०} भावाभावस्वभावभेदाद्विधिनियमोपलब्धेश्च, अन्यथानुभवाभावात् । शब्दविकल्पविशेषात्संकेतविशेषापेक्षादेकत्र विषये विधिनियमयोः संभव इति चेन्न, संकेतविशेषस्य वस्तुस्वभावविशेषनिबन्धनत्वात् । तत्स्वभावभेदाभावे च संकेतविशेषानुपपत्तेरभिधानप्रत्ययविशेषोपि मा भूत्, तदन्यतरवत् ।

४०८. नन्विन्द्रस्वभावेपि पदार्थे व्यवहर्तृसंकेतविशेषादिन्द्राभिधानप्रत्ययविशेषदर्शनात्, न वस्तु स्वभावभेदनिबन्धनः संकेतविशेषः सिद्धः, यतो वस्तुस्वभावभेदाभावे संकेतविशेषानुपपत्तिः, ततोभिधानप्रत्ययविशेषश्च न स्यात् । खमस्ति, तत्पुष्पं नास्तीति तस्यानादिवासनोद्भूतविकल्पपरिनिष्ठितत्वात्, इति कश्चित्, सोप्यननुभूतवस्तुस्वभावः शब्दस्य सर्वार्थप्रतिपादनशक्तिवैचित्र्यसिद्धेः पदार्थस्य च सर्वस्य सर्वशब्दवाच्यत्वशक्तिनानात्वात् प्रधानगुणभावादभिधानव्यवहारप्रसिद्धेः । क्वचित्पदार्थेऽनिन्द्रस्वभावे-
ऽपीन्द्रशब्दवाच्यत्वशक्तिसद्भावाद्व्यवहर्तृसंकेतविशेषादिन्द्राभिधानप्रत्ययविशेषसिद्धेर्वस्तुस्वभावभेदनिबन्धन एव संकेतविशेष इति न तदभावे भवितुमुत्सहते, यतः प्रत्ययविशेषः स्यात् । कथमन्यथा खपुष्पवत्त्वेपि नास्तीति प्रत्ययो न भवेत् ? खवद्वा खपुष्पेऽस्तीति प्रत्ययः कुतो न स्यात् ? तयोरन्यतरत्रोभावपि प्रत्ययौ कुतो न स्याताम् ? संकेतविशेषस्य सर्वथा वस्तुस्वभावभेदानपेक्षस्य संभवात् । प्रतिनियतश्च विधिनियमप्रत्ययविशेषः सकलबाधकविकलः संलक्ष्यते । ततो यावन्ति पररूपाणि प्रत्येकं तावन्तस्ततः परावृत्तिलक्षणाः स्वभावभेदाः प्रतिक्षणं प्रत्येतव्याः, स्वलक्षणमेवान्यापोह इति व्यवस्थापयितुमशक्तेः, तस्य संबन्ध्यन्तरापेक्षत्वात् । न च संबन्ध्यन्तराणि स्वलक्षणस्य स्वरूपभूतान्येव, तेषां पररूपत्वात्, अन्यथा ततः परावृत्तेरनुपपत्तेः । पररूपाण्यपि यदि संबन्ध्यन्तराणि भावस्वभावभेदकानि न स्युस्तदा नित्यत्वेपि कस्यचित्संबन्ध्यन्तरेषु कादाचित्केषु क्रमशोर्थक्रिया न वै विप्रतिषिध्येत । शक्यं हि वक्तुम्, क्रमवर्तीनि कारणानि तत्तन्निर्वर्तनात्मकानीति नित्यं स्वभावं न वै जहाति,

क्षणिकसामग्रीसन्निपतितैकतमवत्^{५११०} । तदेतत्तदा तत्तत्कर्तुं समर्थमेकं स्वभावमविचलितं^{५१११} बिभ्राणं सहकारिकारणानि स्वभावस्याभेदकानि नानाकार्यनिबन्धनानि कादाचित्कानि^{५११२} प्रतीक्षत इति । न चैवं वचने विषममुदाहरणम्, क्षित्युदकबीजत्वादिसामग्र्यामन्त्यक्षणप्राप्तायां सन्निपतितस्यैकतमस्य कारणस्य शेषेषु कारणेषु यवाङ्कुरादिकार्यनिर्वर्तनात्मकेषु सत्स्वपि स्वभावाभेदस्य क्षणिकवादिनः सिद्धत्वात् ।

४०९. तदिमे^{५११६} विधिप्रतिषेधाभ्यां संप्रतिबद्धा न प्रतिबन्धमतिवर्तन्ते वस्तु^{५११७} एव । ततो न संवृतिस्तद्व्यवहाराय भेदमावृत्त्य तिष्ठतीति युक्तं^{५११८} म, विधिप्रतिषेधसंबन्धशून्यस्य भेदस्य स्वलक्षणलक्षणस्य साक्षादध्यक्षतोनुपलक्षणात् । तथाऽनुमानादप्यप्रतिपत्तेर्विधेः प्रतिषेधस्य चापह्नवे व्यवहाराघटनात्, संवृतेस्तमावृत्त्य स्थितिविरोधात्, परमार्थत एव भावस्यानेकस्वभावस्य प्रतीतेः ।

४१०. तदनैकस्वभावाभावे विनिर्भासासंभवादात्मनि परत्र चासंभविनमाकारमादर्शयतीति मुग्धायते^{५१२०}, सर्वत्रासहायरूपानुपलब्धेः । जातुचित्रिरंशरूपोपलब्धौ हि नानारूपोपलब्धिः संवृतिरात्मनि परस्मिन्नाविद्यमानमाकारं दर्शयतीति युक्तं वक्तुम्, नान्यथा^{५१२१}, अतिप्रसङ्गात् । यदि पुनरनाद्यविद्योदयादखिलजनस्यासहायरूपानुपलब्धिर्जातितैमिरिकस्यैकचन्द्रानुपलब्धिवत्, इति मतं, तदा—

गुणानां^{५१२२} सुमहद्रूपं^{५१२३} न दृष्टिपथमृच्छति ।

यत्तु दृष्टिपथप्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम् ॥१॥

सर्वं पुरुष एवेदं नेह नानास्ति किञ्चन ।

आरामं तस्य पश्यन्ति न तं कश्चन पश्यति ॥२॥

इत्यपि किन्न स्यात्, सर्वथाप्यविशेषात् ।

४११. तदियं संवृतिः सामान्यसामानाधिकरण्यविशेषणविशेष्यभावादिव्यवहारनिर्भासान् बिभ्रता स्वयमनेकरूपतां प्रतिक्षिपन्त व्यवस्थापयति, तामन्तरेण सामान्यादिव्यवहारनिर्भाससंवृत्यनुपपत्तेः । तद्भावान्तराणामनेकान्तात्मकत्वे वास्तवी साधर्म्यवैधर्म्यादिस्थितिरविशेषेण विकल्पबुद्धेर्मिथ्यात्वं प्रतिजानन्तं प्रतिक्षिपत्येव, संवृतेः स्वरूपेऽनेकान्तात्मकत्वं न तु ततोऽन्येषां भावानामिति विभावयितुमशक्तेः । ततो न स्वलक्षणमेवान्यापोहः संभवति, येन खपुष्पादयः प्रमेयाः स्युः । यत्पुनरेतदन्यतो व्यावृत्तिरनात्मिकेवेति तत्र, चक्षुरादिज्ञानस्य निर्व्यवसायात्मकस्य स्वयमभूताविशेषात्, निर्णयस्य भावस्वभावासंस्पर्शिनः सर्वथा वस्तुतत्त्वापरिच्छेदादिदमित्थमेवेति स्वयमेकान्तानुपपत्तेः । सोयं चक्षुरादिज्ञानाद्वस्तुतत्त्वमध्यवस्यन् सकलविकल्पाध्यवसेयामन्यव्यावृत्तिं सर्वथानात्मिकामाचक्षाणः कथमिदमेव वस्तुतत्त्वमित्थमेवेति वा स्वयं प्रतिपद्येतान्य वा प्रतिपादयेदिति सविस्मयं नञ्ज्ञेतः ।

४१२. अतोयं भावः—स्वभावभेदान् विधिप्रतिषेधविषयान्बिभ्राणः प्रत्यक्षेतरप्रमाणसमधिगतलक्षणः प्रतीयेत प्रमेयः, खपुष्पादयस्त्वप्रमेया इति प्रमेयत्वादिहेतावपि व्यतिरेको विद्यते एव । सर्वस्य परिणामित्वादौ साध्ये सपक्षेन्वयो न संभवत्येवेति चेन्न, अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्य तथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य

सद्भावादन्त्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत् । न हि दृष्टान्तधर्मिण्येव साधर्म्यं वा हेतोः प्रतिपत्तव्यमिति नियमो युक्तः, सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात् । यतश्चैवं सर्वत्र हेतौ साधर्म्यं वैधर्म्येणाविनाभावि प्रसिद्धमुदाहरणम् तस्माद्यद्विशेषणं तत्प्रतिषेध्याविनाभावि क्वचिद्धर्मिणि, यथा साधर्म्यं भेदविवक्षया कृतकत्वादौ, विशेषणं चास्तित्वं, ततः प्रतिषेध्यधर्मप्रतिबन्धि इत्यनुमानमनवद्यमवतिष्ठते, हेतोरसिद्धताद्यनुपपत्तेः साध्यसाधनधर्मवैकल्याभावाच्च निदर्शनस्य प्रत्यक्षादिविरोधावाच्च पक्षस्येति प्रतिपत्तव्यम् ।

४१३. भवतु तावदस्तित्वं जीवादौ नास्तित्वेनाविनाभावि । नास्तित्वं तु कथमस्तित्वाविनाभावि, खपुष्पादौ कथंचिदप्यस्तित्वासंभवात्, इति मन्यमानान्प्रत्याहुः—

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।

विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेदविवक्षया ॥१८॥

४१४. कृतकत्वादौ हेतोः शब्दानित्यत्वादिसाधने सधर्मणा साधर्म्येणाविनाभावि विशेषणं विपक्षे वैधर्म्यमुदाहरणं प्रसिद्धं तावत्तज्जीवादावेकधर्मिणि पररूपादिभिर्नास्तित्वं स्वरूपादिभिरस्तित्वेनाविनाभावि साधयत्येव, विशेषणत्वसाधनस्यानवद्यत्वात्, पक्षीकृते नास्तित्वे विशेषणत्वस्य भावादस्तित्ववत्, विपक्षे च स्वप्रतिषेध्याविनाभावरहिते क्वचिदप्यभावात्, तथा तस्य विशेषणत्वानुपपत्तेरित्यसिद्ध-विरुद्धानैकान्तिकत्वदोषाभावात्, दृष्टान्तस्य च साध्यसाधनवैकल्यादिदोषासंभवात्, साधर्म्यस्यैव हेतौ भेदविवक्षया वैधर्म्यस्याभेदविवक्षयाऽविनाभावित्वनिश्चयात्, तत्र भेदविवक्षावदभेदविवक्षायाः परमार्थसद्वस्तु-निबन्धनत्वात् । भेदाभेदविवक्षयोरवस्तुनिबन्धनत्वे विपर्यासोपि किं न स्यात् ? शब्दानित्यत्वसाधने कृतकत्वादिहेतौ घटादिभिर्भेदविवक्षा गगनादिभिरभेदविवक्षा हि विपर्यासः । स च परैर्नेष्यते एव । तदिष्टौ शब्दानित्यत्वसाधनाद्धेतोर्विपर्यासः स्यात्, विरुद्धत्वोपपत्तेः । सोऽयं कृतकत्वादेः साधनस्याविरुद्धत्वमुपयंस्तत्र भेदाभेदविवक्षयोर्विपक्षेतरापेक्षयोर्वस्तुनिबन्धनत्वमुपगन्तुमर्हति । ततः समञ्जसमेतत्, यत्किञ्चिद्विशेषणं तत्सर्वमेकत्र प्रतिपक्षधर्माविनाभावि, यथा वैधर्म्यम-भेदविवक्षया हेतौ, तथा च नास्तित्वं विशेषणमित्यनुमानम्, साध्यसद्भावे एव साधनस्य सद्भावनिश्चात्, अन्यथा व्यवहारसंकरप्रसङ्गात्, करभत्वस्य करभवद्वयपि सद्भावानुषङ्गात्, दधित्वस्य च दधनीव करभेपि प्रसक्तेः । दधि खादेति चोदितः करभमभिधावेत करभवद्वा दध्यपि नाभिधावेत, अदधित्वस्याकरभत्वस्य च क्वचिदप्यभावात्, इति प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणो व्यवहारः संकीर्येत, सर्वस्य सर्वथा सद्भावात् । यदि पुनर्दधि स्वरूपेण दधित्वं न करभरूपेण करभे च स्वरूपेण करभत्वं न दधिरूपेण यतः प्रवृत्त्यादिव्यवहारसंकरः प्रसज्येतेति मतं तदा सिद्धं दधित्वमदधित्वेन प्रतिषेध्येनाविनाभावि करभत्वं चाकरभत्वाविनाभावि, तद्वत्तत्सर्वं विशेषणं स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावि । इति सिद्धान्त्यथानुपपत्तिः, विपक्षे बाधकसद्भावात् । न हि स्वेच्छाप्रवृत्तधर्मधर्मव्यवस्थायां परमार्थावतारः स्यात्, यतः सर्व एवायमनुमानानुमेयव्यवहारो

बुद्ध्यारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन न बहिः सदसत्त्वमपेक्षते इति युक्तं भवेत् । तदसमीक्षिततत्त्वार्थैर्लोकप्रतीतिवशाद्भेदाभेदव्यवस्थितिस्तत्त्वप्रतिपत्तये समाश्रीयते इति बालाभिलाषकल्पं भावस्वभावोपरोधात्सर्वत्र भेदाभेदव्यवस्थितेः, अन्यथा ततस्तत्त्वप्रतिपत्तेरयोगात् ।

४१५. ननु चास्तित्वं च विशेषणमेव, न तु विशेष्यम् । ततो न साध्यसाधनधर्मयोः परमार्थ-सतोरधिकरणं येन प्रकृतमनुमानद्वितयं वास्तवं धर्मधर्मिन्यायेन स्यात्, इत्येकं । न तत्सर्वथाभिलाष्यं, वस्त्वस्तित्वरूपस्यापनभिलाष्यत्वात्, इति चान्ये । जीवादेर्वस्तुनोऽत्यन्तमर्थान्तरमेव तत्, प्रतिभासभेदाद् घटपटवत् । न पुनरस्तित्वनास्तित्वात्मकं वस्तु, धर्मधर्मिसंकरप्रसङ्गात्, इति चापरे । तान् प्रत्याचार्याः प्राहुः—

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः ।

साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥१९॥

४१६. विधेयमस्तित्वम् । प्रतिषेध्यं नास्तित्वम् । विधेयं च प्रतिषेध्यं च विधेयप्रतिषेध्ये, ते आत्मानौ स्वभावौ यस्य स विधेयप्रतिषेध्यात्मा, अर्थः सर्वो जीवादिरिति पक्षः, विशेष्यत्वादिति हेतुः, विशेष्य इति हेतुनिर्देशात्, गुरवो राजमाषा न भक्षणीया इति यथा । साध्यो धर्मो, साध्यधर्माधारतया तस्य साध्यव्यपदेशात्, यथोपचारस्य दृष्टान्तधर्मव्यवच्छेदार्थत्वात् । तस्य धर्मो विवर्त उत्पत्तिमत्त्वादिः । स यथा हेतुरनित्यत्वसाध्यापेक्षया, नित्यत्वसाध्यापेक्षयाऽहेतुश्च, गमकत्वागमकत्वयोगात्, तथा साध्याविनाभावेतरसद्भावात्, इति दृष्टान्तः । इत्यनुमानात्सत्त्वेतरात्मकः कथंचिज्जीवाद्यर्थः सिद्ध्यत्येव । हेतार्विशेष्यत्वस्यासिद्धिरिति चेन्न, विशेष्योऽसौ, शब्दगोचरत्वात् तद्वदित्यनुमानात्तस्य विशेष्यत्वहेतोः साधनात् । शब्दगोचरत्वमसिद्धमर्थस्येति चेन्न, शब्दगोचरो जीवादिः, विशेष्यत्वात्, तद्वत्, इत्यनुमानात्तस्य साधनात् । न चैवमितरेतराश्रयदोषः, सर्वथानभिलाष्यवस्तुवादिनः प्रति शब्दगोचरत्वे साध्ये विशेष्यत्वस्य हेतुत्ववचनात्, सर्वथा वाऽविशेष्यत्ववादिनः प्रति शब्दगोचरत्वस्य साधनत्वाभिधानात्, तदुभयासत्त्ववादिनस्तु प्रति वस्तुत्वस्योभयप्रसिद्धस्य हेतोः सामर्थ्यतः प्रयोगात् । विधेयप्रतिषेध्यात्मकत्वस्यापि तान्त्रितं तत एव सिद्धिः । इति समासतः कारिकार्थः समवतिष्ठते ।

४१७. ननु च प्रत्यक्षबुद्धौ वस्तु स्वलक्षणमेव प्रतिभाति, न पुनरस्तित्वादिविशेषणं, तस्य सकलविकल्पविकलत्वात्, विकल्पबुद्धौ तद्व्यवहारप्रसिद्धेः, इति चेन्न, वस्तुनोस्तित्वाद्यनेकविकल्पात्म-कस्य सांशस्यैव प्रतीतेः । किञ्चित्केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं विशेषणविशेष्यतत्संबन्धलोकस्थितिसंकलनेन गृह्येत नान्यथेत्यभिनिवेशोऽपि वस्तुनो विधिप्रतिषेधस्वभावयोः प्रत्येकं दर्शनमवश्यंभावि, वस्तुन एव दर्शनं न तद्विधिप्रतिषेधस्वभावयोर्विशेषणयोरिति वक्तुमशक्तेः, सदसत्त्वभावशून्यस्य स्वलक्षणस्य दर्शने तत्पृष्ठभावविकल्पेनापि सदसत्त्वयोरध्यवसायायोगात् पीतदर्शनपृष्ठभाविना विकल्पेन नीलत्वा-ध्यवसायायोगवत् । ततो विधिप्रतिषेधावात्मनो विशेष्यस्य सविकल्पकत्वं साध्यतः, सर्वथा तस्य भेदाभावे

सदिदमसदिदमिति प्रत्येकं दर्शनाभावानुषङ्गात्, इदमुपलभे नेदमिति विकल्पोत्पत्तिविरोधात् । ततः सामान्यविशेषात्मकं वस्तु स्वलक्षणम्, न पुनः सकलविकल्पातीतं विशेषमात्रं सामान्यमात्रं वा पदस्परनिपेक्षं तदुभयं^{६०६८} वा स्वलक्षणम्, तस्य तेन रूपेणाव्यवस्थितत्वात्, सामान्यविशेषात्मन एव जात्यन्तरस्य वस्तुस्वरूपत्वात्, तेनैव^{६०६९} लक्ष्यमाणस्य^{६०७०} स्वलक्षणत्वप्रसिद्धेः सकलबाधकवैधुर्यात् । कः पुनर्विधेयप्रतिषेध्ययोर्धर्मौ स्यादाश्रयभूतः, तयोस्तेन^{६०७१} संबन्धो^{६०७२} येन विशेषणविशेष्यभावः स्यादिति चेदुच्यते । अस्तित्वनास्तित्वयोर्धर्मौ सामान्यम् । तत्र तादात्म्यलक्षणः^{६०७३} संबन्धः, संबन्धान्तरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात्, तत्रैतत्सारम्, जात्यादिमतामेतन्न संभवत्येवेति, तदभावे^{६०७४} एवासंभवात्, विशेषणविशिष्टवस्तुग्रहणस्य^{६०७५} विशेषणं सत्त्वादिसामान्यं पूर्वं गृहीत्वा तदनन्तरं^{६०७६} विशेष्यं गृह्णाति, ततस्तत्सम्बन्धं^{६०७७} समवायं लोकस्थितिं च विशेषणविशेष्यव्यवहारनिबन्धनां, ततस्तत्संकलनेन सदिदं वस्तु” इति प्रतीतिक्रमस्यैव दुर्घटत्वात्, विशेषणविशेष्यात्मकस्य सामान्यविशेषरूपस्य वस्तुनो जात्यन्तरस्य यथाक्षयोपशमं प्रत्यक्षे परोक्षे च विज्ञाने निर्बाधमनुभवात्, तद्विपरीतस्य जातुचिदप्रतीतेः ।

४१८. तथा^{६०८०} सति नैकान्ते दर्शनविकल्पाभिधानानां विषयभेदोस्ति कथंचित्प्रतिभासभेदेपि^{६०८१} प्रत्यासन्नेतरपुरुषदर्शनवत्, प्रतिभासभेदाद्विषयभेदे^{६०८२} योगीतरप्रत्यक्षयोरेकविषययोरपि विभिन्नविषयत्व-^{६०८३} प्रसङ्गात् ।

४१९. एतेन^{६०८४} धूमादिकृतकत्वादिसाध्यधर्मिधर्मस्य^{६०८५} साध्येतरापेक्षया हेतुत्वाहेतुत्वविशेषणात्मकस्य निदर्शनतयोपन्यस्तस्य प्रत्यक्षविषयत्वं निवेदितम् । तथाहि—धूमादयः^{६०८६} कृतकत्वादयो वा क्वचिदग्निमलिलयोर्विनाशेतरयोर्वा साधनेतरस्वभावाभ्यां साक्षात्क्रियेरन्, इतरथा विशेष्य-^{६०८७} प्रतिपत्तेरयोगात् । न हि धूमादीनामग्न्यादौ साध्ये साधनत्वं सलिलादावसाधनत्वं च विशेषणमप्रतिपद्यमानो विशेष्यान् धूमादीन् प्रतिपद्यते नाम, नापि कृतकत्वादीनां विनश्वरत्वे साध्ये साधनत्वमविनश्वरतवे चासाधनत्वं विशेषणमप्रतियन् कृतकत्वादिहेतून्विशेष्यान्प्रत्येतुमीशोः, यतोऽग्न्यादिविनश्वरशब्दादीन् साध्यानपि विशेष्यान् प्रतिपद्येत । प्रत्येति च तान् । ततोऽवश्यं साक्षात्कुर्वीत तद्धेतून्, साध्येतरापेक्षायां सत्यां साधनेतरास्वभावाभ्यां^{६०८८} तत्साक्षात्करणे विरोधाभावात् ।

४२०. अनपेक्षायां तु विरोधः, क्वचिदेकत्र साध्ये हेतूनां साधनत्वेतरयोरनुपलम्भात्^{६०८९} यतश्चैवं^{६०९०} प्रसिद्धमुदाहरणम्, वादिप्रतिवादिनोर्बुद्धिसाम्यात्, तस्माद्यदभिधेयं तद्विशेष्यम् । यथोत्पत्त्यादिरपेक्षया हेतुरहेतुश्च साध्येतरयोः । तथा च, विमत्यधिकरणं सत्त्वाभिधेयत्वादि,^{६०९१} तस्मात्साध्यसाधनधर्मविशेषणापेक्षया विशेष्यम् । इत्यनुमानादेकस्य विशेषणविशेष्यात्मकत्वविरोधनिरासः । यद्वा विशेष्यं तदभिलाष्यम्, यथोत्पत्त्यादि, विशेष्यं चास्तित्वादिवस्तुरूपम्, तस्मादभिलाष्यम्, इति वस्तुस्वरूपस्यानभिलाष्यत्वव्युदासः । यद्वा वस्तु तत्सर्वं विधेयप्रतिषेध्यात्मकम्, यथोत्पत्त्यादिरपेक्षया

हेतुरहेतुश्च साध्येतरयोः, तथा च विमत्यधिकरणं सत्त्वाभिधेयत्वादि । इत्यन्तदीपकं सर्वत्र योज्यं साधनं वस्तु च जीवादि । तस्माद्विधेयप्रतिषेध्यात्मकम् । इति क्रमार्पितसदसत्त्वोभयात्मकत्वसाधनम् । शेषभङ्गाः कथं नेतव्याः सूरिभिरित्याहुः—

शेषभङ्गाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगतः ।

न च कश्चिद्विरोधोस्ति मुनीन्द्र तव शासने ॥२०॥

४२१. स्यादस्ति स्यान्नास्तीति भङ्गद्वयमुपयुक्तम्, तदपेक्षया शेषत्वं भङ्गत्रयापेक्षं वा । विधेयप्रतिषेध्यात्मेत्यनेन^{६११४} तृतीयभङ्गस्य स्वप्रतिषेधेनाविनाभाविनोऽसाधने साधने चापेक्ष्यमाणे इत्यर्थः । यथोक्तनययोगत इति विशेषणत्वादीनाक्षिपति । तदनभिलाष्यादयोपि क्वचिद्धर्मिणि^{६११५} प्रत्यनीकस्वभावाविनाभाविनः प्रतीयन्ते, विशेषणत्वादिभ्यः^{६११६} । पूर्वोक्तमुदाहरणम् । यथैव हि वस्तुनोस्तित्वं नास्तित्वं तदुभयं च प्रतिषेधेन स्वप्रत्यनीकेनाविनाभावि, विशेषणत्वाद्विशेष्यत्वाच्छब्दगोचरत्वाद्वस्तुत्वाच्च साधर्म्यवद्वैधर्म्यवत्क्वचिद्धेतौ^{६११७} हेतुत्वेतरत्ववच्च । साध्यते चाऽवक्तव्यत्वं वक्तव्यत्वेन^{६११८} प्राच्यभङ्गत्रयरूपेण, सदवक्तव्यत्वमसदवक्तव्यत्वेनासदवक्तव्यत्वमपि सदवक्तव्यत्वेन, सदसदवक्तव्यत्वमपि पञ्चमषष्ठभङ्गात्मनानुभयावक्तव्यत्वेनाविनाभावि साधनीयम्, यथोक्तानां^{६११९} हेतूदाहरणरूपनयानां घटनात् । न चैव सति किञ्चिद्विप्रतिषिद्धम्, अन्यथैव विरोधात् । अवक्तव्यत्वादेः स्वप्रत्यनीकस्वभावाविनाभावाभावप्रकारेणैव हि प्रत्यक्षादिविरोधः समनुभूयते, तथा सकृदप्यनुपलम्भात्^{६१२०} ।

४२२. तदनेन न च कश्चिद्विरोधोस्तीति मुनीन्द्र तव शासने, अन्यशासनेष्वेव विरोधसाधनादिति व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम् ।

साम्प्रतमव्यवस्थितानेकान्तात्मकं वस्तु सप्तभङ्गीविधिभागाऽर्थक्रियाकारि, न पुनरन्यथा, इति स्वपरपक्षसाधनदूषणवचनमुपसंहरन्तः प्राहुः—

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् ।

नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरूपाधिभिः ॥२१॥

४२३. एवं प्रतिपादितनीत्या सप्तभङ्गीविधौ विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितं जीवादिवस्तु सदेवासदेव वा, इति अव्यवस्थितमर्थकृत् कार्यकारि प्रतिपत्तव्यम् । नेति चेदेवं वस्तु परैरभ्युपगम्यते तर्हि यथाभ्युपगतं कार्यं बहिरन्तरूपाधिभिः सहकार्युपादानकारणैर्निवर्त्य तथा न स्यात्, भावाद्येकान्ते सर्वथा कार्यप्रतिक्षेपात् । तत एवैव^{६१२१} व्याख्यानान्तरमुपलक्ष्यते । एवं प्रतिपक्षप्रतिक्षेपप्रकारेण विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितं कथंचिद्विधिप्रतिषेधावस्थितमेवार्थकृत् नेति चेन्न, यथा कार्यं (च) बहिरन्तः स्यादुपाधिभिरनन्तविशेषणैर्विशिष्टं, सर्वथा निरंशवस्तुनि सकलविशेषणाव्यवस्थितेः । सत्त्वाद्यन्यतममात्रे एव भङ्गे समवस्थितं कुतो नार्थकृदिति चेत्, उच्यते, सप्तभङ्गीविधौ स्याद्वादे विधिप्रतिषेधाभ्यां समारूढं वस्तु

सदसदात्मकमर्थक्रियाकारि, कथंचित्सत एव सामग्रीसन्निपातिनः स्वभावातिशयोक्त्येः सुवर्णस्यैव
 केयूरादिसंस्थानम्^{६१४८}। सुवर्णं हि सुवर्णत्वादिद्रव्यार्थदेशात् सदेव केयूरादिसंस्थानपर्यायार्थदेशाच्चासदिति^{६१४९}
 तथा परिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तः सामग्र्याः सुवर्णकारकव्यापारादि लक्षणायाश्च बहिः सामग्र्याः^{६१५०}
 सन्निपाते केयूरादिसंस्थानात्मनोत्पद्यते^{६१५१}। ततः सदसदात्मकमेवार्थकृत्। तद्वज्जीवादिवस्तु प्रत्येयम्। नेति^{६१५२}
 चेदित्यादिनैकान्तेऽर्थक्रियां प्रतिक्षिपति। न तावत्सतः पुनरुत्पत्तिरस्ति, तत्कारणापेक्षानुपरमप्रसङ्गात्। न
 चानुत्पन्नस्य स्थितिविपत्ती, सर्वथाप्यसत्त्वात्खपुष्यवत्। नाप्यसतः सर्वथोत्पत्त्यादयस्तद्वत्। तस्मात्
 सदेकान्तेऽसदेकान्ते चार्थक्रिया संभवति।

४२४. यदि पुनः सामग्र्याः प्रागविद्यमानस्य जन्म स्यात्, को दोषः स्यात्?^{६१५३}
 तन्निरन्वयविनाशेतरपक्षयोस्तदैकान्ताभावः प्रसज्येत। तस्या निरन्वयविनाशे निष्कारणस्य तथैवोत्पत्तिर्न^{६१५४}
 स्यात्। न हि निराधारोत्पत्तिर्विपत्तिर्वा, क्रियारूपत्वात्स्थितिवत्। नैतन्मन्तव्यं नोत्पत्त्यादिः क्रिया^{६१५५}
 क्षणिकस्य, तदसंभवात्। ततोऽसिद्धो हेतुः इति, प्रत्यक्षादिविरोधात्। प्रत्यक्षादिविरोधस्तावत्^{६१५६}
 प्रादुर्भावादिसमस्तश्चक्षुरादिबुद्धौ प्रतिभासनात्, तद्वद्व्या प्रादुर्भावविनाशावस्थानक्रियारहितसत्तामात्रोपगमस्य^{६१५७}
 बाधनात्। अन्यथा तद्विशिष्टविकल्पोपि मा भूत्। न हि दण्डपुरुषसंबन्धादर्शने दण्डीति विकल्पः स्यात्।^{६१५८}
 तथाविधपूर्वतद्वासनावशात्प्रादुर्भावाद्यदर्शनेपि तद्विशिष्टविकल्प इति चेन्न, नीलसुखादेरदर्शनेपि तद्विकल्पप्रसक्तेः,^{६१५९}
 ततस्तदव्यवस्थापनविरोधात्। निरालम्बनविज्ञानमात्रोपगमेपि सन्तानान्तरस्वसंतानपूर्वापरक्षणाज्ञानेपि^{६१६०}
 तद्विकल्पोत्पत्तौ कुतस्तदव्यवस्था?

४२५. संवेदनाद्वैतोपगमेपि संविदद्वैताभावेऽपि तद्वासनाबलात्संवित्स्वरूपप्रतिभाससंभवात्कथं स्वरूपस्य^{६१६१}
 स्वतो गतिः सिध्येत्? सत एव संवित्स्वरूपस्य तथा वासनामन्तरेण स्वतो गतौ^{६१६२}
 स्वसंतानपूर्वापरक्षणसंतानान्तरबहिरर्थजन्मादिक्रियाविशेषाणां सतामेव दर्शनाद्विकल्पोत्पत्तिर्युक्ता, इति^{६१६३}
 नोत्पत्त्यादीनां क्रियात्वमसिद्धम्, यतस्तन्निराधारत्वप्रतिषेधो न सिद्ध्येत्। ततो न प्रागसतोऽप्युत्पत्तिः संभवति।^{६१६४}
 निरन्वयमविनाशे प्रागसत उत्पत्तिरित्ययमपि पक्षो न क्षेमङ्करः, स्याद्वादाश्रयणप्रसङ्गात्, असत्कार्यवादविरोधात्।^{६१६५}
 ततः सूक्तं 'यदेकान्तेन सदसद्वा तन्नोत्पत्तुमर्हति, व्योमवन्ध्यासुतवत्' इति। न ह्येकान्तेन सदव्योमोत्पद्यते^{६१६६}
 नैमि, नाप्येकान्तेनासन् वन्ध्यासुत इति न साध्यसाधनविकलमुदाहरणम्।

४२६. कथमिदानीमनुत्पन्नस्य गगनादेः स्थितिरिति चेत्, न, अनभ्युपगमात्, सर्वथा^{६१६७}
 गगनाद्यनुत्पादस्य। केवलमिह व्योम्नो द्रव्यनयापेक्षया परप्रसिद्ध्या चोदाहरणं प्रतिपादितम्। ततो न^{६१६८}
 पूर्वापरविरोधः, पूर्वं सर्वथानुत्पत्तिमत्तः स्थितिप्रतिषेधसाधनात्। द्रव्यतोनुत्पद्यमानस्यैव स्थितिघटनात्। ततो^{६१६९}
 यदर्थक्रियाकारि तद्विधिप्रतिषेधकल्पनोपकल्पितसप्तभङ्गीविधौ समारूढं विध्येकान्तादौ वानवस्थितं, सदाद्येकान्ते^{६१७०}
 सर्वथार्थक्रियाविरोधात्, इति सूचितम्।

४२७. नन्वेवं सुनयार्पितस्य विध्यंशस्य निषेधांशस्य चार्थक्रियाकारित्वे तेन व्यभिचारी^{६१७१}

हेतुः, तस्य सप्तभङ्गीविधावसमारूढत्वात्, अनस्थानवस्थानात् तस्यानर्थक्रियाकारित्वे सुनयस्या-
वस्तुविषयत्वप्रसक्तेः, वस्तुनोऽर्थक्रियाकारित्वात्, इति कश्चित्, तदयुक्तं सुनयार्पितस्यापि विधेरनिराकृत-
प्रतिषेधस्यार्थक्रियाकारित्वात्, अन्यथा दुर्गयार्पितत्वापत्तेः। न चासौ सप्तभङ्गीविधावसमारूढः,
भङ्गान्तराप्रतिक्षेपात्। तथा च नानवस्था नाम, विधावपि विध्यन्तरादिविकल्पनाऽभावात्। केवलं
विधिभङ्गे नास्तित्वादिभङ्गान्तरगुणीभावाद्विधिप्राधान्यम्, प्रतिषेधभङ्गे चास्तित्वादिभङ्गान्तरगुणी-
भावात् प्रतिषेधप्रधानतेति प्रमाणार्पितप्रधानरूपाशेषभङ्गात्मकवस्तुवाक्यात्रयवाक्यस्य विशेषः प्ररूपितप्राय
एव।

४२८. यदप्याह—जीवादिवस्तुनि सत्त्वद्वारेण प्रथमभङ्गात्प्रतिपत्तेः द्वितीयादिभङ्गानामानर्थक्यम्,
असत्त्वादिधर्माणामपि तदात्मनां तत एव प्रतिपत्तेरन्यथा तेषां वस्तुनोऽन्यत्वापत्तेः,
विरुद्धधर्माध्यासात्पटपिशाचवत्। तथा च तस्येति व्यपेक्षाभावः, संबन्धाभावात्। सत्त्वादिधर्माणां
धर्मिणा सहोपकार्योपकारकभावे धर्मिणोपकारो धर्माणां धर्मैर्वा धर्मिणः स्यात्? प्रथमपक्षे किमेकया
शक्त्या धर्मानुपकुरुतेऽनेकया वा? यद्येकया स्वात्मनोनन्यया धर्मो धर्मानुपकुरुते तदैकधर्मद्वारेण
नानाधर्मोपकारनिमित्तभूतशक्त्यात्मनो धर्मिणः प्रतिपत्तौ तदुपकार्यस्य सकलधर्मकलापस्य प्रतिपत्तेः
सकलग्रहः स्यात्, उपकार्याप्रतीतौ तदुपकारकप्रतीत्ययोगात्। एतेनानेकया स्वात्मनोनन्यया शक्त्या धर्मो
धर्मानुपकरोतीति पक्षान्तरमपि प्रतिक्षिप्तम्। धर्मो धर्मैरुपक्रियते इत्यस्मिन्नपि पक्षे
किमेकोपकार्यशक्त्यात्माऽनेकोपकार्यशक्त्यात्मा वेति पक्षद्वितयमप्यनेनैव निरस्तम्,
सकलधर्मकलापस्योपकारकस्याप्रतिपत्तौ तदुपकार्यशक्त्यात्मनो धर्मिणः प्रतिपत्त्यघटनात्,
सकलनिश्चयस्याविशेषात्। तदुक्तम्—

नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो ग्रहे।

सर्वात्मनोपकार्यस्य को भेदः स्यादनिश्चितः॥१॥ ()

एकोपकारके ग्राह्ये नोपकारास्ततोऽपरे।

दृष्टे तस्मिन्नदृष्टास्ते तद्ग्रहे सकलग्रहः॥२॥ इति ()

४२९. यदि पुनर्धर्माणामुपकारिकाः शक्तय उपकार्याश्च धर्मिणो भिन्ना एव, तदा ताभिस्तस्योपकारः
कश्चित्तेन वा तासां क्रियते न वेति पक्षद्वयम्? तत्र न तावदुत्तरः पक्षः, तद्व्यपदेशविरोधात्। प्रथमपक्षे तु
शक्तिभिः शक्तिमत उपकारेऽनर्थान्तरभूते स एव कृतः स्यात्। तथा च न शक्तिमानसौ, तत्कार्यत्वात्।
ततोर्थान्तरभूतेऽनवस्थाप्रसङ्गः, तद्व्यपदेशसिद्ध्यर्थमुपकारान्तरपरिकल्पनात्। शक्तिमता शक्तीनामुपकारे
शक्त्यन्तराणां कल्पनेऽनवस्थैव। तदकल्पने प्राच्यशक्तीनरमप्यव्यवस्थितिः। इति न शक्तिशक्तिमद्वयवहारः
सिद्ध्येत्। तदप्युक्तम्—

धर्मोपकारशक्तीनां भेदे तास्तस्य किं यदि ?
नोपकारस्ततस्तासां तथा स्यादनवस्थितिः ।। (इति)

४३०. तदपि सर्वमपाकुर्वन्तः सूरयः प्राहुः—

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः ।

अङ्गित्वेन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता ।। २२ ।।

४३१. धर्मो तावदनन्तधर्मा जीवादिः, प्रमेयत्वान्यथानुपपत्तेः ।

४३२. ननु च धर्मेण व्यभिचारः, तस्यानन्तधर्मत्वाभावेपि प्रमेयत्वसिद्धेः । तस्याप्यनन्तधर्मत्वे धर्मित्वप्रसङ्गात्, न धर्मो नाम । तदभावे न धर्मोऽप्युभयापायः । प्रमेयत्वस्य च साधनधर्मस्यानन्तधर्मशून्यत्वे तेनैवानेकान्तः । तस्यानन्तधर्मत्वे धर्मित्वेन पक्षान्तःपातित्वात् हेतुत्वम्, इत्युपालम्भो न श्रेयान्, धर्मस्यैव सर्वथा कस्यचिदसंभवात्तेन व्यभिचाराभावात् साधनस्य । न हि स्वधर्म्यपेक्षया यो धर्मः सत्त्वादिः, स एव स्वधर्मान्तरापेक्षो धर्मो न स्याद्यतोऽनन्तधर्मा न भवेत् । न चैवमनवस्थानम्, अनाद्यनन्तत्वाद् धर्मधर्मिस्वभावभेदव्यवहारस्य वलयवदभ्युपगमसंसारवद्वा । न च धर्मिणो जीवादेरपोदिध्रियमाणो धर्मः प्रमेयः, तस्य नयविशेषविषयतया प्रमाणाविषयत्वात्, इति न तेनानेकान्तः । एतेन प्रमेयत्वस्य धर्मस्य नयविषयस्य नेयत्वेनाप्रमेयत्वात्तेन व्यभिचारो निरस्तः । प्रमाणाविषयस्य तु प्रमेयत्वस्य हेतोः स्वधर्मपेक्षयानन्तधर्मत्वेन धर्मित्वात्पक्षत्वेपि न हेतुत्वव्याघातः, स्वपरानन्तधर्मत्वे साध्येऽन्यथानुपपत्तिसद्भावात् । ततोऽनन्तधर्मा धर्मो सिद्ध्यत्येव । तस्य धर्मे धर्मेऽस्तित्वादौ भिन्न एवार्थः प्रयोजनं विधानादिः । प्रवृत्त्यादिर्वा तदज्ञानविच्छित्तिर्वा, न पुनरेक एव, येन प्रथमभङ्गादेवानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुनः प्रतिपत्तेः शेषभङ्गानामानर्थक्यं प्रसज्येत । न च धर्मा धर्मिणोनर्थान्तरभूता एव, नाप्यर्थान्तरमेव येन तत्पक्षभाविदूषणप्रसङ्गः, कथंचिद् भेदाभेदात्मकत्वाद्धर्मिधर्माणां तदात्मकवस्तुनो जात्यन्तरत्वाच्चित्राकारैकसवेदनवत्, तत्र विरोधादेरप्यनवकाशात् । केवलमङ्गित्वे प्रधानत्वेषुस्तित्वादिशु धर्मेष्वन्यतमस्यान्तस्य धर्मस्य, शेषान्तानां स्याच्छब्दसूचितान्यधर्माणां तदङ्गता तद्गुणभावः, तथा प्रतिपत्तुर्विवक्षाप्रवृत्तेरर्थित्वाविशेषात् । ततो भङ्गान्तरप्रयोगो युक्त एव, प्रतिधर्म धर्मिणः कथंचित्स्वभावभेदोपपत्तेः ।

४३३. यदि पुनः प्रत्युपाधि परमार्थतः स्वभावभेदो न स्यात्तदा दृष्टेऽभिहिते वा प्रमाणान्तरमुक्त्यन्तरं वा निरर्थकं स्यात्, गृहीतग्रहणात् पुनरुक्तेश्च । तथाहि—साक्षादुपलब्धे शब्दादौ क्षणिकतवाद्यनुमानं स्वार्थं न स्यात् धर्मिप्रतिपत्तौ कस्यचिदप्रतिपन्नस्वभावस्य साधनस्याभावात्, सर्वथा स्वभावातिशयाभावात् । परार्थं चानुमानं वचनात्मकं न युज्येत, धर्मिवचनमात्रादेव साध्यनिर्देशसिद्धेः, साधनधर्मोक्तिसिद्धेश्च । तद्वचने पुनरुक्तताप्रसङ्गः, तस्य स्वभावातिशयाभावादेव—

^{६२७३} तस्मादष्टस्य ^{६२७४} भावस्य ^{६२७५} दृष्ट एवाखिलो गुणः ।
^{६२७६} भ्रान्तेर्निश्चीयते ^{६२७७} नेति ^{६२७८} साधनं ^{६२७९} संप्रवर्तते ॥

४३४. इत्येतदप्यनालोचितवचनमेव, दृष्टस्य ^{६२७९} भावस्य स्वभावातिशयाभावेऽखिलगुणदर्शनस्य विरोधात्, ^{६२८०} धर्ममात्रेऽप्यभ्रान्तौ ^{६२८१} साध्ये ^{६२८२} स्वभावे ^{६२८३} भ्रान्त्ययोगात्, ^{६२८४} तदभ्रान्तौ वा ^{६२८५} शब्दसत्त्वादावपि ^{६२८६} भ्रान्तिप्रसक्तेः ^{६२८७} कुतः ^{६२८८} साधनं ^{६२८९} संप्रवर्तते, यतोऽर्थनिश्चयः स्यात् ? शब्दसत्त्वादौ निश्चये च कथमनित्यत्वादावनिश्चयः ? स्वभावातिशयप्रसङ्गात्, निश्चितानिश्चितयोरेकस्वभावत्वे सर्वथातिप्रसङ्गात् ।

४३५. सदुत्पत्तिकृतकत्वादेः ^{६२९०} प्रत्येकस्वभावविशेषाभावाद् ^{६२९१} यावन्ति ^{६२९२} पररूपाणि ^{६२९३} तावन्त्यस्ततस्ततो ^{६२९४} व्यावृत्तयः ^{६२९५} प्रत्येकमित्येषां ^{६२९६} कल्पना ^{६२९७} मा भूत् । न हि किञ्चिदसदनुत्पत्तिमदकृतकत्वादि वा वस्तुभूतमस्ति ^{६२९८} सौगतप्रसिद्धं ^{६२९९} पररूपं ^{६३००} यतो ^{६३०१} व्यावृत्तं ^{६३०२} परमार्थतोऽस्वभावभेदमपि ^{६३०३} शब्दादिस्वलक्षणं ^{६३०४} सदुत्पत्ति- ^{६३०५} कृतकत्वादिस्वभावभेदवत्परिकल्प्यते । पराभ्युपगमात्सिद्धमस्तीति चेत्, न, तस्याप्रमाणसिद्धत्वात् । कल्पनारोपितं ^{६३०६} तदस्तीति ^{६३०७} चेत् ^{६३०८} कुतस्तत्कल्पनाप्रसूतिः ? अनाद्यविद्योदयादिति चेत्त एव ^{६३०९} सत्त्वादिधर्मकल्पनास्तु, ^{६३१०} किमसत्त्वादिव्यावृत्त्या ? ^{६३११} सदैव ^{६३१२} किञ्चिद्गुणीभूतविधिस्वभावं ^{६३१३} निषेधप्राधान्यादसदुच्यते, ^{६३१४} सदनन्तरविविक्तस्य ^{६३१५} सत ^{६३१६} एवासत्त्वव्यपदेशात् । ^{६३१७} तथोत्पत्तिमदन्तरविविक्तमुत्पत्तिमदेव ^{६३१८} किञ्चिदनुत्पत्तिमत्, ^{६३१९} कृतकान्तरविविक्तं ^{६३२०} कृतकमेवाकृतकं, ^{६३२१} वस्त्वन्तरविविक्तं ^{६३२२} वस्त्वेवावस्तुव्यवहृतिपथमुन्नीयते, इति ^{६३२३} चेन्न, ^{६३२४} परमार्थतः ^{६३२५} सत्त्वादिवस्तुस्वभाव- ^{६३२६} भेदप्रसिद्धेः, ^{६३२७} निस्वभावभेदवस्तुरूपाभ्युपगमविरोधात् । ^{६३२८} सतां हि ^{६३२९} स्वभावानां ^{६३३०} गुणप्रधानभावः ^{६३३१} स्यात्, ^{६३३२} पादोत्तमाङ्गादिवत्, ^{६३३३} न ^{६३३४} पुनरसतां ^{६३३५} शशाश्वविषाणादीनामविशेषात् । ^{६३३६} ततः ^{६३३७} परिकल्पितव्यावृत्त्या ^{६३३८} धर्मान्तरव्यवस्थापनं ^{६३३९} परिफल्गुप्रायं, ^{६३४०} वस्तुस्वभावाभावप्रसङ्गात् । ^{६३४१} शक्यं हि ^{६३४२} वक्तुम्, ^{६३४३} न हि ^{६३४४} किञ्चिदस्तु ^{६३४५} नामास्ति, ^{६३४६} तस्यावस्तुव्यावृत्त्या ^{६३४७} व्यवहरणात्, ^{६३४८} परिकल्पितवस्तुव्यावृत्त्या ^{६३४९} चावस्तुव्यवहारसिद्धेः । ^{६३५०} परस्पराश्रयणान्नैवमिति ^{६३५१} चेत्तर्हि ^{६३५२} कल्पितासत्त्वादिव्यावृत्त्या ^{६३५३} सत्त्वादयस्तद्व्यावृत्त्या ^{६३५४} चासत्त्वादिधर्मपरिकल्पनमित्यपि ^{६३५५} मा ^{६३५६} भूत्, ^{६३५७} परस्पराश्रयणाविशेषात् । ^{६३५८} स्ववासनासामर्थ्यात्सत्त्वेतरादिकल्पनयोरुत्पत्तेस्तद्व्यवहारस्यैव ^{६३५९} परस्परापेक्षत्वात् ^{६३६०} परस्पराश्रयणम्, ^{६३६१} सकलधर्मधर्मविकल्पशब्दानां ^{६३६२} स्वलक्षणाविषयत्वात्, ^{६३६३} परिकल्पिततदन्यव्यावृत्तिविषयत्वसिद्धेरिति ^{६३६४} चेन्न, ^{६३६५} तथेन्द्रियबुद्ध्योपि ^{६३६६} स्वलक्षणविषया ^{६३६७} मा ^{६३६८} भूवन् । ^{६३६९} केवलं ^{६३७०} व्यावृत्तिं ^{६३७१} पश्येयुः, ^{६३७२} अदृष्ट ^{६३७३} विकल्पायोगादतिप्रसङ्गाच्च । ^{६३७४} यथैव ^{६३७५} हि ^{६३७६} नीले ^{६३७७} पीतादीनामदृष्टत्वात् ^{६३७८} तद्विकल्पोत्पत्तिर्नीलस्य, ^{६३७९} दृष्टत्वान्नीलविकल्पस्यैवोत्पत्तिस्तथैवासत्त्वादिव्यावृत्तिमपश्यतस्तद्विकल्पोत्पत्तिर्मा ^{६३८०} भूत्, ^{६३८१} स्वलक्षणदर्शनात्स्वलक्षणविकल्पोत्पत्तिरेवास्तु, ^{६३८२} न ^{६३८३} चैवं, ^{६३८४} तदन्यव्यावृत्तावेव ^{६३८५} विकल्पोत्पत्तेः । ^{६३८६} यदि ^{६३८७} पुनरसत्त्वादिव्यावृत्तीनामदर्शनेपि ^{६३८८} तदनादिवासनावशादेव ^{६३८९} तद्विकल्पोत्पत्तिरुरीक्रियते, ^{६३९०} तदा ^{६३९१} नीलादिरूपादर्शनेपि ^{६३९२} तद्वासनासामर्थ्यादेव ^{६३९३} नीलादिविकल्पोत्पत्तेस्ततो ^{६३९४} नीलादिरूपव्यवस्था ^{६३९५} मा ^{६३९६} भूत् । ^{६३९७} तद्वत्सुखादिव्यवस्थितरपि ^{६३९८} कुतः ^{६३९९} संभाव्येत ? ^{६४००} स्वसंवेदनव्यवस्था ^{६४०१} च ^{६४०२} तन्निश्चयोत्पत्तेर्दुर्घटैव । ^{६४०३} तदनुत्पत्तौ ^{६४०४} सुतरां ^{६४०५} तद्व्यवस्था, ^{६४०६} स्वर्गप्रापणशक्त्यादिवद्वेद्याकारविवेकवद्वा । ^{६४०७} स्वरूपस्य ^{६४०८} स्वतो ^{६४०९} गतिरित्यपि ^{६४१०} तथा ^{६४११} निश्चयानुत्पत्तौ ^{६४१२} न ^{६४१३} सिद्ध्येत् ^{६४१४} ब्रह्माद्वैतादिवत् । ^{६४१५} ततः ^{६४१६} कुतश्चिन्निश्चयाद्वस्तुस्वभावभेदव्यवस्थायां ^{६४१७} सत्त्वादिनिश्चयाद्वस्तुनि

परमार्थतः सत्त्वादिधर्मभेदव्यवस्थितिरभ्युपगन्तव्या, अन्यथा क्वचिदपि व्यवस्थानासिद्धेः । परमार्थतः सत्त्वादिधर्मव्यवस्थितौ च सत्यां साधीयसी सत्त्वादिसप्तभङ्गी, सुनयार्पितत्वात् ।

सम्प्रत्येकानेकत्वादिसप्तभङ्ग्यामपि तामैव प्रक्रियामतिदिशन्तः सूरयः प्राहुः—

एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् ।

प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैरन्यविशारदः ॥ २३ ॥

४३६. स्यादेकमेव स्यादनेकमेवेति विकल्प आदिर्यस्य स एकानेकविकल्पादिः, तस्मिन्नत्तरत्रापि स्याद्वादविशेषविचारेपि प्रक्रियामेनामन्वादिष्टां भङ्गिनीं सप्तभङ्गाश्रयां नयैर्यथोचितस्वरूपैर्योजयेद् युक्तां प्रतिपादयेन्नयविशारदः स्याद्वादी, ततोऽन्यस्य तद्योजनेऽनधिकारात् । तद्यथा—

४३७. स्यादेकं सद्ब्रव्यनयापेक्षया । न हि सत्पर्यायनयापेक्षया सर्वथा वा सर्वमेकमेवेति युक्तं, प्रमाणविरोधात् ।

४३८. ननु च सद्ब्रव्यनयार्पणादपि जीवादिद्रव्यमेकैकश एवैकं सिध्येत्, न तु नानाद्रव्यं, प्रतीतिविरोधात्, तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानाभावात्, सर्वत्रैकत्वस्य तन्मात्रसाध्यत्वादन्यथातिप्रसङ्गादिति कश्चित्; तं प्रत्येकं समादधते 'सदेव द्रव्यं सद्ब्रव्यम्, तद्विषयो नयः संग्रहः परमः, तदपेक्षया सर्वस्यैकत्ववचनाददोषः' इति । अपरे तु 'सद्ब्रव्यमेव नयः, नीयमानत्वाद्धेतोः, तदपेक्षया सर्वमेकं, जीवादीनां षण्णां तद्धेदप्रभेदानां चानन्तानन्तानां तत्पर्यायत्वात्, 'एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्' इति संक्षेपतस्तथोपदेशात्, तस्य सर्वत्र सर्वदा विच्छेदानुपलक्षणात् प्रतीतिविरोधाभावादेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यापि सदेवेमित्यबाधितस्य सर्वत्र भावात्, अभावस्यापि तत्पर्यायत्वान्न किञ्चिद्वृषणम्' इति समाचक्षते ।

४३९. ननु च जीवादयो विशेषाः परस्परं व्यावृत्तवितर्काः, कथमेकं द्रव्यं, विरोधादिति चेन्न, कथंचिदेकत्वेन विरोधाभावात् कथंचिद्विशिष्टप्रतिभासात् । यद्यपि ते विशेषाः परस्परव्यावृत्तपरिणामाः कालादिभेदेपि सद्रूपाविशिष्टाश्चित्रज्ञाननीलादिनिर्भासवत् । यथा हि चित्रप्रतिभासाप्येकैव बुद्धिः, बाह्यचित्रविलक्षणत्वात् । शक्यविवेचनं हि बाह्यचित्रमशक्यविवेचनाश्च बुद्धेर्नीलाद्याकारा इति चित्रज्ञानशक्यविवेचनं नीलादिनिर्भासभेदेऽप्येकमिष्यते तथा जीवादिविशेषभेदेऽप्येकं सद्ब्रव्यं, कालभेदेपि सद्रूपादशक्यविवेचनत्वात्, देशभेदेपि वा ततस्तेषां विवेचयितुमशक्तेराकारभेदवत्, ततस्तेषां कदाचित्क्वचित्कथंचिदपि विवेचने स्वरूपाभावप्रसङ्गात् । सामान्यविशेषसमवायवत्प्रागभावादिवद्वा सद्रूपाद्विवेचनेपि जीवादीनां नाभाव इति चेन्न, तेषामपि सद्ब्रव्यवर्तत्वात्, सद्रूपविवेचनासिद्धेरन्यथा प्रमेयत्वायोगादवस्तुत्वप्रसक्तेः, सर्वथा सत्त्वाद्भिन्नस्यासत्त्वनिर्णयात् । ततो जीवादिविशेषाः कालादिभेदेपि स्यादेकं द्रव्यं, सद्रूपाविशिष्टत्वात्नीलादिनिर्भासभेदेपि ज्ञानरूपाविशिष्टत्वादेकचित्रज्ञानवत् । इति प्रथमो भङ्गः (१) ।

४४०. तथा जीवादिविशेषः स्यादनेकत्वामास्कन्दति, भेदेन दर्शनात्, संख्यासंख्यावदर्थवत् । न हि संख्यासंख्यावतोभेदेनादृष्टौ विशेषणविशेष्यविकल्पः, कुण्डलिवत् क्षीरोदकवदतद्वेदिनि, यतः सौगतस्तयोरभेदं मन्येत । न च भेदैकान्ते तद्वत्तास्ति, व्यपदेशनिमित्ताभावात् । संख्यावानर्थ इति व्यपदेशनिमित्तं समवाय इति चेन्न, तस्य कथंचित्तादात्म्यरूपत्वे भेदैकान्तासिद्धेर्वैशेषिकमतविरोधात् । पदार्थान्तरत्वे संख्यासंख्यावतोः समवाय इति व्यपदेशनिमित्ताभावः । विशेषणविशेष्यभावो व्यपदेशनिमित्तमिति चेत्, न, तस्यापि ततो भेदे व्यपदेशनिमित्तान्तरापेक्षणात्पर्यनुयोगानिवृत्तेरनवस्थाप्रसङ्गाच्च । तस्यादयं कथंचिदेव संख्यासंख्यावतोः स्वभावभेदं पश्यति, तद्विशिष्टविकल्पनात्क्वचिन्निर्णयेष्यन्त्यत्र संशयाद्वर्णरसादिवदिति । तदेवं सर्वं स्यादनेकम् । इति द्वितीयो भङ्गः (२)

४४१. क्रमार्पितद्वयात्स्यादुभयम् (३) । सहावक्तव्यं, वक्तुमशक्तेः । सहस्यादवक्तव्यं वक्तुमशक्तेः, (४) । स्यादेकावक्तव्यम्, स्वलक्षणस्यैकस्य वक्तुमशक्यत्वात् (५) । स्यादनेकावक्तव्यं, तस्यानेकस्यापि वक्तुमशक्तेः (६) । तत एव स्यादुभयावक्तव्यम् (७) । इति सप्तभङ्गीप्रक्रियायोजनमतिदेशवचनसामर्थ्यादवसीयते । तत एव चैकत्वमेकधर्मिणि स्वप्रतिषेध्येनानेकत्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वाद्वैधर्म्यविनाभावसाधर्म्यवद्धेतौ । अनेकत्वं स्वप्रतिषेध्येनैकत्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वात् साधर्म्यविनाभाववैधर्म्यवद्धेतौ । एवं तदुभयादयोपि स्वप्रतिषेध्येनाविनाभाविनो विशेषणत्वात् विशेष्यत्वात्, शब्दगोचरत्वात्, वस्तुत्वाद्वा स्वसाध्येतरापेक्षया हेत्वहेत्वात्मकसाधनधर्मवत्, इत्यपि नययोजनमविरुद्धमवबोद्धव्यम् । विशेषणतवादः साधनधर्मस्यापि स्वविशेष्यापेक्षया विशेषणस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वसिद्धेर्न तेन विशेषणत्वादिहेतोर्व्यभिचारः । नापि विशेष्यत्वस्य, स्वविशेषणापेक्षया विशेष्यस्यापि स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वात् । शब्दगोचरत्वस्य च शब्दान्तरागोचरस्य स्वप्रतिषेध्येनाविनाभावित्वात्, वस्तुत्वंधर्मस्य च वस्त्वंशत्वेन वस्तुत्वरूपस्य तत एव व्यभिचारित्वाशङ्कापि न कर्तव्या, अनेकान्तवादिनां तथा प्रतीतेर्विरोधाभावात् ।

४४२. एवमेकत्वानेकत्वाभ्यामनवस्थितं सप्तभङ्ग्यामारूढं जीवादिवस्तु, कार्यकारित्वान्यथानुपपत्तेः । सर्वथैकान्ते क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियाविरोधात्, इत्याद्यपि योजनीयम् ।

प्रज्ञाधीशप्रपूज्योज्ज्वलगुणनिकरोद्भूतसत्कीर्तिसम्पद्

विद्यानन्दोदयायाऽनवरतमखिलक्लेशनिर्णाशनाय ।

स्ताद् गौः सामन्तभद्री दिनकररुचिजित्सप्तभङ्गीविधीद्धा

भावाद्येकान्तचेतस्तिमिरनिरसनी वोऽकलङ्कप्रकाशा ॥ १ ॥

इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ प्रथमः परिच्छेदः ।

प्रथमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. ॐ नमः । इह हि खलु पुरा स्वकीयनिरवद्यविद्यासंयमसम्पदा गणधरपत्येकबुद्धश्रुतकेवलदशपूर्वाणां सूत्रकृन्महर्षीणां महिमानमात्मसात्कुर्वद्भिरुमास्वामिपादैराचार्यवैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गन्धहस्त्याख्यं महाभाष्यमुपनिबध्नन्तः स्याद्वादविद्याग्रगुरवः श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्यास्तत्र मङ्गलपुरस्सरस्तवविषय-परमाप्तगुणातिशयपरीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्य प्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयाञ्चक्रिरे ।

तदनु सकलतार्किकचक्रचूडामणिमरीचिमेचकितचरणनखकिरणो भगवान् भट्टाकलङ्कदेवस्तदेतस्याष्टशत्याख्येन भाष्येणोन्मेषमकार्षीत् ।

तदेवं महाभागैस्तार्किकैरुपज्ञातां श्रीमता वादीभसिंहेनोपलालितामाप्तमीमांसामलं चिकीर्षवः स्याद्वादोद्भासित्यवाक्यसरां गिरां चातुरोमाविर्भावयन्तः प्रतिज्ञाश्लोकमाहुः—“श्रीवर्द्धमानमित्यादि” । अस्यार्थः—अलङ्क्रियते विभूष्यते । केन ? मया विद्यानन्दसूरिणा । अनेनालङ्कारस्य महत्त्वमुद्घोषितम् । का ? कृतिः सन्दर्भः । किंरूपा ? शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसिताम् । विशेष्यविशेषणयोरविष्टलिङ्गत्वादयं निर्देशः । यथा—रमणीरत्नमुर्वशीति । कस्य ? अस्य स्वामिसमन्तभद्राचार्यस्य । माहात्म्याभावेदितम् । श्रीवर्द्धमानः समन्तभद्रः सूरिरनिन्द्यवागित्येतत्त्रितयस्यानन्तरोक्तस्यास्येत्यनेन परिग्रहप्राप्तावपि सूरैरेव परिगृहीतिः, कृतेरनेनैव प्रत्यासत्तिप्रकर्षयोगात् । किं कृत्वा ? प्रागभिवन्द्य अभितः समन्तान्मनसा वचसा वपुषा च वदित्वा । अनेन नमस्कृतावास्तिक्यस्यास्तित्वमादर्शितम् । कम् ? श्रीवर्द्धमानम् ।

अव समन्तादृद्धं प्रवृद्धं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ तथोक्तः । श्रिया समवसरणादिलक्षणया परमार्हन्त्यलक्ष्म्या लक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानः परमजिनेश्वरसमुदयस्तम् । अर्थसमुदयस्यार्थः कथम् ? अव समन्तादृद्धं परमातिशयप्राप्तं मानं केवलज्ञानं यस्यासौ वर्द्धमानः । अवाप्योरल्लोप इत्यवशब्दस्याकारलोपः । श्रिया बहिरङ्गया चान्तरङ्गया समवसरणानन्तचतुष्टयलक्षणया चोपलक्षितो वर्द्धमानः श्रीवर्द्धमानोऽर्हत्समुदय इति व्युत्पत्तेः । अनेन परमार्हतां समुदयमिति वृत्तिकारोक्तप्रतिज्ञाश्लोकेन नमस्कृतौ विशेष्यमुपात्तम् । कथम्भूतं ? समन्तभद्रम् । समन्ताद्भद्राणि शतमखशताभिर्वन्दितानि गर्भावतरणमहिमादिकल्याणानि यस्य तम् । अनेनाखिलैरिन्द्रादिभिर्विन्दितमिति विशेषणमुपगृहीतम् । भूयः कथम्भूतम् ? उद्भूतः प्रसिद्धो बोधस्य महिमा वस्तुयाथात्म्यप्रकाशनसामर्थ्यलक्षणो यस्य तम् । अनेनाचलज्योतिर्ज्वलत्केवलालोकालोकितलोकालोकमिति विशेषणं स्वीकृतम् । अचलैर्निर्बाधज्योतिर्भिर्निर्भासैर्ज्वलता दीप्यमानेन केवलालोकेन केवलदर्शनेनालोकितौ लोकालोकौ येन तमिति प्रतिपादनात् ।

भूयोपि कथम्भूतम् ? अनिन्द्यवाचम् । अनिन्द्यानेकान्तनीतिगङ्गाप्रवाहावगाहिनी वाग् वाणी यस्य तम् । अनेनोद्दीपीकृतधर्मतीर्थमिति विशेषणमात्मीकृतम् । उद्दीपीकृतं धर्मप्रतिपादकं तीर्थं शास्त्रं येनेति व्युत्पादनात् । भगवान् श्रीवर्द्धमानः कल्याणसम्पदाशंसिनामभिवन्द्यः सकलकल्याणसम्पदभिरामत्वात् । यथा सकललक्ष्मीसम्पदभिरामः सर्वभौमो लक्ष्मीसम्पदाशंसिनामिति स्वभावलिङ्गजनितमनुमानम् । सकलकल्याणसम्पदभिरामोऽयमुद्भूतबोधमहिमत्वादिति कारणसहचरलिङ्गजनितं केवलज्ञानोदयसहभाविनस्तीर्थकरपुण्योदयात् सकलकल्याणाभिरामपरमार्हन्त्यलक्ष्मीसम्पत्संयुतः सर्वत्रोद्भूतमहिमायं तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात् । यथैवागदङ्कारकर्मणि युक्तिशास्त्राविरोधिवाग्भिषगवरस्तत्रोद्भूतमहिमेति कार्यलिङ्गजनितम्, महोयसां वचनातिशयस्य प्रज्ञातिशयनिबन्धनत्वादिति । एवमुत्तरत्र व्याख्याद्वयेपि यथासम्भवं हेतूपन्यासः प्रतिपतव्यः ।

अथवा अभिवन्द्य । कम् ? समन्तभद्रं समन्तभद्राचार्यम् । कीदृशम् ? श्रीवर्द्धमानं श्रिया निखिलविद्यालङ्कार-निरवद्यस्याद्वादविद्याविभवाधिपत्वलक्षणया लक्ष्म्या वर्द्धमानमेधमानम् । साक्षात्कृतसकलवाङ्मयत्वेन समस्तविद्याविदां परमैश्वर्यमातिष्ठमानस्य स्याद्वादविद्याग्रगुरोर्महामुनेः श्रीवर्द्धमानतायां विवादाभावात् । भूयः कीदृशम् ? उद्भूतबोधमहिमानम् । उद्भूतो बोधस्य महिमा भव्यानां कलिकालेप्यकलङ्कभावाविर्भावाय स्याद्वादतत्त्वसमर्थने पटिमा यस्य तम् । भूयोपि कीदृशम् ?

अनिन्द्याचम् । अनिन्द्या सप्तभङ्गीसमालिङ्गिता वागाप्तमीमांसास्तुतिर्यस्य तम् । अनेन स्याद्वादविद्याधिपत्यं भव्याकलङ्कभावाविर्भावनावैदग्ध्यं तीर्थप्रभावनाप्रगल्भ्यमिति विशेषणत्रयेण तीर्थमित्येतदादौ कृत्वेत्येतदन्ते वृतांशे वाक्यत्रयोपदर्शितं सूर्यविशेषणत्रयं संबोधितम् । तत्राद्येन विशेषणेन सर्वपदार्थतत्त्वविषयस्याद्वादपुण्योदधेरुद्धृत्यैतद्वाक्यमाश्लिष्टं । भगवानयमाचार्यः स्याद्वादविद्याविभवाधिपतिस्तद्विद्यामहोदधेरुद्धृत्य प्रकरणमारचयितृत्वात् । यथा सकलश्रुतविद्यामहोदधेरुद्धृत्योत्तराध्ययनप्रकरण-मारचयन् भद्रबाहुस्तद्विद्याविभवाधिपतिरित्युपपादनात् । द्वितीयेन भव्यानामकलङ्कभावकृतये काले कलावित्येतदिष्टं स्पृष्टम् । तृतीयेन तीर्थं प्राभावीत्येतदुपक्षिप्तमिति । विशेष्यं तु प्रसिद्धमेव ।

अथवाभिवन्द्य । कम् ? अनिन्द्याचम् । अनिन्द्या प्रमाणाबाधापूर्वापरविरोधविधुरा वाग्व्याहृतिर्यस्मिन्नसावनिन्द्यावाक् प्रस्तुतत्वात्, समन्तभद्राचार्यकृतिराप्तमीमांसास्तवस्तम् । अनेन गामिति विशेष्यमालिङ्गितम् । कीदृशम् ? श्रीवर्द्धमानम् । श्रिया नानाभङ्गीभावसुव्यक्तमूर्त्या स्यात्कारलक्ष्या वर्द्धमानमभ्युदयमानम् । अनेन सप्तभङ्गीविधिमिति विशेषणमुपगूढम् । भूयः कीदृशम् ? समन्तभद्रं समन्तात्सर्वतो भद्रं सहृदयहृदयाह्लादितत्वागमसुधासारनिष्पन्दिस्फुरितमणीयमिति यावत् । अनेन स्याद्वादामृतगर्भिणीमिति विशेषणं परिबध्यम् । अनेकान्ततत्त्वकलनात्मना पीयूषेण सान्तस्सारमिति गोशब्दस्य धेन्वर्थवृत्तितामभिसमीक्ष्य प्रतिपादनात् । भूयोपि कीदृशम् ? उद्धूतबोधमहिमानम् । उद्धूतो बोधस्यानेकान्ततत्त्वप्रकाशस्य महिमा दुरितैकान्तवादतमस्काण्डखण्डने प्रचण्डिमा यस्माद्विनेयानां तम् । अनेन प्रतिहतैकान्तान्धकारोदयामिति विशेषणं परिष्वक्तम्, गोशब्दस्य दीप्त्यर्थविषयतामकलय्य निवेदनात् । शास्त्रं तत्त्वार्थसूत्रं तस्यावतारः प्रारम्भस्तस्मिन् रचिता यासौ स्तुतिः—“मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूताम्”— इत्यादिस्तस्या गोचरो विषयोसावाप्तस्तस्य मीमांसितं या । अस्मिन् श्लोके पूर्वाद्धेन भाष्यादिपद्यद्वयार्थः, उत्तराद्धेन प्रथमभाष्यार्थश्च सङ्गृहीतः समस्तः । भाष्यलक्षणं यथा—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुगामिभिः ।

स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ॥

२. सन्दर्भः । ३. विद्यानन्दसूरिणा । ४. समन्तभद्राचार्यस्य । ५. ननु चेष्टदेवतामभिष्टुत्यैव सर्वेपि शास्त्रकृतः शास्त्रमुपक्रमन्ते न पुनः स्तुत्यस्तोतृस्तुतोस्तत्रयस्तोत्रमिदं भगवता सूचितं कथं सौन्दर्यमास्कन्दतीत्याशङ्क्यायामाह—श्रेय इत्यादि । ६. इदं साध्यम् । अनेन श्लोकवर्त्यभिवन्द्याशब्दः संस्तवनार्थ एव न तु प्रणमनार्थ इति प्रकाशितः (तम्) । अनेनोपकारकरणार्थं स्तुत्यादित्रयसंस्तवनं कृतमिति प्रकाशितं, श्रेयोमार्गस्य संसिद्धिरित्यादौ तथैव श्रवणात् । अत एव तदाश्रयत्वात्तदन्यतमासम्भवे तदघटनात् । अनेन सम्प्रतिर्दिशिता भाष्यादिपद्यद्वयस्याभिप्रायश्च सूचितः, भाष्यानुसारेणैवालङ्कारः क्रियते इति च प्रकाशितः (तम्) । ७. पक्षः । ८. ननु चास्यालङ्कारणस्य स्तुत्यस्तोतृस्तुतिनिमित्तकत्वेपि तत्र तत्त्रयस्तोत्रेण श्रेयसा भाष्यमिति कोयं नियम इत्याशङ्क्यायामाह तद्वृत्तिकारैरपीत्यादि । भट्टाकलङ्कदेवैः । वृत्तिकारैः अकलङ्कदेवैः । ९. दिना काव्येन इति टिप्पन्तरम् । १०. नन्वस्य भगवतः समन्तभद्रस्य समन्तभद्रा-(देवागमा)दयस्तिष्ठ एव कृतयः श्रूयन्ते, न तु शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं नाम कृतिस्तस्मात्कथमियं प्रतिज्ञा सुघटनामटतीत्युक्ते वक्ति—देवागमेत्यादि । मोक्षमार्गस्य नेतारमित्यादि । ११. स्वीकुर्वता समन्तभद्रस्वामिना । १२. स्वस्य समन्तभद्रस्य । १३. प्रेरकत्वं वाऽऽराध्यत्वेन ज्ञानं भक्तिस्तत्रात्यन्तमनुगमः श्रद्धा । १४. कटाक्षिसंसूचितमित्यर्थः । प्रतिज्ञातम् । स्वीकृतम् । सामर्थ्येनोपपन्नम् । संगृहीतम् । १५. (यतः) प्रयोजनाभावे शास्त्रकरणं न स्यात् । १६. तयोः श्रद्धागुणज्ञतयोर्मध्ये एकस्याभावे । १७. परीक्षालक्षणस्य देवागमस्तवस्य । १८. प्रयोजनानुसारेण शास्त्रकरणं घटते । १९. अनुपपत्तिः कुत इत्याह—पूर्वशास्त्रानुसारितया । २०. ग्रन्थकारस्य तत्त्वार्थशास्त्राप्रसिद्धानुसारित्वेन स्वोपक्रान्तत्वस्वरुचिविरचि-तत्वपरिहारलक्षणप्रयोजनेन मङ्गलपुरस्सरस्तवविषयेत्यादिप्रकारेणैवोपन्यासात् । अन्यथानुपपत्तिप्रकारेण परीक्षात्वेन वा । २१. वृत्तिग्रन्थेन । २२. स्वामिनः समन्तभद्रस्य “पक्षभूतस्य” । २३. प्रेरकत्वे । २४. मोक्षमार्गस्येत्यादि । २५. मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि । २६. विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्य-(घटमानयोश्च) दौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा । सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं न स्यादित्येवं प्रवर्तते । २७. स्वीकारस्य । २८. श्रद्धागुणज्ञतालक्षणं प्रयोजनं (साध्यं) पक्षः धर्मित्वं समन्तभद्राचार्यस्यास्ति, आप्तगुणातिशय-

परीक्षोपक्षेपान्यथानुपपत्तेः । २९. अर्थस्यानुभवगम्यस्य परीक्षाविशेषस्य गुणातिशयपरीक्षोपक्षिप्तस्यैव तावदेवागमाभिधानमिति निर्णयः । कथमिति चेदुच्यते । अस्य देवागमत्वात्रिणये ग्रन्थकारस्य श्रद्धागुणज्ञतालक्षणे प्रयोजने साध्ये साधनमिदं न भवत्येव स्वरूपासिद्धत्वात् । कथमिति चेदेवागममन्तरेणान्यस्य मोक्षशास्त्रारम्भरचित—“मोक्षमार्गस्य नेतार”—मित्यादिस्तवनविषयाप्त-
गुणातिशयपरीक्षारूपायाः समन्तभद्राचार्यकृतेः सर्वथाप्यसम्भवात् । निश्चयेयसपूर्वोक्तशास्त्रशब्दस्यार्थेयम् । ३०. एतच्च विभावयति ।
३१. नन्वेवमपि शास्त्रारम्भस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षैव देवागमाभिधानं लब्धुमर्हति देवागमेत्यादिमङ्गल-
पुरस्सरस्तवविषयपरमात्मगुणातिशयपरीक्षामित्यनेन तयोरेकत्वेनाभिधानात्, न पुनः शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं
देवागमाभिधानं लब्धुमर्हति । ततः कथमिदमुक्तम्—शास्त्रावताररचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितमिदं शास्त्रम् । देवागमाभिधानमित्युक्ते
तद्गुणातिशयपरीक्षातदाप्तमीमांसितयोरेकत्वे साधिते तदाप्तमीमांसितमपि देवागमाभिधानं भविष्यत्येवेति स्वीकृत्य
तयोरेकत्वसमर्थनार्थमाह—मङ्गलपुरस्सरेत्यादि ।

३२. मोक्षमार्गप्रणेतृत्वादि । ३३. ननु च मीमांसितं, परीक्षा, विचार इत्यनर्थान्तरं तच्च वादिप्रतिवादिभ्यां भवितव्यम् । तथा
च सति समन्तभद्राचार्यस्य महावादिनः प्रतिवादी न कश्चिन्मनुष्यमात्रः सम्भवत्येव (अवदुतटमटति झटिति
स्फुटतटवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा । वादिनि समन्तभद्रे कान्येषां संकथा तत्र ॥) । ततः कथमाप्तमीमांसाविधानमुपपद्यते इति पृष्ठः सत्राचष्टे
तदेवमित्यादि । तदेवमुक्तन्यायेनेत्यर्थः । ३४. तत्त्वार्थसूत्रस्य । ३५. मोक्षनिमित्तं मङ्गलनिमित्तमाचार्याः शास्त्रं कुर्वन्ति ।
३६. उमास्वामिपादैः गृद्धपिच्छाचार्यापरनामधेयैः—“आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः । एलाचार्यो गृद्धपिच्छः पद्मनन्दी
वितन्यते” ॥१॥ तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वात्प्रकटीकृतसन्मतः । उमास्वामिपदाचार्यो मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥२॥ (टिप्पण्यन्तरम्)
३७. विनेयानाम् । ३८. यसः (द्वन्द्वसमासः) । ३९. अर्थविशेषप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्रन्यायानुसारितया तथैवोपन्यासादिति
पूर्वोक्तभाष्यांशविवरणमिदम् । एवं यथायोग्यं ज्ञातव्यम् । ४०. कुर्वाणाः समन्तभद्राचार्याः । ४१. जिनः, परमेष्ठी । ४२.
तत्त्वार्थसूत्रकारैः । ४३. मोक्षमार्गस्य नेता कर्मभूभृतां भेत्ता विश्वतत्त्वानां ज्ञातेति विशेषणत्रयेणाहं स्तुतः सूत्रकृता, भो समन्तभद्राचार्या
देवागमादिविभूत्या त्वं महानिति कुतोहं नाभिष्टुत इति पृष्टा इव । ४४. इति हेतोः । अथवा देवागमादिविभूतितः ४५. वर्द्धमानः ।
४६. अस्माकं परीक्षाप्रधानानां समन्तभद्रादीनाम् । ४७. चक्रवर्त्यागमादि । ४८. चतुरास्यत्वादि । ४९. सुरपुष्पवृष्ट्यादि । ५०.
परीक्षाप्रधानानां स्तुत्यो नासीदित्यादि भावयति । ५१. आज्ञावशवर्तिनः । ५२. देवागमादिचिह्नस्य । ५३. इति हेतोः । ५४.
देवागमादिविभूतितस्त्वं महानित्ययम् । ५५. देवागमादि । ५६. महत्त्वाभावे । ५७. मीमांसकस्य । ५८. देवागमादिप्रतिपादिकागमः ।
५९. जैनागमसत्यवादिनां स्याद्वादनामपि विपक्षेषु मष्करिप्रभृतिषु प्रवर्तमानत्वाद्धेतोः साधकत्वासम्भवात् । ६०. माययोपदर्शिताश्च
तास्तद्विभूतयो देवागमादिविभूतयस्तास्सन्ति येषां मायाविनां ते मायोपदर्शिततद्विभूतिमन्तस्तैः । ६१. अत्राह कश्चित्त्वमतवर्ती ‘हे
समन्तभद्राचार्या मायाविभिः कृत्वास्य हेतोर्व्यभिचारो नास्ति तदेव सत्यधूमवत्त्वादेरित्यादिना दर्शयति । ६२. देवागमादिमत्वस्य ।
६३. त्रिनाशः । ६४. मायाविषु तादृश्यो विभूतयो न दृश्यन्ते । ६५. इति हेतोः । ६६. देवागमादिश्लोकस्यैवं व्याख्यानादित्यर्थः ।
६७. व्याख्यानाद् इति टिप्पण्यन्तरम् । ६८. व्यभिचाराभावे देवागमेत्यादिग्रन्थविरोध इत्यत आह—ग्रन्थविरोधाभावात् । ६९.
तदर्थः स्वमतवर्ती पृच्छति । ७०. देवागमादिहेतुम् । ७१. मष्करिष्वसम्भविनम् । ७२. निश्चीयात् । ७३. विभूतिमत्त्वादिहेतोः ।
७४. तयोः प्रत्यक्षानुमानयोरगोचरत्वात् । प्रत्यक्षाच्चापरादिविभूतिर्न दृश्यते नाप्यनुमानेन हेतोरसिद्धेरिति प्रत्यक्षानुमानाभ्यां हेतुरयं
गोचरो न । ७५. असिद्धप्रमाणत्वादागमात्तस्य हेतोः परिज्ञानं चेत्तदातिप्रसङ्गः । ७६. अयमागमो धर्मो प्रमाणं भवितुमर्हति
पूर्वापरविरोधरहितत्वादित्यनुमानात् प्रमाणात् । ७७. महानिति । ७८. आगमाद्धेतुप्रतिपत्तितः साध्यसिद्धिरिति परम्परापरिश्रमस्तस्य
परिहारः । ७९. आगमात्साध्यप्रतिपत्तिप्रकारेण ।

८०. निर्विशेषे विशेषव्याख्यानद्वयस्यागमाश्रित्वं यतः । ८१. मष्करिपूरणाद्यन्यजनेभ्योतिशयवता । ८२. परमार्थभूतेन ।
८३. अहं पक्षः, महान् भवामीति साध्यो धर्मः, अन्तरङ्गबहिरङ्गविग्रहादिमहोदयसद्भावावन्यथानुपपत्तेः । ८४. प्रश्ने । ८५.
अक्षीणकषायेषु देवेषु । ८६. वर्तते यस्मात्तस्मात्त्वं महात्र । अथवा किमस्तीति काकुः नास्तीत्यर्थः ।
अतस्त्वं महानस्माकमसीत्यभिप्रायो भगवतः । ८७. आदिशब्दान्मोहद्वेषमदाहङ्काराणां ग्रहणम् । ८८. मन्त्राद्यनपेक्षत्वात् ।

८९. चक्रवर्त्यादीनाम् । ९०. हेतोर्व्यभिचारित्वात् । ९१. यदि । आह स्वमतवर्ती । ९२. विग्रहादिमहोदयः । ९३. न केनापि । ९४. किमस्तीति काकुः, नास्तीत्यर्थः । ९५. सोपि प्रकृतहेतुं विपक्षासम्भविनं कुतः प्रतीयादित्यादिसम्बन्धीयम् । ९६. बहूनां प्रमाणानामेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः प्रमाणसम्प्लवः । जैनानाम् । ९७. महता । ९८. परिच्छिति । ९९. कालस्वरूपम् । १००. निर्णयात् । १०१. पुनः स प्रतिपत्ता तं हिरण्यरेतसं साक्षाद्बोद्धुमिच्छति । कस्मात् ? अग्निनेत्रेन्द्रियसंयोगात्साध्यविशेषप्रतिभासः सिद्ध्यति यतः १०२. इन्द्रियेण । १०३. पिङ्गभासुराकार । १०४. विशेषप्रतिभाससिद्धेरिति वा पाठः । १०५. अग्निप्रकारेण । १०६. मात्रगम्ये इति पाठन्तरम् । १०७. प्रमाणसंप्लवेन तस्य साध्यस्य परिज्ञानविशेषो नास्ति । १०८. किमिति किमर्थम् । १०९. कारणं विना । ११०. साध्ये । १११. अग्नौ धूमे च प्रत्यक्षनिश्चिते सति तस्य प्रमाणसंप्लवस्याङ्गीकारप्रसङ्गो घटते । ११२. दिवौकस्स्वप्यसम्भाविना आगमेन । ११३. प्रश्नप्रवृत्तौ सत्याम् ।

११४. स्वकीयस्वकीयभिन्नाभिप्रायेण । ११५. मीमांसक-सांख्य-सौगत-नैयायिक-चार्वाक-तत्त्वोपप्लववादि-योग-ब्रह्माद्वैत-वादि-पुरुषाद्वैतवादि-चित्राद्वैतवादि-शब्दाद्वैतवादि-ज्ञानाद्वैतवादिप्रमुखाणां वादिनामेकान्तमताश्रयिणाम् । ११६. तीर्थं परमागमलक्षणं कुर्वन्ति ये ते तीर्थकृतो जैनव्यतिरिक्तवादिनः कपिलादयस्तेषां समया आगमास्तेषाम् । ११७. यथाभूताथोपदेष्टृत्वम् । ११८. परमतापेक्षया काक्वा व्याख्यानं, कश्चित्किं गुरुर्भवेदपि तु न कश्चित्दगुरुर्भवेदिति । जैनमतापेक्षयायमर्थो ग्राह्योऽस्याः कारिकायाः, कः परमात्मा चिदेवार्हन् केवल्येवाप्तो भवेन्नान्यः । भवं यन्ति ये ते भवेतः संसारिणस्तेषां गुरुर्भवेद्वरुणित्येकपदं ज्ञेयम् । चार्वाकमते बृहस्पतेग्रहणम् ज्ञेयम् । ११९. प्रत्यक्षागोचरत्वात् । १२०. भगवान् धर्मो महान् भवतीति साध्यस्तीर्थकरत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । यो महान्न भवति स तीर्थकरो न भवति यथा रथ्यापुरुषः तीर्थकरश्चासौ तस्माद् महान् भवतीति । १२१. आगमात् । १२२. व्यभिचारमेव भावयति । १२३. एतन्नास्तीत्युक्ते आह । १२४. आशङ्क्य । १२५. कुमारिलेन । १२६. सर्वथा क्षणिकं, सर्वथा नित्यमित्यादि । १२७. पुंसः । १२८. यत एवं ततस्तीर्थकरत्वनामा हेतुर्व्यभिचारी सन् कस्यचित् सुगतादेर्महत्त्वं न साधयति । १२९. सर्वेषां तीर्थकरत्वप्रतिपादकत्वमस्ति यतः । १३०. श्रेयोर्थिनां कथं श्रेय इत्युक्ते आह 'वेदात्' । १३१. मीमांसकः । १३२. सर्वज्ञप्रतिपादकः । १३३. उपदेशाः । १३४. आदिशब्देन विधिनियोगौ । १३५. संवादकता प्रेरणालक्षणभावनाज्ञानम् । १३६. संवादकता नास्ति यतः । १३७. भावनारूपे । १३८. नियुक्तोहमित्याकूतं यस्माद्भवति स एव नियोग इत्यर्थः । १३९. सर्वं वै खाल्विदं ब्रह्मेत्यादिविधिस्वरूपप्रतिपादने वेदवाक्यं कथं न प्रमाणम् । १४०. कार्यस्वरूपयोः । १४१. अत्राह भावनावादी भट्टः । अग्निष्टोमं स्वर्गकामो यजेतानेन वादिनो मते लिङ्गलोदृतव्यप्रत्ययस्वरूपः । १४२. अप्रेरकत्वस्य असंघटमानस्य चिद्भावनारूपस्य कार्यस्य । १४३. अभिप्रायः । १४४. अनेन लिङ्गलोदृतव्यप्रत्ययार्थः सूच्यते न तु लडादिप्रत्ययार्थः । १४५. "जातिर्व्यक्तिश्च लिङ्गं च प्रकृत्यर्थोभिधीयते । संख्या च कारकं चेति प्रत्ययार्थः प्रतीयते" ॥ १४५. अग्निहोत्रादिविशेषणरहितः । १४६. धात्वर्थनिरपेक्षः । १४७. अवश्यं करणीयः । १४८. कुत एतदित्याशङ्क्य पुरातनश्लोकत्रयमाह ।

१४९. एव । १५०. वेदवाक्ये । १५१. कार्यरूपस्य नियोगस्य । १५२. अग्निहोत्रादिकम् । १५३. यजनमात्रः । १५४. कार्यस्य स्वनिष्पत्त्यर्थं यत्प्रेरकत्वं प्रवर्तकत्वम् । १५५. कार्यरूपस्य नियोगस्य । १५६. योगकर्मणि । १५७. नियोगवादिनाम् । १५८. वाक्यान्तर्गतकर्माद्यवयवापेक्षारहिता । १५९. प्रेरकत्वम् । १६०. सिद्धान्तः । १६१. नियोगरहिता । १६२. वाक्यस्य । स्वसिद्धौ इति पाठांतरम् । १६३. पुरुषस्य यागकर्मणि । १६४. ममेदं कार्यमित्येवं ज्ञानाभावे तत्त्वसिद्धौ प्रेरकं न सिद्ध्यति । १६५. मुख्यं वेदवाक्यस्य यत्प्रेरकत्वं तद्वागलक्षणकार्ये उपचर्यते इत्युपचारः । १६६. वेदवाक्यव्यापारः । यागः । १६७. प्रवर्तकत्वम् । १६८. वेदवाक्यस्य । १६९. यागादौ कार्ये । १७०. यागवेदवाक्ययोः सम्बन्धः । १७१. प्रेरणां विना कार्यं कस्यचित्प्रेरकं नैव तेन कारणेन प्रेरणाकार्ययोः सम्बन्धो नियोगः प्रतिपादितः । १७२. तयोः प्रेरणाकार्ययोस्तादात्म्यम् । १७३. कस्यचित्प्रेरकं नैव तेन कारणेन प्रेरणाकार्ययोः सम्बन्धो नियोगः प्रतिपादितः । १७४. यतः कारणात् । १७५. कार्यरूपमेव हि यत्किञ्चन स्वनिष्पत्त्यै प्रेरकं स्यादस्य तु ब्रह्मणो नित्यत्वेन तादात्म्यम् । १७६. यतः कारणात् । १७७. अग्निष्टोमादिवाक्ये कार्यप्रेरणानिरपेक्षतयावभासः परमात्मस्वभावो वा । १७८. कार्यरूपत्वाभावात् प्रेरकत्वं न भवतीत्यर्थः । १७९. कुत ? यतः । १८०. यागकर्म । १८१. पुरुषः । १८२. स्वर्गकामी । १८३. यागकर्मणि । निरंशम् । १८४. वेदात् । १८५. कुत ? यतः । १८६. यागकर्म । १८७. पुरुषः । १८८. स्वर्गकामी । १८९. यागकर्मणि ।

१८४. प्रवर्तकवाक्ये सति। १८५. यागलक्षण। स्वर्ग। १८६. भविष्यद्रूपमेव भोग्यं नियोग इत्याह। १८७. अभिप्रायः।

१८८. स्वकीयम्। १८९. स्वर्गादिकं साध्यम्। १९०. पुंसा। १९१. वेदवाक्ये। १९२. यतः। १९३. यागादिलक्षणसम्पृक्तत्वम्। यज्ञकर्ता। भोग्यतामात्रेण। १९४. नियोगः स्यादबाधित इति वा पाठः। १९५. यदि पुरुष एव नियोगस्तदा तस्य नित्यत्वात्कथं साध्यरूपो भवतीत्याशङ्क्यामाह। १९६. साध्यकार्यविशिष्टः। १९७. अथ विधिवादमाश्रित्य भट्टः प्राभाकरमतसम्बन्धिनं नियोगवादं दूषयति। १९८. रविगुप्तेन। १९९. भट्टः प्राभाकरं प्रतिपृच्छति। २००. वाङ्मयमात्रकथनो व्यापारः। २०१. अष्टप्रकारविकल्पमध्ये। २०२. प्रथमः प्रमाणस्वरूपो विकल्पः। २०३. कर्तव्यार्थोपदेशो विधिः। ब्रह्म। २०४. नियोगवादिनः। २०५. अत्र प्रमाणस्याचिदात्मकत्वशङ्कायां तस्याचिदात्मकत्वे प्रमाणत्वाघटनादन्यत्रोपचारादित्यग्रे वक्ष्यमाणमुत्तरं द्रष्टव्यम्। २०६. प्रतिभासमात्रस्य। २०७. प्रतिभासश्चान्यो विधिश्चान्य इत्युक्ते आह। २०८. कर्तव्य। २०९. व्यतिरेकदृष्टान्तः। यथा घटः प्रतिभासमात्रात् कार्यरूपतया पृथक् प्रतीयते न तथा विधिः प्रतिभासमात्रात् स्वरूपात् पृथक् प्रतीयते नानुमीयते खपाठः। २१०. व्यतिरेकदृष्टान्तः। आदिशब्देन अङ्गुलिसंज्ञा ग्राह्या। यथा वचनादिः प्रेरकतया प्रतिभासमात्रात् पृथगनुभूयै तथा विधिर्नानुभूयते। २११. उभयरूपतया विधिर्नानुभूयते इत्युक्ते आह। क्रियते निष्पाद्यते इति कर्म घटादि। प्रेर्यते नियुज्यते पुरुषः स्वकृतयेऽनेनेति प्रेरकं वचनं करणम्। २१२. विधिप्रतीतौ। २१३. कर्मकरणसाधनत्वाभावेन विधिप्रतीतौ कार्यताप्रेरकताज्ञानं युक्तं न स्यात्। २१४. तर्हि किं स्वरूपं विधेरित्युक्ते आह— द्रष्टव्येत्यादि। २१५. “श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तितः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः”। २१६. पञ्चस्य स्वरूपेण ध्यातव्यः। २१७. अवस्था दर्शनादि, अवस्थान्तरमदर्शनादि, तेन विलक्षणो दर्शनादिस्तेन। २१८. अप्रेरितावस्था- विलक्षणेनाकारेण प्रेरितोहमित्यभिमानरूपेण दर्शनादिना। २१९. प्रमेयरूपस्य नियोगस्य ग्राहकं प्रमाणम्। २२०. प्रभाकरेण। २२१. श्रुतिवाक्यं प्रमाणं, नियोगः प्रमेयमिति चेत्। २२२. अत्राह भवानावादी भट्टः—भो नियोगवादिन् प्रभाकर, तावकं श्रुतिवाक्यं चिदात्मकमचिदात्मकं वेति। तत्र विकल्पद्वयं खण्डयति। २२३. चन्द्रवन्मुखमित्यादिरुपचारः। २२४. ज्ञानात्मकत्वे सति। २२५. पञ्चस्य पश्चात् कार्यं कुर्यात्।

२२६. पर्यायः। विवर्तस्तु इति पाठांतरम्। २२७. विशेषणमिदं नियोगस्य संवेदनविवर्तत्वसमर्थनार्थम्। २२८. ज्ञानपर्यायप्राप्तत्वात्रियोगस्य सामान्येन नियुक्तोहमित्याभिमानरूपत्वाभ्युपगमादन्यथा ज्ञानपर्यायप्राप्तभावे प्रमाणरूपत्वं नोपपद्यते, अप्रकाशमानत्वेन प्रमेयरूपत्वं च न घटते इति भावः। २२९. स्वरूपम्। २३०. प्रकाशयन्। २३१. प्रमाणप्रमेयरूपत्यागे। २३२. संवेदनमात्रादन्यस्य कस्यचिदनुभयस्वभावत्वाघटनात्। २३३. पारमार्थिकत्वं कुतः? २३४. संवेदनमात्रस्य। २३५. कुतः। २३६. अनुभयस्वभावत्वं कुतः। २३७. सत्स्वरूपतया। २३८. संवेदनमात्रस्य। २३९. अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इत्यादिशब्दव्यापारः। २४०. प्रभाकरस्य वेदान्तवादमतप्रवेशः स्यात्। २४१. शब्दरूपार्थरूपा चेति भावना द्वेधा। २४२. तदेव (पूर्वोक्तमेव) इति खपुस्तकपाठः। २४३. अर्थभावना। २४४. शब्दभावना (आत्म) अर्थभावना च। २४५. शब्दव्यापारेण पुरुषव्यापारेण च। २४६. चेत्तर्हि मुद्रितप्रती पाठः। २४७. तर्हि। भट्टमतानुसरणलक्षणः पूर्वोक्तः। २४८. प्रेरणाया अतीतकालत्वं क्रियाया भविष्यत्कालत्वं यतः पूर्वं प्रेरितः। २४९. यथा तेजस्तमसोरैक्यमेकत्र स्थातुं न शक्यम्। २५०. विषयो यागादिकर्म। २५१. पर्युदासवृत्त्या द्वौ विकल्पौ प्रसज्यवृत्त्या त्वेकः (निःस्वभावः) २५२. विषयः। २५३. वेदवाक्यकाले। २५४. विषयस्वभावः। २५५. नियोगः। २५६. बुद्धिपरिणतस्य वर्तमानकाले कल्पितविषयस्य। २५७. विषयस्वभावनियोगस्य। २५८. प्रमाणप्रमेयव्यवहारस्य काल्पनिकत्वासौगतमते। वक्त्रभिप्रेतमात्रस्य सूचकं वचनं त्वितीदं हि सौगतमतम्। २५९. वेद। २६०. यागादिविषयो नियोगो यागमुत्पादयति। २६१. आकाशादि। २६२. यागादिनिष्पादनं वाक्यकाले जातमेव। २६३. पुरुषादिविषयस्य। २६४. यागादेः। २६५. यागादिविषयस्वभावः। २६६. भाविनो विषयस्य। २६७. पूर्वोक्तः। २६८. फलस्वभावस्य। २६९. अन्यथा। २७०. प्रसङ्गादिति खपुस्तकपाठः। २७१. स्वर्गादिः। २७२. अग्निष्टोमेन यजेतंति

३२३. नियोगं विनापि । ३२४. अत्राह नियोगवादी । ३२५. पूर्वोक्तः सर्वः । ३२६. दूषणम् । ३२७. अग्निष्टोमं स्वर्गकामो यजेतेत्याद्यर्पारुषेयादग्निहोत्रादिवाक्यान्त्रियोगे दूषणं न तस्य वाक्यस्यादूष्यत्वात् । ३२८. नेह नानास्ति किञ्चन । आरामं (विस्तारं) । तस्य पश्यन्ति, न तत्पश्यति कश्चन । ३२९. अदूष्यत्वस्याविशिष्टत्वात् । ३३०. पुरुषस्य । ३३१. परब्रह्म यथा । ३३२. एकादशभेदनियोगेषु । ३३३. यजेतेति । प्रवर्तकत्वं । ३३४. स्वर्गकाम । ३३५. कुदाली । ३३६. स्वर्गः स्वर्गो नियोगपक्षे कूर्दालिकापक्षे खननादि । ३३७. अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यादि । ३३८. पूर्वोक्तेन वक्ष्यमाणेन च । ३३९. नियोज्यः पुमान् । ३४०. स्वर्गः । ३४१. प्रेरकत्वस्य । ३४२. निरर्थकत्वात् । ३४३. निरर्थकत्वादिति भावः । ३४४. नियोज्यनिरपेक्षस्य । ३४५. प्रवर्तकत्वप्रकारेण । ३४६. यागादि । ३४७. वेदवाक्य । ३४८. इति च न सङ्गतमिति खपुस्तकपाठः । "इति कार्यस्य । ३४५. प्रवर्तकत्वप्रकारेण । ३४६. यागादि । ३४७. वेदवाक्य । ३४८. इति च न सङ्गतमिति खपुस्तकपाठः । "इति वचनमसङ्गतम्" मुद्रितप्रतौ पाठः । ३४९. कार्यप्रेरणारूपेभ्यः सम्बन्धिभ्यः । ३५०. सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्नोऽभिन्नो वेति विकल्पद्वयवतीति क्रमेण निराकुर्वन्नाह । ३५१. नियोगत्वेनाषटनादिति खपुस्तकपाठः । ३५२. सम्बन्धिनावात्मानौ स्वरूपे यस्य । ३५३. यसः (कर्मधारयः) । ३५४. तादात्म्यम् । ३५५. ततो भिन्नस्येत्यादिना । ३५६. नातिशयं प्राप्नोति । नातिक्रामति । किन्तु विधिवाद एवायातः । ३५७. विधिवादः । ३५८. अभिप्रायः । ३५९. पुरुषस्याभिमानाभावादित्युक्ते आह—पुरुषाभिमानमात्रस्य । ३६०. वेदवाक्य । ३६१. प्रवर्तकलक्षणो वाक्यधर्मः । ३६२. स्वर्गस्य । ३६३. पुरुषस्वभावो हि इति मुद्रितप्रतौ पाठः । ३६४. अन्यथा । तस्य पुरुषस्वभावस्य । ३६५. नित्यत्वेन । ३६६. अस्तित्वस्य । ३६७. नियोग इति । ३६८. प्राप्तेः । ३६९. अथ नियोगवादिनं निराकृत्य भट्टो विधिवादिनं दूषयति । ३७०. वाक्यार्थनिवेदनादिति खपाठः । ३७१. त्वया विधिवादिनेति शेषः ।

३७२. यदि शब्दः सद्भावस्वरूपं नाभिदधाति निषेधस्वरूपमभिदधाति चेत्तदभावे क्वचिद्वस्तुति प्रवृत्तिर्न स्यात् । ३७३. ब्रह्माद्वैतवादिनाम् । ३७४. विधिस्वरूपमेव । ३७५. ननु स एव चिदात्मोभयस्वभावतया स्वात्मानं प्रकाशयन्नित्युक्तं तावत् निरंशतैवोच्यतेऽतः पूर्वापरविरोध इति चेन्न, प्रमेयस्वभावः कल्पनिकः प्रतिपाद्यार्थमुच्यते न तु वास्तवस्तद्विवर्तत्वात्तस्य । ३७६. प्रमाणप्रमेयरूपद्वयस्य कल्पितत्वाभिधानकाले । ३७७. विधौ कल्पितत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं घटते चेत्कल्पितं किमन्यापोहः ? स एव शब्दार्थस्तत्रापि वाक्यार्थत्वघटनात् । ३७८. अत्राह सौगतमतमवलम्ब्य भावनावादी विधिवादनं प्रति—हे विधिवादिन् कल्पनारूपत्वात्प्रमाणप्रमेयरूपद्वयं विधौ न विरुध्यते इति त्वया प्रतिपाद्यते चेत् तर्हि कल्पनारूपत्वादगोव्यावृत्तिर्मा, अघटव्यावृत्तिर्घट इत्यादिलक्षणः सौगताभ्युपगतशब्दार्थः अन्यापोहः अभावात्मकस्त्वया विधिवादिना कथं निराक्रियते ? प्रमाणान्यापोहयोः कल्पितत्वाविशेषात् । ३७९. शून्यः । ३८०. सौगतैः संविन्मात्रपक्षग्राहकैः । ३८१. विधिवादी । ३८२. तदा शब्दो वस्तुस्वरूपमभिदधाति अन्यापोहस्वरूपं नाभिदधाति चेदन्यपरिहारेण प्रवृत्तिर्न स्यात्, स्वपररूपयोः सङ्करो भवेदित्यर्थः । ३८३. विधौ । ३८४. विधेयत्वात्प्राप्यत्वात् । ३८५. अन्यद् ब्रह्मव्यतिरिक्तं वस्तु नास्ति विधिवादिनो मते । ३८६. विधिवादी । ३८७. प्राप्यत्वात् । ३८८. परमपुरुषात्किञ्चिद्भिन्नं वस्तु नास्ति यतः । ३८९. विधौ । ३९०. अन्यपरिहारेण प्रवृत्त्यभावप्रतिपादनकाले । ३९१. द्रष्टव्योऽयमात्मा श्रोतव्योऽनुमन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति श्रुतिः । ३९२. सौगत. आह—हे विधिवादिन् अन्यथा नैरात्म्यादिपरिहाराभावे पुरुषे शब्दस्य प्रवृत्तिर्घटते चेत्तदा नैरात्म्यादिदर्शनादीनामपि प्रवृत्तिर्घटताम् । ३९३. अन्यथा । ३९४. विधिवाद्याहानात्मवादिनम् । अनाद्यज्ञानोपरूढं यतस्तस्मान्नैरात्म्यादिदर्शनश्रवणादौ प्रवृत्तिर्न घटते । ३९५. नैरात्म्य । ३९६. भाट्टः । ३९७. विधिवादी (परब्रह्मणः) । ३९८. विधानम् । ३९९. अन्यापोहस्य । ४००. निषेधः । ४०१. सौगतः । भाट्टः । ४०२. शून्यवादिनः । ४०३. अपि तु भवेदेव । (विधिवादे दूषणं दत्तम्) ४०४. विधिवाद्याह । तस्य विधेरन्यापोहवादेन विरोधाद्धे सौगत यदुक्तं त्वया अन्यापोहनमेव विधिस्तदेवं न स्यात् । ४०५. सौगतः । भाट्टः । ४०५. (क) अन्यापोहस्य विधिकथनप्रकारेण । ४०६. विधिवादी । ४०७. विधिः प्रतिभासतेऽपोहः प्रतिभासते इत्यन्यापोहस्य प्रतिभाससामानाधिकरण्यम् । विधिवादिनोऽनुमानम् । अन्यापोहः पक्षः प्रतिभाससामानाधिकरणत्वेन कृत्वा प्रतिभासान्तःप्रविष्टो भवतीति साध्यो धर्मः—प्रतिभासमानत्वात् । यत्रप्रतिभासमानं तत्रप्रतिभासन्तःप्रविष्टम् । प्रतिभासते चायं तस्मात्प्रतिभासान्तःप्रविष्टः । विधिवाद्याह अन्यापोहः प्रतिभासते न प्रतिभासते वा ? प्रतिभासते चेत्तदा विधौ प्रविष्टः । न प्रतिभासते चेत्तदा तस्य व्यवस्थितिरपि नास्ति । ४०८. अप्रतिभासमानत्वेऽप्यन्यापोहस्य स्थितिरुपपद्यते चेत्तदातिप्रसङ्गः स्यात् । असंतः स्थितिश्चेत्तदा खरविषाणादेरपि सास्तु । ४०९. अन्यापोह इति । ४१०. अन्यापोहोऽस्ति, अमुकत्वात् । ४११. अभेदतया । ४१२. प्रतिभासादन्यापोहस्यान्यत्वं न । ४१३. प्रतिभासात् । विधेः । ४१४. प्रतिभाससामानाधिकरण्यात्प्रतिभासादन्यापोहादीनामभेदप्रतिपादनकाले । ४१५. सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादि । ४१६. ब्रह्मणः । ४१७. प्रतिभासमानत्वम् । ४१८. परमब्रह्मपरिज्ञानं विचारकस्य कुतः स्यात् ? न कुतोऽपि । ४१९. विधिवादी प्राह—लिङ्गस्य । ४२०. “पूर्वाकारपरित्यागादपरः प्रतिभाति चेत् । विवर्तः स परिज्ञेयो दर्पणे प्रतिबिम्बवत्” । (पूर्वाकारपरित्यागादिति कपाठः) । ४२१. ब्रह्मणः । ४२२. भाट्टः । सौगतः । ४२३. विधिवाद्याह । ४२४. भाट्टः । सौगतो वदति । यथा तथेदं वाक्यं लिङ्गं वा सत्यभूतं तथा सत्यभूपरब्रह्मसमानमनुमानं च कर्तृपुरुषाद्वैतं कथं व्यवस्थापयेद् ? अपि तु न । ४२५. कल्पितत्वप्रकारेण । ४२६. कल्पितत्वप्रकारेण । ४२७. येन प्रकारेणोपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च प्रतिपादकादिजनस्य प्रसिद्धं तेन प्रकारेण प्रसिद्धं पारमार्थिकं न परमार्थिकम् । भवति चेत् तदा द्वैतं प्रसज्यते, इति कुतः पारमार्थिकसिद्धिः ? न कुतोऽपि, उपनिषद्वाक्यस्येति शेषः । ४२८. कोऽर्थः परमार्थिकमुपनिषद्वाक्यं लिङ्गं चेति त्वयोक्तं तथा चेत्साध्यसमं यथाप्रसिद्धं तथोपनिषद्वाक्यमप्यसिद्धम् । असिद्धं साध्यमिति वचनात् । विरुद्धयोरधिकरणात् । ४२९. अन्यथा । ४३०. पारमार्थिकत्वं प्रतिपाद्यस्य प्रसिद्धं किल तर्हि कुतः चित्स्वभावस्य प्रतिपाद्यादीनां प्रसिद्धेरभावात्, प्रतिपादकसुखादिवत् । ४३१. तत् उपनिषद्वाक्याल्लिङ्गाच्च परमार्थसिद्धिमङ्गीकुर्वता विधिवादिना उपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च परमार्थभूतं ज्ञातव्यम् । ४३२. च अङ्गीकर्तव्यं प्रतिपत्तव्यम्, कपुस्तकपाठः ।

४३३. विकल्पचतुष्टयं मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयन्नाह । ४३४. सौगतो वदति—हे विधिवादिन् तत् (उपनिषद्वाक्यं लिङ्गं च) अचित्स्वभावं चित्स्वभावं वेति प्रश्नविकल्पः । अचित्स्वभावं चेत्तदा पञ्चहणो द्वैतं व्यवस्थापयति । चित्स्वभावं चेत्तदा प्रतिपादकाद्यनुमानद्वारेण दूषयति । प्रतिपादकवाक्यं पक्षः प्रतिपाद्यसंवेद्यं न भवतीति साध्यो धर्मः प्रतिपादकचित्स्वभावत्वात् । यत्प्रतिपादकचित्स्वभावं तत्प्रतिपाद्यसंवेद्यं न, यथा प्रतिपादकसुखादिकम् । प्रतिपादकचित्स्वभावं चेदं तस्मात्प्रतिपाद्यं न भवति । एवमग्रेषु । ४३५. उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य च चित्स्वभावत्वे सति परेषां ग्राह्यत्वं विरुध्यते । उपनिषद्वाक्यस्य लिङ्गस्य गुरोश्च चित्स्वभावत्वमस्तीत्युक्ते तथा सति गुरुसुखदुःखादिवत्स्यापि परेषां प्रतिपाद्यादीनां संवेद्यत्वं विरुध्यते । तस्य शिष्यस्य चित्स्वभावत्वे सति वा शिष्यसुखादेर्यथा तथा तस्यापि गुरोः संवेद्यत्वं विरुध्यते । तस्य गुरुशिष्योभयचित्स्वभावत्वे सति तत्सुखादेर्यथा तथोपनिषद्वाक्यस्यापि प्राश्निकानां संवेद्यत्वं ज्ञानग्राह्यत्वं विरुध्यते । ४३६. प्रतिपाद्यादि । ४३७. सर्वजनचित्स्वभावत्वे सति तस्यायं गुरुः, अयं शिष्यः, अमी प्राश्निका इत्यादिभावो नोपपद्यते, सर्वेषां चित्स्वभावत्वेन विशेषाभावात् । ४३८. या अविद्या गुरोर्गुरुत्वव्यवस्थापिका सैव शिष्यादेः सकाशादभिन्ना सती शिष्यादेरपि गुरुत्वं व्यवस्थापयेत् । ४३९. सकलजनचित्स्वभावस्याविशेषात् । ४४०. प्रतिपादकादीनां सङ्करप्रसङ्गः । प्रसङ्ग इति कपाठः । ४४१. अविद्याभेदकृतः प्रतिपादकादीनां भेद इति । ४४२. अभेदसाधने प्रवृत्तत्वं भेदः साधित इति विरुद्धधर्माध्यासः (अध्यासः साहित्यम्) । ४४३. एव प्रतिपादकः स एव प्रतिपाद्य इति । ४४४. न केवलं प्रतिपादकादय एवाविद्योपकल्पिताः । ४४५. तस्या अविद्याया नीरूपत्वाद् अविद्यमानत्वादित्यर्थः । ४४६. प्रतिपादकाद्यविद्यानामनाद्यविद्योपकल्पितत्वे प्रतिपादकादीनां विद्यासद्भावोऽव्ययमेव सम्भवति । ४४७. उपनिषद्वाक्यं प्रतिपादकादिभ्यो भिन्नं न भवतीति चेत्तदा प्रतिपादकादीनां युगपदेव सर्वेषां संवेद्यत्वं न भवेत् । ४४८. तेषां प्रतिपादकादीनाम् । ४४९. उपनिषद्वाक्यमचित्स्वभावं सद्बहिर्वस्तु सिद्धं यथा तद्वत् (उपनिषद्वाक्यवत्) घटादिवस्तुनोपि बहिर्वस्तुत्वं सिद्ध्यति । ४५०. उपनिषद्वाक्यं घटादिवस्तुरूपं प्रतिभास्यं प्रमेयमपि सुप्रसिद्धम् । (प्रतिभासस्यापीति खपाठः) । ४५१. घटः प्रतिभासते, ज्ञानं प्रतिभासते इति प्रतिभाससमानाधिकरणता । ४५२. यदि घटादयो ज्ञानादर्थान्तरभूतास्तदा कथं ज्ञानसामानाधिकरण्यं घटादेर्घटेत्युक्ते आह—प्रतिभाससमानेति । ४५३. प्रतिभास्येति खपाठः । ४५४. ज्ञानाद् ज्ञेयमुपचारादभिन्नं परमार्थतो भिन्नमिति प्रतिभासात्प्रतिभास्यस्यान्यापोहलक्षणस्य कथञ्चिद्धेदेपि प्रतिभाससमानाधिकरणता न विरुध्यते । प्रतिभासः समानमधिकरणं यस्य स प्रतिभाससमानाधिकरणस्तस्य भावः प्रतिभाससमानाधिकरणता । ४५५. घटः प्रतिभासत इत्युपचरितं सामानाधिकरण्यं, संवेदनं प्रतिभासते इति मुख्यं सामानाधिकरण्यं, संवेदनस्य प्रतिभासनमिति उपचरितं वैयधिकरण्यं, पटस्य प्रतिभासनमिति मुख्यं वैयधिकरण्यम् । ४५६. यदि घटप्रतिभासयोर्विषयविषयिभावस्तदा कथं घटः प्रतिभासत इत्यत्राभेद उपचर्यते तत्र घटस्याप्रतिभासत्वं मुख्यबाधाप्रतिभास्यत्वं निमित्तं तद्व्यवहारः प्रयोजनमिति । ४५७. घटः प्रतिभासत इत्यत्र घटे ज्ञानस्योपचारो विषयिभावो निमित्तम् । ४५८. “तत्” पाटनप्रती पाठः । मूले निक्षिप्तः । ४५९. मुद्रितप्रती “ततो वैयधिकरण्य” पाठः । भिन्नाधिकरण्यव्यवहारः । ४५९ (क) मुख्ये सामानाधिकरण्ये । ४६०. वैयधिकरण्यव्यवहारस्य । ४६१. सामानाधिकरण्यादेव । ४६२. सर्वथा भेदे वा किं दूषणमित्युक्ते आह । ४६३. भेदे मुद्रितप्रती पाठः ।

४६४. पटप्रकारेण । ४६५. समानाधिकरणता इति सम्बन्धः । ४६६. कथञ्चिद्धेदे सामानाधिकरण्यव्यवस्थापनद्वारेण प्रतिभासमानोऽन्यापोहः समानाधिकरणत्वे सत्यपि प्रतिभासाद्भिन्नो व्यवतिष्ठते, यतस्तस्मादन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषय एव कथं समवतिष्ठते ? न कथमपि । ४६७. अन्यापोहविषयः शब्दो विधिविषयो भवतीत्यङ्गीकारे कृते सति नैरात्म्यादिपरिहारेणाविवक्षितवस्तुपरिहारेण वा कथञ्चिद् ब्रह्मणि विवक्षितवस्तुनि वा शब्दः कथं प्रवर्तको यतः कुतो विधिविषयः स्यान्न कुनोऽपि । एवं शब्दः परार्थं परिहृत्य स्वार्थं प्रवर्तमानो भावाभावात्मको ज्ञेय इति स्याद्वादप्रक्रिया ।

४६८. अन्यापोहवादी आह—अप्रमाणत्वव्यावृत्त्या प्रमाणत्वमप्रमेयत्वव्यावृत्त्या प्रमेयत्वमित्यन्यापोहावतारः । ४६९. अन्यापोहस्य प्रमेयत्वकल्पनाभावे । ४७०. अन्यापोहवादानुप्रवेशेन । ४७१. तस्यैवोभयस्वभावत्वविरोधादित्यादिना

द्वितीयविकल्पनिराकरणेन । ४७२. स्वभावान्तरेण व्यवस्थानाभावः कुतो यावता प्रमात्रादिरूपेण विधेर्व्यवस्थितिर्भवित्यतीत्याशङ्क्याह । ४७३. प्रमिति । ४७४. विधिवाद्याह । विधिः प्रमाणं प्रमेयं च मा भवतु किन्तु प्रमातृप्रमितिरूपोस्तीति चेदाहान्यापोहवादी । प्रमात्रादेरपि प्रमाणविषयत्वं घटते, अन्यथा प्रमेयत्वं न घटते चेत्तदा प्रमाणव्यापारस्याभावात् प्रमात्रादिरूपेणाभ्युपगतस्य विधेर्वस्तुत्वं हीयते । ४७५. प्रमातरि प्रमितौ वा । ४७६. शब्दव्यापाररूप इति मुद्रितप्रतौ पाठः । ४७७. पुरुषभावना । ४७८. प्रत्येकपक्षद्वयनिराकरणेन । ४७९. पर्यायेण युगपद्वेत्यादिना नियोगनिराकरणे प्रोक्तं दूषणमत्रापि ज्ञातव्यं द्रष्टव्येत्यादिना । ४८०. तदुभयव्यापाररूप इति वा पाठः । ४८१. ब्रह्मदर्शनादि । ४८२. शब्दात्मव्यापाररहितो विधिरिति चेत् सोपि विषयस्वभावो वा स्यान्निःस्वभावो वा फलस्वभावो वेति क्रमेण दूषयति । ४८३. विषयस्वभास्य विधेः । ४८४. सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्यकाले । ४८५. सौगतप्रते निरालम्बनशब्दवादोभिप्रेतः । ४८६. अर्थरहितः । ४८७. फलस्वभावस्य विधेः स एव निरालम्बनशब्दवादप्रवेशः । कस्मात् ? तदा वाक्यकाले विधेरसामीप्यात् । ४८८. विधिः सन्नेव वाऽसन्नेव वा उभयरूपो वानुभयरूपो वेति विकल्पक्रमेण दूषयति । ४८९. विधिः पक्षः कस्यचिन्नुविधेयो न भवतीति साध्यो धर्मः, सत्त्वात् । यः सन् स न कस्यचिद्विधेयो यथा पुरुषः । संश्रयं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः (कर्तव्यः) । ४९०. द्वितीयविकल्पानुमानम्—विधिः पक्षः कस्यचिद्विधेयो न भवतीति साध्यः । असत्त्वात् । यदसत्तत्र कस्यचिद्विधेयं यथा खरविषाणम् । असंश्रयं तस्मान्न कस्यचिद्विधेयः । ४९१. द्रष्टव्योरेयमात्मेत्यादि दृश्यत्वकर्तव्यत्वादिना । ४९२. विधिरिति शेषः । ४९३. ततश्च स्वसिद्धान्तव्याघातः—विधेः सर्वथासत्त्वाभ्युपगमात्, असद्रूपस्य कस्यापि वेदान्तिनानभ्युपगमात् । ४९४. द्वैतापत्तिः । ४९५. विरुद्धम् । ४९६. सर्वथा असत्त्वनिषेधे । ४९७. जैनमता(स्याद्वादा)श्रयणात् । ४९८. तस्य सर्वथा प्रवर्तकत्वात् । ४९९. ताथागतादीनाम् । ५००. विधावप्रवर्तकतया गमनं विपर्यासः । ५०१. विपर्यासादेव । ५०२. वक्तुमिति शेषः ।

५०३. इति स्याद्वादी वदति । उभयेषां सौगतादीनां चेष्टं प्रतिपादितं प्रमाणविरुद्धं भवति । कस्मात् सदृशप्रत्यवस्थानव्यवस्थानात् । ५०४. विधिः पक्षः वाक्यार्थो न भवतीति साध्यो धर्मः, अप्रवर्तकत्वान्नियोगवत् । ५०५. अत्राह विधिवादी—कश्चिद्विधिः कुतश्चित्प्रमाणात्प्रमाणाद्वैते प्रवर्तको न स्यात् । ५०६. अन्यथा । ५०७. अप्रवर्तकत्वेन । ५०८. ब्रह्मणि । ५०९. किम्प्रयोजनकः । ५१०. द्रष्टव्येत्यादि । विधिः प्रवर्तक इति प्रतिपादनम् । ५११. अप्रवर्तकत्वेपि । यद्यपि प्रमाणप्रमेयघनेकधाविकल्पखण्डनद्वारेण विधिर्वाक्यार्थो नास्ति तथापि विधिवादिनो बलात्कारेण विधेर्वाक्यार्थत्वे नियोगस्यापि वाक्यार्थत्वं कथं न भवेत् ? इत्याशयः । ५१२. व्यतिरेकदृष्टान्तः । विधिवाद्याह—यथा पुरुषात्पटादिकार्यरूपं भिन्नं प्रतिभासते तथा न नियोगप्रेर्यमाणपुरुषविषयप्रेरकधर्मरूपेण घटादिः प्रतिभासते न तथा नियोग इति हेतुद्वयान्नियोगस्यानवतारान्न नियोगो वाक्यार्थो भवति । ५१३. भिन्नत्वेन । ५१४. पुरुष । ५१५. यागादि । ५१६. अग्निष्टोमेत्यादि । ५१७. विधिपक्षे । ५१८. विधिर्न वाक्यार्थः इत्यादि । ५१९. अवश्यकरणीयतयाभिमन्यमानः । सर्वं वै खल्विदं ब्रह्मेत्यादिवाक्याद्विधाप्यमान । ५२०. यागादिरूप । ५२१. आत्मा । ५२२. एतदेव क्रमेण विव्रियते । ५२३. अतो नियोगखण्डनद्वारेण विधिखण्डनार्थं भावनावादी वदति । ५२४. अकर्तव्यता । ५२५. सिद्धरूपस्य नियोगस्य यद्यनुष्ठेयता तदा तस्य नियोगस्य करणीयानवस्थाप्रसङ्गः, यतस्तत्र नियोगे कश्चिद्भागोऽसिद्धो नास्ति । ५२६. पुरुषधर्मस्य नियोगस्य सिद्धत्वं कथमित्याशङ्क्यामाह—कस्यचिदिति । ५२७. असिद्धरूपोपि नियोगो नियोज्यो भवतीति चेत्तदा वन्ध्यास्तनन्ध्यादेरपि नियोज्यत्वप्रसङ्गः । तथा नास्ति लोके विरोधदर्शनात् । ५२८. नियोगस्यैकं रूपं सिद्धमन्यदसिद्धं सिद्धरूपेण नियोज्यत्वे सति तस्यैव नियोगस्यासिद्धरूपेण कृत्वा अनियोज्यातायां सत्यामित्येकपुरुषस्य सिद्धासिद्धरूपमिश्रणादयं नियोज्योयमनियोज्य इति भेदो न सिद्ध्यति । अथवा तद्रूपयोरमिश्रणे सति भेदघटनादात्मनः सिद्धासिद्धरूपयोश्च परस्परसम्बन्धो नास्ति । कस्मात् ? उपकारकरणात् । ५२९. तद्रूपासङ्गकरे एव भेदप्रसङ्गादिति वा पाठः । ५३०. आत्मनः सकाशात् सिद्धासिद्धपर्याययोर्भेदप्रसङ्गात् । ५३१. ताभ्यां सिद्धासिद्धाभ्यामुपकार्यत्वे किं दूषणं स्यात् ? आत्मनो नित्यत्वहानिः । ५३२. प्रारब्धनियोगप्रश्नस्य निवृत्तिर्न भवतीति तदा किमायातम् ? अनवस्थानामदूषणं स्यात् ? ५३३. अतः प्रभृति

नियोगखण्डनवद्विधेः खण्डनं करोति भावनावादी । ५३४. यथैव हीत्यादिनियोगपक्षे । ५३५. अवश्यकरणीयदर्शनश्रवणमननादिरूपे । ५३६. तस्य सिद्धस्य पुरुषस्य करणे वा । ५३७. अविश्रान्तिरनवस्था वा । ५३८. विधेः । ५३९. यागलक्षणस्य विषयधर्मस्य नियोगस्य । ५४०. सकाशात् ।

५४१. अनुषङ्गस्य । ५४२. हे विधिवादिन् । ५४३. प्रत्येतुमशक्यत्वं कुत इत्युक्ते तत्र समर्थनपरं प्रथमं साधनम् । ५४४. दूषणस्य । ५४५. अवश्यकरणीयदर्शनादौ । ५४६. दर्शनादि । ५४७. आत्मनो धर्मः ५४८. विधिवादी । ५४९. पुरुषस्य । ५५०. अवश्यकरणीयदर्शनादेः । ५५१. नियोगमतमवलम्ब्य भावनावादी वदति । ५५२. द्रव्यादेः । ५५३. तस्य नियोगस्य करणाभावे सति विधेरप्यनुष्ठानं मा भूत् ? ५५४. अत्र विधिवादी वदति । ५५५. विधिर्नास्ति । ५५६. विधेः करणं घटते । ५५७. अनुष्ठानम् । ५५८. विधिवादी । ५५९. उत्तरम् । अप्रतीयमानत्वादेव । ५६०. विधिवादी । ५६१. दर्शनश्रवणादिरूपतया । ५६२. विधिप्रकारेण प्रतीयमानत्वादानुष्ठेयो भवतु । ५६३. विधिवादी भावनावादिनं प्रति । ५६४. कर्तव्यतया । ५६५. अयं नियोगो नान्य इति व्यवस्थितिर्भजति । ५६६. जुहुयादित्यादिषु । ५६७. अनुष्ठेयता प्रतिभाता अप्रतिभाता वा ? यदि प्रतिभाता तदा प्रतिभासान्तःप्रविष्टैव । अप्रतिभाता चेत्तदा तस्यावस्थितिरपि नास्ति । ५६८. तस्याः सकलवेस्तुसाधारणत्वादिति सम्बन्धः । ५६९. द्रष्टव्योऽरेयमात्मेत्यादिकर्तव्यतया । ५७०. वेदान्तवादिना । मुद्रितप्रतौ अनुकर्ण्यते पाठः । ५७१. विधिवादी । ५७२. अवश्यङ्करणीयम् । ५७३. प्रभाकरेण । ५७४. विधेः प्रतीतिकाले । ५७५. विधिप्रतीतिनियोगप्रतीत्योर्द्वयोरपि पुरुषदोषरहितवेदवचनजनितत्वेन कृत्वा सर्वथापि विशेषाभावात् । ५७६. विधिलक्षणार्थप्रतिपादकस्य । ५७७. विधिवाद्याह । विदधातीति विधायको द्रष्टव्योऽरेयमात्मेत्यादिवाक्यरूपः शब्दस्तस्य धर्मे विधिरपि विधायक इति । ५७८. अन्यथा । ५७९. शब्दस्त्वग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिः सिद्धरूपः शब्दधर्म एव नियोगः कथमसिद्धो यतो यागादिः कर्तव्यः स्यात् । ५८०. वेदवाक्येनानुष्ठेयो भवतीति प्रतिपाद्यते । ५८१. विधिसम्पादनस्य । ५८२. ज्ञातस्यापि ।

५८३. वेदस्य उप समीपे निषदनमुपनिषत् तस्य वाक्यमुपनिषद्वाक्यं पक्षः प्रमाणं न भवतीति साध्यो धर्मः, तस्यापूर्वार्थताविरहात् । यथा स्मृतिः । यथा स्मृतेरपूर्वार्थताप्रतिपादनं नास्ति श्रुत्यनुसारित्वात् तथेत्यर्थः । ५८४. नियोगभावनास्तित्वम् । ५८४. (क) नियोगस्योपचारेण विधिविषयत्वघटनात् । ५८५. विधौ । ५८६. 'प्रधानत्वां' मुद्रितप्रतौ पाठः । ५८७. असतौ च तौ विषयौ च । ५८८. 'सर्वथाप्यविद्यमानस्य शशकशृङ्गगनकुसुमवन्ध्यास्तनन्धयादेरपि तयोः प्रतीतिप्रवृत्तिकयोरनुषङ्गात् । ५८९. भावनानियोगयोर्नान्तरिकत्वं (न विच्छेदकत्वमविनाभावित्वं वा) तस्य सिद्धेर्घटनात् । ५९०. वेदवाक्यं मुख्यं विधिरपि मुख्य इति चेन्न, तथा सति द्वैताभावात् । ५९१. उपचरितत्वाभावे । ५९२. श्रोतव्यश्रोतृत्वादिभेदेन विधायकतया विधेयकतया विधेयतया च । ५९३. अत्र विधिविषयं वाक्यं प्रधानभावेन विधौ प्रमाणमस्तीति यदुक्तं तत्खण्डनार्थं भावनावादी नियोगमतमवलम्ब्याह, "विधिः प्रधानभावं नानुभवति, असत्यत्वात्, यो योऽसत्य इत्यादि" । ५९४. प्रभाकरेण । ५९५. (वेदान्त्याह) नियोगमतावलम्बिना भट्टेन त्वया । ५९६. विधेः । ५९७. यथा घटादिः कार्यतया पृथङ् न प्रतीयते तथा विधिः प्रतिभासमात्रात् पृथङ् न प्रतीयते । ५९८. यथा प्रेरकतया वचनमध्यवसीयते तथा विधिर्न । ५९९. विधिः । ६००. कार्यताप्रेरकता (विधेः) न युक्त्येव खपाठः । "कार्यताप्रेरकता प्रत्ययो" मुद्रितप्रतौ पाठः । ६०१. कर्मकरणसाधनाभावे विधिपरिज्ञाने कार्यताप्रेरकताप्रत्ययो युक्तो न । ६०२. अप्रेरितावस्थाविलक्षणेन । अद्रष्टव्यादिविलक्षणेन । ६०३. विधेः । ६०४. दर्शनादिकं विधीयमानतया विधेः सम्बन्धमधितिष्ठतीति यावत् । वृक्षस्य शाखेवाभेदे षष्ठीविधिना एकत्वमेवेत्यर्थः । ६०५. विधेर्मुख्यत्वनिश्चयो न विरुद्ध्यते । ६०६. वेदवाक्यादात्मान्य एव न तद्दर्शयति । वेदवाक्यं ज्ञानमेव तच्चात्मनो धर्मोऽतः कारणाद्वेदवाक्यात्मनोरभेद एवेति । ६०७. विधायकविधीयमानयोरभेदे । ६०८. ध्यातुं वा मुद्रितप्रतौ पाठः ६०९. प्रमितिः ।

६१०. विधेरभावात् । ६११. विधायकतया विधेयतया च । ६१२. भाट्टः । ६१३. आदिशब्देन भावना । ६१४ दर्शनश्रवणादावात्मसम्बन्धः । ६१५. नुः । ६१६. अन्यथा । कर्तव्यतासम्प्रत्ययाभावेऽपि तद्वाक्यश्रवणात्प्रवृत्तिरूपपद्यते चेत् । ६१७. का (पञ्चमी) । ६१८. अश्रोतव्यतादि । ६१९. वेदान्तिना त्वया । ६२०. आत्मद्रष्टव्यतादौ । ६२१. अप्रतिनियतविषय । ६२२. पटकर्तव्यतादिपरिहारं विना । अकटकर्तव्यतानिराकरणं विना । ६२३. विधिवादी वदति । ६२४. भाट्टः । ६२५. अस्तित्व । ६२६. यथा सर्वथा प्रतिषेधैकान्त(अन्यापोह)वादस्य प्रतिष्ठा नास्ति । ६२७. विधिवादी । ६२८. अन्यापोहस्य । ६२९. हेतुत्वेन । ६३०. भाट्टः । ६३१. प्राधान्यमाश्रित्य विधेः शब्दार्थनिरूपणावसरे । ६३२. शुद्धकार्याद्येकादशप्रकार । ६३३. पुरुषादेः । ६३४. शुद्धकार्यरूपे नियोगे वाक्ये । ६३५. विधिवादी । ६३६. प्राभाकराभिप्रायात् ।

६३७. अत्र विधिवादी वदति—तयोः प्रधानत्वाप्रधानत्वयोरन्यतरस्यापि शुद्धकार्यादिनियोगस्य । ६३८. प्रेरणा-दिनियोगस्य प्रधानस्याप्रधानस्य वा । ६३९. भावनावादी सौगतमतमवलम्ब्य विधिवादिनामाह । ६४०. विधिवादिः सौगतयोर्विवादसद्भावेन विशेषाभावात् । ६४१. विधिवादिनः । ६४२. वाक्ये । ६४३. सर्वथा प्रवृत्त्यङ्गतानुपपत्तेरिति वा पाठः । मुद्रितप्रतौ “सर्वथा” पाठो नास्ति । ६४४. कारणता । ६४५. जलादौ । ६४६. जलाद्यस्तित्वम् । ६४७. जलादौ । ६४८. सति । ६४९. परिसमाप्ति । ६५०. परिनिष्ठानुपपत्तिः कुतः ? ६५१. अग्निरूपाणाम् । ६५२. जलादौ । ६५३. तत्र विवक्षिते वस्तुनि पररूपाभावविचारणे परिसमाप्तिर्न सम्भवति । कस्मात् ? पररूपाण्यनन्तानि यतः क्वचिद्वस्तुनि प्रतिषेधः कर्तुं न शक्यते च यत इति हेतुद्वयम् । ६५४. विधिवादी पृच्छति—हे सौगतमतावलम्बिन् भावनावादिन् त्वया यत्पररूपं प्रतिषिध्यते तत्क्रमशो युगपद्वा ? क्रमतश्चेत्तदा तत्रापि पररूपं तदनिश्चित्य निश्चित्य वा प्रतिषिध्यते ? इति विकल्पद्वयमेव विधिवादी खण्डयति । ६५५. पररूपं ज्ञात्वा स्वयं क्रमेण निवारयितुं न शक्यते । कस्मात् ? तस्य पररूपस्य निश्चितेरप्यन्यपररूपप्रतिषेधाश्रयत्वात् । ६५६. पररूपस्यापि । ६५७. प्रतिषेधेनानवस्थाप्रसङ्गादिति पाठान्तरम् । ६५८. सद्भाव । ६५९. प्रतिपित्सितविधिसिद्धौ । ६६०. प्रतिपित्सितवस्तुनिराकरणेन तत्परिज्ञानपूर्वकसर्वान्यरूपनिषेधसिद्धिः । ६६१. भावनावादी भाट्टः । ६६२. विधिवादिनः । ६६३. इष्टे । ६६४. प्रत्यक्षादेरिव । ६६५. जलादिकम् । ६६६. सहितम् । ६६७. किञ्चित्केवलभूतलादिकं जानन् पश्यन् वायं प्रमाता पुमान् पररूपैर्घटादिकैः सङ्कुलं न पश्यति यतः कुतोऽन्यस्मात्प्रमाणात्पररूपप्रतिषेधः साध्यते ? अपि तु न कुतोऽपि । ६६८. पर आह—तर्हि हे स्याद्वादिन्, शुद्धभूतलघटादिपररूपैः सर्वथाऽसङ्कीर्णमेवेति पृष्टे स्याद्वादी वदति—नैवम् । कस्मात् ? सत्त्वप्रमेयत्ववस्तुत्वादिना कृत्वा भूतलस्य पररूपैः सहाऽमेलने सति भूतलस्याप्यसत्त्वमायाति यतः । ६६९. अन्यथा । ६७०. ६७१. व्यावृत्त्याव्यावृत्त्यात्मकं मुद्रितप्रतौ पाठः । ६७२. प्रत्यक्षात् । ६७३. सहाद्यात्मना । ६७४. प्रतिषेधस्यापि । ६७५. (प्रथमान्तम्) “आहुर्विधात् प्रत्यक्षं न निषेद्ध विपश्चितः । नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते ।” इति विधिवादिप्रतिपादितवाक्यस्यार्थस्य नियमस्यासम्भवात् । ६७६. अन्यथा नियमः सम्भवति चेत्तदा ततो विधातुः सकाशादविद्याविधानमनुषजति । ६७७. प्रत्यक्षादुपनिषद्वाक्याद्वा । ६७८. स्याद्वाद्याह—सोऽयं विधिवादी अविद्यापृथग्भूतं सन्मात्रं कुतश्चित्प्रमाणाज्जानत्रेव निषेद्ध प्रत्यक्षं नान्यत् (विधात्रेव प्रत्यक्षं न) इति जल्पन् कथं स्वस्थः स्यात् ? अपि तु न । अविद्याया विवेकः पृथग्भावः, अविवेकः सोऽस्यास्तीत्यविद्याविवेकि तच्च तत्सन्मात्रं चाविद्याविवेकिसन्मात्रम् । अविद्यायाः सन्मात्रे प्रतिषेधः प्रतीयते । ६७९. “अविद्याविवेकिसन्मात्रं” मुद्रितप्रतौ पाठः । ६८०. प्रमाणात् । ६८१. उपनिषद्वाक्यं । अन्यद्वेति खपाठः । “मन्येदेवेति” मुद्रितप्रतौ पाठः । ६८२. ततश्च न निषेद्ध प्रत्यक्षमिति वचो विरुध्येत । ६८३. यस्मात् प्रमाणाद्विधिप्रतिपत्तिस्तस्मादेव प्रतिषेधप्रतिपत्तिः सिद्ध्यति ।

६८४. विधिवादी । ६८५. प्रत्यक्षादेः प्रमाणस्य । ६८६. नियोगः । प्राभाकरः । ६८७. अतः । ६८८. अत्र भावनावादी वदति । इति नियोगवादिवचोऽयुक्तम्—विधिवादवत्परोदितनियोगस्याप्यप्रमाणत्वात् । ६८९. सन्मात्रं धात्वर्थोऽत्र विधिः । ६९०. प्रभाकरः । ६९१. नियोगविध्यादिस्वरूपप्रतिपादके वैदिके लौकिके च वाक्ये । ६९२. तेन । ६९३. अर्थभावनातो भिन्नाम् । ६९४. लिङ्लोट्त्व्याः कर्तारः । ६९५. अर्थभावना । करोति धात्वर्थलक्षणा

वक्ष्यमाणेयं सर्वार्थप्रतिपादिनी भावना अन्या पूर्वोक्तायाः शब्दभावनातो भिन्ना । कुतः ? सर्वाख्यातेषु विद्यमानत्वात् । ६९६. सर्वोर्थो यजनादिर्यस्याः सा । ६९७. अग्निष्टोमेत्यादिना । ६९८. उत्पाद्यते । ६९९. यथा शब्दव्यापारः । ७००. धात्वर्थस्य । ७०१. धात्वर्थस्य फलजनकत्वप्रकारेण । ७०२. कपुस्तके पुरुषव्यापार इति प्रथमान्तेन पाठः । ७०३. यथा शब्दव्यापारः । ७०४. पुरुषव्यापारे शब्दव्यापारो यथा धात्वर्थे पुरुषव्यापारो भावना तथा फले धात्वर्थो भावना न । ७०५. धात्वर्थस्य । ७०६. स हि धात्वर्थः सन्मात्ररूपो वा यजनादिरूपो वा क्रियारूपो वेति विकल्पत्रयं मनसि कृत्वा क्रमेण दूषयति भाट्टः । ७०७. भाव इति निश्चेयम् । ७०८. अर्थान्तररहितः । ७०९. स्वान्तर्गतविशेषरहितः । ७१०. सत्ताम् । ७११. अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपादिकमिति पाणिनिभूता शब्दानां संज्ञा । ७१२. परब्रह्म । ७१३. एवं नियोगवादिनां धात्वर्थभावनावादः प्रतिक्षिप्तः, तथा विधिवादः प्रतिक्षिप्तः । ७१४. भावनावादिनां विधिवादनिराकरणे । ७१५. द्वितीयविकल्पः (भाट्टः) ७१६. भावनावाद्याह—हे विधिवादिन् एवं किं तवाभिप्रायः । ७१७. ततः सन्मात्रादन्य एव धात्वर्थ इति तदा—सोपि धात्वर्थः प्रत्ययर्थरहितो न दृश्यते । यजनादिः । ७१८. लिङाद्यर्थः करोत्यर्थव्याप्तः । ७१९. अग्निहोत्रादेः । ७२०. प्रत्ययसहितस्यैव तस्य धात्वर्थः ततो वाक्यात्प्रत्ययो भवति । ७२१. स प्रत्ययार्थ उपाधिर्विशेषणं यस्य स तथोक्तस्तस्य तदुपाधेः प्रत्ययार्थविशेषणभूतस्य सम्प्रत्ययात् । ७२२. “सम्प्रत्ययात्” इति मुद्रितप्रतौ पाठः । ७२३. प्रभाकरः । विधिवाद्याह । ७२४. धात्वर्थे । ७२५. कर्मकरणादेर्यथान्यत्र भावो विद्यते । ७२६. धात्वन्तरे । ७२७. “भावादिति” मुद्रितप्रतौ पाठः । ७२८. भाट्टः । ७२९. “धात्वर्थे” मुद्रितप्रतौ पाठः । ७३०. धात्वर्थान्तरे । ७३१. लिङ्लोटत्त्वम् । ७३२. वयं भावनावादिनः, हे विधिवादिन् तव मम च तुल्यं दूषणं पश्यामः । ७३३. (तृतीयो विकल्पः) भावनावादी प्राह—हे विधिवादिन्, भवदभ्युपगतः सन्मात्रस्तावद्धात्वर्थो न । यदि पुनः सकलव्यापिनी करोत्यर्थलक्षणा क्रिया सर्वधातुषु सम्भावद्धात्वर्थस्त्वयाभ्युपगम्यते तदास्माभिः सैव सर्वव्यापिनी क्रिया भावना किं नेष्यते । अपि त्वभ्युपगम्यते । कुतः ? सर्वार्थेषु सर्वाख्यातेषु च तस्याः सम्भवात् । ७३४. यजनपचनादिक्रिया । ७३५. “सकलव्यापिनीः” मुद्रितप्रतौ पाठः । ७३६. पुरुषभावना । ७३७. यजनादिलक्षणे लडादिषु च ।

७३८. हवनविशिष्टम् । ७३९. लडादयः । ७४०. केन प्रकारेण प्रतिपत्तिरित्युक्ते आह । ७४१. क्रियाया एव भावनात्वे च । ७४२. आत्मा । ७४३. शुद्धभावना । ७४४. त्रिविधोपि धात्वर्थः । ७४५. भाट्टः । ७४६. वाक्यार्थतया न प्रतीयते । ७४७. प्रभाकरः । ७४८. अग्निहोत्रादि । ७४९. वाक्यार्थतया । ७५०. कृतिरूपव्यापारं प्रति साधकतमलक्षणस्येति । ७५१. ज्ञापकः । एवं कुर्विति । ७५२. शब्देन । ७५३. अन्यथा शब्दोच्चारणाभावे नियुक्तोहमनेनेति प्रतिपत्तृणां प्रतिपत्तिर्नोपपद्यते । ७५४. भाट्टः । ७५५. शब्दभावना । ७५६. स्वरूपम् । ७५७. शब्दभावनातः । ७५७. (क) न कोपीत्यर्थः । ७५७ (ख) सुगतस्य । ७५८. प्रेरणा । ७५९. “नैव गच्छति” मुद्रितप्रतौ पाठः । ७६०. शब्दस्य यतः स्वभावेन नियोजकत्वम् । ७६१. कार्यस्येत्यध्याहारः । ७६२. सौगतमाशङ्क्य भट्टः प्राह । ७६३. अस्य शब्दस्यामर्थ इति सङ्केतः । ७६४. सङ्केतग्रहणे शब्दस्यायोग्यत्वात् सङ्केतग्राहकं ज्ञानं न तु शब्दः । ७६५. कार्यस्य । ७६६. बौद्धः । ७६७. सङ्केतलक्षणा सामग्री । “सङ्केतसामग्री यदि तत्र न व्याप्रियते तर्हि पुरुषस्यार्थे कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह” इति पाठांतरम् । ७६८. प्रेरणायामिति वा पाठः । नियोगे । ७६९. उभयरूपायाम् । ७७०. यदि सङ्केतसामग्री न तत्र व्याप्रियते तदा पुरुषस्य कथमर्थे प्रवृत्तिरित्युक्ते—आह । ७७१. सत्याम् । ७७२. नियोगभावनानिरपेक्षतया । ७७३. अर्थे । ७७४. सङ्केतसामग्र्या अर्थपरिज्ञाने सति प्रवृत्तिघटनात् । ७७५. किञ्च भावना हि प्रेषणाध्येषणरूपा । सा च प्रयोज्यप्रयोजकद्वयीं विना तयोश्च बाध्यमानप्रतीतिकत्वेनाऽसत्त्वात्कुतः सा भावना ? यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकामः । किञ्च प्रेषणाध्येषणयोरपि बहिरर्थरूपतया न शाब्दी प्रतीतिरस्ति बुद्ध्यारूढस्यैवार्थस्य शब्दवाच्यत्वादतः कथं तद्रूपा भावना शब्दाभिधेयो यतस्तत्र सङ्केतो व्याप्रियेतेति वक्तुकाम इदं कुर्वित्याधारभ्य प्रज्ञाकर इति पर्यन्तमाह । ७७६. लिङ्गार्थयोः । ७७७. नियोज्यस्य । ७७८. व्यापृततामवस्थामिति खपाठः । ७७९. आत्मना स्वीकृत्य । ७८०. शब्दव्यापारापरपर्यायप्रेरणादिरूपः शब्दः । ७८१. नियोजकस्य । ७८२. अग्निष्टोमेन यागादिकरणं स्वर्गप्रापणनिमित्तपुण्योपार्जनं च सर्वं निष्पन्नमेव तस्मिन्नेव काले । ७८३. पुरुषः । ७८४.

काल्पनिकः । ७८५. किञ्च शब्दात् प्रेषणादिप्रतीतिरपि न युक्ता । कुत इत्याह । ७८६. बुद्धिपरिकल्पितो यतः । ७८७. प्रेरकस्य ।

७८८. यागविषय । स्वव्यापाराविष्टमात्मानमप्रतीयतेति पाठान्तरं । ७८९. सती । ७९०. बाध्यमाना सती निरालम्बनेति शेषः । ७९१. पुंसा । ७९२. प्रयोज्येन । ७९३. प्रेरणाप्रेषणयोः सम्बन्धिनी । ७९४. इतो वदति बौद्धः—सा भाविनी प्रतीतिः । शब्दाज्जायते इति हे भट्ट यदुक्तं त्वया तद्वक्तुं युक्तं न । ७९५. शब्दस्य । ७९६. गुरुणा । ७९७. शिष्येण । ७९८. गुरोः । ७९९. बुद्ध्यारूढः । ८००. श्रोता । ८०१. वेदवाक्यात् । ८०२. अपौरुषेयस्य । ८०३. प्रतिपत्ताध्यवस्यतीति सम्बन्धः । ८०४. प्रतिपन्नार्थाव्यभिचारी । वक्तृव्यापारो विवक्षा । ८०५. बुद्धार्थे । ८०६. बाह्यपदार्थस्वरूपकारणकम् । ८०७. श्रोतुर्बुद्धौ । ८०८. उपाध्यायव्यापारगम्यार्थशिष्यबुद्धिप्रकाशमानार्थे शब्दस्य प्रामाण्यम् । ८०९. बुद्ध्यारूढेऽर्थे । ८१०. बाह्यतत्त्व । ८११. बौद्धः । ८१२. इतो भाट्टो वदति । ८१३. प्रत्यक्षप्रमाणात् । ८१४. प्रत्यक्षार्थः पुरो दृश्यमानार्थः । ८१५. शब्दाद घटादिबाह्यपदार्थप्रतिपत्तिर्न भवति चेत्तदा ततः शब्दाद्बहिरर्थे जलादौ पिपासितादेः पुंसो जलादिपरिज्ञानं, तत्समीपे गमनं, स्नानपानानयनदिरूपा तत्प्राप्तिश्च न घटते । ८१६. सापेक्षादेव मुद्रितप्रती पाठः । ८१७. शब्दविषयार्थः । ८१८. अन्यथा । ८१९. प्रत्यक्षार्थे । ८२०. नुः । ८२१. शब्दात् । अभिलाषादिति च क्वचित्पाठः । ८२२. प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्तिस्ततोभिलाषस्ततः प्रवृत्तिरिति । ८२३. भाट्टः । ८२४. भावनाप्रेरणारूपस्यार्थस्य । ८२५. भावनाप्रेरणयोः । ८२६. सौगतः । ८२७. यागलक्षणे । ८२८. भावनाप्रेरणालक्षणार्थस्य ।

८२९. व्यापृतत्व । ८३०. भट्टः । ८३१. प्रत्यक्षादावपि बाध्यमानप्रतीतित्वस्य समानत्वात् । ८३२. स्नानपानादि । ८३३. सलिलादेः । ८३४. प्रत्यक्षेण । ८३५. भाविन्यर्थक्रियाकारितायाः प्रत्यक्षीकरणे सति । ८३६. “वैफल्यत्” मुद्रितप्रती पाठः । ८३७. कथमेवेति न शक्यं मुद्रितप्रती पाठः । ८३८. कुतः ? यतो बाध्यमानप्रतीतिकमेवेति । ८३९. हे सौगत, त्वमेवं वदसि । ८४०. प्रत्यक्षे । ८४१. भाविन्यर्थक्रियाकारिताप्रत्यक्षयोरैक्याधारत्वात् । ८४२. अनागतता । ८४३. पुरुषव्यापृततावस्थ-योरेकत्वाध्यवसायादेव । ८४४. “प्रतिभातैवेति” मुद्रितप्रती पाठः । ८४५. भवद्भिः सौगतैः । ८४६. बौद्धः । ८४७. भाट्टः । “तथापि” मुद्रितप्रती पाठः । ८४८. “भवति । ततो” मुद्रितप्रती पाठः । ८४९. कुतो न स्यात् ? अपि तु स्यादेव । ८५०. बौद्धः । ८५१. ज्ञानस्य स्वस्मादेव प्रवृत्तिर्न तु बहिरर्थात् । ८५२. “संवेदनाद्वैतस्य वा” मुद्रितप्रती पाठः । ८५३. ‘सिद्धिः’ मुद्रितप्रती पाठः । ८५४. भाट्टः । ८५५. प्रतीतिः । ८५६. ‘सिद्धिरेव स्यात्’, मुद्रितप्रती पाठः । ८५७. दृश्यप्राप्ययोरर्थयोः सर्वथा भेदे । ८५८. हे सौगत, पूर्वजलज्ञानोत्तरस्नानपानप्रवृत्तिज्ञानयोः सर्वथा भेदप्रतिपादने तावत्प्रत्यक्षं ज्ञानं प्रवृत्तिविषयोपदर्शकं न स्याद्यतः । ८५९. भवद्भिः सौगतैः । ८६०. विरोधादेदोषस्य चित्रज्ञानदृष्टान्तेन निराकृतत्वात् । ८६१. क्षणिकस्य मुद्रितप्रती पाठः । ८६२. नित्यस्य मुद्रितप्रती पाठः । ८६३. काल्पनिकत्वे सति (असत्यत्वे) द्रव्यवादी सांख्यो भेदं सङ्कल्पितं मनुते । पर्यायवादी बौद्धोऽभेदं सङ्कल्पितं मनुते । एवमुभयोः कल्पितत्वे वस्तुनः सर्वथापि नार्थक्रिया घटते । ८६४. ‘स्वतः’ इति पाठान्तरम् । ८६५. स्वर्गकामोऽग्निहोत्रं जुहुयादित्याऽवाक्योच्चारणकाले । ८६६. यथा प्रत्यक्षाज्जलादौ प्रवृत्तिर्निष्फला न स्यात्तथा शब्दान्त्रियोगो निष्फलो न स्यात् । ८६७. प्रत्यक्षे । ८६८. सामर्थ्यं । ८६९. प्रवर्तनमन्तरेणार्थक्रियानुभवो न स्यात् । व्यक्तार्थक्रियानुभवे सति जलक्रियार्थं प्रवर्तनं पुरुषस्य सफलतां न प्राप्नोति । ८७०. प्रत्यक्षप्रकरणे (भाट्टः) । ८७१. “शब्दात्मनः” मुद्रितप्रती पाठः । पुरुषस्य । ८७२. यागलक्षणः । ८७३. यागलक्षणः । ८७४. कर्तृभूतः । ८७५. ‘सफलतामियात्’ मुद्रितप्रती पाठः । ८७६. “समानन्यायात्” इति पाठो मुद्रितप्रती नास्ति । ८७७. “तथा प्रतीतेरेव चाध्यक्षत्वसिद्धेरिति” मुद्रितप्रती पाठः । ८७८. प्रत्यक्षादिव शब्दाद्बहिरर्थप्रतिपत्तिसिद्धिर्यतः प्रयोज्यप्रयोजकप्रतीतिश्च सत्या प्रतिपादिता यतः ।

८७९. भाट्टो वदति । (प्रज्ञाकरेण स्वग्रन्थे) । ८८०. अप्रधानयोः । ८८१. विभक्तिः । ८८२. “कर्तुरभिधाने” मुद्रितप्रती पाठः । ८८३. कर्तुः । ८८४. तृतीया । ८८५. भाट्टः । ८८५ (क) अर्थभावना । ८८६. भावनायाः किं लक्षणमित्युक्ते आह । ८८७. करोत्यर्थः । ८८८. ‘करणक्रियाया’ मुद्रितप्रती पाठः । ८८९. यदि भावनाविशेषणत्वेन

कर्ता तथापि तयोः क्रमप्रतीतिसम्भवेन पूर्वं कर्तुः प्रतिभासाभावात्तृतीया प्राप्नोतीत्याशङ्कयामाह । ८९०. भट्टो वदति—यत एवं तत इदमग्रतनकारिकादौ वक्ष्यमाणं सौगतवचनं मनोज्ञं न स्यात् । ८९१. क्रमप्रतीतिरेवं स्यादिति खपुस्तकपाठः । ८९२. कर्तृभावनयोर्विशेषणविशेष्यभावप्रकारेण । स्युरेवं तु पुनरेवेत्यवधारणपाचका इति वचनात् । ८९३. 'यदभ्यधायि' मुद्रितप्रतौ पाठः । ८९४. भट्टो वदति—यदवादि सौगतेन तदप्यसत्यमिति पर्यन्तं सम्बन्धः । ८९५. क्रियालक्षणाया भावनायाः । ८९६. च प्राप्नुतः । मुद्रितप्रतौ पाठः । ८९७. 'स्वव्यापार' मुद्रितप्रतौ पाठः । ९८९. तर्हि । ८९९. उदाहरणम् । ९००. कटलक्षणस्य । ९०१. भेदात् । ९०२. तथा भिदा, कर्तृभेद इतीत्यं चेति पाठान्तरम् । कर्त्रपेक्षया क्रियाया द्वैविध्यं जातम् । ९०३. क्रियाया एकत्वानेकत्वप्रकारेण । ९०४. न किमपि (काकुः) । ९०५. भट्टः (सौगतोक्तमसत्यम्) । ९०६. प्रत्यक्ष । ९०७. भेदादेकवचनं मुद्रितप्रतौ पाठः । ९०८. भावे । ९०९. प्रत्ययार्थो धात्वर्थान्निद्रः । ९१०. पुरुषव्यापारः ९११. क्रियातः । ९१२. प्रत्ययार्थस्य । ९१३. कर्तृसाध्यप्रत्ययत्वात् (भाट्टः) । ९१४. देवदत्तयज्ञदत्तौ । ९१५. भावरूपो धात्वर्थः । ९१६. योगाचारस्य । ९१७. तस्य प्रत्ययरूपनियोगस्य । ९१८. कर्तृसम्बन्धात्कारकभेदाद्यदिप्रत्ययभेदस्तदा । ९१९. सत्तारूपस्य आस्यते इत्यस्य । ९२०. प्रत्ययभेदः । ९२१. पुरुषेण निष्पाद्यः । ९२२. हेतोः । ९२३. कारकः । कर्तुः । प्रत्ययः । ९२४. योगाचाराणाम् (सौगतादीनाम्) । ९२५. कल्पना । ९२६. व्यापारस्य कारकस्य । ९२७. दशलकारेण । ९२८. प्रत्ययरूपनियोगस्य भेदाभेदौ भवतः । ९२९. एकवचनादिकम् ।

९३०. भावे समुत्पन्ना लकाराभिधेया । ९३१. टि. मुद्रितप्रतौ नास्ति । ९३२. का (पञ्चमी) । ९३३. भेदेन 'हि मुद्रितप्रतौ पाठः । ९३४. क्रिया । ९३५. त्यादिप्रत्ययेन । ९३६. अप्रधाने । ९३७. भावे क्रियायाः कर्तुं सकाशादत्र भेदः ९३८. भाट्टः । ९३९. देवदत्तकर्तृकः करोत्यर्थो भवति यतः । ९४०. आख्यातेन । ९४१. कर्तृव्यापारः । ९४२. अर्थभावना । ९४३. कर्तृव्यापारस्य भावनात्वेन । ९४४. भाव एव अर्थो येषां ते । ९४५. कर्मशब्दाः (क्रियावाचकाः) इत्यत्र कर्मशब्दां एव भावार्था इत्येवकारो द्रष्टव्यः । ९४६. ण्यन्तस्य घञिति पाठान्तरम् । ९४७. स पुरुषोऽग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवेदवाक्येन प्रेरितः सन् । ९४८. यागे । ९४९. पुरुषः । ९५०. नियोगस्येति पाठान्तरम् । नियोगशब्देन शब्दभावना । (शब्दव्यापाररूपप्रेरणस्य) । ९५१. अर्थभावनाया विशेषणत्वात् । 'तच्छेषत्वादिति' मुद्रितप्रतौ पाठः । ९५२. मुख्यत्वेनेति शेषः । गुणवृत्त्या चेदस्ति तर्हि कथम् ? ९५३. इदं कुर्विति नियोगनिष्ठत्वेन । ९५४. विशेषणविशेष्यनान्तरीयकत्वादिति भावः । ९५५. प्रेर्यमाणोपि न प्रवर्तते चेत् । ९५६. स्वव्यापाराप्रतीयमानत्वे । ९५७. पुरुषः । ९५८. सौगतस्य । ९५९. वेदेनोक्तो यागादिलक्षणो व्यापारोऽवश्यं ममेदं स्वर्गादिफलं विना पुरुषो वेति न वा । ९६०. वाक्योच्चारणकाले फलाभावश्चेन्ममैव व्यापारः कथं मन्यते । ९६१. फलं विनापि मन्यते चेत् । ९६२. प्राप्तिरवगतिश्च । ९६३. भाट्टः । ९६४. वाक्योच्चारणकाले । ९६५. सौगतः । ९६६. भट्टो वदति सौगतं, फलं विना प्रत्यक्षप्रमाणादिदं जलमिति कथं जानाति स्नानादिफलमपश्यन् भवान् कथं प्रत्येति । ९६७. सौगतः । (स्नानपानादि) । ९६८. फलयोग्यतायाः प्रतीतिरेव । ९६९. फलस्य स्वर्गादिः । ९७०. यज्ञकर्त्रा । ९७१. 'प्रत्यक्षविषयस्य कथम्' मुद्रितप्रतौ पाठः । ९७२. जलादौ । 'प्रत्यक्षस्य विषये' मुद्रितप्रतौ पाठः ।

९७३. शान्तिकपौष्टिकाचरणफलाभ्यासात् । (ऐहिकामुत्रिकेपि) ९७४. यज्ञकर्तुः । ९७५. यागलक्षणे । ९७६. फलयोग्यतानिश्चयः । ९७७. भट्ट आह—यदपि वक्ष्यमाणमवादि प्रज्ञाकरणे । (तदपि न परीक्षाक्षममिति सम्बन्धः) । ९७८. अतिरेको नामाऽऽधिक्यम् । ९७९. कथमनवस्थेत्याशङ्क्याह । ९८०. शब्दाः । ९८१. प्रकृतिप्रत्ययादिभेदमन्तरेणापि । ९८२. वर्तन्ते इति शेषः । ९८३. व्यपदेशेभ्यः । ९८४. यदि यागं करोतीत्यत्र भावनाख्यपदार्थतत्त्वव्यवस्था तदा स्वव्यापारं निष्पादयतीत्यत्रापि भावनान्तराणां व्यवस्था भविष्यतीति भावः । (यजते यागं करोतीति भेदव्यवहारे सत्यपि तदभिधेयतत्त्व (भावनाख्य)स्य कथं भेदेऽनवस्था न स्यादित्याशङ्कयामाह) ९८५. यजते यागं करोतीत्यत्राभेदेऽपि भेदस्त्वया दर्शितो यजनार्थस्त्वेक एवेत्यभेदं दर्शयन्नाह । ९८६. केतोः । ९८७. 'व्यवहारो' मुद्रितप्रतौ पाठः । ९८८. 'दृश्यते' मुद्रितप्रतौ पाठः । ९८९. 'तथा' मुद्रितप्रतौ पाठः । ९९०. 'इत्यभिधीयते' मुद्रितप्रतौ पाठः । ९९१. यागात् । यागस्य व्यापाररूपत्वात्ततो भिन्ना करोतीति क्रिया न दृश्यते इति

भावः । १९२. 'यदि क्रिया' मुद्रितप्रतौ पाठः । १९३. पुरुषस्य । १९४. विशेषणात् । १९५. देवदत्तत्वेन प्रापणात् । १९६. केन कृत्वा प्रापणमित्याह—सामानधिकरण्येति । १९७. व्यपदेशानाम् । १९८. 'प्रतिपत्तिः' मुद्रितप्रतौ पाठः । १९९. एकार्थता यतः । १०००. अर्थं विना । १००१. यागं करोति स्वव्यापारं निष्पादयति यागं निर्वर्तयतीत्येतेभ्यो वाग्व्यवहारेभ्यः (भट्टः संविदद्वैतवादिनं प्रत्याह) १००२. एते व्यपदेशभेदाः सर्वेऽपि करोतिक्रियारूपार्थभावनामेव व्यवस्थापयन्ति, अर्थभेदेनाऽनवस्थाभावादिति भावः ।

१००३. प्रज्ञाकरः । १००४. यदि त्वया सौगतेनेति शेषः । १००५. भट्टः । १००६. कर्तृ । १००७. सौगतस्येति शेषः । १००८. भट्टः । १००९. परिहार्यः । १०१०. भट्टः । १०११. कथञ्चिद्धेदमन्तरेणापि भेदव्यवहाराः प्रवर्तन्ते चेत्तदा भेदव्यवहाराणां गौणत्वं स्यात् । १०१२. औपचारिकं चैतन्नेष्टम्—तात्त्विकभेदस्यानन्तरं निरूपितत्वात् । १०१३. 'किमिह' मुद्रितप्रतौ पाठः । १०१४. अन्ययोगव्यवच्छेदाभावे सन्देहविच्छित्तिर्न स्यात् । १०१५. शरीरे शिरसि चोच्यमाने सति । १०१६. शरीरशरीरवतोः । १०१७. अवस्थापेक्षया । १०१८. सर्वावयवसम्पूर्णता । १०१९. ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि । १०२०. स्थितिमान् । १०२१. ऊर्ध्वस्थितिखण्डादि । १०२२. 'ख्यातः' मुद्रितप्रतौ पाठः । १०२३. (बौद्धः) कल्पितः । १०२४. अवस्थावस्थावतोः । १०२५. खपुष्पस्यासत्त्वे सांवृतत्वे च सौरभस्य सत्त्वमसांवृतत्वं च विरुद्ध्यते यथा । १०२६. शिलापुत्रकस्य शरीरमित्यादिव्यवहारः कथञ्चिद् भेदमन्तरेण न घटते यतः । १०२७. 'स्वभावाश्रय' मुद्रितप्रतौ पाठः । यागकृतिलक्षणः पदार्थ आत्मस्वरूपाश्रय एव । १०२८. भावनालक्षणं यद्वस्तु तत्स्वभावाश्रय इत्युक्तेऽर्थशून्यत्वं नेत्यर्थः । १०२९. किञ्च । १०३०. 'यदि' मुद्रितप्रतौ पाठः । १०३१. द्विजलक्षणस्य द्रव्यस्य । १०३२. अभेदात् । १०३३. यदि क्रिया च द्रव्यस्य विशेषादपरा नहीति च पाठः । १०३४. सहाय्ये तृतीया ।

१०३५. प्रत्यभिज्ञान । १०३६. 'परमार्थात्सन्नेकः' मुद्रितप्रतौ पाठः । १०३७. नश्यन् । १०३८. द्विजात्तद्व्यापारो यागरूपो भिन्न एव । १०३९. उत्पादविनाशापेक्षया । १०४०. द्विजात् । १०४१. अनित्यत्वलक्षण । १०४२. द्विजाद्यागलक्षणक्रिया भिन्ना यथा । १०४३. पचन । १०४४. यजनपचनादौ करोत्यर्थसद्भावेनानुगतप्रत्ययवेद्या । १०४५. करोत्यर्थविपरीतात्मकाद्यजनात् करोतीति क्रियार्थान्तरभूतास्ति । १०४६. अनिराकरणीया । १०४७. यागस्तु तद्व्यापारस्ततो देवदत्तादपर एवेति करोतीति क्रिया यागादर्थान्तरभूतेत्यनन्तरोक्तसाध्यद्वये यथाक्रमं यजते यागं करोति देवदत्तो यजति पचतीत्यादिना च साधनद्वयमुपदर्शयन् यजते इत्याह । १०४८. देवदत्तस्य करोतेश्च समानाधिकरणता । १०४९. यागस्य । १०५०. भो बौद्ध, तयोः करोतीति क्रियायागयोः देवदत्तेन सह सर्वथैकत्वे तत्सामानधिकरण्यं विरुद्ध्यते यथा पटपटस्वरूपयोः सर्वथैक्ये सामानधिकरण्यं विरुद्ध्यते (न तु कथञ्चिदैक्ये) । १०५१. यागादन्या क्रियेति साधनद्रव्येण स्थापयति । १०५२. समानाधिकरणताविरोधः । १०५३. यज्यादिः करोत्यर्थान्निद्रः । तस्मिन्निश्चीयमानेपि तस्याऽनिश्चीयमानत्वात् । १०५४. बौद्ध आह—करोत्यर्थयज्याद्यर्थौ सामान्यविशेषौ तत्त्वस्वरूपेण यदि भिन्नौ तदान्यो यज्याद्यर्थः सन्दिग्धः करोत्यर्थस्य कथने प्रश्नोत्तरे तदायं क्रमो दुर्घटः । १०५५. 'यज्याद्यर्थौ' मुद्रितप्रतौ पाठः । १०५६. यज्यादिक्रियातः । १०५७. सामान्यापेक्षयाऽनिश्चितेऽर्थे । १०५८. आह भट्टः—सामान्यविशेषयोर्वस्तुस्वरूपयोः सर्वथैक्यमित्येतद्वचो बौद्धस्य प्रमाणविरुद्धम् । १०५९. यज्याद्यर्थस्य । १०६०. प्रश्नात् । १०६१. सामान्यविशेषयोः कथञ्चित्सामान्यापेक्षया अभेदोपगमादेकतरस्य सन्दिग्धस्य कथनात् प्रश्नोत्तरक्रमो घटते । १०६२. तयोः सामान्यविशेषयोः सर्वथाऽभेदे सत्येव तस्य प्रश्नोत्तरक्रमस्य दुर्घटत्वं स्यात् । १०६३. प्रज्ञाकरस्य ।

१०६४. भट्टेन यदि सामान्यविशेषयोः कथञ्चिद्धेदोऽभ्युपगम्यते तदा न सामान्यमित्यादि । 'न सामान्यं' मुद्रितप्रतौ पाठः । १०६५. विशेषयुक्तमेव प्रतीयते इत्यर्थः ।

१०६६. सामान्येन स्वीक्रियमाणस्य (ज्ञाप्यमाणस्य) । १०६७. निश्चयेन । १०६८. कारिकायाः पूर्वाशस्य सुगमत्वादुत्तरार्धं व्याचष्टे । १०६९. भट्टवचनम् । १०६९. (क) विशेषस्य । १०७०. भट्टः । १०७१. करोत्यर्थेन । १०७२. यज्याद्यर्थः । १०७३. (बौद्धः) सामान्ये प्रतीते सति । १०७४. स्वीकारः । १०७५. करोत्यर्थेन ।

१०७६. यज्याद्यर्थेन । १०७७. परिज्ञानात् । १०७८. बौद्धः । १०७९. ज्ञापकम् । १०८०. अपरिस्मिन् सामान्ये सति । १०८१. भाट्टः । १०८२. दृश्यमानानुपलम्भाऽदृश्यमानानुपलम्भविकल्पद्वयं परिहृत्य सामान्यमेवानुपलम्भप्रमाणं यो वदति तस्यानुपलम्भादभाव एव घटते, न तु संशयः । १०८३. भाट्टस्य । १०८४. भाट्टः प्राह । १०८५. उत्तरमाह प्रज्ञाकरः । १०८६. अनुपलब्धिमात्रादेव । १०८७. यतस्ततः १०८८. यज्यादि । १०८९. किन्त्वनुपलब्धिमात्रं स्यात् । १०९०. तर्हि । १०९१. नास्ति च तथा ततश्च भाव एवेति भावः । १०९२. तथाऽनुपलब्धिलक्षणरूपायाः पिशाचादीनामनुपलब्धेः संशयो युक्तः । १०९३. भाट्टः । १०९४. तर्हि वैयर्थ्यं भवतु का नो हानिरित्युक्ते आह । १०९५. यजति पचति १०९६. 'नगरेषु कान्यकुब्जादिषु' इति ख पाठः । १०९७. सामान्ये संशयस्यान्वयव्यतिरेकौ न स्तः । अनुपलब्धिमात्रे स्तः । ततश्च सामान्यप्रत्याक्षादिति विशेषणं व्यर्थम् । १०९८. संशयो न घटते यतः । १०९९. उल्लेखनम् । ११००. विशेरूपं न तु करोतीति क्रियारूपम् । ११०१. एकत्वेन । ११०२. दृष्ट इति भावप्रधानोऽयं निर्देशः । ततश्च सामान्यतो दृष्टात् सामान्यरूपेण दृश्यमानत्वान्निराज्जातमनुमानं तस्माद्यज्यादिकं सामान्यं, तथैव दृश्यमानत्वात् । यद्यथा दृश्यते तत्तथैव भवति यथा नीलं नीलतया । इत्यनुमानम् । (भट्टः) यज्यादिकं सामान्यत भवति, तद्व्यतिरिक्तं करोति सामान्यासम्भवात् । सत्त्वसामान्यासंभवे घटादिवत् । इत्युक्ते सौगतः प्राह—यज्यादिकं स्वव्यतिरिक्तकरोतिसामान्यसम्भवेऽपि सामान्यं भवति—परापरसामान्येषु सामान्यान्तराऽभावेऽपि सामान्यं सामान्यमिति प्रतीतिलक्षणानुमानसद्भावादिति भावः । ११०३. निश्चये । ११०४. विशेषे संशयो घटते । ११०५. 'सामान्येध्वंसिते' मुद्रितप्रतौ पाठः । ११०६. 'विशेषेऽनध्यवसिते' मुद्रितप्रतौ पाठः । ११०७. क्रियान्वयलक्षणसामान्यरूपेण । ११०८. घटे । ११०९. हिमवदादौ ।

१११०. अपि तु न । ११११. विवक्षितवस्तुसामान्याविनाभावविशेषेषु बहुषु सत्त्वेकस्मिन् स्मरणगोचरे विशेषे संशयो घटते । अनभितस्तस्याविवक्षितस्य वस्तुनस्तेषु विशेषेषु संशयो नास्ति । १११२. सामान्य । १११३. 'विशेषाभावे सामान्यस्याप्यभावप्रसङ्गात् । १११४. 'हि' मुद्रितप्रतौ पाठः । १११५. 'विशेषस्य' मुद्रितप्रतौ पाठः । १११६. (भट्टः) विशेषाणामनुपलम्भादभावासिद्धिप्रकारेण । १११७. एवं विशेषे सामान्याविनाभाविनि सति अदृश्यानुपलब्धेः सकाशात्संशयो न भवति, किन्तु दृश्यानुपलब्धेरेव संशयः । अदृश्यानुपलब्धौ स्मृतेर्निरपेक्षत्वं भवति, किन्तु दृश्यानुपलब्धौ सापेक्षा स्मृतिः । १११८. संशयिता संशयप्राप्ता साध्ये व्याप्तिर्येषां तानि संशयितसाध्यव्याप्तिकानि तेषां भाव इत्यादि । १११९. अनिश्चिता । ११२०. 'प्रतीतिः' मुद्रितप्रतौ पाठः । ११२१. संशयस्य । ११२२. संशय इति शेषः । ११२३. बौद्धोक्तम् । ११२४. साध्यसाधनेत्युभयांशाविलनेपि (निश्चलभूतेपि) ११२५. बौद्धः । ११२६. रचनाविशेष । ११२७. पूर्वक एव । ११२८. सामान्यरूपेणापि विशेष्यस्यानुपलम्भे । ११२९. सामान्यस्य भावो विशेषस्याभावस्तयोर्विषयः संशयः । ११३०. 'नगरतत्त्वं', मुद्रितप्रतौ पाठः । ११३१. नगरं नगरमिति । ११३२. प्रासादादौ । ११३३. यजति पचतीत्यादि । ११३४. नगरेऽनुगतज्ञानकारणात् । ११३५. तस्मादित्युपसंहारग्रन्थं निराकुर्वन्नाह भाट्टः । ११३६. अभेदेन सामर्थ्येन । ११३७. करोत्यर्थेन । ११३८. सौगतः । ११३९. ननु परापरेषु सामान्येषु परं सामान्यं महासत्ता अपरं करोति पचति यजतीत्यादि तद्विशेषस्वभाव एव तदभावेऽपि (सामान्यभावे) इदं सामान्यमिदं सामान्यमिति सामान्यमन्तरेणापि सामान्यमुपलब्धुं शक्यत एवेत्युक्ते आह । ११४०. परापरसामान्येषु सामान्योपलम्भस्य गौणत्वप्रकारेण । ११४१. वस्तुषु । ११४२. सामान्यप्रत्ययः । ११४३. हे सौगत । ११४४. मुख्यसामान्यस्य । ११४५. सौगतः । ११४६. अन्यापोहो बहिरर्थः (सत्याकार इति पाठान्तरम् ।) । ११४७. अणुक्षणिकेषु ।

११४८. भाट्टः । ११४९. स्वलक्षणस्य । ११५०. अणुक्षणिकेषु । ११५१. निर्विकल्पज्ञाने । ११५२. निर्विकल्पज्ञानस्यैव विशेषाकारो न तु बहिरर्थस्य । ११५३. (सौत्रान्तिकः) सामान्यविशेषयोर्बहिरसत्त्वप्रकारेण । ११५४. परमार्थसन्त इति पाठान्तरम् । ११५५. 'सन्तः सिद्धाः' मुद्रितप्रतौ पाठः । ११५६. योगाचारमतम् । ११५७. भाट्टः । ११५८. ज्ञाने पूर्वं सामान्यस्य स्वयमभ्युपगत्वाद् विकल्पबुद्धौ प्रतिभासमानः सामान्यकारो मुख्य इति परमार्थसदायातम्, विकल्पज्ञाने सामान्याकारस्याभ्युपगमात्, निर्विकल्पके तदनभ्युपगमाददोष इति न मन्तव्यम्,

विकल्पज्ञानस्य स्वरूपे निर्विकल्पकत्वेन बहिः सामान्याकारस्यापि मुख्यत्वाभ्युपगमेन परमार्थतः सामान्यविशेषात्मनो ज्ञानस्य समायातत्वात् । ११५९. सौत्रान्तिकस्य । ११६०. सौत्रान्तिकवादिमतम् । ११६१. सौगतः प्राह । ११६२. घटपटाद्याकारः । ११६३. भाट्टः । ११६४. निर्विकल्पज्ञानं । ११६५. भाट्टस्य । ११६६. सौगतेनेति शेषः ११६७. सौगतः ११६८. एकस्यानेकवृत्तिर्नेत्यादिकारिकाव्याख्याने चतुर्थपरिच्छेदे निरूपितत्वात् । ११६९. भाट्टः । ११७०. 'परमार्थः' 'सन्' मुद्रितप्रती पाठः । ११७१. यद्यसत्सर्वथाकार्यमित्यादिकारिकाव्याख्याने तृतीयपरिच्छेदे विचार्यमाणस्यायोगात् । ११७२. संवित्सामान्यवादी भाट्टः । ११७३. संवित्सामान्यं प्रमाणसिद्धमसिद्धं वा ? प्रमाणसिद्धं चेन्न वृत्तिविकल्पानवस्थादिदोषानुषङ्गात् । अप्रमाणसिद्धं चेत्तर्हि आश्रयासिद्धो हेतुः । एवं संविद्विशेषः प्रमाणासिद्धोऽप्रमाणासिद्धो वेत्यत्रापि योज्यम् । ११७४. संवित्सामान्यसंविद्विशेषयोः । ११७५. सौगत आह—हे भट्ट, बहिरर्थविशेषवदिति त्वयोक्तो दृष्टान्तः साध्यसाधनविकल इति । भट्टो वदति—इत्यपि सौगतेन न चोद्यम्, तवापि बहिरर्थसामान्यवदिति दृष्टान्ते तुल्यदूषणत्वात् । ११७६. सौगतः । ११७७. विशेष । ११७८. मध्यक्षणैकाभ्युपगमात् (मध्यमक्षणिकाभ्युपगमात्) । ११७९. माध्यमिकं प्रति । ११८०. भाट्टः । ११८१. विधिवादिनो भट्टस्य । ११८२. सौगतः । ११८३. भाट्टः । ११८४. सर्वथा । ११८५. भाट्टः (सामान्याभावे विशेषस्याप्यभावो यतः) । ११८६. विशेषावस्थायाम् । ११८७. 'सामान्यव्यवस्था तु' इति पाठान्तरम् । ११८८. प्रतिभासते विशेषो भेदव्यवस्थायां यथा तथान्तः-संवेदनेषु सामान्यमाभासते । ११८९. 'अत' इति पाठान्तरम् । ११९०. सौगतैः । ११९१. अन्यरूपेण । ११९२. अन्यापोह । ११९३. तल्लज्जनितत्वाल्लिङ्गमनुमानम् । ११९४. भेदस्याग्निस्वलक्षणस्यानुमानेनाग्रहणात् । ११९५. नन्वभेद एव नास्ति ततो भेदाभेदात्मकं कुत इत्याशङ्कायां स्याद्वादमाश्रित्य भट्टो वदति । ११९६. युक्तस्य । ११९७. सामान्यविशेषरूपस्य विषयस्य । ११९८. सामान्यनिरपेक्षस्य विशेषस्य । ११९९. बहिर्घटादिरन्तर्वस्तुज्ञानम् । १२००. सामान्यविशेषात्मकस्य । १२०१. सौगत आह—अभेदवद्भेदोपि विवक्षवशात्त्येव, सर्वविकल्पातीत्वादस्येति । १२०२. भा (तृतीया) । १२०३. कथम् ? तथाहि ।

१२०४. सौगतः । १२०५. भाट्टः । १२०७. प्रकटनिर्विकल्पकज्ञान । १२०८. प्रबोधकप्रत्यये पूर्ववासनाया अनियमे प्रबोधकप्रत्ययस्यानियमत्वप्रसङ्गात् । १२०९. निर्विकल्पज्ञानेन सह तस्या वासनाया व्यभिचारोऽव्यभिचारो वेति विकल्पद्वयं करोति भाट्टः । १२१०. यद्यस्मादभिन्नं तत्तदात्मकम् । वस्तुस्वरूपा वासना यदि तर्हि बाँद्धमतव्याघातः । वस्तुस्वभावतापत्तेर्वासनायाः । १२११. भिन्नत्वे । १२१२. पञ्चम्येकवचनम् । १२१३. विशेषसामान्ये । १२२४. सौगतेन । १२१५. बाह्यवस्तुस्वभावालम्बनादेव सङ्करपरिहारो यतः । १२१६. सकलपदार्थेषु साधारणम् । १२१७. 'वस्तुस्वरूपम्' मुद्रितप्रती पाठः । १२१८. अवस्तुमात्रम् । १२१९. सामान्यम्, नेति विकल्पबुद्धिपरिगृहीतम् । १२२०. वक्रोक्त्या वाच्यम् । १२२१. सौगतः । १२२२. विशेषा । १२२३. भिन्नम् । १२२४. करोतिः सामान्यग्राहिका यज्यादिविशेषग्राहिकेति प्रकारेण बुद्ध्यभावात् । १२२५. 'व्यवस्थितिः अतिप्रसङ्गात्' मुद्रितप्रती पाठः । १२२६. एकेन घटज्ञानेनान्येषां ज्ञानं स्यात् । अथवा एकेन घटज्ञानेन सर्वेषां घटानां प्रतीतिप्रसङ्गात् । १२२७. इयं सामान्यग्राहिकेयं विशेषग्राहिकेत्यनेन प्रकारेण बुद्धेर्भेदाभावात् । १२२८. भाट्टः । १२२९. सामान्यविशेषयोः (ईप्) (सप्तमी) । १२३०. इदं सदितं सदिति । १२३१. नेदं नेदमिति । १२३२. दूरादूर्ध्वता सामान्यस्यैव प्रतिभासनं भवतु । एतावता तस्यास्ततो (विशेषात्) व्यतिरेकावभासनं कुत इत्याह । १२३३. व्यतिरेकस्य । १२३४. सामान्यात् । १२३५. धर्मकीर्तिना । १२३६. स्थाणुपुरुषाभ्याम् । १२३७. भेदः । १२३८. सामान्यस्य । १२३९. विशेषतया प्रतिभासनम् । १२४०. भाट्टः । १२४१. ऊर्ध्वतालक्षणात् । १२४२. सामान्ये । १२४३. सौगतः । १२४४. भाट्टः । १२४५. 'प्रतिभासनं' मुद्रितप्रती पाठः । १२४६. ऊर्ध्वतालक्षण ।

१२४७. ऊर्ध्वताकारस्य । १२४८. किन्तु स्पष्ट एव । १२४९. स्वस्याऽस्पष्टप्रतिभासनस्य । १२५०. सामान्यवद्विशेषव्यस्पष्टप्रतिभासनमेव को दोष इत्युक्ते आह । १२५१. सामान्यविशेषयोर्दूरादस्पष्टतया प्रतिभासनादेव । १२५२. सर्वथा । १२५३. सर्वदा । १२५४. सामान्यज्ञाने विशेषज्ञाने वा । १२५५. सामान्यविशेषयोर्मध्ये एकस्य ।

१२५६. सामान्यस्य विशेषस्य वा । १२५७. अस्पष्टस्पष्टप्रतिभासिताभेदेपि ज्ञानाश्रिते स्तो न तु वस्त्वाश्रिते । १२५८. दृष्टकारणं देशकालादि अदृष्टकारणं मतिज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषः । १२५९. भवति । १२६०. अस्पष्टतायाः । १२६१. अन्धकारावस्थायामपि । १२६२. उद्घोतावस्थायामिव । १२६३. वस्तुनः स्पष्टताधर्मस्य सर्वदा प्रतिभासस्याङ्गीकारे दूषणमाह । १२६४. ब्रह्माभिप्रायमनूद्य वक्ति । १२६५. (भाट्टः) सविकल्पकम् । १२६६. सत्यत्वात् । १२६७. निर्विकल्पकवत् । १२६८. अस्पष्टज्ञाने । १२६९. अस्पष्टसंवेदनं सविषयं यतः । १२७०. वक्ष्यमाणम् । १२७१. अस्वलक्षणाकारा, अविशेषाकारा, बहिःस्वलक्षणाकारा । १२७२. स्वलक्षणलक्षणादार्थात् । १२७३. यदा तु प्रतिभासते तदेत्यादि पाठान्तरम् । १२७४. जाततैमिरिकस्य । १२७५. तर्हि भवतां मीमांसकानां भेदाभेदे सतीदं दूषणं समानं तत्र किम् ? इति प्रश्ने आह । १२७६. स्थाणुपुरुषादिभ्यः । १२७७. अत एवास्पष्टतालक्षणं निर्विषयलक्षणं दूषणं न । १२७८. विशेषाकाराद्व्यावृत्ताऽविशेषाकारा । १२७९. सौगताभ्युपगताद्रूप्यसहिता न भवतीत्यर्थः । १२८०. विषये । बुद्धेर्निराकारत्वं तर्हि आकारः कथं प्रतिभासते इत्युक्ते आह । १२८१. हे सौगत । १२८२. भाट्टः । १२८३. ग्राहकतया । १२८४. सौत्रान्तिकानाम् । १२८५. प्रतिनियतसामग्रीवशात्प्रतिनियतार्थव्यवच्छेदकस्य ज्ञानस्याङ्गीकारस्य । १२८६. प्रतिनियमसामग्रीवशात् प्रतिनियतव्यवच्छेदकत्वाभावे सकलनीलपीतादिनिर्भासानां तुल्याकारत्वमापद्यते संवेदनस्य (विवक्षितनीलाकारग्रहणप्रसक्तेः) । १२८७. 'व्यवस्थापकत्वानापत्तेः' मुद्रितप्रतौ पाठः । १२८८. प्रतिकर्मव्यवस्थापनस्य सिद्धिर्न स्यात् । १२८९. योग्यतावशात्प्रतिनियतार्थव्यवस्था यतः । १२९०. दृष्टादृष्टकारणकलापात् । १२९१. सामान्याकारा । १२९२. कोपि विशेषो दूरे न प्रतिभासते इत्युक्ते आह । १२९३. सौगताभिप्रायमनूद्याह । १२९४. स्थाणुपुरुषोचितदेशः । आदिशब्दात्प्रकाशान्धकारकलुषवेलाश्च गृह्यन्ते । १२९५. देशनैकट्यम् ।

१२९६. सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च सन्देहो युक्त इत्युक्तवत् । १२९७. विशेषालिङ्गितस्य । आदिशब्देनातिप्रकाशान्धकारः । १२९८. किं करोतीति । १२९९. पृष्ठ एव पुमानुत्तरं प्रतिपादयतीत्यर्थः । १३००. 'एवं' मुद्रितप्रतौ पाठः । १३०१. शक्यविवेचनत्वेन । १३०२. यजनादिक्रियाविशेषेभ्यो भिन्नत्वेन । १३०३. करोत्यर्थलक्षणा । १३०४. स्फोटदि । १३०५. सत्यरूप । १३०६. भावनालक्षणे । १३०७. विधौ । १३०८. भट्टमतानुसारी । १३०९. जैनेन । १३१०. हे भट्ट, त्वया १३११. व्यापारः शब्दस्यार्थो न भवति, ततोन्तरान्तरत्वात् तत्स्वात्मवत् । अत्राशङ्का—ननु शब्दस्य स्वात्मा शब्दाभिधेयो भवतु । को दोषः ? तथा सति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं हेतोरित्युक्ते आह—नहीति । १३१२. 'स्यैवा' मुद्रितप्रतौ पाठः । शब्दस्य ज्ञानापेक्षया निरंशस्य । १३१३. एकांशस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वं चेत् । १३१४. भट्टस्य स्वेष्टं शब्दस्य प्रतिपादकत्वं स्वरूपस्य प्रतिपाद्यत्वमिति । तद्वैपरीत्येन शब्दस्य प्रतिपाद्यत्वेन । १३१५. कुतः । १३१६. शब्दः प्रतिपादकः स्वरूपं प्रतिपाद्यमिति प्रतिनियममहेतोरभावात् । १३१६. (क) शब्दस्य सांशत्वपरिकल्पनया । १३१६. (ख) शब्दस्य । १३१६. (ग) कल्पितत्वं । १३१७. भाट्टः । १३१८. यथा शब्दः स्वव्यापारेण बहिरर्थं गमयति । १३१९. शब्दः श्रोत्रेण स्वरूपं गमयति यतः । १३२०. स्वरूपस्य । १३२१. जैनः । १३२२. ततो रूपादिर्भावना स्यात् । १३२३. रूपादयः । १३२४. पुरुषस्य । १३२५. एतदेव भावयति । १३२६. रूपाद्यवगमे । १३२७. ते रूपादयः प्रयोज्याश्चक्षुरादयः प्रयोजकाः । निमित्तमात्रकृतं तत्प्रयोज्यत्वं, न तु मुख्यवृत्त्या । १३२८. स्वस्वरूपवेदनं प्रति । १३२९. 'मधीयानानां' मुद्रितप्रतौ पाठः । १३३०. भाट्टः । १३३१. जैनः । १३३२. भाट्टः । १३३३. श्रोत्रेन्द्रियस्य । १३३४. जैनः । १३३५. 'च' मुद्रितप्रतौ पाठो नास्ति । १३३६. अनंशरूपे शब्दे । १३३७. द्वितीयपक्षे । १३३८. (जैनः) यथा च छेदकस्य कुठारस्य छेद्यस्य वृक्षस्य तथोरन्तरालेऽवान्तरव्यापारेणोत्पन्ननिपतनेन भाव्यम् । १३३९. कारणभूतेन । १३४०. जैनः । १३४१. शब्दव्यापारेण हि पुरुषव्यापारो भाव्यते इत्युक्तं पूर्वं तथा तद्वदित्यर्थः । १३४२. व्यापारान्तरम् । १३४३. भाट्टः । १३४४. शब्दात् । १३४५. पृथग्भावेन ।

१३४६. व्यतिरेकदृष्टान्तः । यत्र कथञ्चिदनर्थान्तरत्वं न भवति तत्र विष्वग्भावेनोपलभ्यमानत्वं भवति । यथा कुण्डादेर्बदरादिः । १३४७. शब्दः । १३४८. पृथक् । १३४९. शब्दव्यापारस्य । १३५०. जैनः । १३५१.

अनर्थान्तरार्थान्तरोक्तदोषः स्यात् । १३५२. भट्टस्य । १३५३. गृह्यमाणम् । १३५४. 'साधकमिति' मुद्रितप्रतौ पाठः । १३५५. प्राप्नोति । १३५६. भावनाया वाक्यविषयत्वाभावे । १३५७. ज्ञानार्थयोः । १३५८. यथास्माकं (भट्टानां) विकल्पेन पृष्ठं तथास्माभिरपि पृच्छते जैनः । १३५९. जैनानाम् । १३६०. स्वार्थग्रहणलक्षणम् । १३६१. स्वार्थग्रहणलक्षणम् । १३६२. ज्ञेयवस्तुग्रहणलक्षणो व्यापारः । १३६३. यदि पुनरर्थान्तरभूत एव संवेदनात्संवेदनव्यापार इति मतं तदा स संवेदनव्यापारः संवेदनेन संवेद्यमानो व्यापारान्तरेण संवेद्यते चेत्तर्हि व्यापारान्तरभाव्यः स्यात् । व्यापारान्तरं तु यदि संवेदनादर्थान्तरं तदा तद्व्यापारान्तरं व्यापारान्तरेण भाव्यमिति सत्यनवस्था । १३६४. 'प्रसक्तेः' मुद्रितप्रतौ पाठः । १३६५. 'अथ' मुद्रितप्रतौ अतिरिक्त पाठः । भट्टो वदति । १३६६. 'स्वार्थसंवेदनव्यापार' मुद्रितप्रतौ पाठः । १३६७. जैनः । १३६८. भाट्टस्य । १३६९. यागलक्षणम् । १३७०. (प्रेरयति) स्वपरग्राहिकातीन्द्रियशक्तिः करणरूपा । १३७१. शब्दः पुरुषव्यापारं भावयतीत्यादि वचनम् । १३७२. जैनः । १३७३. दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः । १३७४. वैषम्यं भावयति । १३७५. स्वात्मा तु न संवेदकः किन्तु संवेद्य एव । १३७६. स्वपरग्राहिकातीन्द्रियशक्तिः करणरूपा स्वात्मा । १३७७. तस्य वाक्यस्य । १३७८. स्वात्मनः । १३७९. करणरूपस्य । १३८०. विषयरूपतया ग्राह्यत्वे । १३८१. स्वरूपस्य । १३८२. अवान्तरव्यापारस्याकाङ्क्षा नास्ति ततो नानवस्था । १३८३. अन्यत्संवेदनं ह्यात्मानं स्वरूपं परिच्छिनति । अतोऽन्यत्संवेदनं संवेदकं स्वात्मा तु संवेद्य इत्यायातम् । १३८४. उत्पाद्यमान । १३८५. तर्हि भाट्टाभिहितविषयः क इत्युक्ते आह । १३८६. उत्पादकत्वलक्षणः । १३८७. तस्य वाक्यस्य । १३८८. अग्रिष्टोमेन यजेतेत्यादि । १३८९. पुरुषव्यापारः । १३९०. आदिशब्दाद् गुणद्रव्ये । १३९१. यजेत आलंभेतेत्यादि । १३९२. अनेन वाक्येन । १३९३. गुणः । १३९४. द्रव्यम् । १३९५. भाट्टः । १३९६. जैनः । १३९७. लिङ्गादीनां शब्दव्यापारविषयत्वाभावे सति । १३९८. अर्थभावनातः । १३९९. इदानीमर्थभावनां निराकर्तुमुपक्रमते । १४००. देवदत्तः करोतीत्यादिलक्षणा । १४०१. भाट्ट आह—“भो जैन” ।

१४०२. शब्दव्यापार इत्युक्ते शब्दभावनैवेति भावनास्वभावः । १४०३. जैनः । १४०४. विवक्षितस्य । १४०५. वसः । १४०६. भट्टो वदति । १४०७. “नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्त्रात्राग्राता महर्षिभिः । सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः” । १४०८. वाक्यार्थता । १४०९. 'अवेदनात्' मुद्रितप्रतौ पाठः । १४१०. जैनः । १४११. करोत्यर्थविशेषस्य । १४१२. 'विरोधात्' मुद्रितप्रतौ पाठः । १४१३. भाट्टः । १४१४. जैनः । १४१५. भवनक्रिया । १४१६. वाक्यार्थः । १४१७. महाक्रिया सत्तालक्षणा सैव सामान्यं तदेवं रूपं यस्याः करोतिक्रियायाः । १४१८. 'व्यवस्थितिरूपत्वात्' मुद्रितप्रतौ पाठः । १४१९. सत्ता-सामान्यस्य । १४२०. इतरः पचनादिः । १४२१. न पुनः करोत्यर्थस्य । १४२२. वाक्यार्थत्वम् । १४२३. वयं जैनाः । १४२४. निष्क्रिये । १४२५. अन्यथा । १४२६. सत्त्वस्य विनाशादृणादीनामभाव आयातः । १४२७. (परः प्राह) क्रिया द्विविधा परिस्पन्दात्मिका (चलनात्मिका) भाववती च । १४२८. किञ्च । १४२९. पर एव । १४३०. विद्यमाने वस्तुनि । १४३१. असति सर्वत्र भावे । १४३२. महासत्ता । १४३३. हेत्वन्तरमिदम् । १४३४. जैन आह । १४३५. करोतिसामान्यस्य । १४३६. (भाट्ट आह) घटादौ व्यभिचारश्चेत्तर्हि “सर्वथा” पदं हातव्यम् । १४३७. जैनः । १४३८. भाट्टमते करोत्यर्थस्य सामान्यं सर्वथा नित्यमिति । १४३९. वस्तुनि । १४४०. ज्ञानमेव पूर्वापरीभूतं नार्थ इत्याशङ्क्यामाह । १४४१. प्रत्ययो ज्ञानम् । १४४२. भाट्टः । १४४३. जैनः । १४४४. यदेव मया यजनादवुपलब्धं तदेव पचनादौ करोत्यर्थस्य सामान्यम् । १४४५. ततो नाभेदप्रतीतिः । १४४६. भाट्टः । १४४७. जैनः । १४४८. अव्यतिरेकः । अभेदः । १४४९. सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह जैनः ।

१४५०. पर्यायार्थिकनयाद् भेदक्यनात् । १४५१. घटं करोति पटं करोतीत्यादौ । १४५२. हेतोः । १४५३. पर्यायार्थिकनयेन भेदस्यापि कथनात् । १४५४. करोत्यर्थस्य व्यक्तिं प्रतीतिं प्रतिकरोत्यर्थव्यक्ति । १४५५. घटकरणपटकरणादिप्रत्ययस्य । १४५६. भेदात् । १४५७. घटकरणं पटकरणमिति । १४५८. जैनः । १४५९. घटपटादिरूपाः । १४६०. करोतिसामान्यात् । १४६१. भाट्टः । १४६२. सामान्यात् । १४६३. यावन्तो

विशेषास्तावन्ति सामान्यानि न त्वेकमित्यर्थः । १४६४. करोतिसामान्यम् । १४६५. सावयवेभ्यो घटपटादिभ्यः । १४६६. भेदलक्षणैः । १४६७. सामान्यस्य । १४६८. जैनः । १४७०. जैनः । १४७१. ततश्च व्यक्तीनामपि सर्वगतत्वं समायातम् । न च तथा स्वीक्रियते । १४७२. व्यक्त्यन्तराले सत्त्वरूपेण । १४७३. भाट्टः । १४७४. सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेस्ति एकत्वादित्येवास्तु, इत्युक्ते देवदत्तेन व्यभिचारस्तत्परिहारार्थं स्वाधारवृत्तित्वविशेषणम् । तथाप्येकविष्टरोपविष्टेन तेनैव व्यभिचारो मा भूदिति भिन्नदेशविशेषणम् । तथापि क्रमेणानेकासनासीनेन तेन व्यभिचारः स्यात् तत्परिहारार्थं युगपद्विशेषणं कृतमनुमानेस्मिन् । १४७५. भिन्नदेशश्चासौ स्वाधारश्च । १४७६. स्थूणादिषु वंशादिवदित्यर्थः । १४७७. जैनः । १४७८. सामान्यस्यैकत्वं नाङ्गीक्रियते जैनैः । १४७९. प्रतीयते यथा । १४८०. हेतुः । १४८१. सामान्यस्य । १४८२. एतदेव भावयति । १४८३. घटपटादिलक्षणा । १४८४. मुकुटादिलक्षणात् । १४८५. भिन्ना । १४८६. वस्तु । १४८७. निश्चीयते । १४८८. भाट्टः । १४८९. पुंसः । १४९०. एकव्यक्तिदर्शने ।

१४९१. “वैसादृश्यस्य” मुद्रितप्रती पाठः । विशिष्टप्रतीतौ विशेषे । १४९२. भाट्टः । १४९३. एकव्यक्तिदर्शने । १४९४. अनेन देवदत्तेन समानोयं जिनदत्तो समानो देवदत्तो वेत्यत्रापि परापेक्षत्वं यतः । १४९५. द्वित्वादित्यस्या एकत्वादिनिष्ठां (निष्ठां) परापेक्षां विना नोपपद्यन्ते । १४९६. श्वेतपीतादिवत् । १४९७. भाट्टः । १४९८. सास्नादिमत्त्वे गोत्वे । १४९९. शबलं गां दृष्ट्वा धवलं गां पश्यतः पुंसः स एवायं गौरिति प्रत्ययः कथं घटते ? १५००. शबलेन सदृशो धवल इत्येकत्वोपचारात् । १५०१. जैनाः । १५०२. मुख्ये गोत्वलक्षणे इत्यर्थः । तत्र शबलधवलयोः । १५०३. गवा । १५०४. परः (शबलधवलयोः) १५०५. एकं गोत्वमित्यर्थः । १५०६. जैन आह । १५०७. न तु तेन समानोयमिति प्रत्ययः स्यात् । १५०८. (जैनः प्राह) अङ्गीक्रियमाणे । १५०९. न यष्ट्या समान इति प्रत्ययो भवति । १५१०. १५११. परः । १५१२. जैनः । १५१३. चैतन्यदोहनादेः १५१४. मृन्मये । १५१५. भावः सत्यः । १५१६. “साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् । सोयऽमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥” १५१७. लाङ्गूलकुकुदविषाणादिरूपेण । १५१८. तेन भावगवादिनैका जातिर्यस्य स्थापनागवादेस्तस्य भावस्तदेकजातित्वम् । तस्य निबन्धनम् । १५१९. (जैनैरनुगृह्यते) भावगव्यपि मृन्मयेन सह सत्त्वसादृश्यं यथास्ति । १५२०. नित्यनिरंशैकसर्वगतस्वभावम् । १५२१. यदिति काकुः । १५२२. वेदवाक्येन । १५२३. करोतिक्रियाविशेषगतस्य स्वव्यक्तिसर्वगतस्येत्यर्थः । १५२४. देवयजनगुरुयजनादियजनसामान्यस्य । १५२५. शब्दविषयत्वं (वाक्यार्थत्वमित्यर्थः) । १५२६. यजनसामान्यम् । १५२७. इतः कारिकार्थमाहुराचार्याः । १५२८. मीमांसकेनोक्तम् । १५२९. परस्परविरुद्धार्थाभिधायित्वेन । १५३०. सूक्तं भावयति । १५३१. स्वरूपो नियोगः । १५३२. आदिना विध्यादिग्रहः । १५३३. हेतोः । १५३४. अपौरुषेयवाक्यैः । १५३५. ब्रह्मस्वरूपे । १५३६. तदेव दर्शयति । १५३७. श्रुतेः । १५३८. वचसि (कार्यर्थे स्वरूपे वा) । १५३९. वाक्यस्य । १५४०. (जैनो नैकत्रापि बाधवर्जितत्वं प्रदर्शयितुं हेतुन्तरमाह) ।

१५४१. साङ्ख्यमते सर्वं प्रधानमेव । १५४२. अपूर्वार्थग्राहित्वम् । १५४३. पराभिप्रायं निराकरोति जैनः । १५४४. विधिग्राहिणी नियोगग्राहिणी वा । १५४५. श्रुतिः । १५४६. मीमांसकः । १५४७. वेदगतपदानाम् । १५४८. आदिना प्रकरणादिग्रहः । १५४९. गण्डवाश्चतुरो गुञ्जा इत्यादिगणितपरिभाषावद्व्यवहारकालात्पूर्वमस्य शब्दास्यायमर्थ इति सङ्केतस्योत्तरकालं व्यवहारनिमित्तस्य कारणं परिभाषणं तस्याविषयत्वाच्चेत्यर्थः । १५५०. येष्वर्थेषु लौकिकपदानां सम्भवस्तेष्वेवार्थेषु वैदिकपदानां सम्भवे सति । १५५१. लौकिककाव्यादिवाक्यार्थमिव । १५५२. ‘स्वयमेव’ मुद्रितप्रती पाठः । १५५३. मीमांसकः । १५५४. लौकिकवाक्यार्थानुसारेणार्थस्य प्रतिपादकत्वभावाविशेषात् । १५५५. एतदेव भावयति जैनः । १५५६. सर्वश्रुतिषु । १५५७. ‘सुगतादिवत्’ मुद्रितप्रती पाठः । १५५८. इतश्चार्वाकमतप्रसङ्गः । १५५९. प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिच्छन्ति एके चार्वाकास्तेषाम् । १५६०. प्रमाणरहिता । १५६१. तर्कोनुमानम् । १५६२. सर्वथा नित्यत्वानित्यत्वादि-समर्थनार्थं सौगतकापिलादिप्रयुक्तानुमानानां परस्परविरोधात्तर्कस्य परस्परविरोधः । १५६३. अव्यवस्थितः । १५६४. नानार्थप्रति-पादकत्वेन । १५६५. “नैको” मुद्रितप्रती पाठः । १५६६. सुगतः कपिलो जिनो वा । १५६७. ततश्च । १५६८. पथा । १५६९.

प्रमाणभूतः । १५७०. इतो जैन आह । १५७१. “प्रत्यक्षमेकमिच्छन्ति” मुद्रितप्रतौ पाठः । १५७२. सर्वज्ञादिपरोक्षार्थाभावस्य प्रमाणस्य । १५७३. ताद्विः (सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभावः) १५७४. अतिप्रसङ्गमेव विवृणोति । १५७५. चार्वाकाभिमतम् । १५७६. ‘प्रत्यक्षं’ मुद्रितप्रतौ नास्ति । १५७७. प्रत्यक्षं सर्वज्ञप्रमाणान्तरयोरभावं व्यवस्थापयति, तत्राप्रवर्तमानत्वात् । १५७८. देशान्तरकालान्तरवर्ती पुरुषोत्र ग्राह्यः । १५७९. यद्यत्राप्रवर्तमानं तत्तस्याभावं व्यवस्थापयति खरविषाणादिवत् । १५८०. ‘विषयस्य’ मुद्रितप्रतौ पाठः । १५८१. चार्वाकः । १५८२. स्वयं स्वस्वरूपम् ।

१५८३. जैनः । १५८४. अपूर्वं धर्माधर्मादि । १५८५. तस्य सर्वज्ञस्य । १५८६. तर्करूपस्य । १५८७. हेतुवादरूपस्यानुमानस्येत्यर्थः । अहेतुवादरूपस्य आगमस्येत्यर्थः । १५८८. प्रमाणान्तराभावसिद्धिः । १५८९. चार्वाकः १५९०. जैनः । १५९१. चार्वाकस्य । १५९२. बृहस्पतिप्रत्यक्षम् । १५९३. चार्वाको वदति—बृहस्पतिप्रत्यक्षं स्वपरग्राहकमित्यस्माकं गुरुपरम्परया प्रख्यादिरस्तीति चेत्तदन्यत्रापि सर्वज्ञप्रत्यक्षेऽप्येवं भवतु । १५९४. अन्यथा । १५९५. चार्वाक आह—अहमनुमानेन सर्वज्ञाभावं साधये । पर आह—भवन्मतेनुमानं नास्ति सिद्धेरघटनात् । १५९६. चार्वाकः । १५९७. “प्रमाणं तर्हि गौणत्वात्” इत्यादि पाठान्तरम् । १५९८. अमुख्यात् (अनुमानतः) मुख्यप्रत्यक्षप्रमाणस्यार्थनिश्चयो दुर्लभः । १५९९. प्रत्यक्षस्य । १६००. हे चार्वाक, अनुमाननिराकरणार्थां त्वमेवं वदसि । एवं किम् ? अनुमानं सामान्यं साधयति विशेषं वा ? सामान्यं चेत् सामान्ये सिद्धसाधनादित्यादि । १६०१. व्याप्तिनिश्चयकाले एव सामान्यस्य सिद्धत्वात् । विशेषे पर्वतादौ साध्ये यत्र धूमस्तत्र पर्वताग्निरित्यनुगमाभावः १६०२. अनुमाने । १६०३. विरुद्धस्येत्यर्थः । १६०४. चार्वाकस्य । १६०५. खरविषाणादिकं व्यवस्थापयेदप्रसिद्धानुमानमित्यर्थः । १६०६. चार्वाक आह—जैनादिप्रसिद्धम् । १६०७. जैनादेः । १६०८. चार्वाकस्यापि । १६०९. कुतः यतः । १६१०. यथा प्रत्यक्षम् । १६११. अतिप्रसङ्गं विवृणोति । १६१२. आत्मसिद्धस्य चार्वाकस्वीकृतस्य प्रत्यक्षस्याप्यसिद्धत्वं घटेतेत्यर्थः । १६१३. जैनादेः । १६१४. “अथ प्रमाणमन्तरेण सिद्धम्, एवं तवापि तत्सिद्धिप्रसङ्गोऽविशेषात्” मुद्रितप्रतौ नास्ति । १६१५. प्रमाणमन्तरेण । १६१६. जैनस्य । १६१७. अन्यथा । १६१८. चार्वाकिणानभिमतं तत्त्वमनुमानं परलोकादिश्च तस्य सिद्धिप्रसङ्गात् । १६१९. चार्वाकाः । १६२०. इन्द्रियप्रत्यक्षेण । १६२१. इन्द्रियप्रत्यक्षैकप्रमाणवादिस्वरूपम् । १६२२. स्वयमस्वीकृतमभिप्रेतं वा । १६२३. चार्वाकाणाम् । १६२४. अन्यथा । १६२५. संवेदनं ज्ञानम् । १६२६. अनीन्द्रियप्रत्यक्षेण विना इन्द्रियप्रत्यक्षेणैव प्रमाणान्तराभावस्य संवेदानुपपत्तिर्यथा । १६२७. ताद्विः । १६२८. वाञ्छनम् । १६२९. जैनादेः । १६३०. चार्वाकस्यापि । १६३१. (प्रमाणमन्तरेण प्रसिद्धेऽनुमाने सति जैनादेरपि तत्प्रसिद्धिर्न स्यात् ततः) । १६३२. एकं शून्यमिच्छन्तीत्येकशस्तेषामेकेषाम् (सांख्याभिप्रायेण जैनो ब्रूते) ।

१६३३. इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात् विशिष्यते । यथा हि तत्त्वोपप्लववादिनां सर्वमुपप्लुतमेवेति वचनमात्रात्सिद्धं तथान्येषामतत्त्वोपप्लववादिनां सर्वमनुपप्लुतमेवेत्यपि वचनमात्रात् सिद्धं भवतु—अप्रामाण्यस्योभयत्र समानत्वात् । १६३४. सर्वज्ञानं च तानि प्रमाणान्तराणि तेषामभावः । १६३५. प्रत्यक्षविषयम् । १६३६. (स्वयमसिद्धं प्रत्यक्षमनुमानं वेति कर्तृपदम्) । १६३७. (अतिप्रसङ्गादिति भाष्यपदं व्याख्याति) तदभावविषयत्वे सति । १६३८. जैनादेः । १६३९. स्वकीयस्वकीयमतानुसारितत्त्वग्राहकम् । १६४०. आह तत्त्वोपप्लववादी । १६४१. जैनः । १६४२. जैनस्य । १६४३. प्रमाणं प्रमाणमन्तरेण सिद्धं चेत् । १६४४. जैनस्य । १६४५. पुरुषसमूहः सकलतत्त्वविरहित इत्येवं येनावबुद्धं तदेव प्रमाणम्, अत एवात्मानं निरस्यन्तीति । १६४६. प्रमाणाङ्गीकारे । १६४७. तत्त्वोपप्लववादी ग्राह । १६४८. जैनादेः । १६४९. “प्रमाणत्वं प्रमेयत्वम्” इति पाठान्तरम् । १६५०. (जैनपक्षमुपपाद्य तत्त्वोपप्लववादी इति चेन्नेत्यनेन खण्डयति) १६५१. प्रथमं द्वितीयस्य व्यवस्थापकं द्वितीयं तु प्रथमस्येभ्यते । १६५२. जैनादेः । १६५३. प्रमाणेन प्रमाणमन्तरेण वा । १६५४. जैनादिकृतः । १६५५. अन्यथा । १६५६. तत्त्वोपप्लववादी । १६५७. प्रमेयतत्त्वं च तिष्ठतु । १६५८. अदोषः चक्षुरादिर्नैर्मल्यम् । १६५९. एतत्पर्यन्तं विकल्पद्वयमिदं मीमांसकापेक्षया । १६६०. अयं तृतीयविकल्पो नैयायिक-मतापेक्षया । १६६१. अन्यथा अविसंवादकत्वेनेत्ययं चतुर्थो विकल्पः सौगतमतापेक्षया । १६६२. तत्त्वोपप्लववादमत-

मालम्ब्य जैनः प्राह । १६६३. कौशल्यं नैर्मल्यम् । १६६४. मीमांसकः । १६६५. तत्त्वोपप्लववादमतमालम्ब्य जैनः प्राह । १६६६. शुक्तिकायां रजतज्ञानं कार्यलिङ्गं कारणदुष्टतां साधयतीति व्यभिचारो, यतो विज्ञानसामान्यं दुष्टतायामपि वर्तते । १६६७. मीमांसकः । १६६८. तत्त्वोपप्लववादी । १६६९. दूषणान्तरं तत्त्वोपप्लववादी (शून्यवादी) प्राह । १६७०. अङ्गीकृते । १६७१. भो मीमांसक चक्षुरादीनां गुणाश्रयतयैव । १६७२. मीमांसकस्य । १६७३. मीमांसकः । १६७४. दुरधिगमत्वात् । १६७५. कुतः ? यतः । १६७६. तत्त्वोपप्लववादी । १६७७. चक्षुरादीनाम् । १६७८. अपौरुषेयत्वाददुष्टकारणं वेदवाक्यम् । ततस्तज्जनितवेदने प्रामाण्यनिश्चयो भविष्यतीत्यारेकायामाह । १६७९. मरीचिकायां जलज्ञाने । १६८०. तद्देशोपसर्पणं स्वकारणं बाधककारणमित्यर्थः । १६८१. 'बाधकस्य' मुद्रितप्रतौ पाठः । नेदं जलमिति । १६८२. मीमांसकः । १६८३. तत्त्वोपप्लववादी । १६८४. तर्हीति शेषः । १६८५. मीमांसकः । १६८६. तत्त्वोपप्लववादी । १६८७. प्रमाणान्तरात् । १६८८. मीमांसकाभिप्रायं निराकुर्वन्नाह तत्त्वोपप्लववादी । १६८९. अन्यथा । १६९०. नः अस्माकं । १६९१. तद्देशोपसर्पणरूपबाधककारणस्य ।

१६९२. समीपे । १६९३. तत्त्वोपप्लववादी । १६९४. तत्त्वोपप्लववादी । १६९५. बाधानुत्पत्तेः । १६९६. भेदेन । १६९७. बाधानुत्पत्तिः । १६९८. तत्त्वोपप्लववादी मीमांसकं प्रत्याह—हे मीमांसक त्वया कुतः प्रमाणान्निश्चयनीयो द्वितीयोपि विकल्पः ? १६९९. हेतुः बाधककारणम् १७००. सर्वदा बाधानुत्पत्त्या । १७०१. अर्थवेदनस्य । १७०२. दूरे समीपे च स्थितस्य प्रतिपत्तुर्बाधानुत्पत्तिः । १७०३. पुंसः । १७०४. बाधककारणवैकल्यात् । १७०५. संभावनात् च मुद्रितप्रतौ पाठः । १७०६. द्वितीयविकल्पः । १७०७. सर्वे सर्वज्ञा भवेयुरिति । १५०८. प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रमाणस्य प्रामाण्यमिति नैयायिको ब्रूते । तं प्रत्याह तत्त्वोपप्लववादी । १७०९. चक्रकदूषणप्रसङ्गः, तदप्यनवस्था । १७१०. तत्त्वोपप्लववादी काणादं प्रति पृच्छति । १७११. सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसम्बन्ध इति पक्षिलभाष्यात् । १७१२. स्नानपानादिना । १७१३. पुंसः । १७१४. तत्त्वोपप्लववादी । १७१५. पर्वतादौ धूमापरिज्ञानेप्यग्निनिश्चयप्रसङ्गात् । १७१६. विज्ञानस्य । १७१७. विज्ञानेन । १७१८. फलेनाभिसम्बन्धस्यावगमात् । १७१९. प्राप्नोति । १७२०. चक्रकं विवृणोति । तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदा सोवगतोनवगतो वा संविदः प्रामाण्यं गमयेत् ? यद्यनवगतस्तदातिप्रसङ्गः । सोवगतश्चेत्त एव प्रमाणादन्यतो वा ? न तावत्त एव परस्परश्रयानुषङ्गात् । अन्यतः प्रमाणात्सोवगत इति चेत्तदन्यत्प्रमाणं कुतः प्राणाण्यव्यवस्थामास्तिष्णुते ? प्रवृत्तिसामर्थ्यादिति चेत्तदपि प्रवृत्तिसामर्थ्यं यदि फलेनाभिसम्बन्धस्तदावगतोनवगतो वेत्यादिप्रकारेण वारत्रयमावर्तने चक्रकं दूषणं भवति । १७२१. प्रवृत्तिसामर्थ्यस्य फलेनाभिसम्बन्धस्य निराकरणद्वारेण । १७२२. तत्र सजातीयज्ञाने ।

१७२३. तत्त्वोपप्लववादी इतः परं प्रवृत्तिं विचारयति । १७२४. प्रमेये । १७२५. 'प्रतिपत्तौ' मुद्रितप्रतौ पाठः । नैयायिकः । १७२६. तत्त्वोपप्लववादी । १७२७. भो नैयायिक । १७२८. प्रमाणान्तरस्यापि प्रामाण्यं प्रवृत्तिसामर्थ्येन प्रवृत्तिश्च प्रतिपत्तुरित्यादिग्रन्थावतारः । १७२९. अनिश्चितप्रामाण्यादिति । १७३०. नैयायिकः । १७३१. तत्त्वोपप्लववादी । १७३२. नैयायिकः । १७३३. सार्थकम् । १७३४. तत्त्वोपप्लववादी । १७३५. प्रमाणप्रमेयरूपो व्यवहारो लोकवृत्तम् । १७३६. स्वतो वा परतो वा । १७३७. स्वरूपतः । १७३८. तत्त्वोपप्लववादी । १७३९. परतः प्रामाण्यानुवादविरोधं विवृणोति तत्त्वोपप्लववादी । १७४०. भवदीये प्रमाणशास्त्रे । १७४१. परतः प्रकारेण । [१७४२. नैयायिकः । १७४३. परतः प्रकारेण । १७४४. "न स्वतः" इति भाति] । १७४५. मीमांसकैः । १७४६. सर्वप्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यमिति प्रसिद्धिप्रसङ्गात् । १७४७. स्वतोनुवादः । १७४८. नैयायिकस्य । १७४९. नैयायिकः । १७५०. परतः प्रामाण्यप्रकारेण मीमांसकः । १७५१. स्वतोनुवादः । १७५२. परतः प्रामाण्यप्रकारेण । (द्वितीयविकल्पः) । १७५३. अन्यस्माल्लोकवृत्तान्तस्य प्रकृतलोक-नैयायिकमीमांसकयोः । १७५२. परतः प्रामाण्यप्रकारेण । (द्वितीयविकल्पः) । १७५३. अन्यस्माल्लोकवृत्तान्तस्य प्रकृतलोक-वृत्तस्य । १७५४. अनुवादस्य । १७५५. अनुकथनम् । १७५६. मीमांसकनैयायिकयोर्मतस्य प्रमाणतत्त्वं विचार्येदानीं सौगत-प्रमाणतत्त्वं विचारयन्ति ग्रन्थकृतः । १७५७. यसः (कर्मधारयः) १७५८. अर्थक्रियासद्भावलक्षणस्य । १७५९. बौद्धः । १७६०.

तत्त्वोपप्लववादी । १७६१. सत्यरूपे सामान्यरूपे । १७६२. विशेषरूपे । १७६३. संवेदने । १७६४. स्वलक्षणे । १७६५. उत्पन्नविनष्टत्वात् । १७६६. बौद्धः । १७६७. हे बौद्ध । १७६८. बौद्धः । संवेदने १७६९. सत्यरूपस्य संवादस्य ।

१७७०. तत्त्वोपप्लववादी । १७७१. सामान्यनिराकरणवादिनः । १७७२. अन्वयरूपद्रव्यनिषेधवादिनस्तव सौगतस्य क्वचिद्वस्तुनि अन्वयरूपता नोपपद्यते । १७७३. घटत्वपटत्वादिरूपेण । १७७४. बौद्धः । १७७५. स्थिरस्थूलवस्तुनि । १७७६. तत्त्वोपप्लववादी । १७७७. (जातिविरोधादिति पाठान्तरम्) । १७७८. 'असाधारणस्य' मुद्रितप्रतौ पाठः । विशेषस्य । १७७९. तव सौगतस्य मते । १७८०. पूर्वोक्तविकल्पचतुष्टयप्रकारेण । १७८१. विशेषेणापि मुद्रितप्रतौ पाठः । १७८२. जैनो वक्ति । १७८३. वक्ष्यमाणप्रकारेण । १७८४. उपप्लुतो बाधितः । १७८५. तत्त्वोपप्लववादिनः । १७८६. परः । १७८७. शून्यवादः । १७८८. अभावरूपत्वादेव । १७८९. भो जैन । १७९०. तवापि विचारसहत्वे तत्त्वोपप्लवसिद्धिः कथमिति जैनैर्नोक्ते स आह । १७९१. आह जैनः १७९२. तत्त्वमनतिक्रम्येत्युक्ते किं तत्त्वमुल्लङ्घ्य विचारितमित्यर्थः । १७९३. अविचारितत्वमग्रे दर्शयति । १७९४. अविसंवादितादिनां । १७९५. प्रमाणस्य प्रामाण्यं स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते इति शेषः । १७९६. जैनः पराभिप्रायं निराकरोति । १७९७. किन्तु सुघटमेवेत्यर्थः । १७९८. व्यवसायात्मकत्वपदेन संशयविपर्ययानध्यवसायव्यवच्छेदः । १७९९. अन्यप्रमाणात् । १८००. प्रामाण्यसिद्धेः । १८०१. विषये । १८०२. ज्ञाने भूयः संवादानुभवनमभ्यासस्तदभावो नभ्यासः । दृष्टादृष्टनिमित्तानां वैचित्र्यादिह देहिनाम् । जायते क्वचिदभ्यासो नभ्यासो वा कथञ्चन । १८०३. अदृष्टः पुण्यादिर्ज्ञानावरणादिश्च । १८०४. बहुधानुभवविषयत्वं नीतावित्यर्थः । १८०५. क्रियाविशेषणम् । १८०६. पूर्वस्यैव हेत्वन्तरम् । १८०७. व्यवसायो ज्ञानं, तस्य । १८०८. 'वासंवेदने' मुद्रितप्रतौ पाठः । १८०९. ननु भो जैन नित्यस्यात्मनोभ्यासानभ्यासौ कथं स्यातामित्युक्ते जैनः प्राह । १८१०. नित्यानित्यरूपस्य । १८११. आत्मनः । १८१२. जैनस्य (अनभ्यासात्मकज्ञानपरिहारेणाभ्यासात्मकज्ञानप्राप्तिविरोधात् क्षणिकस्य नित्यस्य वा) ।

१८१३. तत्त्वोपप्लववादी । १८१४. जैनः । १८१५. (तत्त्वोपप्लववादी) उभयपक्षासिद्धेः । १८१६. जैन आह । १८१७. तत्त्वोपप्लववाद्यादिः । १८१८. सुनिश्चितासम्भवद्वाधकत्वेतराभ्यां सन्दिग्धत्वप्रकारेण । १८१९. जैनः प्राह । १८२०. जैनः । १८२१. संवेदनसाधनं सिद्धमसिद्धं वा ? यदि सिद्धं तदा तेनैव सन्दिग्धं न साध्यते अतः साधनस्य व्यभिचारः । अथ न सिद्धं तदा स्वयमसिद्धं साधनं कारणम् । यद्यसिद्धमपि साधनं साध्यं साधयति तदातिप्रसङ्ग इति भावः । १८२२. असुनिश्चितासम्भवद्वाधकं चेदित्यर्थः । १८२३. तर्हीति शेषः । १८२४. संवेदनम् । १८२५. असुनिश्चितासम्भवद्वाधकम् । १८२६. क्वचिद्वस्तुनि अज्ञातस्थानुपुरुषत्वादेः । १८२७. तत्सामान्यादर्शिन इव इति पाठान्तरम् । सामान्यादर्शिनो विशेषोपलम्भे सति सन्देहस्यानुपपत्तिर्यथा तथा प्रकृतेः । अथात्र दृष्टान्तोऽप्रसिद्ध इति न मन्तव्यं, भूभवेनेत्यादिलौकिकोदाहरणप्रदर्शनात् । १८२८. तादृशो नरस्य यथा तत्र सन्देहो नोदेति । १८२९. तत्त्वोपप्लववादी । १८३०. स्थानुपुरुषत्वे । १८३१. जैनः । १८३२. कथञ्चिद् विवक्षितप्रकारेणाभ्यासदशापेक्षयेत्यर्थः । १८३३. केवलं स्वत एव परत एव वेति स्वीकारे । १८३४. अनधिगतवस्तुविकल्पस्य पुरुषस्य क्वचित्प्रदेशे वस्तुविचारे संशयो न घटते इति । १८३५. तत्त्वोपप्लववादिनः । १८३६. तत्त्वोपप्लववादी प्राह । १८३७. जैनः । १८३८. तत्त्वोपप्लववादिनां । १८३९. अप्रतिपत्तिविषयीकुर्वन् । १८४०. पराम्युपगमात् । १८४१. वस्तुमात्रम् । १८४२. तत्त्वोपप्लववादी । १८४३. शून्यवादिनः स्वप्रसिद्धेन विनान्यत्र विचारः सन्देहश्च न प्राप्नोतीत्यर्थः । १८४४. अनिर्णीतेर्ये ।

१८४५. व्याहतिः मुद्रितप्रतौ पाठः । १८४६. वक्ष्यमाणप्रकारेण । १८४७. सर्वज्ञसामान्ये विप्रतिपत्तिमतां मीमांसकचार्वाकतत्त्वोपप्लववादिनामात्मसद्भावं प्रसाध्येदानीं तद्विशेषविप्रतिपत्तिमतां सौगतादीनां निर्वचनं साधयति तीर्थेत्यादिना । १८४८. समयः सम्प्रदायः । १८४९. तथापि तत्त्वोपप्लववादिनामनेकप्रमाणत्वं कथमित्यत आह नैकेति । प्रसज्यप्रतिषेधोत्र । १८५०. समूहम् । १८५१. अभ्युपगतम् । स्वीकृतमित्यर्थः । १८५२. सत्यता

संवादकता । १८५३. तथा सति । १८५४. स्वपक्षसाधने परपक्षदूषणे वा सति द्वैतप्रसङ्गं निराकुर्वन् यदि कल्पनया द्वैतमङ्गीकुर्यात्तदा संविदद्वैतसिद्धिरपि कल्पनयैव सिद्ध्येन्न निश्चयेनेत्यर्थः । १८५५. चार्वाकानाम् १८५६. इतरत् असत्यम् । १८५७. इतरः विसंवादः । १८५८. तथा सति । १८५९. “प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः । प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्” इति विचनात् । १८६०. अन्यथा । १८६१. अनुमानसद्भावेप्येकप्रमाणवादिता चार्वाकस्य यदि स्यात्तदानेकप्रमाणवादिनां वैशेषिकादीनामप्येकप्रमाणवादिताप्रसङ्गात् । १८६२. कपिलः साङ्ख्यः । १८६३. कणभक्षो वैशेषिकः । १८६४. अक्षपादो नैयायिकः । १८६५. जैमिनिः प्रभाकरभट्टः । १८६६. ऊहाख्यस्य । १८६७. प्रत्यक्षस्य । १८६८. ऊहपरिज्ञानं सामर्थ्यम् । १८६९. अनिष्टम् । १८७०. वैशेषिकस्य प्रमाणान्तरप्रतिपादनेन । १८७१. सौगतेनापि प्रत्यक्षानुमानाख्यप्रमाणद्वयस्याभ्युपगमात् । १८७२. ऊहग्रहणे । १८७३. प्रत्यक्षमनुमानं च शाब्दं चोपमया सह । अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि जैमिनेः । जैमिनेः षट् प्रमाणानि चत्वारि न्यायवादिनः । साङ्ख्यस्य त्रीणि वाच्यानि द्वे वैशेषिकबौद्धयोः ॥ श्लोकानुक्तान्यपि प्रभाकरस्य पञ्च प्रमाणानीति ज्ञेयम् ।

१८७४. यतस्तत्त्वोपप्लवग्राहि प्रमाणं सत्यभूतमायातं तत्त्वोपप्लवरूपः प्रमेयश्च ततः सकलतत्त्वोपप्लवकथनस्य विरोधः । १८७५. कुतः । १८७६. संवेदनाद्वैतादयो वदन्ति स्याद्वादिनं प्रति । —हे स्याद्वादिन्, यत्त्वयास्माकं परस्परविरुद्धाभिधानं प्रतिपादितं स्वस्वोपगतप्रमाणसंख्यानियमविरोधश्च प्रतिपादितस्तद्वयमपि नास्त्यस्माकमिति । अस्योत्तरमाह स्याद्वादी ‘तथापि तेषामाप्तता नास्ति, स्वप्रमाणफलज्ञानलक्षणायाः प्रमाया अभावात्’ इति । १८७७. चतुर्णामद्वैतवादिनाम् । १८७८. आत्मनः संवेदनात् स्वस्मात्प्रमितिः प्रमाणस्य साध्यं फलं सिद्ध्यतीत्यर्थः । १८७९. ‘प्रमितासिद्धेः’ मुद्रितप्रती पाठः । १८८०. परस्परविरुद्धाभिधानमिति सम्बन्धो योजनीयः । १८८१. तथापीत्यर्थः १८८२. अन्यथा प्रमाऽभावाभावे अनेकान्तिकत्वमायाति १८८३. अद्वैतान्तरे । १८८४. अनेकधर्मरहितत्वात् (बौद्धमतापेक्षया) । १८८५. तस्याः प्रमायामभावे सति । १८८६. स्याद्वादसिद्धरित्यर्थः । १८८७. कुतः ? यतः । १८८८. चार्वाकैः । १८८९. प्रत्यक्षे । १८९०. बौद्धापेक्षया निरंशत्वात् प्रमात्रादिव्यावृत्तां प्रमाया व्यावृत्तेरित्याद्युक्तप्रकारेण । अन्येषामपेक्षया अस्वसंविदिततत्त्वोपगमादित्याद्युक्तप्रकारेण च । १८९१. एताः शक्तयः कारणरूपाः । १८९२. एतत्कार्यरूपम् । १८९३. स्वप्रमायाः सद्भावे स्वप्रमाया एव प्रमाणप्रमेयरूपत्वात् । १८९४. पूर्वं तु परस्य प्रमाणमभ्युपगम्य दूषणमुक्तमिदानीं तदपि निराकरोति । १८९५. सूत्रे परस्परविरोधत इत्येतदुपलक्षणम् । तेन सर्वप्रमाणाविनिवृत्तेरित्यादेरपि ग्रहणम् । १८९६. कथञ्चित्त्रित्यानित्यात्मकत्वेन । १८९७. नित्यवादिनः सांख्याः ब्रह्माद्वैतवादिनश्च । १८९८. ब्रह्मादेरुपादानकारणस्य नित्यत्वे एकत्वे चोपादेयस्यापि नित्यत्वमेकत्वं चेति भावः । १८९९. युगपत्क्रमेण वा ।

१९००. अनित्यवादिनः सौगताः । १९०१. सर्वप्रमाणाविनिवृत्तिरिति सम्बन्धः । १९०२. नित्यैकान्ताद् मुद्रितप्रती पाठः । १९०३. सकाशात् । १९०४. चकारेणानित्यैकान्तग्रहणम् । १९०५. कथञ्चित्प्रकारेण । १९०६. मीमांसकेनाभिधीयमानस्य न क्वचिदनाविलक्षणमिति दूषणस्य परिहारद्वारेणैव परेषां सुगतादीनामाप्तता नास्ति परं त्वस्माकं त्वस्तीति वक्तुकामा वागक्षेत्याद्याहुराचार्याः । १९०७. कर्तृपदम् । १९०८. सुगतकपिलादावेकान्तवादिषु । १९०९. जैनेषु । १९१०. दुरवबोधम् । १९११. निरावरणज्ञानाः । १९१२. अविशिष्टवागादि प्रतिषेधवादिनाम् । १९१३. नातः मुद्रितप्रती पाठः । १९१४. अविशिष्टवाक्त्वं निराकृतमनेन । १९१५. अक्षबुद्धिनिराकरणमनेन । १९१६. आदिना देशकालद्रव्यादिव्यवधानग्रहः । १९१७. ‘व्यवधानाद्यति’ मुद्रितप्रती पाठः १९१८. इच्छावत्त्वं निराकृतमनेन । १९१९. अविशिष्टपुरुषत्वमनेन निराकृतम् । १९२०. सुगतादिषु । १९२१. युक्तिन्यायः । शास्त्रमागमः । १९२२. निष्कलङ्कबुद्धिः, पक्षेऽकलङ्कदेवानां बुद्धिः । १९२३. ‘इत्थं’ मुद्रितप्रती पाठः । १९२४. येन कारणेन तीर्थच्छेदसम्प्रदायानां सर्वेषामाप्तता नास्ति तेन कारणेन । १९२५. इन्द्रियानिन्द्रियान्यत-मावरणक्षयोपशमो लब्धिः । अर्थग्रहणव्यापार उपयोगः । तयोः संस्कारास्तेषाम् । १९२६. आवरणं निबन्धनं येषां ते तेषाम् । १९२७. भवं यन्तीति विवपि भवेतो भवभृतस्तेषां गुरुः प्रभुर्भवेद्गुरुरिति कारिकापदस्य व्युत्पादनम् । १९२८. सुगतादीनाम् ।

१९२९. 'आजप्रतिक्षेप' मुद्रितप्रती पाठः । १९३०. 'सुनिश्चिता' मुद्रितप्रती पाठः । १९३१. चेतयते इति चेत् । १९३२. सर्वज्ञः । १९३३. प्रतिबिम्बादौ । १९३४. मीमांसकः । १९३५. अन्यथावेदनस्य । १९३६. स्याद्वाद्याह ।

१९३७. तत्त्वार्थाधिगमवचनात् । १९३८. लब्ध्युपयोगयोः प्रकर्षाः (संस्काराः) स्वग्राह्यार्थग्राहकाः परिमितरूपा भवन्ति । १९३९. धारणाज्ञानरूपा न तु स्वरूपार्थग्राहणोन्मुखा संस्कारे, उपयोगसंस्कारयोरैकत्वप्रसङ्गात् । १९४०. न तु द्वयेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वं तेषामङ्गोपाङ्गनामकर्मबिन्धनत्वात् । १९४१. एवार्थे । न तु तत्राष्टकर्मविनाशः काण्ठम्, आवरणापायस्यैव कारणत्वोपगमात् । १९४२. ज्ञानावरणे संक्षये भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभागभवत्येतावता भावेन्द्रियाणामभावादेवेति कथमित्याशङ्क्यामाह । १९४३. कारणानामावरणभावरूपाणाम् । १९४४. कार्यस्य भावेन्द्रियरूपस्य । १९४५. आह कश्चित्स्वमतवर्ती । १९४६. गाणावरणचउक्कं तिदंसण सम्मर्गं च संजलणं । णवणोकसायविग्घं छव्वासा देसघादीओ ॥ (ज्ञानावरणचतुष्कं त्रिदर्शनं सम्यक्त्वं चतुः संज्वलनम् । नवनोकषायाः विघ्नः षड्विंशतिदेशघातीयाः) । देशं (आत्मगुणस्यैकदेशं) घन्तीति देशघातिन इति व्युत्पत्तिः । देशघातिनश्च ते ज्ञानावरणाश्च ते स्पष्टकाश्चेति देशघातिज्ञानावरणस्पष्टकास्तेषामुदये । १९४७. वर्गः शक्तिसमूहोणोरूनां (शक्तिसमूहः) वर्गणोदिता । वर्गणानां समूहस्तु स्पष्टकापहः ॥ इत्युक्तलक्षणो बहूनां कर्मत्वमापन्नानां पौद्गलिकवर्गाणां समूहः स्पष्टको ज्ञेयः । १९४८. सर्वमात्मगुणं घन्तीति सर्वघातिनः । केवलणाणावरणं केवलदंसं कसायवारसयं । मिच्छं च सव्वधादी सम्मा मिच्छं अवंधिं (अवंधह ॥ (केवलज्ञानावरणं केवलदर्शनावरणं कषायद्वादशकम् (अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानानां प्रत्येकं चतुष्कमिति द्वादश) । मिथ्यात्वं च सर्वघातिनः सम्याग्मिथ्यात्वमवस्थैः (जिनैः) इत्युक्तलक्षणः सर्वघाती, आत्मगुणानां सामस्त्येन घातनात् । १९४९. वर्तमानकाले उदययोग्यानामित्यर्थः । १९५०. उदयाभावरूपे क्षये फलमदत्तैव तेषां निर्जरणे इत्यर्थः । १९५१. सर्वघातिज्ञानावरणस्पष्टकानामे बोद्धव्यमाणानां सदवस्थायाम् । आत्मनि कर्मत्वरूपेण सम्बन्धे विद्यमाने सतीत्यर्थः । १९५२. मीमांसकशङ्का । १९५३. 'साम्ये' मुद्रितप्रती पाठः । १९५४. सकलभवभृत्प्रभोः । १९५५. पुनश्च मीमांसकः । १९५६. हेतुः । १९५७. सर्वज्ञसाधकम् । १९५८. लिङ्गं भूत्वा य एकदेशः सर्वज्ञमनुमापयेदित्यर्थः । १९५९. योगे । १९६०. अलावूनि निमज्जन्ति ग्रावाणः प्लवन्त इत्यत्रापि वंदे स्वरूपनिरूपकस्य आपः पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रसङ्गात् । १९६१. यो योगं करोति । १९६२. कर्मार्थवादो यागप्रशंसावादः तत्स्तुतिकथनं वा । १९६३. सर्वज्ञरूपेण । १९६४. स्तुत्यर्थकथनपरः । १९६५. आगमेन सर्वज्ञस्यानुवादो भवतीत्युक्ते आह । १९६६. प्रमाणात् १९६७. आदिमत्सर्वज्ञं प्रतिपादयति यदा तदा सर्वज्ञोऽभूद्विष्यति भवतीति त्रिरूपेणापि प्रतिपादने विरोधः । १९६८. मूलं प्रामाण्यम् । १९६९. स्तुत्यादि (चोदनादि) वादानां सत्यत्वं नावगम्यते । विशेषण स्पष्टीकरणं त्वम्य भावनाविवेकनाम्नि ग्रन्थे कृतम् । १९७०. न वाक्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तीति वा पाठः ।

१९७१. प्रमाणैः । १९७२. कृत्रिमत्वादेवासत्यत्वम् । १९७३. सर्वज्ञवचनेन । १९७४. अन्योन्याश्रयं भावयति । १९७५. वाक्येन १९७६. सिद्धं च तन्मूलान्तरं (प्रमाणान्तरं) च तत्तस्मात् १९७७. सर्वज्ञसदृशस्य । १९७८. अर्थापत्त्युत्थापकस्य । १९७९. सर्वज्ञाभावेपि धर्माद्युपदेशः संभवति बहुजनपरिगृहीतत्वात् । ततो धर्माद्युपदेशो नान्यथानुपपन्नमानो यतः सर्वज्ञं साधयेत् । १९८०. सर्वज्ञाभावे १९८१. अन्यथा नोपपद्येत इति पाठान्तरम् । यद्येवं पाठस्तदा काकुरूपेण ध्येयः । १९८२. मध्ये । १९८३. स्त्रियामृकसामयजुषी इति वेदास्त्रयस्त्रयी इत्यमरः । १९८४. त्रयीविद्भिराश्रिताः (व्याख्याताः) स्मृतिरूपा ग्रन्था ये स्मृतिग्रन्थास्ते त्रयीविदाश्रितग्रन्थाः । त्रयीवित्प्रधानमन्वादिकृताः स्मृतिसाधारणास्त्रयीविद आश्रयन्तीति भावः १९८५. मन्वं सर्वज्ञास्तित्वम् । १९८६. दूरादिनियतार्थगोचरैः । १९८७. सिद्धान्तः (जैन) पक्षमादाय वादी शङ्कते । १९८८. अतीन्द्रियजातं प्रत्यक्षम् । १९८९. तथाभूतस्यैव तथासाधनत्वं कुत इत्यरेकायामाह ।

१९९०. एतदनुमानस्य खण्डनमत एवाक्षापेक्षाऽज्ञानादिसंस्कृतचक्षुषो यथालोकानपेक्षा इति भव्यव्याख्यानावसरे प्रोक्तं द्रष्टव्यम् । १९९०. गृद्धस्य चाक्षुषं वराहस्य श्रौत्रं पिपीलिकायास्तु घ्राणजम् । बिडालधूकमूषकादयो नक्तञ्चराः । १९९३. कात्यायनो वररुचिः । १९९५. व्याप्तिस्मरणमन्तरेणोत्पन्नत्वलक्षणेन । १९९५. सङ्केतस्मरणमन्तरेण ।

१९९६. एकाग्रता । १९९७. स्वार्थो नियतविषयः । १९९८. अतीन्द्रियं च तदननुमेयं चेति द्वन्द्वः । १९९९. इन्द्रिये । २०००. क्रियमाणायाम् । २००१. ननु च प्रज्ञास्मृत्यादिशक्तीनां प्रतिपुरुषमतिशयदर्शनात्सिद्धं कस्यचित्काष्ठापद्यमानं धर्मादिस्मृताद्यर्थसाक्षात्कारिप्रत्यक्षमित्यारेकायामाह । २००२. तत्तद्विषयाणाम् । २००३. एकशास्त्रज्ञानमात्रेण । २००४. पुरातननृपादिचरित्रग्रन्थसन्दर्भ इतिहासः । २००५. अपूर्वं पुण्यपापे । २००६. द्वन्द्वः । २००७. संभाव्येनातीन्द्रिया (निन्द्रिये) प्रत्यक्षादिना व्यभिचारः । २००८. प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वादिति साधनस्य । २००९. तस्य अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य । २०१०. पुरुषविशेषस्य । २०११. अत्राह स्याद्वादी । २०१२. परो मीमांसकः प्रत्यवतिष्ठेत (प्रतिकूलतामवलम्बेत) अपि तु नेत्यर्थः । २०१३. अन्यत् संवादकत्वादिकम् । २०१४. बाधकासम्भवत्वम् । २०१५. सर्वज्ञे । २०१६. सिद्धं सत् । २०१७. तर्हीति शेषः । २०१८. दर्शने दर्शनाभावे वा (सर्वज्ञस्य) सत्यदर्शने असत्यदर्शने च वा । २०१९. अविशेषात्सर्वत्रापि सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणस्याभावे इत्यर्थः । २०२०. प्रत्यक्षम् । २०२१. मीमांसकस्य । २०२२. सर्वज्ञसाधकस्य । २०२३. अन्तरिन्दुगमिति । क्रियाविशेषणमेतत् ।

२०२४. सर्वज्ञः । २०२५. स सर्वज्ञः । २०२६. सिद्धान्ती । २०२७. सदुपलम्भकं सद ग्राहकम् । २०२८. विद्यमानदर्शकप्रत्यक्षादिप्रमाणपञ्चकाभावस्वरूपमभावप्रमाणम् । २०२९. सिद्धान्ती तदनुपलम्भनं स्वसम्बन्धि परसम्बन्धि वेति विकल्प्य क्रमण दूषयति स्वस्याभावप्रमाणवादिनः सम्बन्धि स्वसम्बन्धि । २०३०. परचित्तव्यापारविशेषादिना व्यभिचारसम्भवात् । २०३१. नदेति शेषः । २०३२. विद्यमानैः । २०३३. किञ्चिज्ज्ञेन । २०३४. अतीन्द्रियत्वात् । २०३५. अत्यन्तपरोक्षत्वेन सर्वज्ञस्य ज्ञापकलिङ्गाभावः । २०३६. सर्वस्यानन्यथाभावसादृश्यानुपपत्तिरिति पाठः । २०३७. सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । २०३८. मीमांसकस्य । २०३९. स्वरूपशब्देन सर्वज्ञः । २०४०. सर्वज्ञज्ञापकानुपलम्भनम् । २०४१. आपः पवित्रमित्यादेरपि प्रामाण्यप्रमङ्गान् । २०४२. प्रभाकरं निराकृत्य भट्टं निराकुर्वन्नाह तज्ज्ञापकेति । २०४३. सर्वपुरुषसम्बन्धिनि ज्ञापकानुपलम्भने । २०४४. मति । २०४५. सर्वज्ञज्ञापके काले । २०४६. घटते । २०४७. अन्यपुरुषमनोव्यापारादिप्रत्यक्षत्वानिष्टेः २०४८. नरे । २०४९. सर्वज्ञनास्तितानिश्चितिः । २०५०. नरे । २०५१. नास्तितागतिः । २०५२. अनुमानादिना । २०५३. मीमांसकानाम् । २०५४. अनुमाने लिङ्गस्य, उपमाने सादृश्यस्य, अर्थापत्तौ त्वन्यथाभावस्य चाभावादित्यर्थः । २०५५. सर्वसम्बन्धि तद्गोदुं किञ्चिद्गोदर्थं शक्यते इत्यादिना पूर्वमेव नास्तितासिद्धौ प्रयुक्ते तत्र तत्र प्रत्येकप्रमाणे दूषणस्योक्तत्वात् । २०५६. तज्ज्ञापकोपलम्भस्य स्मृतौ सत्याम् । २०५७. जैनाद्युपगमतः । २०५८. सर्वज्ञः । २०५९. कथं व्याधातस्तथाहि । तस्य परोपगमस्य प्रमाणत्वेन्योन्यं परस्परं (वादिप्रतिवादिनोः) स सिद्धः । अन्यथा (तदप्रमाणत्वे) अन्योन्यं परस्परमुभयोरैव न सिद्ध इति ।

२०६०. सुयुक्तिभिः । २०६१. गृहीत्वा वस्तुसद्भावमित्यादिप्रक्रिया जैनेषु नास्ति ततश्चास्माकं न किञ्चिद्दूषणमित्याहानेकान्ते इति । २०६२. गृहीत्वा वस्तु सद्भावमित्यादिप्रकारेण । २०६३. अनेकान्ते हीत्यादिप्रकारेणैव अनुपलम्भनं म्यादित्युक्ते सिद्धान्त्याह नैवमिति । २०६४. भ्रान्तिः । २०६५. सर्वज्ञस्य । २०६६. विश्वासस्य प्रतीतिः । २०६७. संवादकत्वादेः । २०६८. सुनिश्चितासम्भवद्वाधके । २०६९. मेरुमूर्द्धनि मोदकादिसत्ताऽसत्तयोः साध्ययोरुभयत्रापि सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वस्य हेतोः संभवात् । २०७०. प्रत्यक्षम् । २०७१. प्रत्यक्षस्य २०७२. मीमांसकाशङ्का । २०७३. सर्वज्ञस्य । २०७४. वस्तुनि । २०७५. विरोधात् । २०७६. यत्र साधकाभावस्तत्र बाधकसद्भावः । यत्र च बाधकाभावस्तत्र साधकमद्भावः । न त्वेकत्र साधकबाधकाभावो यथा तथा तदुभयनिर्णयोपि न । २०७७. सर्वत्र । २०७८. सुनिश्चितासंभवत् । मुद्रितप्रतीति पाठः २०७९. सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वं यत्र तत्र सुनिश्चितासंभवत्साधकत्वं न घटते, अन्योन्यविरोधात् । २०८०. सुनिश्चितासंभवत्साधकप्रमाणत्वात् । २०८१. सर्वज्ञे । २०८२. निर्दोषत्वाद्धेतोः । २०८३. तत्त्वभावान्तरम् अज्ञत्वलक्षणम् । २०८४. सर्वज्ञस्य । २०८५. जानीयात् । २०८६. जैनः । २०८७. भविष्यद्भर्तमानावादिपदेन ज्ञेयौ । २०८८. ज्ञस्वभावत्वाभावे । २०८९. आत्मा ज्ञस्वभाव एव साध्यः । २०९०. मीमांसकः ।

२०९१. चोदना सकलं जानाति, आत्मा तु न जानातीति वदन् । २०९२. मीमांसकस्यापि । २०९३. सर्वथाभेदे । २०९४. मतान्तरं यौगम् । २०९५. भूताद्यशेषार्थे । २०९६. विकल्पज्ञानं यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमिति व्याप्तिज्ञानम् । २०९७. व्याप्तिज्ञानानुपपत्तौ । २०९८. मीमांसकशङ्का । २०९९. जैनैः । २१००. ज्ञानावरणादीनां मध्ये अन्तरमन्यतमं = ज्ञानावरणमित्यर्थः । २१०१. कारणकं मुद्रितप्रतौ पाठः । २१०२. मीमांसकः पृच्छति । तदज्ञानावरणं कर्म कुतः सिद्ध्यति । २१०३. इति चेदाहुराचार्याः—विवादेति । २१०४. अज्ञानाद्युदयः । २१०५. सर्वमतीतानागतवर्तमानं पश्यति मुद्रितप्रतौ पाठः । २१०६. व्यामोहः—मुद्रितप्रतौ पाठः । २१०७. पर्यायो द्विधार्थव्यञ्जनभेदात् । व्यञ्जनः स्थूल-पर्यायः । सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चार्थपर्यायः । २१०८. प्रत्यक्षीभूता वयं जैनाः । २१०९. अज्ञानम् । २११०. मीमांसकशङ्का । २१११. समीपतामापन्नम् । २११२. दूरम् । २११३. जैनः । २११४. तयोः प्रत्यासत्तिविप्रकर्षयोः । २११५. नयनतारकाया अञ्जनेन सह प्रत्यासत्तावपि न ज्ञानोदयोऽञ्जनस्य । चन्द्रार्कादींस्तु विप्रकृष्टानपि जानाति नयनतारका यथा । २११६. 'ज्ञानाज्ञानयोः' मुद्रितप्रतौ नास्ति । २११७. ज्ञानावरणविशेषाभावरूपा । २११८. प्रत्यासत्त्यभावे विप्रकर्षसद्भावेपि ज्ञानोत्पादात् । २११९. ता । २१२०. सर्वज्ञः । २१२१. प्रतिबन्धने मुद्रितप्रतौ पाठः । २१२२. कथं न स्यादपि तु स्यादेव । २१२३. प्रतिबन्धने मुद्रितप्रतौ पाठः । मणिमन्त्रादौ । प्रतिबन्धने इत्यपि पाठः । २१२४. अर्हत्प्रत्यक्षस्य । २१२५. अन्यथा (अक्षापेक्षत्वे) २१२६. परः । २१२७. सिद्धान्ती ।

२१२८. साकल्येन विरतव्यामोहत्वसर्वदर्शनाभ्यां विनापि अवधिमनःपर्यययोरक्षानपेक्षत्वप्रकारेण । २१२९. तस्य = विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः । २१३०. अवधिमनःपर्यययोरपि पक्षान्तर्भावं ज्ञात्वा साकल्येन विरतव्यामोहत्वस्य सर्वदर्शनस्य वा हेतोः पक्षाव्यापकत्वं दोषं समर्थयति परः । २१३१. परेण । २१३२. ईक्षणिका द्व्यक्षरा शाकिनीग्राह्या (?) । २१३३. भवेतामिति पाठान्तरम् । २१३४. प्रमाणभूतः । २१३५. सर्वे आप्ता इति वादो यस्य स सर्वाप्तवादो वैनयिकः । २१३६. वर्धमानः २१३७. अन्तर्गतिक्रान्तः कालोऽत्यन्तः, तस्मै प्रभवतीति आत्यन्तिकी, यस्या हानेः पुनर्नाशो न विद्यते तथेत्यर्थः । २१३८. अर्हति । २१३९. तरतमभावेन हीयमानत्वात् । २१४०. क्वचिच्छब्दः पूर्वाद्धेपि सम्बन्धनीयः । क्वचिच्छब्देन कनकोपलो दृष्टान्ते अर्हश्च दार्ष्टान्ते ग्राह्यः । २१४१. दोषसामान्यमावरणसामान्यं च तयोः । २१४२. प्रसिद्धो धर्मीति वचनात् । २१४३. दोषावरणयोर्हानिरभावे निर्दोषत्वं ज्ञानादि कार्यं च नोपपद्यते । २१४४. इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यमिति वचनात् । २१४५. निःशेषहानौ । २१४६. प्रसिद्धो दृष्टान्त इति वचनात् । २१४७. द्वित्रादिवर्णिकामारभ्य षोडशवर्णिकापर्यन्तं हीयमानम् । २१४८. जैनैः । २१४९. दोषावरणयोरिति द्विवचनसामर्थ्यात् ।

२१५०. स्वपरौ जीवकर्मणी । २१५१. कारिकाया मुद्रितप्रतौ पाठः । २१५२. सदर्थम् । २१५३. रागाद्वेषादिः । २१५४. सौगतमतम् । २१५५. स्वपरिणामस्तु नित्यः परिणामस्य गुणरूपस्य यावद्द्रव्यभावित्वे सति सकलपर्यायानुवर्तित्वं गुणत्वमिति लक्षणेन नित्यत्वप्रतिपादनात् । अज्ञानादिस्त्वनित्य इत्यतो विरोधः । २१५६. जीवत्वादिगुणस्य यथा कादाचित्कत्वविरोधोऽस्य नित्यत्वात् । २१५७. साङ्ख्यः । २१५८. जैनः । २१५९. अज्ञानादिकर्मरेणूनां मुक्तात्मनापि सम्बन्धप्रसङ्गात् । २१६०. जैनमते एवमभिमतम् । २१६१. दोषस्यावरणकार्यत्वप्रतिपादनप्रकारेण । २१६२. कारणनाशे कार्यनाशनियमात् । २१६३. अत्रापि कारणनाशे कार्यनाशनियमो हेतुः । २१६४. अन्योन्यकार्यकारणभावज्ञापनार्थं ह्युभयहानिनिःशेषत्वसाधनम् । २१६५. दोषं प्रत्यावरणस्य कारणत्वं प्रतिपाद्येदानीमावरणं प्रति दोषस्य कारणत्वमावेदयन्ति । २१६६. तत्प्रदोषो ज्ञानदर्शनप्रद्वेषः । २१६७. निह्वमच्छादनम् । २१६८. मात्सर्यं निन्दा तिरस्कारश्च । २१६९. विघ्नकरणमन्तरायः । २१७०. आसादनं शास्त्रादेर्विराधनम् । २१७१. अध्येतृणां पीडाकरणमुपधातः । २१७२. एभ्यः कारणेभ्यो ज्ञानदर्शनावरणद्वयं जीवेन सह बन्धं याति । २१७३. हेतुतः । २१७४. आस्रवतीत्यध्याहार्यं पदम् । २१७५. सौगताशङ्का । २१७६. अविद्या मिथ्याज्ञानम् । २१७७. भोगाभिलाषस्तृष्णा । २१७८. चित्तक्षणस्य आत्मन इत्यर्थः । २१७९. तेन मदिरादिना । २१८०. अभ्युपगते । २१८१. श्लोकवार्तिके । २१८२. अतिशायनादेव ।

२१८३. बौद्धस्य । २१८४. अनिष्टस्य साध्यत्वाभावः । २१८५. कुतः ? यतः । २१८६. आत्मा दोषावरणं न तच्चात्मा नेति इतरेतराभावः । २१८७. इतरेतराभावस्यात्मनि कर्माद्यपेक्षया प्रसिद्धत्वात् । २१८८. प्रसिद्धत्वादेव । २१८९. प्रसिद्धत्वे हेतुमाह ।

२१९०. घटो भूत्वा कपालभवनमेव प्रध्वंसाभावः । २१९१. लोष्टादावत्यन्ताभावेन वर्तनात् । २१९२. दोषावरणबुद्धीनामतिशायनगुणेन कृत्वा विशेषो यतो नास्ति । २१९३. यतो न हि बुद्धिपरिक्षयः । २१९४. प्रध्वंसाभावस्य । २१९५. आदिपदेन शरीरं गृह्यते, उत्तरत्र व्यापारव्याहारव्यावृत्तेरपि वक्ष्यमाणत्वात् । २१९६. रप्यभिमतत्वादिति पाठान्तर्गम् । २१९७. पृथिव्यां चेतनगुणव्यावृत्तिर्वर्तते एवातो नानेकान्तः । २१९८. सामस्त्येन । २१९९. चेतनादिगुणस्य तत्रात्यन्ताभावात् । २२००. बुद्धिहानेरतिशायित्वेऽपि सर्वात्मना पृथिव्यादौ चेतनादिगुणप्रध्वंसाभावो नास्ति, अतोनेकान्तः । २२०१. अन्यथा चेतनादिगुणसद्भावे तदभावोपलम्भाभावप्रसक्तेः । २२०२. अदृश्यश्चेतनगुणः । २२०३. चेतनादिगुणस्य । २२०४. अदृश्यानुपलम्भस्याभावासाधकत्वे सति परशरीरगतचैतन्यस्य निवृत्तावप्यारेका स्यात् । २२०५. खपुस्तके ते इति पदं नास्ति । २२०६. व्यापारविशेषश्चलनादिः । व्याहारविशेषो वचनविशेषः, आकारविशेषश्च । २२०७. समयः सङ्केतः । २२०८. चैतन्याभावविशिष्टम् । २२०९. कारणं = चैतन्यम् । २२१०. नास्ति । २२११. पूर्वोक्तं मतम् । २२१२. मीमांसकस्य । २२१३. तत् = व्यापारव्याहारादि । २२१४. मुक्तात्मवत् । २२१५. कार्यं = व्यापारादि । २२१६. अदृश्यानुपलम्भात् सर्वात्मना चेतनादिगुणव्यावृत्तिरिति सिध्यत्येवेति । २२१७. रामरावणवेदकर्त्रादीनाम् । २२१८. किन्तु भावसिद्धेरेव मीमांसकस्य स्यात् । २२१९. जैनः २२२०. यद्विनाशि न भवति तत्कृतकं न भवति, यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्तीति च व्यतिरेकव्याप्येति सिद्धेः । २२२१. बौद्धमतेऽदृश्यानुपलम्भादभावसिद्धिर्नास्ति ततः परस्परमसंस्पृष्टानां परमाणूनां विकल्पबुद्धावप्रतिभासनात्तेषामभावासिद्धिः । २२२२. (जैमिनीयानाम्) मीमांसकानाम् । २२२३. अन्यथा ।

२२२४. भावसिद्धिमित्यर्थः । २२२५. ततो वेदस्य सकर्तृकत्वं स्यात् । २२२६. प्रतिपादनम् । २२२७. स्वकीयम् । २२२८. अनुमानोच्छेदस्य दुर्निवारत्वम् । २२२९. पाषाणात् । २२३०. आत्मनः । २२३१. द्रव्यभावरूपम् । २२३२. अकलङ्कस्य = परमसर्वज्ञस्याकलङ्कदेववचसो वा । २२३३. तटस्थो जैनः । २२३४. भूत्वाभवनलक्षणः । २२३५. द्रव्यत्वेन । २२३६. कारणात् । २२३७. तत्पर्यायस्य । २२३८. सकाशात् । २२३९. एकस्माद्वितीयस्य व्यावृत्तिरेव क्षय इष्यते सैद्धान्तिकानाम् । २२४०. यथा व्यावृत्तिरिति शेषः । २२४१. ध्रौव्यमन्तरेण । २२४२. शब्दो नश्वरः सत्त्वादिरित्यपि वक्तुं शक्यत्वात् । किं तात्पर्यम् ? सत्त्वान्यथानुपपत्तिरूपो हेतुः शब्दस्य नश्वरत्वमेव साधयति, न तु ध्रौव्यमित्यर्थः । २२४३. विद्युदादीनां सत्त्वेऽपि द्रव्यार्थतया ध्रौव्याभावादनेकान्त इत्यर्थः । २२४४. पुद्गलद्रव्यत्वतः । २२४५. कर्मद्रव्यस्य । २२४६. पुद्गलद्रव्यस्यात्मनि पारतन्त्र्यकरणे कर्मत्वपणिणामस्तदकरणेऽकर्मत्वपरिणाम इति सिद्धान्तः । २२४७. यथा घटपटादिः ।

२२४८. कारिकायाम् । २२४९. निःशेषकर्मपर्यायहानौ वा कर्मद्रव्यस्यापीत्यादिनोक्तप्रकारेण । यथा घटपटादिः कर्मवैकल्येऽप्यात्मवैकल्यं तथा बुद्धिवैकल्यमस्ति वाऽतिप्रसङ्गो नेति भावः । २२५०. सौगतः । २२५१. जैनः । २२५२. दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः । २२५३. आदिपदेन रसगन्धवर्णाः । २२५४. लक्षणस्य । २२५५. तत् = लक्ष्यम् । २२५६. अपि तु न स्यात् । २२५७. सतोऽत्यन्तविनाशानुपपत्तिप्रकारेण । २२५८. मीमांसकः । २२५९. अज्ञानादिदोषः । २२६०. पृथक्करणमेव क्षयः । २२६१. निर्हासो विनाशः । २२६२. मलनिर्हासस्य निमित्तं सम्यग्दर्शनादिगुणस्तस्य विवर्द्धनवशाद्धेतोः । २२६३. कर्म ज्ञानावरणादि । २२६४. अज्ञानादिर्मल आत्मनि स्वनिर्हासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी, आगन्तुकत्वादित्यध्याहार्यम् । २२६५. स्वनिर्हासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी प्रसिद्धः । २२६६. आत्मन्यज्ञानादिर्मल आगन्तुकः कादाचित्कत्वादित्यध्याहार्यम् । २२६७. दोषस्वभावत्वं जीवानामिच्छन् मीमांसकः प्राह । २२६८. गुणाविर्भूतेः प्राक् । २२६९. स दोषः । २२७०. ब्रह्मादिज्ञानस्य । २२७१.

दोषप्रकारेण । २२७२. गुणसद्भावकालेपि तिरोहितदोषसद्भावेङ्गोक्रियमाणे । २२७३. 'सत्तामात्रसिद्धिः' मुद्रितप्रतौ पाठः । २२७४. आत्मनः ।

२२७५. आत्मनो गुणस्वभावत्वसिद्धिः । २२७६. आत्मनः । २२७७. आत्मनो दोषस्वभावत्वमन्तरा संसारित्वं न स्यात्ततो दोषस्वभावत्वसिद्धिरिति मीमांसकः । २२७८. जैनः । २२७९. मुक्तिसिद्धिः कुतः २२८०. वयं जैनाः । २२८१. तत्कारणं = मिथ्यादर्शनादि । २२८२. मिथ्याज्ञानवशात् सम्यग्ज्ञानाभाव इति प्रतिवादिनोपि सिद्धम् । २२८३. यसः । २२८४. 'निर्विवादकत्वात्' मुद्रितप्रतौ पाठः । २२८५. तस्य सम्यग्दर्शनादेः । २२८६. तस्मिन् मिथ्यादर्शनस्य । २२८७. तरतमभावेन वर्द्धमानत्वात् । २२८८. प्रकृष्यमाणेषु परत्वापरत्वे न परमप्रकर्षभाजीत्याभ्यां हेतोर्व्यभिचारः । २२८९. पर्यन्तेन (परिमाणेन) सह वर्तमानं सपर्यन्तं तच्च जगत् । २२९०. श्लोकवार्त्तिकदौ । २२९१. संसारस्य परमप्रकर्षसद्भावाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वरूपहेतोर्दर्शनात् । २२९२. मिथ्यादर्शनादीनां परमप्रकर्षाभावेपि प्रकृष्यमाणत्वहेतोर्दर्शनादनेकान्तः प्रत्याख्यातः । २२९३. परमप्रकर्षरहितात् । २२९४. प्रकृष्यमाणत्वमिति कर्तृपदमध्याहार्यम् । २२९५. स्वकार्यं संसारस्तस्य । २२९६. ज्ञानादिगुणस्वभावत्वाभावे । २२९७. उभयमेकत्रैकदा विरुध्यते यतः । २२९८. चेतनागुणस्वभावतायाम् । २२९९. ज्ञानगुणस्वभावत्वनिर्णयोस्ति । २३००. गुणस्वभावत्वमन्तरा । २३०१. साधनम् । २३०२. आगन्तुको मलः ।

२३०३. 'वर्द्धन' मुद्रितप्रतौ पाठः । २३०४. ज्ञानावरणस्य । २३०५. अज्ञानादेः । २३०६. मीमांसकः । २३०७. विप्रकर्षशब्दो देशकालस्वभावशब्दैः प्रत्येकमभिसम्बध्यते । २३०८. देशकालाद्यविप्रकृष्टस्य । २३०९. धर्मादिस्थापने । २३१०. चोदनायाः । २३११. नन्वानन्दादिस्वभावोपि नास्तीत्यत्राह । आनन्दादिस्वभावस्याप्रतिषेधादिति । २३१२. मुक्तात्मनि । २३१३. सूत्रकारस्य । २३१४. प्रतिज्ञातिशयेति पाठान्तरम् । २३१५. समन्तभद्राचार्याः । २३१६. अनुमातुं योग्यत्वात् । २३१७. मीमांसकस्य । २३१८. नियतदेशाद्याकाराः । २३१९. कस्यचित्प्रत्यक्षत्वप्रकारेण । २३२०. अनियतदेशाद्याकाराः । २३२१. आधुनिकस्य । २३२२. क्षमाधरादयो बुद्धिमत्कारणकाः, सन्निवेशविशिष्टत्वादित्यत्रायं हेतुरप्रयोजको, बुद्धिमत्कारणत्वमन्तरेणापि सन्निवेशविशिष्टत्वसिद्धेः ।

२३२३. 'धर्मादयो हि' मुद्रितप्रतौ पाठः । २३२४. 'ते' मुद्रितप्रतौ पाठः । २३२५. स्वर्गादयः । २३२६. विवादापन्नानां साध्यत्वप्रकारेण । २३२७. भाट्टस्य । २३२८. स्वभावभेदं दर्शयति । २३२९. स्वभावभेदाभावं दर्शयति । २३३०. ज्ञानम् = अनुमानज्ञानम् । २३३१. पुण्यपापादौ । २३३२. अग्न्यादीनामनुमेयत्वम् । २३३३. धर्मादीनामनुमेयत्वम् । २३३४. इति वदन् मीमांसको बौद्धश्च स्वानुमानमुत्सारयति (निवारयति)—इत्यर्थः । २३३५. स्वभावदेशकालविप्रकर्षिणामनुमेयत्वमसिद्धमित्यङ्गीकारं यावान्क्षिदभाव इत्यादिव्याप्येति सद्भावश्चायं तस्मात् क्षणिक इति प्रकृतोपसंहारायोगः । २३३६. अस्मदादिप्रत्यक्षगोचराणाम् । २३३७. हेतोः । २३३८. क्षणिकत्वादिना सह । २३३९. बौद्धानाम् । २३४०. सामस्त्येन । २३४१. विरुद्धम् । २३४२. सौगतमीमांसकादीनाम् । २३४३. प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नं ज्ञातमविनाभावि लिङ्गं येषां ते । २३४४. यथाग्न्यादयः । २३४५. प्राप्स्यते । २३४६. मीमांसकः । २३४७. अग्न्यादौ । २३४८. पर्यायापेक्षया । २३४९. पर्यायत्वादिति हेतुरध्येयः । २३५०. प्रमाणात् । २३५१. मीमांसकः । २३५२. मानसप्रत्यक्षत्वात् । २३५३. शश्वदित्यादिप्रकारेण परिहराम्यहं मीमांसकः ।

२३५४. विप्रकर्षिणामनुमेयत्वाभावादविप्रकर्षिणामनुमेयत्वानिष्ठेतिरित्यर्थः । २३५५. प्रत्यक्षगोचराणाम् । २३५६. पावकादीनाम् । २३५७. वक्ष्यमाणम् । २३५८. मीमांसकः । २३५९. मयि बुद्धिरस्ति, घटादिबहिरर्थज्ञानान्यथानुपपत्तेः । २३६०. धर्माधर्मौ स्तः, श्रेयःप्रत्यवायाद्यन्यथानुपपत्तेः । श्रेयः सुखम् । प्रत्यवायो दुःखम् । २३६१. धर्माधर्मयोरभावेपि ख्यादिदर्शनात् । २३६२. ख्यादिभिः सौख्यमेवेति न, असुखस्यापि ततः सम्भवादिति व्यभिचारः । २३६३. मयि विशिष्टेन्द्रियशक्तिरस्ति, विशिष्टरूपादिज्ञानान्यथानुपपत्तेः । २३६४. किञ्च । २३६५. परोक्षस्य । २३६६. अनुमेयत्वसिद्धिः । २३६७. आदिशब्देन नैयायिकादयः । २३६८. यत्सत्तत् क्षणिकमिति बौद्धाः । यत्कृतकं तदनित्यमिति नैयायिकाः । २३६९. जैनानाम् । २३७०. सर्वमनेकान्तात्मकं, सत्त्वात् ।

२३७१. प्रकारान्तरेणानुमेयत्वं व्याख्याति । २३७२. श्रुतज्ञानं मतिपूर्वकमेव भवति । २३७३. श्रुतज्ञानविषयाः । २३७४. मीमांसकस्य । २३७५. सूक्ष्माद्यर्थस्य । २३७६. श्रुतं वेदः । २३७७. वेदवाक्यम् । २३७८. सर्वज्ञस्य । २३७९. सूक्ष्माद्यर्थस्य । २३८०. नित्यत्वेनानित्यत्वेनैव वा एकान्तरूपेण स्वीकृतैरर्थैः । २३८१. अनैकान्तिकत्वं दोषः । २३८२. श्रुतं श्रुतज्ञानाभासः । २३८३. सर्वार्थैकान्तानामर्थानाम् । २३८४. प्रत्यक्षानुमानबाधनात् । २३८५. सर्वत्र वस्तुनि श्रुतज्ञानादिगम्यत्वभावाद्भागासिद्धोयमित्याशङ्क्यामाह स्थानेति । २३८६. स्वभावान्तरितं, देशान्तरितं, कालान्तरितं चेति स्थानत्रयम् २३८७. ततश्च । २३८८. मीमांसकः शङ्कते । अनुमेया अपि ते न कस्यचित्प्रत्यक्षाः संभवन्ति ।

२३८९. शङ्कां परिहरन्नाहुः स्याद्वादिनः । इति (पूर्वोक्तम्) अग्न्यादयो धूमत्त्वादिनानुमेयाः सन्तु, न च प्रत्यक्षाः कस्यचिदिति समानमुभयत्र । न च तथेष्टं मीमांसकस्य ततो नोक्तशङ्कावकाश इत्यर्थः । २३९०. सन्दिग्धानैकान्तिकत्वस्य । २३९१. अनुमानोच्छेदाङ्गीकारे (चार्वाकमाहुः) २३९२. विज्ञानमस्वसंवेद्यं भूतपरिणामत्वात् पित्रादिवत् । २३९३. कर्मतापत्रम् । २३९४. (मीमांसकः) नैव लक्षयेत् । २३९५. अनुमानम् । २३९६. चार्वाको लोकान् प्रति अध्यक्षं किं दर्शयेत् (कथं प्रतीतिं कारयेत्) ? । २३९७. अप्रमाणतया । २३९८. अनुमानम् । २३९९. चार्वाकः । २४००. चार्वाकस्य । २४०१. चार्वाकेन । २४०२. मीमांसकस्य । २४०३. प्रागुक्तम् । २४०४. यतो न साधयति सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्कारिणां प्रत्यक्षम् । २४०५. सर्वज्ञस्य । २४०६. सर्वज्ञसद्भावम् । २४०७. प्रमेयत्वादितः । २४०८. अनुमानमात्रगम्येन । २४०९. आगमगम्येन । २४१०. अनुमेयस्यान्त्यन्तपरोक्षस्य च । २४११. सर्वज्ञे साध्ये । २४१२. सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वस्य लक्षणं स्वरूपम् । अथवानुमेयत्वस्य लक्षणमबाधितविषयत्वम् । २४१३. सर्वज्ञम् । २४१४. मतिमान् । २४१५. पुरुषस्य प्रतिषेधकस्य संशयितस्य वा । २४१६. परेण मीमांसकेनाभ्युपगतः प्रमेयत्वादिहेतुः सर्वज्ञास्तित्वेऽबाधितविषयः सन् सुनिश्चितासंभवदित्यादिप्रकृतहेतुं पुष्पाति । २४१७. मीमांसकः । २४१८. सर्वज्ञवत् । २४१९. सर्वज्ञाभावधर्मात् ।

२४२०. सर्वज्ञे । २४२१. मीमांसकः (मूर्खः) । २४२२. सर्वज्ञलक्षणम् । २४२३. मीमांसकः । २४२४. (पुनस्तच्छब्दानित्यत्वादिकथनं सौगतापेक्षयेत्यर्थः) । २४२५. जैनैः । २४२६. तद्भावधर्मस्तदभावधर्मस्तद्भावाभावधर्मो वेति । २४२७. शब्दस्यानित्यत्वं साध्यं तद्धर्मः कृतकत्वं हेतुः साध्येऽसिद्धे हेतुरप्यसिद्धः, अनित्यशब्दस्याप्रसिद्धत्वे तद्धर्मरूपकृतकत्वस्याप्यप्रसिद्धे । २४२८. अनित्यत्वविरुद्धं नित्यत्वम् । २४२९. 'वर्तमानत्वात्' मुद्रितप्रती पाठः । २४३०. पर्वतादां । २४३१. अग्रिमत्पर्वतधर्मो वाऽनग्रिमत्पर्वतधर्मो बोधयधर्मो वेत्यस्य । २४३२. विमतिः = विवादः । २४३३. विनाशधर्मोऽस्यास्तीति विनाशधर्मो शब्दः । २४३४. सन्दिग्धश्चासौ सद्भावश्चास्तिलक्षणः स एव धर्मो यस्यार्हत इति विमत्यधिकरणभावापन्नविनाशधर्मो । २४३५. यतः । २४३६. अत्रेदं मीमांसकस्य तात्पर्यं, भो जैन शब्दस्तु सिद्ध एव । शब्दस्य यदनित्यत्वं साध्यं सन्दिग्धमस्ति तदेव कृतकत्वादिना साध्यते इति । २४३७. असंभवद्वाधकत्वलक्षणम् । २४३८. मीमांसकः । २४३९. जैनैः । २४४०. जैनस्य । २४४१. मीमांसकः । २४४२. परोपगमात्सकलः शब्दः प्रसिद्धो धर्मोति यदि मीमांसकेन भवताभ्युपगम्यते तर्हि स्वेषां जैनानामभ्युपगमात्सर्वज्ञः प्रसिद्धो धर्मो भवेदिति किं नेष्यते ? परोपगमस्योभयत्राप्यविशेषात् । २४४३. हेतुश्चासौ धर्मश्चेति । २४४४. मीमांसकम् । २४४५. साध्यस्य साधकः । २४४६. शब्दोपि । २४४७. जैनं प्रति । २४४८. समर्थितहेतुः एवास्तु इति पाठान्तरम् । २४४९. विकल्पान्तरेण जैनो धर्मिणं विचारयति । २४५०. अप्रसिद्धसाध्यधर्मोपाधिः (विशेषणं) सत्ता यस्य शब्दस्य सः, तत्त्वात् । २४५१. यथा शब्दानित्यत्वस्य सत्ता अप्रसिद्धा वर्तते । २४५२. अयं सर्वज्ञ इति विशेषणलक्षण उपाधिः । २४५३. सर्वज्ञस्य । २४५४. एवं चेत् न हि सर्वज्ञनिराकृतेः प्रागित्यादिभाष्यविवरणावसरे अस्ति सर्वज्ञः, सुनिश्चितासम्भवद्वाधकप्रमाणत्वादित्युक्तः प्रयोगः शोभेतेति चेन्न, तत्राप्यभिप्रेतस्यात्मशब्दस्याध्याहार्यमाणत्वात् । अनुमेयत्वहेतोर्बाधितविषयत्वसमर्थनप्रसङ्गायाते अस्ति सर्वज्ञः, सुनिश्चितेत्याद्यनुमाने परोक्तं दोषं परिहृत्य प्रकृतानुमाने स दोषो न संभवतीति प्रकृतानुमाने इत्याहुः । २४५५. मीमांसकः सौगतो वा । २४५६. दोषमुद्भावयन् । २४५७. जानाति । २४५८. सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वादित्यनुमाने । २४५९. 'प्रसिद्धा युक्ता' मुद्रितप्रती पाठः ।

२४६०. बुद्धिशब्दप्रमाणत्वमिति कारिकाव्याख्याने । २४६१. मीमांसको नैयायिकं प्रत्याह । २४६२. अनिन्द्रियं = मनः । २४६३. कालात्ययापदिष्टः । प्रमाणबाधिते पक्षे हेतोर्वर्तमानत्वं कालात्ययापदिष्टत्वम् । २४६४. अनुमानविरुद्धत्वं दर्शयति । २४६५. साक्षात् परम्परया वा । २४६६. सूक्ष्माद्यर्थानाम् । २४६७. व्यतिरेकव्याप्तिः । २४६८. साधनम् । २४६९. परमाणवश्च धर्मादयश्चेति तेषाम् । २४७०. नैयायिकः । २४७१. ध्यानोद्भूतधर्मेण । २४७२. मीमांसकः पृच्छति । २४७३. इन्द्रियस्य । २४७४. स्पष्टतापादनम् । २४७५. परस्पराश्रयं दर्शयति । २४७६. अङ्गीक्रियमाणे । २४७७. रूपादिविषयोल्लङ्घनेन । २४७८. स्पर्शनादेः । २४७९. योगजधर्मानुग्रहप्रसङ्गात् । २४८०. नैयायिकः । प्रत्यक्षविरोधात् । २४८१. मीमांसकः । २४८२. परमाण्वादौ प्रत्यक्षविरोधस्तुल्यः । २४८३. सकलपदेन परमाणुरूपं गृह्यते । २४८४. आदिपदेन रसादिग्रहः । २४८५. 'अथ' मुद्रितप्रतौ नास्ति । २४८६. योगजधर्मानुग्रहोत्पद्यधर्मातिशयात् प्रत्यक्षोल्लङ्घनेन । २४८७. चक्षुरिन्द्रियपरमाण्वोः संयोगासन्निकर्षाभावे । २४८८. संयोगलक्षणसाक्षात्सम्बन्धनिराकरणेन । २४८९. आदिशब्देन रसरसत्वादयो ग्राह्याः । २४९०. आदिपदेन संयुक्तसमवेतसमवायादिर्ग्राह्यः । २४९१. भो नैयायिक । २४९२. तव नैयायिकस्य । २४९३. प्रत्यक्षोल्लङ्घनमेव ।

२४९४. युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति वचनात् । २४९५. प्रत्यक्षविरोधाङ्गीकारे । २४९६. सूक्ष्माद्यर्थाः । २४९७. मीमांसकः । २४९८. सूक्ष्माद्यर्था अतीन्द्रियप्रत्यक्षेणेति अप्रसिद्धं विशेषणं यस्य सः । अतीन्द्रियप्रत्यक्षेपीदं विशेषणमप्रसिद्धमित्यर्थः । २४९९. दृष्टान्ते । २५००. सांख्यमते आविर्भावतिरोभावौ स्तो न तु किञ्चिद्विनाशि । २५०१. स्याद्वादिनः प्राहुः 'इति केचिन्मीमांसकास्तेपि न सम्यग्वादिनः' इति । २५०२. जैनानाम् । २५०३. नैयायिकानाम् । २५०४. सिद्धान्ती । २५०५. तर्हि सूक्ष्माद्यर्थानां कथं प्रत्यक्षत्वं स्थाप्यते जैनैर्भवन्निरिति मीमांसकाशङ्कयामाह प्रत्यक्षसामान्येनेत्यादि २५०६. योगी = सर्वज्ञः । २५०७. व्यतिरेकव्याप्तिः । २५०८. 'योगिनः प्रत्यक्षं' मुद्रितप्रतौ पाठः । २५०९. मीमांसकः । २५१०. बुद्धादेः । २५११. तर्हीत्यध्याहार्यम् । २५१२. यत्र यत्रानुमेयत्वं तत्र तत्र कस्यचिदहर्तः प्रत्यक्षत्वमिति व्याप्तिर्नास्त्यतः पक्षदोषः । २५१३. अपिशब्दात्पक्षदोषोपि । २५१४. सूक्ष्माद्यर्थानाम् । २५१५. जैन आह । २५१६. मीमांसकस्येष्टे । २५१७. तत्तस्मादयं मीमांसकः । २५१८. मीमांसकः सूक्ष्माद्यर्थसाक्षात्करणप्रतिषेधसंशययोः क्रमेणानुमाने द्वे रचयति (वक्ष्यमाणप्रकारेण) । २५१९. विवादापन्नस्य सर्वज्ञस्य । २५२०. पूर्वोक्तप्रकारेण । २५२१. तव मीमांसकस्य ।

२५२२. मीमांसकः । २५२३. रथ्यापुरुषस्य । २५२४. मीमांसकस्य । २५२५. सूक्ष्माद्यर्थानाम् । २५२६. मीमांसकाभीष्टे शब्दनित्यत्वे एतद्विकल्पजालं समानं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने संशये चापीति । अयं मीमांसको वक्ष्यमाणरीत्यानुमानद्वयं करोति यत्तत्र सम्यगित्यर्थः । २५२७. मीमांसकः । २५२८. अप्रसिद्धं सर्वगतत्वविशेषणं यस्य सः । २५२९. शब्दः । २५३०. असर्वगतानां नित्यत्वं साधयति चेत् । २५३१. अनिष्टानुषङ्गत्वरूपोऽप्रसिद्धविशेषणत्वरूपश्चेत्युभयदोषौ । २५३२. एकान्तवाद्यभिमतसर्वथासर्वगतत्वस्य स्याद्वादिनां क्वचिदप्यप्रसिद्धेः । २५३३. सर्वगतत्वम् । २५३४. अमूर्तः शब्दः सर्वगतः, अकृतकत्वादिति । २५३५. मीमांसकमते शब्दानाममूर्तत्वात् । २५३६. पक्षदोषोनिष्ठानुषङ्गश्चेति । २५३७. यतो मीमांसकस्य स्वपक्षेपि समानं तत्तस्मादयं मीमांसकः । २५३८. स्वपक्षेपि परपक्षवत् । २५३९. अविवक्षितः सर्वगतत्वादिविशेषो यस्य स तस्य । २५४०. हे मीमांसक । २५४१. अर्हतोऽनर्हतो वेत्यादिरूपैः । २५४२. सर्वत्रोपलभ्यमानमाकाशम् । २५४३. नित्यः शब्दः सर्वगतो भवति, द्रव्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाशवदित्यादिना च । २५४४. विना । २५४५. प्रकृतं साधनमनुमेयत्वम् । २५४६. विकल्पौघानाम् । २५४७. अप्रतिष्ठितत्वे हेतुरयम् । २५४८. मिथ्याविकल्पौघाविषये । २५४९. प्रमाणं सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वलक्षणम् । २५५०. व्यवस्थेति पाठान्तरम् । २५५१. व्यवसितं निश्चितमभ्यनुज्ञानमभ्युपगमस्तत्पुरस्सरमिति क्रियाविशेषणम् । २५५२. प्रश्ने २५५३. युक्तिस्तर्कः । शास्त्रमागमः । हेतुगर्हितं विशेषणमिदम् । २५५४. यद्यस्मात्ते इष्टं प्रसिद्धेन न बाध्यते तत एवाविरोध इत्यर्थः ।

२५५५. अनन्तरोक्तकारिकाद्वयोक्तानुमानद्वयबलात् । २५५६. तत्त्वे । २५५७. वैद्यशास्त्रयुक्त्यविरोधिवाग् निर्दोषः । २५५८. मुक्तिश्च संसारश्च तत्कारणे च तेषु । २५५९. मम वर्द्धमानस्य । २५६०. सामस्त्येन । २५६१. यस्य पुरुषस्य स इति सम्बन्धः । २५६२. रोगश्च स्वास्थ्यं च तत्कारणानि च तान्येव तत्त्वं तस्मिन् । २५६३. भगवान् । २५६४. सिद्धमस्ति, विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । २५६५. तटस्थः शङ्कते । २५६६. समन्तभद्राचार्येण । २५६७. स्वयंभूस्तोत्रे तृतीयतीर्थकरस्तवने । २५६८. संभवः संसारः । २५६९. प्रत्युपकारनिरपेक्षः । २५७०. कारिकायाम् । २५७१. पक्षधर्मत्वादिपञ्चरूपं विनापि अन्यथानुपपन्नत्वनियमलक्षणाद्धेतोः साध्यसिद्धेः कारिकायामदृष्टान्तवचनम् । २५७२. मोक्षसंसारतत्कारणेषु चतुर्षु मध्ये । २५७३. तेषां मोक्षतत्त्वादीनाम् । २५७४. स्वमतेनुमानस्याभावेपि चार्वाकः परमतापेक्षयानुमानं दर्शयति । २५७५. अग्रे । २५७६. दोषावरणयोर्हानिरित्याद्युक्तानुमानादिना २५७७. एवं मोक्षस्य युक्त्यविरोधं प्रतिपाद्य शास्त्राविरोधं प्रतिपादयति तत एवेति । २५७८. आगमस्य । २५७९. सम्यग्दर्शनादि । २५८०. प्रत्यक्षेण । २५८१. अनुमानात् । २५८२. सम्यग्दर्शनादिकारणकः । २५८३. द्रव्यक्षेत्रकालतीर्थादिसामग्रीं विना मोक्षो न भवतीत्यतः सकारणको मोक्षः ।

२५८४. मोक्षकारणमित्यर्थः । २५८५. प्रत्यक्षस्य । २५८६. चार्वाकः । २५८७. संसाराभावेन सह प्रतिबद्धस्य लिङ्गस्याभावात् । २५८८. चार्वाकः । २५८९. चैतन्यविशिष्टः काय एवात्मा, तस्य । २५९०. गर्भावस्थाप्राप्तम् । २५९१. आद्युत्पन्नचैतन्यात्पूर्वं चैतन्यमुपादानं यस्य तत् । २५९२. मध्यो युवादेः । २५९३. मरणावस्थालक्षणः । २५९४. उत्पत्त्यमानचैतन्यं कार्यं यस्य सः । एत एतन्मरणावस्थालक्षणं चैतन्यमुपादानकारणत्वादग्रेपि चैतन्यमुत्पादयिष्यत्येव अन्यथा निरन्वयविनाशः स्याद् । न च निरन्वयविनाशः सम्भवति, सर्वलोपप्रसङ्गात् । २५९५. वृश्चिकादेश्चैतन्योपादानकारणाभावेपि चिद्विवर्तत्वहेतोः दर्शनात् । २५९६. वृश्चिकादिचैतन्यस्यापि आद्यचैतन्येन पक्षीकरणात् । २५९७. गर्भोपपादरूपद्विप्रकारकजन्मवर्जितं जन्म (शरीरपरिकल्पनम्) सम्पूर्जनम् । २५९८. खड्ग इव खड्गो ध्यानम्, सोस्यास्तीति खड्गी, खड्गिचरमचित्तस्य पूर्वचिद्विवर्तत्वेपि उत्तरचैतन्योपादानकारणत्वाभावात्, उत्तरचित्कार्यकत्वाभावेपि चिद्विवर्तदर्शनाद्वा हेतोः । २५९९. चित्तसंततिक्षयो मोक्ष इति बौद्धाः । २६००. मनोरथमात्रं मुद्रितप्रतौ पाठः । २६०१. खड्गिचरमचित्तस्योत्तरचैतन्योपादानत्वभावरूपहेतोः । २६०२. अग्रे । २६०३. अरणिः काष्ठविशेषः । २६०४. युववृद्धादिचैतन्यम् । २६०५. मिथ्योत्तरं जातिः । २६०६. चैतन्योपादानकारणकत्वरूपेण साध्येन सह । २६०७. एककारणजन्यत्वात् । यदेककारणजन्यं तत्र तत्त्वान्तरम् । यथा मृदुत्पन्नो घटो न मृदोतिरिच्यते । २६०८. पृथिव्यप्तेजोवायुरूपम् । २६०९. स्थासकोशकुशूलशिवकादीनाम् । २६१०. जैनः ।

२६११. अरणिमथनकाले । २६१२. चार्वाकस्य २६१३. अरणिमथनमात्रादेव । २६१४. प्रच्छन्नरूपारणिस्थिताग्न्यन्तरकारणकत्वम् । २६१५. जैनः । २६१६. अदृश्यमुपादानं पुद्गलरूपं यस्य तस्य । २६१७. चार्वाकः । २६१८. कार्यस्य । २६१९. भूताच्चैतन्योत्पत्तिर्यतस्ततो भूतचैतन्ययोः सजातीयत्वम् । २६२०. भिन्नलक्षणत्वात् । २६२१. चार्वाकैः । २६२२. रूपरसगन्धस्पर्शवन्तः पुद्गलाः । २६२३. अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तप्रत्यक्षं न प्रतीतम् । २६२४. अस्मदाद्यऽप्रत्यक्षम् २६२५. अस्मदाद्यनेकप्रतिपत्तप्रत्यक्षाणि सन्ति । २६२६. सुखादिसंवेदनस्यास्वसंवेदनलक्षणत्वेऽप्यनेकयोगिप्रत्यक्षत्वात् २६२७. अस्मदादिभिरपि प्रत्यक्षत्वादित्यर्थः २६२८. ज्ञानं स्वसंवेदनलक्षणं बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्तेः । २६२९. स हि बहिरर्थप्रकाशकश्चास्वसंविदितश्च । २६३०. अज्ञानरूपत्वेन । २६३१. अग्निर्दहनशक्तियुक्तो, अग्नित्वात् व्यतिरेके जलादि । अत्रोपचरितेन माणवकाग्निना व्यभिचारप्रसङ्गात् । २६३२. सुखादिज्ञानस्यापि स्वस्माद् ज्ञानाद्बहिर्भूतं सुखादि तस्य संवेदकत्वमिति बहिरर्थपरिच्छेदकत्वं सिद्धम् । २६३३. यथा कुम्भादिवेदनं बहिरर्थपरिच्छेदकं न तथा सुखादिसंवेदनमित्याशङ्क्यामाह जैनः—कुम्भादीति । २६३४. घटः सन् ज्ञानं सदिति सदात्मना । २६३५. कुम्भादिर्यथा सन् तथा ज्ञानमपि सत् । अतो न संवेदनाज्ज्ञानं सर्वथा भिन्नम् । २६३६. तस्य कुम्भादेः ।

२६३७. सद्बोद्धोदयो हि सुखकारणं ज्ञानस्य तु ज्ञानावरणापगमादि इति कारणभेदः । २६३८. स्वस्य विज्ञानस्यासम्भवात् । २६३९. भवतः । २६४०. उत्क्षेपणापक्षेपणादिरूपा । २६४१. स्वरूपस्यापि विरोधकत्वे । २६४२. क्रियास्यास्तीति क्रियावान् । स चासौ आत्मा च क्रियावदात्मा । २६४३. द्रव्ये । २६४४. जैनैः । २६४५. अपि तु न । २६४६. आवरणक्षयोपशमादिविशेषात् । २६४७. तस्य ज्ञानस्य सहकारित्वात् । २६४८. स्वपररूपयोः । २६४९. स्वपररूपपरिच्छेदकत्वाभावे । २६५०. चेतनस्य । २६५१. भूतचैतन्ययोः । २६५२. तत्त्वान्तरत्वं च भूतचैतन्ययोरसजातीयत्वं साधयति । २६५३. असजातीयत्वमपि । २६५४. साधयतीति सम्बन्धः । २६५५. भूतचैतन्ययोरुपादानोपादेययोर्वा । २६५६. तत् सजातीयत्वं प्रयोजकं ययोरिति बसः । २६५७. उपादानोपादेयभावस्य व्याप्यस्य व्यापकं यत्सजातीयत्वं ततो विरुद्धं तत्त्वान्तरत्वं तेन व्याप्तं विभिन्नलक्षणत्वं तस्योपलब्धिः । २६५८. विभिन्नलक्षणत्वादित्ययं हेतुर्व्यापकविरुद्धव्याप्तोपलब्धिः कथ्यते । तदेवाग्रे दर्शयति । २६५९. व्याप्ता इति पाठान्तरम् । २६६०. प्रतिषेध्यस्य चेतनस्याभावसाधनात् । २६६१. नन्वेवं तन्वादर्घटाद्याकारस्य चोपादानोपादेयभावः स्यात्, पार्थिवत्वादिविशिष्टसामान्यसद्भावविशेषादिति न शङ्कनीयं, व्यापकस्य सजातीयत्वस्योपादानोदेयाख्यव्याप्याभावेपि व्यवस्थानाविरोधात् “व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च” इत्यादि वचनादित्यशयगर्भमाह—नहीति । ‘भिन्नलक्षणत्व’ हेतौ । २६६२. सजातीयत्वस्य उपादानोपादेयभावव्यापकत्वानुपगमात् । २६६३. मृत्वघटत्वप्रकारेण ।

२६६४. द्रव्यपर्याययोः । २६६५. चार्वाकः । २६६६. तर्हि कुत्र सजातीयत्वं वर्तते इत्याशङ्क्य अन्तर्गुहसजातीयत्वनिमित्तकमुपादानोपादेयभावमाह आचार्यः । २६६७. जैनैः । २६६८. परित्यागो व्ययः पूर्वाकारापरि—इति मुद्रितप्रतौ पाठान्तरम् । २६६९. उत्पादरूपेण । २६७०. अन्वयः अनुवर्तनम् । २६७१. प्रत्ययो ज्ञानम् । २६७२. पयःपावकयोरप्युपादानोपादेयभावो मास्तु ततः । २६७३. उक्तप्रकारस्योपादानोपादेयत्वप्रतीत्यभावे । २६७४. मेचकादिषु चित्रज्ञानाभावप्रसङ्गात् । २६७५. तत्त्वान्तरभावाभावे । २६७६. भिन्नलक्षणत्वस्य । २६७७. चार्वाकः किण्वादि, कारणरूपपिष्टगुडधातव्यादि । २६७८. मदशक्त्यजनकत्वस्य मदशक्तिजनकत्वस्य च । २६७९. भिन्नलक्षणत्वस्य तत्त्वान्तरभावेन सह । २६८०. “तेनाव्याप्तिरिति” मुद्रितप्रतौ पाठः । २६८१. किण्वादिमदिरादिपरिणामयोः । २६८२. किण्वादोर्ध्वजननशक्तिसद्भावप्रकारेण । २६८३. अन्तस्तत्त्वं हि चित् । २६८४. उभयत्रापि । २६८५. पूर्वचैतन्यमुपादानम् । २६८६. अन्त्यचैतन्यस्योपादेयो भविष्यज्जन्माद्यचैतन्यपरिणामः । २६८७. प्रत्यक्षेण । २६८८. अनुपलब्धेरिति पूर्वोक्तचार्वाकानुमानेन । २६८९. उपायः कारणम् । २६९०. पर्यायार्थिकनयापेक्षया । २६९१. संसारस्य । २६९२. नित्यत्वेन ।

२६९३. भावः परिणामः । २६९४. परिवर्तनं मुद्रितप्रतौ पाठः । २६९५. सुखदुःखादय एव भावाः परिणामास्तेषां विवर्तनं तदेव लक्षणं यस्य । २६९६. द्रव्यक्षेत्रकालभावभवेदात्पञ्चधा संसारः २६९७. युक्तिशास्त्राविरोधित्वम् । २६९८. साधयतीत्यध्याहार्यं पदम् । २६९९. बुद्धादिः । २७००. भगवानिति पाठान्तरम् । २७०१. घटादेः । २७०२. आदिशब्देन पिशाचादि । २७०३. शङ्खः, शङ्खचक्रवर्ती । २७०४. विप्रकर्षि । २७०५. दूरतामापन्नमपि । २७०६. प्रकृतिपुरुषयोर्भेदविज्ञानात् प्रकृतिनिवृत्तौ पुरुषस्य सुषुप्तपुरुषवदव्यक्तचैतन्योपयोगेन स्वरूपमात्रावस्थानलक्षणो मोक्ष इति सांख्याभिमतम् । २७०७. जैनैः ।

२७०८. सांख्यः । २७०९. सिद्धान्ती पृच्छति । २७१०. पुरुषस्य प्रतिबिम्बितार्थदर्शनमनुभवः । २७११. जैनैः । २७१२. साक्षात्करणलक्षणोऽनुभवः । २७१३. प्रतिबिम्बितं निश्चितं वार्थम् । २७१४. जानाति । २७१५. ‘सर्वस्य’ मूलप्रतौ नास्ति । २७१६. तस्य सर्वदर्शित्वस्योपायानां कारणानां ध्यानमौनादीनामनुष्ठानस्य वैयर्थ्यम् । २७१७. सांख्यस्य । २७१८. उत्पत्तिमत्त्वादिति । २७१९. (अनुभवस्योत्पत्तिमत्त्वेपि चेतनत्वादनेकान्तिकत्वं हेतोः, विपक्षेपि हेतुदर्शनात्) । २७२०. निर्विशेषं हि सामान्यं भवेत् खरविषाणवदिति वचनात् । २७२१. (आत्मनः सकलविशेषरहित्वेपि वस्तुत्वादनैकान्त इति चेन्न) २७२२. उत्पत्तिमत्त्वादिति । २७२३. साङ्ख्यः । २७२४. आत्मसंसर्गात् । २७२५. साङ्ख्यग्रन्थे । २७२६. आत्मनश्चेतनत्वं सिद्धं यस्मात्तस्मात् । २७२७. आत्मसंसर्गात् ।

२७२८. बुद्धिसंसर्गादिति टिप्पणान्तरम् । २७२९. लिङ्ग्यते इति लिङ्गं ज्ञेयमित्यर्थः । २७२९. स्याद्वादी । २७३०. शरीरे ज्ञाने वा । २७३१. तस्यात्मनोऽदृष्टं पुण्यादि तेन कृतकत्वादिर्विशेषः (आदिशब्दाद् भोग्यभोक्तृत्वादिः) तस्य शरीरादौ सम्बन्धो नास्तीत्युच्यते साङ्ख्येन चेत्तत्र, तस्यापि शरीरादौ भावात् । २७३२. साधनस्यास्वसंविदितत्वं परिहरति । २७३३. स्वसंविदितत्वेपि ज्ञानादीनां प्रधानजत्वमित्युक्ते सत्याह ।

२७३४. वैशेषिकनैयायिकमतम् । २७३५. वैशेषिकनैयायिकयोः । २७३६. पुंसः । २७३७. ततः पुंसः । २७३८. स्याद्वादी । २७३९. मेचकज्ञानतदाकारयोरिव । २७४०. ते मेचकवर्णाः । २७४१. अन्यथा । २७४२. आत्मबुद्ध्यादीनाम् । २७४३. तव यौगस्य । २७४४. यद्यनेकया शक्त्यानेकार्थं युगपद् गृह्णाति तदा एकमेव चित्रज्ञानमनेकशक्त्यात्मकं सिद्धमिति स एव विरुद्धधर्माध्यासः । २७४५. मेचकज्ञाना (चित्रज्ञाना) दध्ताद्यर्थान्तरवदनेकशक्तेर्भेदे सति तस्य चित्रज्ञानस्यानेकशक्तिरिति कथं व्यपदिश्यते ? २७४६. शक्त्या सह मेचकज्ञानस्य समवायसम्बन्धात्तस्येत्युच्यते इति चेत् । २७४७. जैन आह तर्हीति । २७४८. मेचकज्ञानम् । २७४९. चित्रज्ञानसम्बन्धिनोनेकरूपस्य । २७५०. चित्रज्ञानात् । २७५१. चित्रज्ञानम् । २७५२. अनेकरूपं चित्रज्ञानस्येति । २७५३. तदनेकया शक्त्या सम्बध्यमानमनेकेन रूपेणैकेन रूपेण वेति विकल्पद्वयं कृत्वा आपृच्छ्य अनेकेन रूपेणेत्यत्र तु दूषणमुक्तमधुना एकेन रूपेणानेकया शक्त्या संबध्यमित्यत्र द्वितीयपक्षे दोषमाह । २७५४. अनेकाः शक्तय इति विशेषणत्वविरोधः । २७५५. मेचकज्ञानम् ।

२७५६. मेचकज्ञानम् । २७५७. मेचकज्ञानं नीलपीताद्येव केवलं न गृह्णाति किन्तु सर्वार्थग्राहकं स्यात् । २७५८. सर्वार्थग्रहणप्रसङ्गं विवृणोति । २७५९. यौगः । २७६०. यौगेन । २७६१. एवम्भूतया एकया शक्त्या नीलपीताद्यनेकार्थग्राहि मेचकज्ञानमिष्यते इति मतम् । २७६२. जैनः प्राह । २७६३. घटपटादिकार्यभेदः । २७६४. कार्यभेदात्कारणशक्तिभेदो न स्यात् । २७६५. यावन्ति कार्याणि तावन्ति कारणानीति यौगमतं विरुध्यते । २७६६. मेचकज्ञानेन । २७६७. विरुद्धधर्माधिकरणत्वादित्यस्य । २७६८. मेचकज्ञानस्य तदाकारादभेदेपि विरुद्धधर्माधिकरणत्वसिद्धेः । २७६९. एकस्यानेकवृत्तिर्नेत्यादिकारिकाव्याख्यानावसरे चतुर्थपरिच्छेदे । २७७०. भेदैकान्तस्य । २७७१. यौगाः । २७७२. तस्याः मुक्तेः । २७७३. धर्माधर्मकारणकं बुद्ध्यादि । २७७४. “निवृत्तिरवश्यं भाविनी” मुद्रितप्रतौ पाठः । २७७५. अन्तःकरणसंयोगकार्यस्य । २७७६. यौगाः । २७७७. अस्माभिर्जैनैः । २७७८. मुक्तात्मा गुणवानात्मत्वादमुक्तात्मवदित्यनुमानेन विरोधात् । २७७९. अदृष्टजानाम् (कर्मप्रभवानाम्) २७८०. कर्मक्षयहेतुजानाम् । २७८१. अस्य प्रकरणे इत्यर्थः । २७८२. विप्रमोक्षो मोक्ष इत्यर्थः । २७८३. विना । २७८४. औपशमिकादिषु ।

२७८५. (क्रमशः—औपशमिकं सम्यग्दर्शनं, क्षायोपशमिको ज्ञानोपयोगः, औदयिकी गतिर्भवान्तरगमनरूपा) आदिपदं प्रत्येकमभिसंबध्यते । तेन सम्यक्त्वचारित्रे इत्यादिसूत्रोक्तानां सर्वेषां ग्रहणम् । भव्यत्वं पारिणामिकम् । अनाविर्भूतरत्नत्रयाविर्भावयोग्यताफलकं भव्यत्वम् । (रत्नत्रयाविर्भावे तद्भव्यत्वं क्षीयते विपच्यते इत्यर्थः, न तु नश्यतीति, तस्य शक्तिरूपत्वेनाविनाशात् । २७८६. विशेषा अदृष्टजबुद्ध्यादयः । २७८७. यौगः । २७८८. जैनः । २७८९. अतः परं वेदान्तवादी प्राह । २७९०. ज्ञेयस्वभावम् । स्वसंवेद्यस्वभावमिति पाठान्तरम् । २७९१. (विषयरूपस्य सुखस्थानन्त्ये विषयिणस्तद्वेदनस्याप्यानन्त्यम्, अन्यथा तत्संवेदनानुपपत्तेः) । २७९२. आत्मना । २७९३. वेदान्तवादिनः । २७९४. अभ्युपगम्यते । २७९५. परमात्मनः । २७९६. (जैनः) विचार्यम् (वक्ष्यमाणप्रकारेण) । २७९७. भाट्टानाम् । २७९८. इन्द्रियापायादेव । २७९९. परः । २८००. सुखसंवेदनबाह्यार्थसंवेदनयोः । २८०१. सौगताः । २८०२. वीतरागद्वेषात्मसन्तानोत्पत्तिः । २८०३. आगमेन ।

२८०४. प्रदीपस्य निर्वाणोपमं तच्च तच्छान्तनिर्वाणं च । यथा प्रदीपनिर्वाणं युक्त्यागमेन च बाध्यते । २८०५. ज्ञानानां सान्त्वयत्वेन साधनात् । २८०६. द्वितीयपरिच्छेदे ‘सन्तानः समुदायश्चेति’ कारिकायां वक्ष्यमाणत्वात् २८०७. मानसानां परमार्थतोनुगतत्वं साध्यते, मानसानां सन्तानोच्छेदश्च न संभवतीति हेतुद्वयात् । २८०८. यथा मोक्षतत्त्वम् ।

२८०९. मात्रशब्देन दर्शनचारित्र्योर्निरासः २८१०. सकलार्थसाक्षात्कारितावस्थायाम् । २८११. विज्ञानमात्रस्य प्रवर्तमानत्वात् । २८१२. कापिलादिभिः । २८१३. 'प्रवर्तते' मुद्रितप्रती पाठः । २८१४. सांख्यः प्राह । आप्तस्य । २८१५. जैन आह । अनुत्पन्ननिखिलार्थज्ञानस्य पुंस उपदेशस्यासत्यत्वसंभवात् । २८१६. शरीरान्तरानुत्पत्तिलक्षणस्य निःश्रेयसस्य । २८१७. (गृहीतशरीरनिवृत्तौ न सकलतत्त्वज्ञानं कारणं, गृहीतशरीरनिवृत्तौ फलोपभोगस्य कारणत्वात्) २८१८. (गृहीतशरीरनिवृत्तिः फलोपगमादेव भवतीत्युपगमात्सांख्यैः । २८१९. सांख्यस्य । २८२०. अस्माभिः स्याद्वादिभिरङ्गीकृतः प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि ज्ञानस्य शरीरेण सहावस्थानादित्ययं हेतुः । २८२१. परनिःश्रेयसत्वस्य । २८२२. तत्त्वज्ञानभावेपि । २८२३. (सांख्यः) फलानां शुभाशुभानामुपभोगोऽनुभवनं तेन कृतो योसावुपात्तकर्मणां क्षयस्तस्य अपेक्षा यस्य तत्तथोक्तम् । २८२४. जैनः प्राह । २८२५. फलोपभोगस्य । २८२६. विना । २८२७. (तपोतिशयस्याकामनिर्जराकारणत्वमुक्तम्) । २८२८. न तु तत्त्वज्ञानमात्रहेतुकम् । २८२९. तत्त्वज्ञानतपोतिशयहेतुकत्वाभावेपि मोक्षस्य स्थिराभूततत्त्वज्ञानमेव हेतुरित्यदोष इति सांख्यः । २८३०. स्याद्वादी । २८३१. सांख्यः । २८३२. चलावस्थायाम् । २८३३. जैनः । २८३४. अस्थैर्यविरोधं दर्शयति । २८३५. चलनानुपपत्तिः । कुतः । २८३६. अक्रमः कुतः । २८३७. विषयान्तरसञ्चरणे सति । २८३८. सांख्यः ।

२८३९. जैनः । २८४०. अर्थोऽभिप्रायस्तु न भिद्यते । २८४१. भिन्नस्य । २८४२. नष्टव्यापाराविनाशीति स्वरूपं तत् शुक्लध्यानस्य । २८४३. कपिलादीनां सम्मुखम् । २८४४. बाह्यचारित्र्यरूपस्य २८४५. आभ्यन्तरचारित्र्यरूपस्य । २८४६. (येषां मते नित्य एवात्मा तेषां मते आत्मनो भवान्तरावाप्तिरूपः संसारो न संभवति आत्मनो नित्यत्वेन विकारानुपपत्तेः) । २८४७. (अग्रेऽस्माभिः) २८४८. न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः, एकमेवाद्वितीयं ब्रह्मेत्यादि च विद्भिः । २८४९. सत्त्वरजस्तमसाम् । प्रकृतिविकृत्यहङ्कारादीनाम् । २८५०. सांख्यानम् । सौगतानामिति टिप्पणान्तरम् । २८५१. कल्पनया । २८५२. संसारकारणतत्त्वम् । २८५३. मिथ्याज्ञाननिवृत्तौ । २८५४. तन्निवृत्तावपि संसारानिवृत्तेरिति । २८५५. दोषाः रागद्वेषाः । २८५६. सांख्यैः । २८५७. सकलं तत्त्वार्थादि । २८५८. सौगताः । २८५९. अयमेवेति प्रकारेण ।

२८६०. अवीतरागेपि दर्शनादेव व्यभिचारः । २८६१. विचित्राभिसन्धितया इति पाठान्तरम् । २८६२. अभिप्रायतया । हेतुरयं, तृतीयान्तस्यापि हेतुत्वात् । २८६३. कपिलादाविव सुगतेपि । २८६४. सरागाणां वीतरागवच्चेष्टमानानां मायाविनामपि नानापरिणामत्वेन गमनवचनादिसङ्करत्वेन क्वचिदपि पुरुषे माहात्म्यनिश्चये सति विशेषाभिमतः (सुगत) स्यान्वर्थक्यं घटते । एवं सति ज्ञानिनोपि असत्यत्वं घटते । २८६५. सुगतस्य । २८६६. विश्वासम् । २८६७. विषये । २८६८. अन्यथा (ज्ञानवतोऽपि विसंवादः संभवति चेत्) । २८६९. सुगतस्य । २८७०. ज्ञानवति । २८७१. सरागो वीतरागवद्बीतरागश्च सरागवच्चेष्टते इति साङ्ख्यम् । २८७२. (विचित्राभिसन्धितायाः) । २८७३. (विचित्राभिसन्धितायाः) । २८७४. सौगतः । २८७५. सर्वज्ञस्यासर्वज्ञस्य वा । २८७६. सौगतः प्राह । सर्वज्ञे वीतरोगे विचित्राभिप्रायोस्ति, शरीरत्वादस्मदादिवत् । २८७७. स्याद्वादी । २८७८. सुगते । २८७९. शरीरित्वादोरित्यस्य । २८८०. शरीरी चास्तु सर्वज्ञश्चेति सन्दिग्धा विपक्षाद्व्यावृत्तिर्यस्य हेतोः सः । तत्त्वात् । २८८१. विरोधाभावे हेतुमाह । २८८२. जैनः । २८८३. सौगतः । २८८४. बुद्धिमान् । २८८५. किं लिङ्गमाश्रित्येत्यर्थः । २८८६. सौगतस्य । २८८७. सन्तानातरो देवदत्तयज्ञदत्तसन्तानः । स्वस्य आत्मनः सन्तानश्च । तयोः क्षणक्षयिणी या शक्तिः स्वर्गप्रापणस्य च या शक्तिस्तदादेर्विशेषस्येष्टिर्निश्चितिर्निरर्थिका भवति । कुतः ? दूरतरस्वभावत्वात्, उभयत्र सर्वज्ञत्वाद्यतिशये उक्तविशेषस्येष्टौ च विशेषाभावात् । २८८८. ज्ञानाद्वैतवादिनं प्रति जैनस्योक्तिः । २८८९. कैमर्थक्यादिष्टिरिति पूर्वोक्तान्वयः । २८९०. 'प्रमाणभूताय जगद्धितैषिणे प्रणम्य शास्त्रे सुगताय तायिने, (इत्युक्तं बौद्धैः) २८९१. 'पुनरनावृत्तस्य' पाठांतरम् । २८९२. 'तस्य' मुद्रितप्रती नास्ति । २८९३. सुगतकपिलार्हतां मध्ये । २८९४. सर्वज्ञत्वाद्यतिशये संवेदनाद्वैतगुणे सुगतगुणे चानिर्णयतया विशेषाभावात् । २८९५. अनुमानात्तद्विशेषेष्टिः स्यादित्युक्ते आह—न चैवमिति । २८९६. एवं-वादिनः सौगस्य किञ्चिदनुमानं न सम्भवति, निरभिप्रायाणामनुमानानुमेयानां बाहुल्येन कार्यस्वभावरूपयोर्हेत्वोरनिश्चयदर्शनात् ।

२८९७. अभिप्रायरहितानामचेतनादीनामगन्यादीनामित्यर्थः । २८९८. कारणभूते । २८९९. अग्नेः । २९००. मणिः सूर्यकान्तः । २९०१. इत्यनुमानं च भवेद्यतः । २९०२. न केवलं वृक्षचूतादेः । २९०३. वृक्षो भवितुमर्हति, आप्रत्वात्तथा लतारूपचतुत्वात् (उभयथापि वक्तुं शक्यते) ।

२९०४. परः । २९०५. स्वभावहेतुं मण्डयति सौगतः । २९०६. अपि तु न स्यादेव । २९०७. सौगतः । २९०८. प्रत्यक्षस्य । २९०९. वह्नेः । २९१०. काष्ठादिसामग्रीजन्यतया । २९११. कारणविशेषः काष्ठादिस्तस्यातिवृत्तिरुल्लङ्घनं तस्या दर्शनात् । २९१२. मण्यादेर्वह्निदर्शनात् । २९१३. सौगतः । २९१४. जैनः प्राह— त्वया सौगतेन अस्माकमिष्टं कथितम् (समर्थितम्) २९१५. प्रकृतम् । २९१६. (व्याहारादीति पाठान्तरम्) २९१७. अनुल्लङ्घनात् । २९१८. सौगतेन । २९१९. यथा यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते तथा पुरुषविशेषत्वादस्वभावो व्याप्यः सर्वज्ञत्वादिरूपव्यापकस्वभावं नातिवर्तते, उभयत्र व्याप्यव्यापकभावयोर्विशेषाभावात् । २९२०. साध्यव्यभिचारलक्षणः । २९२१. बौद्धः । २९२२. धूमादिकात् । २९२३. युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वाद्यनेकप्रकारेण । २९२४. पूर्वोक्तम् । २९२५. स त्वमेवेति कारिकोक्तेन । २९२६. समन्तभद्राचार्यः । २९२७. भगवति । २९२८. भगवानागमं कथयति परन्तु इच्छामन्तरेण कथयति । इष्टमिच्छाविषयीकृतमिति भगवत्युपचर्यते । अत्राह नैयायिकः । भो स्याद्वादिन्, इच्छां विना वचनप्रवृत्तिर्न भवेत् । तदुपरि जैनः प्राह । भो नैयायिक, निराकृतवाचोपि (निरभिप्रायाया वाचोपि) क्वचिद्विप्रतिषेधात् (इच्छां विनापि वचनस्योत्पत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्) । २९२९. आगमः । २९३०. 'निराकृत' मुद्रितप्रतौ पाठः । २९३१. सुषुप्तपुरुषादौ २९३२. शासनप्रकाशनेच्छायाः २९३३. दोषावरणयोर्हानिरित्यादिना ।

२९३४. (निरभिप्रायवचनम्) । २९३५. नैयायिकः प्राह । २९३६. जैन आह । २९३७. पर आह । वाच इच्छापूर्वकत्वाभ्युपगमे । २९३८. गोत्रं नाम । २९३९. प्रतिवचननियतत्वेन (जाग्रदृशायां) संविदित आकारो यस्याः सा । २९४०. किन्तु सम्यग्ज्ञानाकारा एवेच्छा संभवतीति नान्या । २९४१. परः । २९४२. पूर्वकोलो जाग्रदवस्था । २९४३. (परः प्राह) स्वप्नसामयिकी । २९४४. (जैनोऽप्रयोजकत्वं दर्शयति) । २९४५. गोपालघटिकादिधूमस्याप्यग्रिमकत्वं स्यादित्यतिप्रसङ्गः, विषाणिनी वाग्, गोशब्दावाच्यत्वादित्यतिप्रसङ्गे टिप्पणान्तरमिदम् । २९४६. (इच्छापूर्वकत्वेन सह व्याप्तत्वावगतिः) । २९४७. सुषुप्तसन्ताने । २९४८. विरोधमेवाह । २९४९. व्याहतमेव । २९५०. (व्याहृतिं दर्शयति) २९५१. नैयायिकः । २९५२. आद्रियते । २९५३. अनवस्थां दर्शयति । २९५४. स्वसन्ताने व्याप्त्यभावसमर्थनेन । २९५५. साध्यसाधनव्याप्तेः । २९५६. इच्छाया अननुमेयत्वप्रकारेण ।

२९५७. 'वक्तृत्वादेः' पाटनप्रतौ पाठः । २९५८. नैयायिकोक्तस्य । २९५९. वक्तृत्वेच्छापूर्वकत्वयोः (स्वभावकार्यस्वरूपान्यतरनियमाभावः) । २९६०. चैतन्यं ज्ञानम् । २९६१. करणं ताल्वादिप्रयत्न इन्द्रियाणि वा । २९६२. वाक्यप्रवृत्तिं प्रति साधकतमत्वं, सुषुप्त्यादाविच्छापूर्वकत्वाभावेपि वक्तृत्वदर्शनात् । २९६३. परः । २९६४. नियमेन । २९६५. अज्ञानादिना । २९६६. विवक्षाभावेपि वक्तृत्वसदभावप्रकारेण । २९६७. 'वाग्वृत्तेः' मुद्रितप्रतौ पाठः । २९६८. (न हीति पूर्वोक्तान्वयः) । २९६९. द्वेषादिसमूहः । २९७०. किन्तु अतिक्रमेतैव । २९७१. तस्या दोषजातेः । २९७२. व्यतिरेकी दृष्टान्तः । २९७३. करणपाटवस्य । २९७४. (तथा दोषजातेरपि प्रकर्षापकर्षयोर्वाक्यप्रकर्षापकर्षौ । न हीत्यत्र हेतुमाह) । २९७५. तस्या दोषजातेः । २९७६. तस्या वाचः । २९७७. कुतः ? अपि तु न कुतोपि । २९७८. आदिशब्देन समारोपव्यवच्छेदादिग्रहणम् । २९७९. वक्तृत्वम् । २९८०. प्रागुपादिष्टम् । २९८१. भगवति । २९८२. प्रसिद्धमिति । २९८३. तवेष्टस्य मतस्य । २९८४. परः । २९८५. बौद्धं प्रत्याह स्याद्वादी ।

२९८६. यथा सर्वथा नित्यत्वादिधर्मो नानेकान्तस्य बाधकस्तथा । २९८७. तर्काख्यप्रमाणमन्तरा प्रतिबन्धसिद्धे (व्याप्तिसिद्धे) नभ्युपगमाद् व्याप्तिसिध्यभावेनुमानायोगात् । २९८८. (तर्काख्यप्रमाणादृतेपि प्रत्यक्षेणैव व्याप्तिसिद्धिः स्यादित्युक्ते आह, नेति) । २९८९. सौगतानाम् । २९९०. क्षणिकत्वसत्त्वयोः साध्यसाधनयोः । २९९१.

निर्विकल्पकत्वेन । २९९२. (ननु योगिप्रत्यक्षं न सन्निहितविषयमित्युक्ते बौद्धेन स्याद्वादी प्राह) । २९९३. संशयादेः । २९९४. अस्मदादिप्रत्यक्षम् । २९९५. व्याप्तिग्राहकम् । २९९६. (अविचारकत्वादिति भाष्योक्तहेतुमन्यप्रकारेण कथयति) सर्वत्रेदमस्माज्जातमिदं न सर्वत्रानेन क्षणिकत्वेन व्याप्तिमिति परामर्शशून्यत्वान्निर्विकल्पकस्य सविकल्पकस्य वा प्रत्यक्षस्य । २९९७. निर्विकल्पकादुत्पन्नत्वात्सविकल्पकस्य शब्दसंसर्गसहितं व्याप्तिग्राहीति हि परेषां मतम् । विरोधान्नोभयेतिकारिकाव्याख्यानावसरे अभिलापसंसर्गरहितत्वं बलादापद्यतेऽस्येति वक्ष्यते । २९९८. अविचारकं सन्निहितविषयं च यतः । २९९९. निर्विकल्पकं सविकल्पकं वा । ३०००. साकल्येन व्याप्तिग्राहकम् । ३००१. तर्हि स्याद्वादिनां कथं व्याप्तिग्रह इत्युक्ते आह । ३००२. अस्माकम् । ३००३. उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहस्तर्कः । ३००४. यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निर्यथा मठः, यत्र यत्राग्निर्नास्ति तत्र तत्र धूमोपि नास्ति यथा महाह्रदः । इत्युक्तप्रकारौ प्रत्यक्षानुपलम्भौ सहकारिणी यस्य तस्य । ३००५. मतिज्ञानविशेष एव परोक्षतर्कज्ञानं तदावरणम् । ३००६. तर्कस्य । ३००७. 'त्रिलोक' मुद्रितप्रतौ नास्ति । ३००८. तर्कस्य । ३००९. तर्कस्य । ३०१०. तर्कस्य । ३०११. तर्कस्य । ३०१२. प्रत्यक्षवदिति पूर्वोक्तमुदाहरणम् । ३०१३. तर्कानुमानयोः । ३०१४. तर्कादिव निर्विकल्पकादपि निर्णये जाते समारोपो विहन्यतामित्युक्ते आह । ३०१५. (समारोपविरोधस्तु दूर एवास्ताम्) । ३०१६. व्याप्तिज्ञानमधिगमोत्र । सोपि सविकल्पात्मैव । ३०१७. सविकल्पकज्ञानमेवात्र साधनान्तरम् । ३०१८. सतोपि दर्शनस्य न समारोपव्यवच्छेदकत्वं स्वं यतः साधनान्तरं सविकल्पकमपेक्षते । तथा सन्निकर्षोपि न समारोपव्यवच्छेदकः स्वयं किन्तु साधनान्तरमपेक्षते । इति सन्निकर्षात्र विशेषः । ३०१९. यथा सुषुप्तचैतन्यस्य न स्वयं प्रामाण्यं साधनान्तरापेक्षित्वात् ।

३०२०. (जैनः) तर्हि तत एव साधनान्तरापेक्षित्वादेव हे सौगत । ३०२१. दर्शनस्य । ३०२२. सविकल्पज्ञानस्य । ३०२३. प्रमितिं प्रति । ३०२४. (जैन आह) यच्चेतनं तत्साधकतममेवेति न नियमोस्ति । ३०२५. (सन्निकर्षस्य भावाभावयोः सतोरर्थपरिच्छित्तेर्भावाभाववत्तास्तीति सैव साधकतमत्वम् । ३०२६. तथापि कथमर्थः परिच्छिन्नो व्यवहियते इत्याशङ्क्यामाह जैनः ३०२७. यदर्थपरिच्छित्युत्पत्तिमन्तरा अन्यदर्थपरिच्छिन्नत्वं नास्तीत्यर्थः । ३०२८. तत्परिच्छित्तेरन्यत् 'परिच्छित्तिरुत्पन्ना' इत्यर्थपरिच्छिन्नत्वमस्ति चेदित्यर्थो बौद्धशङ्कायाः । ३०२९. (जैन आह) । ३०३०. बौद्धस्य । ३०३१. मनोव्यापारात् । ३०३२. तर्कसिद्धाया व्यप्तिरभावे एकान्तवादिनामनुमानं प्रमाणं न ।

३०३३. नरः पक्षः सर्वज्ञ इति च इति पक्षद्वयसाधनमित्यर्थः । ३०३४. सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वादिति । ३०३५. प्रतिज्ञामात्रमेव कथमित्याह । ३०३६. अर्हदादिः । ३०३७. भवद्भिर्जनैः । ३०३८. अनिर्द्धारितः प्रतिज्ञया । ३०३९. (बौद्धादिभिः प्रवर्तमानागमसत्यता) । ३०४०. यः सर्वज्ञः स एवागमस्य प्रणेतेति । ३०४१. सर्वज्ञतद्वचनयोः । ३०४२. कार्यकारणता । ३०४३. नित्यत्वाद्येकान्ततत्त्वम् । ३०४४. प्रत्यक्षेण । ३०४५. आग्रहिणः । ३०४६. आप्तस्वरूपात् । ३०४७. उपचारिवचनत्वात् । ३०४८. बहिस्तत्त्वमन्तस्तत्त्वं च । ३०४९. प्रत्यक्षविरोधो लक्षणं यस्येति बसः (बहिरन्तश्चेति विशेष्यमत्र) । ३०५०. स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते इत्यनेन । ३०५१. समर्थयति । ३०५२. बाधनस्य । ३०५३. अनेकान्तात्मकवस्तुसाक्षात्करणस्य । ३०५४. सद्रूपं रूपान्तरेणासत्त्वेन रहितम् ।

३०५५. अन्तस्तत्त्वम् । ३०५६. बाह्यतत्त्वम् । ३०५७. एकान्तत्वेन । ३०५८. परैर्बौद्धादिभिः । ३०५९. तथा च दर्शयते । ३०६०. सुखादिपर्यायापेक्षया । आत्मशब्दोऽयमुभयत्र सम्बद्ध्यते । तेन विशेषात्मन एकात्मनश्चेति योज्यम् । इत्युक्ते. किं तात्पर्यम् ? द्रव्यपर्यायापेक्षया अन्तर्वस्तु बहिर्वस्तु चैकानेकात्मकं नामेत्यर्थः । ३०६१. एकत्वं द्रव्यापेक्षया । ३०६२. सुखादिनानाधर्मसहितचैतन्यस्य । ३०६३. स्कन्धः संस्थानमाकृतिः । पुद्गलः । ३०६४. चित्राद्वैतवादिनः । ३०६५. प्रतिनियतानेकस्वरूपम् । ३०६६. विरुद्धधर्मत्वेप्यभिन्नत्वे सति । ३०६७. जैनैरुच्यते । ३०६८. चित्राद्वैतवादिनश्चित्रज्ञानमेकमेव वदन्ति । ३०६९. (सुखज्ञानमेयज्ञानवत्) । ३०७०. पीताद्याकाराणां चित्रज्ञाने । ३०७१. देवदत्तसुखाद्याकाराणां यज्ञदत्तसन्तानं प्रति पृथक्कर्तुमशक्यत्वात् (द्वितीयैकवचनम्) । ३०७२. निरंशकज्ञानवादी माध्यमिकः प्राह । ३०७३. चित्रज्ञानस्यैकत्वे । ३०७४. घटाद्येकपदार्थज्ञाने यथा चित्रव्यवहारो न । ३०७५.

उभयत्र विरोधाविशेषात् । ३०७६. लोके । ३०७७. एकस्मिन् । ३०७८. अनेकाकारस्य । ३०७९. एकाकारे । ३०८०. पीताद्याकारः संवेनादभिन्नो भिन्नो वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति माध्यमिकः । ३०८१. इदं संवेदनमिमे पीतादय इति । ३०८२. तर्हि तच्चित्रज्ञानं न भवति किन्तु तत्र ज्ञानान्तरमेव स्यात् । ३०८३. चित्रज्ञाने । ३०८४. संवेदनान्तरत्वापत्तेः । ३०८५. अभेदे । ३०८६. पीताद्याकारप्रतिभासेभ्यश्चित्रज्ञानस्य भेदे । ३०८७. अर्थान्तरत्वे सति पीताद्यशेषाकारशून्यस्य चित्रज्ञानस्याप्रतीयमानत्वाद्धेतोः । ३०८८. अर्थान्तरत्वेपि । ३०८९. उपसंहरति जैनः ।

३०९०. अनेकता । ३०९१. चित्रज्ञाने । ३०९२. चित्रज्ञानस्यैकत्वम् । ३०९३. ज्ञानलक्षणोभ्यः । ३०९४. प्रतिभासते । ३०९५. वयं माध्यमिका निवारकाः कथं भवामः ? । ३०९६. शोभेतेति पूर्वोणान्वयः । किं तत् ? तदाह—एकं चेच्चित्रता न स्याच्चित्रं चेदेकता कुतः ? एकं च तच्च तच्चित्रमेतच्चित्रतरं महदिति । अन्यच्च स्वयमाह । ३०९७. पीताद्याकाराणाम् । स्याद्वाद्यभिमतानाम् । ३०९८. चित्रत्वम् । ३०९९. पीताद्यशेषाकारशून्यस्येदन्तयावगन्तुमशक्यत्वात्कथमेकत्वस्य वास्तवत्वमिति प्रत्यवस्थितान् चित्रज्ञानवादिनः प्रत्याचक्षाणो निरंशैकज्ञानवादी प्राह । ३१००. चित्रज्ञाने । ३१०१. पीताद्याकाराणाम् । ३१०२. एकस्य । ३१०३. चित्रज्ञाने संवेदनमात्रस्वरूपस्य । ३१०४. चित्रज्ञानात् । ३१०५. जैनः । ३१०६. एकस्य चित्रज्ञानस्य संवेदनमात्रस्याप्यभावे । ३१०७. अतश्चित्रज्ञानस्यैकत्वविरोधः । ३१०८. निरंशैकवादी माध्यमिकः प्राह । ३१०९. भो जैन त्वदुक्तप्रकारेण । एकस्यानेकत्वाङ्गीकारप्रकारेण । ३११०. तेषु मध्ये । ३१११. नानाप्रतिभाससद्भावत्वेन । ३११२. भवितव्यमित्यन्वयः । ३११३. जैनादीनाम् । ३११४. ज्ञाने बहिरर्थे वा । ३११५. तव जैनस्य । ३११६. चित्रज्ञाने । ३११७. ज्ञाने बहिरर्थे वा । ३११८. चित्रमतावैक्योपगमस्य । ३११९. इतः स्याद्वादी प्राह । ३१२०. चित्राकारस्यापायेपि तस्य चित्रज्ञानस्य सम्भवादिति पूर्वोक्ते सति । ३१२१. संविदाकारस्यैकस्येति खपुस्तकपाठः । एकस्य संविदाकारस्य यथा परस्परपेक्षयानेकत्वम् । ३१२२. स्वरूपापेक्षया । ३१२३. अनेकचैतन्यं नीलपीतादिप्रतिभासः । तत्र व्याप्तस्य । ३१२४. विशेष्यस्य । व्यापकस्य । ३१२५. अन्तस्तत्त्वस्य ज्ञानादेः । ३१२६. अन्तस्तत्त्वमेकात्मकमस्ति, चित्रज्ञानवदिति । ३१२७. सुखादीनां प्रधानपरिणामत्वेनाचेतनत्वमभ्युपगम्य तेषां चैतन्यव्याप्तत्वाभावं मन्वानः साङ्ख्यः प्राह । ३१२८. व्याप्यानाम् । ३१२९. भो जैन ।

३१३०. इतो जैनो ब्रूते । ३१३१. पीताद्याकाराणां चित्रज्ञानं व्यापकं भवत्किमेकेन स्वभावेनानेकेन वेत्यादिप्रकारेण । ३१३२. व्यापकस्य चित्रज्ञानस्य । ३१३३. एकानेकस्वभावमन्तरेणैव । ३१३४. सुखादिव्यापिनि चैतन्येऽनुभूते । ३१३५. न ह्यनुपपन्नं किन्तूपपन्नमेवेत्यत्र उपपत्तिं दर्शयति । ३१३६. सत्प्रतिपक्षः प्रकरणसम इत्यर्थः । ३१३७. सुखादीनाम् । ३१३८. तत एवेति शेषः । तथा पुरुषसंसर्गादित्यादिप्रकारेण । ३१३९. जैनस्य । ३१४०. उत्पत्तिमत्त्वेऽपि चैतन्यविशेषोऽचेतनत्वाभाववान्यतः । ३१४१. उत्पत्तिमत्त्वादिति हेतोः । ३१४२. द्रव्यार्थिकनयापेक्षया । ३१४३. एवं ज्ञानसुखादीनामभेदः स्यादित्युक्ते आह । ३१४४. उपयोगस्वभावाभ्याम् । ३१४५. ज्ञानदर्शनाभ्यामन्यत्वेभ्यश्चित्रत्वमत्याशङ्क्य प्राह । ३१४६. (न सर्वथा विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वं किं तु कथंचिदिति बौद्धेनोक्ते आह) ३१४७. विज्ञानसाधनेन । बौद्धमते पूर्वरूपलक्षणस्योत्तररूपलक्षणं प्रत्युपादानत्वेन उत्तरज्ञानलक्षणं ति (प्रति) सहाकारित्वेनाभिन्नहेतुत्वेपि कार्यभेदाभ्युपगमाद् व्यभिचारात् । ३१४८. सौगतैः । ३१४९. सुखादीनां ज्ञानरूपत्वाभावप्रकारेण । ३१५०. सौगतेन । ३१५१. तद्रूपा नीलचेतनादयः । अतद्रूपा अनीलचेतनादयः । ३१५२. अपि तु नैवेत्यर्थः ।

३१५३. सुखादीनां विज्ञानरूपत्वं कथमसिद्धमित्युक्ते आह । ३१५४. अज्ञानरूपाः । ३१५५. सुखादीनां विज्ञानाभिन्नहेतुजत्वमुपादानापेक्षया सहाकार्यपेक्षया वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयन्नाह जैनः । ३१५६. श्लोकवार्तिके । ३१५७. इति चेत् (सौगतेनोच्यते चेत्) । ३१५८. तत् तस्मात्, रूपादि नैवाज्ञानं किन्तु ज्ञानमेव स्यादित्यर्थः । ३१५९. पूर्वोन्द्रियानिन्द्रियमुत्तरद्रव्येन्द्रियानिन्द्रियं प्रति कारणम् । तदा उत्तरद्रव्येन्द्रियानिन्द्रिययोर्ज्ञानेन सहाभिन्नहेतुजत्वात् । ३१६०. द्रव्यार्थिकनयेन । ३१६१. सुखादीनाम् । ३१६२. नैयायिकाः । ३१६३. प्रत्यक्षप्रसिद्धत्वात् मुद्रितप्रतौ पाठः । प्रत्यक्षेणात्र

स्वसंवेदनं गृह्यते । ३१६४. स्वरूपेण । ३१६५. आत्मनः । ३१६६. परेष्ट आत्मा चेतनाविशेषप्रमितिसमवायभाग् न भवति, सामान्यतः स्वतंचेतनत्वात् पटादिवत् । ३१६७. परो जैनाभिमतं चेतनमप्यात्मानं स्वीकृत्य दोषमाह । ३१६८. जैनाः प्राहुः । ३१६९. सुखादौ ।

३१७०. सुखादिस्वरूपस्य । ३१७१. यथा चित्रज्ञानस्य कथञ्चिदेकानेकात्मकस्य प्रेक्षणं सिद्धम् । ३१७२. कथञ्चिदेकानेकात्मकत्वेन सुखदुःखहर्षविषादादिरूपस्य चैतन्यस्य । ३१७३. असङ्कीर्णविशेषैकात्मनः प्रेक्षणमित्यनेनान्वयः । ३१७४. (स्कन्धस्य कथञ्चिदेकानेकात्मकत्वं साधयति) । ३१७५. केवलम् । ३१७६. परमाणूनां स्थूलपरिणतिः स्कन्धः । सुगतमते तु परमाणुप्रचयरूपः स्कन्धः । ३१७७. सर्वेषां वर्णसंस्थानादीनाम् । ३१७८. वर्णादिव्यतिरेकेण स्कन्धस्यानुपलम्भो यथा । ३१७९. असम्बद्धाः । ३१८०. तर्हि परमाणुत्वाविशेषात्सर्वे (अप्रत्यासन्नाः) परमाणवः प्रत्यक्षाः स्युरित्याशङ्क्यामाह । ३१८१. रूपः चक्षुःप्रकाशादिसमाग्रीवशतः । ३१८२. स्वकारणसामग्रीवशादेव । ३१८३. नैयायिकानां स्याद्वादिनां च । ३१८४. अतो वर्णादीनां नानुपलम्भः । ३१८५. स्वकारणवशादेव स्कन्धस्य प्रत्यक्षसंविज्जननसमर्थस्वभावत्वाभावे सति । ३१८६. पिशाचादिशरीरादीनाम् । ३१८७. (पराभिमते सति । बौद्ध आह) ३१८८. प्रत्यक्षात्वाप्रत्यक्षत्वस्वभावेन । ३१८९. स्वकारणं परमाणुः ३१९०. पुञ्जीभूतानाम् । ३१९१. अपुञ्जीभूतानाम् । ३१९२. प्रत्यक्षाप्रत्यक्षस्वभावत्वात् । ३१९३. अवयविनः । ३१९४. मृत्युपार्षणमन्तरेण ग्राह्यत्वात् । ३१९५. निर्विकल्पके । ३१९६. अवयविनः प्रत्यक्षत्वे स्वात्मसमर्पणं मूल्यदानं, तददत्त्वा प्रत्यक्षत्वग्राही । ३१९७. अन्यापोहलक्षणायाम् । ३१९८. (स्कन्धस्य) । ३१९९. अवयवी अवयवेषु सर्वथैकेन स्वभावेन किं सर्वात्मना वर्तते इत्यादिप्रकारेण । ३२००. (सांगतस्य) । ३२०१. जैनाः प्राहुः । ३२०२. भिन्नत्वेन । ३२०३. पुंसः । ३२०४. अस्तु नाम स्कन्धानां विषमपरिमाणत्वात् । तेषां विकल्पेवभासनादवस्तुत्वं स्यादित्यत आह । ३२०५. स्कन्धः । ३२०६. तथा सति सर्वेषां स्कन्धानां प्रत्यक्षता स्यादित्युक्ते आह । ३२०७. आदिशब्देन पिशाचेतरशरीरादिवर्तिसूक्ष्मस्थूलादिकं ग्राह्यम् । ३२०८. विषयभाव एव स्वसमर्पणमिति । ३२०९. द्वितीयपरिच्छेदे सन्तानः समुदायश्चेति कारिकायाम् । ३२१०. साङ्ख्यः ।

३२११. मनाक् । ३२१२. एकः स्कन्ध एव वर्तते न तु वर्णादय इत्युक्ते । ३२१३. गुणादयश्च । ३२१४. एषा सत्ता इमे द्रव्यादय इति । ३२१४. तर्हि सत्ताद्वैतमेवास्त्वित्युक्ते आह । ३२१५. भट्टाकलङ्कदेवैः । ३२१६. (ब्रह्माद्वैतवादम्) । ३२१७. सांगतमतम् । ३२१८. एकान्तत्वेन । ३२१९. सामान्यविशेषौ एकः आत्मा यस्य तत्सामान्यविशेषैकात्मकम् । तस्यानेकान्तरूपस्य वस्तुनः । सामान्यविशेषाभ्यामुपलक्षितमेकं स्वरूपं यस्य तत्तथोच्यते इति वा । ३२२०. सम्यक् परिच्छिन्तिः । ३२२१. स्पष्टेन्द्रियबोधानाम् । ३२२२. (अनार्हतानामार्हतमतविरुद्धानां कल्पनाम्) । ३२२३. जैनानाम् । ३२२४. अनुमानादिना । ३२२५. सत्ताद्वैतवाद्यभ्युपगतस्य । ३२२६. बौद्धमतपेक्षया । ३२२७. यौगमतापेक्षया । ३२२८. पृथग्भूतयोः (जटिलाभ्युपगतयोः) । ३२२९. तदात्मकस्य । भट्टमते भेदासहिष्णुरभेदस्तादात्म्यम् । (सामान्यविशेषयोरर्धाधभागेन कृत्वेत्यर्थः) । ३२३०. नरसिंहवत् । ३२३१. जात्यन्तरस्य संवित्तिः । कथमित्युक्ते आह । ३२३२. भेदनयविवक्षायाम् । ३२३३. सा अनार्हतकल्पना । ३२३४. सर्वथैकान्तस्योपलब्धौ वा प्रतिषेधः साध्यते इत्युक्ते सर्वथैकान्तः कदाचिदुपलब्ध्वावनुपलब्धौ वा प्रतिषेधः साध्यत इत्युक्ते सर्वथैकान्तः कदाचिदुपलब्ध्वावनुपलब्धौ वा प्रतिषिध्यत इति प्रश्नः फलति । तथा च विकल्प्य परो वक्ति ।

३२३५. (सत एव कथंचित्केनचित्प्रतिषेधात् । यतो विधिपूर्वक एव निषेधो भवति । एतेन स्वभावानुपलब्धिर्निरस्ता) । ३२३६. मिथ्या अध्यारोप्यमाणस्य । ३२३७. अध्यारोप्यमाणस्य प्रतिषेधसिद्धिर्न भवेद्यदि । ३२३८. अनेकान्तात्मनो वस्तुनः संवित्तिरेव । ३२३९. विषयीकुर्वत् । ३२४०. सामान्यात्मिकामेव विशेषात्मिकामेव वेत्येवम् । ३२४१. एवंभूतेन प्रमाणान्तरेण । ३२४२. प्रत्यक्षात् । ३२४३. अनुमानादि । ३२४४. प्रत्यक्षाभावेऽनुमानस्य प्रवर्तिर्न घटते यतः । ३२४५. प्रत्यक्षं विना समारोपविच्छेदविशेषोपि न स्यादित्यर्थः ३२४६. आदिपदेन तर्कप्रत्यभिज्ञानोपमानादि । ३२४७. (अनुमानादेः) । ३२४८. तस्मात् प्रत्यक्षात् । ३२४९. जैनः प्रत्युत्तरयति । ३२५०. (गरिष्ठत्वे हेतुः) ३२५१. समारोपविच्छेदविशेषरूपं गरिष्ठत्वेहेतुं

भावयति । ३२५२. वर्णसंस्थानादिना । ३२५३. प्रतिनिवृत्ता आकाङ्क्षा (प्रमाणान्तरस्य) यस्य (प्रत्यक्षस्य) सः । ३२५४. (अनुमानादेः) सकाशात् तादृशः) । ३२५५. अनुमानादिना । ३२५६. अनेकान्तात्मकस्यास्तित्वविधिरन्वयः । ३२५७. दृष्टं प्रत्यक्षमन्वयव्यतिरेकयोः स्वभावभेदं दर्शयति ततः प्रत्यक्षस्य गरिष्ठत्वसिद्धिः । ३२५८. (स्वभावभेदप्रदर्शनार्थत्वादिति हेतुं भावयति) । ३२५९. सामान्यविशेषात्मकत्वात्स्वस्येति पाठान्तरम् । ३२६०. बसः (बहुव्रीहिः) । ३२६१. तच्छब्देनान्वयव्यतिरेकौ । ३२६२. अतो दृष्टमेव गरिष्ठं सामान्यविशेषात्मकवस्तुग्राहकमेकान्तं निषेधयतीति समर्थितमेतत् 'स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यत' इत्यत्र । ३२६३. स त्वमेवासि निर्दोष इत्यादिना पूर्वमेवार्हच्छासनस्याबाधनमर्हतः परमात्मत्वं च सिद्धम् । पुनस्त्वन्मतामृतबाह्यानामित्यादिना सर्वथैकान्तस्य मतस्य दृष्टेन बाधनं कपिलादेः परमात्मत्वनिराकरणं च किमर्थमिति बौद्धाशङ्का । ३२६४. अनेकान्तस्य ।

३२६५. स्वामिसमन्तधराचार्यः (किमर्थमित्यन्वयः) ३२६६. (अन्वयव्यतिरेकौ) । ३२६७. सौगताचार्यः । ३२६८. अन्वयव्यतिरेकयोः । ३२६९. आदिना प्रतिज्ञानिगमनादिग्रहः । ३२७०. निग्रहस्थानं पक्षं प्रसाधयतोऽप्रसाधयतो वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति सिद्धान्तौ । तत्र प्रथमपक्षमाह तावत् । ३२७१. वादिनः । ३२७२. स्वेन (वादिना) । ३२७३. निराकृतः पक्षोऽस्य प्रतिवादिनः) असां निराकृतपक्षस्तेन लक्षयितुं युज्यते स्वपक्षसिद्धिनिबन्धनैव जयाधिकरणप्राप्तिर्न तु वचनाधिक्यनिबन्धनेति भावः । ३२७४. लक्षणीयापि तु न लक्षणीयेति वक्रोक्तिः । ३२७५. धर्मकीर्तिनोक्तत्वात् । ३२७६. न तु निग्रहस्थानम् । ३२७७. निग्रहस्थानप्राप्तिः । ३२७८. सद्वादिनः । ३२७९. वादिना । ३२८०. द्वितीयविकल्पं दूषयति । ३२८१. द्वयोरपि वादिप्रतिवादिनोः । ३२८२. सौगतस्य । ३२८३. साध्यस्य । ३२८४. साधर्म्यवैधर्म्येत्युभयवचनात् । ३२८५. वचनाधिक्यम् । तत् साधनवचनसामर्थ्याज्ञानं प्रकटयतस्तज्ज्ञानं (साधनवचनसामर्थ्याज्ञानमिति (टिप्पण्यन्तरम्) ।

३२८६. नित्येऽनित्ये वा भेदेऽभेदे वा एकस्मिन्वचित्पक्षे । ३२८७. वैयर्थ्यप्रसङ्गे हेतुः । ३२८८. वादिनः । ३२८९. प्रतिवादिनः । ३२९०. भो सौगत, यदि साधनसामर्थ्याज्ञानं जयस्य हेतुस्तदज्ञानं तु पराजयस्य तदा । ३२९१. साधनसामर्थ्याज्ञानविशेषात् । ३२९२. जैनस्य । ३२९३. साधनगुणे ज्ञानाभावो दूषणं चेति भावः । ३२९४. सौगतस्य । ३२९५. स्वसाधनवादिनेति वा पाठः । ३२९६. एवं च व्यवस्थायां सत्याम् । ३२९७. साधर्म्यवचने प्रयुक्ते वैधर्म्यवचनं प्रयुज्यमानमसाधनाङ्गं वैपरीत्यं वा । ३२९८. वादिन इत्युपरिष्ठादन्वयः । ३२९९. वक्ष्यमाणाभ्यां विकल्पाभ्यां मतस्यानुपपत्तेः । ३३००. उदाहरणोपनयनिगमनादिवचनाधिक्यम् । ३३०१. साधनाभासविज्ञानासिद्धेः । ३३०२. (तेन हि प्रतिवादिना वचनाधिक्यरूपो दोष एवोद्भावितो न तु साधनाभासरूप इति साधनाभासज्ञानासिद्धिस्तस्य) । ३३०३. साधनाभासे अदोषोद्भावनमेव लक्षणं यस्य तस्य । ३३०४. (प्रत्युत) । ३३०५. प्रतिवादिनः । ३३०६. द्वेषविषयभूतं कामयते इत्येवंशीलः । तस्य भावो द्विष्टकामिता ।

३३०७. द्वेषविषयं कृत्वा । ३३०८. वादिनः । ३३०९. न्यक्कारः पराजयः । ३३१०. साधर्म्यवचनादेवार्थगतौ अर्थादापन्नं (स्वयमेव लब्धम्) वैधर्म्यवचनं, तस्य । ३३११. (पुनस्तस्याभिधानं द्विष्टम् । तत्त्वात्) । ३३१२. ज्ञातस्यार्थादापन्नस्य वा । ३३१३. निगमनवचनस्य पुनरपि दोषोद्भावनं कथम् ? (सौगतेन प्रतिज्ञावयवस्येव निगमनावयवस्यापि नियमेन निवारणात्) । ३३१४. पुनरुद्भावनम् । ३३१५. निगमनं न दूषितं तर्हि अदोषं भविष्यतीति भयात्पुनर्दूषितम् । ३३१६. सौगतः । ३३१७. (अर्थादायातस्य) । ३३१८. वैधर्म्यवचनं न दूषितं तर्हि साधनाङ्गं भविष्यतीति भयात्पुनर्वैधर्म्यवचनं प्रोक्तम् । ३३१९. निगमनवैधर्म्यवचनयोः । ३३२०. पक्षधर्मत्वशब्देनात्र सपक्षे सत्त्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिश्चेत्यपि ग्राह्यम् । ३३२१. साधर्म्यवैधर्म्येत्येतदुभयस्य । ३३२२. पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहवैयर्थ्यादिर्यथोदितः । ३३२३. वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये । ३३२४. सौगताशङ्कां निराकरोति जैनः । ३३२५. जैनापेक्षयोदाहरणमनर्थकम् । ३३२६. पराजयाय । ३३२७. स्वपक्षसिद्धौ जातायाम् । ३३२८. वादिनोक्तस्य । ३३२९. बौद्धमतापेक्षया प्रतिज्ञोदहरणादि दोषान्तरम् । ३३३०. प्रतिवादिनः । ३३३१. प्रतिज्ञोदाहरणादिवचनस्य स्वपक्षसिद्धिविधाताहेतुत्वात् । ३३३२. (परपक्षनिराकरणे) ।

३३३३. न तद्युक्तमिति भाष्योक्तं सुव्यवस्थितम् । ३३३४. वादशास्त्रयोः । ३३३५. (शास्त्रे प्रतिज्ञाभिधीयते इत्यत्रायं हेतुः) । ३३३६. अनियतकथायां च प्रतिज्ञाभिधीयते इत्यत्रायं हेतुः । ३३३७. परानुग्रहप्रवृत्तत्वात् । ३३३८. तादृशत्वमेव दर्शयते । ३३३९. (परः प्राह) जल्पवितण्डारूपायाम् । ३३४०. जैनः । ३३४१. प्रतिज्ञाप्रयोगो न युक्त इति । ३३४२. शास्त्रादौ । ३३४३. सौगतः प्राह । ३३४४. अर्थादगम्यमानस्य प्रतिज्ञादिविषयस्य । ३३४५. तेषां मन्दधियाम् । ३३४६. (जैनः) वादे । ३३४७. यथा शास्त्रादौ मन्दबुद्धिप्रतिपत्त्यर्थं प्रतिज्ञादिप्रयोगः । ३३४८. आदिशब्देन दृष्टान्तग्रहः । ३३४९. बौद्धः । ३३५०. हेतुसमर्थनान्तरं यदि साध्यसाधनयोर्व्याप्तिं समर्थयते तदा । ३३५१. प्रतिज्ञाम् । ३३५२. (न स्वीकरोतीत्यर्थः) । प्रतिज्ञावद्धेतुरपि व्यर्थो भवतीत्यर्थः । ३३५३. तस्य हेतोः । ३३५४. (भो सौगत) साधनमात्रात् । ३३५५. कर्तुं । ३३५६. (वाशब्दोत्र निगमनस्य समुच्चये) न केवलं हेतुरेवेत्यर्थः । ३३५७. निगमनादेः समर्थनं कथमतिशयवदित्यर्थः । ३३५८. कर्म । ३३५९. समर्थननिगमनयोः ।

३३६०. भो जैन, त्वया हेतुं कथयित्वा यदि समर्थयते तदा दूषणं, परन्तु हेत्वाद्यनभिधाने । ३३६१. इतो जैनः । ३३६२. अर्थादगम्यमाने । प्रकरणादिवशेनैवेत्यर्थः । ३३६३. मतिशब्दो मुद्रितप्रती नस्ति । ३३६४. सन्धा प्रतिज्ञा मर्यादा इत्यमरः । ३३६५. सौगतस्य (समर्थनं निग्रहाय न भवतीति प्राह) । ३३६६. समर्थनं नाम वचनाधिक्यं नाम दूषणं न भवति यतः समर्थनं पक्षधर्मत्वादावन्तर्भवति । ३३६७. शब्दादौ । ३३६८. अस्तित्वसाधनम् । ३३६९. इष्टः क्षणिकत्वम् । ३३७०. उदाहरणद्वयनिरूपणप्रकारद्वये । ३३७१. उभयथासमर्थनेपि भाष्यकथनं संघटते इति शेषः । ३३७२. हेतुसमर्थनं प्रतिपाद्य पुनर्व्याप्तेः साधनम् । ३३७३. विपक्षे (यथा बौद्धस्य क्षणिकत्वसाधने नित्यम्) । ३३७४. सत्त्वस्य । ३३७५. व्यापकानुपलब्धेरिति । ३३७६. एतदेव समर्थयति । ३३७७. तदेति शेषः । ३३७८. (अनित्यत्वेनाभिमतात्सर्वस्मात्) । ३३७९. (सर्वम्) । ३३८०. सजातीयविजातीयकार्यकारणसामर्थ्यमुपाख्या स्वभाव इति यावत् । ३३८१. सत्त्वस्य । ३३८२. नित्ये । ३३८३. सति । ३३८४. विपक्षेण सह साधनस्य । ३३८५. सत्त्वादिति हेतोः । ३३८६. घटादिपदार्थः । ३३८७. नित्यात् । ३३८८. सत्त्वलक्षणसाधनव्यावृत्तेः । ३३८९. सन्दिग्धानैकान्तिकः । सत्त्वादित्ययं हेतुः । ३३९०. नित्ये सत्त्वकृतकत्वयोरदर्शनमात्रात् । ३३९१. नित्यात्सत्त्वादेः साधनस्य । ३३९२. किञ्चिज्ज्ञस्यादर्शनं नित्ये सत्त्वाभावं न साधयति यतः । ३३९३. पूर्वभाग्दर्शिना नरेण । ३३९४. विप्रकृष्टानाम् । ३३९५. बाधकप्रमाणेन शङ्काया निवृत्तिः कुत इत्याशङ्क्यामाह । ३३९६. नित्यवस्तुनः । ३३९७. साध्यधर्मे कार्ये । ३३९८. क्रमयौगपद्यायोगः । ३३९९. अर्थक्रियाकरणासामर्थ्यम् । ३४००. नित्ये । ३४०१. विपक्षे बाधकप्रमाणमात्रेणैव । ३४०२. मात्रशब्दः कात्स्न्ये । यावन्तः साधन(सत्त्व)धर्मास्तावत्सु साध्यधर्मस्यान्वय इत्यर्थः । ३४०३. क्षणिकत्वस्य । ३४०४. सत्त्वादिति । ३४०५. बाधकप्रमाणेपि । ३४०६. सत्त्वकृतकत्वादेः । ३४०७. साधनस्यानुपलब्धिसाधनं सौगतस्याप्रमाणम् । ३४०८. बाधनोपगमे इति वा पाठः । ३४०९. सौगतो वक्ति इति न चोद्यमित्यादि । ३४१०. दृश्यानुपलब्धिलक्षणस्य ।

३४११. प्रमाणत्वप्रतिषेधमेव दर्शयति । ३४१२. नित्ये क्रमयौगपद्ययोगस्यादर्शनम् । ३४१३. दृश्यविषयत्वम् (क्षणिकम्) । ३४१४. क्रमयौगपद्यायोगलक्षणस्य । ३४१५. साध्यस्य असामर्थ्यस्य विपर्यये सामर्थ्ये सत्त्वलक्षणे । ३४१६. क्रमयौगपद्यायोगेन विरुद्धः क्रमयौगपद्ययोगः । ३४१७. अदर्शनस्य विपक्षे बाधकप्रमाणत्वप्रतिपादनप्रकारेण । ३४१८. नित्यमर्थक्रियाकारि न भवति, क्रमयौगपद्यायोगादित्ययं हेतुः साध्यस्य (असामर्थ्यस्य अभावे) (क्षणिकस्वलक्षणे) । ३४१९. क्षणिके । ३४२०. क्रमयौगपद्ययोगेन । ३४२१. क्षणिके । ३४२२. सत्त्वस्य । ३४२३. दृश्यानुपलब्धेरेव तद्बाधकत्वे सति । ३४२४. अर्थक्रियाकारित्वलक्षणम् । ३४२५. अक्रमो यौगपद्यम् । ३४२६. सत्त्वादित्यादेः । ३४२७. इदं वक्ष्यमाणं समर्थनम् । ३४२८. अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् । ३४२९. अग्न्यन्येषु पवनेन्धनादिषु । ३४३०. धूमहेतुषु । ३४३१. वह्न्यभावे । ३४३२. वह्निकार्यत्वम् । ३४३३. अन्वयाभावे । ३४३४. मूलकारणा(वह्नि)भावे । ३४३५. सहकारिकारणस्य पवनेन्धनादेः । ३४३६. कार्योत्पत्तौ ।

३४३७. विवक्षितकारणस्य वहेः । ३४३८. पवनादिकारणम् । ३४३९. धूमरूपकार्योत्पत्तौ । ३४४०. पवनाद्यभावे । ३४४१. धूमलक्षणं कार्यम् । ३४४२. अग्न्यभावे धूमनिवृत्तेः प्रतीयमानत्वादग्रेव तत्र धूमकार्यजनने सामर्थ्यं न त्वन्यस्येत्याशङ्क्यामाह । ३४४३. कार्यस्य । ३४४४. मातृविवाह उचितो यत्र । ३४४५. इति यदृच्छासंवादः । ३४४६. अन्वयव्यतिरेकरूपेण । ३४४७. अग्नेः कारणस्य । ३४४८. अव्यभिचारोपि सर्वत्र कार्यकरणे कथमित्युक्ते आह । ३४४९. अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवेत्यर्थः । ३४५०. इति कार्यहेतुसमर्थनम् । ३४५१. हेतोः । ३४५२. परमाणवादेरदृश्यस्य । ३४५३. प्रतिपत्तुः मुद्रितप्रती पाठः । ३४५४. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य वस्तुनः स्वरूपम् । ३४५५. कारणान्तरं चक्षुरादि । ३४५६. देशकालस्वभावभेदात् । ३४५७. एतदर्थः क इत्युक्ते आह । ३४५८. अनात्मा अन्यपदार्थः । ३४५९. अघटव्यावृत्तिर्घट इति । ३४६०. राहित्येन । ३४६१. (उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरूपः स्वभावविशेषः कारणान्तरसाकल्यं च स्वभावविशेष इत्यर्थः) ।

३४६२. चक्षुरादिषु । ३४६३. (त्रिविधेन विप्रकर्षेण विप्रकृष्टत्वप्रकारेण, अनात्मरूपप्रतिभासविवेकेन प्रतिपत्तुप्रत्यक्षप्रतिभसित्वप्रकारेण चानुपलब्धः । ३४६४. अनुपलब्धिविषयः । ३४६५. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः सकाशात् । ३४६६. अनुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भप्रकारेण । ३४६७. अनुपलब्धिलक्षणे । ३४६८. न केवलं सत्त्वादिलक्षणे । ३४६९. वस्तु । ३४७०. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलम्भरूपम् । ३४७१. द्रष्टव्या । ३४७२. ननु अनुपलब्धस्यैवासद्व्यवहारहेतुत्वात् कथमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य तत्सङ्गतमित्याशङ्क्य व्याप्तिं समर्थयति । ३४७३. शशविषणादेः । ३४७४. सर्वदा । ३४७५. घटादेः । ३४७६. उपलब्धिलक्षणप्राप्तियोग्यः शशो विषाणं च । ३४७७. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य । ३४७८. असद्व्यवहारस्य । ३४७९. शशविषाणे । ३४८०. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य शशविषाणादेः । ३४८१. किन्तूपलब्धरेव । ३४८२. उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धिमात्रनिमित्तः । ३४८३. , अदृश्यानुपलब्धिलक्षणस्य । ३४८४. विपक्षव्यावृत्तिरूपस्य । ३४८५. असपक्षो विपक्षः । ३४८६. पूर्वोक्तसमर्थनप्रकारेण । ३४८७. तृतीयरूपसमर्थनस्यावचने । ३४८८. सिध्यङ्गस्य । ३४८९. निगमनादिभ्योऽतिशयवद्भवति । ३४९०. (यौग आह) । ३४९१. नैयायिकैः । ३४९२. प्रतिज्ञायाः । ३४९३. यथा संगरस्यावचने न्यूनाख्यं तथा । ३४९४. पञ्चानामप्यवयवानां मध्ये । ३४९५. न्यूनं नाम निग्रहस्थानम् । ३४९६. हे सौगत । ३४९७. इतो जैनः प्राह । ३४९८. विपक्षव्यावृत्तिलक्षणस्य । ३४९९. अपि तु नातिशयीत । ३५००. सौगतः प्राह । ३५०१. पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वयोः सत्त्वेपि ।

३५०२. जैनः प्राह । ३५०३. जैनोक्तस्य । ३५०४. विपक्षव्यावृत्तिलक्षणसमर्थनस्य गमकत्वप्रकारेण । अन्यथानुपपन्नत्वलक्षणस्य सद्भावे । तदभावे हेतोः प्रयोजकत्वाददर्शनादिति पाठान्तरम् । ३५०५. तदभावे तु हेतोरप्रयोजकत्वमेवेत्यर्थः) । ३५०६. सौगतस्य । ३५०७. विपक्षव्यावृत्तिलक्षणहेतोरैकस्यैव साधनाङ्गत्वात् पक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वरूपस्यासाधनाङ्गत्वम् । ३५०८. सौगत आह । ३५०९. जैनः प्राह । ३५१०. निग्रहप्राप्तिः । ३५११. अतिशयो विशेषः । ३५१२. हे सौगत । ३५१३. आग्रहः । ३५१४. निगमनादिकम् । ३५१५. शब्दो नश्वरः, सत्त्वादिति रीत्या । ३५१६. अतिरेक आधिक्यम् । ३५१७. अनुमाने ३५१८. संज्ञ शब्द इत्युपनयेनैवाविप्रतिपत्तेः (अविगानतः) पक्षधर्मस्य प्रदर्शनमतोधिकम् । तत एव पराजयाय । ३५१९. प्रागुक्तं सर्वं परिहरन् सौगतो वक्ति, यस्य अद्वैतवादिनो योगाचारस्येत्यर्थः । ३५२०. उत्पत्तिमत्त्वकृतकत्वादिविशेषणरहितम् । ३५२१. गम्यत्वादित्यधिकः पाठः खपुस्तके । ३५२२. सांख्यस्य जैनस्य वा । ३५२३. अनर्थान्तरभूतं विशेषणं (उत्पत्तिमत्त्वम्) यस्य तत् । ३५२४. नातिरिक्तम् । ३५२५. नैयायिकस्य । ३५२६. (कृतकत्वम्) । ३५२७. तादृशः कप्रत्ययान्त इत्यर्थः । ३५२८. वादिनम् । ३५२९. नातिरिक्तमिति वाक्यं पूर्वमपि योज्यम् । ३५३०. तत्तद्वादिसाध्यप्रसिद्ध्यभावप्रकारेण । कस्यचित्सत्त्वादित्यनेन साध्यसिद्धिरस्ति कस्यचित्तु उत्पत्तिमत्त्वादित्यनेन साध्यसिद्धिरिति । ३५३१. तत्तद्वादिनः । ३५३२. प्रयोगेण । ३५३३. तदन्तरेणापि । ३५३४. संज्ञ शब्द इति पक्षधर्माऽवचनात् । ३५३५. तद्भावेहेतुभावौ हि दृष्टान्ते तदवेदिनः । ख्याप्येते विदुषामित्यादि ।

३५३६. प्रतिपाद्यानुरोधतः साधर्म्यवचनेपि वैधर्म्यवचनं तद्वचनेपि च साधर्म्यवचनं पक्षादिवचनं वेत्यादीष्टौ सत्याम् ।
 ३५३७. इति वचः । ३५३८. शब्दे धर्मिणि । ३५३९. इति व्याहृतमित्यग्रेणान्वयः । ३५४०. सर्वं क्षणिकं सत्त्वादित्येतावता
 शब्दे सत्त्वप्रतीतेः संश्व शब्द इति पक्षधर्मस्याविगानमित्यर्थः । ३५४१. इत्यपि व्याहृतम् । कया ?
 असाधनाङ्गवचनादपजयप्राप्त्येत्यर्थः । ३५४२. इति हेतोः । ३५४३. (संश्व शब्द इति पक्षधर्मस्य) । ३५४४. सौगतमतापेक्षया ।
 ३५४५. (व्याहृतमेवेति पूर्वोक्तान्वयः) । ३५४६. समर्थनसहितत्वेन । ३५४७. त्रिलक्षणवचनसमर्थनस्य । ३५४८.
 प्रतिज्ञादिवचनसमर्थनवदित्यर्थः । ३५४९. समर्थनपक्षधर्मत्वप्रदर्शनयोर्व्याहृतिम् । ३५५०. बौद्धेन । ३५५१. प्रतिज्ञादेः । ३५५२.
 "असाधानङ्गवचनं" मुद्रितप्रती पाठः । ३५५३. बौद्धः । ३५५४. पञ्चेन्द्रियाणि शब्दाद्या विषयाः पञ्च मानसम् । धर्मायतनमेतानि
 द्वादशायतनानि वै ॥ ३५५५. जैनोक्तिः । ३५५६. प्रतिज्ञावचनप्रकारेण । ३५५७. वादिन उक्तावितरस्येति वात्र पाठः । इतरस्य
 प्रतिवादिन इत्यर्थः । ३५५८. वादिनः । ३५५९. प्रतिवादिनः । ३५६०. स्वपक्षसिद्ध्या । ३५६१. साधनस्य स्वेष्टसिद्धेरङ्गानि
 कारणानि प्रतिज्ञादीनि । तेष्वन्यतमस्य । ३५६२. प्रतिज्ञादिकम् । ३५६३. प्रतिज्ञाय । ३५६४. बुद्धिराहित्येन । ३५६५.
 बौद्धाभिमतम् । ३५६६. उक्तन्यायेन । ३५६७. वादिना निर्दोषसाधने प्रयुक्ते सति । ३५६८. प्रतिवादिनो निग्रहाधिकरणम् ।
 अनुद्भासनमिति मुद्रितप्रती पाठः । ३५६९. पूर्वोक्तस्यैव । ३५७०. बौद्धः पृच्छति । ३५७१. प्रतिज्ञादिवचनस्यानिग्रहस्थानत्वे
 सति । ३५७२. वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये । ३५७३. जल्पो वादः ।

३५७४. वादिप्रतिवादिनोर्मध्ये एकस्य । यदा वादी निराकृतविपक्षस्तदा वादिनो जयः प्रतिवादिनः पराजयः । यदा प्रतिवादी
 अवस्थापितस्वपक्षस्तदा तस्य जयो वादिनस्तु पराजय इत्यर्थः । ३५७५. निग्रहस्थानम् । ३५७६. 'च' इत्यध्याहार्यम् । ३५७७.
 वादिप्रतिवादिनोः । ३५७८. धनप्राप्तिपर्यन्तम् । ३५७९. स्वपरपक्षसाधनदूषणं कर्तव्यं विजिगीषुणेत्येतत् । ३५८०. इति
 स्वपक्षसाधनम् । ३५८१. इति परपक्षदूषणम् । ३५८२. समन्तभद्रस्वामिनः । ३५८३. एकान्तग्रहणेषु मध्ये कस्मिंश्चित् ।
 ३५८४. (कायवाङ्मनसामालम्बनेनात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणा) । ३५८५. काययोगो वागयोगो मनोयोगश्चेति त्रिविधः । ३५८६.
 आस्रवति कर्म येन योगेन स आस्रवः कर्मागमकारणमित्यर्थः । ३५८७. पुण्यपापभेदात्सुखदुःखभेदाद्वा । ३५८८. योग एव ।
 ३५८९. तत्त्वार्थसूत्रकारवचनात् । ३५९०. प्रेत्य मृत्वा भावो गत्यन्तरप्राप्तिः प्रेत्यभावः । ३५९१. परलोकाहेतुः । ३५९२.
 (परलोकः) । ३५९३. आदिना मोक्षादिग्रहश्च । ३५९४. वादिषु । ३५९५. स्वयमङ्गीकृतस्य परलोकादेः । ३५९६. तेषां
 स्ववैरित्वमसिद्धमिति चेदाह । ३५९७. अनेकान्तमतवैरित्वात् । ३५९८. पुण्यपापरूपकर्मफलम् । ३५९९. सुःखं दुःखं च ।
 ३६००. तेन पुण्यपापरूपेण धर्माधर्मेण संबन्धः कार्यकारणलक्षणो यस्य सः परलोकादिः । ३६०१. स्वमिति सम्बन्धः । ३६०२.
 कुशलाकुशलादिपूर्वोक्तस्य । ३६०३. परवैरित्वमनेकान्तवैरित्वं वा । ३६०४. स अनेकान्तः । ३६०५. तत् परवैरित्वं, स्वस्य
 स्वकीयस्य वैरित्वम् । ३६०६. यसः (कर्मधारयः) । ३६०७. कर्मफलादिकमनन्तरोक्तम् ।

३६०८. यस्मादेतत्पराभिमतं कर्मफलादिकमनेकान्तनिषेधेन बाध्यते तस्मात्परवैरित्वं, स्ववैरित्वं साधयति (यतस्ते
 बाधितमपि स्वपक्षं स्वीकुर्वन्ति) । ३६०९. तटस्थः । ३६१०. तत्त्वोपप्लववादिभिः । ३६११.
 कर्मफलपरलोकादेरनिष्टत्वेनाङ्गीकारात् यतः शून्यवादिनां परलोकाद्यङ्गीकारे शून्याभावः, अद्वैतवादिनां च परलोकाङ्गीकारे
 द्वैतापत्तिरतस्तेषामनिष्टत्वम् । ३६१२. मायया मिथ्यारूपेण वा । ३६१३. नित्यैकान्तेऽनित्यैकान्ते वा । ३६१४.
 स्याद्वादिभिर्युक्त्याऽसंभवत्वप्रदर्शनात् । ३६१५. क्रमाक्रमयोः । ३६१६. व्यापकेन । ३६१७. तस्य अनेकान्तस्य ।
 ३६१८. तयोः क्रमाक्रमयोः । ३६१९. व्यापकनिवृत्तौ व्याप्यनिवृत्तेः सुसिद्धत्वात् । ३६२०. कार्यकरणमर्थक्रिया ।
 ३६२१. प्रकारान्तरेणाहुः स्याद्वादिनः । ३६२२. (इष्टः इति शेषः) । ३६२२. (क) (क्षणिकाद्येकान्तस्य) । ३६२३.
 क्षणिकादिरूपेण । ३६२४. ततः क्षणिकैकान्तस्याप्यनेकान्तत्वमायातम् । ३६२५. (एकान्तस्यानेकान्तेविनाभावित्वम्) ।
 ३६२६. (सा अर्थक्रिया) । ३६२७. परवैरित्वे । ३६२८. कर्मदिराश्रयो ह्यनेकान्तः । तद्वैरित्वे
 कर्मादिकमनाश्रयमेव । ३६२९. कर्मादिकं विरुध्यते यतः । ३६३०. तपोजपाद्याचरणम् । ३६३१. अभिमतं

स्वकर्मक्षयादि । ३६३२. कर्मादेः । ३६३३. अनुष्ठानात् । ३६३४. संसारिदशायाम् । ३६३५. आत्मनि । ३६३६. कर्मादेः । ३६३७. याँगाचारो माध्यमिको वा । ३६३८. कार्यादिव्यापारो लक्षणं यस्य । ३६३९. पुण्यपापाख्यस्य । ३६४०. जन्म मा भूदिति संबन्धः । ३६४१. कर्मादिकं तु द्रव्यत्वेन जैनैर्नित्यमङ्गीक्रियते । ३६४२. सर्वथा सतस्तदघटनात् । अथवा आवरणविशेषात् । ३६४३. आदिपदेनानुष्ठानादेः । ३६४४. जन्म मा भूदित्येव संबन्धः । यतः सर्वथा सत्त्वेनाविशेषात् । ३६४५. परलोकादेः । बौद्धमते सर्वथाऽभाव इष्टः । अत एवं (वक्ष्यमाणं) प्राह माध्यमिकः । ३६४६. कुतश्चित्कारणात् । ३६४७. सर्वथा सदसतोः पक्षयोः । ३६४८. परलोकादिजन्मविरोधाविशेषात् । ३६३९. सत्त्वे । ३६५०. बौद्धाभिमते (जन्म न घटते इत्यन्वयः) । ३६५१. व्यलीको मिथ्या । ३६५२. माध्यमिकस्य । ३६५३. जाग्रदशायाम् । ३६५४. कर्मादयो व्यलीकप्रतीभासाः कदाचिदुपरमन्ते, तेषां संवृत्या जनितत्वात् स्वप्नादिप्रतिभासवदितीदमुदाहरणं साध्यसममसिद्धमिति यावत् । कथम् ? स्वप्नादिप्रतिभासाः कदाचिदुपरमन्ते इति साध्यमेव न सिद्धं यतः ।

३६५५. (साध्यसमत्वमेव दर्शयन्ति यथेति) । ३६५६. (अहेतुकत्वाविशेषात्) । ३६५७. (अविद्याया संवृत्या, मायया अयथार्थत्वेनेत्यर्थः) सत्त्वात् शून्यवादः स्यादिति । ३६५८. सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह । ३६५९. अपिना सत्यानपि । ३६६०. सदेव तिमिरादिकं वितथप्रतिभासान् जनयति । ३६६१. शून्यैकान्तवादे । ३६६२. कर्मणः । ३६६३. यथा भावैकान्ते कस्यचित्कुतश्चित्कदाचित्त्वचिज्जन्म न संभवति, सदसदनेकान्तप्रतिषेधात् । ३६६४. शून्यवादे । ३६६५. जन्मविरोधलक्षणः । ३६६६. ज्ञाने निरन्वयसत्त्वे । ३६६७. ज्ञानबाह्यार्थयोर्निरन्वयसत्त्वे वा । ३६६८. निरन्वयक्षणक्षये । ३६६९. ज्ञानाद्वैतलक्षणोत्तरक्षणकार्यस्य बहिरर्थोत्तरक्षणकार्यस्य । ३६७०. कार्यस्य । ३६७१. निरन्वयसत्त्वेऽपि उत्तरक्षणलक्षणकार्यजन्मनि । ३६७२. पूर्वक्षणलक्षणं कारणं कार्यकालमप्राप्य प्राप्य वा कार्यं करोतीति द्विधा विकल्प्य क्रमेण दूषयन्नाह । ३६७३. द्वितीयविकल्पः । ३६७४. सव्येतरगोविषाणवत् । ३६७५. कार्यकालं प्राप्नुवतः सर्वस्यानियमेन कारणत्वे । ३६७६. कार्येण सह । ३६७७. सौगतस्य । ३६७८. कारणत्वेनाभिमते पूर्वक्षणे । ३६७९. उत्तरक्षणलक्षणस्य कार्यस्य । ३६८०. पूर्वक्षणरूपकारणमन्तरेण । ३६८१. पूर्वक्षणकार्यत्वम् । ३६८२. उत्तरक्षणलक्षणे कार्ये । ३६८३. पूर्वक्षणमुत्तरक्षणस्य कारणं न भवति, तदभावेऽपि तस्योत्पादादित्यनुमानात् । ३६८४. विवक्षितकार्यस्य । ३६८५. तत्, तस्य पूर्वक्षणनिमित्तकं कार्यरूपत्वमुत्तरक्षणस्य कथं न ? तस्मिन् सत्यभावात्, स्वयमेव च पश्चाद्भावात् । ३६८६. अन्यकार्यवत् । ३६८७. 'तत्' मुद्रितप्रती न्नास्ति । ३६८८. (सौगत आह) पूर्वक्षणक्षयानन्तरम् । ३६८९. तस्य पूर्वक्षणस्य । ३६९०. उन्मत्तः श्वा अलर्क्षः । अलर्क्ष इति पुस्तकान्तरे । ३६९१. अत्रोदाहरणे पूर्वस्मिंश्च जैनैर्दृष्टकारणस्याविनाभावः स्वीक्रियते । ३६९२. कारणे (जैनः प्राह) ।

३६९३. (अक्षणिके नित्यत्वात्कार्योत्पादकत्वं न घटते, नित्ये क्रियाविरोधात्, क्षणिके तु असत्त्वादेवेत्यविशेषः) । ३६९४. (कार्यं प्रत्यकारणत्वेन) । ३६९५. क्षणिककारणस्य सत्ता । ३६९६. किन्तु स्वकीयवर्तमानकाले सति । ३६९७. स्वकालो वर्तमानः । ३६९८. नित्ये कारणे । ३६९९. सौगतमते । ३७००. नित्यपक्षे । ३७०१. भवन्मते । ३७०२. कर्तृभूतं स्वकालो वर्तमानः । ३७०३. क्षणिकरूपस्य कारणस्य । ३७०४. इति सौगतेन कालनियमः कल्प्यते यथा तथा क्षणिकं कारणमिति पूर्वेषान्वयः । ३७०५. क्षणिकरूपस्य कारणस्य । ३७०६. कारणस्य । ३७०७. उपादानत्वे सहकारित्वमिति द्वयरूपेण । जैनैर्नित्यमित्यादि । ३७०८. नित्यस्य कारणस्य । ३७०९. कारणात् । ३७१०. कारणभेदमकुर्वताम् । ३७११. अनेककार्याणाम् । ३७१२. ३७०८. (हे सौगत) क्षणिकात् । ३७०९. कारणात् । ३७१०. कारणभेदमकुर्वताम् । ३७११. अनेककार्याणाम् । ३७१२. कूटस्थादपि कारणादेकस्मात्कारणस्वभावमभेदयतामित्यादि योज्यम् । ३७१३. नित्यस्यापि क्रमभाव्यनेककार्योत्पादनस्वभावत्वात् । यथा क्षणिकस्य । ३७१४. बौद्धः शङ्कते, हे स्याद्वादिन, अत्र नित्ये कथमुत्पत्तिर्नामेति । ३७१५. स्याद्वादी उत्तरयति—तत्र क्षणिके ३७१४. बौद्धः शङ्कते, हे स्याद्वादिन, अत्र नित्ये कथमुत्पत्तिर्नामेति । ३७१५. स्याद्वादी उत्तरयति—तत्र क्षणिके यथा क्षणिकस्य । ३७१४. बौद्धः शङ्कते, हे स्याद्वादिन, अत्र नित्ये कथमुत्पत्तिर्नामेति । ३७१५. स्याद्वादी उत्तरयति—तत्र क्षणिके कथमुत्पत्तिः स्यादिति सम आवयोः पर्यनुयोगः (प्रश्नः) । ३७१६. सर्वथा सतोऽसत एव वा । ३७१७. क्रमेण सर्वथा सतोऽनुत्पत्तौ निष्पन्न (आत्मादि) वदिति दृष्टान्तः, सर्वथाऽसतोऽनुत्पत्तौ खपुष्पं दृष्टान्तो ज्ञेयः । ३७१८. सौगतेन । ३७१९. इति पर्यनुयोगार्हं नेति सौगतेनोक्ते स्याद्वादी आह—इति सौगतोक्तं पक्षपातमात्रमित्यादि । ३७२०. नित्यस्य । ३७२१.

गुणान्तरं सुखदुःखादि । ३७२२. प्राप्नुवतः सतः । ३७२३. अपि तु न किमपि । ३७२४. नित्यस्य । ३७२५. नित्य आत्मादिपदार्थः । ३७२६. ज्ञानाज्ज्ञानान्तरभावरूपम् । ३७२७. स नित्यो गुणान्तराधानमेकेनानेकेन वा स्वभावेनानुभवेदिति विकल्प्य क्रमेण दूषयति । ३७२८. गुणान्तरस्य पूर्वेण सह । ३७२९. नित्यस्य । ३७३०. नित्यानुभवनस्ये । ३७३१. एकेन स्वभावेन संभवतो गुणान्तराधानस्यानेकत्वमस्ति चेति नियामकस्याभावात् । ३७३२. नित्यस्यात्मादेः । ३७३३. नित्यात् । ३७३४. नित्यस्य । ३७३५. नित्यस्य । ३७३६. अनेकस्वभावः । ३७३७. जैनस्य । ३७३८. नित्यस्वभावैः । ३७३९. सौगतः (इतो जैनो ब्रूते) । ३७४०. परपक्षे प्रयुक्तस्य दूषणस्य स्वपक्षेपि समानत्वात् । ३७४१. सौगतेन । ३७४२. वैश्वरूप्यं नानारूपत्वम् । ३७४३. स हि गुणान्तराधानमित्यादिपर्यनुयोगस्य । यतोत्रापि स सर्वोपि पर्यनुयोगः संघटते । ३७४४. संवेदनस्य । ३७४५. एवमनभ्युपगमेपि यदि विरोधो जैनैर्दीयते तर्हि केन वार्यते परं त्वस्माकं मते ज्ञानस्य ग्राह्यग्राहकाकारौ नेष्टौ स्तः । ३७४६. प्रत्यक्षज्ञानस्य ।

३७४७. पृथग्भावम् । ३७४८. विशेषणम् । ३७४९. (परोक्षतां बिभ्राणस्यैव ज्ञानस्य (परोक्षस्य) ग्राह्यग्राहकाकाररूपेण भेदः सामर्थ्यप्राप्तोस्ति, न प्रत्यक्षस्य) ३७५०. निर्विकल्पकस्य । ३७५१. पृथक्त्वा । ३७५२. संविदद्वैतमेकेन स्वभावेनानेकेन वा ग्राह्यग्राहकाकारं स्वीकरोतीति । ३७५३. (इतो जैनः ग्राह्य, ग्राह्यग्राहकाकारतयापि प्रत्यक्षत्वे) । ३७५४. निर्विशेषत्वेन यथा ब्रह्माद्वैतं न प्रतिभासते । ३७५५. ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततया संवेदनस्य प्रत्यक्षता न संभवति यतः । ३७५६. ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि प्रत्यक्षमेवाकारं बिभृयाद्याद । ३७५७. एवं प्रत्यक्षपरोक्षाकारौ बिभ्राणं सदनैकं ज्ञानं सामर्थ्यप्राप्तमपि यदि नेष्यते तदा शून्यतावादप्रसङ्गः । स च संविन्मात्राभ्युपगमेन विरुध्यते । ३७५८. संवेदनस्यासत्त्वं शून्यं, संवेदनस्यानुभवः संवित् । तयोः परस्परं विरोधात् । (संविद्रूपं मन्यते सौगतैः शून्यवादोपपाद्यते इति परस्परविरोधः) । ३७५९. संवेदनमेव नास्ति कथं संवेदनानुभव इति विरोधः । ३७६०. (परस्परविरोधमेव दर्शयति) । ३७६१. अभ्युपगच्छतः । उपवर्णयतः इति पाठान्तरम् । ३७६२. (संवेदनमात्रम्) ३७६३. स्वाभिमतं संविन्मात्रमुपयतस्तु तत्संविन्मात्रं संविदुपपद्यते सिध्यति । परन्तु तत्संविन्मात्रमपि यदि न स्वीकुर्यात् किन्तु असदित्युपवर्णयेत्तदा तस्य संविन्न सिध्येत्, यतः परस्परं संविदसतोर्विप्रतिषेधः । तत एव च स्वेष्टासिद्धिर्बोद्धव्यः । ३७६४. असदित्युपवर्णनं बलादायातं यतो ग्राह्यग्राहकाकारं नास्ति । ३७६५. ग्राह्यग्राहकाकारविविक्ततयापि प्रत्यक्षस्य संवेदनमात्रस्यानुभवः स्वेष्टः (तस्यासिद्धिर्यतो विप्रतिषेधः परस्परम्) ३७६६. सर्वथा शून्यवादे संविदद्वैते वा प्रत्यक्षपरोक्षाकारो वैश्वरूप्यसद्भावश्च प्रकृतपर्यनुयोगस्यानिवृत्तिहेतुः समर्थितो यतः । ३७६७. आवृणोति । ३७६८. अन्यथा । ३७६९. सौगतानाम् । ३७७०. क्षणभङ्गस्वभावमङ्गानुषङ्गादित्यर्थः । ३७७१. ततश्च नित्यत्वं स्यात् । ३७७२. कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणस्य कार्यकृतौ । ३७७३. अनुष्ठानमित्यादिभाष्योक्ताऽऽदिशब्दगृहीतस्य परस्परनिरपेक्षसदसदाद्येकान्तवादिनोपि कुशलाद्यसंभूतिं प्रकटयति । ३७७४. उभयैकान्तं यौगमते । ३७७५. यथाऽद्वैतादिवादिषु कुशलाद्यसंभवः ।

३७७६. प्रश्नोपयोगः पृच्छा चेत्यमरः । ३७७७. प्रागभावः, प्रध्वंसाभाव, इतरेतराभावोत्पन्नाभावश्चेति चत्वारोऽभावाः । ३७७८. सर्वेषां पदार्थानां सर्वात्मकत्वमनादित्वमनन्तत्वमस्वरूपत्वं (अस्वभावत्वं) चेति चत्वारो दोषाः क्रमेण प्रत्येकाभावापह्नवे । ३७७९. तावकीनभिन्नमतावकम् । परमतमित्यर्थः । ३७८०. मूलप्रकृतिः प्रधानम् । ३७८१. अकार्यम् । ३७८२. महानहङ्कारश्च पञ्चतन्मात्राणि (गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः) चेति सप्त । ३७८३. कारणकार्यरूपाः । ३७८४. पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, पञ्च महाभूतानि मनश्चेति षोडशको विकारः कार्यरूप एव । ३७८५. आदिपदेन अनादित्वमनन्तत्वास्वभावकत्वानि दूषणानि ग्राह्याणि । ३७८६. महदादि घटादि च कार्यं व्यक्तम् । प्रधानमव्यक्तम् । ३७८७. प्रधानाश्रितम् । ३७८८. प्रकृत्यनुमापकम् । ३७८९. प्रधानाधीनम् । ३७९०. एवंभूतं व्यक्तम् । ३७९१. प्रधानम् । ३७९२. सर्वस्य सर्वात्मकत्वात् । ३७९३. सत्त्वरजस्तमोगुणयुक्तम् । ३७९४. भेदरहितम् । ३७९५. आत्मनो भोग्यरूपम् । ३७९६. प्रसूते इति प्रसूतिर्वा प्रसवः । प्रधानं कारणं

प्रसवधर्मीति महदादिकार्योत्पादकम् । व्यक्तं प्रसवधर्मीति कार्यरूपम् । अथवा कारणरूपं कथम् ? महतोहङ्कारस्ततः पञ्च तन्मात्राणि, पञ्च तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतान्युत्पद्यन्ते इति कारणत्वं तस्य । ३७९७. व्यक्तप्रधानाभ्यां विपरीतः । ३७९८. व्यक्ताव्यक्तयोरेवंलक्षणत्वे सति । ३७९९. व्यक्ताव्यक्तपुरुषाणाम् । ३८००. आसर्गप्रलयस्थायिनी बुद्धिर्महान् । ३८०१. पञ्चतन्मात्रेभ्यः । ३८०२. विरुध्यते । ३८०३. वस्तुस्वरूपनियामकानां चतुर्णामभावानामभावात् । ३८०४. अभावापह्नववादिनां मतम् । ३८०५. (अतावकं मतं दूषणास्पदमित्यस्य हेतुरयम्) । ३८०६. सर्वस्य तत्त्वस्य व्यक्ताव्यक्तोभय-सदसदुभय-द्रव्यपर्यायोभय-भावाभावोभयादिरूपत्वे तयोर्विशेषस्यान्यतरस्य निराकरणात् । किन्त्वेकरूपत्वे यथा दधि स्वरूपेण सत्तथा पररूपेणापि सत् । (तथा च दधि खाद इति चोदितः प्रेरितः पुमान् उष्ट्रं प्रति भक्षितुं किं न धावति—दध्युष्ट्रयोरेकरूपत्वादिति भावः) । ३८०७. अभावस्यापि वस्तुधर्मत्वेन स्याद्वादिभिः स्वीकारात् । ३८०८. व्यक्ताव्यक्तस्वभावस्य । ३८०९. महदहङ्कारकारणस्वभावस्य । ३८१०. (स्वस्य महाभूतस्यान्तर्भावः स्वान्तर्भावः । तस्याश्रयः) यत्र महाभूतानि लीयन्ते स महाभूतकारणद्रव्यमित्यर्थः । (स स्वरूपं यस्य स तस्य प्रध्वंसाभावस्य) । ३८११. तथा सति । ३८१२. जैनाः । ३८१३. अन्यथा अभावस्य निस्स्वभावत्वप्रसङ्गात् । ३८१४. नास्तीति प्रतीत्यभिधानयोजनकस्येत्यर्थो वा । ३८१५. अभावादपिपदार्थस्य । ३८१६. धर्मः । ३८१७. (पर्यायो विवर्तः) । ३८१८. सांख्यः । ३८१९. प्रधानव्यतिरेकेण । ३८२०. महदादीनाम् । ३८२१. सिद्धस्यैव सर्वात्मकत्वादितोषस्य साधनम् । ३८२२. जैनः । ३८२३. सांख्यस्य ब्रह्माद्वैतवादप्रसङ्गात् । ३८२४. सताद्वैतमेवास्त्विति ब्रह्माद्वैतवादी प्रत्यवतिष्ठते । ३८२५. चेतनादितरे येऽचेतनाविशेषास्तेषाम् । ३८२६. (जैनः प्राह) कुतः प्रमाणात् । ३८२७. ब्रह्माद्वैती । ३८२८. आहुर्विधातुं प्रत्यक्षं न निषेद्ध विपश्चितः । नैकत्वे आगमस्तेन प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते । ३८२९. किन्तु विधायकत्वनियमात् । ३८३०. प्रत्यक्षमूलत्वादानुमानागमयोः ।

३८३१. ब्रह्माद्वैती । ३८३२. तत्साधनं विशेषसाधनम् । ३८३३. (तत्साधनव्यभिचारमेव दर्शयति ब्रह्माद्वैती । तत्र कारणभेदस्तत्साधनं विरुद्धधर्माध्यासो वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति) । ३८३४. सौगतेन । ३८३५. भेदसाधनम् । ३८३६. ब्रह्माद्वैते एकमखण्डं ज्ञानं सौगतमते तु ज्ञानभेदोस्तीत्यनयोर्भेदं मनसि निधाय ब्रह्माद्वैती ब्रूते ज्ञानप्रतिभासेत्यादि । चेतनेतरभेदविज्ञानाकारः संवित्रिर्भासः । ३८३७. भावो, वस्तु । ३८३८. संवित्रिर्भासि भेदः । इति चित्राद्वैतवादिनं प्रत्यवादीद ब्रह्मवादी । ३८३९. इति चित्राद्वैतवादिनं प्रत्यवादीद ब्रह्मवादी । ३८४०. चित्राद्वैतवादी प्राह । ३८४१. ज्ञानस्वरूपस्य । ३८४२. एकः । ३८४३. मिथ्यादर्शनैः पुरुषैः । ३८४४. इतो ब्रह्मवादी । ३८४५. चित्रज्ञानस्वरूपादन्यत्र ब्रह्माद्वैते । ३८४६. दिव्यपानम् । ३८४७. सौगतेन । ३८४८. अविद्यारूपकारणात् । ३८४९. रेखाभिः । ३८५०. उत्पादादिरहितम् । ३८५१. घटपटादिभेदस्वरूपरहितम् । ३८५२. संवित्रिर्भासभेदादिति । ३८५३. ब्रह्म । ३८५४. प्रतिभासभेदवशादेकं चित्रज्ञानं ग्राह्यादिव्यपदेशभाग् यथा तथा ब्रह्म नाना व्यपदेशभाक् । ३८५५. आह सौगतः । ३८५६. ब्रह्मवादिनः । ३८५७. सौगतस्य । ३८५८. अपि तु नैव सिद्धः । ३८५९. सौगतब्रह्मवादिनोरुभययोरेव संवृत्या भेदस्याङ्गीकाराविशेषात् । ३८६०. ब्रह्मवादी यौगाशङ्कान् निराकुर्वन्नाह योपीति (यौगः) । ३८६१. विकल्पो ज्ञानम् । ३८६२. असिद्धः । ३८६३. यथा वर्णादिज्ञानम् । ३८६४. यौगः प्राह । ३८६५. ब्रह्मवादी प्राह, इति यौगस्य कथनमशक्यव्यवस्थमिति । ३८६६. इतरेतरभावस्य । ३८६७. शुद्धभूतलत्वं भावां, घटनास्तित्वमभावः, तयोः । ३८६८. भावाभावयोरभेदपीतरेतरभावप्रत्यय उत्पद्यते । तेन व्यभिचारः । ३८६९. भावाभावयोरभेदं साधयति ब्रह्मवादी । ३८७०. आह यौगः । ३८७१. सन्मात्रविषयत्वात् प्रत्यक्षस्येति हेत्वन्तरम् । ३८७२. अभावस्य । ३८७३. इन्द्रियैः संयुक्ते भूतले, भूतले घटाभावोस्तीति विशेषणसंबन्धसद्भावात् । ३८७४. ब्रह्माद्वैती ब्रूते, अभावदृष्टौ प्रत्यक्षेणाङ्गीक्रियमाणायाम् ।

३८७५. आह यौगः । ३८७६. देशे । ३८७७. तस्मात् घटादिभूतलादेः । ३८७८. प्रत्यक्षमात्रस्येत्यर्थः । ३९७९. यौगः प्राह, पदार्थप्रत्यक्षं द्विधा । अभावप्रत्यक्षमपि द्विधा । ३८८०. भावप्रत्यक्षम् । ३८८१. सुखादिसाधनं वस्तु दृष्ट्वा पूर्वानुभूतसुखसाधनत्वं स्मृत्वा इदं वनितादिकं सुखसाधनमिति प्रत्ययः प्रत्यक्षज्ञानं । यथा भवति । ३८८२.

भूतलादौ । ३८८३. ब्रह्माद्वैती । ३८८४. इदं भवति इदं न भवतीति । ३८८५. अनवस्थामेव दर्शयति । ३८८६. यौगमतापेक्षया पूर्वानुभवः प्रत्यक्षरूपोस्ति यतः । ३८८७. अन्त्यस्य । ३८८८. घटाद्यभावग्राहकस्य । ३८८९. यौगः । ३८९०. अभावे । ३८९१. इति चेन्नेत्यध्याहार्यमत्र । ३८९२. तत् तस्मिन्नपूर्वार्थे । ३८९३. न तु प्रत्यक्षजनकत्वसिद्धिस्ततः । ३८९४. पूर्वव्यक्त्यनुभवसमये तद्गतं सादृश्यमप्यनुभूयते एव । तत एव पूर्वार्थत्वमिति भावः । ३८९५. घटरहिते भूतले । ३८९६. विजातीयैरर्थान्तरे । ३८९७. (घटाभावप्रत्यक्षम्) ३८९८. यौगात् । ३८९९. प्रत्यक्षस्य स्मृतिसापेक्षत्वेऽपूर्वार्थसाक्षात्कारित्वं विरुद्धं यतः । ३९००. मास्तु प्रत्यक्षादभावप्रतिपत्तिः । अनुमानात् संभवतीत्युक्ते आह । ३९०१. निःस्वभावस्याभावस्य । ३९०२. स्वभावलिङ्गस्य कार्यरूपलिङ्गस्य च । ३९०३. लिङ्गरूपम् । ३९०४. भावस्वभावत्वप्रसङ्गात् । ३९०५. अभावप्रमितिर्लिङ्गजा । ३९०६. अभावज्ञानेन उपलब्धिर्हेतुः । ३९०७. अभावस्य । ३९०८. तुच्छभावो नास्तीति ।

३९०९. भावत्वे सत्यनुपलब्धेरिति हेतोः । ३९१०. भूतललक्षणादेः । ३९११. अभावप्रमितिजनकस्याभावप्रमाणस्य लक्षणं सामान्यतो विशेषतश्च, प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते । सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि । इति यदुक्तं भट्टेन तत्सर्वं क्रमेण दूषयन्नाह द्वैती । ३९१२. अभावविरोधी भावो यतः । ३९१३. अस्त्यत्र घटाभावः शुद्धभूतलोपलम्भादिति । नास्त्यत्र शीतस्पर्शः, अग्रेरिति च । ३९१४. निःस्वभावत्वे । ३९१५. अभावे । ३९१६. पुरुषस्य । ३९१७. अभावस्य । ३९१८. द्वौ नञौ तु समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यकौ । पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् । यथा अब्राह्मणमानयेत्यस्य ब्राह्मणसदृशमानयेत्यर्थः पर्युदासे । प्रसज्ये तु सर्वथा निषेध एव भवति । ३९१९. आत्मनोऽपरिणामः केन प्रमाणेन गृह्यते ? न केनापि । लोके परिणाम एव दृश्यते, यथा मृत्पिण्डस्याभावो घटोत्पादः, तथा परिणमनस्वभावत्वात् । ३९२०. यथा घटादन्यद् तदभूतलम् । ३९२१. घटनिवृत्तिः । ३९२२. भूतललक्षणान्यवस्तुविज्ञानात् । ३९२३. जैनादिः । ३९२४. बुद्ध्यादयश्च ताः कार्यरूपास्तेषाम् । ३९२५. बुद्ध्यादिकार्यनानात्ममन्तरेणापि वस्तुनानात्वसिद्धौ लोके एकमेव किञ्चिन्न स्यात् । ३९२६. समर्थनम् । ३९२७. एकत्वे । ३९२८. नानाकार्यता । ३९२९. युगपदेकार्ये नर्तक्यादावुपनिबद्धदृष्टीनां पुरुषाणां सम्बन्धी विषयक्षण (बौद्धं प्रति) एक एव नानाकार्यकारी यथा । ३९३०. नर्तक्यादिक्षणस्य । ३९३१. ननु नर्तक्यादिक्षणस्य स्वभावाभेदोऽसिद्धः शक्तिनानात्वस्य सद्भावात् । अतः कार्यनानात्वसाधनं कथं व्यभिचारीत्युक्ते आह सत्ताद्वैती । ३९३२. नर्तक्यादावेकार्ये । तथा 'नानात्वं' मुद्रितप्रती पाठः । ३९३३. प्रसवः कार्यम् । ३९३४. (प्रसवविशेषः) । ३९३५. व्यभिचारित्वे प्रसवविशेषस्य कुतस्तस्य शक्तिनानात्वस्य गतिः सिद्धा ? । ३९३६. जैनः (नर्तकीक्षणस्य) । ३९३७. नर्तक्यादिक्षणेन । ३९३८. सत्ताद्वैती । ३९३९. नर्तक्यादिक्षणस्य नानाशक्तयः सन्ति । तासां मध्ये एकशक्तौ । ३९४०. एकशक्तावागतनानाशक्तिषु मध्ये विवक्षितैकशक्तौ ताः शक्तयः । तासु प्रत्येकमपीत्यर्थः । ३९४१. (अनवस्थाप्रकारेण) । ३९४२. प्रसवविशेषः । ३९४३. वस्तुनानात्वाभावे देशकालावस्थाभेदाः कथं घटन्ते इत्याशङ्क्यामाह । ३९४४. विद्यमानान्-पदार्थान् । ३९४५. अविद्या । ३९४६. (बसः) । ३९४७. विज्ञानं वेदना संज्ञा संस्कारो रूपमेव चेति पञ्च स्कन्धा बौद्धाभिमतः । ३९४८. (बौद्धाभिमतः) । ३९४९. यौगाद्यभिमतः अक्षणिक् नित्या एकसंततयश्च (तेपि मिथ्यैवेत्यर्थः) । ३९५०. सौगतोक्तानाम् । ३९५१. नैयायिकोक्तानाम् । ३९५२. यथा निरूपाख्याभावानां (नैयायिकाद्यभिमतानां) विशेषसाधनव्यभिचारः । ३९५३. तदुभयं नैयायिकाभिमतम् । ३९५४. तदनुभयं शून्यवाद्यभिमतम् । ३९५५. ते च ते विशेषाश्च तेषां साधनेपि । ३९५६. सत्ताद्वैतवादीत्यतः प्रभृत्याह जैनः । सोऽपि सत्ताद्वैतवादी ।

३९५७. (सत्ताद्वैतवाद्युक्तं परमतनिराकरणं स्वयमपि स्वीकृत्य जैनोद्युता सत्ताद्वैतमतं दूषयति) । प्रतिभासश्च तत्कार्यादि च तयोरभेदे । ३९५८. ब्रह्मणः । ३९५९. साधितम् । ३९६०. सत्ताद्वैतवादिमते । ३९६१. ब्रह्मवादी । ३९६२. घटादयोऽभिन्नाः प्रतिभासकार्यत्वात् । ३९६३. कारणभेदाभावादित्यादिहेतोर्वा । ३९६४. सिद्धे सति । ३९६५. अपि तु न स्यात् । ३९६६. सत्ताद्वैते । ३९६७. धर्मिभ्यः । ३९६८. पक्षः । ३९६९. पक्षविरुद्धः । विरुद्धधर्माध्यासाद्धेतोः । ३९७०. उक्तलक्षणात्पक्षात् । ३९७१. अद्वैतवादिमते सपक्षोपि पक्षादन्यो न

सिद्धयेदित्यर्थः । ३९७२. भिन्नत्वसाधकः । ३९७३. भिन्नत्वसिद्धौ । ३९७४. पक्षसपक्षविपक्षाभावकथनेन । ३९७५. प्रतिभासो ब्रह्म । तत्समानमेकधिकरणं येषां ते तेषां भावस्तया । ३९७६. वेदात् । ३९७७. ब्रह्मणः । ३९७८. पक्षसपक्षविपक्षा अनुमानप्रमाणे कारणम् । आम्रायः आगमकारणम् । इन्द्रियादि तु प्रत्यक्षे कारणम् । ३९७९. तद् ब्रह्म । कृतं साधितम् । अथवा तैः प्रमाणैः कृतं साधितं तत्कृतम् । ३९८०. संवित्त्वयमेव प्रकाशते इति मतम् । ३९८१. (व्यवतिष्ठतेत्यादिः पूर्वोक्त एवातिप्रसङ्गः) ३९८२. (प्रमाणाभावस्योभयत्र समानत्वात्) । ३९८३. पर्यायो भेदः । ३९८४. स्वमतोक्तदोषपरिजिहीर्षया सांख्यैः सत्ताद्वैतेऽङ्गीकृते तस्याप्यशक्यव्यवस्थत्वमापादितं यतः । ३९८५. (सांख्यैः । न सत्ताद्वैतम्) ३९८६. भावैकान्ते ।

३९८७. विद्यानन्दिसूरिवर्याभिप्रायेण चार्वाकं प्रति भट्टकलङ्कदेवाभिप्रायेण तु सांख्यं मीमांसकं च प्रति । ३९८८. निह्वे । ३९८९. इतश्चार्वाकः प्रत्यवतिष्ठते । ३९९०. प्राक्परिणाम इत्युक्तेत्यन्तव्यवहितपूर्वपरिणामस्यापि प्रागभावत्वं स्यादित्यनन्तरेत्युक्तम् । ३९९१. जैनाः । ३९९२. जैनानाम् । ३९९३. तस्मात् प्रागनन्तरपरिणामात्पूर्वा अनादिपरिणामास्तेषां सन्ततिस्तस्याम् । ३९९४. प्रागनन्तरपरिणामलक्षणस्य प्रागभावस्य तत्राभावात् । प्रसङ्गादिति पाठान्तरम् । ३९९५. कार्योत्पत्तिशङ्कामनन्तरोक्तां निराकुर्वन्नाह जैनस्तत्रेत्यादि । तत्र अनादिपरिणामसन्ततौ । ३९९६. (अनादिपूर्वपरिणामसन्ततेः कार्यस्य च परस्परमितरेतराभावः स एव तदभावो विवक्षितकार्याभावस्तस्य) । ३९९७. (कार्यस्यानादित्वलक्षणः) । ३९९८. इतरेतराभावात् । ३९९९. जैनैः । ४०००. घटलक्षणस्य । ४००१. प्रागभावो मृत्पिण्डलक्षणः । ४००२. चार्वाकः । ४००३. अनन्तरेण मृत्पिण्डलक्षणेन । ४००४. पूर्वोत्तरपर्यायाणां प्रागभावाभावत्वाविशेषात् । ४००५. पृथुबुधोदराकाररूपः । ४००६. घ । ४००७. जैनस्य । ४००८. जैनस्य । ४००९. कार्यस्य । ४०१०. प्रागभावस्य । ४०११. कार्यम् । ४०१२. तत्पूर्वोत्तरपर्यायाणां । ४०१३. तेषां पूर्वोत्तरपर्यायाणाम् । ४०१४. इत्याकृतमिति सम्बन्धः । ४०१५. पूर्वक्षणाविनाश एवोत्तरक्षणस्यात्पत्तिरिति सुगतमतम् । ४०१६. जैनमतम् । ४०१७. प्रागभावस्यानादित्वस्वीकारः । ४०१८. जैनः । ४०१९. चार्वाकः । ४०२०. द्रव्यस्यानाद्यनन्तत्वात् । ४०२१. यतः प्रागभावस्य नित्यत्वमायातम् । ४०२२. घटात् । ४०२३. जैनस्य । ४०२४. ततस्मात् विवक्षितपर्यायेणाव्यवहितपूर्वपूर्वो यो (व्यवहितः) द्रव्यपर्यायस्तस्य निवृत्तौ ।

४०२५. घटस्य प्रागभावः । ४०२६. घटस्य प्रागभावः । ४०२७. द्रव्यपर्यायौ आत्मा स्वरूपं यस्यार्थस्य सः । कथञ्चिद् द्रव्यात्मा कथञ्चित्पर्यायात्मा । ४०२८. द्रव्यापेक्षया । ४०२९. पर्यायापेक्षया । ४०३०. द्रव्यपर्यायापेक्षयानादिसादीति पक्षद्वयम् । ४०३१. विनाशरहितत्वप्रसक्तेः । ४०३२. प्रागनन्तरपर्यायरूपात् । ४०३३. अनन्तकार्यसन्ततौ । ४०३४. घटस्य । ४०३५. अभावस्य भावस्वभावत्वेऽङ्गीक्रियमाणेऽनेकदूषणप्रसङ्गे यतः । ४०३६. प्रागभावो न भावस्वभावो भावविलक्षणत्वात् । व्यतिरेके बुद्ध्यादिवत् । ४०३७. अभावस्य । ४०३८. नैयायिकाः । ४०३९. भावविलक्षणस्याभावस्य ग्राहकप्रमाणं दर्शयति यागः । ४०४०. चार्वाकः । ४०४१. प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसादिरिति प्रत्ययस्य प्रध्वंसाभावाभावरूपतया सद्विषयत्वे सत्प्रत्ययविलक्षणत्वादित्ययं हेतुर्न वर्तते यतः । ४०४२. सत्प्रत्ययविलक्षणत्वेऽपि प्रागभावादावसद्विषयत्वं नास्ति यतः । ४०४३. अभावग्राहकत्वात् । ४०४४. पञ्चमस्याभावस्याभावचतुष्टयाद्व्यावृत्ताऽभावान्तरपरिकल्पनानुषङ्गात् । प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसादिरिति प्रत्ययस्याभावविषयत्वे सोप्यभावः प्रकृते (प्रागभावे) नास्तीति प्रत्ययेनासद्विषयेण व्यावर्तयितव्य इत्यनवस्था । ४०४५. यागस्य । ४०४६. इति प्रत्ययः । ४०४७. प्रागभावादौ प्रध्वंसाभावादिरुपचरितः । ४०४८. चतुर्णाम् । ४०४९. अन्यथा । ४०५०. घटादावभावेषु वा । ४०५१. मुख्योऽभावोऽत्रेतेतराभावः । ४०५२. तथा सति घटपटादीनामैक्यं स्यात् । ४०५३. यागेन । ४०५४. घटस्य प्रागभाव इत्येवंप्रकारेण । ४०५५. पक्षाव्यापकत्वं दर्शयति । ४०५६. घटस्य रूपमित्येवम् । ४०५७. गुणादेः । ४०५८. घटादिविशेष्योच्चारणरहितत्वेन । ४०५९. अभावस्तत्त्वम् । कस्य ? द्रव्यस्येति सामर्थ्यात् । ४०६०. चार्वाकः ।

४०६१. गुणादिविशेष्यस्य । कस्य गुणादिरिति प्रश्ने द्रव्यस्येति सामर्थ्याद्भ्रम्यत्वात् । ४०६२. दूषणान्तरम् ।

४०६३. पश्चादिव । ४०६४. घटविरोधिनः । ४०६५. (प्रागभावात्पूर्वं प्रागभावाभावोस्ति, प्रागभावस्य सादित्वात्) । ४०६६. प्रागभावस्य उत्पत्त्यनन्तरमविनाशित्वात् । ४०६७. घटस्य । ४०६८. यौगः । ४०६९. चार्वाकः । ४०७०. अनाश्रिताः । ४०७१. तव मते सर्वदा भावविशेषणानामेवाभावत्वस्वीकारात् । ४०७२. (स्वयमात्मलाभं प्राप्त एव पदार्थः कस्यचिदाश्रयत्वादिधर्मविशिष्टः स्यात्, सति कुड्ये चित्रमिति न्यायात्) । ४०७३. (स्वयमसतोपि तदाश्रयत्वं चेत्) । ४०७४. नन्वेवमिष्टापादनमेवेत्युक्ते आह । ४०७५. समुच्चयेत्र वाशब्दः । ४०७६. स्वरविषाणादेरपि प्रागभावप्रध्वंसाभावाश्रयत्वानुषङ्गात्, उत्पन्नप्रध्वस्तयोरसत्त्वेन खरविषाणरूपस्याभावस्य समानत्वात् । किञ्चैवमनुत्पन्नः प्रध्वस्तो वा स्तम्भः प्रासादादेराश्रयः स्यात् । ४०७७. चार्वाक आह—हे यौग । ४०७८. (तथा चेत्यर्थः) ४०७९. (प्रागभावादेरेकत्वेपि विशेषणभेदाद्भेदोपचारप्रकारेण) ४०८०. सर्वथा भिन्नस्वभावः अत्यन्तनानास्वभावो भावो गन्धात्मादिः । ४०८१. प्राग्रासीद्घटः प्रध्वस्तो वेत्यादेः । ४०८२. विशेषणभेदप्रकारेण । ४०८३. 'सत्तायाम्' मुद्रितप्रतौ पाठः ।

४०८४. (यौगमते द्रव्यादित्रिकवृत्तित्वादेव सत्तायाः सामान्यादिषु नोक्तम्) ४०८५. प्राग्रासीदित्यादयः । ४०८६. प्रत्ययविशेषस्य विशेषणनिमित्तकत्वात् । ४०८७. अभावप्रत्ययविशेषस्य विशेषणभेदहेतुकत्वात् । ४०८८. घटाभावादिशब्द एव श्रूयते न त्वभावः पृथग्भावेन प्रतीयते । ४०८९. गतानामनुगतिर्यस्य सः, तस्य भावस्तत्ता, तथा । ४०९०. विकल्पो ज्ञानम् । ४०९१. आदिपदेन गुणकर्मादयः । ४०९२. (वैशेषिकमते) । ४०९३. नैयायिकापेक्षया । ४०९४. सांख्यापेक्षया । ४०९५. बौद्धमतापेक्षया । ४०९६. (क्रमेण नैयायिकसांख्यबौद्धाभिमत प्रमाणादि-प्रकृत्यादि-रूपस्कन्धादि निर्देशनं ज्ञेयम्) ४०९७. प्रध्वंसस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । ४०९८. इतो जैन आह—इतीत्यादि । ४०९९. कार्यद्रव्यमनादि स्यादित्यादिकारिकया । ४१००. अन्यः सत्ताद्वैतवादी । ४१०१. लोकव्यवहारमयतेऽभ्युपगच्छतीति लौकायतिकः ४१०२. शङ्कते चार्वाकः । (लौकायतिकः) ४१०३. प्रत्यक्षतो न प्रतिभासते इत्येवम् । ४१०४. अभावो न भावरूपस्तस्य भावविशेषणत्वादिति भावविशेषरूपस्य । ४१०५. स्याद्वादिभिः । ४१०६. प्रागन्तरपरिणामादिरूपेण चतुर्धा विकल्पे यदुक्तं दूषणं चावकिण तत्सर्वं तद्विकल्पाभ्युपगमपुरस्सरं परिहरन्नाह जैनः । ४१०७. अर्पणा विवक्षा । ४१०८. घटस्य । ४१०९. मृत्पिण्डरूपः । ४११०. तथा सतीत्यर्थः । ४१११. मृत्पिण्डप्रध्वंसस्य । ४११२. द्वितीयपरिच्छेदे । ४११३. अथ पूर्वानादिपरिणामस्य स्वस्वपूर्वस्वरूपप्रागभावाभावरूपत्वात् कार्यरूपत्वमस्येव ततः कथं न तत्र कार्यसद्भाव इति चेदाह जैनः । ४११४. घटस्य प्रागभावो मृत्पिण्डः । मृत्पिण्डलक्षणप्रागभावस्य मृच्छकलम् । तस्यान्यदित्येवम् । ४११५. विवक्षितकार्यं प्रागनन्तरपरिणामनाशस्वरूपघटलक्षणम् । ४११६. (प्रागभावतत्प्रागभावौ) । ४११७. (विवक्षितकार्यस्य) । ४११८. प्रागभावविनाशरूपताया एव व्यावर्तकत्वात् (प्रागभावविनाशरूपतैवेतरेतराभावं व्यावर्तयति) । ४११९. इतरेतराभावपक्षोपक्षिप्तप्रागभाववैयर्थ्यलक्षणादूषणावतारः । ४१२०. प्रागनन्तरपरिणामस्य प्रागभावंत्वप्रकारेण । ४१२१. द्रव्यस्य । ४१२२. एवं सति ।

४१२३. एवं सति । ४१२४. पर्यायेभ्यः । ४१२५. तत्त्वमभेदः, अन्यत्वं तु भेदः । (कथञ्चिदभेदभेदपक्षयोरित्यर्थः) ४१२६. द्रव्यम् । ४१२७. अभेदे सन्तानिन एव, न सन्तानः । भेदे संबन्धासिद्धिर्द्वयोः ? ४१२८. अविवक्षितभेदानाम् । ४१२९. अनादित्वाभाव एवेष्टः । पर्यायापेक्षया सादित्वं वर्तते इति भावः । ४१३०. क्षणध्वंसिपर्यायार्थग्राहिणः । ४१३१. पूर्वं चार्वाकोक्ततृतीयविकल्पाभ्युपगमेपीत्यर्थः । ४१३२. अनन्तरपूर्वपर्यायात्पूर्वपर्यायास्तत्पूर्वपर्यायाः । ४१३३. घटस्य । ४१३४. (प्रागनन्तरपर्यायेणापि सहितानामित्यर्थः) । ४१३५. पूर्वप्रागभावानां मध्ये । ४१३६. तत्, घटादि । ४१३७. व्यवहारो द्रव्यार्थिकनयः । ४१३८. प्रागुक्तद्वितीयविकल्पे । ४१३९. (किन्तु सुघटैव) । ४१४०. (मृदादिद्रव्यशब्देन) । ४१४१. (घटमपेक्ष्य) । ४१४२. (कार्यरहितस्य पूर्वकालविशिष्टस्य मृदादिद्रव्यस्य) । ४१४३. 'कार्योत्पत्तरेव' इति प्रागुक्त एवकारोऽत्रैव ज्ञेयः । ४१४४. (सकलादेशः प्रमाणाधीन इत्युक्तत्वात्प्रमाणं हि पर्यायं द्रव्यं चापेक्षते । उभय—(पर्यायद्रव्य)-मुख्यविवक्षयैत्यर्थः) ४१४५. चतुर्थविकल्पोयम् । ४१४६. पर्यायसन्तत्यपेक्षया । ४१४७. प्रागभावस्यानादित्वेऽनन्तत्वं

स्यादाकाशवत् । ततश्च कार्यानुत्पत्तिरेवेति दूषणे उक्ते सत्याह जैनः । ४१४८. प्रागभावस्यानादित्वं सान्तत्वं च यतः । ४१४९. नयप्रमाणवशतः । ४१५०. (द्रव्यापेक्षया एकस्वभावः शक्त्यपेक्षया चानेकस्वभावः) । ४१५१. घटोपलब्धिवदशेषकार्योपलब्धिरित्यादिलक्षणः पूर्वोक्तः । ४१५२. कार्याभावस्य । ४१५३. भावान्तररूपे प्रागनन्तरपर्याये । ४१५४. नयप्रमाणार्पणाद्द्रव्यपर्यायौ व्यस्तौ समस्तौ वा प्रागभावो यतः । ४१५५. चार्वाकः पृच्छति, परस्येति चार्वाकस्य । जैनस्येति सम्यक् । ४१५६. जैनाः । ४१५७. कार्यरूपाः कपालमाला ।

४१५८. घटस्य । ४१५९. उपादेयक्षणास्यैवोपादानप्रध्वंसरूपत्वे सति । ४१६०. तस्मादुपादेयक्षणादुत्तरक्षणा-
स्तदुत्तरक्षणास्तेषु । ४१६१. कपालमालाखण्डेषु । ४१६२. उपादानकारणनाशे उत्तरपर्यायरूपं कार्यमुत्पद्यते, न तु कार्यनाशे
कारणोत्पत्तिनियम इति भावः । ४१६३. निःस्वभावयोः नैयायिकाभिमतयोः । ४१६४. व्यवहारो द्रव्यार्थिकः । ४१६५.
सादिरनन्तः । ४१६६. घटाकारविकलस्य घटोत्तरकालवर्तिनो नन्तस्य घटप्रध्वंसत्वप्रतिपादनप्रकारेण । ४१६७. मृदादिद्रव्यम् ।
४१६८. घटस्य । ४१६९. घटपरिणामपरिणतादन्यमृदादिद्रव्यं घटाकारविकलशब्देन गृह्यते । ४१७०. (यद्घटाकाररूपं न
परिणतम्) स चासौ घटश्च तद्घटः । ४१७१. स विवक्षितो घटादिः । ४१७२. वक्ष्यमाणप्रकारेण । ४१७३. घटाद्युत्पत्तौ ।
४१७४. सांख्यं प्रति तत्कार्यद्रव्यमापादनीयं युक्त्या समर्थनीयमिति भावः । ४१७५. कार्यद्रव्यम् । ४१७६. चार्वाकापेक्षावत् ।
४१७७ व्यापारस्तात्वादीनाम् । ४१७८. सांख्यस्य । ४१७९. प्रकटीकरणे । ४१८०. पुरुषव्यापारात् ।

४१८१. तद्भावावेदकस्य दर्शनप्रत्यक्षादेः प्रमाणस्याभावात् । ४१८२. प्रत्यभिज्ञानादेः । ४१८३. पुद्गलद्रव्यापेक्षया सत्त्वं शब्दस्य पर्यायापेक्षया चासत्त्वमिति । ४१८४. शब्दस्य । ४१८५. सर्वथा सत्त्वं चेत् । ४१८६. दर्शनस्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदमित्युक्तत्वात् । ४१८७. अभिव्यञ्जकव्यापारात्पूर्वं शब्दसद्भावावेदकप्रमाणाभावेन । ४१८८. सर्वथा विद्यमानस्य प्रमाणग्राह्यत्वाभावात् । ४१८९. शब्दो नित्यः, अर्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्तेरित्यर्थपत्तिविषयत्वेन । ४१९०. किन्तु सत्त्वं तु नित्यमेव तस्येति कल्पना युक्ता । ४१९१. (किन्तु सत्त्वं तु व्यापारात्पूर्वमपीत्यर्थः) । ४१९२. अभिव्यक्तेः । ४१९३. अन्यथा सर्वदा शब्दश्रवणप्रसङ्गः, श्रावणत्वरूपाया अभिव्यक्तेर्नित्यत्वात् । ४१९४. तथा च सति को दोष इति दर्शयति । ४१९५. अभिव्यक्त्यात्मकः शब्दो मीमांसकमते धर्मधर्मिणोरभेदात् । ४१९६. शब्दः । ४१९७. अभिव्यक्तिः 'प्रागसती क्रियते, न पुनः शब्द एवेति प्रकारेण । ४१९८. पौरुषेयत्वात् । ४१९९. (पौरुषेयतया अनित्यत्वेन) । ४२००. श्रवणज्ञानोत्पत्तिरूपा । ४२०१. तर्हीति शेषः । ४२०२. श्रवणज्ञानोत्पत्तिः शब्दे प्राक् सती असती वेति क्रमेण दूषयति जैनः । ४२०३. (पूर्वमश्रावणत्वे पश्चाच्छ्रावणत्वे च श्रावणत्वधर्मस्योत्पादः, अश्रावणत्वस्य तु नाश इत्यनित्यत्वम्) । ४२०४. (तर्हीत्यध्याह्रियते) ४२०५. (श्रावणज्ञानोत्पत्तिरूपया) । ४२०६. मीमांसकस्य । ४२०७. श्रवणज्ञानोत्पत्तेः । ४२०८. शब्दं शृणोमीत्यादौ शब्दः कर्मतापन्नः । ४२०९. श्रोतृजनाश्रितत्वात् । ४२१०. आत्मवत् तस्याः कर्तृस्थक्रियायाः ।

४२०९. श्रातृजनाश्रतत्वात् । ४२१०. आत्तयेत् । तस्याः कृद्गोत्रात् । ४२११. यद्यपि । ४२१२. यदि । ४२१३. योग्यतायाः शब्दश्रोत्रधर्मत्वनिराकरणेन । ४२१४. योग्यतायाः । ४२१५. यदि । ४२१६. इत्यभिव्यक्तिद्वयमस्ति । ४२१७. (श्रवणज्ञानोत्पत्तिपक्षे तद्योग्यतापक्षे च) । ४२१८. शब्दान्देदाभेदप्रकारेण । ४२१९. द्विधाभिव्यक्तेः । ४२२०. प्रागभावयोगे । ४२२१. शब्दश्रोत्रप्रमातृणां नित्यानां धर्मोभिव्यक्तिः । सा नित्यानित्यत्वात्प्रागभावायोगात् । तस्याः प्रागभावयोगे शब्दश्रोत्रप्रमातृणामपि प्रागसतां प्रयत्नेन करणप्रसङ्गात् । ४२२२. शब्दश्रोत्रप्रमातृणां प्रागसत्त्वेपि अभिव्यक्तिरेव यत्नेन क्रियते, न तु त्रितयमिति चेत्तर्हि । ४२२३. शब्दस्य । ४२२४. स चासावावरणविगमश्च । ४२२५. तात्त्वादिव्यञ्जकव्यापारात्प्राक् । ४२२६. अभूदेव । ४२२७. आवरणविगमस्य । ४२२८. कर्म (शब्द)-करण (श्रोत्र)-प्रमातृणां (पुरुषाणां) । ४२२९. श्रूयमाणत्वरूपस्य । ४२३०. किमभूत् ? भूतो वेत्यादि । ४२३१. भाष्ये स्थानद्वयस्थितं (प्राक्किमभूदित्यत्र तादृगेवेत्यत्र च) मूलं भावयति । ४२३२. न केवलं सांख्यैरेव । ४२३३. शब्दस्य । “अभिव्यक्तिवत्” इति पाठो नास्ति खपुस्तके । ४२३४. शब्दाभिव्यक्तिप्रकारेण । ४२३५.

सांख्यानाम् । ४२३६. घटादिर्यतः प्रागपि सन् । ४२३७. वक्ष्यमाणेऽर्थे । ४२३८. भेदकारणम् । ४२३९. शब्दस्य । ४२४०. न घटस्य व्यञ्जकाः, किन्तु कारका एवेति । ४२४१. चक्रादयः । ४२४२. किन्तु व्यञ्जका एवेति । ४२४३. न प्रकाशयति । किन्तु कारणं भवति । ४२४४. शब्दः । ४२४५. व्यङ्ग्यत्वाभावलक्षणः । ४२४६. वर्णानां सर्वगतत्वस्य । ४२४७. घटादौ । ४२४८. सतो घटस्य ।

४२४९. सांख्यमतमाश्रित्य मीमांसकोक्तिरियम् । ४२५०. न केवलं कारणकार्येष्वेव । ४२५१. चोद्यः प्रश्नः । ४२५२. भ्रमणादीनाम् । ४२५३. अनिष्टापत्त्या कारणव्यापारकारणनिराकरणेन । ४२५४. भ्रमणादीनामुत्पादने । ४२५५. उत्पादनपक्षे एव । ४२५६. अभिव्यक्तिपक्षे नानवस्थेत्यर्थः । ४२५७. तस्य कारणस्य । ४२५८. व्यापाराभिव्यक्तिसिद्धेः । ४२५९. कारणेभ्यो भेदैकान्ते । ४२६०. व्यापारवतः कारणस्य । ४२६१. व्यापारमात्रेण । ४२६२. कारणानाम् । ४२६३. स्थितिः । ४२६४. कारणात् । चित्रेभ्य इत्यनेनान्वयः । ४२६५. व्यापारवतः कारणस्य । ४२६६. अभिव्यक्तिवांश्चासौ प्रसङ्गश्चेति तथोक्तः । ४२६७. सांख्योऽतिप्रसङ्गं निराकुर्वन्निवार्यते जैनेन । ४२६८. व्यापाराभिन्नानि कारणानि । ४२६९. एतेन कारणव्यापारनिराकरणेन । ४२७०. तर्ह्यनवस्था स्यादित्यर्थः । ४२७१. कारणव्यापाराणां भेदैकान्ते । ४२७२. व्यापारेभ्य एवम् । ४२७३. अभिव्यक्तिवान् प्रसङ्ग इत्यर्थः । ४२७४. बहुधानकस्य (प्रधानस्य) परिणामाः पर्यायाः । ४२७५. प्रधानादभिन्नानाम् । ४२७६. (सर्वदा सत्त्वात्) । ४२७७. वक्ष्यमाणप्रकारेण । ४२७८. प्रधानस्य । ४२७९. ते परिणामाः कार्यं यस्य प्रधानस्य तत् । ४२८०. प्राक्तनं विकल्पजालम् । ४२८१. अनवस्थां विवृणोति । ४२८२. प्रधानस्य । ४२८३. प्रधानकृताः । ४२८४. उपकारवतः प्रधानस्य । ४२८५. परिणामकृतैः । ४२८६. परस्परमुपकारेणीत्यर्थः । ४२८७. यावत्प्रकाराः परिणामास्तावत्प्रकारान् । ४२८८. अनवस्थायाः । ४२८९. भोग्यस्य प्रकृतेः । ४२९०. पुरुषाभावः ।

४२९१. पुरुषस्य । ४२९२. भोक्तृत्वलक्षणत्वात् । ४२९३. पृथिव्यादिवत् । ४२९४. द्रव्यस्यापाद्यते इति तथेत्यादि पाठान्तरम् । ४२९५. घटस्य । ४२९६. व्यञ्जकं, चक्रदण्डादि । ४२९७. (आविर्भावः) । ४२९८. चक्रादिभिः । ४२९९. आविर्भावादभिन्नः । ४३००. आविर्भावस्य । ४३०१. तद्रूपमुपलम्भरूपम् । ४३०२. आविर्भावस्य । ४३०३. सांख्यैः । ४३०४. न तु व्यङ्ग्यम् । ४३०५. कार्यमेव, न तु व्यङ्ग्यम् । ४३०६. नन्वात्मलाभ एव घटादेर्नास्तीत्युक्ते आह जैनः । ४३०७. शशविषाणस्योपलम्भप्रसङ्गात् । ४३०८. घटादिकम् । ४३०९. तिरोभावः । ४३१०. द्रव्यरूपेणेव पर्यायरूपेणापि । मीमांसकमते शब्दो द्रव्यम् ।

४३११. प्रागभावानभ्युपगमप्रकारेण । ४३१२. शब्दस्य । ४३१३. केन कृतम् । ४३१४. आवरणस्वरूपं (कर्तृ) श्रवणस्वरूपं खण्डयदखण्डयद्वेति विकल्प्य दूषयति जैनः । ४३१५. यथा वायोः । ४३१६. आवारकस्य । ४३१७. श्रावणत्वाश्रावणत्वरूपेण । ४३१८. सर्वथा तयोरभेदात् । ४३१९. मीमांसकस्य । ४३२०. न केवलं शब्दस्यैव वायुना । ४३२१. घटे । ४३२२. ननु तमो यदि घटादेर्दृश्यस्वभावं खण्डयति तर्हि पश्चात्कथं दीपेन दृश्यते इति शङ्कां निराचष्टे भावान्तरस्वभावत्वादभावस्येति । ४३२३. श्रावणत्वरूपेण । ४३२४. सहकारि, ताल्वादि । ४३२५. सहकारिवैकल्ये । ४३२६. स्वः शब्दो विषयो यस्याः संवित्तेः । ४३२७. समर्थपक्षे । ४३२८. कारणान्तरं ताल्वादि । ४३२९. शब्दस्य । ४३३०. अपितु न स्यादेव । ४३३१. शब्दस्य तत्सामर्थ्येन सह भेदे सति शब्दस्येदमसामर्थ्यमिति व्यपदेशो न स्यात् । ४३३२. प्रधानतत्परिणामव्यतिरेकपक्षवत् । ४३३३. प्रधानतत्परिणामाभ्याम् । ४३३४. तस्य उपकारस्य । ४३३५. नित्याः सर्वगताः । ४३३६. मीमांसकेन ।

४३३७. पूर्वं गकारः, गकारानन्तरमेव चौकार इति नियमो, न तु हेलया । ४३३८. श्रोत्रेणैव शब्दो गृह्यते इति समानं कारणं श्रोत्ररूपं येषां ते, तेषाम् । ४३३९. नित्यसर्वगतानाम् । ४३४०. शब्दानाम् । ४३३९. संकीर्णा । ४३४२. संकीर्णं श्रवणमेव दर्शयति । ४३४३. एकवर्णाभिव्यक्तौ । ४३४४. शब्दानाम् । ४३४५. हे मीमांसक यथा चित्ररूपग्रहणे नीलादिवर्णान् युगपद् गृह्णाति जनस्तद्वत् । ४३४६. हेत्वन्तरमिदम् । ४३४७. वर्णत्वेनैकात्मकत्वं व्यक्ताव्यक्तरूपेणानेकात्मकत्वम् । ४३४८. खण्डशो नाभिव्यक्तिः किन्तु सर्वात्मनेत्युक्तावाह जैनः । ४३४९. सर्वदेशवर्तिनः प्रति सर्वदेशव्यापकत्वेन हेतुना, सर्वकालवर्तिनस्तु प्रति नित्यत्वहेतुनाभिव्यक्तिः स्यात् । ४३५०.

समानोपादानकारणत्वादेव । ४३५१. जैनानामुत्पत्तिपक्षेऽपि । ४३५२. इति मीमांसकेन दत्तं दूषणं जैनाः परिहरन्ति । ४३५३. शब्दकारणकार्ययोः (बसः) । ४३५४. शब्दलक्षणपर्यायवतां पुद्गलानाम् । ४३५५. सप्तमी । ४३५६. जैनाः । ४३५७. तौ विवक्षितां देशकालौ । ४३५८. इन्द्रियाणि सहकारीणि । ४३५९. शब्दोत्पत्तौ वक्तृविज्ञानं सहकारिकारणम् । ४३६०. ननु कारणस्य क्रम एव नास्तीति कार्यं कथमनुकुर्यादित्युक्ते प्राह जैनः । ४३६१. क्रमोत्पत्तिप्रकारेण । ४३६२. प्रमाणरूपस्य । ४३६३. तासः (षष्ठीतत्पुरुषः) । ४३६४. प्रमाणं श्रोतृविज्ञानं तत्फलं च शब्दस्य प्रमितिः । ४३६५. ननु प्रमाणस्य क्रम एव नास्ति तत्कथं तं प्रमितिरनुविधत्ते इत्याह । ४३६६. आत्मानमिति कपाठः, खपाठस्तु आत्मनामिति । ४३६७. वर्णानामुत्पत्तिप्रतिपत्त्योः सम्बन्धी क्रमः ।

४३६८. अङ्गहारोद्भवविशेषः । ४३६९. अङ्गहारादिषु विरुद्धत्वप्रकारेण । ४३७०. प्रत्यभिज्ञानादिति ४३७१. हेतोः । ४३७२. जैनग्रन्थे । ४३७३. सैवेयं क्रिया तत्क्रिया तस्य एकत्वं नित्यता तस्मिन् । ४३७४. अनित्यम् । ४३७५. (कर्मणो नित्यत्वे दोषमापाद्य बुद्ध्येकत्वे दोषमुदीपयति) । ४३७६. न किञ्चिदनेकमिति प्रतिपन्नत्वे सति । ४३७७. नानात्वम् । ४३७८. पयोभृतकुण्डादिव्यञ्जकभेदाच्चन्द्रस्य नानात्वं यथा । ४३७९. वर्णैकत्वे । ४३८०. क्रियैकत्वे । ४३८१. हेतोः । ४३८२. मीमांसकस्य । ४३८३. प्रत्यक्षविरोधात् । ४३८४. तत् तस्मात् । प्रत्यभिज्ञानरूपो हेतुर्व्यभिचारी यत इत्यर्थः । ४३८५. अकारादिवर्णः । ४३८६. अश्रावणत्वस्वभावम् । ४३८७. नित्यत्वनिराकरणात् । ४३८८. एकघटेन व्यभिचारपरिहारार्थं युगपत्पदोपादानम् । ४३८९. उदात्तादिः स्वभावः । ४३९०. यथा घटो नैको, युगपद्भिन्नदेशस्वभावोपलब्धेः । ४३९१. अनेकपुरुषापेक्षया । ४३९२. गोपालघटिकादौ धूमवत्त्वस्य भ्रान्तत्वेन व्यभिचारदर्शनात् पर्वतधूमस्यापि व्यभिचारदर्शनप्रसङ्गात् । ४३९३. सर्वदा बाधकाभावश्च स्याद् भ्रान्तत्वं च स्यादिति संदिग्धतां परिहृत्वाह । ४३९४. मन्त्रा (उदात्ता) तारा (अनुदात्ता) च श्रुतिर्यस्य स तस्य, शब्दस्य । ४३९५. नित्यत्वे । ४३९६. प्रत्यभिज्ञानात् । ४३९७. एकत्वमस्तु ४३९८. सद्रूपापेक्षया । ४३९९. घटादौ ।

४४००. युगपत्प्रतिनियतदेशमन्त्रतारश्रुतेरभिव्यञ्जकहेतुत्वान्न ततः शब्दस्यानेकत्वसिद्धिरित्याशङ्क्यामामुहस्तच्छेषेति । तस्माद्गुणत्वाच्छेषोऽन्यो भिन्नदेशस्वभावलक्षणः । स चासौ विशेषश्च । तद्ग्रहादिका बुद्धिः । ४४०१. समर्थनायाम् । ४४०२. शब्दवदङ्गहारादि । ४४०३. जैनाः । ४४०४. एकनित्याङ्गहारादेरपि हस्तपादादयोभिव्यञ्जका इति । ४४०५. नियमस्य । ४४०६. वर्णानामनेकत्वं सिद्धं यतः । ४४०७. शब्दरूपतया परिणमनयोग्यानाम् । ४४०८. श्रोत्रग्रहणयोग्यपर्यायः । ४४०९. प्रयत्नान्तरे भवः । ४४१०. नैयायिकः । ४४११. शब्दस्य स्पर्शादिमत्त्वाभावे । ४४१२. हेतोः । ४४१३. हेतुद्रयात् । ४४१४. वचन मुद्रितप्रती पाठः । ४४१५. स्वविसर्पणमर्यादामुल्लङ्घ्याप्रेषि । ४४१६. पवनप्रेरितानाम् । ४४१७. गन्धद्रव्यं कस्तूरिकादि । ४४१८. शब्दपरमाणूनां शब्दस्कन्धपरिणतत्वादेव । ४४१९. (विकीर्णता) । ४४२०. शब्दपरमाणूनां स्कन्धपरिणामत्वमसिद्धमित्युक्ते आह जैनः । ४४२१. बन्धगुणत्वात् । ४४२२. भित्त्यादिना ।

४४२३. “परि” शब्दः मुद्रितप्रती नास्ति । ४४२४. पूर्वोक्तप्रकारेण । ४४२५. (प्रत्युत्तरतया) । ४४२६. गृहे वातायनजालिकादिरहितत्वं प्रतिपातहेतुः । ४४२७. भवनादिनोपघातो यस्य । ४४२८. एकस्मिन्पुरुषे सोल्लुण्ठनं पठ्यमानेन्यस्य शनैः पठ्यमानस्य । ४४२९. अप्यन्तरे । ४४३०. ‘वेदना’ मुद्रितप्रती । ४४३१. तस्य, निश्छिद्रभवनाभिर्गमनस्य तत्र प्रवेशस्य च । ४४३२. बहिर्निर्गमने स्नेहादिर्दृष्टान्तः स्पर्शादिस्तु अन्तःप्रवेशे ज्ञेयः । ४४३३. पुद्गलस्वभावो यदि बहिर्निर्गमनमन्तःप्रवेशं च न कुर्यात्तदा । ४४३४. शब्दस्य । ४४३५. विरोधात् । पौद्गलिकः शब्दः कियत्कालं तिष्ठतीति प्रश्ने प्राहेदं जैनः । ४४३६. यत्नस्तात्वादिः । ४४३७. श्रावणवर्तमानस्वभाव इत्यर्थः । ४४३८. यावच्छ्रावणस्वभावः । ४४३९. कालकला समयः । ४४४०. तात्वादिजनितवर्णादयः स्वरूपं यस्य । ४४४१. तस्य शब्दस्य ।

४४४२. स्वाकारः शब्दाकारः । ४४४३. कौटस्थस्य । ४४४४. (कौटस्थस्य च क्रमयौगपद्याभावेन व्याप्तत्वात्, यतस्तत्र कौटस्थ्ये तस्य क्रमयौगपद्यस्य विरोधोस्ति, कथञ्चिदनित्यस्यैव क्रमयौगपद्येन व्याप्तत्वात्)

४४४५. क्रमयौगपद्याभावस्य । ४४४६. व्याप्तत्वात् । ४४४७. स्वाकारज्ञानाद्यर्थक्रियाव्यावर्तनस्य । ४४४८. व्याप्तत्वात् । ४४४९. मीमांसकस्य । ४४५०. शब्दनित्यत्वनिराकरणप्रबन्धेन । ४४५१. बौद्धसांख्यादीनाम् । ४४५२. इष्टं तत्त्वम् । ४४५३. अन्यापोह इतरेतराभावः । ४४५४. निहवे । ४४५५. अन्यत्र समवाये इति कोर्थः ? अत्यन्ताभावनिहवे । अन्यत्र प्रधाने चैतन्यस्य समवायेङ्गीक्रियमाणे चेतनोयमचेतनोयमिति तदेकमिष्टं तत्त्वं सर्वथा भेदेन न व्यपदिश्येत । ४४५६. स्वस्य चैतन्यस्य समवायोस्तीति समवाय्यात्मा । तस्मात् । ४४५७. प्रधानादौ । ४४५८. अनिष्टात्मना । ४४५९. स्वरूपेण । ४४६०. यत एकत्रापरस्यात्यन्ताभावो व्यतिक्रान्तः । ४४६१. यथा वर्तमाने घटस्वभावात्पटस्वभावस्य व्यावृत्तिः । ४४६२. स्वस्वभावव्यावृत्तेः । ४४६३. स्वस्वभावस्य व्यावृत्तौ घटादेर्निरुपाख्यत्वं स्याद्यतः । ४४६४. तथापीति खपुस्तकपाठः । ४४६५. प्रागभावप्रध्वंसाभावरूपयोः । ४४६६. कार्यद्रव्यस्य । ४४६७. पूर्वोत्तरपरिणामव्यावृत्तेः (न चेतरेतराभावे व्यावृत्तिवैशिष्ट्यं संभवति) ।

४४६८. पूर्वोक्तं व्यावृत्तिवैशिष्ट्यं विवृणोति । ४४६९. (इतरेतराभावरूपयोर्जलानलयोर्मध्ये) । ४४७०. जलसत्त्वे । ४४७१. अनलस्य । ४४७२. इति प्राक्प्रध्वंसाभावलक्षणाभावाज्जलानलयोरितरेतराभावरूपतैव, न प्राक्प्रध्वंसाभावरूपता) । ४४७३. अन्धकारसद्भावे । ४४७४. तस्य रूपज्ञानस्य । ४४७५. एतल्लक्षणस्य । ४४७६. तस्मिन्, पटस्य घटत्वपरिणामे विरोधाभावात् । ४४७७. इन्दुकान्तात्मकपृथिव्याः सकाशादपामुत्पत्तिदर्शनात्, अद्भ्यो मुक्ताफलादिरूपपृथिव्या उत्पत्तिदर्शनात्, सूर्यकान्ताख्यपृथिव्या अग्रेरुत्पत्तिदर्शनात्, अग्नितो वाऽञ्जनादिपृथिव्युत्पत्तिदर्शनात् । ४४७८. तत्त्वान्तरत्त्वविरोधादित्यर्थः । ४४७९. सौगतः शङ्कते । ४४८०. किं वस्तु किमात्मकं किंस्वरूपं स्यात्) । ४४८१. ता । ४४८२. नीलाद्याकारात् । ४४८३. नीलादिविशेषाकारतया । ४४८४. द्वैतापत्तिः । ४४८५. सर्वथा भेदे । ४४८६. उपकार्योपकारकभावसम्बन्धमन्तरा समवायादिसम्बन्धान्तरस्याभावात् । ४४८७. वृत्तिं विवृण्वन्नभेदपक्षं दूषयति) । ग्राह्याकारविषये । ४४८८. ग्राहकाकारस्याभावे । ४४८९. ग्राह्याकारस्य । ४४९०. (ग्राह्याकाराभावे संविदोप्यभाव इत्युपरिष्ठाज्ज्ञेयमत्र । अत्रैव हेतुमाह कस्यचिदित्यादि) । ४४९१. ग्राह्यः । ४४९२. फलरूपाया बुद्धेः । ४४९३. ग्राहकः । ४४९४. तस्या बुद्धेर्ग्राहकोऽपरोनुभवो नास्ति । एतेन बुद्धेर्ग्राह्याकारो निरस्तः । ४४९५. निर्विकल्पसंवित् । ४४९६. यसः ।

४४९७. (संविद्याकारः संवित्, न संवेद्याकारः संविदिति संवेद्याकारात्स्वभावान्तरात्स्वभावरूपस्य संविद्याकारस्य व्यावृत्तिः सिद्धा) । ४४९८. तत् स्वभावान्तरात्स्वभावव्यावृत्तिरिति लक्षणं यस्य । ४४९९. यौगाचारस्य । ४५००. विषयस्य निर्भासो विषयनिर्भासः । शबलो विषयनिर्भासो यस्मिन् । चित्रज्ञाने इत्यर्थः । ४५०१. ज्ञानाकाराणाम् । ४५०२. लोहितादीनां मध्ये एकस्य चित्रज्ञानव्यपदेशो नास्ति यथा । विषयिणमपेक्षायं दृष्टान्तः । ४५०३. चित्रज्ञानालम्बनस्य । ४५०४. विषयापेक्षोयं दृष्टान्तः । ४५०५. प्रतिभासासंभवादिति हेतोः सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं परिहरति । ४५०६. प्रत्यक्षस्य । ४५०७. ज्ञानगतानां पदार्थानां परस्परं भेदप्रकारेण । ४५०८. ज्ञानाकारेभ्यः । ४५०९. चित्रघटादिविषयवत् चित्रज्ञानस्य । ४५१०. लोहितादिभ्यः । ४५११. अस्त्यर्थे वत्प्रत्ययः । नीलादिवत्चित्रपटादेरेकस्य वेदनमित्यर्थः) ४५१२. एकानेकस्वभावत्वादिति । ४५१३. न केवलं भिन्नप्रतिभासानां किन्तु तस्य तद्वद्वेदनस्य बहिर्द्रव्यस्यापि च । ४५१४. अबाधितप्रतीतिसिद्धत्वेपि न तद्वद्वेदनं बहिर्द्रव्यं वेति वक्तुं शक्यं यदि ४५१५. अनेकस्वभावं घटादिद्रव्यमेव नेतरे रूपादयस्तद्व्यतिरिक्ता इति दृष्टान्तेन । ४५१६. द्रव्यचित्रज्ञानयोः । ४५१७. दूरासन्नानां नराणाम् । ४५१८. चक्षुराद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात् । ४५१९. नाना पुरुषापेक्षया । ४५२०. वा, अथवा प्रतिपुरुषा विषयस्वभावभेदः संपद्यते । ४५२१. इत्युक्ते च जैनाभिमतमेवायातम् । ४५२२. प्रदेशे । ४५२३. वृक्षादौ । ४५२४. विशदाविशदत्वलक्षणः । ४५२५. निर्भासस्वभावयोः । ४५२६. एकान्तो नियमः । ४५२७. चित्रज्ञानस्य चित्रपटादेर्वा । ४५२८. आत्मादेः । ४५२९. सम्बन्ध्यन्तरं स्रग्वनितादि ।

४५३०. भिन्नकारणानि सुखादीनि । ४५३१. हेतोः । ४५३२. वृक्षादौ । ४५३३. 'समान' मुद्रितप्रती पाठः । समाना करणसामग्री । ४५३४. यतः कार्यभेदात्कारणभेद इत्युक्तं, प्रतिभासभेदात्स्वभावभेद इति च । ४५३५. सहाकारिकारणानि । ४५३६. युगपद्यथा दीपादौ तैलशोषणवर्तिकादाहकज्जलमोचनान्धकारनाशनार्थप्रकाशनाद

स्वभावभेदाः परस्परव्यावृत्ताः । क्रमेण यथा घटादौ रूपादयः स्वभावभेदाः । एवं सत्यन्यापोहः समायातः । ४५३७. अन्यथेति शेषः । ४५३८. द्वयप्रत्यासत्तिलक्षणसम्बन्धं दर्शयति । ४५३९. अविष्वग्भावः कथञ्चित्तादात्म्यलक्षणः । ४५४०. गुणपर्याययोः । ४५४१. असत्त्वापत्तिप्रकरणे । ४५४२. तस्य चक्षुषः । ४५४३. मयि चक्षुरस्ति, रूपज्ञानसद्भावादिति । ४५४४. चक्षुषः । ४५४५. चक्षूरूपयोः । ४५४६. वेद्याद्याकारेण “मुद्रितप्रती” पाठः । ४५४७. वेद्यवेदनयोः । ४५४८. तयोर्वेद्यवेदनयोः । ४५४९. संवेदनतद्देद्याकारयोः । ४५५०. ग्राह्याद्याकारस्य ।

४५५१. संविदाकारस्य । ४५५२. वेद्याकारेण सह संबन्धानङ्गीकारे । ४५५३. संविदो निराकारतोपगमेपि वेद्याकारभावसंबन्धानभ्युपगमे वेद्याकारात्मता स्यात् तच्च परस्परं विरुद्धम् । तथाहि—वेद्याकारपरतन्त्रता स्याद्वेद्याकाराभावपरतन्त्रता वा । उभयपारतन्त्र्याभावस्तु विरुद्ध एव । एवमग्रेपि परस्परविरोधो दर्शितः । ४५५४. वस्त्वाश्रयरहितस्य संबन्धाभावस्य । ४५५५. तस्य संबन्धाभावस्य । ४५५६. सौत्रान्तिको वैभाषिको वा । ४५५७. गुणगुण्यादिषु । ४५५८. अपि तु भवत्येव परतन्त्रः, अज्ञानाधीन इत्यर्थः । ४५५९. ननु च कार्यकारणभाव एव नेष्यते तर्हि कार्यात्मिनः कारणपरतन्त्रता कुत इत्युक्ते आह कुतश्चिदित्यादि । ४५६०. संबन्धो नास्ति तत्त्वत इति वचनात्संवृत्या संबन्धोभ्युपगम्यते एवेति वदन्तं सौगतं प्रत्याहुः । संवृत्या कल्पनया । ४५६१. कारणस्य कार्यात्मनि । ४५६२. सहकारिकारणापेक्षया । ४५६३. संवित्सन्तानादन्यन्तस्तानं संतानान्तरम् । ४५६४. चित्रपटादिरूपाः । ४५६५. ‘भवेयुः’ मुद्रितप्रती पाठः । ४५६६. सार्थाः समूहाः । ४५६७. कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणद्रव्यस्य । ४५६८. आत्मलाभः । ४५६९. कार्यस्वरूपेण । ४५७०. प्रतिक्षेपः कालविलम्बः । ४५७१. कारणान्तरस्य प्रतिक्षेपकारकस्य । ४५७२. येन कारणेन यत्कार्यं जायते तेनैव तत्कार्यं, न तु कारणान्तरेण । ४५७३. अर्थपर्यायतया । ४५७४. तस्य स्वभावान्तरस्य । ४५७५. स्वयमुत्पित्सोर्विनिश्चरस्य च स्वभावान्तरानपेक्षणकथनेन । ४५७६. स्वभावेन । ४५७७. उत्पत्तिविनाशस्थितिरूपेण परिणमतः । ४५७८. व्यञ्जनपर्याये । स्थूलो व्यञ्जनपर्यायो वागम्यो नश्वरः स्थिरः । सूक्ष्मः प्रतिक्षणध्वंसी पर्यायश्चाथैवसंज्ञकः । ४५७९. कारणान्तरानपेक्षत्वप्रकारेण । ४५८०. अर्थः । ४५८१. उत्पत्तिसुष्टेदुत्पद्यताम् । विनाशः कुत इत्याशङ्क्यामाहुः—पूर्वेति । ४५८२. पर्यायापेक्षयैव । ४५८३. द्रव्यापेक्षया । ४५८४. अश्वविषाणवत् । ४५८५. उत्पादादिधर्मसमन्वितस्यैव विनाशादिधर्मसमन्वितत्वं यतः । ४५८६. मोक्षशास्त्रस्य ।

४५८७. सौगतः । ४५८८. यत्सत्तदुत्पादव्ययग्राव्ययुक्तं भवतीति वचनात् । ४५८९. असत्त्वापत्तौ सत्यामित्यर्थः । ४५९०. सर्वस्य त्रैलक्षण्यसिद्धिः । ४५९१. स्थित्यादिमतः । ४५९२. अन्यस्वरूपद्रव्यापेक्षया । ४५९३. नाशसामर्थ्यात् । ४५९४. उत्पत्तिसामर्थ्यात् । ४५९५. अभेदपक्षेपि स्थित्यादीनां त्रिलक्षणत्वनिश्चयेन । ४५९६. पर्यायापेक्षया । ४५९७. भेदपक्षे प्रत्येकं त्रिलक्षणत्वप्रकारेण । ४५९८. तस्या अनवस्थायाः । ४५९९. द्रव्यस्वभावेन । ४६००. स्थित्यादिधर्मपेक्षणात् । ४६०१. स्थित्यादिमतो जीवादेः । ४६०२. एकैकक्षणे चरमचरं च वस्तु स्थितिजनननिरोधलक्षणं भवति, पूर्वोत्तरपर्यायेष्वविच्छिन्नान्वयसन्ततिसमन्वितत्वादिति समर्थनेन । ४६०३. जीवादेः । ४६०४. द्रव्यरूपेण । ४६०५. निरन्वये क्षणिकैकान्ते । ४६०६. नित्यैकान्तवत् । ४६०७. उपरमसिद्धिश्चेत् । ४६०८. वस्तुनः ।

४६०९. स्थित्यादीनां कालत्रयेपि स्थित्यादित्रयात्मकत्वरूपेण । ४६१०. भट्टकलङ्कदेवैः । ४६११. जीवादेः कालत्रयेपि स्थित्यादित्रयात्मकत्वाभावे । ४६१२. नवसु विकल्पेषु तावत्तिष्ठतीत्येतत् स्वकीयकालापेक्षया तिष्ठत्युत्पद्यते विनश्यति, स्वोत्तरकालापेक्षया तु स्थास्यत्युत्पत्त्यते विनश्यति, स्वपूर्वकालापेक्षया तु स्थितमुत्पन्नं विनष्टं चेति नव भेदाः । अवशिष्टेषु स्थित्यादिष्वष्टसु धर्मेषु चैवमेव द्रष्टव्यम् । ४६१३. ननु च धर्मिण एवं व्यवस्था स्याद्धर्माणां तु कथमित्याशङ्क्यामाह । ४६१४. प्रकारे धा प्रत्ययः । ४६१५. अशुद्धं व्यवहारनयापेक्षया विद्यमानभेदमशुद्धमिति भावः । ४६१६. प्रत्येकम् । ४६१७. शुद्धं संग्रहनयापेक्षया । अविद्यमानभेदं शुद्धमिति भावः । ४६१८. अविवक्षितभेदस्य शुद्धस्य सन्मात्रस्य द्रव्यत्वमेव नास्तीत्युक्ते आह जैनः । ४६१९. बसः । ४६२०. भावः । ४६२१. सत्त्वस्यैव द्रव्यत्वं प्रतिपादयति । ४६२२. सत्ता । ४६२३. पर्यायान्त्रति (द्रव्यं सत्त्वाक्षणीकमिति वचनात्) ४६२१. सत्त्वस्यैव द्रव्यत्वं प्रतिपादयति । ४६२२. सत्ता । ४६२३. पर्यायान्त्रति

गच्छति । ४६२४. सत् । ४६२५. निवासगत्यर्थकात्क्षरित्यस्माद्धातोः । भावा एव निवासं गच्छन्ति । ४६२६. भावे सत्तालक्षणे । ४६२७. सत्तैव । ४६२८. कल्यन्ते, पूर्वोत्तरपर्यायतया प्रवर्तन्ते, परिणामं गच्छन्तीति । ४६२९. भावात् । ४६३०. सत्तैव । ४६३१. सत्तैव । ४६३२. द्रव्यक्षेत्रकालभावात्मना सत्तैव विशेष्यते यतः, अथवा सन्मात्रमनन्तपर्यायं सिद्धं यतः । ४६३३. स्वाकुर्वन्ती । ४६३४. आदिपदेन स्थास्यत्यादीनां ग्रहणम् । ४६३५. जीवादीन् । ४६३६. निवासितान्कुर्वन्ती क्षेत्रं सतीत्यर्थः । कलयन्ती कालः सतीत्यर्थः । भवन्ती भावः सतीत्यर्थः । अत्राभेदविवक्षयेदं प्ररूपणं, सत्तैव विशिष्यते इत्यत्र तु भेदपरतया । उभयप्ररूपणं हि भेदः । ४६३७. (समयसारनाम्न्यध्यात्मग्रन्थे) । ४६३८. सकलपदार्थसंस्था । ४६३९. (न केवलं सत्ता तिष्ठति, किन्तु प्रतिपक्षेण असत्तया, अभावेन सहिता) । ४६४०. एका विशेषरहितस्वरूपापेक्षया । ४६४१. (द्रव्यार्थिकनयोपेक्षणात्) । ४६४२. जैनानाम् ।

४६४३. सांख्यानानाम् । ४६४४. जीवे । ४६४५. रूपादि । ४६४६. सत्यरूपेण । ४६४७. द्वौ नञौ प्रकृतार्थं सूचयतः । ततो वर्तते एवेत्यर्थः । ४६४८. सर्वं सर्वत्र विद्यते इति सांख्यसिद्धान्तात् । ४६४९. सर्वस्य स्वरूपस्य स्वरूपिणश्च स्वाश्रयमन्तरेणानुपलब्धिर्यतः । ४६५०. प्रधानम् । ४६५१. सत्यस्वरूपेण । ४६५२. स एव । ४६५३. आह बौद्धः । ४६५४. (बौद्धेन पृष्टे सति जैनः पृच्छति कथं च न स्यादिति) । ४६५५. (जैनेन पृष्टस्योत्तरं ददाति सौगतः) । ४६५६. यतोऽभावग्रहणं न भवतीत्यर्थः । ४६५७. प्रत्यक्षस्य । ४६५८. तत्कारणत्वमभावकारणत्वम् । ४६५९. तस्य अभावस्य प्रत्यक्षं प्रति कारणत्वे । ४६६०. अभावस्य । ४६६१. अनुमानं तद्ग्राहकं भविष्यतीत्युक्ते आह बौद्धः । ४६६२. अग्रिस्वलक्षणाद्धूमस्वलक्षणमुत्पद्यते । ततो धूमदर्शनम् । तस्माद्धूमविकल्पः । ततोग्न्यनुमानम् । इति परम्परया स्वकारणविषयत्वम् । ४६६३. तस्य अनुमानस्य कार्यानुमानत्वं कथं संभाव्यते इत्याह । अभावकारणं प्राप्यानुमानमुत्पद्यते तदा तदनुमानं कार्यानुमानम् । ४६६४. अभावस्य । काकाक्षगोलकन्यायेन अभावस्येति पदमुभयत्र संबध्यते । ४६६५. अनुपलब्धिलिङ्गोत्थानुमानमभावग्राहकमस्त्वित्याशङ्क्यामाह । ४६६६. अभावरूपलिङ्गाभावादित्यर्थः । ततश्चानुमानानुदय एव । ४६६७. नास्त्यत्र घटोऽनुपलब्धेरित्यनेनापि नाभावग्रहणम् । कुतः ? पर्युदासत्वतः । ४६६८. भूतले । ४६६९. अनुपलब्धिविषयः । ४६७०. भूतलस्य । ४६७१. घटादेः । ४६७२. यथेह भूतले घटो नास्ति, अनुपलब्धेरित्येवं भावस्य भूतलस्याभावस्य च घटाभावस्य प्रतिपत्तिर्भवति । ४६७३. बौद्धस्य । ४६७४. 'भावाभावस्या' मुद्रितप्रतौ पाठः । ४६७५. पञ्चमी । ४६७६. पूर्वोक्तप्रश्नम् । ४६७७. (प्रकृतपर्यनुयोगं कुर्याच्चेत्) । ४६७८. सर्वं स्वरूपेण भावस्वरूपं, पररूपेण त्वभावस्वरूपम् । ४६७९. निःश्रेणी पदानां बन्धाभ्यां दीर्घकाष्ठाभ्यामुभाभ्यां यथा । ४६८०. संबन्धात् । ४६८१. स्वरूपेणैव पररूपेणापि । ४६८२. अयं घट एवेति नियमायोगात् । ४६८३. नयप्रमाणरहिता ।

४६८४. यथा घटस्य पृथुबुध्नोदराकारस्वभावे व्यवस्था । ४६८५. तेषां ताथागतानाम् । अभावस्यापि प्रमेयतां प्रतिगच्छन्तं बौद्धं प्रत्याह जैनः । ४६८६. प्रत्यक्षानुमानयोर्भावग्राहकत्वं यतस्ततोऽभावग्राहकं प्रमाणमन्यद्विलोक्यते । ४६८७. अभावस्य तुच्छरूपस्य, न तु भावान्तरस्वभावस्य । ४६८८. प्रमाणं प्रत्यकारणत्वात् । ४६८९. अभावग्राहकत्वं प्रत्यक्षानुमानलक्षणस्य ज्ञानस्य । ४६९०. "अपि" मुद्रितप्रतौ नास्ति पाठः । ४६९१. प्रमाणद्वयनियमविघटनं कुत इत्युक्ते आह । ४६९२. तस्मात्रैरात्यादुत्पत्तिः प्रमाणोत्पत्तिः । ४६९३. नैरात्म्यस्य । ४६९४. प्रमाणनैरात्म्ययोः । ४६९५. प्रतिबन्धान्तरं चतुर्थं लिङ्गं यतः । लिङ्गत्रयं सर्वैरनुमतं, कारण-स्वभाव-अनुपलब्धिभेदात् । ४६९६. तयोः प्रमाणनैरात्म्ययोस्त्रितयसंबन्धाभावे । ४६९७. तस्मात् अभावात् । उत्पत्तिर्ज्ञानस्य । ४६९८. अर्थस्य संभवे एव प्रत्यक्षं भवति । ४६९९. भावरूपादर्थादुत्पत्तेः प्रत्यक्षेऽनुमाने वा । ४७००. साध्येन सह । ४७०१. गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् मानसं नास्तिताज्ञानमिति तत्सामग्री । ४७०२. 'तदेव' मुद्रितप्रतौ पाठः । ४७०३. प्रतिबन्धनियमं विघटयति । ४७०४. बौद्धेन ४७०५. माध्यमिकानाम् । ४७०६. बोधश्च वाक्यं च । ४७०७. स्वमतसाधनम् । परमतदूषणम् । ४७०८. एकत्वानेकत्वेन स्वभावेन । ४७०९. भावानाम् । ४७१०. तत्त्वं नैकं, घटपटादिरूपतया विचित्रप्रतिभासात् । न चानेकं

तद्ग्राहकप्रमाणाभावात् । ४७११. स्वार्थानुमानस्य । ४७१२. परार्थानुमानस्य । ४७१३. बौद्धेष्टस्य । ४७१४. स्वनमित्तम् । ४७१५. शिष्यप्रतिबोधार्थम् । ४७१६. बोधवाक्यरूपयोः । ४७१७. अन्तर्बहिस्तत्त्वस्य । ४७१८. ज्ञानज्ञेययोर्मध्ये । ४७१९. प्रयोगः, अनुमानरूपोत्र । ४७२०. नन्वेनेनानुमानेन न साध्यसिद्धिः, पक्षधर्मत्वादित्रयाभावादित्युक्ते बौद्धेनाह जैनः । ४७२१. रूपत्रयमन्तरेण साध्यसिद्धिं क्रमेण दर्शयति । ४७२२. साध्याभावे सतीति सप्तमी । ४७२३. अन्यथानुपपत्तिलक्षणादित्यर्थः ।

४७२४. बौद्धेन । ४७२५. शून्यवादिना । ४७२६. हे सौगत, तव मते प्रमाणात्वमस्ति न वेति पृष्ठः केनापि सौगतः प्राह, प्रमाणास्तित्वमस्ति, इष्टसाधनादिति । तत्राह स्याद्वादी । अत्र स्वरूपेणासिद्धधर्मिधर्मस्येष्टसाधनस्य हेतोः पक्षधर्मत्वरहिते प्रमाणास्तित्वे साध्ये समर्थनत्वमभ्युपगम्यते भवतेति पक्षधर्मत्वभावः । ४७२७. धर्मिणो धर्मो धर्मिधर्मः । असिद्धश्चासौ धर्मिधर्मश्च तस्य । प्रमाणं धर्मि । तस्य धर्म इष्टसाधनं न भवति, संविदद्वैतापेक्षया प्रमाणस्यैवाभावात् । ४७२८. मैत्रीतनयत्वादौ । ४७२९. त्रिलक्षणाभावाभावेपि । ४७३०. सौगतस्य । ४७३१. माध्यमिकस्य । ४७३२. न केवलं साधनसिद्धेः । ४७३३. वास्तवसिद्ध्यसंभवात् मुद्रितप्रतौ पाठः । ४७३४. अन्तर्बहिस्तत्त्वस्य । ४७३५. शून्यसाधनम् । ४७३६. ज्ञानस्य । ४७३७. कथं न संवृत्या साध्यसाधनव्यवस्थेत्यादिप्रकारेण समानं दूषणम् । ४७३८. तस्य नैरात्म्यज्ञानस्य । ४७३९. नैरात्म्यज्ञानस्य । ४७४०. तस्य बहिरन्तस्तत्त्वस्य । ४७४१. हेयमन्तर्बहिस्तत्त्वम् । उपादेयं नैरात्म्यम् । क्रियाविशेषणमिदम् । ४७४२. शून्यवादी । ४७४३. फूत्कारं करोति । ४७४४. हेयस्य निषेधः । उपादेयस्य च विधानम् । तयोरुपायस्य । ४७४५. संवृत्यास्तीति पदस्य । ४७४६. संवृतिरिति कोर्थः ? स्वरूपं, पररूपम्, उभयम्, अनुभयं वा ? इति विकल्पचतुष्टयं कृत्वा क्रमेण खण्डयति । ४७४७. जैनस्य । ४७४८. माध्यमिकः । ४७४९. धार्ष्ट्यम् । ४७५०. तिरस्कृतस्य । ४७५१. नैरात्म्यम् । ४७५२. सौगतेन । ४७५३. निश्चयप्रतिपत्तेः । ४७५४. संवृत्यास्तीत्यस्य ।

४७५५. स्वरूपेणास्तित्ववदेव । ४७५६. नत्वर्थे । ४७५७. एतदपि पररूपेण नास्तित्वमपि तादृगेवानुकूलमेव । ४७५८. ततस्मात् । एतेन स्वरूपपररूपाभ्यां सत्त्वासत्त्वप्रतिपादनेन । ४७५९. तृतीयो भङ्गः । ४७६०. अवक्तव्यम् । ४७६१. संवृत्यास्तीति पदस्य । ४७६२. हेयोपादेयज्ञानम् । ४७६३. संवृत्यात्मना । ४७६४. शून्यवादिमतम् । ४७६५. पुरुषस्य । ४७६६. शून्यवादिनः । ४७६७. प्रमाणादि तत्त्वम् । ४७६८. अनिर्णीते । ४७६९. विचाराभावात् । ४७७०. तेन विचारेण परप्रतिपादनं तत्परप्रतिपादनम् । ४७७१. शास्त्रमुपदिशन्नुपदेशारं वा वर्णयन्निति खपाठः । ४७७२. दिग्गाचार्यम् । ४७७३. गुरुशास्त्रादिकम् । ४७७४. सुगतस्य । ४७७५. क्रियाविशेषणमिदम् । ४७७६. वयमकलङ्कदेवास्तिष्ठामः । ४७७७. दिग्गागादयः । ४७७८. (बत खेदे) । ४७७९. कारणम् । ४७८०. विना । ४७८१. सुगतादेः । ४७८२. विभ्रमे । ४७८३. विभ्रमे विभ्रमे इति द्वितीयविकल्पे । ४७८४. विभ्रमः । (अपितु नैव) ।

४७८५. अयं श्लोको मुद्रितप्रतौ नोपलभ्यते । ४७८६. जलानलादौ सर्वभावे । ४७८७. आराधकत्वेन संसक्ताः । ४७८८. कारणम् । ४७८९. नैरात्म्यस्य । ४७९०. निरपेक्षभावाभावात्मकत्वम् । ४७९१. भाट्टस्य । ४७९२. स्वरूपेणैव पररूपेणापि । ४७९३. भाट्टः । ४७९४. (स्वाभ्युपेतं निरपेक्षभावाभावात्मकत्वं, तदितरं भावोऽभावो वा केवलम् । स्वाभ्युपेतस्य निरासः । इतरस्य विधानम्) । ४७९५. आत्मीयज्ञानात् । ४७९६. अनुमानात्परोपदेशरूपात् । ४७९७. कुतस्तथाहि । ४७९८. अभिन्नत्वेपि अननुप्रवेशाङ्गीकरणे । ४७९९. प्रत्यक्षादिप्रमाणाविरुद्धानेकात्मकवस्तुप्रतिपादकः श्रुतस्कन्धात्मकः स्याद्वादः । ४८००. कथञ्चिद्भावाभावात्मकस्यैव । ४८०१. सर्वथा भावैकान्ताऽभावैकान्तवत् ।

४८०२. भट्टनिराकरणप्रकारेण । ४८०३. प्रकृतिमहदाद्योः । ४८०४. विरोध इति पूर्वोक्तान्वयः । ४८०५. महदादीनामभिव्यक्तेः सकाशात् त्रैलोक्यमपैति तिरोभवतीत्यर्थः । ४८०६. नष्टमपि कथञ्चिन्नित्यम् । ४८०७. ब्रुवतः सांख्यस्येति पूर्वोक्तसम्बन्धः । ४८०८. महदादिना । ४८०९. प्रधानात्मना । ४८१०. महदादि । ४८११. प्रधानम् । ४८१२.

“तदवस्थानात्” मुद्रितप्रतौ पाठः । ४८१३. प्रधानात्मना नित्यत्वं, महदादिरूपेणानित्यत्वमिति । ४८१४. सौगतः । ४८१५. भावैकान्त-अभावैकान्त-उभयैकान्तेति । ४८१६. सौगतस्य । ४८१७. किञ्चिज्ज्ञात् । ४८१८. अनिराकरणात् । ४८१९. अवाच्यमिति वचनमन्तरेण । ४८२०. प्रत्यक्षस्य कल्पनापोहस्य । अविद्यमानस्य यदुदाहरणीकृतं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादि (ततो न भवदुक्तं समीचीनमित्यर्थः) । ४८२१. (असतः (असिद्धस्य) समुदाहरणं न युक्तं, किन्तु प्रसिद्धस्यैवेति दर्शयति) । ४८२२. सिद्धा साध्यस्य व्यवस्था यत्र । ४८२३. दृष्टान्तक्रमाः । ४८२४. नीलादिलक्षणस्य । ४८२५. अन्यापोहस्य । ४८२६. निर्दिश्यतेनेति निर्देशः शब्दः । ४८२७. आधेयतया । ४८२८. अर्थे । ४८२९. शब्दाः । ४८३०. अन्यापोहलक्षणम् । ४८३१. निर्देश्यत्वधर्मः । ४८३२. अथेत्यतः । ४८३३. शून्यं संविन्मात्रं न ज्ञेयं भवति ।

४८३४. स्वलक्षणे । ४८३५. शब्दः । ४८३६. स्वलक्षणोर्थः । ४८३७. अक्षज्ञाने । ४८३८. (विषयः, ततोऽज्ञेय इत्यर्थः) । ४८३९. ज्ञाने प्रतिभासमानेपि अर्थो धर्मो स्वयं न प्रकाशते अतदाधेयत्वादतदात्मधर्मत्वाद्वा, इत्यध्याहार्यम् । ४८४०. आधेयतया । ४८४१. कारणं समर्थं नाकारणं विषय इति वचनात् । ४८४२. स्वलक्षणोर्थः । ४८४३. करणमिन्द्रियम् । ४८४४. दर्शनस्य । ४८४५. चक्षुरादिशक्तेश्च सकाशाद्दृष्टेरुत्पत्तिः । ततश्च विषयवच्चक्षुरादिशक्तेरपि प्रतिभासः स्यात् । इति विषयज्ञानस्योत्पादादित्यस्य हेतोरनैकान्तिकतेति भावः । ४८४६. विषयश्चाधारो, ज्ञानमाधेयम् । ४८४७. करणस्य । ४८४८. अभ्युपगम्यमाने (सौगतेन) ४८४९. निर्विकल्पकस्य । ४८५०. विशेषाभावादित्यर्थः । ४८५१. अन्यथेति अध्याहार्यम् । ४८५२. (उपादानवत्) । ४८५३. आह सौगतः । ४८५४. तदुत्पत्तिताद्रूप्याविशेषेपीत्यर्थः । ४८५५. जैनः । ४८५६. पूर्वज्ञाने । न केवलमालम्बने एव । ४८५७. विकल्परूपनिश्चयः ४८५८. दर्शनं निर्विकल्पकज्ञानम् । ४८५९. विकल्पात्मकत्वे । ४८६०. निर्विकल्परूपं स्वलक्षणं नीलादि । ४८६१. सौगतः । ४८६२. निर्विकल्पकस्य । ४८६३. सविकल्पकस्य हेतुत्वात् । ४८६४. शब्दसंसर्गाभावात् । ४८६५. निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य । ४८६६. प्रत्यक्षस्य । ४८६७. नीलादिस्वलक्षणस्य । ४८६८. अध्यवसायस्य हेतुत्वकल्पनायामित्यर्थः । ४८६९. अध्यवसायं प्रति हेतुः ।

४८७०. स्वलक्षणात् । ४८७१. सौगतः । ४८७२. जातिक्रियागुणद्रव्यसंज्ञाः पञ्चैव कल्पनाः । ४८७३. स्वलक्षणात् । ४८७४. जात्यादिविषयत्वादेव विकल्पात्मकत्वं, न तु प्रत्यक्षादुत्पन्नत्वादित्यदोषः । ४८७५. निर्विकल्पकस्य । ४८७६. शब्देन । ४८७७. सविकल्पकस्य । ४८७८. वस्तु । ४८७९. जात्यादिना । ४८८०. सत् । ४८८१. विकल्पेन । ४८८२. तच्छब्देन विशेषणविशेष्यग्रहः । ४८८३. का नाम लौकिकी स्थितिः ? विशेषणं च तयोः सम्बन्ध इति लोकस्थितिः । ४८८४. संयोज्य । ४८८५. विकल्पज्ञानम् । ४८८६. विशेषणविशेष्यादिप्रकारेण । ४८८७. विकल्पः । ४८८८. प्रत्यक्षबलादुत्पन्नस्य विकल्पस्य । प्रत्यक्षस्य क्षणिकत्वात् सविकल्पमपि क्षणिकं तस्मादविचारकम् । ४८८९. वैभाषिकः सौत्रान्तिको वा । ४८९०. तदभावेऽप्यध्यवसायकल्पनायामित्यादि । ४८९१. भवदुक्तप्रकारेण । ४८९२. शब्दस्यार्थो जात्यादिविशिष्टस्तत्र विकल्पः । ४८९३. विकल्पात् । ४८९४. निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य । ४८९५. रूपादिरेव विषयो न तूपादानमिति । ४८९६. वासनाप्रभवाद्विकल्पान्निर्विकल्पकस्य विषयत्वनियमः सिध्यति चेत् । ४८९७. वसः । ४८९८. तर्हीति शेषः । इतो जैनो ब्रूते । ४८९९. उत्तराक्षबुद्धेर्निर्विकल्पकोपादानरूपपूर्वाक्षबुद्धिः (निर्विकल्पक-ज्ञान) विषयत्वानियमः । ४९००. (बौद्धेन) ४९०१. निर्विकल्पकस्य । ४९०२. सौगतः । ४९०३. निर्विकल्पकस्य रूपादिनियमविषयत्वाभ्युपगमे । ४९०४. (विकल्पबलात्, तद्वासनाबलाद्वा) । ४९०५. उत्तराक्षबुद्धेरूपादानरूपपूर्वाक्षबुद्धिविषयत्वनियमाभ्युपगमे । ४९०६. तदभ्युपगमवत् ।

४९०७. शब्देन । ४९०८. प्रत्यक्षबुद्धेरभिलापसंसर्गं विना । ४९०९. तेन उक्तानुमानेन । ४९१०. रूपादावभिलापसंसर्गोऽस्ति, रूपाद्युत्पन्नदर्शनेभिलापसंसर्गान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानेन । ४९११. क्षणिकतया ज्ञानकालेऽर्थ-स्याभावेऽपि ज्ञाने नीलाकारदर्शनादेव तद्विषयभूतं च नीलमेवेत्यनुमीयते यथा, तथा ज्ञाने शब्दाकारदर्शनादर्थोऽप्यनुमीयतामिति

भावः । ४९१२. नीलादिकम् । ४९१३. अभिलापसंसर्गमन्तरेण । ४९१४. तदभिधानेन । ४९१५. पूर्वदृष्टानामाऽयोजयन् । ४९१६. दृश्यमानम् । ४९१७. दृश्यमाननीलादौ । ४९१८. विकल्पश्चाभिधानं च । ते न विद्येते यत्र तत् । ४९१९. सौगतः । ४९२०. नाम संश्रयः कारणं यस्य स तस्य । ४९२१. नृणाम् । ४९२२. विकल्पाभिधानयोः । ४९२३. अध्यवसायो निश्चयः । ४९२४. निर्विकल्पकेन सविकल्पकग्रहणं चेत्तेनैव स्थिरस्थूलसाधारणाकारग्रहणं पूर्वमेव भवतु । ४९२५. निर्विकल्पकेन विषयीकृतम् । ४९२६. नामजात्यादियोजनासहितं न गृह्णाति यतः । ४९२७. विकल्पाभिधानसंभवे गृहीतस्याप्यगृहीतकल्पत्वे । ४९२८. दृश्यमानेन । ४९२९. तत्, पूर्वसंविदितं च संवेद्यमाननामविशेषश्चेति द्वन्द्वः । ४९३०. तयोः पूर्वसंविदितसंवेद्यमाननामविशेषयोः संस्कारौ, तयोः । ४९३१. नीलादि । ४९३२. अविकल्पाभिधानं जगदिति । ४९३३. दृश्यमानसदृशस्य । ४९३४. स्वमतविरोधं दर्शयति । ४९३५. स्मृतिरूपयोर्वर्तमानातीतयोर्विकल्पयोः । ४९३६. सह स्मृतिद्वयानभ्युपगमे हेतुमाह । ४९३७. दृश्यमाननामपूर्वदृष्टयोः । ४९३८. नीलमिति । न केवलं पूर्वदृष्टदृश्यमाननामविशेषयोरेव । ४९३९. स्वराणाम् । ४९४०. (युगपत्) । ४९४१. क्षणक्षयादावध्यवसायाभावे यथा स्मृतिर्न भवेत्, तदैव तस्य नाशात् । ४९४२. परस्परं भिन्नत्वेनाप्रतिपत्तेर्युगपदध्यवसायी यतः ।

४९४३. स्वलक्षणरूपस्य शब्दस्य अपरतद्वाचकशब्दविशेषस्य स्मृताविति भावः । ४९४४. अभिलापस्य । ४९४५. अभिलापस्य पदलक्षणस्य । ४९४६. शब्दरहितत्वेन । ४९४७. भवतु नाम केवलार्थव्यवसाय इति सौगतेनोक्ते जैनः प्राह । ४९४८. विकल्पैः । ४९४९. सौगतवचनस्य । ४९५०. त्यागे हेतुमाह । ४९५१. शब्दरहितार्थस्य । ४९५२. भवन्मते स्वलक्षणानामोऽभावे व्यवसायोऽस्तीति कृत्वा त्यागो मतस्य । ४९५३. प्रतिपादितदोषभयान्नामो व्यवसायावचने । ४९५४. नाम शब्दः, तदंशाः स्वरव्यञ्जनानि । ४९५५. नाम्नो योर्थस्तस्य । ४९५६. निर्विकल्पकज्ञानेन । ४९५७. निर्विकल्पकस्य सकलस्याभावेऽपि सविकल्पकमनुमानमस्तीत्याशङ्क्यामाह । ४९५८. जगतः । ४९५९. स्मृतावसत्यामिति प्रथमपक्षः । ४९६०. नामतदंशानां वर्णानां नामविशेषस्य स्मृतौ सत्यां व्यवसाय इति विकल्पः कक्षीक्रियते चेत् । ४९६१. तन्नामान्तरपरिकल्पनायामित्यत्र । ४९६२. अभिलापतदंशानामित्यादिः । ४९६३. सौगतः । ४९६४. शब्देन विना । ४९६५. विकल्पग्राह्यम् । ४९६६. अशब्दम् । ४९६७. सौगतः । ४९६८. सामान्यलक्षणस्वलक्षणयोः । ४९६९. अनर्थक्रियाकारि । ४९७०. प्रथमाद्विवचनम् ।

४९७१. विशेषोर्थक्रियाकारि, सामान्यमनर्थक्रियाकारीति तयोर्भेदे सति कथमभेदः प्रतिपाद्यते जनैरिति सौगतेनोक्ते सत्याह जैनः । ४९७२. पुरुषलिङ्गगोर्वाहः, स्त्रीरूपगोर्दोहादिः क्रिया । ४९७३. सामान्यरहितः । ४९७४. मिलित्वा उभयस्वरूपस्य । ४९७५. वाहदोहाद्यर्थक्रियायाम् । ४९७६. व्यापारात् । ४९७७. सामान्यस्वलक्षणयोः । ४९७८. शब्देन । ४९७९. जैनः । ४९८०. सामान्यविशेषात्मकस्य । ४९८१. तद्वत् सामान्यविशेषवत् । ४९८२. मुद्रितप्रती नस्ति । ४९८३. अलक्षणात् । मुद्रितप्रती पाठः । ४९८४. सामान्यविशेषात्मके जात्यन्तरे । ४९८५. उल्लेखेन विना घटमहमात्मना वेद्येति प्रत्ययात् । ४९८६. सामान्यविशेषयोरभेदो यतः । ४९८७. प्रमेयस्य श्रुतज्ञानपरिच्छेद्यत्वं कथमित्युक्ते आह । ४९८८. वस्तुनः । ४९८९. किञ्च । ४९९०. शब्दसंसर्गरहितत्वे । ४९९१. स्मृतेरागतम् । ४९९२. पूर्वमर्थदर्शनं पञ्चाच्छब्दयोजनम् । ४९९३. स्वोत्पत्तौ दृष्टसामान्यस्य व्यवसायः । अर्थादुत्पन्नं प्रत्यक्षं तमेवार्थं गृह्णातीति बौद्धमतम् । तत्र यदा स्मार्तं शब्दव्यवसाय इत्यादि । ४९९४. प्रत्यक्षग्राह्यार्थः । ४९९५. शब्दयोजनेन । ४९९६. तत् (तस्मात्) नीलत्वम् । ४९९७. नैयायिकानाम् । ४९९८. अर्थग्रहणव्यापारे ज्ञानोत्पादनलक्षणे । ४९९९. अर्थादुत्पन्नं प्रत्यक्षं तमेवार्थं गृह्णातीति बौद्धमतम् । तत्र यदा स्मार्तं शब्दव्यवसाय इत्यादि । ५०००. तन्नीलादि । ५००१. तदर्थभावेऽपि । ५००२. सविकल्पकस्याक्षज्ञानस्य । ५००३. सविकल्पकज्ञानम् । ५००४. सविकल्पकप्रत्यक्षेण गृहीतोर्थः ।

५००५. यथैव इत्यनेनान्वयः । सौगतेन । ५००६. निर्विकल्पकम् (कर्तृपदम्) । ५००७. सविकल्पकोत्पत्तौ । ५००८. सविकल्पकः । ५००९. इन्द्रियज्ञानाभावे । ५०१०. निर्विकल्पके ज्ञाने सत्यपि ।

५०११. निर्विकल्पकप्रत्यक्षादुत्पन्नः । ५०१२. निर्विकल्पकम् । ५०१३. जैनैः । ५०१४. अर्थोपयोगेपीत्यादिकारिकायामुक्तेन । ५०१५. अर्थोपयोगेपीति श्लोके । ५०१६. धर्मकीर्तिरेको बौद्धगुरुः । ५०१७. स्मार्तशब्दानुयोजनात्पूर्वम् । ५०१८. अर्थशब्देन निर्विकल्पकम् । ५०१९. सविकल्पकस्य । ५०२०. निर्विकल्पकस्य । ५०२१. उपयोग इन्द्रियज्ञानव्यापारः । ५०२२. अक्षज्ञानम् । ५०२३. न पुनर्ज्ञानोपयोगेपीति कारिकाया जैनोक्तायाः । ५०२४. कारणेन । ५०२५. हे सौगत ! यथा शब्दाद्वैतवादिनो भवता दूषणं दत्तं तथा तवापीत्याह । ५०२६. उपयोगः सामान्यव्यवसायः । ५०२७. "व्यपायेपि" मुद्रितप्रतौ पाठः । ५०२८. उत्तरकालेऽपि । ५०२९. निर्विकल्पकबोधः । ५०३०. निर्विकल्पकज्ञानाभावेपि । ५०३१. विकल्पः । ५०३२. मुद्रितप्रतौ 'च' नास्ति । ५०३३. स्वी नीलस्वलक्षणोर्थः । ५०३४. द्वन्द्वः । ५०३५. उपादानभूतपूर्वक्षणज्ञानजन्म । ५०३६. सारूप्यं च निर्विकल्पकज्ञानात् । ५०३७. स्वविषयस्याध्यवसायो निश्चयः । ५०३८. स्वलक्षणस्य ।

५०३९. 'सामान्ये' मुद्रितप्रतौ पाठः । ५०४०. निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् । ५०४१. तस्य निर्विकल्पकस्य पश्चाद्भाविनः । ५०४२. प्रत्यभिज्ञानस्य । ५०४३. अतिप्रसङ्गं वक्ति । ५०४४. देशकालस्वभावभेदात्त्रयो विप्रकर्षाः । ५०४५. सामान्यस्मृतिनिमित्तं शब्दस्मृतिरपि नोपपद्यते इत्याह । ५०४६. वाच्यवाचकलक्षणस्य । ५०४७. स्याद्वादिभिस्तु स्वाभाविकोभ्युपगम्यते । ५०४८. सौगतः । ५०४९. सामान्यार्थेन नीलादिना सह । ५०५०. शब्दस्य, चकारादिकल्पस्य दृश्येन (अर्थेन) स्वलक्षणेनैकत्वाध्यवसायोस्ति । ५०५१. प्रमाणात् । ५०५२. यतो दृश्यं (स्वलक्षणरूपं) क्षणिकं, सामान्यं कियत्कालस्थायि । ५०५३. स्मृतिभावताध्यवसायस्यातनिरस्यति । ५०५४. निर्विकल्पज्ञानस्य । ५०५५. नीलादिग्राहकत्वप्रकारेण, न तु स्वलक्षणग्राहकत्वप्रकारेण । ५०५६. वर्तमानकालदृष्टेन सजातीयं पूर्वदृष्टम् । तत्र स्मृतिर्न स्यात् । ५०५७. दानं च हिंसाविरतिश्चेति द्वन्द्वः । ५०५८. व्यवसायात्मकत्वाभावे स्वर्गादिफलजननसामर्थ्ये क्षणक्षयादौ वा स्मृतिर्न यथा । ५०५९. यथाऽव्यवसायात्मनोक्षज्ञानात्समनन्तरप्रत्ययाद् व्यवसायात्मनो विकल्पस्योत्पत्तिर्न । ५०६०. न व्यवसायात्मकं मानसप्रत्यक्षं तथापि जात्यादिविषयकमिति सौगतेनोक्ते जैनः प्राह । ५०६१. पञ्चमी । ५०६२. व्यवसायात्मनो मानसप्रत्यक्षस्य । ५०६३. सौगतेन । ५०६४. तेन स्वयं व्यवसायात्मलक्षणेनाक्षज्ञानेन नीलादेरर्थगतक्षणक्षयलक्षणार्थस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपि व्यवसाय इन्द्रियज्ञानस्य, तथा नास्ति लोके । ५०६५. निरंशत्वेनाभेदात् । ५०६६. तेन मानसप्रत्यक्षेण स्वयं व्यवसायात्मना नीलादेर्व्यवसाये तत्क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपीत्यादिहेतोः । ५०६७. मानसप्रत्यक्षस्य । ५०६८. (आदिपदेन स्वर्गप्रापणशक्त्यादिग्राह्यः) । ५०६९. (क्षणक्षयस्वर्गः) । ५०७०. क्षणक्षयाद्यविषयत्वात् । ५०७१. (तदव्यवसायित्वम्) । ५०७२. अक्षज्ञानस्यापि नीलादिविषयत्वे क्षणक्षयाद्यविषयत्वे सति । तन्मते नीलादेः सकाशात्क्षणक्षयो भिन्नो न भवति, तस्य तत्त्वभावत्वात् । ५०७३. कूटे प्रतीयमानेऽप्यप्रतीयमानः पिशाचस्ततोऽन्यो यथा ।

५०७४. इन्द्रियमानसप्रत्यक्षयोः । ५०७५. नीलादिग्राहकत्वप्रकारेण, न स्वलक्षणग्राहकत्वप्रकारेण । इति सति कथञ्चिदक्षज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वम् । ५०७६. मानसप्रत्यक्षप्रयोजनस्य । ५०७७. सविकल्पकप्रत्यक्षज्ञानवादिनाम् । ५०७८. प्रतिवाद्याद्युपन्यस्तसकलवर्णपदादीनामभ्यासादिकमन्तरेण यथा स्मृतेरनुपपत्तिः । ५०७९. अभ्यासाद्यभावे एव । ५०८०. प्रज्ञाकरः । ५०८१. निरंशस्य । ५०८२. नीलादौ । ५०८३. क्षणक्षयेऽनभ्यासादीनाम् । ५०८४. सौगतः (प्रज्ञाकरः) । ५०८५. प्रत्यक्षेऽभ्यासादयः सन्ति, अनभ्यासादीनां व्यावृत्तेः । ततोऽन्योनभ्यासादिः । ५०८६. प्रत्यक्षे । ५०८७. अभ्यासादियोगः । ५०८८. प्रत्यक्षस्य । ५०८९. न शीतस्वभावो यस्य सोतत्स्वभाव, शीतादन्यदशीतत्वं तस्य तदन्यस्य व्यावृत्तेः । ५०९०. प्रत्यक्षस्य । ५०९१. "प्रत्यक्षज्ञानवादिनां" मुद्रितप्रतौ पाठः । ५०९२. जैनानाम् । ५०९३. नीलादौ । ५०९४. धारणारूपवासनातः । ५०९५. नीलमिति शब्दस्मृतिवत् । ५०९६. निर्विकल्पके विषये वा । ५०९७. तृतीयाद्विवचनम् । ५०९८. सामान्यम् । ५०९९. शब्देन प्रतिपाद्यम् । अपि त्वनभिलाषमेव । तच्च न सम्यक् । ५१००. परस्परसंश्लिष्टपरमाणुलक्षणम् । ५१०१. सामान्यव्यावृत्तम् । ५१०२. गोत्वं गोत्वमिति । ५१०३. वाच्यम् । ५१०४. इति

सामान्यद्वारेण स्वलक्षणमपि अभिलाष्यमिष्यते, सामान्यस्वलक्षणयोर्भेदाभावात् । ५१०५. ग्राहकभेदात्सामान्यस्वलक्षणयोर्भेदः, इत्युक्ते आह जैनः । ५१०६. विषयस्वभावभेद इति पाठान्तरम् ।

५१०७. प्रत्यक्षं निर्विकल्पम् । ५१०८. स्मृतिः सविकल्पा । ५१०९. नीलक्षणक्षयस्वलक्षणस्य सामान्यस्य च । ५११०. सामान्यापेक्षयाभिलाष्यत्वमर्थपर्यायापेक्षयानभिलाष्यत्वं च । ५१११. अवाच्यतैकान्तदूषणेन । ५११२. प्रकृतमुपसंहरति । ५११३. सौगतस्य । ५११४. स्वलक्षणरूपस्य प्रत्यक्षाधारतया प्रत्यक्षरूपतया चानुपलभ्यमानत्वात् । ५११५. नीलादिप्रकारेण । ५११६. ततश्च । ५११७. अवाच्यतानिषेधः प्रकृतार्थः । ५११८. दूषणस्य । ५११९. अभिलापसंसर्गस्य सद्भावे । ५१२०. सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं । दव्वं खु सप्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ छाया स्यादस्ति नास्ति उभयवक्तव्यं पुनश्च तत् त्रितयम् । द्रव्यं खलु सप्तभङ्गमादेशवशेन संभवति । अत्र द्रव्यस्यादेशवशेनोक्ता सप्तभङ्गी, स्यादस्ति द्रव्यं (१), स्यान्नास्ति द्रव्यं (२), स्यादस्ति च नास्ति च द्रव्यं (३), स्यादवक्तव्यं (४), स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (५), स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (६), स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (७), इति । अत्र सर्वथास्तित्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथञ्चिदित्यपरनामकः स्याच्छब्दो निपातः । तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं (विवक्षितम्) अस्ति द्रव्यम् । परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यम् । क्रमेण स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यम् । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यम् । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमस्ति चावक्तव्यम् । परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चायुगपदादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम् । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चायुगपदादिष्टमस्ति नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम् । न चैतदनुपपन्नं, सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपेणाशून्यत्वात्, पररूपेण शून्यत्वात्, उभयाभ्यामशून्यशून्यत्वात्, सहावाच्यत्वात्, भङ्गसंयोगार्पणायामशून्यावाच्यत्वत्, सहावाच्यत्वात्, पररूपेण शून्यत्वात्, उभयाभ्यामशून्यशून्यत्वात्, सहावाच्यत्वात्, भङ्गसंयोगार्पणायामशून्यावाच्यत्वात् (अस्त्यवक्तव्ये), शून्यावाच्यत्वात् (नास्त्यवक्तव्ये), अशून्यशून्याऽवाच्यत्वात् (स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्ये) । ५१२१. स्यादस्ति चावक्तव्यं च । ५१२२. स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च । ५१२३. स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यमेव च । ५१२४. च शब्दादेतेषां त्रयाणामेव समुच्चयः । कुत इत्युक्ते आह प्रश्नवशादिति । ५१२५. भेदः । ५१२६. (तत्त्वार्थवार्तिककालङ्कारे) ५१२७. वार्तिककारैरकलङ्कितैः । ५१२८. सप्तभङ्गी इति वचनेन । ५१२९. स्यात्सदवक्तव्यरूपस्य । ५१३०. कस्यचित् प्रथमद्वितीयचतुर्थभङ्गानां मध्ये परस्परं द्वयोर्द्वयोस्त्रयाणां च संयोगाज्जातस्य । ५१३१. कस्यचित् तृतीयपञ्चमषष्ठसप्तमभङ्गानां परस्परं द्वयोर्द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वा संयोगे अन्यैस्त्रिभिर्वा यथायथं संयोगे यो भङ्गो भवति तस्य । ५१३२. विधिः कल्पना ।

५१३३. भावैकान्ते इति कारिकाव्याख्याने । ५१३४. प्रपञ्चतो द्वितीयपरिच्छेदे निराकरिष्यमाणत्वात् । ५१३५. सौगतस्य पक्षः । ५१३६. विधिकल्पनापेक्षया प्रतिषेधकल्पनापेक्षया च । ५१३७. यौगमतमालम्ब्य शङ्केयम् । ५१३८. निरपेक्षम् । ५१३९. (सद्गर्वास्तु द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायरूपः, असद्गर्गश्च निरपेक्षाभावपदार्थस्येति मतं यौगानाम्) । ५१४०. सदसदात्मकं विहायापरस्य प्रमेयस्यासंभवात् । ५१४१. जैनः प्रतिवदति “निषेधं” पाठान्तरम् । ५१४२. एकैकं सत्त्वासत्त्वादिति । ५१४३. (युगपत्सदसदुभयवाक्यं वक्तुमशक्यमिति अवक्तव्यत्वविषयश्चतुर्थभङ्गोपि संभवति) । ५१४४. (सदवक्तव्यत्वविषयस्य, असदवक्तव्यत्वविषयस्य, सदसदुभयावक्तव्यत्वविषयस्य च) । ५१४५. पूर्वं द्वन्द्वः पञ्चाद्वसः ? (अस्त्यवक्तव्यम्) ५१४६. नास्त्यवक्तव्यम् । ५१४७. अस्ति नास्ति चावक्तव्यं च । ५१४८. एकत्र वस्तुनि ५१४९. यथा सर्वथा सत्त्वादिकल्पना । ५१५०. पूर्वमेवोक्तम् । ५१५१. नाना वस्तुन्याश्रयो यस्याः सा चासौ विधिप्रतिषेधकल्पना । ५१५२. तदस्थो जैनः । ५१५३. न सप्तभङ्गयेव । ५१५४. वस्तुधर्मा अनन्ताः । धर्मं धर्मं प्रति सप्तभङ्ग्यस्ति, एवमनन्ताः सप्तभङ्ग्यः । न त्वनन्तभङ्गी । ५१५५. स्यादेकं द्रव्यापेक्षया, स्यादनेकं पर्यायापेक्षया, स्यादेकानेकं क्रमेणोभयापेक्षया, स्यादवक्तव्यमित्यादिरित्या । ५१५६. संशयविषयवस्तुधर्माणां मध्ये । ५१५७. (सत्त्वस्य वस्तुधर्मत्वप्रकारेण) । ५१५८. वस्तुधर्मः । ५१५९. स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः । ५१६०. असत्त्वानिष्टौ सत्त्वाङ्गीकारे इत्यर्थः । ५१६१. अयं घट एव न तु पट इत्येवम् ।

५०११. निर्विकल्पकप्रत्यक्षादुत्पन्नः । ५०१२. निर्विकल्पकम् । ५०१३. जैनैः । ५०१४. अर्थोपयोगेपीत्यादिकारिकायामुक्तेन । ५०१५. अर्थोपयोगेपीति श्लोके । ५०१६. धर्मकीर्तिरेको बौद्धगुरुः । ५०१७. स्मार्तशब्दानुयोजनात्पूर्वम् । ५०१८. अर्थशब्देन निर्विकल्पकम् । ५०१९. सविकल्पकस्य । ५०२०. निर्विकल्पकस्य । ५०२१. उपयोग इन्द्रियज्ञानव्यापारः । ५०२२. अक्षज्ञानम् । ५०२३. न पुनर्ज्ञानोपयोगेपीति कारिकाया जैनोक्तायाः । ५०२४. कारणेन । ५०२५. हे सौगत ! यथा शब्दाद्वैतवादिनो भवता दूषणं दत्तं तथा तवापीत्याह । ५०२६. उपयोगः सामान्यव्यवसायः । ५०२७. "व्यपायेपि" मुद्रितप्रतौ पाठः । ५०२८. उत्तरकालेऽपि । ५०२९. निर्विकल्पकबोधः । ५०३०. निर्विकल्पकज्ञानाभावेऽपि । ५०३१. विकल्पः । ५०३२. मुद्रितप्रतौ 'च' नास्ति । ५०३३. स्वो नीलस्वलक्षणोर्थः । ५०३४. द्वन्द्वः । ५०३५. उपादानभूतपूर्वक्षणज्ञानजन्म । ५०३६. सारूप्यं च निर्विकल्पकज्ञानात् । ५०३७. स्वविषयस्याध्यवसायो निश्चयः । ५०३८. स्वलक्षणस्य ।

५०३९. 'सामान्ये' मुद्रितप्रतौ पाठः । ५०४०. निर्विकल्पकप्रत्यक्षात् । ५०४१. तस्य निर्विकल्पकस्य पश्चाद्भाविनः । ५०४२. प्रत्यभिज्ञानस्य । ५०४३. अतिप्रसङ्गं वक्ति । ५०४४. देशकालस्वभावभेदात्त्रयो विप्रकर्षाः । ५०४५. सामान्यस्मृतिनिमित्तं शब्दस्मृतिरपि नोपपद्यते इत्याह । ५०४६. वाच्यवाचकलक्षणस्य । ५०४७. स्याद्वादिभिस्तु स्वाभाविकोभ्युपगम्यते । ५०४८. सौगतः । ५०४९. सामान्यार्थेन नीलादिना सह । ५०५०. शब्दस्य, चकाराद्विकल्पस्य दृश्येन (अर्थेन) स्वलक्षणैकत्वाध्यवसायोऽस्ति । ५०५१. प्रमाणात् । ५०५२. यतो दृश्यं (स्वलक्षणरूपं) क्षणिकं, सामान्यं कियत्कालस्थायि । ५०५३. स्मृतिभावताध्यवसायस्यातनिरस्यति । ५०५४. निर्विकल्पज्ञानस्य । ५०५५. नीलादिग्राहकत्वप्रकारेण, न तु स्वलक्षणग्राहकत्वप्रकारेण । ५०५६. वर्तमानकालदृष्टेन सजातीयं पूर्वदृष्टम् । तत्र स्मृतिर्न स्यात् । ५०५७. दानं च हिंसाविरतिश्चेति द्वन्द्वः । ५०५८. व्यवसायात्मकत्वाभावे स्वर्गादिफलजननसामर्थ्ये क्षणक्षयादौ वा स्मृतिर्न यथा । ५०५९. यथाऽव्यवसायात्मनोक्षणात्समनन्तरप्रत्ययाद् व्यवसायात्मनो विकल्पस्योत्पत्तिर्न । ५०६०. न व्यवसायात्मकं मानसप्रत्यक्षं तथापि जात्यादिविषयकमिति सौगतेनोक्ते जैनः प्राह । ५०६१. पञ्चमी । ५०६२. व्यवसायात्मनो मानसप्रत्यक्षस्य । ५०६३. सौगतेन । ५०६४. तेन स्वयं व्यवसायात्मलक्षणेनाक्षज्ञानेन नीलादेरर्थगतक्षणक्षयलक्षणार्थस्य स्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपि व्यवसाय इन्द्रियज्ञानस्य, तथा नास्ति लोके । ५०६५. निरंशत्वेनाभेदात् । ५०६६. तेन मानसप्रत्यक्षेण स्वयं व्यवसायात्मना नीलादेर्व्यवसाये तत्क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादेरपीत्यादिहेतोः । ५०६७. मानसप्रत्यक्षस्य । ५०६८. (आदिपदेन स्वर्गप्रापणशक्त्यादिर्ग्राह्यः) । ५०६९. (क्षणक्षयस्वर्गः) । ५०७०. क्षणक्षयाद्यविषयत्वात् । ५०७१. (तद्व्यवसायित्वम्) । ५०७२. अक्षज्ञानस्यापि नीलादिविषयत्वे क्षणक्षयाद्यविषयत्वे सति । तन्मते नीलादेः सकाशात्क्षणक्षयो भिन्नो न भवति, तस्य तत्त्वभावत्वात् । ५०७३. कूटे प्रतीयमानेऽप्यप्रतीयमानः पिशाचस्ततोऽन्यो यथा ।

५०७४. इन्द्रियमानसप्रत्यक्षयोः । ५०७५. नीलादिग्राहकत्वप्रकारेण, न स्वलक्षणग्राहकत्वप्रकारेण । इति सति कथञ्चिदक्षज्ञानस्य व्यवसायात्मकत्वम् । ५०७६. मानसप्रत्यक्षप्रयोजनस्य । ५०७७. सविकल्पकप्रत्यक्षज्ञानवादिनाम् । ५०७८. प्रतिवाद्याद्युपन्यस्तसकलवर्णपदादीनामभ्यासादिकमन्तरेण यथा स्मृतेरनुपपत्तिः । ५०७९. अभ्यासाद्यभावे एव । ५०८०. प्रज्ञाकरः । ५०८१. निरंशस्य । ५०८२. नीलादौ । ५०८३. क्षणक्षयेऽनभ्यासादीनाम् । ५०८४. सौगतः (प्रज्ञाकरः) । ५०८५. प्रत्यक्षेऽभ्यासादयः सन्ति, अनभ्यासादीनां व्यावृत्तेः । ततोऽन्योनभ्यासादिः । ५०८६. प्रत्यक्षे । ५०८७. अभ्यासादियोगः । ५०८८. प्रत्यक्षस्य । ५०८९. न शीतस्वभावो यस्य सोतस्त्वभाव, शीतादन्यदशीतत्वं तस्य तदन्यस्य व्यावृत्तेः । ५०९०. प्रत्यक्षस्य । ५०९१. "प्रत्यक्षज्ञानवादिनां" मुद्रितप्रतौ पाठः । ५०९२. जैनानाम् । ५०९३. नीलादौ । ५०९४. धारणारूपवासनातः । ५०९५. नीलमिति शब्दस्मृतिवत् । ५०९६. निर्विकल्पके विषये वा । ५०९७. तृतीयाद्विवचनम् । ५०९८. सामान्यम् । ५०९९. शब्देन प्रतिपाद्यम् । अपि त्वनभिलाष्यमेव । तच्च न सम्यक् । ५१००. परस्परसंश्लिष्टपरमाणुलक्षणम् । ५१०१. सामान्यव्यावृत्तम् । ५१०२. गोत्वं गोत्वमिति । ५१०३. वाच्यम् । ५१०४. इति

सामान्यद्वारेण स्वलक्षणमपि अभिलाष्यमिष्यते, सामान्यस्वलक्षणयोर्भेदाभावात् । ५१०५. ग्राहकभेदात्सामान्यस्वलक्षणयोर्भेदः, इत्युक्ते आह जैनः । ५१०६. विषयस्वभावभेद इति पाठान्तरम् ।

५१०७. प्रत्यक्षं निर्विकल्पम् । ५१०८. स्मृतिः सविकल्पा । ५१०९. नीलक्षणक्षयस्वलक्षणस्य सामान्यस्य च । ५११०. सामान्यापेक्षयाभिलाष्यत्वमर्थपर्यायापेक्षयानभिलाष्यत्वं च । ५१११. अवाच्यतैकान्तदूषणेन । ५११२. प्रकृतमुपसंहरति । ५११३. सांगतस्य । ५११४. स्वलक्षणरूपस्य प्रत्यक्षाधारतया प्रत्यक्षरूपतया चानुपलभ्यमानत्वात् । ५११५. नीलादिप्रकारेण । ५११६. ततश्च । ५११७. अवाच्यतानिषेधः प्रकृतार्थः । ५११८. दूषणस्य । ५११९. अभिलापसंसर्गस्य सद्भावे । ५१२०. सिय अत्थि णत्थि उभयं अव्यक्तत्वं पुणो य तत्तिदयं । दत्तं खु सप्तभंगं आदेसवसेण संभवादि ॥ छाया स्यादस्ति नास्ति उभयवक्तव्यं पुनश्च तत् त्रितयम् । द्रव्यं खलु सप्तभङ्गादेशवशेन संभवति । अत्र द्रव्यस्यादेशवशेनोक्ता सप्तभङ्गी, स्यादस्ति द्रव्यं (१), स्यान्नास्ति द्रव्यं (२), स्यादस्ति च नास्ति च द्रव्यं (३), स्यादवक्तव्यं (४), स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (५), स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (६), स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं (७), इति । अत्र सर्वथास्तित्वनिषेधकोऽनेकान्तघोतकः कथञ्चिदित्यपरनामकः स्याच्छब्दो निपातः । तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं (विवक्षितम्) अस्ति द्रव्यम् । परद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यम् । क्रमेण स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यम् । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यम् । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमस्ति चावक्तव्यम् । परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चायुगपदादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम् । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चायुगपदादिष्टमस्ति नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यम् । न चैतदनुपपन्नं, सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपेणाशून्यत्वात्, पररूपेण शून्यत्वात्, उभयाभ्यामशून्यशून्यत्वात्, सहावाच्यत्वात्, भङ्गसंयोगार्पणायामशून्यावाच्यत्वत्, सहावाच्यत्वात्, पररूपेण शून्यत्वात्, उभयाभ्यामशून्यशून्यत्वात्, सहावाच्यत्वात्, भङ्गसंयोगार्पणायामशून्यावाच्यत्वात् (अस्त्यक्तव्ये), शून्यावाच्यत्वात् (नास्त्यवक्तव्ये), अशून्यशून्याऽवाच्यत्वात् (स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्ये) । ५१२१. स्यादस्ति चावक्तव्यं च । ५१२२. स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च । ५१२३. स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यमेव च । ५१२४. च शब्दादेतेषां त्रयाणामेव समुच्चयः । कुत इत्युक्ते आह. प्रश्नवशादिति । ५१२५. भेदः । ५१२६. (तत्त्वार्थवार्तिकालङ्कारे) ५१२७. वार्तिककारैरकलङ्कितैः । ५१२८. सप्तभङ्गी इति वचनेन । ५१२९. स्यात्सदवक्तव्यरूपस्य । ५१३०. कस्यचित् प्रथमद्वितीयचुर्थभङ्गानां मध्ये परस्परं द्वयोर्द्वयोस्त्रयाणां च संयोगाज्जातस्य । ५१३१. कस्यचित् तृतीयपञ्चमषष्ठसप्तमभङ्गानां परस्परं द्वयोर्द्वयोस्त्रयाणां चतुर्णां वा संयोगे अन्यैस्त्रिभिर्वा यथायथं संयोगे यो भङ्गो भवति तस्य । ५१३२. विधिः कल्पना ।

५१३३. भावैकान्ते इति कारिकाव्याख्याने । ५१३४. प्रपञ्चतो द्वितीयपरिच्छेदे निराकरिष्यमाणत्वात् । ५१३५. सांगतस्य पक्षः । ५१३६. विधिकल्पनापेक्षया प्रतिषेधकल्पनापेक्षया च । ५१३७. यौगमतमालम्ब्य शङ्केयम् । ५१३८. निरपेक्षम् । ५१३९. (सद्गर्गस्तु द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायरूपः, असद्गर्गश्च निरपेक्षाभावपदार्थस्येति मतं यौगानाम्) । ५१४०. सदसदात्मकं विहायापरस्य प्रमेयस्यासंभवात् । ५१४१. जैनः प्रतिवदति “निधेयं” पाठान्तरम् । ५१४२. एकैकं सत्त्वासत्त्वादि । ५१४३. (युगपत्सदसदुभयवाक्यं वक्तुमशक्यमिति अवक्तव्यत्वविषयश्रुतुर्थभङ्गोपि संभवति) । ५१४४. (सदवक्तव्यत्वविषयस्य, असदवक्तव्यत्वविषयस्य, सदसदुभयवक्तव्यत्वविषयस्य च) । ५१४५. पूर्वं द्वन्द्वः पश्चाद्द्वयः ? (अस्त्यवक्तव्यम्) ५१४६. नास्त्यवक्तव्यम् । ५१४७. अस्ति नास्ति चावक्तव्यं च । ५१४८. एकत्र वस्तुनि ५१४९. यथा सर्वथा सत्त्वादिकल्पना । ५१५०. पूर्वमेवोक्तम् । ५१५१. नाना वस्तुन्याश्रयो यस्याः सा चासौ विधिप्रतिषेधकल्पना । ५१५२. तदस्थो जैनः । ५१५३. न सप्तभङ्ग्येव । ५१५४. वस्तुधर्मा अनन्ताः । धर्म धर्म प्रति सप्तभङ्ग्यस्ति, एवमनन्ताः सप्तभङ्ग्यः । न त्वनन्तभङ्गी । ५१५५. स्यादेकं द्रव्यापेक्षया, स्यादनेकं पर्यायापेक्षया, स्यादेकानेकं क्रमेणोभयापेक्षया, स्यादवक्तव्यमित्यादिरीत्या । ५१५६. संशयविषयवस्तुधर्माणां मध्ये । ५१५७. (सत्त्वस्य वस्तुधर्मत्वप्रकारेण) । ५१५८. वस्तुधर्मः । ५१५९. स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः । ५१६०. असत्त्वानिष्टौ सत्त्वाङ्गीकारे इत्यर्थः । ५१६१. अयं घट एव न तु पट इत्येवम् ।

५१६२. सत्त्वासत्त्वयोर्वस्तुधर्मत्वनिरूपणेन । ५१६३. स्यादस्तिनास्तीत्यादिपञ्चानाम् । ५१६४. सदसत्त्वविकल्पश्चासौ शब्दव्यवहारश्चेति कर्मधारयः (द्वन्द्वो वा) । ५१६५. अवक्तव्येन सह वर्तमानं तदुत्तरधर्मत्रयं चेति कर्मधारयः । अस्त्यवक्तव्यं, नास्त्यवक्तव्यमस्तिनास्ति चावक्तव्यं चेति धर्मत्रयम् । ५१६६. एभ्यो व्यवहारेभ्यः । ५१६७. तथाविधं रूपमादि यस्य स तथोक्तः । स चासौ व्यवहारश्च । अथवा तथाविधश्चासौ रूपादिव्यवहारश्च । ५१६८. (यथास्तित्वधर्मानास्तित्वधर्मो धर्मान्तरम्) । ५१६९. (अनन्तधर्माणां मध्ये विवक्षितेन स्वरूपादिना स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरित्यर्थः) । ५१७०. (विवक्षितादन्यत्तदन्यत्) । (तत्, तदन्यसत्त्वम्) । ५१७१. प्रथमतृतीयधर्मयोर्धर्मान्तरत्वनिराकरणेन । ५१७२. (स्यादस्ति चावक्तव्यमिति) । ५१७३. (स्यान्नास्ति चावक्तव्यमिति) । ५१७४. (स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यमिति) । ५१७५. (स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यमिति) । ५१७६. स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति चेति त्रिषु भङ्गेषु मध्येन्तर्भूतत्वप्रकारेण । ५१७७. (अवक्तव्यत्वधर्मे सत्त्वस्यापरामर्शे पञ्चमो भङ्गो, नास्तित्वस्य च तत्रापरामर्शे षष्ठो भङ्गो, अस्तित्वनास्तित्वोभययोस्तत्रापरामर्शे सप्तमो भङ्ग इति) । ५१७८. अवक्तव्यत्वेन सहार्पितयोरित्यर्थः । ५१७९. 'वक्तव्य' इति पाठान्तरम् । ५१८०. (अवक्तव्यत्वेन) । ५१८१. तेन अवक्तव्यत्वेन सह सत्त्वस्यासत्त्वस्योभयस्य वाऽप्रतीतिरपि धर्मान्तरत्वासिद्धिर्वापि न, किन्तु प्रतीतिरेव धर्मान्तरत्वसिद्धिर्वास्त्येव ततो धर्मान्तरत्वमस्त्येव । ५१८२-८३-८४. अवक्तव्यत्वस्य । ५१८५. प्रधानभावेन प्रतीतिरित्यन्वयः । ५१८६. प्रथमादौ । ५१८७. शेषाः असत्त्वादि षट् । ५१८८. 'तदप्य' मुद्रितप्रतौ पाठः । ५१८९. सामान्याकारेण (स्यादस्तीत्यादौ अस्तित्ववचनं सिद्धमेवेत्येवम्) वक्तव्यत्वसिद्धावपि विशेषेण (स्यादस्ति वक्तव्यमिति वक्तव्यत्वशब्दोच्चारणपूर्वकत्वेनैव) वक्तव्यतायां स्वीकृतायां सत्याम् । ५१९०. वक्तव्यत्वावक्तव्यत्वाभ्याम् । ५१९१. संशयहेतुः । ५१९२. सप्तधैव । ५१९३. भट्टाकलङ्कदेवैः । ५१९४. वाणी ।

५१९५. अत्र पूर्वोक्तकारिकायां स्याच्छब्दो नास्त्येव । ततः कथं गौः स्याद्वादाभूतगर्भिणी स्यादित्याशङ्कयामाह । ५१९६. कारिकायां कथञ्चिच्छब्दोऽस्ति । ५१९७. कथञ्चिच्छब्देन । ५१९८. कपुस्तकेऽयं 'वा' शब्दो नास्त्येव । ५१९९. कथञ्चिच्छब्दादेवानेकान्तस्य कथनप्रकारेण । ५२००. कथञ्चिच्छब्दात् । ५२०१. प्रतिपादने । ५२०२. यथा वृक्ष इति सामान्येनोक्तेऽपि तदनु विशेषार्थिना न्यग्रोध इत्युच्यते । ५२०३. सदादिवचनेन । ५२०४. अनेकान्तस्य । ५२०५. अनेकान्तस्य । ५२०६. वस्तुनोनेकरूपत्वसाधनसामर्थ्यात् । ५२०७. प्रतिपादकस्य (शिष्यान्वति) ५२०८. स्याद्वादस्यायाप्रतीतेः । ५२०९. सिद्धे सति । ५२१०. (इत्येतावद्वचनेपि) ५२११. श्लोकवार्तिके । ५२१२. सौगत आह । ५२१३. किञ्चिदिदमिति निर्विकल्पकज्ञानमन्तरेणान्यत्किमपि नास्तीति तात्पर्यम् । ५२१४. विवेको भेदः । ५२१५. यथा जीवान्तरे संतानभेदः । ५२१६. स्वाधारजीवे । ५२१७. अन्वयविच्छेदप्रसङ्गात् । ५२१८. सन्तानभेदे सति दूषणमादर्शयन्ति जैनाः । ५२१९. इन्द्रियं विषयि । ५२२०. प्रथमाक्षसंनिपातसमये एव (योग्यक्षेत्रावस्थानं सन्निपातः) । ५२२१. यदेवेहितम् । ५२२२. अवायज्ञानविषयीकृतम् । ५२२३. कालान्तरेऽप्यविस्मृतिकारणं धारणाज्ञानविशेषः) । ५२२४. (धारणाहेतुका स्मृतिः) । ५२२५. यद्वस्तु ईदृग्धूमादिकार्यकृत् तदित्यमग्निरूपम् । ५२२६. हेतोः । ५२२७. अनुमितम् । ५२२८. शब्दयोजनया परार्थं विकल्पयोजनया स्वार्थम् । ५२२९. श्रुतज्ञानविषयीकृतम् । (मनोबलम्बने मतिज्ञानरूपादर्थादर्थान्तरज्ञानं श्रुतम् । यथा स्पर्शनेन्द्रियेण वायोर्मतिज्ञानविशेषे जाते वायुरयमिति, तदवलम्ब्य शीतवातेनैवं रोगाः प्रजायन्ते उष्णवातेन त्वेवमित्याद्यर्थान्तरज्ञानं श्रुतम्) । ५२३०. प्रत्यभिज्ञानप्रतीतिवत् । ५२३१. प्रत्यभिज्ञानबुद्धिः । ५२३२. दर्शनावग्रहादौ । ५२३३. प्राकट्यात् । ५२३४. अनुसंधीयमानः, प्रत्यभिज्ञानेन विषयीक्रियमाणः । ५२३५. दर्शनादिभ्योऽभिन्ना । ५२३६. यावद्धा दर्शनादयः । ५२३७. दर्शनावग्रहादेः । ५२३८. (अर्थात् अनेकभेदरूपादर्थादभिन्नं किञ्चित्स्वयमभिन्नं (अभेदरूपं) न भवति किन्तु स्वयमपि तावद्धा भिद्येतैव यावद्धा तदभिन्नपदार्थ इति स्वयं बौद्धैरभिहितम्) । ५२३९. वासनाप्रबोधात् ।

५२४०. अशक्यविवेचनतया । ५२४१. दर्शनादीन् । ५२४२. स्वलक्षणेन स्वसंवेदनेन । ५२४३. यथा चित्रवित्तिक्षणे नीलादिविशेषनिर्भासनादनुभवन्स्वलक्षणप्रत्यक्षः । आकारानात्मभूतान् परस्परतो विविक्तानात्मसात्कुर्वन्

चित्रवित्तिक्षणः सर्वलोकानां यथा प्रसिद्धः । ५२४४. सहभाविनो गुणान्, क्रमभाविनः पर्यायान् । ५२४५. जीवस्य । ५२४६. दर्शनावग्रहादीनामात्मना सहैकत्वाभावे । ५२४७. नीलादिविशेषेषु नियतदर्शनं ग्रहणं येषां ते तथोक्तास्ते च ते नानासंतानसंवेदनक्षणाश्च तेषु यथा संवेदनं न तथात्मदर्शनादीनामेकत्वाभावे आत्मापि न स्यात् ते दर्शनादयोपि च न स्युः । ५२४८. अनुसंधानमेव मननं ज्ञानं, यः सुखी स एवाहं दुःखीति । ५२४९. वासनावत् । ५२५०. य एव सुख्यासं स एवाहं दुःखी संप्रतीतिक्रमः । ५२५१. आत्मना सह । ५२५२. सौगतः । ५२५३. कालादिव्यवधानाभावात् । ५२५४. वास्यवासकः, समर्प्यसमर्पकः । ५२५५. अज्ञातभेदानाम् । ५२५६. कार्यकारणभाववास्यवासकभावयोरभावात् । ५२५७. सुगतेतरचित्तक्षणानाम् । ५२५८. चित्तक्षणानाम् । ५२५९. स्वरूपेण । ५२६०. संततीनाम् । ५२६१. आत्मना सह । ५२६२. वातातपादौ । ५२६३. जीवस्य सत्त्वे । ५२६४. जीवे । ५२६५. समनन्तरः अव्यवहितः । ५२६६. सांख्यः । ५२६७. असत्त्वं विना परस्परं भेदानुपपत्तेः । ५२६८. बौद्धाभिपते चित्रज्ञानक्षणे । ५२६९. आदिना चित्रादिग्रहः । ५२७०. सितादिनिर्भासाश्च परमाणुसंवित्तयश्चेति द्वन्द्वः । ५२७१. संवित्तीनां तथा सितादिनिर्भासानामपि । जीवपरिहारोऽजीवस्थितिं, घटपरिहारः पटस्थितिं, नीलपरिहारोऽनीलस्थितिं करोति । ५२७२. अवयवबहुत्वाभावे । ५२७३. शबलं चित्रम् । ५२७४. यथा तदेकांशस्य परस्परपरिहारस्थित्यभावः । ५२७५. अणोः सूक्ष्मत्वात् । ५२७६. अणुसंवित्तीनां सजातीयविजातीयव्यावृत्तौ । ५२७७. इतरो नीलादिप्रतिभासक्षणः । ५२७८. लवोऽशः । ५२७९. तस्मात्कारणात् ।

५२८०. (व्यावृत्तिमात्रे जगति) । ५२८१. सद्व्यादिरूपस्य सामान्यस्य । ५२८२. व्यावृत्त्यपेक्षणात् । ५२८३. न केवलं सर्वथैकत्वप्रसङ्गः, किन्त्वभावोपि । ५२८४. असद्रूपनिरपेक्षस्यान्यस्य । ५२८५. मीमांसकः । ५२८६. निरपेक्षत्वे परस्परं विरोधात् । ५२८७. व्यतिरेकविशेषापेक्षया । ५२८८. जात्यन्तरम् । ५२८९. (तस्यांशौ भावाभावलक्षणौ निबन्धनं यस्य स चासौ विशेषश्चेति सूमासः) । ५२९०. अत्यन्ताभावः । ५२९१. सदेवासदेव वेति । ५२९२. लवङ्गतमालपत्रनागकेसर-एला इति चातुर्जातकादि । ५२९३. एकरूपतां प्राप्तेपि । ५२९४. भिन्नप्रतिपत्तिवत् । ५२९५. भाट्टस्य । ५२९६. पानके यथा चातुर्जातकादि । ५२९७. 'युक्तम्' पाठान्तरम् । ५२९८. पानके यथा दध्यादिभेदस्य जात्यन्तरस्यापि सर्वथोभयरूपत्वे जात्यन्तरप्रतीतिर्न प्राप्नुयात् । ५२९९. सदाद्यंशिनः । ५३००. जात्यन्तरप्रतीत्यभावापत्तौ । ५३०१. स्वरूपादिना । ५३०२. पर रूपादिना । ५३०३. सत्त्वे असत्त्वे च । ५३०४. सत्त्वस्यासत्त्वप्रकारेण, असत्त्वस्य सत्त्वप्रकारेण उभयरूपोपगमाभावे । ५३०५. भाट्टस्य । ५३०६. स्वरूपादिनैव । ५३०७. यथा शीतोष्णयोर्वैयधिकरण्यं विरोधो वा (युगपदनेकत्रावस्थितिर्वैयधिकरण्यम्) । ५३०८. एकत्रैव कथं सत्त्वं कथं चासत्त्वमिति निश्चयानुत्पत्तेरेव । ५३०९. अष्टदोषप्रसङ्गो यतः । ५३१०. कथञ्चिदेव । ५३११. भवतु वस्तुनः कथञ्चिदुभयत्वं, न तु जात्यन्तरत्वमित्याशङ्क्याह ।

५३१२. सौगतः । ५३१३. अस्तित्वनास्तित्वाभ्याम् । ५३१४. शब्देन । ५३१५. निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण विधिप्रतिषेधव्यवहारो भविष्यतीत्युक्ते आह । ५३१६. विशेषेणैव सामान्यरूपेणापि । ५३१७. निर्विकल्पकज्ञानम् । ४३१८. वस्तु । ५३१९. अनिश्चितस्य । ५३२०. यथा मूर्च्छापत्रचैतन्येन गृहीतमप्यगृहीतकल्पम् । ५३२१. अनेन जगतोन्मत्तत्वं प्रतिपादितम् । ५३२२. शब्दाद्वैती वक्ति । ५३२३. इवशब्दोत्र एवायं । ५३२४. सत् । ५३२५. बोधः । ५३२६. प्रकाशहेतुभूता । ५३२७. शब्दाद्वैतिनः । ५३२८. सामान्यरूपेणैव विशेषरूपेणापि । ५३२९. वाच्यविषयत्वेनोभयोरभेदप्रसङ्गात् । ५३३०. (परः) प्रत्यक्ष इति यः शब्दः स आत्मा यस्य । ५३३१. प्रत्यक्षगोचरविशेषस्य । ५३३२. (अनुमानागमज्ञानात्मा यस्य । स चासौ शब्दश्च । स विषयो यस्येति । तत्त्वम्) । ५३३३. प्रत्यक्षेतरयोरभिधेयत्वाविशेषात् । ५३३४. प्रत्यक्षेतरयोः । ५३३५. तदात्मकत्वं प्रत्यक्षेतरात्मकत्वम् । ५३३६. प्रत्यक्ष उपाधिर्यस्य । ५३३७. अयमागमज्ञानात्मकः, अनुमानज्ञानात्मकः शब्दः । ५३३८. बसः । ५३३९. द्वन्द्वः । ५३४०. भेदासिद्धौ प्रत्यक्षेतराविशेषप्रसङ्गः । ५३४१. शब्दानात्मकत्वे । ५३४२. प्रत्यक्षेतरोपाधीनाम् । ५३४३. स्पष्टेतरप्रतिभासस्य । ५३४४. प्रत्यक्षेतराभ्यां सह । ५३४५. अवाच्यत्वेऽङ्गीक्रियमाणे । ५३४६. तदेव दर्शयति ।

५३४७. अनभिधेयत्वात् । ५३४८. अक्षणिके क्षणिकत्वप्रसङ्गः, क्षणिकेऽक्षणिकत्वप्रसङ्ग इति विपर्ययः । ५३४९. सत्येतरवाक्ययोः । ५३५०. अनभिधेयत्वे । ५३५१. सामान्यार्थप्रतिपादकत्वप्रकारेण । ५३५२. वाक्यम् । ५३५३. प्रतिज्ञां करोति । ५३५४. साध्यं ज्ञापयितुम् । ५३५५. साध्यस्य । ५३५६. पारम्पर्येण । ५३५७. हेतुवचः । पूर्वं हेतुं समर्थयति । स हेतुः शक्तस्य सूचकः । ५३५८. हेतुवचः कृताम् । ५३५९. हेतुवचनस्य वाच्यताम् । ५३६०. स्ववचनात्तत्त्वस्य सिद्धिरूपजीव्यते, न पुनः परवचनादिति व्यवस्थाभावानुष्ङ्गात् । ५३६१. अनभ्युपगमे । ५३६२. अन्यथेत्यध्याहार्यम् । ५२६३. अनभिमतं च तत्प्रतिवादिवचनं चेति यसः । ५३६४. वस्तु क्षणिकम् । ५३६५. वंशः परम्परा । ५३६६. युगपत्स्वपरद्रव्यचतुष्टयापेक्षया । ५३६७. भगवतः । ५३६८. (यथेति पाठः क्वचित् । तथा 'च' इति कारिकोक्तशब्दादित्यपि भङ्गत्रयं समुचितमित्यग्रेणान्वयः) । ५३६९. स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया सह युगपत् स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया । ५३७०. स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षयेव पररूपादिचतुष्टयापेक्षयापि । ५३७१. पररूपादिचतुष्टयापेक्षया सहयुगपत्स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया । ५३७२. (स्वरूपेणेव पररूपेणापि) । ५३७३. तस्य सतः । ५३७४. क्रमेण सत्यपि सदसदात्मकत्वे युगपद्वक्तुमशक्तेः । ५३७५. कथञ्चित्ते सदेवेष्टमिति पूर्वकारिकायाम् । ५३७६. भङ्गचतुष्टयसामर्थ्याद् भङ्गत्रयस्यापि सामर्थ्यसिद्धत्वम् । ५३७७. सप्तसंख्याप्रकारेण । ५३७८. पररूपादिचतुष्टयादित्यर्थः । ५३७९. (न चेदेवमिति ब्रुवाणः स्वेष्टतत्त्वे स्थितिं न लभेत) ।

५३८०. सांख्यादिः । ५३८१. (स्वं विवक्षितम्) । ५३८२. सांख्यादिः । ५३८३. कुण्डबदरादौ । ५३८४. अनेकद्रव्याण्याश्रयो येषां ते । ५३८५. (तैः संयोगविभागैः) । ५३८६. (संयोगविभागादेः) । ५३८७. (स्वस्य संयोगविभागादेः) । ५३८८. परद्रव्यात् । ५३८९. अयं संयोगोनयोरेव द्रव्ययोर्नान्येषां द्रव्याणामिति । ५३९०. (सांख्यं निरस्य प्रकृतं निरूपयन्त्याचार्याः) । ५३९१. सत्त्वादेः । ५३९२. सत्त्वस्य । ५३९३. द्रव्यप्रकारेण । ५३९४. वस्तुनः । ५३९५. स्वरूपादौ । ५३९६. वस्तु । ५३९७. नैयायिकः । ५३९८. स्वरूपादिना सत्त्वविधानप्रकारेण । स्वरूपादीनां दर्शने स्वरूपान्तरमपेक्ष्यते चेत् । ५३९९. (कथं व्यवस्थेति संबन्धः) । ५४००. स्वरूपादेः । ५४०१. स्वपररूपापेक्षया सत्त्वासत्त्वसमर्थनया । ५४०२. यथा नैयायिकोक्तमित्यर्थः । ५४०३. स्वरूपादिना सत्त्वप्रकारेण । ५४०४. प्रतीतिबलाभावे । ५४०५. एवमप्यनवस्थादूषणं कथं नेति प्रश्ने सत्याह ।

५४०६. स्वरूपम् । ५४०७. नैयायिकोक्तम् । ५४०८. स्वरूपादीनां स्वरूपान्तरप्रतीतौ । ५४०९. स्वरूपादीनां स्वरूपान्तरपगमेपि । ५४१०. यदैव स्वरूपान्तरे (अपरस्वरूपे) अप्रतिपत्तिस्तदैव स्वरूपे (तत्प्रथमे) व्यवस्थोपपत्तेः । यत्रैव यस्याप्रतिपत्तिस्तत्र तस्यानवस्था । 'यत्राप्रतीतिः' इति पाठान्तरम् । ५४११. अप्रतिपत्तिः तृतीयस्वरूपस्य । ५४१२. यथा आत्मनः स्वरूपं ज्ञानम् । तस्य स्वरूपं स्वार्थाकारव्यवसायः, तृतीयस्य स्वरूपस्याप्रतीतेः । ५४१३. जीवस्य । उपयोगो ज्ञानदर्शने । ५४१४. स्वस्य आत्मनः । अर्थस्य आत्मातिरिक्तस्य सर्ववस्तुनः । ५४१५. मतिश्रुताख्यस्य । (प्रत्यक्षपरोक्षभेदाद् द्विधा ज्ञानम् । मतिश्रुते परोक्षम् । अवधिमनःपर्यये देशप्रत्यक्षे । केवलज्ञानं सकलप्रत्यक्षम्) । ५४१६. चक्षुरादिना आलोचनं ग्रहणम् । ५४१७. (ज्ञानोत्तरभेदानां स्वरूपमाह) । ५४१८. अनिन्द्रियं मनः । ५४१९. आत्मग्रहणं स्वरूपव्यवसायः । ५४२०. केवलज्ञानस्य । ५४२१. स्वार्थाकारव्यवसायादिभ्यः । ५४२२. (अन्येषामपि पदार्थानाम्) । ५४२३. स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयापेक्षयास्तित्वनास्तित्वनिरूपणेन । ५४२४. षड्भ्यो द्रव्येभ्यः । ५४२५. शुद्धव्यवहाभेदाद् द्वेधा द्रव्यम् । सत्सदिति शुद्धम् । भेदपुरस्सरत्वेनाभिमतं व्यवहारद्रव्यम् । ५४२६. (पुनरपि कश्चिन्निकटवर्ती पृच्छति) । ५४२७. शुद्धद्रव्यस्य । ५४२८. सकलद्रव्यक्षेत्रकालभावात्मकत्वव्यतिरेकेण । ५४२९. कतिचिद्भावानपेक्षेत्यर्थः । ५४३०. कुन्दकुन्दकृते पञ्चास्तिकाये । ५४३१. सत्तासामान्यस्य स्वरूपप्रतिपादनेन । ५४३२. सकलक्षेत्रं सकलकालश्चात्मा स्वरूपं यस्य तस्य । उभयस्य ।

५४३३. (ल्यपः प्यसंज्ञा, खं तु लोपस्य जैनैन्द्रव्याकरणे । तेन ल्यब्लोपे इत्यर्थः । पञ्चम्याः 'का' संज्ञा । ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी भवतीत्यर्थः । यथा हर्म्यात्त्रेक्षते । हर्म्यमारुह्येत्यर्थः । तथैव स्वरूपादिचतुष्टयादित्यस्य

स्वरूपादिचतुष्टयमपेक्ष्येत्यर्थः । अत्र इयं (द्वितीयां संवाध्य पञ्चमी जाता) । ५४३४. पररूपादिचतुष्टयमपेक्ष्येत्यर्थः । ५४३५. तत् संविद् द्वैतम् । ५४३६. सत्त्वासत्त्वयोरेकवस्तुनि भेदोपपत्तिर्यतः । ५४३७. पदार्थानां सदसदात्मकत्वाभावे सर्वं वस्तु प्रत्येकमपि सर्वं कार्यं कुर्यात् । ५४३८. सर्वस्योभयात्मकत्वे दृष्टान्तः कथमित्याशङ्क्यामाह । ५४३९. स्वपररूपाभ्यां विवक्षितयोः । ५४४०. एकत्र सत्त्वासत्त्वरूपतया ।

५४४१. आगमप्रत्यक्षज्ञानयोः । ५४४२. शाब्दे शब्दः कारणं, प्रत्यक्षे तु इन्द्रियम् । ५४४३. निष्पन्नात्मनोः । ५४४४. आत्मद्रव्यापेक्षया । ५४४५. विच्छेदो भेदः । ५४४६. (अन्यथेत्यध्याहारः) । ५४४७. एकद्रव्यं जीवः । ५४४८. विषये विषयिणि च । ५४४९. अनुसंधानं प्रत्यभिज्ञा । ५४५०. इत्येकविषयत्वमुभयोः सिद्धम् । ५४५१. इत्येकद्रव्याः (जीवः) श्रयत्वं तयोः । ५४५२. आत्मनः सकाशाच्छ्रुतप्रत्यक्षज्ञानयोः । ५४५३. उपादानोपादेयभावात् । ५४५४. प्रत्यक्षागमज्ञानयोः । ५४५५. स्वरूपैकत्वाभावे । ५४५६. कार्यकालं प्रति । ५४५७. उपादानस्वरूपम् । ५४५८. अप्राप्नुवतः । ५४५९. उपादानोपादेयभूतानाम् । ५४६०. द्रव्यापेक्षया । ५४६१. उपादानोपादेययोः स्वरूपैकत्वे समानकालता स्यादित्युक्ते जैनः प्राह । ५४६२. यथा घटकपालादौ मृत्त्वम् । ५४६३. घटकपालादिपर्यायापेक्षया । ५४६४. उपादानोपादेयभूतानाम् । ५४६५. पूर्वापरपरिणामविरुद्धत्वात् । ५४६६. (यदीत्यर्थः स्यात्) । ५४६७. ('प्रतिभासातिशयवशात्' इति पाठान्तरम्) । ५४६८. तत् तर्हीत्यर्थः । एकत्वं द्रव्यप्रतिभासापेक्षया । ५४६९. (पर्यायापेक्षया) । ५४७०. यथा सत्त्वपरिहारेणासत्त्वम्, असत्त्वपरिहारेण च सत्त्वम् । ५४७१. एकत्र वस्तुनि ।

५४७२. यथा पुद्गले ज्ञानदर्शनयोः । ५४७३. यथा पुद्गले रूपज्ञानयोः । ५४७४. अस्तित्वं प्रतिषेधेनाविनाभावीत्यादिकारिकायाम् । ५४७५. नित्यानित्यात्मकमित्यर्थः । ५४७६. आत्मद्रव्यापेक्षया विशेषणमिदम् । यदि च पुद्गलादिकमप्यपेक्ष्य विशेषणं स्यादिदं तर्हि शरीरशब्दस्यात्रावयववाचकत्वं मान्यम् । ५४७७. लौकिकः परोक्षको वा । ५४७८. परोक्षज्ञानेन विषयीकरोति । ५४७९. यथा केशमशकादौ विवेकी व्यामृग्धबुद्धिश्च पुमान् केशमशकादिकं परोक्षयति साक्षात्करोति वा । ५४८०. एकाक्रमात्मकान्वयरूपसामान्यात्मसत्परिणामस्थित्यात्मकम् । ५४८१. आत्मा एकैकमेव बिभर्तीति चेत् । ५४८२. चित्स्वरूपादिना । ५४८३. द्वन्द्वः । ५४८४. अनुमानाज्ञानशब्दज्ञानादिना । ५४८५. पर्यायापेक्षया । ५४८६. प्रतिक्षणध्वंसिनम् । ५४८७. (न त्वन्वयरूपम्) । ५४८८. (न तु सामान्यात्मकम्) । ५४८९. (न तु पूर्ववत्सत्परिणामम्) । ५४९०. (न तु द्रव्यापेक्षयेव स्थित्यात्मकम् । एवमिदं सर्वं विशेषणजातं द्रव्यापेक्षया यदुक्तं ततो विरुद्धम्) । ५४९१. (आत्मानं परं वा साक्षात्करोति परोक्षयतीत्यनेनान्वयनीम्) । ५४९२. आदिपदेन क्षेत्रकालभावाः । ५४९३. (मुख्यतः प्रत्यक्षमवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानानि, व्यवहारतस्तु प्रत्यक्षं चक्षुरादिजम्) । ५४९४. (स्वयं व्यवहितं लिङ्गशब्दादिना च ज्ञातुं योग्यं परोक्षद्रव्यादि) । ५४९५. (मुख्यत्वेन प्रत्यक्षमेकमपरं तु व्यवहारतः प्रत्यक्षम्) । ५४९६. मुख्यप्रत्यक्षादवधिमनःपर्ययकेवलरूपात् । ५४९७. व्यवहारप्रत्यक्षाच्चाक्षुषादिरूपाच्चावशिष्टं ज्ञानमनुमानादि परोक्षम् । ५४९८. प्रत्यक्षपरोक्षे द्वे ।

५४९९. यद्येकः पुरुषः साक्षात्करोति परोक्षयति च । ५५००. साक्षात्करणे परोक्षीकरणे चायं दृष्टान्तः । ५५०१. लिङ्गाच्छब्दाद्वा । ५५०२. अविवेकोऽभेदः । आदिपदेन एकादि । व्यामोहो विपर्ययः । ५५०३. योग्यदेशादिप्रकारेण । ५५०४. आत्मरूपं कर्तुं । ५५०५. कर्मपदम् । ५५०६. सुखादिभेदम् । ५५०७. अनेकाकारम् । ५५०८. (अक्रमादिरूपम्) । ५५०९. इत आह—जैनः । ५५१०. एकानेकाकारयोर्मध्ये द्रव्यस्य पर्यायस्य वा । ५५११. भेदरूपे अभेदरूपे वा । ५५१२. सुखादौ भेद एवाभेद एवेति । ५५१३. सदसदात्मकम् । ५५१४. स्यादस्ति भेदरूपे अभेदरूपे वा । ५५१५. (सह द्वौ धर्मौ वक्तुमशक्यत्वादवाच्यं तत्त्वमिति चतुर्थो भङ्गः) । ५५१६. नास्तीति । ५५१७. (अवक्तव्यमुत्तरं येषु ते । यथा स्यादस्त्यवक्तव्यम् । स्यान्नास्त्यवक्तव्यम् । स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम् । ५५१८. (स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावाः परद्रव्यक्षेत्रकालभावा इति स्वपररूपादिचतुष्टयम् । तस्मात् । क्रमेण स्वपररूपादिचतुष्टयद्वयमपेक्ष्य यदि वस्तु परीक्ष्येत तदोभयात्मकं (अस्तिनास्तिस्वरूपमेव) । ५५१९. प्राप्तस्य । ५५२०. द्वैतत्वादिति वा पाठः । ५५२१. (सहशब्दस्य 'वक्तुं' शब्देनान्वयः) । ५५२२. (अस्तित्वनास्तित्वधर्मयोः)

सहवाचकस्य)। ५५२३. स्यादस्त्यवक्तव्यं, स्यान्नास्त्यवक्तव्यं, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमिति। ५५२४. (यद्यपि स्वरूपादिचतुष्टयापेक्षया स्यादस्ति, तथापि युगपत् स्वपररूपादिचतुष्टयापेक्षया वक्तुमशक्यत्वादवक्तव्यमपीति हेतोः स्यादस्त्यवक्तव्यमित्यर्थः। एवं स्यान्नास्त्यवक्तव्ये स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्ये च भङ्गद्वये ज्ञेयम्)।

५५२५. तर्हि केवलोऽवक्तव्यत्वधर्मश्चतुर्थभङ्गः कथमुत्पद्यते इत्युक्ते सत्याह। तेषां सदसदुभयत्वधर्माणाम्। ५५२६. पररूपादिना सत् स्वरूपादिनाऽसदिति। ५५२७. विपर्यासेनादर्शनात्। ५५२८. दर्शनम्। ५५२९. स्वविषयोपलम्भात्मना परविषयानुपलम्भात्मना सदसदात्मकस्यैव प्रमाणत्वसिद्धेः, तथा सदसदात्मकस्यैव प्रमेयत्वव्यवस्थितेः। ५५३०. तज्जन्मादिप्रकारेण प्रमाणव्यवस्था घटते। अन्यथापि प्रमाणव्यवस्थोपपद्यते एवेति सौगताशङ्कायामाह। ५५३१. स अर्थः। ५५३२. स्वविषयस्यानुपलम्भव्यावृत्तिरिति उपलम्भ एव लक्षणं यस्य। स्वविषये घटे अनुपलम्भव्यावृत्तिरित्यस्य कोर्थः? स्वविषयोपलम्भ इत्यर्थः। ५५३३. सौगतेन। ५५३४. स च स्वविषयोपलम्भनियमस्तज्जन्मादौ सत्येव नान्यथा इत्याशङ्कायामाह। ५५३५. निर्विकल्पकज्ञानम्। ५५३६. योग्यतया। ५५३७. सौगतः। ५५३८. तदुत्पत्तिकल्पनं, तदनु योग्यता, तत् आकारनुरूपं, ततो विषयनिश्चय इति। ५५३९. प्रमाणत्वस्य तज्जन्मादिभिरन्वयव्यतिरेकौ दर्शयति सौगतः। ५५४०. स्वानुपलम्भव्यावृत्तिरिति स्वविषयोपलम्भ एव। ५५४१. अर्थचक्षुरादिभ्यो दर्शनस्य जन्मनि सत्यपि। दर्शनमर्थं गृह्णाति न चक्षुरादीनि। ५५४२. नीलाकारस्य दर्शनस्य। ५५४३. स्वसंतानसंतानान्तरयोरेकार्थाकारधारित्वेपि दर्शनं स्वसंतानं विषयीकरोति, न संतानान्तरम्। ५५४४. दर्शनस्य। ५५४५. प्राक्तनानन्तरप्रत्ययेन। ५५४६. दर्शनस्य। ५५४७. विभ्रमो हेतुर्येषां फलज्ञानानां तैः।

५५४८. पीताकाररूपस्य। ५५४९. प्राक्तने पीताकारज्ञाने। ५५५०. तस्य दर्शनस्य यत्प्रामाण्यं तस्य। ५५५१. स्वस्य शून्यस्य। ५५५२. सौगतः। ५५५३. प्रतिवादिनम्। ५५५४. नियतस्वविषयोपलम्भलक्षणमित्यर्थः। स्वविषये पटादेर्व्यावृत्तिर्लक्षणं यस्य। ५५५५. नियतस्वविषयम्। ५५५६. सौगतस्य। ५५५७. स्वार्थः शून्यता। ५५५८. अज्ञातं शून्यं वा। ५५५९. सौगतः। ५५६०. जैनम्। ५५६१. (सौगतः स्वयमेवाप्रतिपन्नं शून्यमर्थं परं प्रति प्रतिपादयितुं नालम्, उपालब्धं वा परं नालं यतः पराभ्युपगतं प्रमाणं स्वयं जानात्येव न, तन्मते सर्वस्य शून्यत्वादित्यर्थः)। ५५६२. प्रमाणप्रतिपत्तौ। ५५६३. (सौगतमतं निरस्य स्वसिद्धान्तं निरूपयति जैनः)। उपलम्भो विषयः। ५५६४. दर्शनस्य। ५५६५. स्वपररूपाभ्यां। ५५६६. तदेकोपलम्भनियमाभावे। ५५६७. (दर्शनमात्रात्) पुमान्। ५५६८. सन्तानान्तरज्ञानादेकोपलम्भाभावे न प्रवर्तते नापि निवर्तते नरो यथा। ५५६९. (एकस्योपलम्भ एव)। ५५७०. उपलम्भविषयभूतादन्यस्य। ५५७१. उपलम्भविषयभूतस्य। ५५७२. उपलम्भविषये। ५५७३. तथाविधात्। ५५७४. पुंसः। ५५७५. एकोपलम्भनियमाभावे। ५५७६. दर्शनात्। ५५७७. भ्रान्तज्ञानादपि प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्गात्। ५५७८. प्रमाणम्। ५५७९. वस्तु। ५५८०. क्रमरहितामित्यर्थः। ५५८१. वचनम्। कर्तृपदम्। ५५८२. एकदैव। ५५८३. (शब्दस्यैतादृश्येव शक्तिर्यदेकस्मिन्समये एकः शब्द एकमेव धर्ममभिधत्ते)। ५५८४. सर्वेषां पदानां प्रत्येकं कस्यचिदेकस्यैवार्थस्य विषयित्वप्रसिद्धेरित्यर्थः। ५५८५. (एकस्य पदस्यानेकार्थविषयत्वे)। ५५८६. (तयोः सदसतोर्मध्ये)। ५५८७. सच्छब्दस्यास्य सदर्थो वाच्योसदर्थो वा श्रुतस्यासच्छब्दस्य चासदर्थः सदर्थो वा वाच्य इति। न च तथा संशयो दृश्यते (सदसच्छब्दवाच्यज्ञाने) 'संशयात्' मुद्रितप्रतौ पाठः। ५५८८. (सर्वे हि दिगाद्यर्थवाचका गोशब्दा भिन्ना इत्यर्थः)। ५५८९. (घटपटाद्यनेकार्थान्नाति)। ५५९०. घटपटादिरूपेण।

५५९१. (इति जैनोक्तवाक्यस्य सप्तभङ्ग्यां तृतीयभङ्गरूपस्यैकत्वेऽप्यनेकार्थविषयत्वं, सदसतो-रुभयधर्मयोरनेनोक्तत्वादिति परेणाशङ्किते जैनः प्राह)। ५५९२. अत्र कालप्रत्यासत्तिरुपचारस्य निमित्तम्। ५५९३. क्रिया तिङ्रूपा। एकतिङ्वाक्यमिति वचनात्। ५५९४. ततश्चेत्यध्याहार्यम्। ५५९५. द्योतकवाचकभेदात्पक्षद्वयं तत्र वाचकपक्षे। ५५९६. (स्यादिति शब्दस्य)। ५५९७. द्योतकपक्षे। ५५९८. अन्यथेत्यध्याहार्यम्। ५५९९. (तस्य विवक्षितधर्मस्य)। ५६००. विधिवचनं नियतार्थवचनं। ५६०१. युगपत्। ५६०२. शब्दः। ५६०३. जैनैरे

५६६७. द्रव्यापेक्षया । ५६६८. शब्दस्य विषयः । ५६६९. ततश्चेत्याध्याहार्यम् । ५६७०. सत् द्रव्यम्, असत् पर्यायः । ५६७१. व्यस्तं क्रमप्राप्तं । युगपत्सह अक्रम इति यावत् । ५६७२. (भङ्गत्रयमेव दर्शयति ग्रन्थकारः) । ५६७३. सदित्यागतरूपम् । ५६७४. सदित्यागतरूपस्य व्यक्त्य द्रव्यस्याश्रयणात्त्वत्र सदिति कथनं, द्रव्यपर्याययोः सदित्यागतरूपम् । ५६७५. सहार्पितयोस्तदैवाश्रयणादवक्तव्यं चेति स्यात्सदवक्तव्यरूपः पञ्चमभङ्गः संघटते । (एवमुत्तरापि षष्ठसप्तमभङ्गयोज्यम्) । ५६७६. द्रव्याश्रयणे सदंशो विवक्षित इत्यर्थः । ५६७७. असदिति । ५६७८. इति स्वामिसमन्तभद्राणामभिप्रायः । ५६७९. अद्वैतापेक्षया । ५६८०. सत्सामान्यरहितम् । ५६८१. पराभ्युपगममात्रात्र तु परमार्थतः । ५६८२. अन्यापोहसामान्यस्याऽसत्त्वरूपरूपत्वेन पर्यायत्वं न विहन्यते इति भावः । ५६८३. अन्यापोहसामान्यं यथा अगोव्यावृत्तिर्गीः । ५६८४. यागमतापेक्षया । ५६८५. (सामान्यरूपेण सदवक्तव्यमेव विशेषापेक्षयाऽसदवक्तव्यमेवेत्यर्थः । कुतः ? यतो यागमते सामान्यं नित्यमेकं सर्वगतं सर्वथाऽभिन्नमस्ति । तदपेक्षया सदवक्तव्यमेव । घटपटादींस्तु यौगोऽनित्यानेव मन्यन्ते । तदाद्यपेक्षया असदवक्तव्यमेव वस्तु सर्वथा) । ५६८६. सदवक्तव्ये एवासदवक्तव्ये एव सदसदवक्तव्ये एव च क्रमेण । ५६८७. अद्वैतपक्षे । ५६८८. विशेषरहितम् । ५६८९. परेण अद्वैतवादिना । ५६९०. व्यक्त्यपेक्षयापि सामान्यापेक्षयेव । ५६९१.

(सर्वात्मना सामान्यमेव यदि तदा शब्देन नैव वाच्यं स्यात्) । ५६९२. (पुंस्त्वस्त्रीत्वानपेक्षम्) । ५६९३. सामान्यस्य । ५६९४. स्वविषयज्ञानमात्रे । ५६९५. सामान्यस्य । ५६९६. स्वविषयज्ञानजनने । ५६९७. अप्रतिपन्नत्वाविशेषात् । ५६९८. सामान्यस्य । ५६९९. व्यक्तिभिः ।

५७००. तस्य ताभिरुपकारः क्रियते न वेति । ५७०१. उपकारः सामान्यादभिन्नो भिन्नो वेति विकल्पद्वयमत्रापि । ५७०२. व्यक्त्याः कार्यत्वप्रसङ्गः । सामान्यमपि कृतं स्यादित्यर्थः । ५७०३. सामान्यादभिन्नस्य । ५७०४. उपकारस्य । ५७०५. अस्यायमुपकार इति । ५७०६. सामान्यस्य । ५७०७. संबन्धसिद्ध्यर्थम् । ५७०८. तस्य ताभिरनुपकारकरणे । ५७०९. अकिञ्चित्करस्य सहकारित्वाभावादित्यर्थः । ५७१०. आलम्बनो विषयः । ५७११. एकज्ञाने । ५७१२. (व्यक्तीनाम्) । ५७१३. अनधिगमत्वेन व्यापारोधिपतित्वम् । ५७१४. (तत्र ज्ञाने आलम्बनभावेन व्यक्तीनामपि व्यापृतत्वात्) । ५७१५. अथवा अदृष्टस्य शुभाशुभलक्षणस्याधिगतस्य रूपज्ञानेधिपतित्वेन व्यापारोस्ति नैव । ५७१६. बाहादिरूपायां ज्ञानादिरूपायां वा । ५७१७. नित्यात्सामान्यात् । ५७१८. खण्डमुण्डादौ । ५७१९. सामान्यविशेषयोरसंबन्धात् । ५७२०. सामान्यस्य साक्षादर्थक्रियायामुपयोगं परिहृत्य परम्परयापि तं परिहरति । ५७२१. परम्परया । ५७२२. (संयोगसमवायाभ्यां व्यतिरिक्तस्य संबन्धान्तरस्य वादिमते असिद्धेः) । ५७२३. सामान्यविशेषव्यतिरिक्तः । ५७२४. तादात्म्यस्य । ५७२५. उक्तप्रकारेण । ५७२६. इति विशेषज्ञानात् । ५७२७. सामान्ये । ५७२८. सामान्यवान्विशेष इति । ५७२९. विशेषणविशेष्यभावः सामान्याविशेषाभ्यां भिन्नोऽभिन्नो वेति विकल्पद्वयं कृत्वा क्रमेण दूषयन्ति जैनाः । ५७३०. अमेदेङ्गीक्रियमाणे । ५७३१. स्वसिद्धान्तो भेदपक्षः । ५७३२. सामान्यविशेषयोः । ५७३३. भेदे । ५७३४. संबन्धानुपपत्तेः ।

५७३५. अभिन्नमेव वा सर्वथा । ५७३६. शब्देन जातिराक्षिप्यते जात्या व्यक्तिस्ततः प्रवृत्तिरिति । ५७३७. अमूर्तैकरूपस्य सामान्यस्य । ५७३८. सामान्यमिति नामापि । ५७३९. शब्देनागृहीतम् । ५७४०. विद्यमानेनापि सामान्येन । ५७४१. अन्यशब्देन सामान्यान्तरं ग्राह्यम् । ५७४२. विशेषस्य विशेषान्तराद्व्यावृत्त्यभावे स्वभावहानिप्रसङ्गो यथा । ५७४३. सामान्यस्य सामान्यान्तराद्व्यावृत्तौ स्वभावहानिप्रसङ्गो यथा ततो विशेषात् । ५७४४. भाष्यं भावयन्नाह । ५७४५. विशेषरूपाश्रयात् । ५७४६. विशेषस्य यथा विशेषाद्व्यावृत्तौ प्रतिनियतस्वभावहानिः । ५७४७. नैवाधिकवैशेषिकसांख्यभाट्टप्रभाकराणाम् । ५७४८. आनन्त्यादिति साधनं कथं सिद्धम् ? संकेताविषयत्वात् । तदपि कथम् ? अनन्वयात् । तदपि कथम् ? शब्दव्यवहारविषयत्वात् । (इति पूर्वपूर्वहेतुत्वमुत्तरोत्तरस्य) ५७४९. संकेतितस्य स्वलक्षणस्य व्यवहारकालेऽनुगमभावात् । ५७५०. स्वलक्षणस्य मा भूत्, सामान्यस्य वाच्यत्वं स्यादिति बौद्धेनोक्ते आह जैनः । ५७५१. अन्यापोहः सामान्यं बौद्धाभिमतम् । ५७५२. ज्ञानस्य । ५७५३. अन्यापोहस्य विषयो गोत्वादिः । ५७५४. आह सौगतः । ५७५५. त्रिरूपलिङ्गस्यान्यस्मात्पञ्चरूपलिङ्गादितो व्यावृत्त्या अन्यापोहलक्षणस्य प्रकाशकम् । ५७५६. साधनवचनात् । ५७५७. यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं, घटमानयेत्यादि । ५७५८. अन्यद्वचनस्य । ५७५९. ततश्च नान्यापोहः सर्वस्य शब्दस्यार्थ इत्येतत्सिद्धसाधनम् । कुतः ? साधनवचनस्यान्यापोहविषयत्वोपगमात् । ५७६०. जैनः प्राह । ५७६१. अर्थो विषयः । ५७६२. लिङ्गशब्देनात्र लिङ्गवाचकं वचनं (यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमिति) ग्राह्यम् । ५७६३. वस्तुस्वलक्षणम् । ५७६४. केनापि प्रमाणेन । ५७६५. विषयः । ५७६६. आह सौगतः । ५७६७. साधनवचनस्य । ५७६८. इतो जैनो ब्रूते । ५७६९. स्वलक्षणक्षणक्षयस्यापि शब्दार्थत्वादित्यर्थः । ५७७०. अस्तित्वसाधनात् । ५७७१. सौगतः । ५७७२. नीलक्षणक्षयस्य । ५७७३. अन्यापोहार्थः समर्थ्यते । ५७७४. स्वलक्षणरूपस्य ।

५७७५. जैनः । ५७७६. दृश्यविकल्पयोः । ५७७७. सामान्यस्य विकल्पस्यान्यापोहलक्षणस्य । ५७७८. त्रिविप्रकृष्टेतरयोरप्येकत्वाध्यवसायप्रसङ्गात् । ५७७९. सामान्यस्य विकल्पस्य । ५७८०. स्वलक्षणग्राहकप्रत्यक्षस्य, ५७८१. निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण । ५७८२. स्वलक्षणदर्शनमिध्याध्यवसाययोः । ५७८३. विकल्पस्य । ५७८४.

सौगतः । ५७८५. एष विषयो नीलस्वलक्षणः । ५७८६. निर्णयजनकम् । ५७८७. संशयादिना दर्शनविषयसमारोपस्य व्यवच्छेदनाभावात् । ५७८८. १४-१५ । ५७८९. नीलस्वलक्षणे । ५७९०. बसः, (बहुव्रीहिः) । ५७९१. विवक्षितांशोऽक्षणिके । समारोपव्यवच्छेदकनिर्णयजनकदर्शनविषये । ५७९२. तन्मात्रस्या- (क्षणिकस्य) न्यस्मा (अक्षणिकात्)-दपोहो व्यावृत्तिर्गोचरो यस्य तत्, अक्षणिकाव्यावृत्तं क्षणिकमिति तात्पर्यम् । ५७९३. समारोपं व्यवच्छिनतीति समारोपव्यवच्छेदो विकल्पस्तस्य । ५७९४. यथा नीलादिस्वलक्षणदर्शनस्य स्वस्वरूपव्यवस्थापनार्थं विकल्पान्तरेण भाव्यं तथा समारोपव्यवच्छेदविकल्पस्यापि स्वस्वरूपव्यवस्थापनार्थं विकल्पान्तरेण भाव्यमित्यनवस्था । ५७९५. विकल्पः स्वसंवेदनं नीलादिस्वलक्षणदर्शनयोः । ५७९६. वस्तु नीलादिक्षणः । तस्य दर्शनं प्रत्यक्षम् । समारोपः अक्षणिकः । ५७९७. तत्त्वपरिसमाप्तौ । ५७९८. क्षणिके अक्षणिकस्य समारोपः । ५७९९. विकल्पः । ५८००. निश्चयः । ५८०१. स्वस्वरूपम् । ५८०२. वस्तुदर्शनस्येति पदं देहलीदीपकन्यायात् निश्चयापेक्षया इति पूर्वोक्तेऽपि वाक्ये सम्बध्यते । ५८०३. परिनिष्ठिताविकल्पनेनान्वयः । ५८०४. वस्तुदर्शनस्य स्वतः स्वरूपपरिनिष्ठान्ते ।

५८०५. खण्डादयो हि विशेषसमानपरिणामरहिता एव एकप्रत्ययवमशदिकार्यहेतवो भवन्ति, अतत्कार्यकारणव्यावृत्तत्वादिन्द्रियादिवत्समुदितेरगुडूच्यादिवच्चेत्यादि वदन्निति संबन्धः । अतत्कार्यकारणो हि गौः । ५८०६. समुदिता इतरे शुण्ठ्यादयो यत्र ते तथोक्ताः । ते च ते गुडूच्यादयश्च । तद्वत् । ५८०७. बौद्धः । ५८०८. अतत्कार्यकारणव्यावृत्तेः । ५८०९. कर्कादिविशेषे श्वेतघोटकादौ । ५८१०. अतत्कार्यकारणव्यावृत्तौ संकेतदर्शिनोपि । ५८११. (घोटकादौ) । ५८१२. द्वन्द्वः । ५८१३. व्यतिरेको व्यावृत्तिः । ५८१४. गुडूच्याद्युदाहरणस्य । ५८१५. कर्कटिकादिविशेषखण्डपुषः । ५८१६. कारणस्य जननशक्तेः कार्यं जन्यशक्तिः । ५८१७. (इति शब्दोत्र 'यतः' इत्यर्थे) । ५८१८. नास्तित्वस्य पररूपाश्रयत्वेऽपि वस्तुरूपत्वं यदि । ५८१९. पररूपाश्रितं नास्तित्वं विवक्षितवस्तुस्वरूपं स्यादित्यतिप्रसङ्गः । ५८२०. अद्वैतवादिनम् । ५८२१. वस्तुनो धर्मः । ५८२२. नास्तित्वेन । ५८२३. जीवादौ । ५८२४. हेतौ यथा साधर्म्यं वैधर्म्येण सहाविनाभावि ।

५८२५. (भिन्नाधिकरणमस्तित्वं नास्तित्वेन सहाविनाभावि नेत्यर्थः) । ५८२६. (अयुक्तमुदाहरणं दृष्टान्तस्य हेतुदेशेषु सर्वत्राघटनात्) । ५८२७. (केवलान्वयिनि हेतौ) । ५८२८. साधर्म्यवैधर्म्येति । ५८२९. स्वमतापेक्षया प्रतिज्ञाय (उक्त्वा) बौद्धमतापेक्षयाभिप्रेत्य (उपरिष्ठात्प्रकरणादिवशेन ज्ञात्वा, बौद्धमते पक्षवचनस्यानभिप्रेतत्वात्) । ५८३०. जीवादितत्त्वे यथान्वयोस्ति । ५८३१. जीवः परिणामी, प्रमेयत्वात्, यो यः प्रमेयः स स परिणामी यथा घटः, यो न परिणामी स न प्रमेयो यथा खपुष्पमिति । ५८३२. साधनधर्मः प्रमेयत्वम् । ५८३३. खपुष्पादौ । ५८३४. खपुष्पमिति । ५८३५. (इति सौगतेनाशङ्क्येत चेत्तर्हि न किञ्चिदित्याह जैनः) । ५८३६. खपुष्पप्रमितौ । ५८३७. अन्यथेत्यध्याहार्यम् । खपुष्पप्रमितौ प्रमाणं चेदित्यर्थः । ५८३८. अयं प्रमेयः, असौ प्रमेयाभाव इति व्यवस्था न स्यात् । ५८३९. अवाच्यस्य । ५८४०. अनिर्देश्यत्वकल्पनापोढत्वव्यवहारस्य । ५८४१. जैनस्य । ५८४२. खपुष्पपरिच्छितौ । ५८४३. प्रमाणाभावेऽपि । ५८४४. सौगतीयम् । ५८४५. प्रमेयाभावस्य शब्दविकल्पविषयत्वेऽपि प्रमेयत्वाभावो यतः । ५८४६. खपुष्पादयः । ५८४७. प्रत्यक्षे । ५८४८. खपुष्पादीनाम् ।

५८४९. (स्वभावहेतुना कार्यहेतुना वाविनाभावसंबन्धाभावात्) । ५८५०. लिङ्गरूपेण । ५८५१. (अर्थक्रियाकारित्वाभावाभावादित्यर्थः) । ५८५२. (सतोऽर्थक्रियाकारित्वाभावाभावलक्षणत्वात्) । ५८५३. प्रतिबन्धाभावेऽपि खपुष्पादीनां प्रमेयत्वं स्यादित्युक्ते आह । ५८५४. (खपुष्पादीनाम्) । ५८५५. प्रत्यक्षानुमानाभ्यां व्यतिरिक्तं तृतीयम् । (न च बौद्धेन तृतीयं प्रमाणं स्वीकृतमतो दोषः) । ५८५६. प्रमेयत्वस्य धर्मस्य । ५८५७. (नो चेत्प्रमाणाविषयत्वरूपस्य धर्मस्य अनाश्रयत्वं तर्हि) । ५८५८. ततश्चेत्यध्याहार्यं (खपुष्पादीनां वस्तुत्वापत्तावित्यर्थः) । ५८५९. स्वलक्षणं सत्, अन्यापोहस्त्वसदिति । ५८६०. असद्व्यवहाराभावः । ५८६१. आकाशाद्यात्मकस्वलक्षणं मुक्त्वा खपुष्पाद्यभावो न दृश्यते । खपुष्पादीनामभावाभावे च तेषां प्रमेयत्वमेवेति बौद्धेनाशङ्किते प्राहुर्जैनाः । ५८६२. खपुष्पाभावः । ५८६३. नियमो निषेधः । ५८६४. एकतानत्वमेकविषयत्वम् । ५८६५. एकतानत्वाभावोऽसिद्ध इति सौगतोपे वदति । ५८६६. (तयोः खशशाद्योः) । ५८६७. खशशादेर्विधिः, पुष्पविषाणयोर्नियमः (प्रतिषेधः) ।

५८६८. जैनः । ५८६९. गगनापेक्षया भावः पुष्पाद्यपेक्षया चाभावः । ५८७०. (विधिश्च नियमश्चेति तयोः) । ५८७१. सौगतः । ५८७२. विशेषो भेदः । ५८७३. केवलविधिमात्रे स्वस्वरूपे पुष्पाभावः, तत्स्वभावाभावे संकेतः खशब्देनेदं वाच्यं । ५८७४. खादौ । ५८७५. विधिनियमरूपवस्तुस्वभावावेकत्र । ५८७६. तत् वस्तु । ५८७७. अभिधानः शब्दः । प्रत्ययः विकल्पः (बौद्धाभिमतः) । ५८७८. तयोः खपुष्पयोर्मध्ये एकस्मिन् यथा विधिनियमौ न स्तः । ५८७९. (भाष्यं भावयन् सौगतमुखेन शङ्कामाह) । स्थापनारूपे इन्द्रे । ५८८०. संकेतविशेषानुपपत्तेः । ५८८१. कथमभिधानप्रत्ययविशेष उत्पद्यते इत्युक्ते च सौगतः प्राह । ५८८२. अभिधानप्रत्ययविशेषस्य । ५८८३. सौगतः । ५८८४. सर्वस्य । ५८८५. इन्द्रशब्दस्य भावरूपे इन्द्रे प्रधानभावेन वृत्तिरिन्द्रे (स्थापनारूपे) च गुणभावेनेति ।

५८८६. वस्तुस्वभावभेदाभावे । ५८८७. संकेतविशेषः । ५८८८. वस्तुस्वभावभेदमन्तरेण । ५८८९. वस्तुस्वभावभेदनिबन्धसंकेतविशेषं विना प्रत्ययविशेषो यदि स्यात् । ५८९०. खपुष्पयोः । ५८९१. विधिप्रतिषेधभूतौ (खपुष्पयोः) । ५८९२. भवतो (सौगतस्य) मते । ५८९३. प्रत्यय एकत्र भवतु । को दोषः ? इत्युक्ते आह । ५८९४. अर्थमर्थं प्रति । ५८९५. पररूपेभ्यः । ५८९६. अन्यापोहस्य । ५८९७. संबन्धि खं, संबन्ध्यन्तरं पुष्पादि । ५८९८. पुष्पविषाणादीनि । ५८९९. आकाशादेः । ५९००. व्यावृत्तेः (पुष्पस्य) । ५९०१. आकाशादेः । ५९०२. आत्मनः । ५९०३. पुत्रमित्रकलत्रादिषु । ५९०४. सन्तु । ५९०५. एतत्समर्थयन्नाह । ५९०६. सहकारीणि । ५९०७. तस्य तस्य कार्यस्य । ५९०८. आत्मादि वस्तु । ५९०९. कार्यकारणैकस्वभावम् । ५९१०. नानाकारणानां मध्ये एककारणं यथा कार्यकारणस्वभावं न जहति । ५९११. नित्यम् । ५९१२. नित्यस्य । ५९१३. अन्वेषते । ५९१४. क्षणिकरूपायाम् । ५९१५. बीजलक्षणस्य । ५९१६. संबन्ध्यन्तराणि वस्तुस्वभावभेदकानि यस्मात्तस्मात् । ५९१७. खादयः । ५९१८. परमार्थतः । ५९१९. भेदं स्वलक्षणनिरंशम् । ५९२०. इति सौगतोक्तं न युक्तमिति संबन्धः ।

५९२१. स्वलक्षणं भेदम् । ५९२२. वस्तुनः । ५९२३. (विधिप्रतिषेध-सत्त्वासत्त्व-क्षणिकत्वाक्षणिकत्वाद्यनेकस्वभावस्य) । ५९२४. तत्तस्मात् । ५९२५. विनिर्भासो भेदः । ५९२६. विधिप्रतिषेधरूपम् । ५९२७. संवृतिः । ५९२८. सौगतादिः । ५९२९. वस्तुनि । ५९३०. असहायो निरंशः । ५९३१. अन्यथा (निरंशरूपोपलब्ध्यभावे नानारूपोपलब्धिः संवृतिरित्युच्यते) चेत् तर्हि । ५९३२. सत्त्वरजस्तमसां सांख्योक्तानाम् । ५९३३. प्रधानम् । ५९३४. बुद्ध्यादिकम् । ५९३५. इवशब्दोत्र वाक्यालङ्कारे । ५९३६. निस्स्वभावम् । ५९३७. प्रपञ्चम् । ५९३८. ईदमनेन समानमिति । ५९३९. नीलोत्पलादौ । ५९४०. इत्यादिभिन्नाकारान् । ५९४१. स्वस्याम् (संवृतां) । ५९४२. सौगतम् । ५९४३. निवारयति । ५९४४. अनेकरूपताम् । ५९४५. संवृतिवत् । ५९४६. सौगतम् । ५९४७. हेत्वादीनाम् । ५९४८. वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वं सिद्धं यतः । ५९४९. यथा खपुष्पाभावः । ५९५०. सौगतोक्तम् । ५९५१. अगोर्व्यावृत्तिर्गीर्यथा । ५९५२. निःस्वभावाः (असत्याः) । ५९५३. अनुत्पन्नेन ज्ञानेनाविशेषात् ।

५९५४. स्वलक्षणासंस्पर्शिनः । ५९५५. क्षणिकमेव । ५९५६. सौगतस्य । ५९५७. नियमानुपपत्तेः । ५९५८. शिष्यम् । ५९५९. विद्यानन्दानाम् । ५९६०. पदार्थः । ५९६१. न केवलं विशेषणं हेतौ धूमादौ । ५९६२. सौगतः । ५९६३. जैनः । ५९६४. साध्ये सत्येव साधनमस्तीति । ५९६५. (अन्यथा साध्याभावे अनुपपत्तिरूपं साधनम् । तच्च स व्यतिरेकश्चेति तद्वत्) । ५९६६. (अन्यथेति शेषः) । ५९६७. सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् । यत्सत्तत्क्षणिकं यथाऽमुकमित्यत्र सौगताभिमतम् । ५९६८. वैधर्म्येणाविनाभावि । ५९६९. व्यतिरेको भेदो वैधर्म्यमित्यर्थः (वैधर्म्यपेक्षयैव साधर्म्यं भवतीत्यर्थः) । ५९७०. (साधर्म्यम्) । ५९७१. इति कालात्ययापदिष्टत्वनिराकरणम् । ५९७२. अस्तित्वेन । ५९७३. भेदकत्वात् । ५९७४. वैधर्म्यं साधर्म्येण सहाविनाभावि क्वचिदनुमाने । ५९७५. अन्वयापेक्षया । ५९७६. शब्दोऽनित्यः, कृतकत्वात्, यो यः कृतकः स सोऽनित्यो यथा घटः । यत्रानित्यं तत्र कृतकं यथा गगनमिति ।

५९७७. सपक्षेण सह । ५९७८. नित्ये । ५९७९. कर्तृपदम् । ५९८०. (विशेषणं च वैधर्म्यम्) । ५९८१. यथास्तित्वे पक्षीकृते विशेषणत्वस्य भावः । ५९८२. खपुष्पे । ५९८३. स्वेन नास्तित्वेन प्रतिषेध्यमस्तित्वम् । तदविनाभावरहिते । ५९८४. विशेषणहेत्वोः । ५९८५. स्वप्रतिषेध्याविनाभावरहितत्वप्रकारेण । ५९८६. नास्तित्वस्य (खपुष्पे) । ५९८७. दृष्टान्तो निरन्वय इत्युक्ते आह । व्यतिरेकलक्षणस्य । ५९८८. आदिना उभयवैकल्यसंग्रहः । ५९८९. अन्वयदृष्टान्तस्य । ५९९०. व्यतिरेकविवक्षया । ५९९१. व्यतिरेकदृष्टान्तवत् । ५९९२. अभेदोऽन्वयः । ५९९३. साधर्म्यं तदेव वस्तु सद्ब्रुतु । ५९९४. (सांगतापेक्षया) । ५९९५. व्यतिरेकविवक्षा । ५९९६. (अनित्यत्वे साध्ये गगनादीनां व्यतिरेकोस्ति तथाप्यभेदोऽन्वयोस्त्विति), अनित्यघटयोरभेदाविवक्षास्ति तथापि भेदविवक्षा भवत्विति च । ५९९७. सांगतैः । ५९९८. व्यतिरेकान्वयविवक्षयोः । ५९९९. भेदस्य विपक्षोऽभेदः । अभेदस्य विपक्षो भेदः । इतरः सपक्षः । ६०००. जीवादौ । ६००१. अस्तित्वेनाविनाभावि । ६००२. अस्तित्वसद्भावे । ६००३. नास्तित्वविशेषणस्य हेतोः । ६००४. साध्याभावेपि साधनस्य सद्भावो यदि, अस्तित्वाभावेपि विशेषणं वा यदि । ६००५. कथमित्युक्ते समर्थयन्ति पूर्वोक्तम् । ६००६. विशेषणस्य । ६००७. करभे इव । ६००८. करभे दधि वा । ६००९. करभत्वादिना । ६०१०. नास्तित्वादिति । ६०११. नास्तित्वमस्तित्वेनाविनाभावि, विशेषणत्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतोः । ६०१२. साध्यरहिते खपुष्पे । ६०१३. ननु हेतोरन्यथानुपपत्तिसिद्धावपि धर्मधर्मिव्यवस्थायाः कल्पितत्वादानुमानस्यापि कल्पितत्वे कथं समञ्जसत्वं स्यादित्युक्ते ग्राह जैनः ।

६०१४. बुद्ध्यारूढाद्धर्मधर्मिन्यायात्तत्त्वप्रतिपत्तिर्नोपपद्यते यतस्तस्मात् । ६०१५. असमीक्षितस्तत्त्वार्थः क्षणिकरूपो यस्ते तैर्जनैः । ६०१६. तत्त्वं साध्यम् । ६०१७. बौद्धोक्तम् । ६०१८. भावानां पदार्थानां स्वभावो भेदाभेदलक्षणः । तस्योपरोधात् स्वीकारात् । ६०१९. भावस्वभावोपरोधात् चेद् भेदाभेदव्यवस्थितिस्तदा । ६०२०. भेदाभेदव्यवस्थितेः । ६०२१. प्रतिषेध्याविनाभावित्वविशेषणत्वयोः । ६०२२. अस्तित्वं नास्तित्वं च । ६०२३. पूर्वकारिकाद्वयप्रोक्तम् । ६०२४. अस्तित्वं नास्तित्वं च धर्मो, जीवादिर्योः । ६०२५. सांगताः । ६०२६. (अस्तित्वं नास्तित्वं च) । ६०२७. अस्तित्वं च । ६०२८. कारिकार्थं विवृणाति । ६०२९. साध्यधर्मः । ६०३०. अत्र प्रथमान्तत्वेऽप्यस्य हेतुत्वं यथा गुरुत्वादित्यर्थः । ६०३१. क्वचिद्धर्मो साध्यो भवति । ६०३२. धर्मिणः । ६०३३. साध्यलक्षणो धर्मो धर्मियुपचर्यते इत्यर्थः । ६०३४. धर्मिणः साध्यत्वेनोपचारस्य । ६०३५. एकः पक्षधर्मो एकश्च दृष्टान्तधर्मो । उपचारप्रयोजनमत्र दृष्टान्तार्थव्यवच्छेद इत्यर्थः । ६०३६. धर्मिणः । ६०३७. उत्पत्तिमत्त्वादिति । ६०३८. अनित्यत्वस्योत्पत्तिमत्त्वादिर्गमको, नित्यत्वस्य त्वगमको यतः । ६०३९. इतरः साध्याविनाभावः । ६०४०. विधेयप्रतिषेध्यात्मा । ६०४१. कथंचित्सर्वोपि जीवादपदार्थो विधेयप्रतिषेध्यात्मा, विशेष्यत्वात् । यथा कृतकत्वादिहेतुरनित्यव्यसाध्यापेक्षया हेतुः, नित्यत्वसाध्यापेक्षयाऽहेतुश्चेति । ६०४२. हेतुवत् ।

६०४३. हेतुवत् । ६०४४. शब्दगोचरत्वे विशेष्यत्वं विशेष्यत्वे च शब्दगोचरत्वमिति । ६०४५. बौद्धान् । ६०४६. जीवादः शब्दगोचरो विशेष्यत्वादिति । ६०४७. शब्दाद्वैतवादिनः । ६०४८. जीवादः विशेष्यः, शब्दगोचरत्वादिति । ६०४९. जीवादः शब्दगोचरो विशेष्यश्च, वस्तुत्वादिति । ६०५०. पक्षदृष्टान्तकथनसामर्थ्यतः । ६०५१. तदुभयासत्त्ववादिनः । ६०५२. वस्तुत्वादेव । ६०५३. बौद्ध आह । ६०५४. स्वलक्षणस्य । ६०५५. सविकल्पकज्ञाने एव । ६०५६. तत् अस्तित्वादिति । ६०५७. विधिनिषेधादिभेदेन । ६०५८. अस्तित्वादिना । ६०५९. सत् । ६०६०. बौद्धस्य । ६०६१. सांगतेन । ६०६२. यस्य वस्तुनो दर्शनं तस्यैव ग्राहको विकल्पस्तत्पृष्ठभावी, न त्वन्यस्य यतः । ६०६३. स्वलक्षणस्य । ६०६४. सांशत्वम् । ६०६५. विधिनिषेधरूपभेदयोरभावे । ६०६६. बौद्धं प्रति । ६०६७. अद्वैतं प्रति । ६०६८. यौगं प्रति । ६०६९. जात्यन्तरेण । ६०७०. वस्तुनः । ६०७१. धर्मिणा । ६०७२. जीवादिर्विधेयप्रतिषेध्यात्मेति ।

६०७३. धर्मिणि विधिप्रतिषेधयोः । ६०७४. समवायादिः संबन्धान्तरम् । ६०७५. यत एवं सिद्धं तत एतन्मतं भावत्कं न सारम् । ६०७६. सामान्यादिमतां द्रव्याणामेतत् प्रत्यक्षग्रहणं न संभवतीत्यर्थः । ६०७७. जात्यादिमतामभावे ।

६०७८. तव बौद्धस्य । ६०७९. प्रत्यक्षग्रहणासंभवात् । ६०८०. विशेषणं सदसत्त्वे । ६०८१. जीवादि । ६०८२. प्रत्यक्षं कर्तृ । ६०८३. विशेषणविशेष्यग्रहणानन्तरम् । ६०८४. (विशेषणविशेष्ययोः संबन्धम्) । ६०८५. लोकस्थितिग्रहणानन्तरम् । ६०८६. (बौद्धाभितमस्य) । ६०८७. प्रत्यक्षे परोक्षे च जात्यन्तरस्य निर्बाधमनुभवे सति । ६०८८. प्रत्यक्षानुमानागमानाम् । ६०८९. स्पष्टास्पष्टतया । ६०९०. प्रत्यासन्नेतरयोः पुंसोर्धे दर्शने एकपादपविषये तयोर्विषयभेदो नास्ति यथा । ६०९१. एकः पादपो विषयो ययोः । ६०९२. सामान्यविशेषात्मकवस्तुनः प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनेन । ६०९३. साध्यमेव धर्मो तस्य धर्मः, साध्यधर्मिधर्मः । धूमादिश्च कृतकत्वादिश्च धूमादिकृतकत्वादिः । स च स साध्यधर्मिधर्मश्चेति तस्य । ६०९४. भाष्येण तथैव दर्शयन्त्यकलङ्कदेवाः । ६०९५. वादिप्रतिवादिभिः । ६०९६. सौगतः ।

६०९७. तद्वेतुसाक्षात्करणे । ६०९८. साध्येतरानपेक्षायाम् । ६०९९. अग्रिमत्वादौ । ६१००. विरोधानुपलम्भात् । ६१०१. हेतोर्हेतुत्वाहेतुत्वधर्मसाक्षात्करणप्रकारेण । ६१०२. हेतुरूपम् । ६१०३. यदभिधेयं तद्विशेष्यमित्यनया व्याप्त्या यथा जीवादेर्धर्मित्वं तथास्तित्वादिविशेषणस्यापि धर्मित्वमापादितं बोद्धव्यम् । ६१०४. विवादग्रहाधिकरणम् । ६१०५. विधेयप्रतिषेध्यात्मेति साध्यम् । ६१०६. विशेष्यत्वात् शब्दगोचरत्वादिति साधनम् । ६१०७. शब्दगोचरत्वं विशेषणम् । ६१०८. सत्त्वादिधर्मस्य । ६१०९. अपेक्षया । ६११०. तस्माद्यदभिधेयं तद्विशेष्यमित्यत्र, यद्वा विशेष्यं तदभिलाष्यमित्यत्र चानुमानद्वये यथोत्पत्त्यादिरित्यादेरसंभवात्कथं तद्वचनमित्याशङ्क्यामाह । तस्माद्यदभिधेयं तद्विशेष्यमित्यत्रानुमाने यद्वा विशेष्यं तदभिलाष्यमित्यत्र, यद्वा वस्तु तत्सर्वं विधेयप्रतिषेध्याप्रतिषेध्यात्मकमित्यनुमाने च विमत्यधिकरणसत्त्वाभिधेयत्वादिशब्देन लब्धं जीवादिकं धर्मि (साधनं च) एकत्रोक्तं सर्वत्र योज्यम् । ६१११. त्रिष्वप्यनुमानेषु । ६११२. नीयते प्राप्यतेऽनेनेति नयो हेत्वादिः, नापरः । ६११३. असाधनेऽपेक्ष्यमाणे तृतीयादिभङ्गस्य शेषत्वं, साधने त्वपेक्ष्यमाणे चतुर्थादिभङ्गस्य शेषत्वमिति भावः । ६११४. तृतीयभङ्गस्य सिद्धिर्जातित्यभिप्रायश्चेत्तदा चतुर्थादयः शेषा ज्ञेयाः । ६११५. यथोक्तेति शब्देन विशेषणत्वाद्विशेष्यत्वादभिलाष्यत्वाद्वस्तुत्वादित्यादिहेतूनाचार्यो गृह्णाति । ६११६. तस्मात् । ६११७. चतुर्थभङ्गादयः । ६११८. जीवादौ । ६११९. प्रत्यनीको विरुद्धः । ६१२०. हेतुरयम् । ६१२१. साधर्म्यं यथा वैधर्म्येणाविनाभावि वैधर्म्यं च साधर्म्येणाविनाभावीति ।

६१२२. उत्पत्तिमत्त्वादौ । ६१२३. (अव्यक्तव्यत्वप्रत्यनीकेन । एवं सर्वत्र तत्तत्प्रत्यनीकं ज्ञेयम्) । ६१२४. स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्तिनास्ति, इति भङ्गत्रयम् । तेनाविनाभावि अव्यक्तव्यत्वं चतुर्थभङ्गरूपम् । ६१२५. केवलं स्यादस्त्यवक्तव्येन स्यान्नास्त्यवक्तव्येन इत्यनुभयरूपेण । ६१२६. पूर्वोक्तानां हेतुरूपोदाहरणरूपनयानामत्रापि संभवात् । ६१२७. धर्माणां स्वप्रत्यनीकधर्माविनाभावित्वे साधिते सति । ६१२८. विरुद्धम् । ६१२९. 'अन्यथा' शब्दस्यार्थं करोति । ६१३०. वस्तुनः । ६१३१. न्यायेन । ६१३२. अस्त्येव नास्त्येव वेत्यव्यवस्थितं तच्च तदनेकान्तात्मकं च सर्वथा विधिरूपेण प्रतिषेधरूपेण वानवस्थितम् । ६१३३. जीवादि वस्तु । ६१३४. उदाहरणमिदम् । ६१३५. बहिरन्तरूपाधिः यथासंख्यं सहकार्युपादानकारणैरनवस्थितं रहितं कार्यं यथार्थकृत्र तथा सर्वं जीवादिवस्तु विधिप्रतिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत्रेत्युक्ते कथंचिद् विधिप्रतिषेधावस्थितमेव कार्यकृत् । तथा कार्यमपि कारणैः सहितमेवार्थकृत् । प्रथमव्याख्यानं निषेधरूपतया द्वितीयं तु विधिरूपतयेति तात्पर्यार्थः । ६१३६. 'व्यवस्थितमिति' ल, स, प प्रतिषु । ६१३७. पूर्वोक्तप्रकारेण । ६१३८. सदेवासदेवं वेत्यनेन प्रकारेण परैरभ्युपगतम् । ६१३९. वक्ष्यमाणप्रकारेण । ६१४०. उपदर्श्यते । 'उपलभ्यते' पाठान्तरम् । ६१४१. प्रतिपक्षः प्रतिषेध्यः सदाद्येकान्तः । ६१४२. यथाभ्युपगतं परैस्तथा न व्यवतिष्ठते । ६१४३. उत्पत्तिविनाशादिपर्यायरहिते । ६१४४. यतः सकलविशेषणविशिष्टं चेत्तदा सांशत्वापत्तिः । ६१४५. इति सौगतेनाशङ्किते जैनैरुच्यते ।

६१४६. (सुवर्णस्य कथंचित्सत एव केयूरादिसंस्थानरूपेणातिशयोत्पत्तिर्यथा) । ६१४७. हेतोः । ६१४८. केयूरादिसंस्थानप्रकारेण । ६१४९. प्रतिविशिष्टो नियतः । ६१५०. इति सुवर्णं सदसदात्मकम् । ६१५१. सुवर्णवत् । ६१५२. कारिकोक्तवाक्येन । ६१५३. श्रीसमन्तभद्राचार्यः । ६१५४. (एकान्तेर्थक्रिया प्रतिक्षेपमेव दर्शयति नेत्यादिना) । ६१५५. अनुत्पन्नत्वेन । ६१५६. बौद्धः । ६१५७. स्वोत्पत्तेः प्राग्विद्यमानस्य कार्यस्य । ६१५८. उत्तरं

कथयति जैनः । ६१५९. सतोः । ६१६०. सदेकान्तस्य असदेकान्तस्य चाभावो भवेत् । ६१६१. एतदेव भावयति । ६१६२. अङ्गीक्रियमाणे । ६१६३. पूर्वाकारप्रकारेण । ६१६४. उत्पत्त्याद्यसंभवात् । ६१६५. क्रियारूपत्वादिति । ६१६६. नैतन्मन्तव्यमित्यनेनान्वयः । ६१६७. निर्विकल्पकप्रत्यक्षो । ६१६८. निर्विकल्पकज्ञानेन । ६१६९. तेन उत्पत्त्यादिना । ६१७०. वस्तुनि । ६१७१. तस्य नीलसुखादेः । ६१७२. निराधारमपि तद्विकल्पप्रसक्तेः । ६१७३. तस्य नीलसुखादेः, व्यवस्थापनं सत्तासिद्धिः । ६१७४. भवतु नीलविकल्पः । विरोधोप्यस्त्विति चेत् । ६१७५. सन्तानान्तरं नीलादि । ६१७६. स्वसन्तानः सुखादिः । ६१७७. तद्विकल्पव्यवस्था ।

६१७८. मा भूदव्यवस्था किंतु आद्यन्तक्षणरहितमध्यक्षणमात्रे ज्ञानेङ्गीक्रियमाणे । ६१७९. विकल्पः । ६१८०. किन्तु वासनाबलादेव सिध्येदित्यर्थः । ६१८१. अद्वैतवासनाम् । ६१८२. आदिपदेन स्थितिविनाशौ । ६१८३. सा क्रिया । ६१८४. सान्वयविनाशे इत्यर्थः । ६१८५. कथंचित्प्राक्सत एवोत्पत्तिर्जाता यतः । कथम् ? तथा हि । ६१८६. 'नाम' मुद्रितप्रतौ नास्ति । ६१८७. सर्वथा नित्यं नोत्पद्यते, सत्त्वाद् व्योमवत् । सर्वथा अनित्यं नोत्पद्यते, असत्त्वाद्वान्ध्यासुतवदिति । ६१८८. न चानुत्पन्नस्य स्थितिविपत्ती इति पूर्वमुक्तत्वात् । ६१८९. एकान्तेन । ६१९०. द्रव्यार्थिकनयापेक्षयेत्यर्थः । (न तु पर्यायनयापेक्षयाप्यनुत्पद्यमानस्य) । ६१९१. सूरीणां समन्तभद्राणाम् । ६१९२. सप्तभङ्गीविधिसमारूढस्यैवार्थक्रियाकारित्वप्रकारेण । ६१९३. सापेक्षी नयः सुनयः । ६१९४. विध्यंशेन निषेधांशेन च । ६१९५. सर्वथार्थक्रियाविरोधादिति । ६२९६. विध्यंशस्य निषेधांशस्य । ६१९७. एकस्यैव सत्त्वस्यासत्त्वस्य च सप्तभङ्गीत्वप्राप्तौ प्रत्येकमेकस्मिन्नागतानां सप्तभङ्गानां सप्तभङ्गीत्वप्रकारेण । ६१९८. सौगतः । ६१९९. केवलं सदेवासदेव वार्थक्रियाकारीति सन्देहे ग्राह । ६२००. प्रतिषेधनिरपेक्षस्यास्तित्वस्यार्थक्रियाकारित्वं चेत्तर्हि । ६२०१. 'दुर्नयः' स प्रतौ ।

६२०२. विध्यंशस्य भङ्गान्तराप्रतिक्षेपितया सप्तभङ्गीसमालिङ्गिते वस्तुनि तादात्म्यमापन्नस्य सप्तभङ्गीविधौ समारोहणोपपत्तेरिति भावः । ६२०३. विधेः सप्तभङ्गीविधौ समारूढत्वप्रकारेण । ६२०४. सुनयार्पितस्य भङ्गस्य भङ्गान्तराप्रतिक्षेपितया युगपत्सर्वभङ्गानां नयविषयत्वप्राप्तेर्नयप्रमाणयोरविशेष इत्याशङ्क्यामाहुः केवलमिति । ६२०५. अङ्गीक्रियमाणे । ६२०६. हेतोः । ६२०७. सौगतः । ६२०८. अस्तित्वप्राधान्येन । ६२०९. प्रथमभङ्गात् । ६२१०. असत्त्वादिधर्माणाम् । ६२११. भेदे सति । ६२१२. धर्मिणो वस्तुनः प्रतीतिस्तद्धर्माणामप्रतीतिरिति विरुद्धधर्माध्यासः । ६२१३. धर्मिण इमे धर्मा इति । ६२१४. सति । तस्येति व्यपदेशो भविष्यतीति चेद्धे जैन तदा । ६२१५. सत्त्वलक्षणधर्मद्वारेण । ६२१६. सकलधर्माणां ग्रहो धर्मधर्मिणोरैक्यं स्यात् । ६२१७. अनेकधर्मद्वारेण नानाधर्मविकारनिमित्तेत्याद्यनन्तरोक्तं योज्यमत्र । ६२१८. एका चासावुपकार्या च सा च शक्तिश्चेति तथोक्ता । अत्र धर्मा उपकारका धर्मी तूपकार्यः । ६२१९. धर्मी । ६२२०. सकलधर्मकलापस्य निश्चयः सकलग्रहः पूर्वोक्तदोष इति यावत् तस्य । ६२२१. नानोपाधीनां सत्त्वदिधर्माणामुपकाराङ्गभूता । सा चासां शक्तिश्च । तया अभिन्न आत्मा स्वरूपं यस्य धर्मिणः स तस्य । ६२२२. धर्मकलापस्य धर्मिणोपकार्यस्य । ६२२३. सत्त्वादिधर्मे ग्राह्ये ततोऽपरे तस्मिन्दृष्टे ये न दृष्टास्ते न सन्त्येव । ततस्तद्गृहे सकलग्रहः ।

६२२४. हे जैन । ६२२५. धर्मिणः शक्तय इति । ६२२६. तत्कार्यत्वाच्छक्तिरेव स्यान्न शक्तिमान् । ६२२७. शक्तिभिः कृतोपकारो भिन्नश्चेत्कथं शक्तिमतोयमुपकार इति व्यपदिश्येत ? उपकारान्तरेण चेदनवस्था, तस्यापि भिन्नत्वात् । ६२२८. शेषधर्माणाम् । ६२२९. धर्माणामुपकारशक्तयस्तासाम् । ६२३०. तास्तस्य संबन्धिन्यो हि किं भवन्ति ? नैव । ६२३१. इति यदाह बौद्धः । ६२३२. प्रयोजनम् । ६२३३. अन्तो धर्म इत्यर्थः । बहुषु मध्ये एकधर्मस्य । ६२३४. गौणता । ६२३५. बौद्धः । ६२३६. धर्माभावे । ६२३७. प्रमेयत्वस्यानन्तधर्माभावेऽपि प्रमेयत्वात् । ६२३८. बौद्धस्य । ६२३९. धर्मव्यतिरिक्तस्य । ६२४०. धर्मेण । ६२४१. एकधर्मोपि । ६२४२. धर्मस्यैवानन्तधर्मात्मकधर्मित्वप्रतिपादनेन । ६२४३. यथा भ्रमणकाले वलयस्य पूर्वभागो यः स एवापरभागोपि भवति ।

६२४४. पृथक्क्रयमाणः । ६२४५. धर्मस्य । ६२४६. 'विशेष' ल, स, प, प्रतिषु नास्ति । ६२४७. धर्मेण । ६२४८. धर्महेतुवृत्त्यसंभवत्वप्रतिपादनेन । ६२४९. हेतोः । ६२५०. नयविषयत्वेन । ६२५१. प्रमाणाविषयत्वात् । ६२५२. स्वः प्रमेयः, परो जीवादिः । ६२५३. स्वपरानन्तानां धर्मत्वे । ६२५४. स्वपरानन्तधर्मात्मकत्वाभावे प्रमेयत्वसाधनस्यानुपपत्तिसद्भावात् । ६२५५. आदिपदेन नास्तित्वादिः । ६२५६. अर्थः प्रयोजनम् । ६२५७. 'शेषधर्माना' मुद्रितप्रतौ पाठः । ६२५८. तदात्मकस्य भेदाभेदात्मकस्य । ६२५९. चित्राकारं च तदेकसंवेदनं चेति । ६२६०. भेदाभेदात्मके वस्तुनि । ६२६१. एकस्य प्रधानधर्मस्य संबन्धित्वेन शेषधर्माणामप्रधानता । ६२६२. गुणप्रधानभावप्रकारेण । ६२६३. प्रतिपत्तुः । ६२६४. प्रधानगुणभावो यतः । ६२६५. नयप्रमाणविषयतया गृहीतागृहीतधर्मापेक्षया गृहीतत्वागृहीतत्वस्वभावभेदसिद्धेः । ६२६६. प्रत्यक्षविषयीकृते धर्मिणि । ६२६७. अनुमानादि । ६२६८. वचनान्तरम् । ६२६९. प्रत्यक्षेण । ६२७०. क्षणिकत्वादिधर्मस्य । ६२७१. धर्मिवचने । ६२७२. शब्दादिधर्मिणः । ६२७३. सौगतमतापेक्षया निरंशत्वं यतः । ६२७४. प्रत्यक्षविषयीकृतस्य वस्तुनः । ६२७५. धर्मः । ६२७६. निरंशे शब्दादौ भ्रान्तिरस्ति यतस्ततः । ६२७७. इति हेतोः ।

६२७८. भ्रान्तेः सकाशात् निश्चीयते । अतः साधनं प्रवर्तते इति सौगताभिमतमपि । ६२७९. 'स्वभावस्य' मुद्रितप्रतौ पाठः । ६२८०. अखिलगुणदर्शनस्य विरोधः कथं प्रतिपाद्यते जैनैः ? अथवा यावता दृष्टेर्खिलगुणे धर्मिमात्रे एवाभ्रान्तिरिति खिलगुणे, ततस्तत्सिद्ध्यर्थमनुमानमर्थवदित्याशङ्क्यामाहुर्जैनाः । ६२८१. साध्यभ्रान्तौ । ६२८२. शब्दे क्षणिकत्वभ्रान्तौ सत्त्वमपि भ्रान्तं स्यात् । ६२८३. धर्मिनिश्चयः । ६२८४. स्वभावातिशयाभावात् । ६२८५. स्वभावभेदरहितत्वेन । ६२८६. साधनसाध्ययोः । ६२८७. पटपिशाचयोरेकत्वप्रसङ्गात् । ६२८८. सत्पदेन सत्त्वम् । यद्यपि पदार्थस्य स्वतः स्वभावातिशयो नास्ति तथापि विजातीयभेदात्स्वभावातिशयो भविष्यतीत्युक्ते प्राहुर्जैनाः । ६२८९. असत्त्वानुत्पन्नत्वाकृतत्वादेः । प्रत्यनीकस्वभावस्य । ६२९०. सौगतस्य । ६२९१. भेदोस्यास्तीति भेदवत् । ६२९२. बौद्धेन । ६२९३. सौगतः शङ्कते । ६२९४. एकत्र वस्तुनि यत्सत्ततोन्म्यत्र वस्त्वन्तरे यत्सत्तत्सदन्तरम् । तेन विविक्तं रहितम् । तस्य प्रकृतस्य । ६२९५. जैनः । ६२९६. 'अङ्गवत्' मुद्रितप्रतौ पाठः । ६२९७. धर्मान्तरस्य, असत्त्वकृतत्वादेः । ६२९८. ननु चावस्त्वेव नास्ति । अतः कथमवस्तुव्यावृत्त्या वस्तुव्यवहरणमित्याशङ्क्यामाह ।

६२९९. आह सौगतः । ६३००. तयोः वस्तुकल्पनयोः । ६३०१. सत्त्वेतरादिकल्पनयोः सिद्धावपि किं भवतीत्याशङ्क्याह । ६३०२. सकलं सत्त्वासत्त्वादि । सकलधर्मधर्मिणां ये विकल्पाः शब्दाश्च तेषाम् । ६३०३. सकलधर्मधर्मविकल्पशब्दाः स्वलक्षणग्राहका न भवन्तीत्यर्थः । ६३०४. जैनः । ६३०५. निर्विकल्पकेनापरिगृहीते व्यावृत्तिरूपे विकल्पोपि ना भूत्, तज्जन्यत्वाद्विकल्पस्य । ६३०६. नीले पीतविकल्पोत्पत्तिरित्यतिप्रसङ्गः । ६३०७. प्रत्यक्षात् । ६३०८. असत्त्वादिविकल्पोत्पत्तिः । ६३०९. तत्तस्माद्विवक्षितात् । ६३१०. सौमतेन । ६३११. नीलादिरूपव्यवस्थावत् । ६३१२. सुखादिकं स्वसंवेदनेनैव प्रतिभातव्यम् । ६३१३. तत्, ततः अनादिवासनातो निश्चयोत्पत्तिर्या तस्याः सकाशात् । ६३१४. अनादिवासनावशात्सुखादिविकल्पोत्पत्तिः केन प्रतिपाद्यते यतः सुखाद्यव्यवस्थितिः स्यादिति बौद्धाशङ्क्यामाहुर्जैनाः । ६३१५. तस्य स्वसंवेदनेनैव (सुखादेव) । ६३१६. स्वर्गप्रापणशक्त्यादेर्निश्चयानुत्पत्तौ यथा तद्व्यवस्था न । वेद्याकारविवेकस्य निश्चयानुत्पत्तौ तद्व्यवस्था वा यथा न । ६३१७. सुखादिरूपादर्शने सुखादीनां व्यवस्थितिर्न घटते यतः । ६३१८. वस्तुदर्शनप्रभवान्निश्चयात् । निश्चयो विकल्पः । ६३१९. स्यादस्तीत्यादिसप्तभङ्ग्यामुक्तम् ।

६३२०. अथवा भङ्गे भङ्गे एकत्वानेकत्वविचारेपि, घटपटादिसर्वपर्यायाणामेकत्वानेकत्वविचारेपि वा । ६३२१. पुनर्निर्माणम् । ६३२२. एकत्वे द्रव्यार्थिकनयोऽनेकत्वे पर्यायिनय इति । ६३२३. सर्वं वस्तु । ६३२४. क्षणिकत्वापेक्षया । ६३२५. निरपेक्षत्वप्रकारेण । ६३२६. द्रव्यगत्तमपि । ६३२७. ए एतार्थं जीवः स एवायमजीव इति । ६३२८. प्रत्यभिज्ञानाभावे एकत्वप्रतीतिविरोधः कथमित्युक्ते आह । ६३२९. तत् प्रत्यभिज्ञानम् । ६३३०. देवदत्तपद्मदत्तयोरेकत्वप्रसङ्गात् । ६३३१. जटिलः । ६३३२. जैनविशेषाः । ६३३३. शुरुसङ्ग्रहः । ६३३४.

द्रव्यषट्कस्य । ६३३५. जैनविशेषाः । ६३३६. स्वद्रव्येषु प्राप्यमाणत्वात् । ६३३७. 'चानन्तानां' पाठान्तरम् । ६३३८. आगमे । ६३३९. 'तत्त्वोपदेशात्' मुद्रितप्रतौ पाठः । ६३४०. अनन्तानन्तपर्यायत्वेतदपेक्षया सर्वमेकं कुत इत्याशङ्क्याह । ६३४१. ननु च सर्वत्र भावः कुतः ? यावता अभावस्य प्रध्वंसादिरूपस्य द्रव्याद्वस्त्वन्तरत्वेन समन्तत्वेन संगतत्वादिति यौगाशङ्क्यायामाह । ६३४२. सौगतः । ६३४३. कर्मधारयः । ६३४४. जीवादयः । ६३४५. सद्रूपेण सह विशेषं न प्राप्तः । सद्रूपरूपा इति भावः । ६३४६. चित्रज्ञाने यथा नीलादिनिर्भासाः । ६३४७. बसः । ६३४८. बाह्यचित्रविलक्षणत्वं समर्थयन्ति ।

६३४९. (सद्रूपात्) । ६३५०. सद्रूपात् । ६३५१. सौगतः । ६३५२. (वैशेषिकमते) सामान्यादित्रये सद्रूपाभावेऽपि तस्य स्वरूपाभावो न यथा । ६३५३. प्रागभावो वा सत्त्वाभावरूप एवास्ति । ६३५४. (विवेचनं पृथग्भावः) । ६३५५. सत्त्वात्पृथक्करणे । ६३५६. जैनः । ६३५७. सामान्यविशेषसमवायाभावादीनाम् । ६३५८. (सद्रूपात्पृथक्कर्तुमशक्तेरित्यर्थः) । ६३५९. ज्ञानरूपेण विशेषं (भेदं) न प्राप्तत्वात् । ६३६०. पर्यायापेक्षया । ६३६१. पर्यायेण । ६३६२. संख्या च संख्यावांश्च संख्यासंख्यावान् । स चासावर्थश्चेति तद्वत् । ६३६३. कुण्डलिनि कुण्डलपुरुषयोर्भेदेनादृष्टौ विशेषणविशेष्यभावो न भवेद्यथा । ६३६४. यथा क्षीरोदकयोर्भेदमजात्रभेदे न प्रवर्तते । ६३६५. 'मन्यते' पाठान्तरम् । ६३६६. तर्हि सर्वथा भेद एव मन्यतामिति यौगेनोक्ते प्राह । ६३६७. (संख्यावतः संख्या इति) । ६३६८. नैयायिकः । ६३६९. जैनः । ६३७०. तथापीति शेषः । अर्थान्तरत्वादेव । ६३७१. समवेतयोः संख्यासंख्यावतोः । ६३७२. सौगतो वैशेषिको वा । ६३७३. तद्विशिष्टस्य, संख्यावतः । विकल्पनं निश्चयः । ६३७४. संख्यावति संख्यायां वा । ६३७५. संख्यावति संख्यायां वा । ६३७६. इति सर्वथा भेदोऽपि न स्यात् । ६३७७. यथैकस्मिन्मातुलिङ्गे वर्णरसौ स्तः । तयोर्मध्ये एकस्य वर्णस्य निर्णयेऽप्यन्यत्र रसे संशयो दृश्यते ।

६३७८. युगपत् । ६३७९. वाद्यपेक्षयेदं पदं जैनैर्व्यवहृतम् । ६३८०. स्वलक्षणस्य । ६३८१. (क्रमेण प्राप्तौ सत्यां सतोरप्येकानेकयोर्युगपद् वक्तुमशक्तेरेव) । ६३८२. कारिकायां योजयेदित्यतिदेशवचः । ६३८३. हेतुदृष्टान्तयोजनम् । ६३८४. विशेषणत्वादिहेतूनां स्वसाध्येविनाभावसमर्थनार्थमाह । ६३८५. अविशेषणत्वादिना । ६३८६. विशेषणस्य केवलस्य साधनाद्विशेषणत्वादिहेतुर्व्यभिचारीति चेन्न, विशेषणस्य स्वप्रतिषेधेनाविनाभाववित्साधनात् तेन विशेषणत्वादिहेतोरव्यभिचारात् । ६३८७. हेतुर्व्यभिचारः । ६३८८. अविशेष्यत्वादिना । विशेषणत्वादिनेत्यर्थः । ६३८९. हेतोः । ६३९०. हेतोः । ६३९१. स्वप्रतिषेधेनाविनाभाववित्त्वादेव । ६३९२. सर्वथैकत्वानेकत्वाभ्यामनवस्थितम् । ६३९३. सप्तभङ्ग्यामारूढत्वमन्तरेण । ६३९४. सदसदाद्येकान्ते । ६३९५. प्रज्ञाधीशप्रपूज्याश्चैते उज्ज्वलगुणाश्च, तेषां निकरः । सत्कीर्तिरेव संपत् सत्कीर्तिसंपत्, तन्निकरादुद्भूता सत्कीर्तिसंपद्यस्य सः । ६३९६. विद्या केवलज्ञानम्, आनन्दोऽनन्तसुखं (केवलज्ञानाविनाभावी) पक्षे विद्यानन्दस्वामी च । तस्योदयाय ।

६३९७. युक्ता गौः । ६३९८. (समन्तभद्रैराचार्यैः प्रोक्ता सामन्तभद्री) । ६३९९. सप्तभङ्गीविधिना इन्द्रा दीप्ता । ६४००. (अकलङ्कात् अकलङ्कदेवात् अष्टशतीनामकमूलवृत्तिकारात्) प्रकाशते इति अकलङ्कप्रकाशा (अकलङ्कः प्रकाशो यस्य इति वा) । ६४०१. 'लङ्कारे' पाठान्तरम् । ६४०२. अस्मिन्नधिकारे प्रथमतः सर्वज्ञसिद्धिः कृतानुमानाद्यैः । ततोऽर्हते एव सर्वज्ञत्वं समर्थितम् । ततो दृष्टेष्टाभ्यां परेष्टबाधनम् । ततो भावाभावोभयैकान्तानि तत्त्वानि निराकुर्वताऽभावस्वरूपं स्पष्टं दर्शितम् । ततो भावाद्यनेकान्तसमर्थनं, स्याद्वादेन परस्परं विरोधः परिहृतश्च ।

अथ द्वितीयः परिच्छेदः

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।

विज्ञायते यथैव स्वसमयपरसमयसद्भावः ॥१॥

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।

कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते ॥२४॥

४४३. सदाद्येकान्तेषु दोषोद्भावनमभिहितमाचार्यैः । केवलमद्वैतैकान्ताभ्युपगमात्
तावतानेकान्तसिद्धिरिति चेत्, न, प्रत्यक्षादिविरोधात् । न हि कस्यचिदभ्युपगममात्रं प्रमाणसिद्धं
क्रियाकारकभेदं प्रतिरुणद्धि, क्षणिकाभ्युपगमवत् ।

४४४. नन्विदमयुक्तमेव संलक्ष्यते अद्वैतं ह्यैकान्त्यं, द्वाभ्यामितं द्वैतं, द्वैतमेव द्वैतं, न द्वैतमद्वैतमिति
व्याख्यानात् । तस्यैकान्तस्तदेवेत्यभिनिवेशः । तस्य पक्षः प्रतिज्ञाऽभ्युपगममात्रम् । तस्मिन्नपि दृष्ट-
साक्षात्कृतोऽनुमितश्च कारकाणां कर्त्रादीनां क्रियायाश्च स्थानगमनादिरूपाया निष्परिस्पन्दस्वभावायाः
परिस्पन्दरूपायाश्च भेदः प्रत्यक्षेणानुमानेन च विरुध्यते, तदभ्युपगममात्रस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धक्रियाकारक-
भेदप्रतिरोधित्वासंभवात्, क्षणिकत्वाभ्युपगमवदिति तात्पर्यव्याख्यानमकलङ्क्यदेवानाम् । न हि कारकभेदः
प्रत्यक्षादिनाऽद्वैतेऽपि विरुध्यते, पादपस्यैकस्य युगपत्क्रमेण वा कर्त्राद्यनेककारकात्मकत्वप्रतीतेः ?
क्रियानानात्वमप्येकस्य तथैव न प्रतिषिध्यते, देशाद्यपेक्षया गमनागमनयोः स्थानशयनयोर्वा सकृदपि निश्चयात् ।
तद्वदेकमपि परब्रह्म सकलक्रियाकारकभेदात्मकतया न विरोधमध्यास्ते, तथा
प्रतिभासवैचित्र्येऽप्येकत्वाव्याघाताच्चित्रज्ञानवदित्यपरः, सोऽप्येवं प्रष्टव्यः—क्रियाकारकभेदप्रपञ्चः किमजन्मा
जन्मवान्वा ? न तावदजन्मा, कादाचित्कत्वात्, यस्त्वजन्मा स न कादाचित्को यथात्मा, कादाचित्कश्चायम्,
तस्मान्नाजन्मेति बाधकसद्भावात् । जन्मवांश्चेत्कुतो जायते इति वक्तव्यम् ? परमपुरुषादेवेति चेत्कथमद्वैतसिद्धिः ?
कारणकार्ययोर्द्वैतप्रसिद्धेः । क्रियादिकार्यस्य ब्रह्मणोनन्यत्वादद्वैतमेवेति चेत्कथं स्वस्मादेव तस्य जन्म युज्यते ?
कथं च कार्यादभिन्नस्य ब्रह्मणोऽकार्यत्वम् ? यतो नित्यत्वं स्यात् । परस्माज्जायते इति चेत्, द्वैतसिद्धिः,
पुरुषात्परस्य क्रियाकारकभेदहेतोरभ्युपगमात् । परस्यानाद्यविद्यारूपत्वादकिञ्चिद्रूपस्य द्वितीयत्वायोगात्
द्वैतसिद्धिरिति चेत्कथमकिञ्चिद्रूपस्य कारणत्वम् ? कार्यस्याप्यकिञ्चिद्रूपत्वाददोष इति चेत्, किमिदानीं
खरविषाणादश्चविषाणस्य जन्मास्ति ? नेति चेत्, कथमविद्यात्मनः कारणादविद्यात्मककार्यस्योत्पत्तिः ? माहेन्द्रादिषु
मायामयादेव पावकादेस्तथाविधधूमादिजन्मदर्शनाददोष इति चेन्न, तत्रापि पावकधूमाद्योः सर्वथा
मायामयत्वासिद्धेः । न हि तत्प्रतिभासयोर्मायारूपत्वं, स्वसंवेदनसिद्धत्वात् । नापि बहिः
सद्द्रव्यादिरूपयोर्मायास्वभावत्वं, व्यभिचारित्वाभावात् । तद्विशेषाकारयोर्मायारूपत्वमिति चेन्न,
तद्विविक्तवस्तुव्यतिरेकेण मायायाः संभवाभावात् । तथा क्रियाकारकभेदप्रपञ्चाकारविविक्तपरब्रह्मव्यतिरेकेणा-
विद्यायाः संभवाभावे कथं वेदान्तवादिनामविद्यातः कार्यस्याविद्यात्मनो जनने स्वस्मादेव स्वस्य जन्म न

भवेत् ? तच्च प्रमाणविरुद्धं न शक्यं व्यवस्थापयितुं नैरात्म्यवत् । क्रियाकारभेदोऽयं न स्वतो जायते परतो वा । अपि तु जायते एवेति सुषुप्तायते, प्रतिपत्युपायाभावात्, दृष्टेष्टविरोधप्रसङ्गात् । न हि किञ्चित्स्वस्मात् परस्माच्चाजायमानं जन्मवदेव दृष्टमिष्टं वा, येन तथा प्रतिपत्युपायरहितं ब्रुवाणः सुषुप्तमिवात्मानं नाचरेत् । तस्माद्यद् दृष्टविरुद्धं तन्न समञ्जसं यथा नैरात्म्यम् । विरुध्यते च तथैवाद्वैतं क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादिभिः । एकस्मिन्नपि क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादेः संभवात् स्वप्नसंवेदनवत् कथमद्वैतं विरुद्धमिति चेन्न, स्वप्नसंवेदनस्याप्येकत्वे तद्विरोधस्य तदवस्थत्वात् । तत्रान्यदेव हि क्रियाविशेषसंवेदनं स्ववासनोत्थमन्यदेव च कारकविशेषसंवेदनं प्रत्यक्षमनुमानादि वा न पुनरेकमेव, तद्धेतुवासनाभेदाभावप्रसङ्गात्, जागृदशायामिव स्वप्नादिदशायामपि पुंसोनेकशक्त्यात्मिकस्य क्रियाकारकविशेषप्रतिभासवैचित्र्यव्यवस्थितेः । कस्यचिदेकरूपस्यात्मगगनादेरप्यनेकान्तवादिनामनेकक्रियाकारकविशेषप्रतिभासालम्बनत्वसिद्धेर्विरुद्धमेव प्रत्यक्षादिभिरद्वैतम् । न हि करोति कुम्भं कुम्भकारो दण्डादिना, भुङ्क्ते पाणिनौदनमित्यादिप्रत्यक्षं भ्रान्तं येनाद्वैतस्य विरोधकं न स्यात् । सर्वत्र क्रियाकारकादिरूपं कथंचिद्भिन्नं, भिन्नप्रतिभासित्वान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानं वा नानाजीवा इत्यादिप्रवचनं वा न विभ्रमाक्रान्तं येनाद्वैतं न विरुध्यात् ।

४४५. स्यादाकूतं “विवादापन्नं प्रत्यक्षादि मिथ्यैव, भेदप्रतिभासित्वात् स्वप्नप्रत्यक्षादिवत्” इति, तदसत्, प्रकृतानुमाने पक्षहेतुदृष्टान्तभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वे तेनैव हेतोर्व्यभिचारात् । तन्मिथ्यात्वे तस्मादनुमानात्साध्याप्रसिद्धेः । पराभ्युपगमात्पक्षादिभेदप्रतिभासस्यामिथ्यात्वेऽपि न दोष इति चेन्न, स्वपराभ्युपगमभेदप्रतिभासेन व्यभिचारात् । तस्यापि पराभ्युपगमान्तरादमिथ्यात्वादोषाभावे स एव तद्धेदप्रतिभासेन व्यभिचार इति न क्वचिद् व्यवतिष्ठेत् ।

४४६. कश्चिदाह—“ब्रह्माद्वैतस्य संविन्मात्रस्य स्वतः सिद्धस्य क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादीनां बाधकस्य भावात्तेषां भ्रान्तत्वम् । ततो न तद्विरोधकत्वम्” इति; तदपि न साधीयः, तथा सति बाध्यबाधकयोर्भेदात्, द्वैतसिद्धिप्रसङ्गात् । न च परोपगममात्रात्तयोर्बाध्यबाधकभावः, परमार्थतस्तदभावापत्तेः प्रतिभासमात्रवत्प्रतिभासमात्रविशेषस्यापि सत्यत्वसिद्धेरनेकान्तव्यवस्थानात् ।

तदेकान्ततः पुरुषाद्वैतं प्रत्यक्षादिविरुद्धमेव ।

तथास्मिन्नद्वैतैकान्ते दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहुः—

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत् ।

विद्याऽविद्याद्वयं न स्याद्वन्धमोक्षद्वयं तथा ॥२५॥

४४७. लौकिकं वैदिकं च कर्मेति वा, कुशलमकुशलं च कर्मानुष्ठानमिति वा पुण्यं पापं च कर्मेति वा कर्मद्वैतं न स्यात् । तदभावादिहामुत्र च श्रेयःप्रत्यवायलक्षणं फलद्वैतं न स्यात्, कारणाभावे कार्यस्यानुपपत्तेः । तत् एवेहलोकपरलोकलक्षणं लोकद्वैतं न स्यात् । कर्मादिद्वैतस्यानाद्यविद्योपदर्शितत्वाददोष

इति चेत्, न, धर्माधर्मद्वैतस्याभावे विद्याविद्याद्वयस्यासंभवाद्बन्धमोक्षद्वयवत् । पूर्वाविद्योदयादेव विद्याविद्याद्वयं बन्धमोक्षद्वयं च परमार्थतस्तदसंभवात्, 'न बन्धोस्ति न वै मोक्ष इत्येषा परमार्थता' इति वचनात्, प्रतिभासमात्रस्य परब्रह्मण एव तात्त्विकत्वादिति चेत्, न, नैरात्म्यस्यापि तात्त्विकत्वापत्तेस्तत्कल्पनाया नैष्कल्याविशेषात् । सर्वो हि प्रमाणप्रत्यनीकं स्वमनीषिकाभिरद्वैतमन्यद्वा किञ्चित्फलमुद्दिशयारचयेत्, अन्यथा तत्प्रतिप्रवर्तनायोगात्प्रेक्षावृत्तेः । तथाहि—पुण्यपापसुखदुःखेहपरलोकविद्योतरबन्धमोक्षविशेषरहितं प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम्, यथा नैरात्म्यदर्शनम्, तथा च प्रस्तुतम् । तस्मात्प्रेक्षापूर्वकारिभिरनाश्रयणीयम् । इति न तज्जिज्ञासापि श्रेयसी ।

४४८. स्यान्मतम्—न ब्रह्माद्वैतं प्रमाणप्रत्यनीकत्वात् स्वमनीषिकाभिरारचितम्, तस्यानुमानादागमाद्वा प्रमाणात्प्रसिद्धेः । तथाहि—यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासान्तःप्रविष्टमेव, यथा प्रतिभासस्वरूपम्, प्रतिभाससमानाधिकरणं च सर्वम् । इति हेतोः परंब्रह्मसिद्धिः । न चायमसिद्धः, सुखं प्रतिभासते रूपं प्रतिभासते इति सर्वत्र प्रतिभाससमानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेरन्यथा सद्भावासिद्धेः । अप्रतिभासमानस्यापि सद्भावे सर्वस्य मनोरथसिद्धिप्रसङ्गात् किञ्चिदसत्स्यात् । अर्थं प्रतिभासव्यतिरिक्तस्य प्रतिभास्यस्यार्थस्यान्तर्बहिर्वोपचारात्प्रतिभाससमानाधिकरणत्वव्यवस्थितेः प्रतिभासस्वरूपस्य मुख्यतोपपत्तेरसिद्धो हेतुरिति मतं, तदप्यसम्यक्, प्रतिभास्यप्रतिभासयोस्तद्भावानुपपत्तेः । प्रतिभासस्य तु हेतुत्वात्प्रतिभास्योर्थ इति चेत्, न, प्रतिभासमात्रस्याहेतुकत्वात्कस्यचित्तद्धेतुत्वोयोगात् । तदहेतुकत्वम्, अकादाचित्कत्वात्, अन्यथा कदाचित्तदभावप्रसङ्गात् । प्रतिभासालम्बनत्वात्प्रतिभास्योर्थो भवतीति चेत्, कुतस्तस्य प्रतिभासालम्बनत्वम् ? प्रतिभास्यत्वादिति चेत्, परस्पराश्रयणम् । प्रतिभासालम्बनत्वयोग्यत्वात्, इति चेत्, तर्हि प्रतिभासस्वरूपमेव प्रतिभास्यम्, तस्यैव प्रतिभासालम्बनत्वोपपत्तेः, सर्वत्र प्रतिभासस्य स्वरूपालम्बनत्वात् । तथा च कथं विषयस्योपचरितं प्रतिभाससमानाधिकरणत्वं यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात् । तत एव नानैकान्तिको विरुद्धो वा, प्रतिभासान्तराऽप्रविष्टस्य कस्यचिदपि प्रतिभाससमानाधिकरणत्वायोगाद्धेतोर्विपक्षवृत्त्यभावात् । नाश्रयासिद्धिरपि हेतोः शङ्कनीया, सर्वस्य धर्मिणः परंब्रह्मण एवाश्रयत्वात्, ब्रह्मेति ब्रह्मशब्देन कृत्स्नं वस्त्वभिधीयते । प्रकृतस्यात्मकात्स्न्यस्य 'वै' शब्दः स्मृतये मतः ॥' इति श्रुतिव्याख्यानात् । ततोऽनवद्याद्धेतोर्भवत्येवाद्वैतसिद्धिः । तथोपनिषद्वचनादपि 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्यादिश्रुतिसद्भावात्, ततस्तद्भ्रान्तिनिराकरणात् इति । तदेतत्प्रतिविधित्सवः प्राहुः—

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः ।

हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

४४९. ननु च प्रतिभाससमानाधिकरणत्वाद्धेतोः सर्वस्य प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वेन पुरुषाद्वैतसिद्धावपि न हेतुसाध्ययोर्द्वैतं भविष्यति, तादात्म्योपगमात् । न च तादात्म्ये साध्यसाधनयोस्तद्भावविरोधः, सत्त्वानित्यत्वयोरपि तथाभावविरोधानुसङ्गात् । कल्पनाभेदादिह साध्यसाधनधर्मभेदे प्रकृतानुमानेपि कथमविद्योदयोपकल्पितहेतुसाध्ययोस्तद्भावविरोधः, सर्वथाविशेषाभावात्, इति चेत्, न शब्दादौ सत्त्वानित्यत्वयोरपि कथंचित्तादात्म्यात् सर्वथा तादात्म्यासिद्धेः, तत्सिद्धौ साध्यसाधनभावविरोधात् । न

चासिद्धमुदाहरणं नाम, अतिप्रसङ्गात्^{१३०}। ततो न हेतोरद्वैतसिद्धिः। हेतुना विनैवागममात्रात्तत्सिद्धिरिति चेन्न, अद्वैततदागमयोर्द्वैतप्रसङ्गात्। यदि पुनरागमोप्यद्वयपुरुषस्वभाव एव न ततो^{१३१} व्यतिरिक्तो येन द्वैतमनुषज्यते इति मतम्—

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं^{१३२} प्राहुरव्ययम्।^{१३३}

छन्दांसि तस्य पर्णाणि यस्तं वेत्ति स वेदवित्॥ ()

इति वचनात्, तदा^{१३४} ब्रह्मवत्तदागमस्याप्यसिद्धत्वं स्यात्, सर्वथाप्यसिद्धस्वभावस्य^{१३५} सिद्धत्वविरोधात्, सिद्धासिद्धयोर्भेदप्रसक्तः। तदेवं यदसिद्धं तन्न हितेषुभिरहितजिहासुभिर्वा प्रतिपत्तव्यम्, यथा शून्यतैकान्तः, तथा चासिद्धमद्वैतमिति। अत्र नासिद्धो हेतुः, पुरुषाद्वैतस्यानुमानादागमाद्वा सिद्धत्वायोगात्। प्रतिभाससमानाधिकरणत्वानुमानात्तत्सिद्धिरिति चेन्न, तस्य विरुद्धत्वात्^{१३६}, प्रतिभासतद्विषयाभिमतयोः कथंचिन्नेदे सति समानाधिकरणत्वस्य प्रतीतेः सर्वथा प्रतिभासान्तःप्रविष्टत्वासाधनात् स्वविषयस्य। न हि शुक्लः पट इत्यादावपि सर्वथा गुणद्रव्ययोस्तादात्म्ये सामानाधिकरण्यमस्ति, सर्वथा भेदवत्। प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभासते इत्यत्रापि न प्रतिभासतत्स्वरूपयोर्लक्ष्यलक्षणभूतयोः सर्वथा तादात्म्यमस्ति, प्रतिभासस्य साधारणासाधारणधर्माधिकरणस्य स्वस्वरूपादसाधारणधर्मात्कथंचिन्नेदप्रसिद्धेरन्यथा तत्सामानाधिकरण्यायोगात्, सुवर्णं सुवर्णमिति यथा, सह्यविन्ध्यवद्वा। तदेवं यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत् प्रतिभासात्कथंचिदर्थान्तरम्, यथा प्रतिभासस्वरूपम्, प्रतिभाससमानाधिकरणं च सुखनीलादि सर्वमिति साध्यविपरीतसाधनाद्धेतोर्नाद्वैतसिद्धिः। 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' इत्याद्याम्नायादपि द्वैतसिद्धिरेव स्यात्, सर्वस्य प्रसिद्धस्याप्रसिद्धेन ब्रह्मत्वेन विधानात्, सर्वथा प्रसिद्धस्य विधानायोगादप्रसिद्धवत्। क्वचिदात्मव्यक्तौ प्रसिद्धस्यैकात्म्यरूपस्य ब्रह्मत्वस्य सर्वात्मस्वनात्माभिमतेषु च विधानाद् द्वैतप्रपञ्चारोपव्यवच्छेदेऽपि तदागमाद् व्यवच्छेदव्यवच्छेदकसद्भावसिद्धेः कथमद्वैतसिद्धिः? आम्नायस्य परमब्रह्मस्वभावत्वेऽपि न ततस्तदद्वैतसिद्धिः, स्वभावस्वभाववतोस्तादात्म्यैकान्तानुपपत्तेः। स्वसंवेदनमेव पुरुषाद्वैतसाधनमिति चेत्, नैतदपि सारम्, निगदितपक्षदोषोपनिपातात्।

४५०. तथाहि—तत्सिद्धिर्यदि साधनात्साध्यसाधनयोस्तर्हि द्वैतं स्यात्।

अन्यथाऽद्वैतसिद्धिर्वद्वैतसिद्धिः कथं न स्यात्। स्वाभिलापमात्रादर्थसिद्धौ सर्वं सर्वस्य सिध्येत्। न हि स्वसंवेदनमपि साधनमात्मनोनन्यदेव साधनत्वविरोधात्, अनुमानागमवत्साध्यस्यैव साधनत्वापत्तेः प्रकृतानुमानागमयोरिव स्वसंवेदनप्रत्यक्षस्यापि साधनस्याभावात्। स्वतः सिद्धं ब्रह्मेत्यभ्युपगमे द्वैतमपि स्वतः सकलसाधनाभावेऽपि किं न सिध्येत्? तत्त्वोपप्लवमात्रं वा? नैरात्म्यं वा? स्वाभिलापमात्रविशेषात्। सर्वस्य सर्वमनोरथसिद्धिरपि दुर्निवारा स्यात्।

४५१. एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं यदुक्तं बृहदारण्यकवार्तिके—

आत्मापि सद्विदं ब्रह्म मोहात्पारोक्ष्यदूषितम्।

ब्रह्मापि स तथैवात्मा सिद्धितीयतयेक्ष्यते॥१॥

आत्मा ब्रह्मेति पारोक्ष्यसौ द्वितीयत्वबाधनात् ।

पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमिति सिद्धं समीहितम् ॥२॥ (बृहदा० वा०) इति,

मोहस्याविद्यारूपस्याकिंचिद्रूपत्वे पारोक्ष्यहेतुत्वाघटनात् स द्वितीयत्वदर्शननिबन्धनत्वासंभवात् । तस्य वस्तुरूपत्वे द्वैतसिद्धिप्रसक्तेस्तत एव पारोक्ष्यसद्वितीयत्वयोर्बाधनात् । पुमर्थे निश्चितं शास्त्रमित्येतस्यापि द्वैतसाधनत्वात् । शास्त्रपुमर्थयोर्भेदाभावे साध्यसाधनभावासंभवात् ।

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना ।

संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥२७॥

४५२. कथं पुनर्हेतुना विनाऽहेतुरिवाद्वैतं द्वैताद्विना सिध्यतीति निश्चितमिति चेत्, उच्यते, अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थपेक्षो नञपूर्वाखण्डपदत्वात्, अहेत्वभिधानवत्, इत्यनुमानात् । अनेकान्तशब्देन व्यभिचार इति चेन्न, तस्यापि सम्यगेकान्तेन विनानुपपद्यमानत्वात् । एवममायादिशब्देनापि न व्यभिचारस्तस्य मायादिनाऽविनाभावित्वात् । तथा नञपूर्वग्रहणात् केवलेन शब्देन व्यभिचारो निरस्तः, पदोशेनाखण्डग्रहणात् । अखरविषाणादिशब्देन च न । ततो नात्र किंचिदतिप्रसज्यते, तादृशो नञो वस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वात् । न ह्यखण्डपदविशेषणस्य नञः क्वचिदवस्तुप्रतिषेधनिबन्धनत्वमुपलब्धं, पदान्तरोपहितपदविशेषणस्यैव तथा प्रतीतेरखरविषाणमित्यादिवत् । अत एव सर्वत्र प्रतिषेध्यादृते संज्ञिनः प्रतिषेधाभावः प्रत्येतव्यः । न हि खरविषाणं संज्ञि किंचिदस्ति, येन तस्यापि सत एव कथंचित् प्रतिषेधः प्रसज्यते ।

४५३. ननु पुरुषाद्वैते परमार्थतः प्रतिषेधव्यवहारासंभवात् परोपगतस्य द्वैतस्य पर-प्रसिद्धन्यायादेवानुमानादिरूपादभावः साध्यते । न च स्वपरविभागोपि तात्त्विकस्तस्याविद्याविलासाश्रयत्वात् । ततो न कश्चिद्दोष इति चेत्, न, अविद्याया एव व्यवस्थापयितुमशक्तेः ।

४५४. ननु च न वस्तुवृत्तमपेक्ष्याऽविद्या व्यवस्थाप्यते, तस्यामवस्तुभूतायां प्रमाणव्यापारायोगात् । परमब्रह्मण्यविद्यावति अविद्यारहिते च विद्यायां विरोधादानर्थक्याच्च नाविद्यास्येत्यप्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पेनात्, ब्रह्माधारायास्त्वविद्यायाः कथमप्ययोगात् । यतश्चानुभवादविद्यास्मीति ब्रह्मानुभूतिमत्तत एव प्रमाणोत्थविज्ञानबाधिता सा । तदबाधने तस्या अप्यात्मत्वप्रसङ्गात् । तथा ब्रह्मण्यविज्ञाते तदविद्याव्यवस्थानुपपत्तेर्बाधोसद्भावाद् विज्ञातेपि सुतरां तदबाधनादव्यवस्थानं, अबाधिताया बुद्धेर्मृषात्वायोगात् । न चाविद्यावान्नरः कथंचिदविद्यां निरूपयितुमीशश्चन्द्रद्वयादिभ्रान्तिमिव जातितैमिरिकः ।

तदुक्तम्—

ब्रह्माऽविद्यावदिष्टं चेन्ननु दोषो महानयम् ।

निरविद्ये च विद्याया आनर्थक्यं प्रसज्यते ॥१॥

नाऽविद्याऽस्येत्यविद्यायामेव स्थित्वा प्रकल्पते ।

ब्रह्माधारा त्वविद्येयं न कथंचन युज्यते ॥२॥

यतोऽनुभवंतोऽविद्या ^{२१३} ब्रह्मास्मीत्यनुभूतिमत् ।
 अतो मानोत्थविज्ञानध्वस्ता ^{२१४} साप्यन्यात्मता ^{२१५} ॥३॥
 ब्रह्मण्यविदिते ^{२१६} बाधानाविद्येत्युपपद्यते ।
 नितरां चापि विज्ञाते ^{२१७} मृषा ^{२१८} धीर्नास्त्यबाधिता ॥४॥
 अविद्यावानविद्यां तां न निरूपयितुं क्षमः ।
 वस्तुवृत्तमतोऽपेक्ष्य ^{२१९} नाविद्येति ^{२२०} निरूप्यते ^{२२१} ॥५॥
 वस्तुनोऽन्यत्र ^{२२२} मानानां ^{२२३} व्यापृतिर्न ^{२२४} हि युज्यते ।
 अविद्या च न वस्त्वष्टं ^{२२५} मानाघाताऽसहिष्णुतः ॥६॥
 अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम् ।
 मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ^{२२६} ॥७॥

४५५. न चैवमप्रामाणिकायामविद्यायां कल्प्यमानायां कश्चिदोषः, तस्याः ^{२२७} संसारिणः
 स्वानुभवाश्रयत्वाद् ^{२२८} द्वैतवादिन ^{२२९} एव ^{२३०} दृष्टादृष्टार्थप्रपञ्चस्य ^{२३१} प्रमाणबाधितस्य ^{२३२} कल्पनायामनेकविधायां
 बहुविधदोषानुषङ्गात् । तदप्युक्तम्—

^{२३३} तत्पक्षे ^{२३४} बहुकल्प्यं ^{२३५} स्यात् ^{२३६} सर्वं ^{२३७} मानविरोधि च ।
 कल्प्याऽविद्यैव ^{२३८} तत्पक्षे ^{२३९} सा ^{२४०} चानुभवसंश्रया ॥१॥

४५६. इति कश्चित्, सोपि न प्रेक्षावान्, सर्वप्रमाणातीतस्वभावायाः स्वयमविद्यायाः स्वीकरणात् । न हि
 प्रेक्षावान् सकलप्रमाणातिक्रान्तरूपामविद्यां विद्यां वा स्वीकुरुते । न च प्रमाणानामविद्याविषयत्वमयुक्तम्,
 विद्यावदविद्याया अपि कथंचिद्वस्तुत्वात् । तथा ^{२४१} विद्यात्वप्रसङ्ग इति चेन्न किंचिदनिष्टम्, 'यथा यत्राविसंवादस्तथा
 तत्र प्रमाणता' इत्यकलङ्कदेवैरप्युक्तत्वात् । बहिः प्रमेयापेक्षया तु ^{२४२} कस्यचिदसंवेदनस्याविद्यात्वं
 बाधकप्रमाणावसेयम् । कथमप्रमाणविषयः ? तद्बाधकं ^{२४३} पुनरर्थान्यथात्वसाधकमेव प्रमाणमनुभूयते इति
 वस्तुवृत्तमपेक्ष्यैवाविद्या निरूपणीया । न च कथंचिद्विद्यावतोप्यात्मनः प्रतिपत्तुरविद्याकत्वं विरुध्यते, यतोऽयं महान्
 दोषः स्यात् । नाप्यविद्याशून्यत्वे कथंचिद्विद्यानर्थक्यं प्रसज्यते, तत्फलस्य सकलविद्यालक्षणस्य ^{२४४} भावात् । न
 विद्यायामेव स्थित्वाऽस्येयमविद्येति प्रकल्प्यते, सर्वस्य ^{२४५} विद्यावस्थायामेवाविद्येतरविभागनिश्चयात्,
 स्वप्नाद्यविद्यादशायां तदभावात् । ततश्चात्मद्वारेवाविद्या युक्तिमती । यस्मादनुभवादविद्यावनह-
 मस्मीत्यनुभववानात्मा तत एव कथंचित् प्रमाणोत्थविज्ञानाऽबाधिता तदविद्यापि सैवेत्यात्मताविरोधाभावात् । न
 चात्मनि कथञ्चिदविदितेप्यविद्येति नोपपद्यते, बाधाऽविरोधात् । कथंचिद्विज्ञातेपि वाऽविद्येति नितरां घटते,
 विदितात्मन एव तद्बाधकत्वविनिश्चितेः कथंचिद्विज्ञाताया बुद्धेर्मृषात्वसिद्धेः । न च कथंचिदविद्यावानेव
 नरस्तामविद्यां ^{२४६} निरूपयितुमक्षमः, सकलप्रेक्षावद्व्यवहाराविलोपात् । यदपि ^{२४७}

प्रमाणाघातासहिष्णुत्वमसाधारणलक्षणमविद्यायास्तदपि प्रमाणसामर्थ्यादेव निश्चेतव्यम् । इति न प्रमाणातिक्रान्ता
 काचिदविद्या नाम, यदभ्युपगमे ब्रह्माद्वैतं न विरुध्येत द्वैतप्रतिषेधो वा द्वैताविनाभावी न भवेत् ।

४५७. तदेतेन शब्दाद्वैतमपि निरस्तं, विज्ञानाद्यद्वैतवत्तस्यापि निर्गोदितदोषविषयत्वसिद्धेः,
प्रक्रियामात्रभेदात्, तद्व्यवस्थानुपपत्तेः, स्वपक्षेतरसाधकबाधकप्रमाणाभावाविशेषात्, स्वतः
सिद्ध्ययोगाद्रत्यन्तराभावाच्च । इत्यलमतिप्रसङ्गिन्या संकथया, सर्वथैवाद्वैतस्य निराकरणात् ।
इष्टमद्वैतैकान्तापवारणं, पृथक्त्वैकान्ताङ्गीकरणात्, इति माऽवदीधरत् । यस्मात्—

पृथक्त्वैकान्तपक्षेपि पृथक्त्वादपृथक् तु तौ ।

पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥२८॥

४५८. पृथगेव द्रव्यादिपदार्थाः प्रमाणादिपदार्थाश्च, पृथक्प्रत्ययविषयत्वात्, सहाविन्ध्यवत्, इत्येकान्तः
पृथक्त्वैकान्तः, सजातीयविजातीयव्यावृत्ता निरन्वयविनश्चरा बहिरन्तश्च परमाणवः इत्यभिनिवेशश्च । तत्र येषां
पृथक्त्वगुणयोगात् पृथक् पदार्था इत्याग्रहस्ते एवं तावत्प्रष्टव्याः किं पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्वं गुणः
पृथग्भूतोऽपृथग्भूतो वा ? न तावदुत्तरः पक्षो गुणगुणिनोर्भेदोपगमात् । नापि प्रथमः पृथग्भूतपदार्थेभ्यः पृथक्त्व-
स्य पृथग्भावे तेषामपृथक्त्वप्रसङ्गात् । पृथक्त्वस्य तदगुणत्वात् पृथगितिप्रत्ययस्य तदालम्बनत्वात्
तेषामपृथक्त्वप्रसङ्ग इति चेत्, न तस्य कथंचित्तादात्म्यापत्तेः पृथक्त्वैकान्तविरोधात् । तदगुणगुणिनोर्तादात्म्ये
घटपटवद्व्यपदेशोपि मा भूत्, सम्बन्धनिबन्धनान्तराभावात् । कथंचित्तादात्म्यमेव हि तयोः संबन्धनिबन्धनं,
न ततोऽन्यत्संभवति । समवायवृत्तिः संभवतीति चेत्, समवायस्य कथंचिदविष्वग्भावादपरस्य प्रतिक्षेपात् ।
पृथक्त्वमन्यद्वा पृथग्भूतमनंशमनेकस्थेषु निष्पर्यायं वर्तते इति दुरवगाहम् । न ह्यनेकदेशस्थेषु
हिमवद्विन्ध्यादिषु सकृदेकः परमाणुर्वर्तते इति संभवति । गगनाद्यनंशमपि वर्तते इति चेत्,
तस्याप्यनन्तप्रदेशादितयानंशत्वासिद्धेरनाश्रयतया क्वचिद्वृत्त्यभावाच्च । सत्तैका युगपदनेकत्र वर्तते
इत्यप्यसिद्धम्, तदनन्तपर्यायत्वसाधनात्, स्वपर्यायेभ्योऽत्यन्तभेदासिद्धेश्च समवायवृत्त्यनुपपत्तेः ।
द्रव्यत्वादिसामान्यमपि नैकमनंशमनेकस्वव्यक्तिवृत्ति सकृत्प्रसिद्धम्, तस्यापि स्वाश्रयात्मकतया
कथंचित्सांशत्वानेकत्वप्रतीतेः । संयोगविभागपरत्वापरत्वान्यपि नानेकवृत्तीनि युगपदुपपद्यन्ते प्रतियोग्यादि-
संयोगादिपरिणामप्रतीतेः, सादृश्योपचारादेकत्वव्यवहारात् । द्वित्वादिरनेकद्रव्यवृत्तिर्युगपदित्यप्यप्रातीतिकम्,
प्रतिव्यक्ति सकलसंख्यापरिणामसिद्धेः क्वचिदेकत्र तदसिद्धौ परापेक्षयापि तद्विशेषप्रतीत्ययोगात् खरविषाणवत् ।
ततो न पृथक्त्वमनेकत्र युगपद्वर्तते गुणत्वात्, रूपादिवत् । न संयोगादिभिरनेकान्तः, तेषामप्यनेकद्रव्यवृत्तीनां
सकृदनंशानामसिद्धेः । तदनेन पृथक्त्वैकान्तपक्षेपि पृथक्त्ववतोः पृथक्त्वात्पृथक्त्वे तौ तद्वन्तावपृथगेव स्याताम् ।
तथा च न पृथक्त्वं नाम गुणः स्यात्, एकत्र तद्वति तदनभ्युपगमात् । अनेकस्थो ह्यसौ गुण इति कारिकाव्याख्यानं
स्थितपक्षदूषणपरं प्रकाशितं प्रतिपत्तव्यम् ।

सांप्रतं निरन्वयक्षणिक्कलक्षणपृथक्त्वपक्षे दूषणमाविर्भावयितुमनसः सूरयः प्राहुः—

संतानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः ।

प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिहवे ॥२९॥

४५९. जीवादिद्रव्यैकत्वस्य निहवे संतानो न स्याद्भिन्नसंतानाभिमतक्षेणवत् ।
तथैकस्कन्धावयवानामेकत्वपरिणामापलापे समुदायो न स्यान्नानास्कन्धावयववत् । तथा संधर्मात्वाभिमतानां

सदृशपरिणामैकत्वापह्नवे साधर्म्यं न स्याद्विसदृशार्थवत् । मृत्वा पुनर्भवानं प्रेत्यभावः । सोपि न स्यादुभयभवानुभाव्येकात्माऽपाकरणे नानात्ववत् । चशब्दाद्वत्तग्रहादि सर्वं न स्यात्तद्वत् । न च तदभावः शक्यः प्रतिपादयितुम्, सकलबाधकशून्यत्वेन निरङ्कुशत्वात् ।

४६०. ननु चापरामृष्टभेदाः कार्यकारणक्षणा एव संतानः । स चैकत्वनिह्वेपि घटते एवेत्यपि यं समाचक्षते तेषामपि कार्यकारणयोः पृथक्त्वैकान्ते कार्यकालमात्मानमनयतः कारणत्वासंभवात्तदनुत्पत्तेः कुतः संततिः ?

४६१. ननु कार्यकाले संतोपि कारणत्वे तत्कारणत्वानभिमतस्य कार्यकालमात्मानं नयतः सर्वस्य तत्कारणत्वप्रसङ्गः । कार्यकारणे प्रागसतः सद्व्यव्यादिरूपेण प्राक्कार्यकाले च सतस्तत्कार्यस्योत्पत्तौ खरादिमस्तके विषाणादेरुत्पत्तिः किन्न स्यात् ? गवादिशिरसीव तत्रापि तस्य विषाणाद्याकारतया प्रागसत्त्वस्य सद्व्यव्यादिरूपतया सत्त्वस्य चाविशेषात् । तदुत्पत्तिकारणस्य दृष्टस्यादृष्टस्य चाभावात् तत्र न तस्योत्पत्तिरिति वचने परेषामपि प्रागसत्त्वैकान्ताविशेषेपि कार्यस्य पूर्वं सति कारणे जन्म नासतीति न किञ्चिदतिप्रसज्यते, तदन्वयव्यतिरेकानुविधाननिबन्धनत्वात् तत्कारणत्वस्य । न च निरन्वयक्षणीकत्वेपि कार्यस्य कारणान्वयव्यतिरेकानुविधानमसंभाव्यं, स्वकाले सति कारणे कार्यस्योत्पत्तेरसत्यनुत्पत्तेः प्रतीयमानत्वात्, स्वदेशापेक्षान्वयव्यतिरेकवत् । तदुक्तम्—

अन्वयव्यतिरेकोद्यो यस्य दृष्टोनुवर्तकः ।

स्वभावस्तस्य तद्धेतुरतो भिन्नान् संभवः ॥ () इति ।

ततोऽव्यभिचारेण कार्यकारणभूता एवापरामृष्टभेदाः क्षणाः संतानो युक्तः, इति कश्चित्, सोपि न प्रतीत्यनुसारी, तथा बुद्धेतरचित्तानामप्येकसंतानत्वप्रसङ्गात्, तेषामव्यभिचारेण कार्यकारणभूतत्वाविशेषात् । निराश्रयचित्तोत्पादात्पूर्वं बुद्धचित्तस्यापि संतानान्तरचित्तकारणत्वाभावान्न तेषामव्यभिचारी कार्यकारणभाव इति चेन्न, यतः प्रभृति तेषां कार्यकारणभावस्तत्प्रभृतितस्तस्याव्यभिचारादन्यथा बुद्धचित्तस्यासर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । नाऽननुकृतान्वयव्यतिरेकं कारणं, नाकारणं विषय इति वचनात् ।

४६२. स्यान्मतम्, येषामग्राह्याहकत्वे सत्यव्यभिचारी कार्यकारणभावस्तेषामेकसंतानत्वोपगमात्रं दोष इति चेत्तदप्युक्तम्, समनन्तरप्रत्ययेनापि सह बुद्धचित्तस्यैकसंतानतापायप्रसक्तेः, तस्य बुद्धचित्तेनाग्राह्यत्वे तस्यासर्ववेदित्वापत्तेः । समनन्तरप्रत्ययस्य समनन्तरप्रत्ययत्वादेव बुद्धचित्तेन सहैकसंतानत्वमिति चेत्, कुतस्तस्य समनन्तरत्वम् ? तस्याव्यभिचारिकारणत्वादिति चेन्न, सर्वार्थानां तत्समनन्तरत्वप्रसङ्गात् । एकसंतानत्वे सति कारणत्वात्, इति चेत्, सोयमन्योन्यसंश्रयः । सिद्धे समनन्तरप्रत्ययत्वे तस्यैकसंतानत्वेन कारणत्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च समनन्तरप्रत्ययत्वसिद्धिरिति । स्याद्वादिनां कस्तर्ह्येकः संतान इति चेत्, पूर्वापरकालभावनोरपि हेतुफलव्यपदेशभाजोरतिशयात्मनोरन्वयः संतानः । क्वचित्क्षणान्तरे नीललोहितादिनिर्भासचित्रैकसंवेदनवत्कथंचिदेकत्वमेव भवितुमर्हति । न च साध्यविकलं चित्रज्ञानमुदाहरणं तस्यैकत्वप्रसिद्धेः । तदवयवपृथक्त्वकल्पनायां चित्रनिर्भासो मा भूत्, पृथग्वर्णान्तरविषयानेक-

सतानैकक्षणवत् । तत्र प्रत्यासत्तिविशेषः कथंचिदैक्यात्कोऽपरः स्यात् ? देशप्रत्यासत्तेः शीतातपवातादिभिर्व्यभिचारात्, कालप्रत्यासत्तेरेकसमयवर्तिभिरशेषार्थैरनेकान्तात्, भावप्रत्यासत्तेरेकार्थोद्भूतानैक-
 पुरुषज्ञानैरनैकान्तिकत्वाद् द्रव्यप्रत्यासत्तिरेव परिशेषात् संभाव्यते । सा
 चैकद्रव्यतादात्म्यलक्षणत्वात्प्रत्यासत्तिविशेषः । इति कथंचिदैक्यमेवैकत्वव्यवहारनिबन्धनं चित्रज्ञानस्य, अन्यथा
 वेद्यवेदकाकारयोरपि पृथक्त्वैकान्तप्रसङ्गात् । तयोः स्वभावभेदेपि सहोपलम्भनियमात्कथंचिदभेदाभ्युपगमे
 कथमेकसंतानसंविदां समनन्तरोपलम्भनियमात्कथंचिदैक्यं न स्यात् ?
 कालसमनन्तरोपलम्भनियमादेकसंतानत्वमेव स्याद्देशसमनन्तरोपलम्भनियमात् समुदायवत्, न पुनरेकद्रव्यत्वमिति
 चेन्न, भवतां बुद्धेतरसंविदामेकसंतानत्वापत्तेः, कालसमनन्तरोपलम्भनियमस्य भावात्, पञ्चानामपि
 स्कन्धानामेकस्कन्धत्वप्रसङ्गात्, प्रदेशसमनन्तरोपलम्भनियमस्य भावात् । प्रत्यासत्त्यन्तरकल्पनायां तत्र यथा
 प्रत्यासत्त्या संतानः समुदायश्च, तथैव कथंचिदैक्यमस्तु । न हि तादृशां साधर्म्यमन्यदन्यत्रात्मसाङ्कर्यात्, येन
 कालसमनन्तरोपलम्भनियमभाजामेकसंतानत्वं व्यवतिष्ठते देशसमनन्तरोपलम्भनियमभृतां चैकस्कन्धाख्यं
 समुदायत्वं युज्येत, तादृशः साधर्म्यस्यैकत्वंनिहवेऽनुपपत्तेः, कथंचिदेकत्वशून्यार्थसाधर्म्यस्य संतानान्तरेषु
 नानासमुदायेषु च दर्शनात् । एतेनैकसंतानत्वात् प्रेत्यभावव्यवहारकल्पनमपास्तं कथंचिदेकत्वापह्नवे तदयोगात् ।
 कथमिह जन्मनो जन्मान्तरेणैकत्वं, विरोधात्, इति चेत्, न, कथंचिदेकत्वे विरोधाभावात् ।
 तथाप्रतिभासादेकज्ञाननिर्भासविशेषवत् । तथाहि—एकज्ञाननिर्भासविशेषाणां मिथः स्वभावभेदेपि
 यथैकत्वपिरणामः स्वभावतोऽनङ्कुशस्तथा प्रेत्यभावादिषु संतानोन्वयः
 परमार्थैकत्वमात्मसत्त्वजीवादिव्यपदेशभाजनं स्वभावभेदानाक्रम्य स्वामिवदन्यत्र वर्तयति । न पुनरन्यत्र
 जीवान्तरे, तेषामशक्यविवेचनत्वाद्विरोधवैयधिकरण्यादीनामेकज्ञाननिर्भासविशेषैरपाकरणान्निङ्कुशत्वसिद्धेः ।

पृथक्त्वैकान्तपक्षे दूषणान्तरमुपदर्शयन्तः प्राहुः—

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत् ।

ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥३०॥

४६३. सदात्मना सत्सामान्यात्मना भिन्नमेव ज्ञानं ज्ञेयादिति चेत्, द्विधाप्यसदेव प्राप्तं ज्ञानस्यासत्त्वे
 ज्ञेयस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । ततो बहिरन्तश्च न किञ्चित्कथंचिदपि ज्ञेयं नाम त्वद्विषां प्रतीयेत ।

४६४. ननु सद्दिशेषाद् भेदेपि ज्ञानस्य ज्ञेयान्नासत्त्वप्रसक्तिः । सदनन्तरत्वे तु न स्यात्
 पटान्तराद्भेदेपि पटस्य पटान्तरत्वाभावत् । सत्सामान्यं पुनः सर्वेषु सद्दिशेषेष्वसत्त्वव्यावृत्तिमात्रम् । न
 च तदात्मना कस्यचित्कुतश्चिद्भेदोऽभेदो वा विचार्यते, तस्य वस्तुनिष्ठत्वात् सन्मात्रस्य चावस्तुत्वात् ।
 तदात्मना व्यावृत्तस्य ज्ञानस्य ज्ञेयात्परमार्थसत्त्वाविरोधाच्च कश्चिदुपालम्भ इति चेन्न, सत्सामान्यस्याभावे
 सांवृतत्वे वा सद्दिशेषाणामभावप्रसङ्गात् सांवृतत्वापत्तेश्च तदसत्त्वव्यावृत्तेरपि वस्तुस्वभावत्वादन्यथा
 खरविषाणादावपि तदनुषङ्गात् । तथाहि—ज्ञानज्ञेययोरसद्व्यावृत्तिर्वास्तवी सद्दिशेषत्वात्, यस्य तु न सा
 वास्तवी स न सद्दिशेषो यथा वन्ध्यासुतः । सद्दिशेषौ च ज्ञानज्ञेये, इति केवलव्यतिरेकी हेतुः । तथा

यत्रासद्व्यावृत्तिर्वास्तवी तत्र सत्सामान्यं वस्तु, सत्सामान्यरहितेषु वन्ध्यासुतादिष्वसद्व्यावृत्तेरवास्तवत्वात्, इति वास्तवसत्सामान्यात्मना ज्ञानस्य ज्ञेयान्भेदे सद्दिशेषात्मनापि भेदः स्यात् । तथा च ज्ञानमसत् प्राप्तम् । तदनिच्छतां विषयिणो विषयात्कथञ्चित्त्वभावभेदेपि सदाद्यात्मना तादात्म्यं बोधाकारस्येव विषयाकाराद्, विशेषाभावात् । अन्यथा ज्ञानमवस्त्वेव खपुष्यवत् । तदभावे बहिरन्तर्वा ज्ञेयमेव न स्यात्, तदपेक्षत्वात् तस्य । ततः श्रेयानयमुपालम्भः पृथक्त्वैकान्तवाचां ताथागतानां वैशेषिकवत् । किञ्च—

सामान्यार्था गिरोन्येषां विशेषो नाभिलष्यते ।

सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः ॥३१॥

४६५. सामान्यमेवार्थोभिधेयो यासां ताः सामान्यार्था गिरो यतस्ताभिर्विशेषो नाभिलष्यते इत्यन्ये, तेषां मृषैव सकलाः स्वयं सत्यत्वेनाभिमतता अपि गिरः स्युः, सामान्यस्य वास्तवस्याभावात् । कुतः पुनः सामान्यस्यैवाभिधेयत्वमिति चेत्, विशेषाणामशक्यसमयत्वात् । न ह्यनन्ता विशेषा शक्याः संकेतयितुं ततो नाभिधीयेरन्, असंकेतितानभिधानात् । विशेषदर्शनवत्तद्बुद्धावप्रतिभासनादर्थसन्निधानानपेक्षणाच्च । न हि स्वलक्षणदर्शने यथा संकेतनिरपेक्षो विशेषः प्रतिभासते तथा शब्दबुद्धावपि, तस्याः स्वलक्षणसंनिधानानपेक्षत्वात्, तदपेक्षत्वेऽतीतानुत्पन्नादिषु शब्दबुद्धेरभावप्रसङ्गात् । यद्येवं स्वलक्षणमनभिधेयं सामान्यमवस्तुच्यते इति वस्तु नोच्यते इति स्यात् । ततः किं शब्दोच्चारणेन संकेतेन वा ? गोशब्दोपि हि गां नाभिधत्ते यथाश्वशब्दः । तथा च वस्तुनोनभिधाने मौनं यत्किञ्चिद्वा वचनमाचरेत्, विशेषाभावात् । अथास्ति विशेषः । कथं स्वार्थं नाभिदधीत ? मौनाद्यत्किञ्चनवचनाद्वा यथार्थाभिधानस्य स्वाभिधानं मुक्त्वा विशेषस्यासंभवात् । न वै परमार्थैकतानत्वादभिधाननियमः,

परमार्थैकतानत्वे शब्दानामनिबन्धना ।

न स्यात् प्रवृत्तिरर्थेषु समयान्तरभेदिषु ॥ () इति वचनात् ।

४६६. किंतूपादानविशेषात्, इत्यपि वार्तम्, अविकल्पेति तथैव प्रसङ्गात् । शक्यं हि वक्तुम् “अविकल्पकप्रत्यक्षस्य न परमार्थैकतानत्वात्रियमो द्विचन्द्रादिदर्शनाभावप्रसङ्गात् किंतूपादानस्य स्ववासनाविशेषस्य भेदात् इति । तदेवमनवधारितात्मकं वस्तु स्वलक्षणमापनीपद्येत, विकल्पनेवाविकल्पेनाप्यवधारयितुमशक्तेः । निर्विकल्पकस्यार्थसंनिधानापेक्षत्वाद्वैशद्याच्च परमार्थैकतानत्वमिति चेन्न, तदनियमात् । तथाहि—नावश्यमिन्द्रियज्ञानमर्थसंनिधानमपेक्षते विप्लवाभावप्रसङ्गात् । नापि विशदात्मकमेव, दूरेपि तथाप्रतिभासप्रसङ्गाद्यथाऽऽरात् । न हि आरादेवार्थे निर्विकल्पकमिन्द्रियज्ञानम्, न पुनर्दूरे इति शक्यं वक्तुम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानाविशेषात् । दूरार्थेपीन्द्रियज्ञानं विशदात्मकमेव, तत्रावैशद्यस्याशूत्पन्नानन्तरविकल्पेन सहैकत्वाध्यारोपादेव प्रतीतेरिति चेन्न, आसन्नार्थेपि तदवैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात् । न हि तत्राविकल्पानन्तरं चिराद्विकल्पस्योत्पत्तिः, पुरोवर्तिन्यर्थेऽक्षज्ञानजविकल्पवैशद्यस्य तल्लघुवृत्तिनिबन्धनत्वा- भावप्रसङ्गात्, “विमूढो लुधवत्तेर्वा तयोरैक्यं व्यवस्यति” इतिवचनविरोधात् । यदि पुनरासन्नार्थे

निर्विकल्पकस्य बलीयस्त्वात्तद्वैशद्येनानन्तरविकल्पावैशद्यस्याभिभवाद्वैशद्यप्रतिभासो न पुनदूरे, विपर्ययादिति मतं तदा पुरोवर्तिगोदर्शनवैशद्येनाश्वविकल्पावैशद्यस्याभिभूतिप्रसङ्गात् तत्र वैशद्यप्रतीतिः किन्न स्यात् ? गोदर्शनभिन्नविषयत्वादश्वविकल्पस्य नैवमिति चेन्न, नीलदर्शनविकल्पयोरपि भिन्नविषयत्वात्तद्वैशद्या-प्रतीतिप्रसङ्गात् । न हि तयोरभिन्नविषयत्वं स्वलक्षणसामान्ययोस्तद्विषययोर्भेदात् । तत्र दृश्यविकल्पयोरैकत्वाध्यवसायानीलविकल्पे वैशद्यप्रतिभास इति चेन्न, तत एव दूरेपि वैशद्यप्रतिभासप्रसङ्गात् ।

४६७. स्यान्मतम्,—प्रत्यासन्नर्थे विकल्प्ये दृश्यस्याध्यारोपाद्विकल्पवैशद्यं दूरे तु दृश्ये विकल्प्यस्याध्यारोपादर्शनावैशद्यं प्रतीयते, कुतश्चिद्विभ्रमात्, इति, तदप्यसारं, चन्द्रार्कादावतिदूरे दृश्ये विकल्प्याध्यारोपादवैशद्यप्रतीतिप्रसङ्गात्, प्रत्यासन्नतरे च चक्षुषः करतलरेखादौ विकल्प्ये दृश्याध्यारोपाद्वैशद्यप्रत्ययप्रसङ्गात् । यदि पुनरदृष्टविशेषवशाद् दृश्यविकल्पयोरैकत्वाध्यारोपाविशेषेपि क्वचिद्वैशद्यमवैशद्यं च यथाप्रतीत्यभिधीयते, तदा तत एवेन्द्रियजत्वविशेषेपि क्वचिद्विशदप्रतिभासोऽन्यत्रान्यथेति नैकान्तेन दर्शनस्य विशदात्मकत्वमर्थसन्निधानापेक्षत्वं वा, यतः परमार्थैकतानत्वात्रियमः स्यात्, न पुनः शब्दबुद्धिवदुपादाननियमादिति । न शब्दबुद्धेरवस्तुविषयत्वेप्युपादाननियमाद्विशेषः, परार्थानुमानस्य वक्त्रभिप्रेतसमये त्रिरूपहेतुसूचित्वादविसंवादादितरवचनाद्विशेष इति चेन्न, तथापि क्षणभङ्गादिसाधनवचनमन्यद्वा न किञ्चित् सत्यं स्याद्वक्त्रभिप्रेतमात्रसूचित्वात् प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यवत् । न हि वक्त्रभिप्रेतमात्रसूचित्वाविशेषेपि क्षणभङ्गादिसाधनं प्रतिपक्षदूषणं वा सत्यं न पुनः प्रधानेश्वरादिसाधनमिति शक्यव्यवस्थं यतस्तदेव संवादि स्यात्, सर्वथाविशेषाभावात् ।

४६८. सदर्थप्रतिपादनाद्वा न क्षणभङ्गादिसाधनवचनं विपक्षदूषणवचनं वा सत्यम्, प्रसिद्धालीकवचनवत् ।

४६९. ननु च व्याख्यातारः खल्वेन विवेचयन्ति न व्यवहर्तारः । ते हि दृश्यविकल्प्यावर्थावेकीकृत्य यथेष्टं व्यवहरन्ति । क्षणभङ्गादिसाधनवचनमन्यद्वा सत्यम्, न प्रधानेश्वरादिसाधनवाक्यं सत्यम् । परमार्थतस्तु न किञ्चिद्वचनमवितथम् । इत्यभ्युपगमेपि न दृश्यविकल्प्यार्थाकारयोः कथंचिदप्यतादात्म्ये स्वलक्षणं सर्वथानवधारितलक्षणं दानादिचेतोऽधर्मादिकक्षणवत् कथं संशीतिमतिवर्तेत ? निर्विकल्पक-दर्शनात्तदवधारणासंभवात्, विकल्पानां चावस्तुविषयत्वात् । सोऽयमविकल्पेतरराशयोरर्थेतरविषयत्वमन्यद्वा स्वांशमात्रावलम्बिना विकल्पान्तरेण प्रत्येतीति सुपरिबोधप्रज्ञो देवानांप्रियः । न ह्यविकल्पेतरराशयोरर्थानर्थविषयत्वं विशदेतरात्मत्वं वाऽनुपबध्नेतररूपत्वं वा येन विकल्पान्तरेण प्रत्येति । तद्वस्तुविषयं युक्तम्, तस्य विकल्पराशावनर्थविषयेनुप्रवेशात् । स्वत एव विकल्पसंविदां निर्णये स्वलक्षणविषयोपि विकल्पः स्यात् । परतश्चेदनवस्थानादप्रतिपत्तिः । अतोऽर्थविकल्पोपि मा भूदित्यन्यकल्पं जगत् स्यात् स्वयमनिश्चितात्मनो विकल्पादर्थनिश्चयानुपपत्तेः । न चायं परोक्षबुद्धिवादमतिशेते, सर्वार्थचिन्तनोच्छेदाविशेषात् । यथैव ह्यप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थदृष्टिः प्रसिध्यति तथा स्वयमनिश्चितात्मोपलम्भस्यापि । स्वयमनिर्णीतेन नामात्मना बुद्धिरर्थं व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं

तत्त्वम् । न वै स्वरूपं पररूपं वा बुद्धिरध्यवस्यति निर्विषयत्वात्, भ्रान्तिस्वप्नबुद्धिवदिति विभ्रमैकान्तवादिवचनम् । इदमतो भ्रान्तरम्, बहिरन्तश्च सद्भावासिद्धेः । स्वप्नादिभ्रान्तज्ञानं हि बहिरर्थासत्त्वादिव, न पुनः स्वरूपासत्त्वात्, इदं तु विभ्रमैकान्तसंवेदनं बहिरन्तरप्यर्थासत्त्वादिति कथं न तदतिशेते ? न चास्य स्वरूपसत्त्वं, तद्व्यवस्थानस्य विपक्षव्यवच्छेदेन प्रतिपत्तिपथमुपनेतुमशक्तेः । स्वपरस्वभावप्रतिपत्तिशून्येन स्वपरपक्षसाधनदूषणव्यवस्थां प्रत्येतीति किमपि महान्दुतम् । संवृत्या प्रत्येतीति चायुक्तं, कथंचिदपि परमार्थप्रतिपत्त्यभावे संवृतिप्रतिपत्त्ययोगात्, परमार्थविपर्ययरूपत्वात्संवृतेः । अन्यथा परमार्थस्य संवृतिरिति नामकरणमात्रमबाधाकरमेव परेषामनुषज्येत । सोऽयं संवृत्या विभ्रमैकान्तसाधनमविभ्रमदूषणं च प्रत्येतीति परमार्थतो न प्रत्येतीति उपेक्षणीयवचन एव । तमन्येऽद्याप्यनुमन्यन्ते इत्यचिन्त्यमनल्पतमतमोनिबन्धनमशक्यपर्यन्तगमनमिहान्दुतम् ।

४७०. एवं तर्हि मा भूत् पृथक्त्वैकान्तोऽद्वैतैकान्तवदशक्यव्यवस्थापनत्वात् । तदुभयैकात्म्यं तु श्रेय इति मन्यमानं वादिनं सर्वथा वाऽवाच्यं तत्त्वमातिष्ठमानं प्रत्याहुः—

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादयविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ३२ ॥

४७१. अस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्ववत् पृथक्त्वेतरपरस्परप्रत्यनीकस्वभावद्वयसंभवोऽपि मा भूद्विप्रतिषेधात् । न खलु सर्वात्मना विरुद्धधर्माध्यासोऽस्ति, तदन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वाद्वन्ध्यासुतवत् । यथैव हि वन्ध्याया विधिरेव तत्सुतप्रतिषेधः, स एव वा वन्ध्याया विधिरिति वन्ध्या तत्सुतयोरन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वं तथा पृथक्त्वस्वभावविधिरेव सर्वथैकत्वप्रतिषेधः स एव च तद्विधिः । इति कथमिव स्याद्वादननिच्छतां विरुद्धधर्माध्यासः संभवेद्यतस्तदुभयैकात्म्यं तत्त्वमेकान्तवादिनः स्वीकुर्युः ? सर्वथानभिलाष्यतत्त्वाधिगमेऽपि यदेतदनभिलाष्यं तत्त्वमिति तद् व्याहन्यते, पूर्ववत् । इत्यलं प्रपञ्चेन ।

४७२. तदेवमेकत्वाद्येकान्तनिराकृतिसामर्थ्यात्तदेकान्ततत्त्वप्रसिद्धावपि तत्प्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थमन्यथा-शङ्कायाकरणार्थं च तत्सत्तद्भङ्गं समाविर्भावयितुकामास्तन्मूलभङ्गद्वयात्मिकत्वं जीवादिवस्तुनः प्राहुः—

अनेपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वयहेतुतः ।

तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥ ३३ ॥

४७३. हि यस्मादवस्त्ववानपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ऐक्यपृथक्त्वनिरपेक्षत्वहेतुद्वयात् प्रतिपादिते प्राक्, तस्मात्तदेवैक्यं पृथक्त्वं च जीवादिवस्तु कथंचिदेकत्वपृथक्त्वप्रत्ययहेतुद्वयादेवसीयते । यथा साधनं सत्त्वादिविपक्षधर्मत्वसपक्षसत्त्वविपक्षासत्त्वलक्षणैर्भेदैर्विशिष्टमेकं प्रसिद्धमुभयोः । तत्राप्यन्वयव्यतिरेकयोरनपेक्षयोरवस्तुरूपत्वात् साधनलक्षणत्वायोगात् सापेक्षयोरेव तल्लक्षणत्वेन वस्तुस्वभावत्वसिद्धेः साम्यमुदाहरणस्य प्रतिपत्त्यम् ।

४७४. किं पुनरनया कारिकया करोत्याचार्यः ? पूर्वोक्तैवास्यार्थस्य गतत्वादिति चेत्, एकत्वपृथक्त्वे नैकान्तः स्तः, प्रत्यक्षादिविरोधादिति स्पष्टयति, गतार्थस्याप्यनुमानविषयत्वप्रदर्शनात्स्पष्टत्वप्रसिद्धेः,

प्रमाणसम्प्लववादिनां गृहीतग्रहणस्यादूषणात् । तथाहि—पृथक्त्वैकत्वे तंथाभूते न स्ताम्, एकत्वपृथक्त्वरहितत्वाद्, व्योमकुसुमादिवत् । तथा हि—सर्वथा पृथक्त्वं नास्त्येव, एकत्वनिरपेक्षत्वात्, व्योमकुसुमवत् । सर्वथैकत्वं नास्ति पृथक्त्वनिरपेक्षत्वात्, तद्वदिति । अत्र न हेतुद्वयमसिद्धं तदेकान्तवादिनां तथाभ्युपगमात् । नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, विपक्षवृत्त्यभावात् ।

४७५. सापेक्षत्वे हि तदेवैक्यं पृथक्त्वमित्यविरुद्धं कथंचिज्जीवादिवस्तु प्रत्यक्षादिभिरुपलभ्यते न पुनः सर्वथेति सिद्धान्यथानुपपत्तिः, सपक्षविपक्षयोर्भावाभावाभ्यां साधनवत् । न हि सपक्षे एव भावो विपक्षेऽभावनिरपेक्षो विपक्षेऽभाव एव वा सपक्षे भावानपेक्षः साधनवस्तुनो रूपं परेषां सिद्धं येन साध्यसाधन-विधुरमुदाहरणं स्यात् ।

४७६. स्वभेदैर्वा संवेदनवत् । न हि हेतुमनिच्छतः संवेदनाद्वैतं पुरुषाद्वैतं वा स्वीकुर्वतोऽपि चित्रसंवेदनं नीलादिनिर्भासैरद्वैतसंवेदनं वा ग्राह्यग्राहकाकारविवेकसंविदाकारैः परमब्रह्म वा तेजः शब्दज्ञानज्योतिराकारैर्विद्येतराकारैर्वा स्वभेदैः परस्परनिरपेक्षैर्विशिष्टं वस्तु सिद्धं येनोदाहरणमनवद्यं न स्यात् । स्वारम्भकावयवैर्वा घटादिवद् औलूक्यानाम् । सत्त्वादिभिः प्रधानवद्वा कापिलानाम् । तादृशं हि साधनं स्वार्थक्रियायाः क्षीराद्याहरणादिकार्याया महदादिसृष्टिरूपाया वा स्वविषयज्ञानजननलक्षणाया वा सिद्धमेव । तदन्तरेणापि पाठान्तरमिदं बहुसंगृहीतं भवति, कारिकायां स्वभेदैः साधनं यथा, इत्यत्र साधनशब्देन साधनसामान्यस्याभिधानात्, स्वभेदशब्देन च तत्सामान्यस्य वचनात् । यथायोगं विशेषव्याख्यानादिष्टविशेषसिद्धेर्बहुसंग्रहः ।

४७७. ननु चैकत्वप्रत्ययात्पृथक्त्वप्रत्ययाच्च कथमेकत्वं पृथक्त्वं च जीवादीनामुपपन्नम्, तस्य निर्विषयत्वात्, इत्यारेकायां तस्य सविषयत्वमादर्शयितुमनसः स्वामिनः प्राहुः—

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः ।

भेदाभेदविवक्षायां साधारणहेतुवत् ॥ ३४ ॥

४७८. तु विशेषणे । तेन सत्सामान्यं विशेषणमाश्रित्य सर्वेषां जीवादीनामैक्यमिति नैकत्वप्रत्ययो निर्विषयः, तस्य सत्सामान्यविषयत्वात् । पृथक् सर्वं जीवादिद्रव्यादिपदार्थभेदमाश्रित्यानुभूयते । ततो न पृथक्त्वप्रत्ययोपि निर्विषयः, तस्य द्रव्यादिभेदविषयत्वात्, इति निवेदितं बोद्धव्यम् । हेतुत्र ज्ञापकः कारकश्चोच्यते । स चासारणो यथास्वं प्रवादिभिर्विशेषेणोष्टत्वात् । स च यथा स्वभेदानां पक्षधर्मत्वादीनां स्वारम्भकावयवादीनां वा विवक्षायां पृथगेव हेतुत्वेन घटावयव्यादित्वेन वा तदभेदविवक्षायामेक एव, तथा सर्वं विवादाध्यासितमिति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकघटनात् ।

४७९. कश्चिदाह—सर्वार्थानां समानपरिणामेपि कथमैक्यं भेदानां स्वभावसाङ्कर्यानुपपत्तेः । न हि भावाः परस्परेणात्मानं मिश्रयन्ति, भेदप्रतीतिविरोधात् । तेषामतत्कार्यकारणव्यावृत्त्या समानव्यवहारभाक्त्वेपि परमार्थतो संकीर्णस्वभावत्वात् । तदुक्तम्—

सर्वे भावाः स्वभावेन स्वस्वभावव्यवस्थिताः ।

स्वभावपरभावाभ्यां यस्माद्व्यावृत्तिभागिनः ॥१॥

तस्माद्यतो यतोर्थानां व्यावृत्तिस्तन्निबन्धनाः ।

जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते तद्विशेषावगाहिनः ॥२॥

ततो यो येन धर्मेण विशेषः संप्रतीयते ।

न स शक्यस्ततोऽन्येन, तेन भिन्ना व्यवस्थितिः ॥३॥ इति ।

४८०. अत्राभिधीयते—जीवादिभेदानामैक्यं, यथैकभेदस्य स्वभावविच्छेदाभावात् । न हि स्वभाव-
विच्छेदाभावादृते नीलस्वलक्षणस्य संवेदनस्य वा कस्यचिदेकस्य स्वयमिष्टस्याप्येकत्वनिबन्धनं किंचिदस्ति ।
नापि कथंचिद्विज्ञानानामपि भावानां सत्सामान्यस्वभावेन विच्छेदोस्ति, तथा विच्छेदाभावस्यानुभवात् ।
अन्यथैकं सदन्यदसत् स्यात् । ततः समञ्जसं सर्वमेकं सदविशेषात्, इति सदात्मना सर्वभावानां
परस्परमिश्रणेऽपि साङ्कर्याप्रसक्तेः, चित्रैकज्ञाननीलादिनिर्भासानां संविदात्मनैकत्वेऽपि साङ्कर्याप्रसक्तिवत् । न हि
तेषामनेकत्वे चित्रज्ञानसिद्धिः, सर्वथैकत्ववत् । तत एव न किंचिच्चित्रज्ञानं निरंशसंवेदनाद्वैतोपगमात्, इति
चेत्, न, तत्रापि वेद्याद्याकारविवेकसंविदाकारयोः परोक्षप्रत्यक्षयोरेकसंवेदनत्वेऽपि साङ्कर्यानिष्टेः,
अन्यथा संविदाकारस्यापि परोक्षत्वप्रसङ्गात् वेद्याद्याकारविवेकवत् । तस्य वा प्रत्यक्षत्वं संविदाकारवत् स्यात् ।
न, चैवं तद्विप्रतिपत्तिविरोधात् समारोपस्यापि सर्वथाप्यविशेषे क्वचिदेवासंभवात्प्रत्ययवत् । तस्यैव
सतो द्रव्यादिभेदात् पृथक्त्वम्, उदाहरणं पूर्ववत् । तथा च बहिरन्तश्च भावानां सदात्मनैकत्वं द्रव्याद्यात्मना
पृथक्त्वं च स्वस्वभावः सिद्धः, न पुनरसाधारणं भिन्नं रूपम् । तेन च स्वस्वभावेन व्यवस्थितेः स्वभावपरभावाभ्यां
भावाः स्वभावेनानुवृत्तिव्यावृत्तिभागिनो, न पुनरेकान्ततो व्यावृत्तिभागिनः । तस्माद्यतो यतोर्थानां
व्यावृत्तिस्तन्निबन्धना भेदविशेषा एव प्रकल्प्यन्ते, न तु जातिविशेषाः, प्रतीतिविरोधात् । यतो
यतस्त्वनुवृत्तिस्ततस्ततो जातयः प्रकल्प्यन्ते, तासामेवानुवृत्तिप्रत्ययलिङ्गत्वात् । ततो यो येन धर्मेण
विशेषोऽविशेषश्च संप्रतीयते, न स शक्यस्ततोऽन्येन । तेन भिन्नाऽभिन्ना च व्यवस्थितिः पदार्थानां, तथाप्रतीतेः,
बाधकाभावात् । ततः स्थितमेतत्, सत्सामान्यविवक्षायां सर्वेषामैक्यं, द्रव्यादिभेदविवक्षायां पृथक्त्वमेव,
इतरस्याविवक्षायां गुणभावात् । विवक्षाविवक्षयोरसद्विषयत्वान्न तद्वशात्तत्त्वव्यवस्था युक्तेति मन्यमानं प्रत्याहुः
सूरयः—

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि ।

सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः ॥३५॥

४८७. क्रियते इति शेषः । विशेष्योर्थावदनन्तधर्मा प्रागुक्तः । तत्र कस्यचिद्विशेषणस्यैकत्वस्य सत
एव विवक्षा पृथक्त्वस्य च सत एव वाऽविवक्षा, न पुनरसतः क्रियते तैः प्रतिपत्तृभिरेकत्वपृथक्त्वाभ्यामर्थिभिः,
सर्वथा तत्र कस्यचिदर्थित्वानर्थित्वयोरसंभवात्, तस्य सकलार्थक्रियाशक्तिशून्यत्वात् खरविषाणवत् । न
हि कस्यचिद् विवक्षाविषयस्य मनोराज्यादेरसत्त्वे सर्वस्यासत्त्वं युक्तं, कस्यचित् प्रत्यक्षविषयस्य

केशोण्डुकादेरसत्वे सर्वस्य प्रत्यक्षविषयस्यासत्त्वप्रसङ्गात् । प्रत्यक्षाभासविषयस्यासत्त्वं, न पुनः सत्यप्रत्यक्षविषयस्येति चेत्, तर्ह्यसत्यविवक्षाविषयस्यासत्त्वमस्तु, सत्यविवक्षाविषयस्य तु मा भूत् ।

४८२. न काचिद्विवक्षा सत्या विकल्परूपत्वान्मनोराज्यादिविकल्पवत्, इति चेत्, न, अस्यानुमानस्य सत्यत्वेऽनेनैव हेतोर्व्यभिचारात्, तदसत्यत्वे साध्याप्रसिद्धेः । यतोऽनुमानविकल्पादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानोऽर्थक्रियायां न विसंवाद्यते, तद्विषयः सन्नेवेति चेत्तर्हि यतो विवक्षाविशेषादर्थं विवक्षित्वा प्रवर्तमानो न विसंवाद्यते, तद्विषयः कथमसन् भवेत् ? अविवक्षाविषयोऽसन्नेवान्यथा तदनुपपत्तेरिति चेन्न, सकलवागोचरातीतेनार्थस्वलक्षणेन व्यभिचारात् । सर्वस्य वस्तुनोऽवाच्यत्वान्नाविवक्षाविषयत्वमिति चेन्न, नाम्नस्तद्भागानां च नामान्तराभावादन्यथानवस्थानुषङ्गात् । तेषामविवक्षाविषयत्वेपि सत्त्वे कथमन्यदपि विशेषणमविवक्षाविषयत्वे सदेव न सिध्येत् ? तदेवं विधिप्रतिषेधधर्माणां सतामेव विवक्षेतराभ्यां योगस्तदर्थिभिः क्रियेत, अन्यथार्थनिष्पत्तेरभावात् । न ह्यर्थक्रियार्थिनामर्थनिष्पत्तिमनपेक्ष्य विवक्षेतराभ्यां योगः संभवति, येन तदभावेऽपि सं स्यात् । उपचारमात्रं तु स्यात् । न चाग्निर्माणवक इत्युपचारात् पाकादावुपयुज्यते ।

४८३. ननु चान्यव्यावृत्तय एव विवक्षेतराभ्यां युज्यन्ते, न वस्तुस्वभावो, यतस्तयोः सद्विषयत्वमिति चेन्न, शब्देभ्यो वस्तुनि प्रवृत्तिविरोधात् । व्यावृत्तितद्वारेकत्वाध्यारोपात्तद्वति प्रवृत्तिरिति चेन्न, अध्यारोपस्य विकल्पत्वेनार्थाविषयत्वात् स्वाविषयेण व्यावृत्तेरेकत्वारोपणायोगात् । सामान्येनार्थो-ध्यारोपविकल्पविषय एवेति चेत्तदपि यद्यन्यव्यावृत्तिरूपं तदा व्यावृत्त्यैव व्यावृत्तेरेकत्वारोपात्कुतोऽर्थे प्रवृत्तिः ? तामिच्छता तदेकैकशः परस्परव्यावृत्तयोपि परिणामविशेषा एषितव्याः ।

४८४. योप्याह—भेद एव परमार्थसन्नर्थानां नाभेदस्तस्य संवृत्तिसत्त्वात्, अन्यथा विरोधादिति । अभेद एव तात्त्विको भावानां न भेदस्तस्य कल्पनारोपित्वात्, अन्यथा विरोधानुषङ्गादिति चापरः । तौ प्रति सूरयः प्राहुः—

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृत्तौ ।

तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ॥ ३६ ॥

४८५. अभेदस्तावत्सन्नेव न पुनः संवृत्तिविषयः, प्रमाणगोचरत्वात्, भेदवत् । भेदः सन्नेव न पुनः संवृत्तिः, प्रमाणगोचरत्वात्, अभेदवत् । भेदाभेदौ सन्तावेव, न पुनः संवृत्तौ, प्रमाणगोचरत्वात्स्वेष्टतत्त्ववत्, इत्यपि पक्षान्तरमाक्षिप्तं लक्ष्यते, तदुभयसंवृत्तिवादिनोपि सकलधर्मविधुरत्वमनुमन्यमानस्य भावात् । न चात्र साध्यसाधनधर्मविकलमुदाहरणं, भेदाभेदतदुभयानुभयैकान्ताभिधायिनां तत्प्रसिद्धेः स्याद्वादिवत् । तथैकत्र वस्तुनि भेदाभेदौ परमार्थसन्तौ ते भगवतो न विरुद्धौ प्रमाणगोचरत्वात्, स्वेष्टतत्त्ववत् । इति सामर्थ्यात् परस्परनिरपेक्षौ भेदाभेदौ विरुद्धावेव, प्रमाणागोचरत्वात्, भेदैकान्तादिवत् । इति कारिकायामर्थसङ्ग्रहः ।

४८६. किं पुनः प्रमाणं यद्गोचरत्वमत्र हेतुरिति चेत्, प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगता^{३५०}र्थाधिगम-
लक्षणत्वात्, इत्यग्रे वक्ष्यति। अधिगमो^{३५१} हि स्वार्थाकारव्यवसायः। स्वार्थाकारौ च कथंचिद् भेदाभेदौ,
तदन्यतरापायेऽर्थक्रियानुपपत्तेस्तदेकान्ते सर्वथा तदयोगात्।

४८७. तदेवं सति भेदमभेदं वा नान्योन्यरहितं विषयीकरोति प्रमाणम्। न हि बहिरन्तर्वा^{३५२} स्वलक्षणं^{३५३}
सामान्यलक्षणं वा तथैवोपलभामहे यथैकान्तवादिभिराम्नायते^{३५४}। इति भेदैकान्ताभावेऽभेदैकान्तासत्त्वे च
परस्परनिरपेक्षतदुभयैकान्तापाकरणेऽनुभयैकान्तापसारणे च साध्ये स्वभावानुपलब्धिः, स्वमुपलब्धिलक्षणप्राप्तस्य
तस्यानुपलभ्यमानत्वसिद्धेः। न चेयमसिद्धा, सूक्ष्मस्थूलाकाराणां स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण
प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात्। न हि प्रत्यक्षे स्वलक्षणं सूक्ष्मं परमाणुलक्षणं प्रतिभासते स्थूलस्य घटाद्यात्मनः
प्रतिभासनात्। परमाणुष्वेवात्यासन्नासंसृष्टेषु दृष्टा^{३५५} प्रतिभासमानेषु कुतश्चिद्विभ्रमनिमित्तादात्मनि परत्र चासन्तमेव
स्थूलाकारमादर्शयन्ती संवृतिस्तान् संवृणोति, केशादिभ्रान्तिवदिति चेन्नैवं, बहिरन्तश्च
प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वकल्पनापोढत्वाभावप्रसङ्गात्, संव्यवहारतः परमार्थतो वा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति
लक्षणस्यासंभवदोषानुषङ्गात्, परमाणूनां जातुचिदध्यक्षबुद्धावप्रतिभासनात्। ते इमे परमाणवः प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं
च न समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्तीत्यमूल्यदानक्रयिणः स्वावयवभिन्नैकावयविवत्। न हि सोपि
सूक्ष्मस्वावयवव्यतिरिक्तो महत्त्वोपेतः प्रत्यक्षे प्रतिभासते, कुण्डादिव्यतिरिक्तदध्यादिवत्।
समवायात्तेभ्योनर्थान्तरमिव प्रतिभासते इति चेन्न, अवयवप्रत्यक्षस्य सर्वत्र भ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। तथा
चाव्यभिचारित्वं प्रत्यक्षलक्षणमसंभवि स्यात्। न चैतेऽवयवा अयमवयवी समवायश्चायमनयोरिति त्रयाकारं
प्रत्यक्षमनुभूयते सकृदपि, यतोसावप्यमूल्यदानक्रयी न स्यात्, प्रत्यक्षबुद्धावात्मानपणेन
प्रत्यक्षातास्वीकरणाविशेषात्। तत एव परस्परभिन्नावयववावयविनामपि प्रत्यक्षे प्रतिभासनादमूल्यदानक्रयिणावुक्तौ
समवायवत्।

४८८. सर्वं वस्तु क्षणिकपरमाणुरूपं, सत्त्वात्, नित्यस्थूलरूपे क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेः, तदयोगात्,
इत्यनुमानेन स्वलक्षणमध्यवसीयते इति चेन्न, अत्र हेतोर्विरुद्धत्वात्, सत्त्वस्य
कथंचिन्नित्यानित्यामकसूक्ष्मस्थूलात्मकत्वेन व्याप्तत्वात्, सर्वथा नित्याद्येकान्तरूपे क्रमयौगपद्याभ्यामर्थ-
क्रियाविरोधात्, सत्त्वानुपपत्तेः समर्थनात्।

४८९. एतेन स्थूलमेवावयवविद्रव्यं सूक्ष्मावयवरहितं प्रतिभासते इति व्युदस्तं, तदनुमानस्यापि
विरुद्धत्वाविशेषात्, प्रत्यक्षबाधितविषयत्वाच्च हेतोरतीतकालत्वाव्यवस्थितेः। अत एव नोपमानादावपि
तत्प्रतिभासनमिति नासिद्धं सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रत्यक्षबुद्धावप्रतिभासनं, यतस्तत्रतिषेधे साध्ये स्वभावानुपलब्धिर्न
सिध्यत्। तत्प्रतिषेधे च सिद्धः सूक्ष्माद्यनेकान्तः। तत्र स्वभावान्तरस्य प्राधान्यविवक्षायामाकारान्तरस्य
गुणभावः स्यात्, घटोयं परमाणवो रूपादयो वेति। घटार्थिनो हि घटविवक्षायां घटः प्रधानं
परमाणवोनुमेयाः, प्रत्यक्षाश्च रूपादयो गुणीभूताः, तदनर्थित्वादविवक्षाप्रसिद्धेः। तदर्थिनां तु तद्विवक्षायां त

एव प्रधानं न पुनर्घटोवयवी, तद्विवक्षायाः संभवाभावात्तदर्थित्वानुपपत्तेः । न च
तदुभयसत्त्वाविशेषादविशेषेणार्थित्वमनर्थित्वं वा प्रसज्यते, तस्य तत्सत्तामात्रानिबन्धनत्वात्,
मौहविशेषोदयहेतुकत्वात् तदुदयस्यापि मिथ्यादर्शनादिकालादिनिमित्तकत्वात् ।

४९०. तदेवं स्यादद्वैतं, स्यात् पृथक्त्वमिति मूलभङ्गद्वयं विधिप्रतिषेधकल्पनयैकवस्तुन्यविरोधेन
प्रश्नवशादुपदर्शितम् । शेषभङ्गानां तु प्रक्रियां यथोदितनयविशेषवचनभाक् एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्
इत्याद्यतिदेशकारिकानिर्देशसामर्थ्यात्प्रपञ्चतो निश्चेतव्या ।

अद्वैताद्याग्रहोग्रग्रहगहनविपन्निग्रहेऽलङ्घवीर्याः

स्यात्कारामोघमन्त्रप्रणयनविधयः शुद्धसद्ध्यानधीराः ।

धन्यानामादधाना धृतिमधिवसतां मण्डलं जैनमग्र्यं

वाचः सामन्तभद्रयो विदधतु विविधा सिद्धिमुद्भूतमुद्राः ॥१॥

इत्याप्तमीमांसाङ्कृतौ द्वितीयः परिच्छेदः ॥२॥

द्वितीयपरिच्छेदटिप्पणानि

१. शास्त्रैः । २. अत्र बहवोद्वैतपक्षाः सन्ति पुरुषाद्वैतशब्दाद्वैतविज्ञानाद्वैतादिभेदाः । तेषां सर्वेषामत्र ग्रहणम् । ३. च-शब्दाद्विशेष्यसंग्रहः । ४. ब्रह्म । ५. ब्रह्मणः । ६. सदाद्येकान्तेषु दोषोद्भावनेन कथमनेकान्तसिद्धिर्भवेत्, प्रत्यर्थिनोऽद्वैतस्य वर्तमानत्वादित्याशङ्क्यामाहुर्जैनाः । ७. अद्वैतैकान्ताभ्युपगमस्य । ८. कर्तृभूतम् । ९. भाष्यस्य तात्पर्योद्घाटनपूर्वकं तत्रोक्तदूषणं परिहरन्नाहद्वैतवादी । १०. अनन्तरमेव वक्ष्यमाणतात्पर्यव्याख्यानम् । ११. प्रमाणप्रमेयाभ्यामितं निश्चितम् । १२. स्वार्थेऽण् । १३. दृष्टो भेदो विरुध्यते इति कारिकातात्पर्यमाश्रित्य वृत्तिकारेणोक्तं व्याख्यानमयुक्तमेव । कुतः ? एकत्र क्रियाभेदविरोधाभावो दृष्टोपि विरुध्यते यतः, इत्युक्ते आह तदभ्युपगमेति । तेन अद्वैतैकान्तेनाभ्युपगममात्रस्य ।

१४. पर एवाह (नन्विदमित्यत आरभ्य) । १५. वृक्षस्तिष्ठति कानने कुसुमि ते वृक्षं लताः संश्रिताः, वृक्षेणाभिहतो गजो निपतितो वृक्षाय देयं जलम् । वृक्षादानय मञ्जरीं कुसुमितां वृक्षस्य शाखोन्नता, वृक्षे नीडमिदं कृतं शकुनिना हे वृक्ष किं कम्पसे । १६. एकस्यापि देवदत्तस्य । १७. परब्रह्मणः । १८. यथा प्रतिभासवैचित्र्येण चित्रज्ञानस्यैकत्वम् । १९. अद्वैतैकान्तविषये । २०. क्रियादिकार्यम् । २१. निस्स्वरूपस्य मिथ्यारूपस्य । २२. अकिञ्चिद्रूपात्कारणात् । २३. (अविद्याया अपि खरविषाणादिविशेषात्) । २४. उड्डीशादिषु (इन्द्रजालिकादिषु) ग्रन्थेषु । २५. असत्यरूपात् । २६. तत्प्रतिभासयोः । २७. अन्तःप्रमेयापेक्षया । २८. सद्रूपाव्यभिचारित्वस्य वेदान्तिनामभ्युपगमात्, अन्यथा सत्ताया अपि व्यभिचारित्वेनावस्तुत्वप्रसङ्गात् । २९. वह्निधूमयोः । ३०. विविक्तं पृथग्भूतम् । ३१. (प्रायः सर्वत्र 'परमब्रह्म' एव लिखितो मूलपुस्तके) ।

३२. अविद्यारूपब्रह्मणः कारणभूतात् । ३३. क्रियाकारकादेः । ३४. स्वस्मादेव स्वजन्म । ३५. क्षणिकत्ववत् । ३६. परः । ३७. इतो जैनो दूषयति परम् । इति (चेत्तर्हीत्यर्थः) । ३८. अद्वैतवादी । ३९. अपि तु जायते इत्युक्तप्रकारेण । ४०. क्रियाकारकादिषु भेदग्राहकप्रत्यक्षादिभिः । ४१. यथैकस्मिन्स्वप्नज्ञाने गजतुरगादीनामनेकेषां प्रतिभासनं तथा परब्रह्मण्येकस्मिन् घटपटादीनां प्रतिभासेष्वद्वैते न विरुद्धं किञ्चित् । ४२. अद्वैतपक्षे उक्तदोषस्य । ४३. स्वप्नसंवेदने । ४४. स्ववासनोत्थम् । ४५. अन्यथा (एकमेव चेत्तर्हि) । ४६. वासनाभेदाभावश्च वेदान्तिभिरपि नेष्टः । ४७. ब्रह्मणः । ४८. घटादिविवर्तस्वरूपस्य । ४९. एकस्य निरंशस्यात्माकाशादेरनेककारकाद्यालम्बनत्वं यथा तथा ब्रह्मणोऽप्यनेककारकाद्यालम्बनत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्यामाह । ५०. निरंशस्य । ५१. 'मेतत्' मुद्रितप्रतौ पाठः । ५२. अद्वैतं प्रत्यक्षादिविरुद्धं कथं भवेत्, प्रत्यक्षादीनां भ्रान्तत्वादित्युक्ते प्राहुर्जैनाः । ५३. बहिरन्तर्वा वस्तुनि । ५४. कथंचिन्नेदमन्तरेण । ५५. 'विरुन्ध्यात्' मुद्रितप्रतौ पाठः । ५६. 'अपि' मुद्रितप्रतौ नास्ति ।

५७. तयोः स्वपराभ्युपगमान्तरयोर्भेदः कथम् ? पराभ्युपगमान्तरमेकमभ्युपगमश्च द्वितीयो भेद इति । ५८. भेदप्रतिभासे । ५९. पक्षादिमिथ्यामिथ्यात्वम् । ६०. प्रत्यक्षादीनाम् । ६१. तेषां क्रियाकारकभेदप्रत्यक्षादीनाम् । ६२. तस्य बाध्यबाधकभावस्य । ६३. तदभावापत्तिर्यतस्तत् एव । ६४. कारकादिरूपस्य । ६५. तस्मात् । ६६. कृष्णादि । ६७. नित्यनैमित्तिकभेदात् । ६८. वा-शब्दः परस्परसमुच्यते । ६९. श्रेयः प्रशस्तं, प्रत्यवायो विघ्नः । ७०. कारणाभावे कार्यस्यानुत्पत्तिर्यतः । ७१. सम्यग्ज्ञानं विद्या मिथ्याज्ञानमविद्या । ७२. अनादिकालीना या अविद्या तद्वशादेव (न तु धर्माधर्माभ्याम्) विद्याविद्यादिभेदप्रतिभासनमिति ब्रूमो वयमद्वैतिनः । ७३. 'प्रवचनात्' मुद्रितप्रतौ पाठः । ७४. तयोः परब्रह्मनैरात्म्ययोः । ७५. नैरात्म्यकल्पना निष्फला चेत्तर्ह्यद्वैतकल्पनापि निष्फलैव, अविशेषाद् द्वयोः कल्पनयोः ।

७६. प्रमाणविरुद्धम् । ७७. सर्वथा द्वैतम् । ७८. फलं विना । ७९. प्रेक्षापूर्वकारिणः । ८०. अद्वैतम् । ८१. तज्जिज्ञासैव फलमित्युक्ते आह । ८२. अन्तर्बहिर्वा वस्तु । ८३. प्रतिभाससमानाधिकरणत्वाभावे । ८४. खरविषाणादिकमपि । ८५. जैनापेक्षया शङ्का । ८६. ज्ञानस्य । ८७. प्रतिभाससमानाधिकरणत्वस्य । ८८. अद्वैतिनोच्यते । ८९. प्रतिभास्यप्रतिभासकभावानुपपत्तेः । ९०. जैनः । ९१. अद्वैती । ९२. कस्यचिदर्थस्य प्रतिभासे अहेतुत्वात् । ९३. प्रतिभासस्य

प्रतिभास्याथहितुक्त्वम् । १४. नित्यत्वात् । १५. (तस्य प्रतिभासस्य) । १६. जैनः । १७. अद्वैती । १८. प्रतिभासालम्बनत्वे सत्यर्थस्य प्रतिभास्यत्वम्, अर्थस्य च प्रतिभास्यत्वे प्रतिभासस्य प्रतिभास्यालम्बनत्वमिति । १९. प्रतिभासस्वरूपस्य ।

१००. स्वरूप(प्रतिभासस्य)मालम्बनं यस्य स स्वरूपालम्बनः प्रतिभासस्तत्त्वात् । १०१. प्रतिभाससमानाधिकरणत्वादिति । १०२. विषयस्योपचरितं प्रतिभाससमानाधिकरण्यं नास्ति यतः । १०३. 'नान्यथा' पाठान्तरम् । १०४. ग्रामारामादेः । १०५. आत्मा ब्रह्मा, सर्वमात्मैवेति वचनात् । १०६. उपनिषद्वाक्यादद्वैतसिद्धौ ब्रह्मणो वाच्यत्वं भविष्यतीत्याशङ्कायां तत्रेत्याशयेनाह ततस्तद्व्रान्तिरिति । अद्वैतव्रान्तिनिराकरणात् । १०७. (स्यान्मतमिति पूर्वेणान्वयः) । १०८. (हेतुः प्रतिभाससमानाधिकरणत्वादिति । साध्यं तु 'प्रतिभासन्तःप्रविष्टम्' इति । अत्र हेतुसाध्ययोः सतोद्वैतमेव जातं, हेतुसाध्ययोर्द्वैतरूपत्वात्) । १०९. अस्माकं जैनानामपि वाङ्मात्रत एव द्वैतं किं न स्यात् ? ११०. हेतुसाध्ययोः । १११. साध्यसाधनभावविरोधः । ११२. अन्यथेति शेषः । ११३. शब्दो नित्यः, सत्त्वादित्यनयोर्हेतुसाध्ययोः (सौगतमतापेक्षयोः) । ११४. तथा भावस्य साध्यसाधनभावस्य । ११५. तस्य साध्यसाधनभावस्य । ११६. (बौद्धभिमतकल्पनाभेदभिन्नसाध्यसाधनभावेन) । ११७. जैनाः प्राहुः । ११८. एकधर्म्यपेक्षया (जैनमतापेक्षयेदं समर्थनमस्ति । अत्र शङ्का तु पूर्वं बौद्धमतमादाय कृता) । ११९. सर्वथा तादात्म्यसिद्धौ । १२०. 'यथा प्रतिभासस्वरूपम्' इदमपि कथंचित्तादात्म्येन वर्तते न तु सर्वथा तादात्म्येन । १२१. अन्वयदृष्टान्ते वाच्ये व्यतिरेकदृष्टान्तवाच्यत्वप्रसङ्गात् । अन्वये व्यतिरेकिणो दृष्टान्तस्योदाहरणत्वं भवेत् । १२२. तस्य अद्वैतस्य साधक आगमस्तदागमः । १२३. ब्रह्मणः ।

१२४. ऊर्ध्वमन्त्यावस्था (अद्वैतावस्था) मूलं स्वरूपं यस्य । १२५. पूर्वावस्था । १२६. ब्रह्म । १२७. वेदाः । १२८. 'वेद' पाठान्तरम् । १२९. इतः प्राह जैनः । १३०. आगमस्य ब्रह्मणो वा । १३१. आगमस्य सिद्धत्वं ब्रह्मणोऽसिद्धत्वं चेत्तदा । १३२. इति द्वैतापत्तिर्जाता । १३३. अनुमानादागमाद्वा ब्रह्मसिद्ध्यभावप्रकारेण । १३४. 'शून्यैकान्तः' पाठान्तरम् । १३५. अद्वैतमसिद्धम्, अद्वैतत्वादित्यत्र अद्वैतत्वादिति हेतुः । १३६. प्रतिभाससमानाधिकरणत्वानुमानस्य साध्यविरुद्धसाधकत्वादित्यर्थः । १३७. प्रतिभासस्य । १३८. तस्य प्रतिभासस्य स्वरूपं तत्स्वरूपम् । १३९. प्रतिभासमात्रं सत्त्वादिर्वा साधारणधर्मः । असाधारणधर्मस्तु ज्ञानस्वरूपमचेतन्यं चेति । १४०. स्वस्य ज्ञानस्य स्वरूपमेवासाधारणो धर्मस्तस्मात् । १४१. ज्ञाने ज्ञानस्वरूपमसाधारणं प्रतिभासते यथा, तथा घटादिसत्त्वमपि प्रतिभासते । १४२. अन्तर्बहिश्च । १४३. अत्र साध्यमद्वैतम् । १४४. चेतनाचेतनरूपस्य । १४५. आगमेन । १४६. न चागमाद् द्वैतप्रपञ्चारोपव्यवच्छेदव्यवस्था भविष्यतीत्याशङ्कामाह । १४७. अचेतनेषु । १४८. ब्रह्मत्वसाधकात् । १४९. व्यवच्छेदं ब्रह्म । व्यवच्छेदक आगमः । १५०. आगमस्य ।

१५१. स्वस्य अद्वैतस्य संवेदनं पुरुषाद्वैते साध्ये हेतुः । १५२. (साधनात्तर्हीति पूर्वेण वान्वयः) । १५३. (साधनेन विना यदि अद्वैतसिद्धिस्तर्हीत्यर्थः) । १५४. (स्वेष्टम्) । १५५. वादिनः । १५६. ब्रह्मणः । १५७. अभेदपक्षे । १५८. अभेदपक्षस्वीकारे । १५९. प्रतिभाससमानाधिकरणत्वादिति । १६०. पृथक्त्वेनाभावात् । कुतः ? ब्रह्मणि प्रविष्टत्वात् । १६१. तत्सिद्धिर्यदोत्यादिभाष्येण । १६२. पारोक्ष्यदूषितं सद्रूपमिदं ब्रह्म अयं चात्मेति भेदरूपेण मोहात्प्रतिभातीत्यर्थः । १६३. (सद्वितीय इत्यस्य भावः सद्वितीयता) । १६४. उभयात्मकत्वेन प्रतीतिः कुतो न स्यादित्युक्ते आह । १६५. तर्हि शास्त्रं किं करोतीत्युक्ते आह । पुमर्थे पुरुषप्रयोजने पारोक्ष्यसद्वितीयत्वनिराकरणरूपे । १६६. ब्रह्मात्मनोरैक्यम् । १६७. परोक्षं प्रति पारोक्ष्यम् । १६८. दर्शनं प्रतीत्यर्थः । १६९. मोहस्य । १७०. मोहस्य । १७१. द्वैतप्रसक्तेरेव । १७२. शास्त्रस्य वस्तुरूपत्वे द्वैतप्रसक्तिरेव ।

१७३. प्रकारान्तरेणाप्यद्वैतं दूषयति । १७४. विनेत्यनेन सम्बन्धः । १७५. 'द्वैत' इति संज्ञावतो द्वैतरूपस्य । १७६. द्वैतादेः । १७७. जैनैः । १७८. स्वस्य अद्वैतस्य । १७९. नञ् विशेषणम् । १८०. एकार्थवाचकैकपदत्वात् । १८१. यत्रञ्पूर्वाखण्डपदं तत्स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षं हेतुः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षः । १८२. कथं व्यभिचारः ? यतोऽनेकान्तशब्दोपि नञ्पूर्वाखण्डदोस्ति परन्तु स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो न । अतो व्यभिचारः । १८३. सुनयार्पितेन ।

१८४. नञ्शब्दरहितेन 'द्वैतो माया' इत्यादिना । १८५. गौरश्च इत्यादिपदम् । तस्यैवैकदेशः पदांशः, यथा गू, अशू इत्यादिः । १८६. अखर इति नञ्पूर्वाखण्डपदं स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षं, न तु अखरविषाणादिशब्दः, अखण्डपदाभावात् । अत्र पदद्वयमस्ति खरो विषाणं च । न खरविषाणमखरविषाणम् (अखण्डशब्देन पदांशोनेकपदसमुदायश्च व्यावर्त्यते) । १८७. अखण्डपदविशेषणस्य । १८८. अवस्तु खरविषाणादि । १८९. विषाणपदात्पदान्तरं खरपदं तेनोपहितं संबद्धं विषाणपदं तस्य विशेषणं नञ्, तस्य । १९०. तथा, अवस्तुप्रतिषेधनिबन्धत्वेन । १९१. प्रागुक्तैर्व्यभिचारो नास्ति यतः । १९२. नामवतो वस्तुनः । १९३. नीरूपत्वेन खरविषाणस्य संज्ञित्वाभावः । १९४. पररूपापेक्षया । १९५. अद्वैते द्वैतप्रतिषेधव्यवहारो यदि न स्यात्तदा स्वपरविभागस्तात्त्विकः कथं स्यादिति जैनैर्नोक्ते बौद्धः प्राह । १९६. प्रतिषेध्यप्रतिषेधकादिलक्षणः । १९७. इतो जैनैरुच्यते ।

१९८. वस्तुवृत्तमपेक्ष्य नावस्थाप्यते इत्येतदेव समर्थ्यते परब्रह्मणीत्यादिना परैः । १९९. श्रवणमनननिदिध्यासनरूपायाः । २००. अविद्याव्यवच्छेदके ब्रह्मणि अविद्यावतीष्टे सति महान् दोषः स्यादिति भावः । २०१. प्रकल्पनामात्राद् व्यवस्थापयितुमशक्तेः । यथान्धकारे स्थित्वाऽन्धकारो नास्तीति वक्तुमशक्यम् । अस्याविद्यास्ति नास्तीति वा अविद्यायां स्थित्वैव प्रकल्पनेत्येवमपि अविद्या व्यवस्थापयितुमशक्येति भावः । २०२. ब्रह्माधाराया ब्रह्मकारणिकायाः । २०३. ब्रह्मप्रविष्टस्य पुंसः अविद्याया व्यवस्थापनं न घटते तदाऽविद्याविनाशादित्यर्थः । २०४. अहं ब्रह्म अविद्यास्मीति । २०५. यदैवाविद्यास्तीति ब्रह्मानुभूतिमत्तदैवाविद्या नश्यतीति भावः । यथा नेदं रजतमिति ज्ञाने विपर्ययो नश्यति । तत एव प्रमाणोत्थज्ञानबाधिता सा । २०६. ब्रह्मत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । २०७. तस्मिन् । २०८. अविद्यायाः । २०९. ब्रह्मणि विज्ञातेऽप्यविद्या प्रतीयते चेत्तर्हि सा विद्यैवेति भावः । २१०. अविद्याया अव्यवस्थानं कुत इत्युक्ते आह । २११. वक्ष्यमाणः । २१२. अविद्यारहिते ब्रह्मणि । २१३. यतो अविद्यावानहं पुरुषोऽस्मि । ब्रह्मानुभूतिमत्, विद्यावानिति । २१४. मानं प्रमाणम् । २१५. ब्रह्मता । २१६. अविद्यायाः स्वसंवेदनेन ज्ञानेन बाधासंभवादविद्यापि विद्या एवेति शेषः । २१७. ब्रह्मणि । २१८. यतः । अतः कारणाद्वस्तुभूतमाश्रित्याऽविद्येति न कथ्यते किन्त्वविद्या अवस्तुभूतेति । २१९. ब्रह्मणः । २२०. अवस्तुनि । २२१. प्रमाणानाम् । २२२. प्रवृत्तिः । २२३. अविद्या पुनरिष्टमभिमतं वस्तु न भवति । कस्मात् ? यतः प्रमाणपरीक्षां न सहते । २२४. मानाधातासहिष्णुत्वमेवाविद्याया अविद्यारूपत्वे लक्षणम् । २२५. भवतामविद्यायाः । २२६. स्वानुभव आश्रयो यस्य । २२७. दृष्टा देशकालाद्या अदृष्टाः पुण्यपापाद्याः ।

२२८. द्वैतवादिपक्षे स्याद्वादपक्षे वा । २२९. बहु स्वर्गादि । २३०. (अद्वैतिपक्षे) । २३१. अविद्या । २३२. (अविद्यां संसारी स्वयमेवानुभवतीत्यर्थः) । २३३. (अद्वैती) । २३४. भेदस्य स्वग्रहणप्रकारेण । २३५. भेदस्य स्वग्रहणप्रकारेण । २३६. यतोऽविद्याया अपि सत्यत्वप्रसङ्गः । २३७. स्वग्रहणप्रकारेण । २३८. शुक्तिकादौ रजतादिज्ञानस्य । २३९. अन्तःप्रमेयापेक्षयाऽप्रमाणविषयत्वमविद्यायाः केवलम् । २४०. न सर्वथा प्रमाणाविषयोऽविद्येत्यर्थः । २४१. तद्बाधकं प्रमाणं किमिति पृष्टे प्राह । २४२. यथाप्रतिभातस्यार्थस्यान्यथात्वसाधकं वैपरीत्यसाधकम् । २४३. पारमार्थ्यम् । २४४. सम्यग्ज्ञानवतः । २४५. पूर्वोक्तः । २४६. अविद्यारहितत्वे सम्यग्मतिश्रुतज्ञानयुक्तत्वे इत्यर्थः । २४७. संपूर्णमतिश्रुतज्ञानरूपस्य । २४८. जनस्य । २४९. अविद्येतरविभागाभावात् । २५०. आत्मा ब्रह्म । २५१. तस्य अनुभववत् आत्मनोऽविद्या । २५२. विद्यैव । अविद्यायाः स्वसंवेदनज्ञानेन बाधनासंभवात् । २५३. आत्मतालक्षणस्य विरोधत्वाभावादित्यर्थः । २५४. क्षणक्षयादिरूपेण । २५५. कुत्रचिद ज्ञानविशिष्टेऽप्यात्मनि अविद्योत्पत्तौ न क्षतिः । २५६. रजतज्ञानादौ बाधाया अविरोधात् । २५७. चैतन्यादिरूपेण । २५८. तस्या अविद्यायाः । २५९. बाह्यप्रमेयापेक्षया । २६०. बाह्यप्रमेयापेक्षया । २६१. अन्यथेति शेषः । २६२. त्वया प्राक् कथितम् ।

२६३. काकुः । २६४. काकुः । २६५. अद्वैतैकान्तपक्षेपीत्यादिना पूर्वमुक्तो दोषः । २६६. तदव्यवस्थानुपपत्तिं स्वपक्षेत्यादिनाहुः । २६७. अथ नैयायिकवैशेषिकौ शङ्केते । २६८. इत्यपि सूरिर्नावधारयामास । २६९. पृथक्त्वाद् गुणात् ।

द्रव्यगुणौ यदि अपृथक् तदा स्वमतविरोधः । पृथक्त्वे च सति द्रव्यगुणौ पृथग् न स्यातां यतोऽसौ पृथक्त्वगुणोऽनेकस्थोस्ति । २७०. वैशेषिकमतापेक्षया । २७१. नैयायिकमतापेक्षया । २७२. बौद्धमतापेक्षया । २७३. त्रिषु मध्ये । २७४. वैशेषिकनैयायिकानाम् । २७५. सर्वथा । २७६. गुणस्य । २७७. द्रव्यगुणादीनां पदार्थानाम् । २७८. तेषां द्रव्यादीनां गुणत्वात्तद्गुणत्वात् । २७९. तद्गुणत्वे हेतुमाह । २८०. पृथक्त्वस्य । २८१. द्रव्येण सह । २८२. तादात्म्यानभ्युपगमे दूषणमाह । २८३. सर्वथा भेदे । २८४. यथा घटपटयोर्गुणगुणित्वव्यपदेशाभावः ।

२८५. अविष्वक्, तादात्म्यमित्यर्थः । २८६. यद्येष कथंचिदविष्वक् (तादात्म्य) भावरूपो न स्यात्तदा अपरस्य ततोऽन्यप्रकारस्य निराकरणं कृतम् । २८७. पृथक्त्वाद्व्यगुणान्तरं संयोगादि । २८८. पदार्थेभ्यः । २८९. द्रव्यादिभ्यः पृथक् स्वयमंशकल्पनया रहितं, तथाप्यनेकेषु युगपद्वर्तते इति विरुद्धं, अनेकत्र वर्तमानस्य तावद्धा भेतुं सुशकत्वात् । इत्यादि । २९०. युगपत् । २९१. आदिपदेन कालदिगादिग्रहणम् । २९२. एकमपि नैयायिकादिमतापेक्षया । २९३. अनेकत्र हिमवद्विन्ध्यादिषु । २९४. एकत्रापि पदार्थे । २९५. वृत्तिः समवायः । २९६. (आकाशस्य) । २९७. सत्ता एका अनंशा स्वपर्यायेभ्यो भिन्ना समवायेन सर्वत्र वर्तते इत्युक्ते सत्याहुर्जैनाः । २९८. समवायेनापि वृत्तिर्न सत्तायाः । २९९. अपरसामान्यमित्यर्थः । द्रव्यत्वादेरपि द्रव्यस्वभावतया द्रव्यस्यानेकत्वे तदाश्रितद्रव्यत्वादेरप्यनेकत्वप्रसिद्धेरित्यर्थः । ३००. नैयायिकैरेतानि एकत्वे सत्यनेकवृत्तीनि मतानि परन्तु न जैनैः । ३०१. आधारमाधारं प्रति । ३०२. परिणामो भेदः । अर्थद्वयधर्मत्वेन द्वौ द्वौ संयोगौ स्यातां न त्वेक इत्यर्थः । ३०३. निरंशत्वेपि द्वित्वादिगुणो घटद्वयादिषु वर्तते इति नैयायिकशङ्कायामाहुर्जैनाः । ३०४. परिणामो भेदः । ३०५. खरविषाणादौ । ३०६. तस्याः संख्याया असिद्धौ । ३०७. अपरसंख्येयापेक्षया । ३०८. तद्विशेषो द्वित्वादिः । ३०९. परमतापेक्षया सकलस्य गुणस्य निरंशत्वमस्ति यतस्ततो गुणत्वादिति सामान्येनोक्तो हेतुः । ३१०. पदार्थयोः । ३११. एकत्वे सतीत्यर्थः । ३१२. पृथक्त्ववति । ३१३. तस्य पृथक्त्वस्य न्यायबलेन स्याद्वादिभिरस्वीकारात् । ३१४. स्थितः, अक्षणीक इत्यर्थः । ३१५. अस्खलितरूपो निर्बाध इति सर्वत्र संबन्धनीयः । ३१६. एकत्वमनुगताकार इत्यर्थः । ३१७. विसदृशपदार्थवत् ।

३१८. सधर्मत्वं सादृश्यम् । ३१९. (नाना जीवा यथा परस्परं परस्वरूपं न परिणमन्ते) ३२०. पूर्वं दत्तस्य पश्चाद् ग्रहणं दत्तग्रहः । आदिपदेन भुक्त्वा ब्रजतीत्यादिविषयो ग्राह्यः । ३२१. सर्वं मा भवत्वित्युक्ते आह । ३२२. पुनर्भवदत्तग्रहाद्यभावः । ३२३. पूर्वोक्तानां सन्तानसमुदायादीनाम् । ३२४. भेदस्तु परस्परं वर्तते परंतु ज्ञायते नेत्यर्थः । ३२५. बौद्धाः । ३२६. स्वरूपम् । ३२७. कारणस्य । ३२८. कार्यानुत्पत्तेः । ३२९. सौगतशङ्का । ३३०. यस्य कस्यचित् । ३३१. अङ्गीक्रियमाणे । ३३२. घटादिकं प्रति ऋषभादेः । ३३३. पुनः सौगत एवाह । हे जैन । ३३४. उत्पत्तेः प्राक् । ३३५. विवक्षितकार्यस्य । ३३६. (एवं जैनैरङ्गीक्रियमाणायाम्) । ३३७. कारणरूपे । ३३८. कार्यस्य । ३३९. खरादिमस्तकावयवलक्षणकारणस्य । ३४०. (जैनानाम्) । ३४१. सौगतानाम् । ३४२. विवक्षितकारणाद्विवक्षितस्य कार्यस्य यथोत्पत्तिस्तथा अविवक्षितकारणादविवक्षितकार्यस्योत्पत्तिरपि किन्नेत्याद्यतिप्रसङ्गशङ्काया नावकाश इत्यर्थः । ३४३. तत्, विवक्षितं कारणत्वं यस्य कार्यस्य तत्तस्य, कार्यस्येत्यर्थः । ३४४. स्वदेशस्यापेक्षा यस्य कारणस्य तत्स्वदेशापेक्षं कारणं तस्यान्वयव्यतिरेकौ यथा घटेते । स्वदेशे सति कारणे कार्यस्योत्पत्तिरसति च नास्ति यथेत्यर्थः ।

३४५. कार्यस्वभावः । ३४६. कारणस्य । ३४७. कार्यस्य । ३४८. स कारणभूतो हेतुर्यस्य कार्यस्वभावस्य । ३४९. अतः, कारणभूताद्यन्निर्गमकारणं तस्मात् संभवः कार्यस्य । ३५०. अपरामृष्टः, असंपृक्तः । ३५१. बौद्धः । ३५२. अव्यभिचारेण कार्यकारणभूतानामेकसंतानत्वप्रकारेण । ३५३. बौद्धानां चित्तक्षणेभ्यः (ज्ञानपर्यायेभ्यः) सुगतचित्रमुत्पद्यते तदुत्पत्तिमत्त्वात्तत्रापि कार्यकारणभावोस्तु (यतो बौद्धचित्तानि कारणानि बुद्धचित्तं कार्यम्) । ३५४. एकसंतानत्वप्रसङ्गे हेतुरुच्यते तेषामित्यादिः । तेषां बुद्धेतरचित्तानाम् । ३५५. कार्यरूपस्य । ३५६. बौद्धचित्तेभ्य उत्पन्नं बुद्धचित्तं यदि बौद्धचित्तानि न विषयीकरोति तर्हि । ३५७.

ज्ञानस्य कारणमेव ज्ञानस्य विषय इति बौद्धसिद्धान्तः । ३५८. चित्तक्षणानाम् । ३५९. उत्तरज्ञानक्षणः कार्यभूतः पूर्वं बुद्धचित्तक्षणं कारणभूतं गृह्णाति तदुत्पत्तिमत्त्वादिति । ३६०. प्राज्ञानक्षणस्य । ३६१. समनन्तरत्वादेव मु. पा. । ३६२. उत्तरचित्तकार्यं प्रति । ३६३. बुद्धचित्तोत्पत्तौ सर्वार्थानां कारणत्वाविशेषात् । ३६४. समनन्तरप्रत्ययस्य उत्तरचित्तं प्रति । ३६५. सौगताशङ्का । ३६६. जैनाः प्राहुः । ३६७. कार्यकारणतया उपादानोपादेयतया वा । ३६८. संतानलक्षणमुक्त्वा संतानस्यैकत्वमाह । संतानः कथंचिदेक एक एव, क्वचित्क्षणान्तरे (चित्रपटादौ चित्रैकसंवेदने) नीललोहितादिनिर्भासचित्रैकसंवेदनवदिति । ३६९. अन्वयद्वारा । ३७०. नीलपीतादिरूपाणां तदवयवानाम् ।

३७१. पृथग्वर्णाः श्वेतादयः । ३७२. अनेकसंताना नानापुरुषाः । ३७३. एकैकक्षणवत् । ३७४. चित्रज्ञानावयवेषु प्रत्यासत्तिविशेषाच्चित्रस्यैकत्वं स्यादित्याशङ्क्याहुर्जैनाः । ३७५. कथंचित्तादात्म्यात् । ३७६. शीतवातादीनां देशप्रत्यासत्तावपि भिन्नत्वादेकत्वाभावः । ३७७. ज्ञानगतस्वरूपं नीलाद्याकारो वा भावः । ३७८. ज्ञानलक्षणेन सह । ३७९. आकाराणाम् । ३८०. द्रव्यापेक्षया । ३८१. चित्रज्ञानस्य कथंचिदैक्याभावेप्येकत्वव्यवहारघटनं यदि तर्हि । ३८२. तथा च सति चित्रज्ञानं न स्यात् । ३८३. हे सौगत । ३८४. चित्रज्ञानलक्षणमेकसंतानम् । ३८५. कालस्य वर्तमानस्य । ३८६. चित्रज्ञानक्षणानाम् । ३८७. न पुनरेकद्रव्यत्वम् । ३८८. यथा समुदायस्यैकसंतानत्वम् । ३८९. सौगतानाम् । ३९०. एकसंतानत्वापत्तौ कालेत्यादिना हेतुमाह । ३९१. समनन्तरत्वं सामीप्यम् । ३९२. रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारा इति पञ्चस्कन्धाः । तत्र रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः परस्परसंबन्धा रूपस्कन्धाः, सुखदुःखादयो वेदनास्कन्धाः, सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानानि विज्ञानस्कन्धाः, (नामकरणं, संज्ञा), ज्ञानपुण्यपापवासनाः संस्कारस्कन्धाः । ३९३. अत्र हेतुमाह । ३९४. प्रत्यासत्तिविशेषात्संतानः समुदायो वा साधर्म्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याहुर्जैनाः । ३९५. प्रागुक्तान्यत्, प्रत्यासत्त्यन्तरम् । ३९६. ज्ञानस्य पूर्वोत्तरक्षणेभ्य एकादेशवर्तिषु परमाणुषु स्कन्धेषु च । ३९७. भवतीति शेषः । ३९८. एकत्वेनिह्वे साधर्म्यं न स्यादित्येतत् श्लोकस्थपदं विवृण्वन्नाह । ३९९. एकसंतानभाजां ज्ञानक्षणानां परमाणूनां च । ४००. अन्यत्र आत्मसांकर्यात्, कथंचित्तादात्म्यं विनेत्यर्थः । ४०१. 'युज्यते' मुद्रितप्रतौ पाठः । ४०२. एकसंतानत्वनिबन्धनस्य समुदायत्वनिबन्धनस्य च । ४०३. संतानस्य कथंचिदेकत्वसमर्थनेन । ४०४. वर्तमानस्य । ४०५. कथंचिदेकत्वेन । ४०६. एकज्ञानं चित्रज्ञानम् । ४०७. आदिशब्देन सुखादिषु । ४०८. कर्तृपदम् ।

४०९. आत्मन्येव वर्तयति स्वभावभेदान् । ४१०. एकस्मिन् चित्रज्ञाने निर्भासा नीलपीतादिप्रतिभासविशेषास्तैः । ४११. सर्वं सदित्यनेन । ४१२. ज्ञानज्ञेयप्रकारेण । ४१३. यौगाचारः । ४१४. तर्हि सद्विषयत्वमेव स्यादित्याशङ्क्याह । ४१५. एकस्माज्ज्ञानरूपात्सतो परं सत् प्रमेयरूपं सदन्तरं तस्य भावस्तत्त्वं प्रमेयत्वं न स्यादित्यर्थः । ४१६. ज्ञानस्य । ४१७. घटादेः । ४१८. पटान्तरत्वाभावो घटाभावः । ४१९. क्षणिकेषु । ४२०. असतो व्यावृत्तिमात्रमेव सद् बौद्धभतापेक्षया । ४२१. सत्सामान्यात्मना । ४२२. ज्ञानस्य । ४२३. ज्ञेयात् । ४२४. विचारस्य । ४२५. परमार्थसत् क्षणिकम् । ४२६. द्विधाप्यसत्त्वविषयकः । ४२७. आरोपितमात्रं कल्पितमात्रं वा सांवृतम् । ४२८. क्षणिकरूपाणां घटादीनाम् । ४२९. तेषु सद्विशेषेषु । ४३०. अखरविषाणाद् व्यावृत्ते खरविषाणे । ४३१. सत्त्वप्रसङ्गात् । ४३२. अज्ञानाद् व्यावृत्तं ज्ञानमज्ञेयाच्च व्यावृत्तं ज्ञेयं, तयोः । ४३३. ज्ञाने ज्ञेये च । ४३४. अङ्गीक्रियमाणे ।

४३५. असत् । ४३६. ज्ञानस्य । ४३७. ग्राह्यग्राहकरूपेण । ४३८. ग्राहकाकारस्य विषयाकारान्देपि यथा सदाद्यात्मना भवताम् । ४३९. सदाद्यात्मना तादात्म्यं नो चेत् । ४४०. तस्य ज्ञानस्याभावे । ४४१. ज्ञानापेक्षत्वाज्ज्ञेयस्य । ४४२. द्विधाप्यसत्त्वलक्षणः । ४४३. अस्माकं सौगतानां सामान्यमस्त्येव, परन्तु शब्देन वाच्यत्वाद्वास्तवं नेत्युक्ते आहुः सूरयः । ४४४. सामान्यग्राहका इत्यर्थः । ४४५. सौगतानाम् । ४४६. यतस्ताभिः सामान्यार्थाभिर्विशेषो न वक्तुं शक्यते । शब्दैर्वक्तुं न शक्यते इत्यर्थः । ४४७. सौगतानाम् । ४४८. विशेषस्यावाच्यत्वात् । ४४९. बौद्धाः । ४५०. पर्यायाणाम् । ४५१. समयः संकेतः । ४५२.

शब्दद्वारा । ४५३. व्यतिरेकदृष्टान्तोयम् । विशेषदर्शने विशेषप्रतिभासो यथा तथा शब्दबुद्धौ विशेषस्य प्रतिभास इत्यर्थः । ४५४. निर्विकल्पकप्रत्यक्षे । “स्वलक्षणे दर्शने” मुद्रितप्रती पाठः । ४५५. संकेतः सामान्यस्य । ४५६. शब्दबुद्धेः । ४५७. शब्दबुद्धौ । ४५८. वक्ष्यमाणप्रकारेण दूषणं स्याद्यदीत्यर्थः । ४५९. त्वया सौगतेन । ४६०. स्वलक्षणवस्तुनः । ४६१. अर्थशून्यत्वेन विवक्षितशब्दमौनं यत्किञ्चिद्वचनानां परस्परम् । ४६२. बौद्धः । ४६३. जैनः । ४६४. गवादिशब्दः । हे सौगत । ४६५. सत्यरूपस्य गोशब्दादेः । ४६६. अपरस्य । ४६७. बौद्धः । ४६८. परमार्थैकविषयमाश्रित्य शब्दस्यार्थप्रतिपादकत्वनियमो न स्यादिति सौगतोक्तम् । तानशब्दोत्र विषयवाची ।

४६९. ईश्वरप्रधानादिशब्दानाम् । ४७०. ईश्वरप्रधानादयोर्थाः पारमार्थिका न भवन्ति तथापि तत्र शब्दाः प्रवर्तन्ते यतः । ४७१. समयान्तरभेदिवर्षेषु शब्दानां प्रवृत्तिर्मा भूदिति चायुक्तं, मतान्तरेषु शब्दप्रवृत्तेरुपलभ्यमानत्वात् । सा च शब्दप्रवृत्तिर्मतान्तरेषु कथं स्यादित्याशङ्क्यामाह बौद्धः । ४७२. वासनाविशेषनियमाच्छब्दनियमः । ४७३. इतो जैनाः प्राहुः । ४७४. निर्विकल्पकप्रत्यक्षेपि । ४७५. उपादानविशेषप्रकारेणैव । ४७६. अर्थप्रकाशकत्वनियमः । ४७७. परमार्थैकतानत्वात्प्रत्यक्षस्य । ४७८. कित्त्वित्यनेन तर्हि कथं निर्विकल्पकात्प्रदत्तरिति बौद्धाभिप्रायः सूच्यते । तं प्रति जैनो वासनाविशेषस्य भेदादित्याद्याह । ४७९. निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्यार्थप्रकाशकत्वनियम इत्यनेन संबन्धः । ४८०. तत्तस्मादेवमुक्तप्रकारेण । ४८१. अन्यथेति शेषः । ४८२. वस्तु । ४८३. न तु शब्दस्य । ४८४. तस्य, अर्थसंनिधानासत्त्वस्य वैशद्यस्य च । ४८५. स्वलक्षणवस्तुनः । ४८६. विप्लवो विभ्रमादिः । ४८७. इन्द्रियज्ञानम् । ४८८. विशदात्मकतया । ४८९. प्रवर्तते इत्यध्याहारः । ४९०. दूरेतरयोरर्थयोः । ४९१. निर्विकल्पकम् । ४९२. इन्द्रियज्ञाने । ४९३. निर्विकल्पकज्ञानानन्तरोत्पन्नसविकल्पकज्ञानेन । ४९४. इन्द्रियज्ञाने निर्विकल्पके । ४९५. अवैशद्यस्य । ४९६. तयोर्निर्विकल्पकतज्जन्यसविकल्पकयोः । ४९७. सविकल्पाविकल्पयोज्ञानयोर्युगपद्वृत्तिर्लघुवृत्तिः, निर्विकल्पकादनन्तरमेव सविकल्पकस्योत्पत्तिर्वा लघुवृत्तिः । ४९८. हे सौगत । ४९९. निर्विकल्पकवैशद्येन । ५००. अनन्तरविकल्पो विकल्पज्ञानम् । ५०१. विकल्पज्ञाने । ५०२. अविकल्पसंबन्धी । ५०३. निर्विकल्पस्य तत्राबलीयस्त्वात् । ५०४. अश्वविकल्पे । ५०५. गोदर्शनं निर्विकल्पकम् । तस्मात् । ५०६. नीलदर्शनस्य विषयः स्वलक्षणं क्षणिकं, नीलविकल्पस्य तु स्थिरस्थूलं घटादिसामान्यम् । ५०७. बौद्ध आह । तत्र आसन्नदेशे ।

५०८. दृश्यं स्वलक्षणं, विकल्प्यं सामान्यम् । ५०९. एकत्वाध्यवसायादेव । ५१०. बौद्धस्य । ५११. विकल्पज्ञानविषये । ५१२. (निर्विकल्पज्ञानविषयो दृश्यः) । ५१३. दृश्यविकल्पयोः सादृश्यग्राहकात् । ५१४. हे सौगत । ५१५. आसन्नार्थे । ५१६. क्वचित्, दूरे इत्यर्थः । ५१७. दूरसन्नज्ञानानाम् । ५१८. आसन्नार्थे । ५१९. दूरे । ५२०. अविशदप्रतिभासः । ५२१. निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य । ५२२. निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य । ५२३. अर्थप्रकाशकत्वनियमः । ५२४. शब्दबुद्धौ इव शब्दबुद्धिवादित्यर्थः । ५२५. पूर्ववासनानियमाच्छब्दबुद्धौ शब्दनियमः प्रधानतया प्रत्यक्षे । अर्थात् प्रत्यक्षेऽपि वासनाविशेषादेवार्थप्रकाशकत्वनियमो यतो न स्यात् । ५२६. अत्राह बौद्धः । ५२७. वासनानियमात् । ५२८. अभिप्रायविषयकृतसंकेते । ५२९. यत्किञ्चनवचनात् पक्षमात्रवचनाद्वा । ५३०. उपादाननियमाच्छब्दबुद्धेर्विशेषो न, किन्तु त्रिरूपहेतुसूचितत्वादेव विशेषः । कोसौ विशेषः ? शब्दपरो विशेषः । ५३१. सर्वं क्षणिकं सत्त्वाद्धिद्युदादिवदिति । ५३२. अर्थशून्यत्वेन । ५३३. (प्रधानश्चेरादिसाधकं यदनुमानं तद्वाक्यवादित्यर्थः) । ५३४. सत्यरूपम् । ५३५. उभयत्राभिप्रायसूचित्वाविशेषात् । ५३६. यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्तीति प्रसिद्धासत्यवचनं तथा सदर्थप्रतिपादनत्वादिदमप्यसत्यम् । ५३७. धर्मकीर्त्यादयः । ५३८. क्षणभङ्गादिवचनं सत्यमित्येवम् ।

५३९. ततश्च किमित्युक्ते आह । ५४०. निर्विकल्पकेन निश्चयाभावात् । ५४१. यथा दानादिचेतोर्धर्मादिलक्षणयोः कथंचिदेकत्वाभावे एतदुपायमित्यनवधारितरूपत्वान्निस्सन्देहं प्रवृत्तिनिवृत्ती इत्याश्रयत्वं न स्यात्तथा प्रकृतमपि । ५४२. स्वलक्षणं

कर्तृपदम् । ५४३. प्रत्यक्षसमनन्तरभावविकल्पैः स्वलक्षणावधारणं भविष्यतीति प्रोक्ते आह विकल्पानामिति । ५४४. चशब्दोत्र भिन्नप्रक्रमत्वादन्ते योज्यः । ५४५. किं चेत्यध्याहारः । स सौगतः । ५४६. इतरो विकल्पः । ५४७. विशदेतरात्मकत्वम् । ५४८. स्वकीयमंशमात्रं भागमात्रं तदवलम्बिना स्वरूपमात्रग्राहिणेत्यर्थः । तदुक्तं न्यायविनिश्चयालङ्कारे स्वग्राह्येकस्वभावोयं विकल्पस्त्वन्मते स्थितः । व्याहारादेः कथं तेन बहिरर्थस्य वीक्षणमिति । ५४९. अभ्रान्तभ्रान्तत्वम् । ५५०. करणभूतेन । ५५१. अस्वलक्षणविषये । ५५२. हे सौगत । विकल्पादेव । ५५३. विकल्पस्य यत्स्वरूपं तत्सविकल्पकं स्यात् । ततश्चैतद्विरुध्यते 'सर्वे बोधाः स्वरूपे निर्विकल्पकाः' इति स्वलक्षणविषयत्वे च विकल्पो वस्तुनिर्भासादसंवादादुपप्लव इति स्ववचनविरोधः । ५५४. विकल्पान्तराद्विकल्पसंविदां निर्णयः । ५५५. विकल्पः । ५५६. मीमांसकाभिमतं ज्ञानं स्वयं परोक्षमिति । ५५७. चिन्तनं ग्रहणम् । ५५८ (मीमांसकीयस्य) परोक्षज्ञानस्य । ५५९. उपहासवचनमिदम् । ५६०. बुद्धेर्निर्विषयत्वात् । ५६१. भ्रान्तेरेव न तु परमार्थतः । भ्रान्ते मुद्रितप्रतौ पाठः । ५६२. विभ्रमैकान्तात् । ५६३. भ्रान्तं कथ्यते । ५६४. स्वरूपस्या- (भावप्रमेयपेक्षया) सत्त्वान्न भ्रान्तत्वं स्वप्नज्ञानस्य । ५६५. तत्स्वप्नज्ञानं कर्मपदम् । इदं कर्तृपदं प्रागुक्तम् । ५६६. ज्ञानस्य । ५६७. विपक्षः, अभ्रान्तस्वरूपम् ।

५६८. भ्रान्तसंवेदनेन । ५६९. सुगतः । ५७०. संवृत्या प्रतिपत्त्यभावः कुत इत्युक्ते आह । ५७१. जैनानाम् । ५७२. सुगतः । ५७३. तं सुगतम् । अन्ये धर्मकीर्त्यादयः । ५७४. एकत्र वस्तुनि गुणगुणिनोः पृथक्त्वापृथक्त्वयोर्वा ऐकात्म्यम् । ५७५. मीमांसकं प्रति । ५७६. अभ्युपगच्छन्तं सौगतं प्रति । ५७७. पृथक्त्वापृथक्त्वयोः । ५७८. प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितस्वरूपपरस्परविरुद्धानेकधर्मात्मकजीवादपिदार्थलक्षणवस्तुप्रतिपादनयप्रमाणवाक्यात्मकवचनसन्दर्भमय-श्रुतस्कन्धः स्याद्वादः स एव न्यायस्तं विद्विषन्तीति । ५७९. पृथक्त्वैकान्तेतरे च ते परस्परविरुद्धप्रत्यनीकस्वभावे च, तयोर्द्वयं, तस्य संभवः, सोप्येकधर्मिणि मा भूदिति संबन्धः । ५८०. विप्रतिषेधो विरोधः । ५८१. धर्मपेक्षया धर्म्यपेक्षया च । ५८२. एकत्र वस्तुनि सर्वथास्तित्वनास्तित्ये विरुद्धधर्मी । परन्तु एकत्रैव वस्तुनि कथंचित् पृथक्त्वापृथक्त्वं न विरुद्धम् । ५८३. वन्ध्यायाः सुतस्य द्वन्द्वसमासोऽत्र ज्ञेयः । ५८४. उभयमस्तित्वनास्तित्वमेकत्र विरुद्धम् ।

५८५. अस्तित्वनास्तित्वाभ्यामवाच्यं तत्त्वमिति यथा व्याहन्यते । ५८६. आदिपदेन पृथक्त्वादिति । पृथक्त्वमस्तु, ऐक्यनिरपेक्षत्वात् । ऐक्यं केवलं वस्तु न भवति, पृथक्त्वरहितत्वादिति । ५८७. एकत्वादिधर्मनिराकरणेन सकलधर्मशून्योऽनेकान्त इत्यादिरन्यथाशङ्का । ५८८. भेदाभेदसप्तभङ्गीम् । ५८९. स्याद्भेदः, स्यादभेद इति प्रथमं भङ्गद्वयम् । ५९०. परस्परं सापेक्षं सद्द्वस्तु भवति । ५९१. पक्षधर्मादिस्वभेदैर्विशिष्टं यथा साधनम् । ५९२. कारिकासमूहेन । ५९३. जीवादिवस्तु सापेक्षं सदेकं भवति कथंचिदेकत्वेन प्रतीयमानत्वात्सत्त्वादिसाधनवत्, तथा सापेक्षं जीवादिवस्तु पृथग्भवति कथंचित्पृथक्त्वेन प्रतीयमानत्वात्तद्वदेव, इति अनुमानक्रमः । ५९४. एतैर्भेदैर्भिन्नं नानात्वं प्राप्तम् । ५९५. वादिप्रतिवादिनोः । ५९६. दृष्टान्ते परस्परं भेद एव धर्मधर्मिणोरिति कथं साम्यं दार्ष्टान्तिकेन दृष्टान्तस्येत्युक्ते आह तत्रेति । ५९७. अद्वैतैकान्तपक्षेपीत्यादिकारिकासमूहेन । ५९८. सर्वथा परस्परनिरपेक्षयोः पृथक्त्वैकत्वयोरवस्तुत्वलक्षणस्य । ५९९. ज्ञातत्वात् । ६००. सर्वथा । ६०१. गतार्थोऽप्यनुमानविषयश्चेत्तदनुमानमप्रमाणं स्याद् गृहीतग्राहित्वादित्युक्ते आह । एकस्मिन् प्रमाणे बहुप्रमाणप्रवृत्तिः प्रमाणसंप्लवः । प्रमाणसंप्लवं मन्यन्ते जैना यौगादयश्च । ६०२. परस्परनिरपेक्षे । ६०३. गुणगुणिनोरनेकत्वम् । ६०४. एकत्वपृथक्त्वनिरपेक्षत्वप्रकारेण ।

६०५. सर्वथापृथक्त्वास्तित्वस्य सर्वथैकत्वास्तित्वस्य च विपक्षभूतस्याभावात्तत्र वृत्त्यभावः । ६०६. एतावता ग्रन्थेन पूर्वाद्ध व्याख्याय सापेक्षत्वे इत्यादिनाऽपराद्धं व्याख्यायते । ६०७. जीवादिवस्तु कथंचिदेकं भवति वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेः, तदेव कथंचिच्च पृथग्भवति वस्तुत्वान्यथानुपपत्तेरिति । ६०८. सप्तमी । ६०९. अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् । ६१०. यथा साधनस्यान्यथानुपपत्तिः । एकानेकं यथा साधनमस्तीत्यर्थः । सपक्षे सत्त्वं विपक्षव्यावृत्तिसापेक्षं विपक्षाद् व्यावृत्तिः सपक्षसत्त्वसापेक्षा

साधनवस्तुनो रूपमिति रहस्यम् । ६११. प्रकारान्तरेण कथयन्ति दृष्टान्तमकलङ्कदेवाः । ६१२. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुदृष्टान्तमनिच्छतो वादिनः । ६१३. निरंशज्ञानम् । ६१४. सापेक्षत्वे इति । ६१५. सापेक्षैरित्यर्थः । ६१६. मीमांसको जैमिनीये वेदान्ती ब्रह्मवादिनि । वैशेषिके स्यादौलूक्यः शून्यवादी तु सौगते ॥ नैयायिके त्वक्षपादः स्यात् स्याद्वादिक आर्हते । लोकायतिकचारविके बार्हस्पतिश्च नास्तिके ॥ इत्यभिधानात् । ६१७. परस्परसापेक्षैः सत्त्वरजस्तमोभिः प्रधानं वस्तु एकं सिध्यति । ६१८. परस्परसापेक्षत्वं, भेदैर्विशिष्टत्वं वा । ६१९. स्वविषयो घटपटादिः । ६२०. उदाहरणमन्तरेणापि । ६२१. बौद्धः । ६२२. एकत्वस्य प्रत्यक्षेण बाधितत्वात् पृथक्त्वस्य च सदाद्यात्मना बाधितत्वान्निर्विषयत्वमिति भावः ।

६२३. सतोस्तित्वस्य यत्सामान्यं तत्तथा, तस्मात् । ६२४. विवक्षाया हेतोरेकानेकानेकत्वम् । ६२५. वह्न्यादि-साध्यनिश्चये धूमादिर्मृत्पिण्डो वा घटाद्युत्पत्तौ । ६२६. एकत्वप्रत्ययस्य । ६२७. सत्सामान्यं विषयो यस्य स तत्त्वात् । ६२८. हेतुशब्देनात्रानुमानावयवभूतो हेतुग्राह्यः । हेतुर्द्विधा, ज्ञापकः कारकश्च अतो, अर्थक्रियानिष्पादकघटादिर्मृत्पिण्डोपि वा तेन ग्राह्यः । ६२९. धूमादिः । ६३०. मृत्पिण्डादिः । ६३१. विशेषरूपः । ६३२. स्वरूपमनतिक्रम्येत्यर्थः । ६३३. ज्ञापकहेत्वपेक्षया । ६३४. स्वस्य घटादेरारम्भकावयवानां द्व्यणुकत्र्यणुकादीनाम् (कारकापेक्षया) । ६३५. एकानेकरूपमेव । ६३६. जीवादि दार्ष्टान्तिकम् । ६३७. यतो भावसाङ्ख्यानुपपत्तिर्वर्तते । ६३८ पदार्थाः । ६३९. अन्यथेति शेषः । ६४०. अस्ति तु भेदप्रतीतिः । ६४१. तर्हि सर्वे भावाः समाना दृश्यन्ते कथमित्याशङ्क्याह बौद्धः । ६४२. कार्यव्यावृत्तं कारणं कारणव्यावृत्तं कार्यमित्यर्थः । अतत्कार्याद् व्यावृत्तं तत्कार्यम्, अतत्कारणव्यावृत्तं कारणम् । ६४३. अतत्कारणकार्यव्यावृत्तिलक्षणं सामान्यम् । ६४४. 'व्यवस्थितेः' मुद्रितप्रती पाठः । ६४५. सकाशात् । ६४६. तस्माद्यतो यतोर्थानामित्यपि पाठः । ६४७. अर्थात् । ६४८. अगोरूपाद्रवामशबलरूपाच्च शबलानां व्यावृत्तिस्ततो व्यावृत्तिविशेषावगाहिनो जातिभेदाः प्रकल्प्यन्ते, न तु परमार्थतो व्यवस्थाप्यन्ते यतः । ६४९. गौः गौः अश्वः इत्याद्याः । ६५०. भेदलक्षणेन । ६५१. अन्येन स प्रत्येतुं न शक्य इति संबन्धः । ६५२. कारणेन । ६५३. जैनेः । ६५४. यथा एकभेदस्य स्वभावभेदाभावस्तथात्रापि । एकश्चासौ भेदश्च तस्य यथा स्वभाव-विच्छेदाभावादौक्यम् ।

६५५. ननु स्वभावविच्छेदाभावाग्रीलस्वलक्षणे संवेदने चैक्यं निबन्धनमस्तु न तु भिन्नार्थानां, स्वभावविच्छेदादित्याशङ्क्यामाह । ६५६. विच्छेदो भेदः । ६५७. न तु सर्वं सदेव स्यात् । ६५८. स्वभावविच्छेदाभावो यतः । ६५९. एवमपि साङ्ख्ये स्यादित्युक्ते आहुर्जैनाः । ६६०. मिश्रणमैक्यम् । ६६१. निरंशसंवेदनाद्वैतवादे । ६६२. संवेदनाद्वैतवादे । ६६३. 'वेद्याकार' मुद्रितप्रती पाठः । ६६४. वेद्याकारपरोक्षम्, इदं नीलं वस्तु वेद्याकारान्यथानुपपत्तेरित्यनुमानसिद्धत्वात् । संविदाकारं प्रत्यक्षमनुभवसिद्धत्वात् । ६६५. वेद्याकार मुद्रितप्रती पाठः । ६६६. वेद्याकारविविक्तस्य । (अन्यथेति पूर्वेण शब्देनान्वयः) । ६६७. 'वि' उपसर्गस्य विविधोर्थोत्र ज्ञेयः । वेद्याकारं प्रत्यक्षं संविदाकारं परोक्षमिति द्विविधे (द्वे) प्रतिपत्तौ अत्र स्तस्तयोर्विरोधोस्तु । ६६८. गुणकर्मणोः । ६६९. अभेदे । ६७०. वेद्यवेदकाकारविवेके । ६७१. उभयोरपि भेदे सति क्वचिदेव संविदाकारे निश्चयासंभवो यथा । ६७२. वेद्याद्याकारविवेकसमारोपसद्भावात्तद्विप्रतिपत्तिविरोधो न भविष्यतीत्याशङ्क्यामाह । ६७३. निर्भासभेदैश्चित्रज्ञानवत् । (चित्रज्ञानं यथा एकमनेकम्) । असाधारणहेतुत्वादिति पूर्वमुक्तम् । ६७४. सर्वभावानामेकत्वे पृथक्त्वे च सति । ६७५. सर्वथेत्यर्थः । एकत्वनिरपेक्षपृथक्त्वेन । ६७६. एकत्वानेकत्वेन । ६७७. सामान्यविशेषस्वरूपभाज इत्यर्थः । ६७८. अर्थात् । ६७९. निश्चीयन्ते । ६८०. जातिः सामान्यम् । ६८१. व्यावृत्तितो विशेषाणामेव प्रतीतिर्न तु जातीनां, तासामनुवृत्त्या एव प्रतीतेः । अतो विपर्ययात्प्रतीतिविरोध इति भावः । ६८२. अनुस्यूतिः, अन्वयः । ६८३. सामान्यानि । ६८४. न तु भेदस्य । ६८५. पृथक्त्वधर्मेण सत्सामान्यधर्मेण च क्रमेण । ६८६. उक्तधर्मद्वयात् । ६८७. (विवक्षा मुख्यता, अविवक्षा गौणतेति च पर्यायार्थः) ।

६८८. भेदभेदाव्यवस्था । ६८९. बौद्धम् । ६९०. सतो विद्यमानस्यैव विशेषणस्यास्तित्वादेर्विवक्षा चाविवक्षा च क्रियते

नाविद्यमानस्य । ६९१. एकत्वानेकत्वविशेषणार्थिभिः । ६९२. धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थ इत्यादिकारिकायाम् । ६९३. सर्वथा असतः । ६९४. असति । ६९५. पुंसः । ६९६. सर्वथा असतः । ६९७. विवक्षाविषयस्य मनोराज्यादेरसत्त्वात्कथं विवक्षावशाद्धेदाभेदव्यवस्थितिः स्यादित्याशङ्क्याहुर्जैनाः । ६९८. मनोराज्यादेः । ६९९. पुनर्बौद्धो वक्ति । ७००. इदमनुमानं सत्यमसत्यं वेति विकल्पद्वयं कृत्वा क्रमेण दूषयति जैनः । ७०१. पुनर्बौद्धः । ७०२. नरः । ७०३. न संदिग्धो भवति । ७०४. अनुमानविकल्पविषयः । ७०५. विद्यमानः । ७०६. विवक्षाविषयीकृत्य । ७०७. पुनराह बौद्धः । ७०८. भेदाभेदयोरेकतरविवक्षायामन्यतरविषयोऽसन्नेव, अविवक्षाविषयत्वात् । व्यतिरेके विवक्षाविषयत्वात् । ७०९. सन् चेत्तर्हि । ७१०. यतोऽर्थस्वलक्षणे विवक्षाविषयेऽपि तस्य सत्त्वं मन्यते बौद्धः । ७११. अधुना शब्दाद्वैतवादी प्रत्यवतिष्ठते । ७१२. शब्देन । ७१३. जैनैर्निराक्रियते । ७१४. शब्दस्य । ७१५. घटनाम्नि घटसंबन्धिवर्णेषु च घटनामान्तरस्य पटनाम्नः पटवर्णानां चाभावात् ।

७१६. शब्दतदंशानाम् । ७१७. अविवक्षितम् । ७१८. भेदरूपमभेदरूपं वा । ७१९. अर्थनिष्पत्त्यभावे । ७२०. विवक्षेतराभ्यां योगः । ७२१. हे बौद्ध । असतां धर्माणां विवक्षेतराभ्यां योगः । ७२२. व्यावृत्तेरेव विवक्षाऽविवक्षा च, न तु स्वलक्षणस्य, तस्योपचारादिति बौद्धमतमनूद्य निराकरोति । ७२३. सन् विषयो ययोः (विवक्षेतरयोः), तयोर्भावः । ७२४. व्यावृत्तिविषयेभ्यः । ७२५. व्यावृत्तिरेव सामान्यं तेन सामान्यरूपेण । ७२६. घटमानयेत्युक्ते घटमानयतीति प्रवृत्तेर्विरोधो भवेत् । ७२७. तद्वान् गौः । ७२८. गवि । ७२९. स्वलक्षणरूपेणार्थेन । ७३०. व्यावृत्तिरेव सामान्यं तेन सामान्यरूपेण । ७३१. स्वलक्षणः । ७३२. अध्यारोपो विकल्पस्तस्य विषयः सामान्यलक्षणगोर्थाः । ७३३. असामान्याद् व्यावृत्तं सामान्यरूपम् । ७३४. ततश्च सामान्यरूपव्यावृत्तेरध्यारोपविकल्पविषयविशेषव्यावृत्तावेव (व्यावृत्त्यन्तरे) प्रवृत्तिर्न पुनः स्वलक्षणे इति भावः । ७३५. बौद्धेन । 'तामिच्छतां' इति पाठान्तरम् । ७३६. ततः । ७३७. पदार्थं पदार्थं प्रति वस्तुधर्माः । ७३८. बौद्धः । ७३९. एकत्र वस्तुनि । ७४०. अद्वैती । ७४१. परमार्थिकौ । ७४२. भगवतः । ७४३. संवृतिः कल्पना । ७४४. भेदाभेदो संवृती इति वदतोऽपि वादिनः ।

७४५. शून्यवादिनः सौगतस्य । ७४६. त्रिष्वप्यनुमानेषु । ७४७. अनुमानत्रयसद्भावप्रकारेण । ७४८. नैयायिकाभिमतौ । ७४९. अनुमानचतुष्टये । ७५०. अनधिगतः, अपूर्वः । अर्थः स्वार्थः । अधिगमो व्यवसायः (निश्चयः) । ७५१. पूर्वोक्तं स्पष्टीकरोति । ७५२. पर्यायापेक्षया भेदोऽभेदस्तु द्रव्यापेक्षया । ७५३. क्रमेण यौगपद्येन वा । ७५४. भेदाभेदयोः स्वार्थाकारत्वप्रकारेण । ७५५. सौगतस्य । ७५६. अद्वैतिनः । ७५७. परस्परनिरपेक्षं यौगानुमतं वा । ७५८. भेदम् । ७५९. अभेदम् । ७६०. कथ्यते । ७६१. (पूर्वोक्तपक्षचतुष्टयखण्डने साध्ये स्वभावानुपलब्धिर्हेतुस्ति इत्यर्थः) । ७६२. भेदाद्येकान्तचतुष्टयस्य । ७६३. स्वभावानुपलब्धिः (हेतुः) । ७६४. यतः (सूक्ष्माणां स्थूलस्वभावापेक्षयैव स्थूलानां च सूक्ष्मस्वभावापेक्षयैव प्रतिभासनं, न तु तदव्यतिरेकेणेति भावः) । ७६५. स्थूलस्वभावनिरपेक्षम् । ७६६. निर्विकल्पकप्रत्यक्षे । ७६७. स्थूलार्थस्य विभ्रमनिमित्ताद्भासनाविषेषात् । ७६८. कल्पिते स्थूलार्थज्ञाने । ७६९. परमाणौ । ७७०. परमाणून् । ७७१. केशधम्मिल्लादिवत् । यथा केशानां समूहे एकत्वं प्रतिभासते तथापि परमार्थत एकत्वं नास्ति । ७७२. बहिः प्रत्यक्षं घटोयमिति । अन्तः प्रत्यक्षं मानसम् ।

७७३. निर्विकल्पकप्रत्यक्षज्ञाने । ७७४. मूल्यार्पणमन्तरेण ग्राहिणः । ७७५. एकोवयवी तन्वादिः । स्वावयवभिन्नैकावयविनो न प्रत्यक्षबुद्धावात्मानं समर्पयन्ति प्रत्यक्षतां च स्वीकर्तुमिच्छन्ति यथा । ७७६. यथा कुण्डादिव्यतिरिक्तं दधि प्रतिभासते तथा स्वावयवव्यतिरिक्तोवयवी न प्रतिभासते । व्यतिरेके उदाहरणमिदम् । ७७७. कश्चित्परः । ७७८. अवयवेभ्यः । ७७९. अवयवी । ७८०. अवयविषु । ७८१. अवयवभिन्नस्याभेदेन ग्रहणमिति भ्रान्तत्वम् । ७८२. अवयविनोऽमूल्यदानक्रयित्वसमर्थनादेव । ७८३. अवयवावयविनौ । ७८४. समवायो यथा प्रत्यक्षे न प्रतिभासते प्रत्यक्षश्च

भवतीत्यमूल्यदानक्रयौ । ७८५. भाष्योक्तादिशब्दगृहीतानुमानादावपि सूक्ष्मस्थूलाकाराः स्थूलसूक्ष्मस्वभावव्यतिरेकेण न प्रतिभासन्ते इति समर्थयमानः परप्रश्नमाह । ७८६. नित्ये स्थूलरूपे च । ७८७. तस्य सत्त्वस्य । ७८८. अनुमाने । ७८९. नित्याद्येकान्ते सत्त्वानुपपत्तिसमर्थनेन । ७९०. घटादिकम् । ७९१. अवयवी अवयवेभ्यः सर्वथा भिन्नः सर्वथा भिन्नप्रतिभासनादिति । ७९२. सर्वथा भिन्नप्रतिभासनादित्यस्य । ७९३. अतीतकालत्वाव्यवस्थितिशब्देन कालात्ययापदिष्टत्वं ग्राह्यम् । ७९४. एतदनुमाननिराकरणात् । ७९५. आदिपदेनागमादिः । ७९६. सूक्ष्मावयवरहितस्य स्थूलस्य प्रतिभासनम् । ७९७. इति हेतोः सिद्धमेव सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रत्यक्षबुद्धावप्रतिभासनम् । ७९८. अपि तु तत्प्रतिषेधे सूक्ष्माद्येकान्तस्य प्रतिषेधे साध्ये स्वभावानुपलब्धिः सिध्यत्येव । ७९९. सूक्ष्माद्येकान्तनिराकरणे स्याद्वादिनां किं फलमिति केनचित्पृष्ठे आहुर्जेनाः । 'तत्प्रतिषेधे' एव इति पाठान्तरम् । ८००. कारिकायाश्चतुर्थं पादं व्याख्याति । तत्र सूक्ष्मस्थूलयोर्मध्ये । अन्यतरः स्वभावः स्वभावान्तरं तस्य । स्थूलस्य सूक्ष्मस्य वेत्यर्थः । एकस्य प्राधान्ये विवक्षिते आकारान्तरस्य, तदितरस्य स्वभावस्य गुणीभावः स्यादित्यर्थः । (यथा घटस्य प्राधान्ये परमाणूनां घटावयवानां घटरूपादीनां वा अप्राधान्यम् । घटरूपादीनां घटावयवानां च प्राधान्ये घटस्याप्राधान्यमित्यर्थः) ।

८०१. (घटपरमाण्वर्थिनां घटरूपाद्यर्थिनां वा) । ८०२. (तस्य घटस्य) । ८०३. हे सौगत । ८०४. तस्य, अर्थित्वस्य । तत्सत्तामात्रानिबन्धनत्वात् किन्तु मोहोदयहेतुकत्वात् । ८०५. मोहोदयोपि सर्वत्र विद्यते, तत एवार्थित्वमनर्थित्वं वा कुतो न प्रसज्यते इत्युक्ते आह विशेषेति । ८०६. तस्य मोहविशेषस्य । ८०७. आदिपदेन मिथ्याज्ञानादि । ८०८. आदिपदेन द्रव्यक्षेत्रभावा गृहीताः । ८०९. प्रथमभङ्गे विधिकल्पना, द्वितीये प्रतिषेधकल्पना । ८१०. सत्सामान्यात् सर्वैक्यं पृथग् द्रव्यादिभेदत इत्यादिनयविवक्षा । ८११. इति पूर्वमुक्ता त्रयोविंशतितमा कारिका । ८१२. अतिदेशः, उपदेशः । ८१३. गहना दुर्निवारा । ८१४. वसः । बहुव्रीहिः । ८१५. ध्यानं परीक्षा । तेन धीराः, स्थिराः । ८१६. पुंसाम् । ८१७. उद्धृतां मुदं रान्ति, ददतीति तथोक्ताः । इदं वृत्तं द्वयर्थम् । मन्त्रपक्षे स्यात्कारोमोघमन्त्रप्रणयनविधयो वाचः कर्तृभूताः । ८१८. अस्मिन् परिच्छेदे चतुर्विंशतितमप्रभृति सप्तविंशतितमान्ताभिश्चतसृभिः कारिकाभिरद्वैतमतं, ततः पञ्चकारिकाभिः यांगस्य बुद्धस्य च सर्वथा पृथक्त्वमतं स्पष्टमाक्षिप्य निरसितम् । तदनन्तरं चतसृभिः कारिकाभिर्द्वैताद्वैतोभयात्मकः सापेक्षोनेकान्तः समर्थितस्तत्र तत्र सर्वेषां पूर्वपक्षाश्च विशदोक्त्य दर्शिताः ।

एवं त्रयोदशकारिकाविवरणरूपेण परिच्छेदोऽयं समापितोस्ति ।

इति द्वितीयपरिच्छेदः समाप्तः ।

अथ तृतीयः परिच्छेदः

अष्टशती प्रथितार्था साष्टसहस्री कृतापि संक्षेपात् ।

विलसदकलङ्कधिषणैः प्रपञ्चनिचितावबोद्धव्याः ॥ १ ॥

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते ।

प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥ ३७ ॥

४९१. सदसदेकत्वपृथक्त्वैकान्तप्रतिषेधानन्तरं नित्यत्वैकान्तप्रतिक्षेपः प्रक्रम्यतेऽनेनेति तात्पर्यम् । तत्र नित्यत्वैकान्तः कूटस्थत्वाभिनिवेशः । तस्य पक्षः प्रतिज्ञानम् । तस्मिन्नपि विविधा क्रिया परिणामपरिस्पन्दलक्षणा नोपपद्यते । कार्योत्पत्तैः प्रागेव तदुत्पत्तौ वा प्रागेव कारकाभावो नोपपद्यते इति कूटस्थः प्रागेव कारकः स्यादात्मा भोगस्य । अथ प्रागेव कारकाभावस्तदा विक्रियापि नोपपद्यते इति शश्वदकारकः स्यात्, तदविशेषात् । सोस्त्वकारकोऽविक्रियश्चेति चेत् क्वैवं प्रमाणं प्रमितिलक्षणं च तत्फलमुपपद्येत ? प्रमातुरभावे तदसंभवात् । न ह्यकारकः प्रमाता नाम, प्रमितिक्रियासाधनस्य कारकविशेषस्य स्वतन्त्रस्य प्रमातृतोपपत्तेः । सकलकार्योत्पत्तिपरिच्छित्तिक्रिययोः सर्वथाप्यसाधनस्य सत्वासंभवादवस्तुत्वापत्तेः कथमात्मसिद्धिः परस्य स्यात् ? खरविषाणादिसिद्धिप्रसङ्गात् ।

४९२. ननु चात्मनश्चेतनैवार्थक्रिया, न पुनः स्वव्यतिरिक्तकार्यकार्यस्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा, तस्याः प्रधानहेतुत्वात् । न च चेतना पुंसोर्थान्तरमेव, तस्यै तल्लक्षणत्वात्, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम् [/] इति वचनात् । न चानित्या चेतना, नित्यपुरुषस्वभावत्वात् साक्षित्वादिवत्तस्याः, प्रधानस्वभावत्वे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात् तदनित्यत्वप्रसङ्गाच्च सुखादिवत् । न च नित्यायाश्चेतनायाः परस्यार्थक्रियात्वं विरुद्ध्यते, धात्वर्थरूपयोः क्रियायाः प्रतिघाताभावात्सत्तावत् । ततोर्थक्रियास्वभावत्वादात्मनो वस्तुत्वमेव । न ह्यर्थक्रियाकारणस्यैव वस्तुत्वमर्थक्रियायाः स्वयमवस्तुत्वापत्तेस्तत्रार्थक्रियान्तराभावादन्यथानवस्थाप्रसङ्गात् । स्वतोर्थक्रियाया वस्तुस्वभावत्वे पुरुषस्यापि स्वतः शश्वदर्थक्रियास्वभावत्वान्नित्यं वस्तुत्वमस्तु, विक्रियाविरहेऽपि नित्यकारकत्वस्यापि घटनात्, इति कश्चित्, सोऽपि न परीक्षादक्षधिषणः, प्रमाणविरोधात्, प्रत्यक्षतोनुमानादेर्वा नित्यार्थक्रियायाः कदाचिदपरिच्छेदात् । स्वसंवेदनमेव नित्यचैतनार्थक्रियां परिच्छिनतीति चेन्न, तथा तद्वृद्ध्यनध्यवसायात् । न हि बुद्ध्यनध्यवसितां चेतनां पुरुषश्चेतयते, बुद्धिपरिकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्, सर्वस्य शब्दादेर्विषयस्य बुद्ध्यनध्यवसितस्यैव पुंसा संवेद्यत्वसिद्धेः ।

४९३. स्यान्मतम्, न चेतना नाम विषयभूतार्थान्तरं पुंसोस्ति, या बुद्ध्यनध्यवसीयते, तस्यास्तत्स्वरूपत्वात् स्वतः प्रकाशनाच्च इति, तदप्युक्तम्, तदर्थक्रियात्वायोगात् । न ह्यर्थक्रियावतः स्वरूपमेव सदवस्थाप्यर्थक्रिया प्रसिद्धास्ति, तस्याः पूर्वाकारपरित्यागेनोत्तराकारोपादानेन च स्वस्मिन् परत्र वा प्रतीतेः । सोऽयं पूर्वापर-स्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणामर्थक्रियां कौटस्थ्येऽपि ब्रुवाणः कथमनुमत्तः ? सा ह्यर्थक्रियोत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा न च शश्वदवस्थिते सर्वथासौ प्रतीयते, तत्र कारकज्ञापकहेतुव्यापारासंभवात् । न हि पुरुषस्यार्थ-

स्योत्पत्तिश्चेतना क्रिया येन कारकहेतोरुपादानस्य सहकारिणो वा व्यापारः स्वतंत्रो भवेत् । तथोपगमे वा तस्यानित्यत्वानुषङ्गात्कुतः कौटस्थ्यसिद्धिः ? चेतनां पुंसो ज्ञप्तिक्रियेत्यपि न युक्तम्, यतस्तत्र ज्ञापकहेतोः प्रमातुः प्रमाणस्य च व्यापारः स्यात् ।

४९४. स्यान्मतम्, न पुरुषलक्षणस्यार्थस्य क्रिया चेतनाख्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा । किं तर्हि ? स्वभाव एव, तस्य सर्वदा तत्स्वभावत्वात्, इति, तदप्यसत्, पुंसः परिणामसिद्धिप्रसङ्गात्, परिणामविवर्तधर्मावस्थाविकाराणां स्वभावपर्यायत्वात् ।

४९५. ननु स्थितस्य धर्मिणः पूर्वाकारतिरोभावेनोत्तराकाराविर्भावः परिणामः । स कथं स्वभावपर्यायः ? सदावस्थितस्य स्वरूपस्य स्वभावत्वात् । एतेन विवर्तविकारावस्थानां स्वभावपर्यायत्वं व्युदस्तं, विवर्तादीनां कादाचित्कत्वात् । तत एव धर्मविशेषस्य न स्वभावपर्यायत्वम् । धर्मसामान्यस्यापि साधारणत्वादसत्त्वमेव, शश्वदनपायिनो साधारणस्य स्वरूपस्य स्वभावत्वात् । इति कश्चित्, सोपि न तत्त्ववित्, सततावस्थितस्यैकान्ततः कस्यचिद् स्वभावस्यासंभवात् । स हि न तावत्सकलप्रमाणेनापरिच्छिद्यमानः प्रतिष्ठामियति, अतिप्रसङ्गात् । परिच्छिद्यमानस्तु पूर्वापरिच्छिद्यमानरूपताव्यवच्छेदेन परिणामलक्षणानुसरणात् कथं न स्वभावः परिणाम एव स्याद्यतस्तत्पर्यायो न स्यात् ? एतेन विवर्तादीनां स्वभावपर्यायत्वमुक्तम्, तद्वत्स्वभावस्यापि कथंचित्कादाचित्कसिद्धेः । धर्मसामान्यस्य तु यथा साधारणत्वं तथा स्वभावसामान्यस्यापि, परिणामादिसामान्यवत् । ततः परिणामादिविशेषाणां स्वभावविशेषपर्यायत्वं परिणामादिसामान्यानां तु स्वभावसामान्यपर्यायता व्यवतिष्ठते । पूर्वोत्तराकारयोस्तिरोभावाविर्भावौ तु नाशोत्पादावेव नामान्तरेणोक्तौ, सर्वथा तदभावे स्वभावस्यासंभवात् । तदेतद् विनाशोत्पत्तिनिवारणमबुद्धिपूर्वकं प्रत्यक्षादिविरोधात्, क्षणिकैकान्तवत् । नेदमसिद्धं साधनम्, पुरुषस्योत्पादव्ययध्रौव्यात्मनः स्वसंवेदनप्रत्यक्षात् स्मरणात्प्रत्यभिज्ञानादूहादनुमानाच्छ्रुताच्च प्रमाणात् सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणात्प्रतिपत्तेः, विनाशोत्पत्तिरहितस्य तस्य जातुचिदप्रतीतेः प्रत्यक्षाविरोधस्य निश्चयात् ।

४९६. एतेन क्षणिकैकान्तनिदर्शनस्य साधनविकलता निरस्ता, सर्वथा स्थितिरहितस्य चेतसः प्रत्यक्षादावप्रतिभासनात्तद्विरोधस्य सिद्धेः । साध्यशून्यता च न संभवति, स्थितिमात्राभिनिवेशस्येव निरन्वयक्षणाकाभिनिवेशस्यापि मिथ्याबुद्धिपूर्वकत्वात् ।

४९७. एतेनाव्यक्तम् नित्यमेवेत्यपास्तम्, व्यक्तस्यापि नित्यत्वानुषङ्गात्, नित्यादव्यतिरिक्तस्याप्यनित्यत्वे चैतन्यस्याप्यनित्यत्वापत्तेः । सर्वथाऽव्यक्तस्यापि नित्यत्वे प्रमाणकारकव्यापारविरोधात्तदप्रमेयमनर्थक्रियाकारि प्रसज्येत ।

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत् ।

ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद्बहिः ॥ ३८ ॥

४९८. न हि प्रमाणं नित्यं नाम, तत्कृताभिव्यक्तेः प्रमितिरूपाया महदहङ्कारादौ व्यक्तात्मनि नित्यत्वप्रसङ्गात् । नापि कारकं नित्यम्, तद्विहिताभिव्यक्तेरुत्पत्तिरूपायाः सातत्यप्रसक्तेः । तथा च न व्यक्तं प्रमाणकारकैरभिव्यक्तमिन्द्रियैरर्थवदिति शक्यं वक्तुम्, पूर्वमनभिव्यक्तस्य व्यञ्जकव्यापारादभिव्यक्तिप्रतीतेः ।

४९९. अथ मतम्, प्रमाणकारकाणि व्यवस्थितमेव भावं व्यञ्जयन्ति चक्षुरादिवत् स्वार्थम् । ततो न किञ्चिद्विप्रतिषिद्धमिति, तदप्यसम्यक्, सर्वथा नित्यत्वेन भावस्याव्यवस्थितत्वात्, कथंचिदनित्यस्यैव प्रमाणकारकव्यापारविषयत्वविनिश्चयात् । चक्षुरादयो हि स्वार्थं रूपादिकमनभिव्यक्तस्वभावपरिहारेणाभिव्यक्तस्वभावोपादानेन च व्यञ्जयन्तः स्वमव्यञ्जकरूपत्यागेन व्यञ्जकत्वस्वीकरणेन च व्यञ्जकव्यपदेशभाजो दृष्टाः । न चैवं प्रमाणं कारकं च परैरिष्टं तयोर्नित्यत्वाभ्युपगमात् । तत्कृतस्य च विषयविशेषविज्ञानादेः शाश्वतत्वान्न किञ्चिदव्यव्यर्थं पश्यामः, कथंचिदपूर्वोत्पत्तौ तदेकान्तविरोधत् । न ह्यनेकान्तवादिनस्तव साधोः शासनाद् बहिर्विषयविशेषविज्ञानाभिलाषप्रवृत्त्यादेरुत्पत्तिः कथंचिदपूर्वा युज्यते, यतोस्यामभ्युपगम्यमानायां नित्यत्वैकान्तविरोधो न भवेत्, तदभावे विकार्यानुपपत्तेः । न हि कथंचिदपूर्वोत्पत्त्यभावे किंचिदव्यञ्ज्यं कार्यं वा विकार्यमुपपद्यते । न वै किञ्चिद्विरुद्धं कार्यकारणभावाभ्युपगमादित्यनलोचितसिद्धान्तम्, कार्यस्य सदसत्त्वविकल्पद्वयानतिक्रमात् । तत्र,

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति ।

परिणामप्रवृत्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥ ३९ ॥

५००. न तावत्सतः कार्यत्वं चैतन्यवत् । न हि चैतन्यं कार्यम्, तत्स्वरूपस्य पुंसोपि कार्यत्वप्रसङ्गात्, यतस्तद्वन्महदादेः सत एव कार्यत्वं सिद्ध्येत् । नाप्यसतः, सिद्धान्तविरोधात्, गगनकुसुमादिवत् ।

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

इति हि सांख्यानां सिद्धान्तः ।

५०१. स चासतः कार्यत्वे विरुध्यते एव । तथा यत्सर्वथाप्यसत् तन्नोत्पद्यते, यथा गगनकुसुमम् । सर्वथाप्यसत्त्वं कार्यं कस्यचित्, इत्यनुमानविरोधश्च प्रत्येयः । नापरमेकान्तप्रकारान्तरमस्ति । तत एव न किञ्चित्कार्यम्, केवलं वस्तुविवर्त एवेत्येकान्तोस्तीति चेन्न, तस्याप्यसंभवात्, विवर्तदिः पूर्वोत्तरस्वभावप्रध्वंसोत्पत्तिलक्षणत्वात्, तथोपगमे परिणामसिद्धेरनेकान्ताश्रयणप्रसङ्गात् । तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतमप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्, इत्यनेकान्तोक्तिरन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायमनुसरति, स्वदर्शनानपेक्षं यथोपलम्भमाश्रयस्वीकरणात् ।

तदेवं नित्यत्वैकान्तवादिनाम्,—

पुण्यपापक्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फलं कुतः ।

बन्धमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ॥ ४० ॥

५०२. पुण्यपापक्रिया कायवाङ्मनस्कर्मलक्षणा शुभाऽशुभा । सा प्रधाने तावन्नास्ति, सर्वथा नित्यत्वात्, पुरुषवत् । तदभावे पुण्यपापयोः क्रिया उत्पत्तिलक्षणा नास्ति, कारणाभावे कार्यानुदयात् । ततः

प्रेत्यभावो जन्मान्तरलक्षणस्तत्फलं च सुखाद्यनुभवलक्षणं कुतः स्यात् ? ततो^{१३४} बन्धमोक्षौ च यथोक्तलक्षणौ न स्तस्तेषां येषां^{१३५} त्वमनेकान्तवादी नायको नासि, इति तात्पर्यार्थः ।

५०३. ततो नित्यत्वैकान्तदर्शनं नैतत् प्रेक्षापूर्वकारिभिराश्रयणीयम्, पुण्यपापप्रेत्यभावबन्धमोक्षविकल्प-
रहितत्वात्, नैरात्म्यादिवत् । न चैतत् क्वचिदेकान्ते संभवति, कुशलाकुशलं कर्म^{१३६} इत्यत्र तदसंभवस्य
समर्थितत्वात् ।

सत्यमेतन्नित्यत्वैकान्ते दूषणं क्षणक्षयैकान्तस्यैव प्रातीतिकत्वात्, इति वदन्तं^{१३७} वादिनं प्रत्याहुः—

क्षणिकैकान्तपक्षेपि

प्रेत्यभावाद्यसंभवः ।

प्रत्यभिज्ञाद्यभावात् कार्यारम्भः^{१३८} कुतः फलम् ॥ ४१ ॥

५०४. क्षणिकैकान्तपक्षे चेतसः^{१३९} कार्यारम्भो नास्ति, प्रत्यभिज्ञानस्मृतीच्छादेरभावात्, सन्तानान्तरचित्तवत् ।
तदभावश्च प्रत्यभिज्ञातुरेकस्यान्वितस्याभावात् । सन्तानः कार्यमारभते इत्यपि मिथ्या, तस्यावस्तुत्वविरोधात्,
कार्यारम्भकस्य वस्तुत्वात् । चित्तक्षणानां चावस्तुतापत्तिरकार्यारम्भकत्वात् । न च तत्कार्यारम्भकत्वाभावे फलं^{१४०}
पुण्यपापलक्षणं संभवति । तदभावे न प्रेत्यभावो न बन्धो न च मोक्षः स्यात्, इति^{१४१} क्षणक्षयैकान्तदर्शनमहतिम्,
असंभवत्प्रेत्यभावादित्वात्, उच्छेदैकान्तवत्, ध्रौव्यैकान्ताभ्युपगमवद्वा । न हि सर्वथोच्छेदैकान्ते शून्यतालक्षणे
नित्यत्वैकान्ते वा प्रेत्यभावादिः संभवति, यतोयं दृष्टान्तः साधनधर्मविधुरः स्यात् । नापि प्रेक्षावतां तदाश्रयणं
हितत्वेन मतम्, येन साध्यविकलः स्यात् ।

५०५. अथ मतमेतत्^{१४२}, क्षणिकत्वेपि चित्तक्षणानां वासनावशात्प्रत्यभिज्ञानं तदेवेदं सुखसाधनमिति
स्मरणपुरस्सरमुत्पद्यते । ततोभिलाषात्तत्साधनाय प्रवृत्तिरिति कार्यारम्भात्पुण्यपापक्रियासिद्धेः प्रेत्यभावादिसंभवाद-
संभवत्प्रेत्यभावादित्वादिति हेतुरसिद्धो न साध्यसाधनायालमिति, तदसत्, भिन्नकालक्षणानामसंभवद्वसनत्वात्,
अकार्यकारणवत् । पूर्वमेव चित्तमुत्तरोत्पत्तौ वासना तत्कारणत्वादिति चेन्न, निरन्वयक्षणिकत्वे कारणस्यैवासंभवात् ।
तथाहि—न विनष्टं कारणमसत्त्वात्, चिरतरातीतवत् । समनन्तरातीतं कारणमिति^{१४३} चेन्न,
समनन्तरत्वेऽप्यभावाविशेषात् । न च पूर्वस्योत्तरं कार्यं, तदसत्येव हि भावात्, वस्त्वन्तरवत्, अतिक्रान्ततमवद्वा,
यतः पूर्वस्य कारणत्वनिर्णयः स्यात् । तदन्वयव्यतिरेकानुविधानादुत्तरं तत्कार्यमिति चेन्न, तस्यासिद्धेः । न हि
समर्थे^{१४४}स्मिन् सति स्वयमनुत्पत्सोः पश्चाद्भवतस्तत्कार्यत्वं समनन्तरत्वं वा युक्तम्, नित्यवत्, तद्भावे^{१४५}
स्वयमभवतस्तदभावे एव भवतस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधानविरोधात् । क्षणिकैकान्ते कारणाभावाविशेषेपि
कार्योत्पत्तिसमयनियमावकल्पितौ कस्यचित्कौटस्थ्येपि तत्करणसमर्थसद्भावाभेदेपि कार्यजन्मनः कालनियमः किन्न
स्यात् ? विशेषाभावात् । यथैव हि स्वदेशवत्स्वकाले सति कारणे समर्थे कार्यं जायते, नासतीति
तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीष्यते, तथा स्वकालेऽनाद्यन्ते सति समर्थे नित्ये स्वसमये कार्यमुपजायमान-
मन्यदानुपजायमानं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि कथं नानुमन्यते ? सर्वदा समर्थे नित्ये कारणे सति स्वकाले एव
कार्यं भवत्कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायीति चेत्, तर्हि कारणक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चानाद्यन्ते तदभावे
विशेषशून्येपि क्वचिदेकं तदभावसमये भवत्कार्यं कथं तदन्वयव्यतिरेकानुविधायि ? इति न कश्चिद्विशेषः ।
तदेवमन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाविशेषेपि क्षणिकैकान्ते एव कार्यजन्मेति वचनमभिनिवेशमात्रनिबन्धनम् ।

तथा चाकस्मिँकत्वं स्यात्, समर्थ कारणमनपेक्ष्य स्वयमभिमतसमये भवतः कार्यस्य निहेतुकत्वप्रसक्तेर्नित्यकार्यवत् । उभयत्राविशेषेण कथंचिदनुपयोगेपि क्वचिद्व्यपदेशकल्पनायामन्यत्रापि किं न भवेत् ? क्षणिकस्य कारणस्य सर्वथा कार्यं प्रत्युपयोगाभावेपि तस्येदं कार्यमिति व्यपदिश्यते, न पुनर्नित्यस्य तादृशं इति न किंचिन्निबन्धनमन्यत्र महामोहात् । नित्यस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे क्रमशोनेकस्वभावत्वसिद्धेः कथमेकत्वं स्यादिति चेत्, क्षणिकस्य कथमिति समः पर्यनुयोगः । स हि क्षणस्थितिरैकोपि भावोनेकस्वभावश्चित्रकार्यत्वान्नानार्थवत् । न हि कारणशक्तिभेदमन्तरेण कार्यनानात्वं युक्तं रूपादिज्ञानवत् । यथैव हि कर्कटिकादौ रूपादिज्ञानानि रूपादिस्वभावभेदनिबन्धनानि तथा क्षणस्थितेरैककस्मादपि भावात् प्रदीपादेर्वर्तिकामुखादाहृतैलशोषादिविचित्रकार्याणि शक्तिभेदनिमित्तकानि व्यवतिष्ठन्ते । अन्यथा रूपादेर्नानात्वं न सिध्येत्, चक्षुरादिसामग्रीभेदात्तज्ज्ञाननिर्भासभेदोवकल्येत, कर्कटिकादिद्रव्यं तु रूपादिस्वभावभेदरहितमेकमनंशमिति वदतोपि निवारयितुमशक्तेः । चक्षुरादिबुद्धौ रूपादिव्यतिरिक्तस्य द्रव्यस्याप्रतिभासनाद्रूपादयो नानैवेति चेत्, तर्हि वर्तिकामुखादाहादिकार्यानुमानबुद्धिषु विचित्रतच्छक्तिव्यतिरेकेण प्रदीपक्षणस्यैकस्याप्रतिभासना-न्नानाशक्तय एव किं न स्युः ?

५०६ ननु च शक्तिशक्तिमतोरर्थान्तरानर्थान्तरभावपक्षयोः शक्तीनामघटनात् ताः परमार्थसत्यः संभाव्यन्ते । ततस्तासामर्थान्तरभावे व्यपदेशानुपपत्तिः संबन्धाभावात् । तेन तासामुपकार्योपकारकभावसंबन्धकल्पनायां यदि शक्तिमता शक्त्यन्तरैः शक्तय उपक्रियन्ते तदानवस्था, अपसपरार्थान्तरशक्तिपरिकल्पनात् । तस्य शक्तिभिरुपकारेऽनेकोपकार्यरूपतापत्तिः । तदुपकार्यरूपाणां ततो भेदे तस्यानुपकारात्तद्व्यपदेशानुपपत्तिस्तदवस्था । तैस्तस्योपकारकरणेनवस्थितिरिव परापरोपकार्यरूपपरिकल्पनात् । शक्तिमतः शक्तीनामनर्थान्तरभावे शक्तिमानेव, न शक्तयो नाम अन्यत्रातद्व्यावृत्तिभ्यः कल्पिताभ्यः, इति चेन्न, रूपादीनामपि द्रव्यादर्थान्तरानर्थान्तरभावविकल्पोरघटनात् परमार्थसत्त्वाभावानुषङ्गात् प्रकृतदोषोपनिपाताविशेषात् । प्रत्यक्षबुद्धौ प्रतिभासमाना रूपादयः परमार्थसन्तो न पुनरनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानाः शक्तय इति वक्तुमशक्तेः, क्षणक्षयस्वर्गप्रापणशक्त्यादीनामपरमार्थसत्त्वप्रसङ्गात् । क्षणक्षयादीना प्रत्यक्षे प्रतिभातानामेव विपरीतारोपव्यवच्छेदेऽनुमानव्यापाराददोष इति चेत्तर्हि नानाकार्यजननशक्तीनामपि प्रत्यक्षेऽवभातानामेव समारोपव्यवच्छेदे कार्यानुमानव्यापारात्कश्चिदपि दोषो मा भूत् । नानाकार्यदर्शनात्तज्जननशक्तिरेका तादृश्यनुमीयते, न पुनर्नानाशक्तय इति चेत्, तर्हि नानारूपादिज्ञाननिर्भासभेदात्तादृशैकस्वभावो द्रव्यस्य व्यवस्थाप्येत, न पुनर्नानारूपादय इति समः समाधिः । प्रदीपक्षणस्यैकस्य वर्तिकामुखादिसहकारिसामग्रीतद्वाहादिविचित्रकार्यजननं न पुनः स्वभावभेदादिति चेत्, तर्हि कर्कटिकादिद्रव्ये चक्षुरादिसहकारिसामग्रीभेदाद्रूपादिज्ञाननिर्भासभेदो न पुना रूपाद्यनेकस्वभावभेदादिति निश्चीयते ।

५०७. युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टीनामपि भवितव्यमेव प्रतिभासभेदेन, कारणसामग्रीभेदात् । अन्यथा दर्शनभेदोपि मा भूत् । न चैवं, प्रत्यासन्नेतरयोर्वैशद्येतरनिर्भासोपलब्धेः । सेयमुभयतः पाशारज्जुः सौगतानां, रूपादिज्ञाननिर्भासभेदाद्रूपादिभेदं व्यवस्थापयतः प्रदीपक्षणस्यैकस्य कार्यवैचित्र्यात् स्वभावभेदप्रसङ्गात्, तस्यैकस्वभावत्वं व्यवस्थापयतो रूपादिनानात्वाव्यवस्थापनात् । सकृत्कारणस्वभावभेदमन्तरेण यदि कार्यनानात्वं, क्रमशोपि कस्यचिदपेक्षितसहकारिणः कार्यसन्ततिः किं न स्यात् ? सहकारिणस्तद्धेतुस्वभावमभेदयन्तोपि कार्यभेदहेतवः स्युः क्षणक्षयवत् । यथैव हि क्षणिकस्वलक्षणस्य नानाकार्याणि

युगपदुजनयन्तिः सहकारिकारणानि न कञ्चिदतिशयं ततो भिन्नमभिन्नं वा समुपजनयन्ति । किं तर्हि ? कार्याण्येव भिन्नस्वभावानि विदधति । तथैव नित्यस्यापि । न हि कादाचित्कानि तत्तत्कर्तुं समर्थानीति स्थित्यर्थस्तत्करणस्वभावं जहाति तद्विद्विपूर्वकत्वाभावात्, क्षणिकसामग्रीसन्निपतितैककारणान्तरवत् । न हि क्षणिकक्षित्युदकादिसमाग्र्यामन्त्यक्षणप्राप्त्यायामङ्कुरजननसमर्थायां सत्यां तत्सन्निपतितं बीजं कारणान्तरमङ्कुरजननस्वभावं जहाति, तस्य तदकार्यत्वप्रसङ्गात् । न हि हेतवः परस्परमीर्ष्यावलिप्ताः क्वचिदेकत्र कार्ये, येनैकस्य तत्र व्यापारेऽपरे निवर्तेरन् । क्षणिकोर्थः स्वान्त्यकारणसामग्रीसन्निपतितः स्वकार्यकारी तादृशः स्वहेतुस्वभावादुत्पन्नत्वात्, न पुनर्नित्य इति कल्पयित्वापि स्वहेतुप्रकृतिं भावानां स्वप्रकृतिरवश्यमन्वेष्ट्या, तत्स्वभाववशात् तत्कारणप्रकृतिव्यवस्थापनात्, तदयमकारणोपि स्वभावनियतोर्थः स्यात् ।

५०८. ननु च क्षणिकस्य क्षणादूर्ध्वमस्थानं स्वप्रकृतिर्विनश्चरत्वादन्विष्यते । विनाशस्वभावनियतत्वं च विनश्चरत्वं, न पुनः कालान्तरावस्थायिनः कदाचिन्नाशित्वमहेतुकत्वाद्विनाशस्य । तथा हि—यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्षं तत् तद्भावनियतम् । यथान्त्यकारणसामग्री स्वकार्योत्पादनं प्रत्यनपेक्षा तत्स्वभावनियता, विनाशं प्रत्यनपेक्षश्च भावः, इति स्वभावहेतुः । न तावदयमसिद्धः, कलशादेर्विनाशस्य मुद्रादिहेतुभिर्व्यतिरिक्तस्याव्यतिरिक्तस्य वा करणासंभवात्, तं प्रति तदनपेक्षत्वसिद्धेः । घटादेर्व्यतिरिक्तस्य विनाशस्य करणे तदवस्थत्वप्रसङ्गाद्विनष्ट इति प्रत्ययो न स्यात् । विनाशसंबन्धाद्विनष्ट इति प्रत्ययोत्पत्तौ विनाशतद्वतोः कश्चित्संबन्धो वक्तव्यः । स च न तावत्तादात्म्यलक्षणस्तयोर्भेदोपगमात् । नापि तदुत्पत्तिलक्षणो घटादेस्तदकारणत्वात् तस्य मुद्रादिनिमित्तकत्ववचनात् । तदुभयनिमित्तत्वाददोष इत्यप्यसारं, मुद्रादिद्विनाशोत्तरकालमपि कुम्भदेरुपलम्भप्रसङ्गात् । कुटादेः स्वविनाशं परिणामान्तरलक्षणं प्रत्युपादानकारणत्वात् तत्काले दर्शनमित्यपि न युक्तम्, परिणामान्तरस्यैव हेत्वपेक्षत्वसिद्धेः, विनाशस्य तदव्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षेत्वं व्यवस्थितेः सुगतमतसिद्धिप्रसक्तेः । सुगतमते हि न सर्वथा विनाशस्य निर्हेतुकत्वम् । किं तर्हि ? कार्यजनकहेतुव्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वमिति वादावसानं स्यात् । विनाशतद्वतोर्विशेषणविशेष्यभावः संबन्ध इत्यपि मिथ्याभिधानं परस्परमसंबन्धयोस्तदनुपलब्धेः । प्रागभावद्वतोर्विशेषणविशेष्यभावोऽनेनैव निरस्तः । कार्यकारणयोरस्येदं कार्यमिति विशेषणविशेष्यभावः कथमित्यपि न चोद्यं, तत्र तदव्यवहारस्य कार्यकारणभावनिबन्धनत्वात्, तदव्यतिरेकेण भिन्नयोर्विशेषणविशेष्यभावासंभवात् । ततोन्तर्धानं विनाशः कारणैः क्रियते इति पक्षान्तरमपि न सम्यक्, स्वकारणादुत्पन्नस्य कुटात्मनो विनाशस्य कारणान्तराणां वैयर्थ्यात् । अन्यथा परापरकारणानुपरमः स्यात् । इति भावानां विनाशस्वभावत्वं साधने स्थितेरपि निर्निमित्तत्वं साधयेत् ।

५०९. तथा हि—यद्यद्भावं प्रत्यनपेक्षं तत्तद्भावनियतम्, यथा विनाशं प्रत्यन्यानपेक्षं विनश्चरम् । तथैव स्थितिं प्रत्यनपेक्षं स्थासु वस्तु । इति स्वभावहेतुः । न चायमसिद्धः, तद्वेतोरकिञ्चित्करत्वात्, तदव्यतिरिक्ताव्यतिरिक्ताकरणात् इत्यादि सर्वं समानम् । न हि वस्तुनो व्यतिरिक्ता स्थितिस्तद्वेतुना क्रियते तस्यास्थासुत्वापत्तेः । स्थितिसंबन्धात्तस्य स्थासुतेति चेन्न, स्थितितद्वतोः कार्यकारणभावासंभवात् सहभावात्तयोः । असहभावे स्थितेः पूर्वं तत्कारणस्यास्थितिप्रसक्तेः, स्थितेरपि

स्वकारणादुत्तरकालमनाश्रयत्वानुषङ्गात् । तयोराश्रयाश्रयिभावः^{३२१} संबन्ध इति चेन्न^{३२२}, अर्थान्तरभूतयोः
कार्यकारणभावाभावे^{३२३} तदभावाभ्युपगमात्^{३२४}, कुण्डबदरवत् । तदव्यतिरिक्ता^{३२५} स्थितिस्तद्धेतुना^{३२६} विधीयते
इत्ययमपि पक्षो न श्रेयान्, तद्वैयर्थ्यात्^{३२७}, स्थितिस्वभावस्यापि^{३२८} स्थितिकरणे तत्कारणानामनुपरमप्रसङ्गात्,
स्वयमस्थितिस्वभावस्य स्थितिकरणायोगादनुत्पत्तिस्वभावस्योत्पत्तिकरणायोगवत् । ततः^{३२९} स्थितिस्वभावनियतोर्थः
स्यात् सर्वदा स्थितेरेहेतुकत्वात् । तदेवमादौ^{३३०} स्थितिदर्शनाद् विद्युत्प्रदीपादेरन्तेपि स्थितेरनुमानं युक्तम् ।
अन्यथान्ते क्षयदर्शनादादौ^{३३१} तत्प्रतिपत्तिरसमञ्जसैव । तादृशः^{३३२} कारणादशनेपि^{३३३} कथंचिदुपादानानुमानवत्^{३३४}
तत्कार्यसन्तानस्थितिरदृष्टाप्यनुमीयेत^{३३५} । शब्दविद्युदादेः साक्षादनुपलब्धमुपादानमनुमीयेत^{३३६} निर्निबन्धनोत्पाद-
प्रसङ्गभयात् पुनस्तदुत्तरकार्यमवस्तुत्वानुषङ्गभयादिति किमपि महामोहविलसितम् । शब्दादेरुत्तरकार्यकरणेपि
योगिज्ञानस्य^{३३७} करणान्नावस्तुत्वप्रसक्तिरिति चेन्न, आस्वाद्यमानरससमानकालरूपोपादानस्य^{३३८} रूपाकरणेपि
रससहकारित्वप्रसङ्गात्, ततो रसाद्रूपानुमानानुपपत्तेरनिष्टप्रसङ्गात् । तथादृष्टत्वात्रेहानिष्टप्रसङ्ग इति चेत्, किं पुनः
शब्दादेव शब्दस्योत्पत्तिरुपलब्धा^{३३९} कदाचित् ? शङ्खादिशब्दसंततौ मध्यावस्थायां शब्दादेव शब्दस्योत्पत्तिर्दृष्टेति चेत्
कथमुत्तरशब्दोत्पत्तिरदृष्टा ? तथैव तददृष्टेरिति शब्दादेर्योगिज्ञानकरणवदुत्तरशब्दादिकरणमनुमीयतां,
रूपोपादानाद्रूपोत्पत्तिवत् । तस्मात् कथंचनं^{३४०} स्थितिमतः^{३४१} प्रतिक्षणं विवर्तोपि नान्यथा^{३४२}, गगनकुसुमवत् । यदि पुनः
परमार्थतः कार्यकारणभावस्याभावाद्बिरोध्यविरोधकभावादिवत् प्रतिक्षणं विवर्तोपि नेष्यते संविदद्वैताभ्युपगमादिति^{३४३}
मतिस्तदा प्रभवादेरयोगात् कुतः प्रेत्यभावादिः ? स्याद्वादिभिरापाधस्य प्रेत्यभावपुण्यपापक्रियाबन्धमोक्षतत्फल-
भावस्य स्वयमेवाभ्युपगमादतिभीतप्रलापमात्रमेतदालक्ष्यते, संविदद्वैतस्य साधनासंभवात्, संविन्मात्रस्य^{३४४}
स्वकार्यकरणेऽनर्थक्रियाकारिणो^{३४५} वस्तुत्वविरोधान्नित्यवत्, तस्य स्वकार्यकरणे कार्यकारणस्वभावसिद्धेः ।
संविदद्वैतेन भेदभ्रान्तिबाधने बाध्यबाधकभावः । तदबाधने तस्याव्यवस्थितिः, प्रतिपक्षव्यवच्छेदाभावात् ।
संवृतिमात्रेण सत्यपि हेतुफलभावेऽकारणकार्यान्तरवत्सन्तनिर्न^{३४६} स्यादतादात्म्याविशेषात् । न हि^{३४७}
कार्यकारणक्षणानामकार्यकारणक्षणेभ्यस्तादात्म्याभावेकान्ते^{३४८} कश्चिद्विशेषो नैरन्तर्यादिः संभवति, तस्य^{३४९}
भिन्नसंतानकार्यकारणक्षणेष्वापि^{३५०} भावात् । तत्स्वभावविशेषावक्लृप्तौ^{३५१} तादात्म्ये^{३५२} कोऽपरितोषः ?
कथंचित्तादात्म्यस्यैकसंतानक्षणानां स्वभावविशेषस्य व्यवस्थितेरव्यभिचारिणः कार्यकारणभावस्य सुगतेतरक्षणेभु
भिन्नसंतानेष्वपि^{३५३} भावात्, भेदतादात्म्ययोर्हि^{३५४} विरोधस्य^{३५५} सर्वथाप्यपरिहार्यत्वात्, संविदि वेद्यवेदकाकारभेदेपि^{३५६}
तादात्म्योपगमादन्यथैकज्ञानत्वविरोधात्, संविदाकारवेद्याकारविवेकयोः प्रत्यक्षपरोक्षयोर्भेदेपि^{३५७}
संविदेकत्वाङ्गीकरणात्, कथंचित्तादात्म्याभावे संताननियमनिबन्धनस्य स्वभावविशेषस्यानुपलब्धेः । तत्संतानापेक्षया^{३५८}
प्रेत्यभावादि मा मंस्त, क्षणक्षयैकान्ते संतानस्यैव साधयितुं दुःशक्यत्वात्, ज्ञानज्ञेययोः^{३५९} प्रतिक्षणं^{३६०}
विलक्षणत्वात् । स एवाहं तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानादनुस्मरणादभिलाषादेश्च संताननियमसिद्धिरिति चेन्न, तस्यै-
वासंभवात् । सर्वथा वैलक्षण्ये पुंसोऽर्थस्य च न वै प्रत्यभिज्ञानादिः पुरुषान्तरवदर्थान्तरवच्च । ततः^{३६१} कर्मफल-^{३६२}
संबन्धोपि नानासंतानवदनियमात्रं युक्तिमवतरति । तदनादिवासनावशात्तन्नियम इति चेन्न, कथंचिदप्यतादात्म्ये^{३६३}
कार्यकारणक्षणयोस्तदघटनात्, तद्वत् । तत्सूक्तं 'क्षणिकपक्षो बुद्धिमद्भिरनादरणीयः, सर्वथार्थक्रियाविरोधा-
न्नित्यत्वैकान्तवत्' । न चार्थक्रिया कार्यकरणरूपा सत्येव कारणे स्यादसत्येव वा । सत्येव कारणे यदि कार्य,

त्रैलोक्यमेकक्षणवर्ति स्यात्, कारणक्षणकाले एव सर्वस्योत्तरोत्तरक्षणसंतानस्य भावात्, ततः संतानाभावात्पक्षान्तरासंभवाच्च । इति स्थितमेतत् साधनं सर्वथार्थक्रियाविरोधादिति, साध्यं च क्षणिकपक्षो बुद्धिमद्भिरनादरणीय इति, प्रत्यभिज्ञाद्यभावात्प्रेत्यभावाद्यसंभव इति च, अस्मिन्पक्षे प्रयासाभावात् । यदि पुनरसत्येव कारणे कार्यं तदा कारणक्षणात्पूर्वं पश्चाच्चानादिरनन्तश्च कालः कार्यसहितः स्यात् कारणाभावाविशेषात् । तदविशेषेपि कार्यस्य स्वयं नियतकालत्वे नित्यस्य सर्वदा भावाविशेषेपि तत्स्यादित्युक्तम् ।

किं च^{३९६} क्षणिकपक्षे न तावत्सदेव कार्यमुत्पद्यते स्वमतविरोधादुत्पत्त्यनुपरमप्रसङ्गाच्च^{४००}—

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत् ।

मोपादाननियामो भूमाश्वासः कार्यजन्मनि ॥ ४२ ॥

५१०. पर्यायाकारेणेव द्रव्याकारेणापि सर्वथा यद्यसत्कार्यं तदा तन्मा जनिः, खपुष्पमिव । तथाहि यत् सर्वथाप्यसत्तत्र जायमानं दृष्टं, यथा खपुष्पम् । तथा च परस्य कार्यम् । इति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः । कार्यत्वं हि कथंचित्सत्त्वेन व्याप्तम् । तद्विरुद्धं सर्वथाप्यसत्त्वम् । प्रतीतं हि लोके कथंचित्सतः कार्यत्वमुपादानस्योत्तरीभवनात् । सदेव कथमसत् स्याद्विरोधादिति न चोद्यम्, सकृदपि विरुद्धधर्माध्यासानिराकृतेऽप्यत्रवेदनवदित्युक्तप्रायम् । तथा चान्वयव्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनबन्धनायाः किं फलमपलापेन ? तदन्यतरनिराकृतावुभयनिराकृतिरभेदात् । कथमन्वयव्यतिरेकयोरभेद इति चेत्, कारणस्य भावे भावस्यैव तदभावेऽभावरूपत्वात् । न हि कारणस्याभावेऽभाव एव भावो भावो न प्रतीयते यतस्तदभेदो न स्यात् । कथं भावस्वभावनबन्धनान्वयव्यतिरेकप्रतीतिस्तस्या भावाभावस्वभावनबन्धनत्वात्, इत्यप्यनाशङ्कनीयम्, स्वभावान्तरस्यैवाभावव्यवहारार्हत्वात् । पावकविविक्तप्रदेशविशेषस्यैव पावकाभावस्य धूमरहितदेशस्य च धूमाभावस्य प्रतीतिगोचरत्वात्, पावकाभावे धूमाभावस्य च व्यतिरेकलक्षणत्वात् सिद्धं व्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनबन्धनत्वमन्वयप्रतीतेरिव । इति निरारेकम्, नीरूपस्याभावस्य प्रतिक्षेपात् । न च सर्वथाप्यसतः कार्यत्वेन्यव्यतिरेकप्रतीतिः कार्यकारणभावव्यवस्थाहेतुः, कारणाभावे एव कार्यस्य भावाद्भावे चाभावात्, इति निवेदितप्रायम् ।

५११. तत्रासत्कार्यम्, सर्वथाप्यनुत्पादप्रसङ्गात्, खकुसुमवत्, इति, व्यवतिष्ठते, कार्यत्वकथंचित्सत्त्वयोरेव व्याप्यव्यापकभावस्य प्रसिद्धेस्तथा प्रतीतेः । तत एव न तादृक्कारणवत्, सर्वथाऽभूतत्वाद्व्यन्यासुतवत् कथंचिदस्थितानुत्पन्नत्वादिति योज्यम् । न हि सर्वथाप्यसत्कार्यमभूतं भवति, यतः कथंचिदप्यस्थितमनुत्पन्नं च न स्यात्, कथंचित्सत एव स्थितत्वोत्पन्नत्वघटनाद्विनाशघटनवत्, सत उत्पादव्ययधौव्ययुक्तत्वलक्षणत्वात् । न चोत्पादादित्रयरहितं वस्तु समस्ति यतः कारणवत्स्यात्, निरन्वयविनाशे तत्कारणस्य तद्भावायोगात्, कार्यस्य तद्भावायोगवत् ।

५१२. सत्यपि प्रभवलक्षणे पूर्वपूर्वस्योत्तरीभवनं मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलादिषु सकललोकसाक्षिकं सिद्धम् । तत्र स्वमनीषिकाभिः सदृशांपरापरोत्यतिविप्रलम्भानवधारणावक्लृप्तिमारचयतां मोपादाननियमो भूत् कारणान्तरवत् तदन्वयाभावाविशेषात् सर्वथा वैलक्षण्यं । न हि मृत्पिण्डस्थासादीनां तन्तुपटादीनां च सर्वथा वैलक्षण्येनान्वयाभावाविशेषेपि मृत्पिण्ड एवोपादानं स्थासस्य, स्थास एव कोशस्य, कोश

एव कुशूलस्य, कुशूल एव घटस्य, न पुनस्तन्त्वादयः स्थासादीनामिति नियमनिबन्धनं किमप्यस्ति, यतः पूर्वपूर्वस्योत्तरीभवनं मृत्पिण्डस्थासादिषु सकललोकसाक्षिकं न भवेत्। वैलक्षण्यानवधारणं निबन्धनमिति चेत्, तद्यदि सद्दृशापरापरोत्पत्तिविप्रलम्भात्प्रतिपत्तृणामिष्यते तदा समयसमयवर्तितिलादीनां संतत्योत्पद्यमानानां वैलक्षण्यानवधारणं स्यात्। ततश्च परस्परभिन्नसंततीनामप्युपादानत्वं प्रसज्येत, विशेषाभावात्। यथैव ह्येकसंतानवर्तिनः सद्दृशापरापरोत्पत्तिः सादृश्यमभावाव्यवधानं च बाह्यम्, विप्रलम्भस्त्वनाद्यभेदवास-
नाहितमभेदज्ञानमन्तरङ्गं वैलक्षण्यानवधारणस्य कारणं तथा भिन्नसंततीनामपि तिलादीनामिति न विशेषः।

५१३. ननु भिन्नदेशानां तेषां सत्यामपि सादृश्योत्पत्तौ नाभावेनाव्यवधानमन्तराले परस्परमभावस्य व्यवधायकस्य भावात्, इति न मन्तव्यम्, मृत्पिण्डस्थासादीनामेकसंतानवर्तिनामपि भिन्नदेशत्वसंभवादभावव्यवधानप्रसङ्गात्। न हि तेषां काल एव भिद्यते न पुनर्देशस्तस्य नित्यत्वप्रसङ्गात्। सर्वस्वलक्षणानां स्वरूपमात्रदेशतया देशाभावाददोष इति चेत्, कथमेवं भिन्नसंततितिलादीनां भिन्नदेशता ? स्वरूपलक्षणदेशभेदादिति चेन्मृत्पिण्डादीनामपि तत एव सास्तु, न वान्यत्रापीत्यविशेष एव। सादृश्यविशेषाद्विशेष इत्यपि मिथ्या, सादृश्यस्यापि परमार्थतः क्वचिदभावात्सामान्यवत्। अतत्कार्यकारणव्यावृत्त्या कल्पितस्य तु सादृश्यस्य को विशेष इति चिन्त्यम्। वैलक्षण्यानवधारणहेतुत्वमिति चेत् कृष्णतिलादिषु भिन्नसंतानेष्वपि समानम्। परस्परश्रयत्वानुषङ्गश्चैवम्। सति सादृश्यविशेषे मृत्पिण्डादिषु वैलक्षण्यानवधारणं तस्मिन् सति सादृश्यविशेषनिश्चयः, इति नैकस्यापि निर्णयः स्यात्। नन्वनिश्चितादेव सादृश्यविशेषादभेदाध्यवसायरूपं वैलक्षण्यानवधारणं निश्चीयते, ततः सादृश्यविशेषानुमानेतराश्रयत्वं तयोरिति चेन्न, एवं यमलकादिष्वपि तदनुमानप्रसङ्गादन्वयस्यापि तद्वत्प्रसक्तेः।

५१४. ननु च निरन्वयस्यापि तादृशी प्रकृतिरत्मानं कारणान्तरेभ्यो यथा विशेषयतीति चेन्न, अत्यन्तविशेषानुपलब्ध्येः। तदविशेषादर्शनं सर्वथान्वयं स्यात्, विशेषाविशेषयोरदृष्टौ तद्रहितवस्तुरूपोपलम्भाभावात्। तस्मादियमस्य प्रकृतिर्यथा पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादाधिकरणस्थितिं प्रतिक्षणं विभर्ति, यतोयमुपादननियमः सिद्धः, पूर्वोत्तरस्वभावहानोपादानमात्रे तदसिद्धेः स्थितिमात्रवत्। अथापि कथंचिदुपादाननियमः कल्प्येत, कार्यजन्मनि कथमाश्वासः ? संवृतिमात्रेणोपकल्पितादुपादाननियमात्कार्योत्पत्तावनाश्वासदर्शनात् स्वप्नवत्। तदत्यन्तासतः कार्यस्योत्पत्तेस्तन्तुभ्यः पटादिरेव न पुनः कुटादिरिति निर्हेतुको नियमः स्यात्। पूर्वपूर्वविशेषादुत्तरोत्तरनियमकल्पनायामनुपादानेपि स्यात् नियमकल्पना। तथाऽदर्शनमहेतुरत्रैव विचारात्। न हि यत्रैव विवादस्तदेव नियमहेतुरिति युक्तं वक्तुमविचारकत्वप्रसङ्गात्। यथाऽदर्शनं नियमकल्पनायां हेतावपि कथंचिदाहितविशेषतन्तूनां पटस्वभावप्रतिलम्भोपलम्भात् तदन्यतरविधिप्रतिषेधनियमनिमित्तात्ययात्, प्रतीतेरलमपलापेन। न हि तन्तुतद्विशेषयोरन्यतरस्य विधौ निषेधे वा नियमनिमित्तमस्ति। न हि तन्तव एवातानवितानादिविशेषनिरपेक्षाः पटस्वभावं प्रतिलभमानाः समुपलभ्यन्ते, येन तन्तुमात्रस्यैव विधिनियमो विशेषप्रतिषेधनियमो वा स्यात्। नापि तन्तुनिरपेक्षो विशेष एव पटस्वभावं स्वीकुर्वन्नुपलभ्यते यतो विशेषविधिनियमस्तन्तुप्रतिषेधनियमो वावतिष्ठेत। न चोपलब्ध्यनुपलब्धी मुक्तवान्यन्निमित्तं तद्विधिप्रतिषेधयोरनियमेति, येन तदत्ययेपि तदुभयप्रतीतेरपलापः शोभेत।

५१५. ननु च नास्ति तन्त्वाद्यन्वय उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरिति स्वभावानुपलब्धि-
स्तत्प्रतिषेधनियमनिमित्तम्, विशेषमात्रस्यैवोपलब्धेस्तद्विधिनियमहेतुत्वादिति चेन्न, तन्त्वाद्यन्वयवत्तद्विशेषस्यापि
निरपेक्षस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेरविशेषात्प्रतिषेधनियमप्रसङ्गात् । तस्मादुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धि-
रन्वयस्यैव न पुनरुभयरूपस्य, इत्यलं प्रसङ्गेन । सर्वथान्वयविशेषयोरेव प्रतिषेधनियमस्य निमित्ताभावात्
तदुभयरूपजात्यन्तरस्यैव विधिनियमस्य निमित्तसद्भावात् तन्निमित्तस्यार्थक्रियाकारित्वस्य सकलप्रमाणोपलम्भस्य
च प्रसिद्धेर्विरोधाद्यसंभवाच्च ।

तदेवं क्षणिकैकान्तपक्षे—

न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयात् ।

सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥ ४३ ॥

५१६. क्षणिकैकान्तपक्षेपीति वर्तते । तेन पूर्वोत्तरक्षणानां न हेतुफलभावो वास्यवासकभावः कर्मफलसंबन्धः
प्रवृत्त्यादिर्वास्ति, सर्वथाऽनन्वये सत्यन्यभावात्, संतानान्तरवत् । तेषामेकसंतानत्वात्सोस्तीति चेन्न, एकसंतानस्य
तद्वतः पृथगसत्त्वात्, संतानिन एवापरामृष्टभेदाः सन्तान इति स्वयमेवभ्युपगमात् । सर्वेषां वैलक्षण्याविशेषात् ।
सन्तानसंकरप्रसङ्गश्चाविशेषेणापरामृष्टभेदत्वस्य संभवात्, एते एवाभेदपरामर्शविषया न पुनरन्ये इति
विशेषनिबन्धनस्याभावात् । विलक्षणानामत्यन्तभेदेऽपि स्वभावतः किलासंकीर्णाः संततयः
कर्मफलसंबन्धादिनिबन्धनं शशविषाणस्येव वर्तुलत्वमाचरितं कश्चेतनः श्रद्दधीत ? प्रत्यक्षेणाप्रतीतेऽर्थ
स्वभावस्याश्रयितुमशक्यत्वात्—

प्रत्यक्षेणाप्रतीतेर्थे यदि पर्यनुयुज्यते ।

स्वभावैरुत्तरं वाच्यं दृष्टे कानुपपन्नता ॥

इति स्वयमभिधानात् ।

५१७. न च परस्परविलक्षणानामेव क्षणानामत्यन्तमन्वयासत्त्वेऽप्यन्तर्बहिर्वा संततयोऽसंकीर्णा एव
प्रत्यक्षतः प्रतीताः, तस्यैकक्षणगोचरतया संतानविषयत्वात् । नाप्यनुमानतः, स्वभावस्य कार्यस्य वा
तल्लिङ्गस्य प्रतिबद्धस्यानवधारणात् । प्रत्यभिज्ञानादि तदनुमाने लिङ्गमिति चेन्न, तस्य
क्वचिदन्वयासिद्धेर्व्यतिरेकानिश्चयाच्च । तत एव नान्यथानुपपत्तिः, प्रत्यभिज्ञानादेः
संतानाभावेऽसंभवनियमनिश्चयायोगात्, तत्रैकद्रव्यप्रत्यासत्तेरेव ततः प्रसिद्धेर्विरुद्धत्वनिर्णयात् । ततो न संतानोस्ति
स्वभावत एवासंकीर्णः सन्तानान्तरैरिति सूक्तम् ।

स्यान्मतम्—

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम् ? ।

मुख्यार्थः संवृतिर्नास्ति विना मुख्यान्न संवृतिः ॥ ४४ ॥

५१८. संतानिभ्योऽनन्यः संतानः, अन्यथात्मनो नामान्तरकरणात्, आत्मा संतान इति, सुखादिपरिणामेभ्यो
भिन्नस्य वस्तुनो व्यापकस्यात्मत्वादर्थभेदाभावात् । तथा नामान्तरकरणे च नित्यानित्यविकल्पानुपपत्तेर्नान्यः

संतानो वास्तवः स्यात् । नित्यविकल्पे तस्य संतानिव्यापकत्वाभावोऽनेकस्वभावेन तद्व्यापकत्वे तस्य नित्यैकरूपत्वाविरोधात् । एकस्वभावेन तद्व्यापकत्वे संतानिनामेकरूपत्वापत्तेः कुतः संतानः ? अनेकव्यापिनः क्रमशः संतानत्वात् । तदनित्यविकल्पेपि न संतानः, संतानिवद्भेदादेकप्रत्ययवमर्शाविषयत्वात्, अपि तु संवृत्याऽन्येष्वन्यव्यवहारात्, अनन्य इति शब्दविकल्पलक्षणादेकत्वमुपचरितमिति । अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिः सौगतैरभिधीयते संतानः । सोपि कथं मृषा न स्यात् ? अस्तु व्यलीकोऽयं व्यवहारस्तथेष्टत्वादिति चेत्, तर्हि व्यलीकव्यवहारेपि विशेषानुपपत्तेः संबन्धनियमाभावस्तदवस्थः, सकलसंतानिनां साङ्ख्यस्यापरिहृतत्वात्, उपचरितेनैकसंतानेन केषांचिदेव स्वेष्टसंतानिनां व्याप्तेरनियमयितुमशक्तेः । यदि तु मुख्यार्थ एव संतानः स्यात्तदा न संवृतिः । संवृतिरेव संतानस्तथोपचारादिति चेन्न, तस्य मुख्यप्रयोजनत्वविरोधात् । मुख्यप्रयोजनश्चार्थः, प्रत्यभिज्ञानादेर्मुख्यस्य कार्यस्य करणात् । उपचारस्तु नर्ते मुख्यत्वात् । यथाग्निराग्नौ नर्ते । इति स्खलति हि तत्रानन्यप्रत्ययः, परीक्षाऽक्षमत्वात् । अत एवांमुख्यार्थः प्रस्तुतासाधनम् । न ह्यग्निराग्नौ नर्ते । इत्युपचारात्पाकादावादीयते । तथा संतानोप्युपचरितः संतानिनियमहेतुर्न स्यात् । इति तदवस्थं संतानिसाङ्ख्यं, संतानस्यैकस्य संतानिभ्यो भिन्नस्याभिन्नस्योभयरूपस्यानुभयरूपस्य वासंभवात् । तत् एव,—

चतुष्कोटैर्विकल्पस्य सर्वान्तेष्वव्यययोगतः ।

तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः संतानतद्वतोः ॥ ४५ ॥

५१९. यो यो धर्मस्तत्र तत्र चतुष्कोटैर्विकल्पस्य वचनायोगः । यथा सत्त्वैकत्वादिधर्मेषु । धर्मश्च संतानतद्वतोस्तत्त्वमन्यत्वं च । इति तत्रावाच्यत्वसिद्धिः । प्रसिद्धं हि सत्त्वैकत्वादिषु सर्वधर्मेषु सदसदुभयानुभयादिचतुष्कोटेरभिधातुमशक्यत्वात् संतानतद्वतोरपि भेदाभेदोभयानुभयचतुष्कोटेरनभिलाप्यत्वम् । सर्वो हि वस्तुधर्मः सन् वा स्यादसन् वा उभयो वानुभयो वा । सत्त्वे तदुत्पत्तिविरोधादसत्त्वे पुनरुच्छेदपक्षोपक्षिप्तदोषादुभये चोभयदोषप्रसङ्गादनुभयपक्षेपि विकल्पानुपपत्तेरित्यादि योज्यम् । तथा हि वस्तुनो धर्मस्यानन्यत्वे वस्तुमात्रप्रसक्तेरन्यत्वे व्यपदेशोऽसिद्धेरसंबन्धात्, उभये चोभयपक्षभाविदोषोऽनुभयपक्षे निरुपाख्यत्वमिति । तथानभिधेयत्वं प्रसिध्यत् सर्वत्र संतानसंतानिनोरपि तत्त्वान्यत्वाभ्यामवाच्यत्वं प्रसाधयति विशेषाभावात्, इति येषामाकूतं तैरपि—

अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोपि न कथ्यताम् ।

असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्यविशेषणम् ॥ ४६ ॥

५२०. न हि सर्वथानभिलाप्यत्वेऽनभिलाप्यचतुष्कोटेरभिधेयत्वं युक्तम्, कथंचिदभिलाप्यत्वप्रसङ्गात् । ततो भवद्भिरवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोपि न कथनीयः । इति न परप्रत्यायनं नाम । अपि चैवं सति सर्वविकल्पातीमवस्त्वेव स्यादन्यत्र वाचोयुक्तेः । जात्यन्तरमेव ह्यनैकान्तात्मकं सर्वथैकान्तविकल्पातीतत्वात् । सर्वविकल्पातीतमिति वाचोयुक्तावेव वस्तुक्तं स्यान्नान्यथा, तस्याविशेष्यविशेषणत्वात्, खपुष्पवत् । न हि सर्वथाप्यसदनभिलाप्यमवस्त्विति वा विशेषणं स्वीकुरुते यतो विशेष्यं स्यात् । न चाविशेष्यमविशेषणं च किंचिदध्यक्षसंविदि प्रतिभासते, स्वसंवेदनस्यापि सत्त्वविशेषणविशिष्टतया विशेष्यस्यैवावभासनात् ।

तदुत्तरविकल्पबुद्धौ स्वस्य संवेदनमिति विशेषणविशेष्यभावोवभासते, न तु स्वरूपे तस्येति चेत्तर्हि किमविशेष्यविशेषणं संवेदनमिति स्वतः प्रतिभासते ? तथोपगमे सिद्धो विशेषणविशेष्यभावः संविदि, तत्राविशेषणविशेष्यत्वस्यैव विशेषणत्वात्, सर्वथाप्यसतो विशेषणविशेष्यत्वस्य प्रतिषेधायोगात् । तथा हि—

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः ।

असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥ ४७ ॥

५२१. द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरैः प्रतिषेधः संज्ञिनः सतः क्रियते स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावेन पुनरसतः, तद्विधिप्रतिषेधाविषयत्वात् । द्रव्याद्यन्तरभावेनेव स्वद्रव्यादिभावेनाप्यसत्त्वे कुतो विधिर्नाम ? तदभावे न प्रतिषेधस्तस्य कथंचिद्विधिपूर्वकत्वात् । ततः कथंचिदभिलाष्यस्य सतः प्रतिषेधादनभिलाष्यत्वं युक्तम् । कथंचिद्विशेषणविशेष्यात्मनश्च सतोऽविशेष्यविशेषणत्वम् । इति नैकान्ततः किंचिदनभिलाष्यमविशेष्यविशेषणं चाभ्युपजातव्यम् । न चैतद्विरुद्धं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत् । स्वलक्षणं हि स्वरूपेणासाधारणेनानिर्देश्यं नानिर्देश्यमिति शब्देन तथा निर्देश्यत्वादन्यथा स्ववचनविरोधात् । तथा प्रत्यक्षं कल्पनापोढमपि स्वरूपेण कल्पनापोढमेव, न कल्पनापोढमिति कल्पनापेक्षया, तस्यान्यथा कल्पनापोढत्वेन कल्पनाविरोधात्, सकलविकल्पवाग्विचारातीतस्य निरुपाख्यत्वप्रसङ्गात् । तद्वत्स्याद्वादिनां न किंचिद्विप्रतिषिद्धम् । अभावोनभिलाष्य इत्यपि भावाभिधानादेकान्तवृत्तावेव दोषोद्भावाभिधानैरपि कथंचिदभावाभिधानात् । यथैव ह्यभाव इति भावान्तरमभिधीयतेनभिलाष्य इति चाभिलाष्यान्तरं तथा भावोभिलाष्य इत्यपि भावान्तराभिलाष्यन्तराभावः कथ्यते, तथा प्रतीतेः, अभावशब्दैर्भावशब्दैश्चाभावस्य भावस्य चैकान्ततोभिधाने शाब्दव्यवहारविरोधात्, तस्य प्रधानगुणभावेन विधिनिषेधयोरुपलम्भात्, तथैव प्रवृत्तिनिवृत्त्योरविसंवादसिद्धेरन्यथा विसंवादात् । तथा सूक्तमिदम् “असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः” इति कथंचित्सद्विशेष्यस्यैव पदार्थस्य विधिनिषेधाधिकरणत्वसमर्थनात् । तथा च पराभ्युपगतमेव तत्त्वं सर्वथानभिलाष्यमायातमित्यभिधीयते—

अवस्त्वनभिलाष्यं स्यात्सर्वान्तैः परिवर्जितम् ।

वस्त्वेवावस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥ ४८ ॥

५२२. सकलधर्मविधुरमधर्मिस्वभावं तावदवस्त्वेव, सकलप्रमाणाविषयत्वात् । तदेवानभिलाष्यं युक्तम्, न पुनर्वस्तु प्रमाणपरिनिष्ठितम् । तदपि सर्वान्तैः परिवर्जितमवस्तु परपरिकल्पनामात्रादभिधीयते न पुनः प्रमाणसामर्थ्यात्, कस्यचिद्वस्तुन एव स्वद्रव्याद्यपेक्षालक्षणप्रक्रियाया विपर्ययादवस्तुत्वव्यवस्थितेः, स्वरूपसिद्धस्य घटस्य घटान्तररूपेणाघटत्ववत् कस्यचिद्वस्तुनो वस्त्वन्तररूपेणावस्तुत्वप्रतीतेः ।

५२३. ननु परस्परविरुद्धमिदमभिहितं वस्तुत्वेतरयोरन्योन्यपरिहारस्थितत्वात्, इति चेत्, भावव्यतिरेकवाचिभिरपि वाक्यतामापन्नैर्भावाभिधानात्रात्र किंचिद्विरुद्धम् । न ह्यब्राह्मणमानयेत्यादिशब्दैर्वाक्यत्वमुपगतैर्ब्राह्मणादिपदार्थाभाववाचिभिस्तदन्यक्षत्रियादिभावाभिधानमसिद्धं येनावस्त्वनभिलाष्यं स्यादिति शब्देन वाक्यतामुपगतेन वस्तुशून्यत्ववाचिना वस्त्वन्तराभिधानं विरुध्यते । अतः “सूक्तं यदवस्तु तदनभिलाष्यं यथा न किंचित् । यत्पुनरभिलाष्यं तद्वस्त्वेव यथा खपुष्पाभावः” इति । नात्र साध्यविकलमुदाहरणं खे

पुष्पाभावस्य स्वस्वरूपत्वात् । सुप्रतीतं हि लोके अन्यस्य कैवल्यमितरस्य वैकल्यं, स्वभावपरभावाभ्यां भावाभावव्यस्थितेर्भावस्य । न हि वस्तुनः सर्वथा भाव एव, स्वरूपेण भाव एव पररूपेणापि भावप्रसङ्गात् । नाप्यभाव एव, पररूपेणेव स्वरूपेणाप्यभावप्रसङ्गात् । न च स्वरूपेण भाव एव पररूपेणाभावः, परात्मना चाभाव एव स्वात्मना भाव इति वक्तुं युक्तं, तदपेक्षणीयनिमित्तभेदात् । स्वात्मानं हि निमित्तमपेक्ष्य भावप्रत्ययमुजनयति सर्वोर्थः, परात्मानं त्वपेक्ष्याभावप्रत्ययम् । इति एकत्वद्वित्वादिसंख्यावदेकत्र वस्तुनि भावाभावयोर्भेदो व्यवतिष्ठते । न ह्येकत्र द्रव्ये द्रव्यान्तरमपेक्ष्य द्वित्वादिसंख्या प्रकाशमाना स्वात्ममात्रापेक्षैकत्वसंख्यातो नन्या प्रतीयते । नापि सोभयी तद्वतो भिन्नैव, तस्यासंख्येयत्वप्रसङ्गात्, संख्यासमवायादपि तथात्वासिद्धेः, समवायस्य तदसंबन्धात् तस्य स्वसमवायिसंबन्धकल्पनायामप्यनवस्थानुषङ्गात्, कथंचित्तादात्म्यमन्तरेण समवायासंभवाच्च । तद्वन्न भावाभावौ वस्तुनोन्यावेव, निस्स्वभावत्वप्रसक्तेः । अथ सत्त्वासत्त्वाभ्यामन्यस्यापि वस्तुनो द्रव्यत्वादिस्वभावसद्भावात्र निःस्वभावत्वमिति मतं, तदप्यसाधीयः, द्रव्यत्वादद्रव्यत्वाभ्यामपि तस्यान्यत्वात् । ताभ्यामन्यत्वे कथंचिद्भावाभावाभ्यामप्यनन्यत्वसिद्धेः स्वभावपरभावाभ्यां वस्तुनो भावाभावव्यवस्थितिः किं न स्यात्, यतः खे पुष्पाभावोऽभिलाष्यो वस्त्वेव न भवेत् ? इति निरवद्यमुदाहरणम् ।

किं च क्षणिकैकान्तवादिनाम्—

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः ।

संवृतिश्चेन्मृषैवैषां परमार्थविपर्ययात् ॥ ४९ ॥

५६०. परेषां सर्वे धर्मा यद्यवक्तव्या एव तदा तेषां किं पुनर्वचनं धर्मदेशनारूपं परार्थानुमानलक्षणं साधनदूषणवचनं वा ? न किंचित् स्यादिति मौनमेव शरणम् । यदि पुनः संवृतिरूपं वचनमुपगम्यते तदापि मृषैव संवृतिरेषाभ्युपगन्तव्या, परमार्थविपर्ययरूपत्वात्तस्याः । इति तत्त्वतः किं वचनं स्यात् ? पुनरप्यवक्तव्यवादिनं पर्यनुयुञ्जहे, सर्वे धर्मा यदि वागोचरातीताः कथमिमेऽभिलप्यन्ते ? इति, स्ववचनविरोधानुषङ्गात् सर्वदा मौनव्रतिकोहमिति प्रतिपादयते इव परान् । संवृत्या चेत्सर्वे धर्मा इत्यवक्तव्या इति चाभिलप्यन्ते भवद्भिर्न विकल्पानुपपत्तेः । संवृत्येति हि स्वरूपेण पररूपेणोभयरूपेण वा तत्त्वेन मृषात्वेनेति विकल्पेषु नोपपद्यते । तत्र संवृत्या वक्तव्या इति स्वरूपेण चेत्कथमनभिलाष्याः ? स्वरूपेणाभिलाष्यानामनभिलाष्यत्वविरोधात् । पररूपेण चेत् स तेषां स्वरूपं स्याद्येनाभिलाष्याः । केवलं वाचः स्वलनं गम्येत गोत्रस्वलनवत् स्वरूपेणेति वक्तव्ये पररूपेणेति वचनात्, विशेषरूपवत् सामान्यरूपस्यापि वक्तव्यतयाङ्गीक्रियमाणस्य स्वरूपत्वात्, तस्यास्वरूपत्वे विशेषरूपस्याप्यस्वरूपत्वापत्तेः, स्वयं निःस्वरूपत्वप्रसङ्गात् । उभयपक्षेषु उभयदोषानुषङ्गः । तत्त्वेन चेत्कथमवक्तव्याः ? केवलं वचः स्वलनं गम्येत, तत्त्वेन वक्तव्या इति वचने प्रस्तुते संवृत्या वक्तव्या इति वचनप्रवृत्तेः । मृषात्वेन चेत्कथमुक्ताः ? सर्वथा मृषोक्तानामनुक्तसमत्वात् । तदलमप्रतिष्ठितमिथ्या-विकल्पौघैः, सर्वथानभिलाष्यानां सर्वधर्माणामनभिलाष्या इति वचनेनाप्यभिलाष्यत्वासंभवात्तथा परप्रत्यायनायोगात् ।

किं चेदं तत्त्वम्—

अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात्किमबोधतः ।

आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्याजेनोच्यतां स्फुटम् ॥ ५० ॥

५२५. अर्थस्यानभिलाष्यत्वमभावाद्भुक्तुरशक्तेरनवबोधाद्वा ? प्रकारान्तरासंभवात् । ननु च मौनव्रतात्प्रयोजनाभावाद्भयाल्लज्जादेर्वाऽनभिलाष्यत्वसिद्धेः कथं प्रकारान्तरासंभव इति चेन्न, मौनव्रतादीनामशक्यत्वेऽन्तर्भावात् तेषां करणव्यापाराशक्तिनिमित्तत्वाच्च । न चैवमनवबोधस्ततः प्रकारान्तरं न स्यात्, तत्त्वावबोधे सति करणव्यापाराशक्तावप्यन्तर्जल्पसंभवात् । तत्त्वावबोधाभावेऽपि च करणव्यापाराशक्तिसिद्धावात् । अनवबोधाशक्यत्वयोरिह बुद्धिकरणपाटवापेक्षत्वात् प्रकारान्तरत्वमेव । न च सर्वत्र तदभावो युक्तः, कस्यचित्त्वचचिदवबोधसिद्धावात्, सुगतस्य प्रज्ञापारमितत्वात् क्षमामैत्रीध्यानदानवीर्यशीलप्रज्ञाकरुणोपायप्रमोदलक्षणदशबलत्वोपगमाच्च कस्यचिदेव करणापाटवात् । तदनेनाशक्यत्वानवबोधवचनलक्षणस्याद्यन्तोक्तिद्वयस्यासंभवो व्याख्यातः । सामर्थ्यादर्थस्याभावादेवावाच्यत्वमिति किं व्याजेनावक्तव्यं तत्त्वमिति वचनरूपेण ? स्फुटमभिधायतां सर्वथार्थाभाव इति, तथा वचने वञ्चकत्वायोगादन्यथानाप्तत्वप्रसक्तेः । ततो नैरात्म्यान्न विशेष्येत मध्यमपक्षावलम्बनात् । को ह्यत्र विशेषोर्थस्याभावादवाच्यत्वं नैरात्म्यमिति च ? अशक्यसमयत्वादनभिलाष्यमर्थरूपमिति चेन्न, कथंचिच्छक्यसंकेतत्वाद् । दृश्यविकल्पस्वभावत्वात्परमार्थस्य प्रतिभासभेदेपीत्युक्तम् । न हि दृश्यस्वभाव एव परमार्थो न पुनर्विकल्पस्वभावः सामान्यं, विशेषवत्सामान्यस्यापि वस्तुरूपत्वसाधनात्, अन्यथा प्रतीत्यभावात्, सामान्यविशेषात्मनो जात्यन्तरस्य प्रत्यक्षादौ प्रतिभासनाच्च । न चैवं दृश्यलक्षणेषु सङ्केतकरणाशक्तावपि विकल्पे सामान्ये क्वचिदशक्यसङ्केतत्वं येनाशक्यसमयत्वादनभिलाष्यमर्थस्वरूपं भवेत्, कथंचिच्छक्यसङ्केतत्वसिद्धेः ।

५२६. स्यान्मतम्, सङ्केतितार्थस्य शब्दविषयस्य व्यवहारकालेननुगमनाद्विषयिणः शब्दस्य न तद्वाचकत्वमन्यथातिप्रसङ्गात्, इति, तदेतद्विषयविषयिणोर्भिन्नकालत्वं प्रत्यक्षेऽपि समानं, शब्दविकल्पकालवत् प्रत्यक्षप्रतिभासकालेऽपि विषयस्यासंभवात्, संभवे वा क्षणिकत्वविरोधात्, वेद्यवेदकयोः समानसमयत्वप्रसङ्गाच्च । अर्थं भिन्नकालत्वेऽपि विषयात् प्रत्यक्षस्याविपरीतप्रतिपत्तिः, अन्यत्रापि सांस्त्येव । न हि शब्दादर्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानो विपरीतं प्रतिपद्यते प्रत्यक्षादिव प्रतिपत्ता, येन दर्शने एवाविपरीतप्रतिपत्तिर्भवति न पुनः शाब्देपीति बुद्ध्यामहे । क्वचिद्विकल्पे विपरीतप्रतिपत्तिमुपलभ्य सर्वत्र विपरीतप्रतिपत्तिकल्पनायां क्वचिद्दर्शनेऽपि विपरीतप्रतिपत्तिं समीक्ष्य सर्वत्र तत्कल्पनास्तु, विशेषाभावात् । दर्शनविकल्पयोः परमार्थकतानत्वाभावे न किंचित्सिद्धम् । दृष्टस्यानिर्णयाददृष्टकल्पनादनर्णयस्य प्रधानादिविकल्पाविशेषात् कुतो दर्शनस्य कल्पनापोढस्यापि परमार्थकतानत्वम् ? न हि दृष्टे स्वलक्षणे निर्णयः संभवति, तस्य तदविषयत्वात् । अदृष्टे तु सामान्यलक्षणे निर्णयः प्रवर्तमानो न प्रधानादिविकल्पाद्विशेष्यते । इति सकलप्रमाणाभावात्प्रमेयाभावसिद्धेरवक्तव्यतैकान्तवादिनां नैरात्म्यमेवायातं, सर्वथाप्यशक्यसमयत्वेनाप्यशक्यत्वपक्षस्यासंभवादनवबोधपक्षवदभावपक्षस्यैव निर्व्याजत्वसिद्धेः । ततः क्षणक्षयैकान्तपक्षे कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गः । स चोपहासास्पदमेव स्यात् ।

तथा हि—

हिनस्त्यनभिसंन्यात् न हिनस्त्यभिसंधिमत् ।

बध्यते तद् द्वापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥ ५१ ॥

५२७. हिंसाभिसंधिमच्चित्तं न हिनस्त्येव प्राणिनम्, तस्य निरन्वयनाशात् संतानस्य^{५२३} वासनायाश्चासंभवात्^{५२४}। अनभिसन्धि^{५२५}मदेवोत्तरं चित्तं हिनस्ति। तत एव हिंसाभिसन्धि^{५२६}हिंसाचित्तद्वयादपेतं चित्तं बध्यते। यच्च बद्धं तत्र मुच्यते, ततोन्वयस्य मुक्तेः।^{५२७} इति कोन्यः प्रकाशयेन्निरन्वयात् तस्यैवम्^{५२८}? संतानादेरयोगादितिकर्तव्यतासु चिकीर्षोर्विनाशात्^{५२९} कर्तुरचिकीर्षुत्वात्^{५३०} तदुभयविनिर्मुक्तस्य^{५३१} बन्धात्तदविनिर्मुक्तेश्च यमनियमादेरविधेयत्वम्, कुर्वतो वा यत्किञ्चनकारित्वं प्रत्येतव्यम्^{५३२}। न चैवमनेकान्तवादिनः प्रतिक्षणं परिणामान्यत्वेपि जीवद्रव्यस्यान्वयात् चिकीर्षेरिवेतिकर्तव्यतासु कर्तव्यतासु कर्तृत्वात्कर्तुरिव च कर्मबन्धात् बद्धस्यैव विनिर्मुक्तेः, सर्वथा विरोधाभावात्। क्षणिकवादिनामपि संतानस्यैकत्वात्पूर्वपूर्ववासनोहितोत्तरोत्तरचित्तविशेषस्योत्पत्तेरनुपालम्भ इति चेन्न, संतानस्यावास्तवत्वाद्वास्यवासकभावस्याप्यसंभवादव्यभिचारी, कार्यकारणभावस्यापि तन्नियमहेतुत्वायोगात्, सुगतैतरेतरेचित्तसंतानेष्वपि भावादिति निरूपितत्वात्।

किञ्च क्षणिकैकान्तवादिनाम्—

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः।

चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो नाष्टाङ्गहेतुकः॥ ५२॥

५२८. सर्वथाप्यहेतुं विनाशमभ्युपगम्य कस्यचिद्यदि हिंसकत्वं ब्रूयात् कथमविकलवः? तथा निर्वाणं संतानसमूलतलप्रहाणलक्षणं सम्यक्त्वसंज्ञासंज्ञिवाक्कायकर्मान्तव्यायामाजीवस्मृतिसमाधिलक्षणाष्टाङ्गहेतुकं यदि ब्रूयान्तदापि कथं स्वस्थः? तयोरहेतुकविनाशाभ्युपगमहिंसकत्वयोरष्टाङ्गहेतुकत्वनिर्वाणवचनयोश्चान्योन्यविप्रतिषेधात् सुगतस्य सर्वज्ञत्वेतरवत्।

विरूपपकार्यारम्भाय यदि हेतुसमागमः।

आश्रयिभ्यामनन्योसावविशेषादयुक्तवत्॥ ५३॥

५२९. विसदृशरूपं विरूपं कार्यम्। तदारम्भाय हिंसाहेतोर्वधकस्य मोक्षहेतोःष्टाष्टाङ्गस्य सम्यक्त्वादेः समागमो व्यापारो यदि ताथागतैरिष्यते तदासौ हेतुसमागम एवाश्रयो नाशोत्पादयोः कारणत्वात्। स चाश्रयिभ्यां कार्यरूपाभ्यां नाशोत्पादाभ्यामनन्य एव, न पुनर्भिन्नः, तयोरविशेषादयुक्तवत्। यथैव हि शिंशपात्ववृक्षत्वयोश्चिन्नज्ञाननीलादिनिर्भासयोर्वा तादात्म्यमापन्नयोरयुक्तयोः कारणसन्निपातो न भिन्नः संभवत्येककारणकलापादेवात्मलाभादन्यथा तादात्म्यविरोधात्, तथैव पूर्वाकारविनाशोत्तराकारोत्पादयोरपि नीरूपस्य विनाशस्यानिष्टेरुत्तरोत्पादरूपत्वाभ्युपगमात् तयोर्भिन्नकारणत्वे तद्विरोधान्मतान्तरप्रवेशानुषङ्गाच्च।

५३०. सोयं विसदृशकार्योत्पादहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावात् पूर्वाकारविनाशस्याहेतुकत्वमुपपन्ननाशहेतुव्यतिरिक्तहेत्वभावादुत्तरोत्पादस्याहेतुकत्वं नानुमन्यते, इति कथमनाकुलः? विसंभागसंतानोत्पादनाय हेतुसन्निधिर्न प्रध्वंसाय, पूर्वस्य स्वरसतो निवृत्तेरिति चेत्, स पुनरुत्तरोत्पादः स्वरसतः किन्न स्यात्? तद्धेतोरप्यकिञ्चित्करत्वसमर्थनाद्विनाशहेतुवत्। स्वरसतोत्पन्नमपि तदनन्तरभावित्वात्तेन व्यपदिश्यते इति चेदितरत्र समानम्। कार्यक्षणवत्पूर्वक्षणप्रध्वंसस्यापि हेत्वनन्तरभावित्वाविशेषात्तेन व्यपदेशोऽस्तु, न वा कार्यस्यापीत्यविशेषः। परमार्थतस्तदहेतुकत्वे प्रतिपन्नभिप्रायविशेषेपि स्वतः प्रहाणवादी न

शक्नोत्यात्मानं न्यायमार्गमनुकारयितुम्, तथा वदतस्तस्य न्यायातिक्रमात् । न च निरन्वयविनाशवादिनः सभागविसभागविवेकः श्रेयान्, सर्वदा विरूपकार्यत्वात् कारणस्य कथंचिदन्वयोपाये सभागप्रत्ययायोगात् । सभागविसभागवत्कृतिं प्रतिपत्रभिप्रायवशात्समनुगच्छन् सहेतुकं विनाशं ततः किं नानुजानीयात् ? न च समनन्तरक्षणयोर्नाशोत्पादौ पृथग्भूतौ मिथः स्वाश्रयतो वा यौ समं सहेतुकेतरौ स्तां, प्रतिपत्त्यभिधानभेदेऽपि ग्राह्यग्राहकाकारवत्, स्वभावप्रतिबन्धात् । न हि तयोर्मिथः कार्यकारणभावः प्रतिबन्धः, समसमयत्वात् “नाशोत्पादो समं यद्वन्नामोत्रामौ तुलान्तयोः” इति वचनात् । नापि स्वाश्रयेण सह कार्यकारणभावः, समनन्तरस्वलक्षणक्षणाभ्यां नाशोत्पादयोरर्थान्तरत्वप्रसङ्गात् । तयोस्तद्धर्मत्वाद्विशेषणविशेष्यभावः सम्बन्ध इति चेन्न, वैशेषिकमतसिद्धेः । कल्पनारोपितत्वात्तयोर्न तत्सिद्धिरिति चेत्तर्हि पूर्वक्षणविनाशोनन्तरक्षणस्वभावस्तदुत्पादश्चेति सिद्धः स्वभावप्रतिबन्धः । न चैवं प्रतिपत्त्यभिधानभेदो विरुध्यते, संविदि ग्राह्यग्राहकाकारयोरपि तद्विरोधप्रसङ्गात् । ततस्तद्वत्तयोरभेद एव । संज्ञाच्छन्दमतिस्मृत्यादिवत् सत्यपि भेदे समकालभाविनोः कथं सहकारी पुनरन्यतरस्यैव हेतुरहेतुर्वा स्यात्, कार्यरूपादेरिव कारणम् । संज्ञा हि प्रत्यभिज्ञा, छन्द इच्छा । तेनादिशब्दस्योभयत्र संबन्धान्निर्दर्शनद्वयं वादिद्वयोपेक्षयोच्यते । संज्ञा छन्दादिवन्मतिस्मृत्यादिवच्च क्रमभाविनोर्नाशोत्पादयोः सत्यपि भेदे समकालभाविनोस्तयोर्घटकपालाश्रययोरिव सहकारी मुद्रादिः कथं कपालोत्पादस्यैव हेतुर्न पुनर्घटविनाशस्य, तस्यैव वासौ हेतुर्न तु कपालोत्पादस्य स्यात् ? कार्यरूपादिस्तबकस्यैकसामग्र्यधीनस्य कारणरूपादिस्तबकवत् । यतश्चैवं तस्मात्कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ न सहेतुकाहेतुकौ सहभावाद्रसादिवत् । न हि कारणरसादिकलापः कार्यस्य रसस्यैव हेतुर्न पुनारूपादेरिति प्रतीतिरस्ति, यतः साध्यशून्यो दृष्टान्तः स्यात् । नाप्यसहभावो रसादीनां, येन साधनविकलः । पुरुषधिषणाभ्यामनेकान्त इति चेन्न, सौगतानां पुरुषासिद्धेः । स्याद्वादिनां तु तस्यापि सहेतुकत्वात् पर्यायार्थतो धिषणावत्, द्रव्यार्थतो हेतुकत्वाच्च धिषणायां पुरुषवन्न ताभ्यां हेतोः व्यभिचारिता, कारणानन्तरं सहभावात् । इति प्रकरणसामर्थ्यात्सविशेषणस्य सहभावस्य हेतुत्वाद्वा न व्यभिचारः स्यात् । न चैवमसिद्धं साधनं, मुद्रादिव्यापारानन्तरं कार्योत्पादवत् कारणविनाशस्यापि प्रतीतेः, विनष्टो घट उत्पन्नानि कपालानीति व्यवहारद्वयसद्भावात् । ततः कार्योत्पादवत् कारणविनाशः सहेतुक एवाभ्युपेयः ।

५३१. ननु हेतोर्न तस्य किंचिद्भवति, न भवत्येव केवलमिति चेत्तर्हि कारणात्कार्यस्य न किंचिद्भवति, भवत्येव केवलमिति समानं विनाशवदुत्पादस्यापि निहेतुकत्वापत्तेः । तस्मादयं विनाशहेतुर्भावमभावीकरोतीति न पुनरकिंचित्करः । कार्योत्पत्तिहेतुर्वा यद्यभावं न भावीकुर्याद् भावं करोतीति कृतस्य करणायोगादकिंचित्करः स्यात्, सर्वथा भावं भावीकुर्वतो व्यापारवैफल्यात् । तदतत्करणादिविकल्पसंहतिरुभयत्र सदृशी । यथैव हि विनाशहेतोः कुटस्य तदभिन्नविनाशकरणे तत्करणादकिंचित्करत्वम्, तदभिन्नविनाशकरणे च तदुपलम्भप्रसक्तिः, तथोत्पादहेतोर्भावादभिन्नोत्पादकरणेऽप्यकिंचित्करता, सतः करणायोगात् । सर्वथाप्यसतो भावादभिन्नस्योत्पादस्य करणेऽपि न किंचित् कृतं स्यात् खपुष्पसौरभवत् । सतोऽसतो वार्थन्तरस्य जन्मनः करणे तु न सदसद्भावात् कृतं स्यात् । एतेन प्रागसतोन्तर्धान्तरस्थान्तरस्य चोत्पादस्य हेतुना करणे तस्याकिंचित्करत्वमुपदर्शितं प्रतिपत्तव्यं, प्रागसतोन्तर्धान्तरस्थान्तरस्य

सत्त्वायोगात्, ततोऽन्यस्य^{१३६} सत एव करणे वैफल्यात् । ततो यदि न विनाशार्थो^{१३७} हेतुसमागमस्तदोत्पादार्थोपि मा भूत्, सर्वथा विशेषाभावात् ।

५३२. किं च क्षणिकैकान्तवादिनां परमाणवः क्षणा उत्पद्यन्ते स्कन्धसन्ततयो वा ? प्रथमपक्षे स्थाप्यस्थापकविनाशविनाशकभाववद्धेतुफलभावविरोधात्कुतः सहेतुकोत्पत्तिरहेतुका वा ? स्थितिविनाशवत् ।

द्वितीयपक्षे तु—

स्कन्धाः सन्ततयश्चैव संवृतित्वादसंस्कृताः ।

स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः खरविषाणवत् ॥ ५४ ॥

५१९. साध्याभावासंभूणुताविरहाद्धेतोरन्यथानुपपत्तिर्निश्चितेति न मन्तव्यम्, साध्याभावे तदभावप्रसिद्धेः सौगतस्य । तथा हि—रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्कारस्कन्धसंततयोऽसंस्कृताः संवृतित्वात्, यत्पुनः संस्कृतं तत् परमार्थसत्, यथा स्वलक्षणं, न तथा स्कन्धसंततयः, इति साध्यव्यावृत्तौ हेतोर्व्यावृत्तिनिश्चयात् । खरविषाणादौ संवृतत्वस्यासंस्कृतत्वेन व्याप्तस्य प्रतिपत्तेः सिद्धान्यथानुपपत्तिः । ततः स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिताः प्रतिपाद्यन्ते । तथा हि—स्कन्धसंततयः स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहिता एवासंस्कृतत्वात् खरविषाणवत् । क्षणस्थित्युत्पत्तिविपत्तिसहितस्य स्वलक्षणस्य संस्कृतत्वोपगमादन्यथानुपपत्तिसिद्धिः साधनस्य प्रत्येया । स्याद्वादिनामपि स्थित्युत्पत्तिविपत्तिमतेः कथंचित् संस्कृतत्वसिद्धेर्न व्यभिचारः । सर्वथास्थितिमतोऽसंस्कृतस्य च कस्यचिद्वस्तुनोनुपपत्तेश्च निरवद्योयं हेतुः । ततो विसर्गसंतानोत्पत्तये विनाशहेतुरिति पोप्लूयते, रूपादिस्कन्धसंततैरुत्पत्तिनिषेधात् तद्विनाशस्यापि खरविषाणवदसंभवात् । तथा हि—स्कन्धसंततयो विनाशरहिताः स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् । यत् पुनर्विनाशसहितं तन्न स्थित्युत्पत्तिरहितम्, यथा स्वलक्षणम् । न तथा स्कन्धसंततयः । इति स्थित्युत्पत्तिव्यया न स्युस्तेषां स्कन्धानां खरविषाणवत् । तदभावे विरूपकार्यारम्भाय हेतुसमागम इति कथन्न सुतरां प्लवते ? ततो न क्षणिकैकान्तः श्रेयान्नित्यैकान्तवत्, सर्वथा विचारासहत्वात् ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेष्वुक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ५५ ॥

५३४. नित्यत्वेतरैकान्तद्वयमप्ययुक्तमङ्गीकर्तुम्, विरोधात्, युगपज्जीवितमरणवत् । तादात्म्ये हि नित्यत्वानित्यत्वयोर्नित्यत्वमेव स्यादनित्यत्वमेव वा । तथा च नोभयैकात्म्यम्, विप्रतिषेधात् । नित्यत्वानित्यत्वाभ्यामत एवानभिलाष्यमित्ययुक्तं, तदेकान्तेऽनभिलाष्योक्तेरनुपपत्तेः, सर्वथानभिलाष्यं तत्त्वमित्यभिलपत एव स्ववचनविरोधात्, सदा मौनव्रतिकोहमित्यादिवत् ।

५३५. तदेवं नित्यत्वाद्येकान्तानुपपत्तौ सामर्थ्यात्तदेकान्तसिद्धिप्रतिपादनेपि तत्त्वोपप्लववाददुराशय-विनाशनाय तत्प्रतिपत्तिदार्ढ्याय च स्याद्वादवादन्यायानुसरणेन नित्यत्वाद्येकान्तमुपदर्शयन्ति सूरयः—

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानात्राकस्मात्तदविच्छिदा^{१०१} ।

क्षणिकं^{१००} कालभेदात्ते^{१०१} बुद्ध्यसंचरदोषतः ॥ ५६ ॥

५३६. ते भगवतोर्हतः स्याद्वादन्यायनायकस्य सर्व जीवादितत्त्वं स्यान्नित्यमेव प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । नाकस्मात्तत्प्रत्यभिज्ञानं तस्याविच्छेदेनानुभवात् । निर्विषयं हि प्रत्यभिज्ञानमकस्मादिति प्रसिद्धम् । यथा तादृशे तदेवेदमिति, तत्रैव वा तादृशमिदमिति भ्रान्तं प्रत्यभिज्ञानम् । न चैवं जीवादितत्त्वे प्रत्यभिज्ञानं, बाधकाभावात्तदविच्छेदात् । प्रत्यक्षं बाधकमिति चेन्न, तस्य वर्तमानपर्यायात्मकवस्तुविषयत्वात्, पूर्वापरपर्यायव्याप्येकत्वलक्षणे प्रत्यभिज्ञानविषये प्रवृत्त्यभावात् । न च स्वस्याविषये किञ्चिद्बाधकं साधकं वा श्रोत्रज्ञानविषये चक्षुर्ज्ञानवत् । तत एव नानुमानं, तस्यान्यापहोमात्रगोचरत्वात्तत्रैव साधकबाधकत्वोपपत्तेः । प्रमाणान्तरं तु नानुमानादप्रत्यक्षमिष्यते क्षणिकवादिभिर्नित्यप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं स्यात् । इति सत्यप्रत्यभिज्ञानमेव वितथप्रत्यभिज्ञानस्य बाधकं । सादृश्यप्रत्यभिज्ञानं सम्यगेवास्य जीवादावेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यानाद्यविद्योदयापादितस्य भ्रान्तस्य बाधकमिति चेन्न, अस्य भ्रान्तत्वासिद्धेः, सदृशापरापरोत्पत्त्यनिश्चयात् ।

५३७. ननु च यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमक्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेरित्यनुमानान्नि-
रन्वयविनाशित्वसिद्धेर्जीवादिक्षणानामेकत्वासंभवात् सादृश्यप्रत्यभिज्ञानविषयत्वोपपत्तेर्भ्रान्तमेव तत्रैकत्वप्रत्यभिज्ञानं
सिद्धमविसंवादाभावादिति चेन्न, अस्यानुमानस्य विरुद्धत्वात् । तथा हि—यत्सत् तत्सर्वं कथंचिन्नित्यं, सर्वथा
क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्सत्त्वानुपपत्तेरिति । अत्र न तावद्धेतोरनैकान्तिकत्वं, सर्वथा नित्यत्वे
सत्त्वस्याभावात्, सर्वथा क्षणिकत्ववत् । तदभावश्च क्रमाक्रमानुपपत्तेः । तदनुपपत्तिश्च
पूर्वापरस्वभावत्यागोपादानान्वितरूपाभावात् सकृदनेकशक्त्यात्मकत्वाभावाच्च । न हि कूटस्थेऽर्थे
पूर्वोत्तरस्वभावत्यागोपादाने स्तः, क्षणिके वान्वितं रूपमस्ति, यतः क्रमः कालकृतो देशकृतो वा स्यात् । नापि
युगपदनेकस्वभावत्वं, यतो यौगपद्यम्, कौटस्थ्यविरोधान्निरन्वयक्षणिकत्वव्याघाताच्च । सहकारिक्रमाक्रमापेक्षया
तत्र क्रमयौगपद्यकल्पनापि स्वयं तदपेक्षा न साधीयसी, क्रमेतरस्वभावत्वाभावे तदनुपपत्तेः । तत्कार्याणां तदपेक्षा,
न पुनर्नित्यस्य क्षणिकस्य वेत्यपि न श्रेयः, तेषां तदकार्यत्वप्रसङ्गात् । तत्सहितेभ्यः सहकारिभ्यः
कार्याणामुत्पत्तेरन्यथानुपपत्तेस्तत्कार्यत्वनिर्णय इति चेत्तर्हि येन स्वभावेनैकेन सहकारिणा सहभावस्तेनैव
सर्वसहकारिणा यदि तस्य स्यात्तदैककार्यकरणे सर्वकार्यकरणाक्रमकार्यानुपपत्तिः, सहकार्यन्तराभावेपि च
तत्सहभावात्सकृदेव सकलकार्योत्पत्तिः प्रसज्येत । स्वभावान्तरैः सहकार्यान्तरसहभावे तस्य
क्रमाक्रमवृत्त्यनेकस्वभावत्वसिद्धेः कुतो नित्यमेकस्वभावं क्षणिकं वा वस्तु क्रमयौगपद्ययोर्व्यापकं स्यात् ?
कथंचिन्नित्यस्यैव क्रमाक्रमानेकस्वभावस्य तद्व्यापकत्वप्रतीतेः ।

५३८. एतेन विपक्षे हेतोर्बाधकस्य व्यापकानुपलम्भस्य व्यतिरेकनिश्चयः कथंचिन्नित्ये प्रत्यक्षप्रवृत्तेः
प्रदर्शितः प्रत्ययः । ततः सत्त्वं कथंचिन्नित्यमेव साधयतीति विरुद्धत्वात् प्रत्यभिज्ञानविषयस्यैकत्वस्यापहारकम्,
येन सादृश्यविषयत्वात्तस्य बाधकं सिद्ध्यद् भ्रान्तां साधयेत् ।

५३९. ननु चेदं प्रत्यभिज्ञानं नैकं प्रमाणं, तदित्युल्लेखस्य प्रत्ययस्य स्मरणत्वादिदमित्युल्लेखस्य च
प्रत्यक्षत्वात् । न चैताभ्यां प्रत्ययविशेषाभ्यामतीतवर्तमानविशेषमात्रगोचराभ्यामन्यत् संवेदनमेकत्वपरामर्शि

समनुभूयते, यत्प्रत्यभिज्ञानं नाम प्रमाणं स्यान्नित्यत्वस्य साधकम् । अतः स्वरूपासिद्धौ हेतुरिति कश्चित्, सोऽपि प्रतीत्यपलापी, पूर्वोत्तरविवर्तस्मरणदर्शनाभ्यामुपजनितस्य तदेकत्वं संकलनज्ञानस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेन संवेद्यमानस्य सुप्रतीतत्वात् । न हि स्मरणमेव पूर्वोत्तरविवर्तयोरेकत्वं संकलयितुमलम् । नापि दर्शनमेव । तदुभयसंस्कारजनितं विकल्पज्ञानं तत् संकलयतीति चेत् तदेव प्रत्यभिज्ञानं सिद्धम् । न च तदकस्मादेव भवतीति निर्विषयं, बुद्ध्यसंचरणदोषात् । न हि प्रत्यभिज्ञानविषयास्यविच्छिन्नस्य नित्यत्वस्याभावे बुद्धेः संचरणं नाम, निरन्वयविनाशाद्बुद्ध्यन्तरजननानुपपत्तेः, यदेवाहमद्राक्षं तदेव स्पृशामीति पूर्वोत्तरपरिणामयोरेकद्रव्यात्मकत्वेन गमनासंभवात्, ततोऽन्यस्य बुद्धिसंचरणस्येहाप्रस्तुतत्वात् । तथाविधैकत्ववासनावशाद्बुद्धिसंचरणं न पुनः कथंचिन्नित्यत्वादिति चेन्न, कथंचिन्नित्यत्वाभावे संवेदनयोर्वास्यवासकभावायोगात्कार्यकारणभावविरोधात् । ततो बुद्धिसंचरणान्यथानुपपत्तेर्नाकस्मिकं प्रत्यभिज्ञानं विच्छेदाभावाच्च । इति कथंचिन्नित्यं वस्तु प्रसाधयति । तथा सर्व जीवादि वस्तु कथंचित् क्षणिकं, प्रत्यभिज्ञानात् । न चैतत् क्षणिकत्वमन्तरेण भवतीत्यकस्मादुपजायते, तद्विषयस्य कथंचित्क्षणिकस्य विच्छेदभावात् । न च तदविच्छेदसिद्धा, कालभेदात्, कालभेदस्य च पूर्वोत्तरपर्यायप्रवृत्तिहेतोरसिद्धौ बुद्ध्यसंचरणदोषात् । न च तदिदमिति स्मरणदर्शनबुद्ध्योः संचरणापाये प्रत्यभिज्ञानमुदियात्, तस्य पूर्वापरपर्यायबुद्धिसंचरणनिबन्धनत्वात् ।

५४०. ननु च सर्वं नित्यं सत्त्वात् क्षणिके स्वसदसत्समयेऽर्थक्रियानुपपत्तेः सत्त्वविरोधात्, इत्यनुमानात् क्षणिकत्वस्य निराकृतेर्न प्रत्यभिज्ञानं तत्साधकं, प्रधानलक्षणविषयाविच्छेदसद्भावात् कालभेदासिद्धेर्बुद्ध्यसंचरणदोषानवकाशाद्बुद्धेरेकत्वगमनस्य संचरणस्य सिद्धेरिति चेन्न, सर्वथाक्षणिकत्वस्यैव बाधनात्, कथंचित्क्षणिकस्य स्वसत्समये स्वासत्समये चार्थक्रियोपलब्धेः । सुवर्णस्य हि प्रतिविशिष्टस्य सुवर्णद्रव्यतया सत एव, कार्याकारतया चासत एव पूर्वपर्यायाविशिष्टयोत्तरपरिणामविशेषात्मनोत्पद्यमानस्य प्रतीतिः परीक्षकेतरजनसाक्षिका, स्वसत्समये कार्यकरणं सव्यगोविषाणस्येतरविषाणकरणवन्निरस्यमानं, स्वासत्समये च मृतस्य शिखिनः केकायितकरणवदपाक्रियमाणं स्वयमेव व्यवस्थापयति । इति किं नश्चिन्तया, विरोधादिदूषणस्यापि तथैवापसारितत्वात् । सोयमात्मादीनां स्वसत्समये एव कर्मादीनां च स्वासत्समये एव ज्ञानसंयोगादिकारणत्वमनुमन्यमानस्तथा संप्रत्ययादेकस्य स्वसदसत्समये एवैककार्यकरणं विरोधादिभिरभिद्वयतीति कथं संप्रत्ययोपाध्यायः ? सम्यक् प्रतीयमानेऽपि विरोधमनुरुध्यमानः क्व पुनरविरोधं बुध्येत ? द्रव्यपर्याययोरभेदैकान्तप्रतीतिं स्वसमयानुरागमात्रेणाननुभूयमानामप्यविरुद्धविषयां परिभाषते इति किमन्यत्कारणं महतोऽभिनिवेशात् ? तदेव कथंचित् क्षणिकत्वसाधने प्रत्यभिज्ञानं नानुमानविरुद्धम् । नापि प्रत्यक्षविरुद्धम्, सर्वस्येदानीन्तनतया प्रत्यक्षेणानुभवात्, तेन तस्यातीतानागततयानुभवनेऽनाद्यनन्तपरिणामात्मकस्यानुभवप्रसङ्गाद्योगित्वापत्तेः, साम्प्रतिकतयानुभवस्यैव क्षणिकत्वानुभवरूपत्वात्, क्षणमात्रस्यैव साम्प्रतिकत्वोपपत्तेः, पूर्वोत्तरक्षणयोः साम्प्रतिकत्वेऽनाद्यनन्तक्षणसंततरेऽपि साम्प्रतिकत्वानुषङ्गादतीतानागतव्यवहारविलोपात् । न चैवं क्षणिकैकान्तस्य प्रत्यक्षतः प्रसिद्धेः कथंचिदक्षणिकत्वविरोधः, पर्यायाकारतयार्थस्येदानीन्तनतयानुभवविच्छेदेऽपि द्रव्यतया तदविच्छेदात्, तद्विच्छेदे द्रव्यत्वविरोधात् । शश्वदविच्छिन्नेदानीन्तनत्वस्य द्रव्यत्वादनित्यत्वैकान्तस्या-

व्यवस्थितेर्नित्यत्वैकान्तवत् । तदेकान्तद्वयेपि परामर्शप्रत्ययानुपपत्तेरनेकान्तः स्यान्नित्यमेव सर्वं स्यादनित्यमेवेति सिद्धः ।

५४१. स्थित्यभावे हि प्रमातुरन्येन दृष्टं नापरः प्रत्यभिज्ञातुमर्हति । पूर्वोत्तरप्रमातृक्षणयोः कार्यकारणभावलक्षणे सम्बन्धविशेषेपि पित्रेव दृष्टं पुत्रो न प्रत्यभिज्ञातुमर्हति । तयोरुपादानोपादेयत्वलक्षणः सन्नप्यतिशयः पृथक्त्वं न निराकरोति ।

पृथक्त्वे च पूर्वापरक्षणयोः प्रत्यवमर्शो न स्यात् । यदेव हि पृथक्त्वं तदेवान्यत्रापि प्रत्यवमर्शाभावनिबन्धनं, सर्वत्र तदविशेषात् । यदि पुनरेकसंततिपतितेषु प्रत्यवमर्शो न पुनर्नानासंततिपतितेषु पृथक्त्वाविशेषेपि वासनाविशेषसद्भावादिति मतं, तदा सैवैकसंततिः क्वचिदेव कुतः सिद्धा ? प्रत्यभिज्ञानादिति चेत्, तर्हि एकसंतत्या प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानबलाच्चैकसंततिरिति व्यक्तमितरेतराश्रयणमेतत् । न च पक्षान्तरे समान, स्थितेरनुभवात् । न ह्येकद्रव्यसिद्धे प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानाच्चैकद्रव्यासिद्धिः स्याद्वादिभिरिष्यते, येन तत्पक्षेपि परस्परश्रयणं, भेदज्ञानाद् भेदसिद्धिर्वदभेदज्ञानात् स्थितेरनुभवाभ्युपगमात् । तद्विभ्रमकल्पनायामुत्पादविनाशयोरनाश्वासः, तथानुभवनिर्णयानुपलब्ध्येर्यथा स्वलक्षणं परिगीयते । सोऽयं प्रतिक्षणमुत्पादविनाशौ सर्वथा स्थितिरहितौ सकृदप्यनिश्चिन्वन्नेव स्थित्यनुभवनिर्णयं विभ्रान्तं कल्पयतीति कथं न निरात्मक एव ? तत्रैतस्यात् स्वभावाविनिर्भागेपि न सकलन दर्शनक्षणान्तरवत् । न ह्येकस्मिन्दर्शनविषये क्षणे विनिर्भागेपि प्रत्यभिज्ञानमस्तीति । सत्यमेकान्ते एवायं दोषः, सर्वथा नित्ये पौर्वापर्यायोगात् प्रत्यभिज्ञानासंभवात् । ततः क्षणिकं कालभेदात् । न चायमसिद्धः, दर्शनप्रत्यभिज्ञानसमययोरभेदे तदुभयाभावप्रसङ्गात्, दर्शनसमयस्याभेदे तन्निर्णयानुपपत्तेः, प्रत्यभिज्ञानसमयस्याभेदे पूर्वापरपर्यायव्याप्येकद्रव्यप्रत्यवमर्शासंभवात् । ततो दर्शनकालोऽवग्रहेहावायधारणात्मकनिर्णयहेतुभिन्न एव, प्रत्यभिज्ञानकालश्च पुनस्तद्दर्शनस्मरणसंकलनहेतुरिति प्रतिपत्तव्यम् ।

५४२. किं च पक्षद्वयेपि ज्ञानासंचारानुषङ्गादनेकान्तसिद्धिः । न हि नित्यत्वैकान्तपक्षवत् क्षणिकैकान्तपक्षेपि ज्ञानसंचारोस्ति, तस्यानेकान्ते एव प्रतीतेः । केवलमपोद्धारकल्पनया कथंचिज्जात्यन्तरेपि वस्तुनि प्रत्यभिज्ञानादिनिबन्धने स्थित्यादयो व्यवस्थाप्येरन्, सर्वथा जात्यन्तरे तदपोद्धारकल्पनानुपपत्तेः स्थित्यादिस्वभावभेदव्यवस्थानाघटनात्, सर्वथा तदजात्यन्तरवत् । न च स्वभावभेदोपलम्भेपि नानात्वविरोधसङ्करानवस्थानुषङ्गश्चेतसि ग्राह्यग्राहकाकारवत् । न ह्येकस्य वस्तुनः सकृदनेकस्वभावोपलम्भे नानात्वप्रसङ्गः, संविद्वद्वेदकाकाराणां नानाज्ञानत्वप्रसङ्गात् । तेषामशक्यविवेचनत्वादेकज्ञानत्वे स्थिति-जन्मविनाशानामपि क्वचिदेकवस्तुत्वमस्तु, तदविशेषात् । क्वचिदेकत्र रूपरसादीनामप्यशक्यविवेचना-नामेकवस्तुत्वापत्तिर्नानिष्टकारिणी, तेषां नानावस्तुनिष्ठेः । न चात्माकाशादीनां देशाभेदेऽप्यशक्यविवेचनत्वं, तेषां परैकद्रव्यतादात्म्याभावात् । सत्तैकद्रव्यतादात्म्ये पुनरेकवस्तुत्वमिष्टमेव स्याद्वादिनाम् “एकं द्रव्यमनन्तपर्यायम्” इति वचनात् । ततो न वैयधिकरण्यम् । एतेनोभयदोषप्रसङ्गोऽपास्तो, वेद्याद्याकारात्मबोधवदुत्पादाद्यात्मवस्तुनो जात्यन्तरत्वात्, अचौरपारदारिकवच्चौरपारदारिकाभ्याम् । न चैवं विरोधप्रसङ्गः, तस्यानुपलम्भसाधना-देकत्रैकदा शीतोष्णस्पर्शवत्, स्थित्यादिषु चोपलम्भसद्भावादेकवस्तुन्येकदानुपलम्भासिद्धेः संविदि

वेद्याद्याकारवत् । एतेन संशयप्रसङ्गः प्रत्युक्तः, स्थित्याद्युपलम्भस्य चलनाभावात् । तत एव न संकरप्रसङ्गः, स्थित्यात्मन्युत्पादविनाशानुपलम्भादुत्पादविनाशयोश्च स्थित्यनुपलब्धेः । एकवस्तुनि युगपत्स्थित्याद्युपलम्भात्सङ्कर इति चेन्न, परस्परमसङ्करादुत्पादादीनाम् । तद्वति तु सङ्करो वस्तुलक्षणमेव । एतेन व्यतिकरप्रसङ्गो व्युदस्तः, स्थित्यादीनां परस्परगमनाभावात् संविदि वेद्याद्याकारवत् । तत एव नानवस्था, स्थित्यात्मनि जन्मविनाशानिष्टेर्जन्मात्मनि स्थितिविनाशानुपगमाद्विनाशे स्थितिजन्मानवकाशात् प्रत्येकं तेषां त्रयात्मकत्वानुपगमात् । न चैवमेकान्ताभ्युपगमादनेकान्ताभावः, सम्यगेकान्तस्यानेकान्तेन विरोधाभावात्, नयार्पणादेकान्तस्य प्रमाणार्पणादनेकान्तस्यैवोपदेशात् तथैव दृष्टेष्टाभ्यामविरुद्धस्य तस्य व्यवस्थितेः ।

५४३. केन पुनरात्मनाऽनुत्पादविनाशात्मकत्वात्स्थितिमात्रम् ? केन चात्मना विनाशोत्पादावेव ? कथं च तत् त्रयात्मकमेव वस्तु सिद्धम् ? इति भगवता पर्यनुयुक्ता इवाचार्याः प्राहुः—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।

व्येत्युदेति विशेषात्तै सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥

५४४. पूर्वोत्तरपरिणामयोः साधारणः स्वभावः सामान्यात्मा द्रव्यात्मा । तेन सर्वं वस्तु नोत्पद्यते न विनश्यति च, व्यक्तमन्वयदर्शनात् । लूनपुनर्जातनखादिष्वन्वयदर्शनेन व्यभिचार इति चेन्न, व्यक्तमिति विशेषणात्, प्रमाणेन बाध्यमानस्यैकत्वान्वयस्याव्यक्तत्वात् । न चात्रान्वयः प्रमाणविरुद्धः, सत्यप्रत्यभिज्ञानसिद्धत्वात् । ततोन्वितात्मना स्थितिरेव । तथा विनश्यत्युत्पद्यते च सर्वं वस्तु विशेषानुभवात् । भ्रान्तविशेषदर्शनेन शुक्ले शङ्खे पीताद्याकारज्ञानलक्षणेन व्यभिचार इति चेन्न, व्यक्तमिति विशेषणस्यानुवृत्तेः । न हि भ्रान्तं विशेषदर्शनं व्यक्तं येन तदपि पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकाराविनाशावि स्यात् । न च प्रकृते विशेषदर्शनमव्यक्तं बाधकाभावात् । नित्यैकान्तग्राहि प्रमाणं बाधकमिति चेन्न, तस्य निरस्तत्वात् । न चैवं भिन्नप्रत्ययविषयत्वादुत्पादविनाशमात्रं स्थितिमात्रं च पदार्थान्तरतयावतिष्ठते, तस्य वस्त्वेकदेशत्वात्रयप्रत्ययविषयत्वात् स्थित्यादित्रयस्य समुदितस्य वस्तुत्वव्यवस्थितेः, तस्य प्रमाणप्रत्ययगोचरत्वात्, सहैकत्रोदयादिसदिति प्रतिपादनात्, तथैव “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” (त० सू० ५/३०) इति सूत्रकारवचनात् । न चेदं युक्तिरहितं, तथा युक्तिसद्भावात्, चलाचलात्मकं वस्तु कृतकाकृतकात्मकत्वादिति । न चात्र हेतुरसिद्धः, पूर्वरूपत्यागाविनाशाविपररूपोत्पादस्यापेक्षितपरव्यापारत्वेन कृतकत्वसिद्धेः, सदा स्थासुस्वभावस्यानपेक्षितपरव्यापारत्वेनाकृतकत्वनिश्चयात् । न हि चेतनस्यान्यस्य वा सर्वथोत्पत्तिः, सदादिसामान्यस्वभावेन सत एवातिशयान्तरोपलम्भात्, घटवत् । कथंचिदुत्पादविगमात्मकत्वादित्यादि योज्यम् । नापि विनाश एव, तत एव, तद्वत् । न च स्थितिरेव, विशेषाकारेणोत्पादविनाशवद् एव सदादिसामान्येन स्थित्युपलम्भाद् द्रव्यघटवत् । इति हि पृथगुपपत्तियोज्यते । सदादिसामान्येन सतस्तन्त्वादर्घटाकारातिशयान्तरोपलम्भप्रसङ्ग इति चेन्न, स्वभावग्रहणात् । सदादिसामान्यं हि यत्स्वभावभूतं घटस्योपादानद्रव्यमसाधारणं तद्भावेन परिणमदुपलभ्यते । तनैव सतोतिशयान्तराधानं घटो यथा प्रतिविशिष्टघटयोग्यमृद्द्रव्यादिस्वरूपेण, न पुनः साधारणेन तन्त्वादिगतसदादिसामान्येन । नापि

साधारणासाधारणेन पार्थिवत्वादिसामान्येनाविशिष्टघटोपादानमृदादिसामान्येन वा प्राक्सतोतिशयान्तरोपलब्धिर्येन तन्त्वादेरपि घटपरिणतिप्रसङ्गः । नापि घटविनाशोत्तरकालमप्यसाधारणमृदादिसामान्यस्वभावेन सत्त्वाविशेषाद्घटोत्पत्तिः प्रसज्यते, तत्प्रागभावात्मकस्य सतस्तद्भावेनोत्पत्तिदर्शनात्, पश्चादभावात्मकस्य सतोपि तददर्शनात् । न चैवं प्रागसत एवोत्पत्तिनियमाद् घटस्य कथंचित्प्रागसत्त्वमयुक्तं, प्रागभावस्य भावस्वभावस्य पूर्वं व्यवस्थापनात् । तस्याभावस्वभावत्वे सव्येतरगोविषाणादीनां सहोत्पत्तिनियमवतामुपादानसंस्कारप्रसङ्गः, प्रागभावाविशेषात् । ततो यथा स्वोपादानात्सव्यविषाणस्योत्पत्तिस्तथा दक्षिणविषाणोपादानादपि तत्र तस्योत्पत्तेः प्रागभावसिद्धेः, यत्र यदा यस्य प्रागभावस्तत्र तदा तस्योत्पत्तिरिति नियमकल्पनाया अपि तत्र भावात् । स्वोपादानेतरनियमश्च कुतः स्यात् ? प्रागभावनियमादिति चेत्समानसमयजन्मनां स एव कुतः ? तदुत्पत्तिनियमादिति चेत् सोपि कुतः ? स्वोपादाननियमादिति चेत् स्वोपादानेतरनियमः कुतः स्यात् ? इत्यादि पुनरावर्तते इति चक्रकम् । सव्यविषाणस्योत्पत्तिरिति प्रत्ययविशेषादुत्पत्तिनियमोपि न श्रेयान्, कारकपक्षस्य विचारयितुमारब्धत्वात् । ज्ञापकपक्षे तु प्रागभावनियमोपि तत्प्रत्ययविशेषादेवेति नोत्पत्त्या प्रागभावावगतिः, प्रागभावादप्युत्पत्तिनियमनिश्चयप्रसक्तेरितरेतराश्रयस्य दुर्निवारत्वात् । ततो नोत्पत्तेः प्रागभावः कार्यस्याभावात्मकस्य भावस्वभावस्यैवाबाधितप्रतीतिविषयत्वात् प्रागभावाभावस्य कार्योत्पादरूपत्वात् । तथा हि—

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक् ।

न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥

५४५. उपादानस्य पूर्वाकारेण क्षयः कार्योत्पाद एव हेतोर्नियमात् । यस्तु ततोऽन्यस्तस्य न हेतोर्नियमो दृष्टो यथाऽनुपादानक्षयस्यानुपादेयोत्पादस्य च । नियमश्च हेतोरुपादानक्षयस्योपादेयोत्पादस्य च । तस्मादुपादानक्षय एवोपादेयोत्पादः । न तावदत्रासिद्धो हेतुः, कार्यकारणजन्मविनाशयोरेकहेतुकत्वनियमस्य सुप्रतीतत्वात्, तयोरन्यतरस्यैव सहेतुकत्वाहेतुकत्वनियमवचनस्य निरस्तत्वात् ।

५४६. ननुपादानघटविनाशस्य बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्राद्यभिधातादवयवक्रियोत्पत्तेरवयवविभागात्संयोग-विनाशादेव प्रतीतेरुपादेयकपालोत्पादस्य तु स्वारम्भकावयवकर्मसंयोगविशेषादेरेव संप्रत्ययात् तयोरेकस्माद्धेतोर्नियमासंभवादसिद्धमेव साधनमिति चेन्न, अस्य विनाशोत्पादकारणप्रक्रियोद्घोषणस्याप्रातीति-कत्वाद्बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्रादिव्यापारादेव घटविनाशकपालोत्पादयोरवलोकनात् । ततो घटावयवेषु कपालेषु क्रियैवोत्पन्नते इति चेत्सैवैको हेतुस्तयोरस्तु । क्रियातोवयवविभागस्यैवोत्पत्तिरिति चेत्स एवैकं कारणमनयोरस्तु । विभागात्तदवयवसंयोगविनाश एव दृश्यते इति चेत् स एव तयोरेकं निमित्तमस्तु । तदवयवसंयोगविनाशादवयविनो घटस्य इति चेत्स एव कपालानां तदवयवानां प्रादुर्भावः । इति कथं नैकहेतुनियमः सिध्येत् ? महास्कन्धावयवसंयोगविनाशादपि लघुस्कन्धोत्पत्तिदर्शनात् “भेदसंघातेभ्य उत्पद्यन्ते” (त०सू० ५.२६) इति वचनात् ।

५४७. मिथ्यैवेदं दर्शनं सूत्रकारवचनं च बाधकसद्भावादिति चेत्किं तद्बाधकं ? स्वपरिमाणा-दणुपरिमाणकारणारब्धानि कपालानि कार्यत्वात्पटवदित्यनुमानं बाधकमिति चेन्न, एतदुदाहरणस्य

साध्यविकलत्वात् । तन्तवो हि किमपटाकारपरिणताः पटस्य समवायिनः पटाकारपरिणता वा ? न तावदाद्यः पक्षः, पटाकारपरिणतेषु तन्तुष्विह पट इति प्रत्ययासंभवात् । द्वितीयपक्षे तु न पटपरिमाणादणुपरिमाणास्तन्तवः पटस्य कारणं, तेषां पटसमानपरिमाणतया प्रतीतेः, समुदितानामेवातानवितानाकाराणां पटपरिणामाश्रयत्वादन्वयातिप्रसङ्गात् । न हि तथाऽपरिणततस्तद्भवति “तद्भावः परिणामः” (त०सू० ५.४२) इति वचनात् । न चैवं परिणामपरिणामिनोरभेदः स्यात्, प्रत्ययभेदात्कथंचिद्भेदसिद्धेः, परस्यापि तद्भेदे विवादाभावात्, तन्तुद्रव्यपटपर्याययोरन्वयव्यतिरेकप्रत्ययविषयत्वाच्च । तन्तुद्रव्यं हि प्राच्यापटाकारपरित्यागेन तन्तुत्वापरित्यागेन चापूर्वपटाकारतया परिणमदुपलभ्यते, पटाकारस्तु पूर्वाकाराद् व्यतिरिक्तं इति सिद्धम्, सर्वथा त्यक्तरूपस्यापूर्वरूपवर्तिन एवोपादानत्वायोगादपरित्यक्तात्मपूर्वरूपवर्तिवत् तथाऽप्रतीतेर्द्रव्यभावप्रत्यासत्तिनिबन्धनत्वादुपादानोपादेयभावस्य । भावप्रत्यासत्तिमात्रात्तद्भावे समानाकाराणामखिलार्थानां तत्प्रसङ्गात् । कालप्रत्यासत्तेस्तद्भावे पूर्वोत्तरसमनन्तरक्षणवर्तिनामशेषार्थानां तत्प्रसङ्गे, देशप्रत्यासत्तेस्तद्भावे समानदेशानामशेषतस्तद्भावापत्तेः, सद्द्रव्यत्वादिसाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तेरपि तद्भावानियमात् । असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते । तदुक्तम्—

त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पूर्वापूर्वेण वर्तते ।

कालत्रयेपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥ १ ॥

यत् स्वरूपं त्यजत्येव यन्न त्यजति सर्वथा ।

तन्नोपादानमर्थस्य क्षणिकं शाश्वतं यथा ॥ २ ॥ इति ।

ततो न तन्तुविशेषाकारः पटस्योपादानं येनाल्पपरिमाणादेव कारणान्महापरिमाणस्य पटस्योत्पत्तेरुदाहरणं साध्यशून्यं न भवेत् । हेतुश्चानैकान्तिकः, प्रशिथिलावयवमहापरिमाणकार्पासपिण्डादल्पपरिमाणनिबिडावयवकार्पासपिण्डोत्पत्तिदर्शनात् । विरुद्धश्चायं हेतुः, पुद्गलादिद्रव्यस्य महापरिमाणस्य यथासंभवं सूक्ष्मरूपेण स्थूलरूपेण वा पर्यायेण वर्तमानस्य स्वकार्यारम्भकत्वदर्शनात्, कार्यत्वस्य महापरिमाणकारणारब्धत्वेन व्याप्तिसिद्धेः, स्वपरिमाणादल्पपरिमाणकारणारब्धत्वविपरीतसाधनात् । ततो नेदमनुमानं बाधकं कपालोत्पादस्य घटविनाशस्य चैकहेतुत्वनियमप्रतीतेरेकस्मादेव मृदाद्युपादानात्तद्भावस्य सिद्धेरेकस्माच्च मुद्रादिसहकारिकलापात्तत्संप्रत्यात् । इति सिध्यत्येव हेतोर्नियमात्कार्योत्पाद एव पूर्वाकारविनाशः ।

५४८. न चैवं सर्वथोत्पादविनाशयोरभेद एव, लक्षणात्पृथक्त्वसिद्धेः । तथा हि— कार्यकारणयोरुत्पादविनाशौ कथंचिद्भिन्नौ भिन्नलक्षणसंबन्धित्वात् सुखदुःखवत् । नात्रासिद्धं साधनं, कार्योत्पादस्य स्वरूपलाभलक्षणत्वात् कारणविनाशस्य च स्वभावप्रच्युतिलक्षणत्वात्तयोर्भिन्नलक्षणसंबन्धित्वसिद्धेः । नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा, क्वचिदेकद्रव्येपि परिणामयोः कथंचिद्भेदमन्तरेण भिन्नलक्षणसंबन्धित्वस्यासंभवात् । न च तयोर्भेद एव, कथंचिदभेदग्राहकप्रमाणसद्भावात् । तथा हि—उत्पादविनाशौ प्रकृतौ स्यादभिन्नौ, तदभेदस्थितजातिसंख्याद्यात्मकत्वात्पुरुषवत् । नात्रासिद्धो हेतुः, मृदादिद्रव्यव्यतिरेकेण नाशोत्पादयोरभावात् । पर्यायापेक्षया नाशोत्पादौ भिन्नलक्षणसंबन्धिनौ न तौ, जात्याद्यवस्थानात्, सद्द्रव्यपृथिवीत्वादिजात्यात्मनैकत्वसंख्यात्मना शक्तिविशेषान्वयात्मना च तदभेदात् तथैव प्रत्यभिज्ञानात्, तदेव मृदद्रव्यमसाधारणं

घटाकारतया नष्टं कपालाकारतयोत्पन्नमिति प्रतीतेः सकलबाधकरहितत्वात्, य एवाहं सुख्यासं स एव च दुःखी सम्प्रतीत्येकपुरुषप्रतीतिवत् ।

५४९. नन्वेवमुत्पादव्ययध्रौव्याणामभेदात् कथं त्रयात्मकवस्तुसिद्धिः ? तत्सिद्धौ वा कथं तत्तादात्म्यम् ? विरोधादिति चेन्न, सर्वथा तत्तादात्म्यासिद्धेः कथंचिल्लक्षणभेदात् । तथा हि—उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं स्याद्विन्नमस्खलन्नानाप्रतीतेः ^{१३६३}रूपादिवत् । ^{१३६४}सर्वस्य वस्तुनोऽनित्यत्वसिद्धेरुत्पाद-विनाशप्रतीतेरस्खलत्वविशेषणमसिद्धमिति चेन्न, कथंचित्क्षणिकत्वसाधनात् । तत एव ध्रौव्यप्रतीतेरस्खलत्वं सिद्धं, सर्वथा क्षणिकत्वमिशरणात् । न चोत्पादादीनां कथंचिद्विन्नलक्षणत्वं विरुद्धं, तदात्मनो वस्तुनो जात्यन्तरत्वेन ^{१३६६}कथंचिद् भिन्नलक्षणत्वात्, अन्यथा तदवस्तुत्वप्रसङ्गात् । उत्पादादयो हि परस्परमनपेक्षाः खपुष्पवन्न सन्त्येव । तथा हि—उत्पादः केवलो नास्ति स्थितिविगमरहितत्वात्, वियत्कुसुमवत् । तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ । स्थितिः केवला नास्ति, विनाशोत्पादरहितत्वात् तद्वत् । विनाशः ^{१३६५}केवलो नास्ति, स्थित्युत्पत्तिरहितत्वात् तद्वदेव । इति योजनात् सामर्थ्यादुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सदिति प्रकाशितं भवति, तदन्यतमापाये सत्त्वानुपपत्तेः । प्रत्येकमुत्पादादीनां सत्त्वे त्रयात्मकत्वप्रसङ्गादनवस्थेत्यपि दूरीकृतमनेन, तेषां ^{१३६७}परस्परमनपेक्षाणामेकशः सत्त्वनिराकरणात् ।

किं च—

^{१३७५}घटमौलिसुवर्णार्थी ^{१३७६}नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।

^{१३७८}शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥ ५९ ॥

५५०. प्रतीतिभेदमित्थं समर्थयते, सकललौकिकजनस्याचार्यः । स हि घटं भङ्क्त्वा मौलिनिर्वर्तने घटमौलिसुवर्णार्थी तन्नाशोत्पादस्थितिषु विषादहर्षौदासीन्यस्थितिमयं जनः प्रतिपद्यते इति, घटार्थिनः शोकस्य घटनाशनिबन्धनत्वात्, मौल्यर्थिनः प्रमोदस्य मौल्युत्पादनिमित्तत्वात्, सुवर्णार्थिनो माध्यस्थ्यस्य सुवर्णस्थितिहेतुकत्वात्, तद्विषादादीनां निहेतुकत्वे तदनुपपत्तेः, पूर्वतद्वासनामात्रनिमित्तत्वेपि तन्नियमासंभवात् । तद्वासनायाः प्रबोधकप्रत्ययनियमान्नियतत्वाद्विषादादिनियम इति चेत्, तर्हि ^{१३८३}नाशोत्पादान्वया एव वासनाप्रबोधकप्रत्यया इति पारम्पर्यात् एव शोकादिहेतवो बहिरङ्गाः । अन्तरङ्गास्तु मोहनीयप्रकृतिविशेषोदया इति, तेषां वासनेति नाममात्रं भिद्येत, नार्थः, स्याद्वादिभिर्भावमोहाविशेषाणां वासनास्वभावतोपगमात् । ततः सिद्धं लौकिकानामुत्पादादित्रयात्मकं वस्तु, तत्प्रतीतिभेदसिद्धेः ।

किं च—

^{१३९१}पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः ।

^{१३९२}अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

५५१. लोकोत्तरदृष्टान्तेनापि तत्र प्रतीतिनानात्वं विनाशोत्पादस्थितिसाधनं प्रत्याययति, दधिपयो-गोरसव्रतानां ^{१३९४}क्षीरदध्युभयवर्जनात् ^{१३९५}क्षीरात्मना नश्यद्दध्यात्मनोत्पद्यमानं गोरसस्वभावेन तिष्ठतीति, पय एव मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमभ्युपगच्छतो दध्युत्पादेपि पयसः ^{१३९६}सत्त्वे ^{१३९७}दधिर्वर्जनानुपपत्तेः, दध्येव मयाद्य

भोक्तव्यमिति व्रतं स्वीकुर्वतः पयस्यपि दध्नः सत्त्वे पयोवर्जनायोगात्, अगोरसं मयाद्य भोक्तव्यमिति व्रतमङ्गीकुर्वतोनुस्यूतप्रत्ययविषयगोरसे दधिपयसोरभावे तदुभवर्जनाघटनात् । प्रतीयते च तत्तद्व्रतस्य तत्तद्वर्जनम् । ततस्तत्त्वं त्रयात्मकम् । न चैवमनन्तात्मकत्वं वस्तुनो विरुध्यते, प्रत्येकमुत्पादादीनामनन्तेभ्य उत्पद्यमानविशयतिष्ठद्भ्यः कालत्रयापेक्षेभ्योर्थेभ्यो भिद्यमानानां विवक्षितवस्तुनि तत्त्वतो नन्तभेदोपपत्तेः, पररूपव्यावृत्तीनामपि वस्तुस्वभावत्वसाधनात्, तदवस्तुस्वभावत्वे सकलार्थसाङ्कर्यप्रसङ्गात् । तथा तत्त्वस्य त्रयात्मकतत्त्वस्य त्रयात्मकत्वसाधनेनन्तात्मकत्वसाधने च नित्यानित्योभयात्मकत्वसाधनमपि प्रकृतं न विरुध्यते, स्थित्यात्मकत्वव्यवस्थापनेन कथंचिन्नित्यत्वस्य विनाशोत्पादात्मकत्वप्रतिष्ठापनेन चानित्यत्वस्य साधनात् । ततः सूक्तं सर्वं वस्तु स्यान्नित्यमेव, स्यादनित्यमेवेति । एवं स्यादुभयमेव, स्यादवक्तव्यमेव, स्यान्नित्यावक्तव्यमेव, स्यादनित्यावक्तव्यमेव, स्यादुभयावक्तव्यमेवेत्यपि योजनीयम् । यथायोगमेतत्सप्तभङ्गीव्यवस्थापनप्रक्रियामपि योजयेन्नयप्रमाणापेक्षया सदाद्येकत्वादिसप्तभङ्गीप्रक्रियावत् ।

नित्याद्येकान्तगर्तप्रपतनविवशान्नाणिनोऽनर्थसार्था-

दुद्धर्तुं नेतुमुच्चैः पदममलमलं मङ्गलानामलङ्घ्यम् ।

स्याद्वादन्यायवर्त्म प्रथयदवितथार्थं वचः स्वामिनोऽदः

प्रेक्षावत्त्वात्प्रवृत्तं जयतु विघटिताशेषमिथ्याप्रवादम् ॥ २ ॥

इत्याप्तमीमांसासालङ्कृतौ तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥

तृतीयपरिच्छेदटिप्पणानि

१. अतः सांख्यमतनिर्घाटनम् । २. साङ्ख्याभिमते । ३. कार्योत्पत्तेः । ४. कारणलक्षणम् । ५. कार्यलक्षणम् । ६. श्लोकेन । ७. एकरूपतया यः कालत्रयीव्यापी स कूटस्थः । अथवा कूटवन्निर्विकारो यः स्थितः स कूटस्थ उच्यते । ८. अन्यथेति शेषः । ९. सुखाद्यनुभवस्य कार्यस्योत्पत्तेः प्रागेव कूटस्थ आत्मा भोगस्य कारकः स्यादिति संबन्धः । प्रागेवेति शब्दस्य पञ्चम्यन्तेन सह व्याख्यानमुत्पत्त्यमानकार्यापेक्षया । तदुत्पत्ताविति सप्तम्यन्तेन पदेन तु उत्पद्यमानकार्यापेक्षया संबन्धः । १०. हे साङ्ख्य ! यदि कारकाभावो न तदा तत्सद्भावः । इति सति । ११. इत्युक्ते कारकसद्भाव एव न तु कारकाभावः कूटस्थे इति दूषणं दत्तं साङ्ख्यमते । १२. यदि । १३. कार्योत्पत्तेः । १४. कूटस्थे आत्मनि । १५. सुखाद्यनुभवलक्षणा । १६. प्रागिवोत्पत्तावपि कारकाभावस्याविशिष्टत्वात् । १७. साङ्ख्यः १८. किं च । १९. उत्पत्तिलक्षणाया ज्ञप्तिलक्षणायाश्चेत्यर्थः । २०. साङ्ख्यस्य । २१. अवस्तुत्वापत्तावप्यात्मसिद्धिश्चेत्तर्हि । २२. साङ्ख्यः । २३. स्वपदेन चेतना । २४. प्रधानं हेतुर्यस्यास्तत्त्वात् । २५. पुंसः । २६. चेतना अनित्या भविष्यतीत्याशङ्क्यामाह साङ्ख्यः । २७. प्रधानात्मकत्वकार्योत्पत्तावात्मा साक्षित्वेन वर्तते इति भावः । २८. चेतनायाः । २९. चेतनाया अङ्गीक्रियमाणे । ३०. ननु च नित्यायाश्चेतनायाः कथमर्थक्रियाकारित्वं न विरुध्यते इत्याशङ्क्याह । ३१. साङ्ख्यस्य । ३२. चेतयते इति चेतना धात्वर्थरूपा । ३३. यथा नित्यायाः सत्ताया अर्थक्रियात्वं न विरुध्यते । ३४. नन्वर्थक्रिया चेतना तत्स्वभावो जीवस्तस्यार्थक्रियास्वभावस्य कथं वस्तुत्वम् ? अर्थक्रियाकारणस्यैव वस्तुत्वादित्याशङ्क्याह । ३५. अन्यथेति शेषः ।

३६. अर्थक्रियान्तरकारित्वाभावेपि । ३७. पुरुषस्य । ३८. आत्मनः । ३९. चेतनारूपायाः । ४०. नित्यचेतना एवार्थक्रिया ताम् । ४१. नित्यचेतनार्थक्रियाप्रकारेण । ४२. तद् बुद्ध्या स्वसंवेदनेनाहं सुखी दुःखी वेत्यादेरेवानित्यतया परिच्छेदात् न तु नित्यार्थक्रियायाः । ४३. शब्दादेर्विषयो घटादिस्तस्य । ४४. इति बुद्धिकल्पनावैयर्थ्यम् । ४५. चेतना । ४६. चेतनायाः । ४७. पुरुषस्वरूपत्वात् । ४८. चैतन्यम् । ४९. उपादानं ग्रहणम् । ५०. आत्मनि । ५१. घटपटादौ । ५२. कारकहेतोर्ज्ञापकहेतोश्च । ५३. प्रधानादेः । ५४. 'व्यापारस्तत्र' मुद्रितप्रतौ पाठः । ५५. चेतनाया अर्थोत्पत्तिरूपक्रियात्वेनोपगमे, चेतनायाः कारकहेतुसहकारिहेत्वाद्युपगमे वा । ५६. पुरुषस्य । ५७. चेतनायाः पूर्वमुत्पत्तिक्रियात्वं निषिध्य ज्ञप्तिक्रियात्वं निषिध्यते । ५८. पुंसः कूटस्थस्य । ५९. एवं सतीति शेषः । ६०. पूर्वाकारस्य त्यागे उत्तराकारपरिणमनमेव परिणामः । परिणामसिद्धौ चानित्यत्वं सुतरां सिध्यति । ६१. पर्यायादय एते स्वभावस्य नामान्तराणि, न तु भिन्नरूपस्य । ६२. परिणामस्वभावयोर्भेदं कथयन्नाह साङ्ख्यः । ६३. वस्तुनः ।

६४. सुखादेः । ६५. प्रधानादावपि सत्त्वप्रमेयत्वादर्धर्मसामान्यस्य विद्यमानत्वात् । ६६. स्वभावपर्यायत्वासत्त्वमेवेत्यर्थः । ६७. (सततावस्थितः स्वभावः) । ६८. वादिप्रतिवादिषु स्थितिं नेयति । ६९. खरविषाणादेरपि प्रतिष्ठाप्रसङ्गात् । ७०. ननु च स्वभावपर्याययोरैक्येपि पुरुषस्य न कूटस्थहानिः, परिणामस्याविर्भावविरोधारूपत्वेन नाशोत्पादासंभवादित्युक्ते जैनः प्राह । ७१. नाशोत्पादाभावे । ७२. खरविषाणवत् । ७३. तत्, तस्मात् । मिथ्याबुद्धिरबुद्धिः स्यात् । ७४. निदर्शनं । ७५. दृष्टान्ते । ७६. बौद्धाभिमतस्य क्षणिकस्य चेतसो विज्ञानाद्वैतस्यात्मनः । ७७. वक्ष्यमाणकारिकया आत्मतत्त्वस्य नित्यत्वनिराकरणेन । ७८. प्रधानम् । ७९. महदादेः । ८०. नित्यात्प्रधानादभिन्नस्य महदादेः । ८१. नित्यादात्मनोऽभिन्नस्य । ८२. (यदि चेत्त्यध्याहार्यम्) ।

८३. प्रकटम् । ८४. महदादि । ८५. यथेन्द्रियैः स्वार्थो व्यक्तो भवति । ८६. सांख्यमते ते च प्रमाणकारके नित्ये चेत्तर्हि । ८७. प्रमाणकारकव्यापारविरोधो न भवति तैर्व्यक्तेरभिव्यक्तिविधानादित्यशङ्क्यामाहुः । ८८. हे साङ्ख्य । ८९. सांख्येन । ९०. अत्र चाभिव्यक्तेर्नित्यत्वेन पूर्वमनभिव्यक्तस्याभावाद् व्यङ्ग्यकव्यापारायोगात् । ९१. सांख्यस्य । ९२. अभिव्यक्तिस्वरूपाद्यभावादिति भावः । ९३. विरुद्धम् । ९४. द्वयपर्यायापेक्षया । ९५. 'भावोपपादनेन' मुद्रितप्रतौ पाठः । ९६. पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिप्रकारेण । ९७. साङ्ख्यै । ९८. प्रमाणकारकयोः ।

१९. व्यक्त्यर्थं व्यक्तिनिमित्तमित्यर्थः । १००. वयं जैनाः । १०१. हे सांख्य, विषयविशेषस्य यो ज्ञानादिस्तस्य कथंचिदपूर्वोत्पत्तावङ्गीक्रियमाणायाम् तु । १०२. बहिः, सांख्यादिमते । १०३. तस्य अपूर्वस्याभावे । १०४. व्यञ्जयितुं योग्यम् । १०५. हे जैन । १०६. नित्यत्वपक्षे । १०७. कार्यं महादादि, कारणं प्रधानम् । १०८. इति सांख्यवचनम् । १०९. विकल्पद्वयमध्ये । ११०. कारणस्य पर्यायरूपतया कल्पना ।

१११. अन्यथेति शेषः । तच्चैतन्यं स्वरूपमस्य स तत्स्वरूपः पुमान् । ११२. यतो न चैतन्यं कार्यं ततो न महदादेरपि कार्यत्वमिति संबन्धः । ११३. चैतन्यवत् । ११४. अन्यथेति शेषः । ११५. असदकारणादित्यादीनामाविर्भावतिरोभावार्थं परैरन्तरं वक्ष्यमाणानां हेतूनां विरोधादित्यर्थः । ११६. मृत्पिण्डे वर्तमानतयाऽसत्यपि घटे उपादानतया मृदः स्वीकारात् । ११७. कार्यस्य । ११८. अङ्गीक्रियमाणे । ११९. सांख्यस्य । १२०. सत्त्वासत्त्वव्यतिरिक्तम् । १२१. परः । यतः सर्वथा सतोऽसतश्च कार्यत्वं नास्ति ततः श्लोकस्यापराद्धं व्याख्याति । १२२. वस्तु, प्रधानम् । १२३. एकान्तस्य । १२४. प्रधानम् । १२५. व्यक्तिर्महदादिस्तस्मात् । अपैति तिरोभवति । १२६. महदादिरूपेण प्रधानस्य नित्यत्वप्रतिषेधात् । १२७. त्रैलोक्यं, प्रधानमपेतमपि सत्, अस्ति । १२८. सर्वथा नित्यानपेक्षम् । १२९. सदेवासदेव वा उत्पद्यते विवर्त एवेत्येकान्तत्रयं नास्ति (यतः) । एवमग्रे वक्ष्यमाणप्रकारेण च । १३०. शुभाशुभरूपम् । १३१. प्रधानस्य । १३२. शुभाशुभपरिणामाभावे । पुण्यकारणाभावे पुण्यं न स्यात्, पापकारणाभावे पापं न स्यादित्यर्थः । १३३. कारणाभावे कार्यानुदयात् । १३४. पुण्यपापाद्यभावात् । १३५. एकांतवादिनाम् ।

१३६. अष्टमकारिकायाम् । १३७. बौद्धम् । १३८. समन्तभद्राः । १३९. (पूर्वस्मरणवर्तमानानुभूत्योः संकलनात्मकं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा) । १४०. कार्यादिव्यापारः । १४१. ज्ञानस्य । १४२. आत्मनः । १४३. हे सौगत, यदि सन्तानः कार्यमारभते तर्हि संतानस्यावस्तुत्वकथनं यत्तद् विरुध्यते इत्यर्थः । १४४. ननु च कार्यात्मकत्वाभावे फलं भविष्यतीति बौद्धेनाशङ्किते आह । १४५. इति हेतोः । १४६. उच्छेदैकान्तः, शून्यतैकान्तः । १४७. ध्रौव्यैकान्तो नित्यत्वैकान्तः । १४८. सौगतस्य । १४९. नाशसन्ततिपतितानां चित्तक्षणानां पूर्वं विज्ञानं वासना । १५०. प्रत्यभिज्ञानात् । १५१. तस्य सुखस्य साधनाय । १५२. इति बौद्धोक्तं न सत् । १५३. भिन्नः कालो येषां ते भिन्नकालाः ते च ते क्षणाश्च तेषाम् । क्षणा ज्ञानक्षणाः । १५४. येषां कार्यकारणसंबन्धो नास्ति तादृशानां घटपटादिक्षणानां भिन्नकालत्वेनासंभवाद्वासनत्वं बौद्धैर्मन्यते यथा । १५५. पूर्वचित्तक्षणमुत्तरचित्तक्षणस्य कारणं यतः । १५६. सर्वेषां ज्ञानक्षणानां । १५७. क्षणिकस्वरूपं पूर्वं चित्तं विनष्टं सन्न कारणम् । १५८. (यथा चिरतरातीतं चित्तं न कारणमुत्तरस्य चित्तस्य तथा समनन्तरमपि, असत्त्वेनोभयोरविशेषादित्यर्थः) । १५९. पूर्वस्याभावे । १६०. उत्तरक्षणस्य । १६१. देवदत्तयज्ञदत्तचित्तक्षणवत् । १६२. यथा अतिक्रान्ततमा (चिरतरातीता इत्यर्थः) ज्ञानक्षणा न कारणम् । १६३. (अपि तु न स्यादेव) । १६४. (तस्य पूर्वस्य) ।

१६५. पूर्वस्मिन् चित्ते । १६६. 'युक्तम्' मुद्रितप्रतीतिरिति नास्ति । १६७. समर्थे सतीत्यादि पूर्वोक्तं नित्येपि योजनीयम् । नित्यविषयकमग्रे च स्पष्टीकरिष्यते । १६८. सौगताभिप्रायमनूद्य दूषयति जैनः । १६९. चिरतरातीतसमीपवर्तिनोः । १७०. अवक्लृप्तिः कल्पना । १७१. सांख्यस्य । १७२. तथा च सत्यर्थक्रियाकारित्वात्कूटस्थमपि वस्तु स्यात् । १७३. कार्यप्रदेशे कारणरूपे सति यथा कार्यमसति च न, तथा । १७४. त्वया बौद्धेन । १७५. कार्यक्षणे । १७६. बौद्धेन । १७७. इति बौद्धेनाशङ्क्यते चेत्तर्हि । १७८. अभावरूपत्वेनाविशिष्टे इत्यर्थः । १७९. उत्तरानन्तररूपे कारणाभावसमये एव न पूर्वानन्तररूपे कारणाभावे नाप्युत्तरोत्तरानन्तररूपे वेति तात्पर्यम् । १८०. नित्यक्षणिकयोः । १८१. उभयपक्षयोः साम्यं यस्मात् तत्, तस्मात् । १८२. नित्यक्षणिकयोः । १८३. न तु नित्ये । १८४. कार्यस्य । १८५. यथा सांख्यमते नित्यं कार्यं निहेतुकम् । १८६. क्षणिकनित्ययोः पक्षयोः । १८७. अन्यव्यतिरेकप्रकारेण । १८८. क्षणिके । १८९. क्षणिकस्येदं कार्यमिति । १९०. नित्येपि । १९१. कार्यं प्रत्यनुपयोगिनः । १९२. क्षणिकस्य प्रतिक्षणमनेककार्यकारित्वे इत्यादि सर्वं योजनीयम् । १९३. क्षणिकस्यानेकस्वभावत्वं नास्तीति कथं समः पर्यनुयोग इत्यरेकायामाहुर्जैनाः । १९४. चित्रकार्यनिष्पादकत्वात् । १९५. यथा

रूपादिज्ञानानां कार्यभूतानां कारणशक्तिनानात्वं विना न प्रादुर्भावः । १९६. क्षणिकात् । १९७. मुख्यग्रम् । १९८. आदिपदेन तमोनिरसनकज्जलमोचनार्थप्रकाशनादीनां ग्रहणम् । १९९. प्रदीपगतशक्तिभेदनिमित्तकानि । २००. शक्तिभेदो नो चेत्तर्हि ।

२०१. तथा च किं स्यात् ? । २०२. (सांख्येन) । २०३. सांख्यस्य । २०४. पुनराह बौद्धः । २०५. शक्तिमतः शक्तयो भिन्ना अभिन्ना वेति विकल्पद्वये क्रियमाणेपि शक्तयो न घटन्ते यतः । २०६. शक्तिमतः । २०७. शक्तिमत एताः शक्तय इति व्यपदेशस्य । २०८. शक्तिमता । २०९. शक्तिमता शक्त्य उपक्रियन्ते वा शक्तिभिः शक्तिमानुपक्रियते इति विकल्पद्वयं कृत्वा निवारयति बौद्धः । २१०. अर्थान्तरशब्दस्य भिन्नोर्थः । २११. शक्तिमतः । २१२. उपकार्यरूपैः शक्तिमत उपकाराकरणात् । २१३. शक्तिमत एतान्युपकार्याणीति । २१४. उपकार्यरूपैः । २१५. शक्तिमतः । २१६. बौद्धमते पदार्था अतद्व्यावृत्तिरूपा एव । न ता अताः । अताभ्यो व्यावृत्तयः अतद्व्यावृत्तयः । ताभ्योऽतद्व्यावृत्तिभ्यः अशक्तिव्यावृत्तिभ्य इत्यर्थः । अशक्तिव्यावृत्ताः शक्तयः । इति व्यावृत्तिरूपाः शक्तिर्विहायान्याः शक्तयो न सन्तीत्यर्थः । २१७. जैना आहुः । २१८. रूपादीनाम् । २१९. अर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोर्व्यपदेशानुपपत्तिरेकत्वं चेति प्रकृतदोषः । २२०. निर्विकल्पके । २२१. अन्यथेति शिष्यते । २२२. अनुमानबुद्धौ प्रतिभासमानानाम् । २२३. सौगतः । २२४. विपरीतमक्षणिकत्वम् । २२५. जैनः । २२६. नाना वर्तिकादाहादि । २२७. विपरीतसमारोपः शक्त्यभावः । २२८. नानाकार्यकारिणी । २२९. तादृशो रूपरसाद्यनेकज्ञानरूपकार्यजननसमर्थ एकः स्वभावः कश्चित् । २३०. कर्कटिकादेः । २३१. (बौद्धस्तु रूपादीनां भिन्नत्वमभिमन्यते इति तस्यैव मतविरोधस्तद्युक्त्या) । २३२. पुनः सौगतः । २३३. आदिपदेन तैलशोषणतमोनिवारणकज्जलमोचनपदार्थप्रकाशानां ग्रहणम् । २३४. तैलशोषणादि आदिपदेन । २३५. स्यात् । २३६. जैनः ।

२३७. न च बौद्धैस्तथा मन्यते, रूपाद्यनेकस्वभावभेदाभिमतनात् । २३८. दूरादूरादितया । २३९. विशदाविशदतया । २४०. किन्त्वस्त्येव दर्शनभेदः । २४१. दर्शनयोः । २४२. ततश्च । २४३. पाशारज्जुत्वमेव विवृणोति । २४४. सौगतस्य २४५. स्वभावभेदः, शक्तिभेदः । २४६. प्रदीपक्षणस्य । २४७. किं च दूषणान्तरम् । २४८. क्षणिके । २४९. (तर्हीत्यध्याहारः) । २५०. नित्यस्य । २५१. (यतस्तत्र बौद्धेन दूषणं दीयते । न दातव्यमित्यर्थः) । २५२. नित्ये स्वभावभेदमकुर्वतां सहकारिणां नानाकार्यकारित्वं कथं स्यादित्याशङ्कयामाहुर्जैनाः । २५३. स्वभावभेदम् । २५४. (क्षणिकस्वलक्षणात्) २५५. सहकारिकारणानीति कर्तृपदम् । २५६. नित्यस्यापि नाना कार्याणि क्रमेणोपजनयतः सहकारिकारणानि न कथंचित्यादि विदधतीत्येतत्पर्यन्तं वाक्यमत्र द्रष्टव्यम् । २५७. सहकारिभिरिव कार्यस्य कृत्वात्किं (कृतात्) नित्यपरिकल्पनया ? इत्याशङ्कयामाहुः । २५८. सहकारीणि । २५९. विवक्षितम् । २६०. नित्यः । २६१. तस्य विवक्षितकार्यस्य । २६२. नित्यस्यार्थस्यैतानि (सहकारिकारणानि) अत्र कार्ये समर्थानि, मया नित्येन किं कर्तव्यमिति यदिदं बुद्धिपूर्वकत्वं तदभावात् परमाण्वादीनामचेतनत्वात् । २६३. सहकारिरूपायाम् । २६४. बीजस्य । २६५. सहकारिण उपादानरूपाश्च । २६६. हे जैन, नित्यात् क्षणिकस्य विशेषोस्तीति बौद्धमतं दर्शयन्नाह जैनः । २६७. तादृशः, कार्यकारिरूपः । २६८. क्षणिकार्थस्य । २६९. नित्यः कार्यकारी न, तादृशस्वहेतुस्वभावादानुत्पन्नत्वात् । २७०. जैन आह—हे सौगत । २७१. उत्तरकार्यजनककारणानां वर्तमानकालीनाम् । २७२. तस्य, कार्यभूतस्य । २७३. तस्य, उत्तरक्षणकार्यस्य । २७४. तत्, तस्मात् । स्वग्रकृतिरवश्यमन्वेषणीया यस्मात् । अयं नित्यः । अकारणोपि, न कारणं विद्यते यस्य स तथा । स्वभावनियतः, कार्यकारणस्वभावनियतः । २७५. बौद्धः । २७६. क्षणादूर्ध्वमस्थानमेव क्षणिकस्य प्रकृतिर्लोकैरन्विष्यते (अवलोक्यते) यतोस्य विनाशशीलत्वात् । २७७. कालान्तरावस्थायिनः कदाचिन्नाशित्वमिति नैयायिककृतलक्षणं नश्वरत्वस्य । २७८. विनाशं प्रति हेतुर्न कश्चिदित्येव दर्शयति बौद्धः । २७९. विनाशभावम् ।

२८०. तस्य स्वकार्यस्य । २८१. पदार्थः । २८२. भावो विनाशस्वभावनियतोस्ति, विनाशं प्रति अनपेक्षत्वादित्यत्र । २८३. विनाशम् । २८४. तस्य मुद्गरस्य । २८५. तस्य घटस्य । २८६. घटः । २८७.

विनाशस्य ततो भिन्नत्वात् । २८८. विनाशतद्वतोः । २८९. तस्माद् घटाद्विनाशस्योत्पत्तिरिति । २९०. तं विनाशं प्रति । २९१. तदुभयं, घटमुद्रौ । २९२. यथा मुद्रादिर्घटविनाशोत्तरकालमपि दृश्यते । २९३. विनाशकारणत्वाविशेषात् । २९४. घटादेः । २९५. कपाललक्षणम् । २९६. विनाशोत्तरकाले । २९७. हे जैन, इत्यपि न युक्तम् । २९८. कपालमालालक्षणस्य । २९९. कपाललक्षणकार्यमुत्तरक्षणः, तस्य जनको हेतुः समनन्तरो घटलक्षणस्तदव्यतिरिक्तो हेतुर्मुद्रादिलक्षणः, तदनपेक्षत्वस्य । ३००. कार्यं कपाललक्षणं तस्य जनको हेतुरुपादानलक्षणो घटः । ३०१. विनाशो भिन्नहेतुक इति वादस्य नैयायिकाभिमतस्य । ३०२. नैयायिक आह । ३०३. बौद्धः प्राह । ३०४. तस्य विशेषणविशेष्यभावस्य । ३०५. तत्र, कार्यकारणभावे । ३०६. तस्य विशेषणविशेष्यभावसंबन्धस्य । ३०७. परस्परसंबन्धकार्यकारणभावव्यतिरेकेण । ३०८. पदार्थयोः । ३०९. मुद्रादिभिः । ३१०. यौगिकाभिमतम् । ३११. मृत्पिण्डादेः । ३१२. (घटादभिन्नस्येत्यर्थः) । ३१३. क्षणिकोर्थः सर्वो विनाशस्वभावानियतो भवितुमर्हति, नाशं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादिति साधनम् । ३१४. नित्योर्थः स्थितिस्वभावानियतो भवितुमर्हति, तद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षत्वादित्येवम् (जैनानां वचनमिदम्) । ३१५. वस्तु । ३१६. तं प्रति हेतोः, कारणस्येत्यर्थः । ३१७. वस्तुनः स्थितिव्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्ता वेति विकल्प्य स्थितेर्निर्हेतुकत्वसाधनार्थं वदति बौद्धः ।

३१८. (पूर्वोक्तम्) । ३१९. वस्तुनः । ३२१. स्थितितद्वतोः । ३२२. सौगतो वक्ति । ३२३. तस्य, आश्रयाश्रयिभावस्य । ३२४. कुण्डस्यावयवाः कारणमवयवी तु कार्यम् । एवं बदरेपि । एवं कुण्डबदरयोः स्वस्वरूपेण कार्यकारणरूपतया निष्पन्नयोरश्रयाश्रयिभावो यथा तथा प्रकृते नास्ति । ३२५. हे यौग । ३२६. स्थितिहेतुना । ३२७. तस्य स्थितिहेतोः । ३२८. स्थितिस्वभावकस्यास्थितिस्वभावकस्य वा वस्तुनः स्थितिः क्रियते इति विकल्प्य क्रमेण दूषयति । ३२९. खरशृङ्गादेः । ३३०. यतो वस्तुनो व्यतिरिक्ताया अव्यतिरिक्ताया वा स्थितेरकरणम् । ३३१. वक्ष्यमाणप्रकारेण । शब्दविद्युदादौ सान्वयां स्थितिं समर्थयन्नाह बौद्धं प्रति जैनः । ३३२. तव सौगतस्य स्वीकर्तुं युक्तम् । ३३३. आदौ स्थितिमतः । ३३४. उत्पत्तिकारणस्य । ३३५. शब्दविद्युदादीनामुत्पत्तिं प्रति कथंचिदुपादानानुमानं यथा त्वया सौगतेनानुमीयते । ३३६. तेषां शब्दविद्युत्पदोपादीनाम् । ३३७. त्वया सौगतेन । ३३८. त्वया सौगतेन । ३३९. तस्य शब्दविद्युदादेः । ३४०. कार्यस्य । ३४१. पूर्वरूपक्षणस्य । ३४२. रसोत्पादे सहकारित्वप्रसङ्गात् । ३४३. अस्त्यत्र मातुलिङ्गे रूपं रसान्यथानुपपत्तेरिति उत्तररूपाकरणादुत्तररससमये रूपासत्त्वात् स्यात्तदनुमानम् । ३४४. सजातीयोत्तरकार्यकरणप्रकारेण । ३४५. रूपानुमानरूपः । ३४६. उपादानशब्दानुमानं कुर्वता सौगतेन । ३४७. काकुः । येन शब्दस्योपादानकारणमदृष्टमप्यनुमीयते इति शेषः । ३४८. (इति चेत्तर्हीत्यर्थः) । ३४९. पूर्वरूपक्षणोपादानात् । ३५०. यथोत्तररूपोत्पत्तिः । ३५१. द्रव्यापेक्षया । ३५२. (अन्यथा स्थितिमत्त्वाभावे) । ३५३. हे योगाचार, यदि तव इति पूर्वोक्ता मतिस्तदा ।

३५४. कार्यकारणभावादेः । ३५५. दर्शितस्य । ३५६. दूषणस्य । ३५७. (योगाचारैः) । ३५८. (योगाचारवचः) । ३५९. उत्तरक्षणसंवल्लक्षणं स्वकार्यम् । ३६०. (ततो न सिध्यति संविदद्वैतमित्यर्थः) । ३६१. (ततोपि द्वैतप्रसक्तेर्न संविदद्वैतसिद्धिरित्यर्थः) । ३६२. संविदद्वैतस्य भेदभ्रान्तिबाधनमबाधनं वेति विकल्प्य जैनो दूषयति । ३६३. (इति भेदप्रसक्तिः) । ३६४. (भेदभ्रान्त्यबाधने, भेदस्य सत्यत्वप्रत्यायकत्वे सतीत्यर्थः) । ३६५. संविदद्वैतस्य । ३६६. हे सौगत । ३६७. कार्यकारणभावे । ३६८. अकारणकार्यान्तरस्य सन्तानो यथा न स्यात्तद्वत् । यथा पटस्य कारणं मृत्पिण्डो न भवति, मृत्पिण्डस्य कार्यं पटो न भवति । ३६९. यथा संवृतिमात्रेण कारणकार्यकारणकार्यान्तरयोस्तादात्म्यं न । तथा प्रतिक्षणानां परस्परं भेदोस्तीति भावः । ३७०. संवृतिकल्पितानाम् । ३७१. (नैरन्तर्यं संततिः । तत्प्रभृतिर्न कश्चिद्विशेषः) । ३७२. विशेषस्य । ३७३. इतरक्षणेभ्यः सुगतक्षणा जायन्ते इति कार्यकारणभावो नाकारणविषय इति स्वयं कथनात् । मृत्पिण्डेपि पटप्रसक्तिः स्यादिति टिप्पण्यन्तरम् । ३७४. तेषामेकसंतानकार्यकारणक्षणानाम् । ३७५. कार्यकारणयोः । ३७६. ततश्चाव्यभिचारी कार्यकारणभावः टिप्पण्यन्तरम् । ३७७. भेदतादात्म्ययोर्हि विरोधः, अत आह । ३७८. तादात्म्ये कोऽपरितोष इति साध्ये । ३७९. कथंचित्प्रकारेणैव परिहार्यत्वादिति भावः । ३८०. वेद्यवेदकाकारौ न स्त इत्यारेकायामाह । ३८१. अत

एव भेदतादात्म्ययोः कथंचिद्विरोधः । ३८२. सर्वथाप्यपरिहार्यत्वादित्यत्र हेत्वन्तरमाह । कथंचित्, द्रव्यपर्यायापेक्षया । ३८३. तत्, तस्मात् । कार्यकारणक्षणानां संततिर्न स्याद्यतः । ३८४. क्षणक्षयैकान्ते । ३८५. प्रत्यभिज्ञानानुस्मरणाभिलाषादेश्च । ३८६. असंभवत्वस्य भावनम् । ३८७. ज्ञानज्ञेययोः सर्वथा वैलक्षण्ये प्रत्यभिज्ञानादिर्न भवेद्यतः । ३८८. यथा नानासंतानस्य कर्मफलसंबन्धो युक्तिं नावतरति । ३८९. नियतसंतानाभावात् । ३९०. ज्ञानापेक्षया । ३९१. उत्तरचित्तोत्पत्तिकारणभूतप्राक्तनचित्तक्षणाख्यवासनावशात् प्रत्यभिज्ञानादिनियमः । ३९२. सर्वथा भेदे इत्यर्थः । ३९३. असिद्धमित्युक्ते आह जैनः । ३९४. 'कार्यकारणरूपा' मुद्रितप्रती पाठः ।

३९५. असति कारणे इति पक्षान्तरस्य । ३९६. कारिकोक्तपक्षः । ३९७. तत्, कार्यम् । ३९८. दूषणान्तरमाविर्भावयन्ति । ३९९. बौद्धमते यतोऽसदेव कार्यमुत्पद्यते । ४००. (सतः सर्वदा सत्त्वात्) । ४०१. तर्ह्यसदेव कार्यं स्यादिति को दोषः ? इत्याशङ्क्याहुः । ४०२. शक्तिव्यक्तिरूपे द्रव्यपर्यायरूपेण वा । ४०३. तन्माभूत् । ४०४. दूषणान्तरम् । घटपटादेर्मृत्पिण्डतन्त्वादि उपादानमिति नियमोपि मा भूत्सर्वथा कार्यस्याविद्यमानरूपत्वे । ४०५. कार्योत्पत्तावाश्वसोपि मा भूत् । ४०६. क्षणिकपक्षे सर्वथाऽसत् कार्यं नोत्पद्यते सर्वथाऽसत्त्वादित्येतावद्वाक्यमध्याहार्यम् । ४०७. सौगतस्य । ४०८. सर्वथाप्यसत्त्वादित्ययं हेतुः । ४०९. एतदेव भावयति । ४१०. मृत्पिण्डादेः । ४११. कार्यत्वेन परिणमनात् । ४१२. सौगतेन । ४१३. एकवारं न किंतु बहुवारं विरुद्धधर्माध्यासानिराकृतेः । यथा चित्रज्ञाने ज्ञानापेक्षयैकत्वं पीतादिनिर्भासापेक्षयानेकत्वमिति विरुद्धधर्मसाहित्यं बहुवारं समर्थितम् । ४१४. बहुवारं विरुद्धधर्माध्यासानिराकृतौ च । ४१५. (द्वावप्यन्वयव्यतिरेकौ भावस्वभावावेवेत्यर्थः) । ४१६. भावाभावयोः । ४१७. (यद्भावे यत्कार्यं भवति तस्य कारणस्याभावे तस्यैव कार्यस्याभावरूपतया प्रतीतेरित्यर्थः) । ४१८. कारणस्य । ४१९. द्वौ नगौ प्रकृतमर्थं सूचयतः । ४२०. अन्वयो भावस्वभावो, व्यतिरेकोऽभावस्वभावः । ४२१. वस्तुनोस्तित्वस्वभावादन्वयो नास्तित्वलक्षणः स्वभावः स्वभावान्तरम् ।

४२२. नीरूपस्याभावस्य प्रतिक्षेपेपि स्वभावान्तरस्यैवाभावस्य व्यवहारार्हत्वं कुत इत्युक्ते आह । ४२३. पावकस्याभावः परन्तु तत्प्रदेशस्य सद्भावोस्ति । एवं धूमस्याभावः परन्तु धूमरहितदेशस्य सद्भावः । ४२४. तथापि व्यतिरेकप्रतीतेर्भावस्वभावनबन्धनत्वं कुतः ? इत्यारेकायामाह । ४२५. यत्र प्रदेशेऽग्निर्नास्ति तत्र धूमोपि नास्ति परन्तु अग्निधूमयोरभावेपि प्रदेशसद्भावोस्तीति भावस्वभावनबन्धनत्वं व्यतिरेकस्य । ४२६. पर्यायरूपेणापि । ४२७. इति, इत्यनुमानम् । ४२८. कार्यत्वं व्याप्यं, कथंचित्सत्त्वं व्यापकम् । ४२९. सर्वथाप्यसतो कार्यत्वादेव । ४३०. तादृक्कारणवन्न कथंचिदस्ति । तादृक्, असत्कार्यं कारणवन्न भवतीत्यर्थः । ४३१. असत्त्वात् । ४३२. द्रव्यरूपतया । ४३३. 'न भवति' मुद्रितप्रती पाठः । ४३४. असत्कार्यं यद् द्रव्यरूपतया अस्थितमनुत्पन्नं तत्कार्यरूपतया कथमस्थितमनुत्पन्नं न स्यात् ? । ४३५. द्रव्यरूपतया । ४३६. यथा विनाशोपि सत एव घटते । ४३७. (असत्यकार्यं यतः कारणयुक्तं स्यात् । अपि तु न स्यादित्यर्थः) । ४३८. निरन्वयविनाशकारणस्य । ४३९. निरन्वयविनाशकारणकस्य । ४४०. हे जैन ! असत्कार्ये उत्पादादित्रयं यदि न घटते तर्हि सत्यपि प्रभवलक्षणे उत्पादादित्रयं कथं सिद्धमित्याशङ्क्याहुर्जैनाः । ४४१. कार्यकारणलक्षणे । ४४२. सदृशस्यापरापरकार्यस्य । वैसादृश्येन सह । ४४३. अनाद्यभेदवासनोद्भूताभेदज्ञानं विप्रलम्भः । ४४४. अभेदकल्पनाम् । भेदस्यानवधारणाम् । ४४५. क्षणानाम् । ४४६. यथा कारणान्तरस्योपादाननियमो न भवति । ४४७. भेदात् । ४४८. पर्यायरूपेणैव द्रव्यरूपेणापि । ४४९. सौगत आह । वैलक्षण्यस्य भेदस्यानवधारणम् । अभेदावधारणमित्यर्थः । ४५०. निबन्धमुपादानकारणम् । ४५१. सदृशस्यापरापरकार्यस्य । ४५२. अनाद्यभेदवासनासमुद्भूतमभेदज्ञानं विप्रलम्भः । ४५३. वैलक्षण्यानवधारणम् । ४५४. फलान्तर्वर्तिनां घुर्घुरान्तर्वर्तिनामित्यर्थः । ४५५. नैरन्तर्येण । ४५६. (तथैवेत्यर्थः) ।

४५७. सुगतसौगतानां घटपटादीनां वा । ४५८. वैलक्षण्यानवधारणम् । ४५९. हे सौगत । ४६०. कार्यस्य । ४६१. क्षणानां मध्ये व्यवधायकान्यक्षणाभावेन क्षणानां व्यवधानाभाव इत्यर्थः । ४६२. कारणम् । ४६३. तिलादीनाम् । ४६४. किन्तु अभावेन व्यवधानमेव । अन्तराले अभावो वर्तते तिलेषु परस्परं यतः । ४६५. इति बौद्धेन न वक्तव्यमित्यर्थः । ४६६. देशस्यापि बौद्धमते क्षणिकत्वात् । ४६७. एकसंतानवर्तिनाम् । ४६८. अन्यथेति

शेषः । तस्य, देशस्य । ४६९. (न च नित्यत्वं कस्यचिद्वैद्धमते) । ४७०. (स्वरूपमात्रमेव सर्वस्वलक्षणानां देशो नेतरः कश्चिदेशार्थः) । अतो दोषो वैलक्षण्यानवधारणलक्षणः । ४७१. स्वरूपलक्षणदेशभेदादेव । ४७२. मृत्पिण्डादिष्वपि । ४७३. न तु सादृश्यमात्रात् । ४७४. तिलेभ्यो मृत्पिण्डादेः । ४७५. वस्तुनि । ४७६. सौगताभिप्रायेण । ४७७. असादृश्याद् व्यावृत्तिः सादृश्यमित्येवम् । ४७८. त्वया सौगतेन । ४७९. सादृश्यविशेषः । ४८०. सदृशेषु । ४८१. वैलक्षण्यानवधारणस्य हेतुरिति सादृश्यविशेषे सति । ४८२. अभेदाध्यवसायो रूपं यस्य (वैलक्षण्यानवधारणस्य) तत् । ४८३. वैलक्षण्यानवधारणात् । ४८४. सादृश्यविशेषवैलक्षण्यानवधारणयोः । ४८५. यमलजातेष्वपि, युगपज्जातेष्वपि । ४८६. स एवायं भवितुमर्हति वैलक्षण्यानवधारणात् । ४८७. एकसंतानोन्वयस्तस्यापि यमलजातादिषु तद्वत्, सादृश्यविशेषानुमानवत् संभवात् । ४८८. निरन्वयभावम् । ४८९. तन्त्वादिभ्यः । ४९०. प्रकृत्या । ४९१. यतो भिन्नसंतानेपि सर्वथा भेदोऽभिन्नसंतानेपि सर्वथा भेदः समानः, अन्वयानङ्गीकारात् । ४९२. तस्याः प्रकृतेः । ४९३. अन्वयाभावात् । ४९४. यस्माद्वस्तुनोऽनुपलम्भः । ४९५. अनन्तरं वक्ष्यमाणा । ४९६. कारणस्य । ४९७. द्रव्यरूपतया । ४९८. ध्रौव्यरूपम् । ४९९. कारणं कर्तृभूतम् । ५००. उत्पादव्ययध्रौव्यात्मककारणरूपः ।

५०१. अधिकरणस्थित्यनङ्गीकारे । निरन्वयेऽङ्गीक्रियमाणे इत्यर्थः । ५०२. तस्य उपादाननियमस्य । ५०३. नित्यवत् । (सर्वथा नित्ये यथोपादानादिनियमो न सिध्यतीत्यर्थः) । ५०४. (यद्येवं बौद्धविचारस्तर्हीत्यध्याहार्यम्) । अधिकरणस्थित्यनङ्गीकारे अस्मादेतद्विषयतीत्येवंप्रकार आश्वासः कथम् ? । ५०५. तत्तस्मात् । ५०६. विवक्षितकार्योत्पत्तौ । ५०७. पटकार्यं प्रत्यनुपादाने मृत्पिण्डेपि । ५०८. सौगतो वक्ति, पूर्वक्षणा अपरामृष्टत्वेनोत्तरक्षणानुत्पादयन्तीति तथा लोके दृश्यते । अत्राह स्याद्वादी, एवं सत्यहेतुरनुपादानं सर्वं जातं तदा तन्त्वादिभ्योपि घटादिर्जायताम् । आवयोरत्रैवानुपादाने वा विरोधोस्ति । ५०९. अदर्शने । ५१०. अदर्शनम् । ५११. अनुपादानप्रकारेण तन्नियमकल्पनायामदर्शनं हेतुः स्यादित्याशङ्क्यामाह । ५१२. आतानादिप्रकारेण । ५१३. तन्तुसामान्यतन्तुविशेषयोः । ५१४. यथादर्शनं नियमकल्पनाप्रतीतेः । ५१५. 'नियम' मुद्रितप्रती पाठः । ५१६. तन्तुसामान्यस्य । ५१७. आहिततन्तुविशेषस्य । ५१८. तन्तुसामान्यनिरपेक्षः । ५१९. आहिततन्तुविशेषस्य । ५२०. तन्तुसामान्यस्य । ५२१. एकत्र वस्तुनि । ५२२. तयोस्तन्तुसामान्यतन्तुविशेषयोः । ५२३. सामान्यरूपस्य तन्त्वादेः । ५२४. पटादौ । ५२५. तस्य, तन्त्वाद्यन्वयस्य । ५२६. आहिततन्तुविशेषस्य । ५२७. तस्य, विशेषमात्रस्य । ५२८. पटं प्रति । ५२९. तन्तुसामान्यनिरपेक्षस्य । ५३०. परस्परनिरपेक्षयोः सामान्यविशेषयोरुपलब्धिर्नास्ति यस्मात् । ५३१. अनन्वयस्यानुगमरहितस्य सामान्यमात्रस्य विशेषमात्रस्य वा । न विद्यतेन्वयो यस्य सामान्यस्य विशेषेण सह, न विद्यतेन्वयः सहावस्थानं यस्य विशेषस्य सामान्येन सह इति च व्युत्पत्तिः । ५३२. सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनः । ५३३. उभयात्मके वस्तुनि सामान्यप्रतिषेधनियमानिमित्तप्रतिपादने । ५३४. परस्परनिरपेक्षयोः । ५३५. कार्यं प्रति । ५३६. एकरूपस्योभयरूपत्वे विरोधः स्यादित्युक्ते सत्याहुर्जनाः ।

५३७. असतः कार्यत्वं न भवेदुपादाननियमश्च न भवेद्यस्मात्तस्मात् । ५३८. कार्यकरणभावादिः । ५३९. अनन्वये सत्यन्तत्वात्सन्तानान्तरवत् । ५४०. यथा सन्तानान्तरे हेतुफलभावादिर्न भवति । ५४१. संतानितः । ५४२. पूर्वोत्तरक्षणानाम् । ५४३. संतानितः पृथक्त्वेन । ५४४. पूर्वोत्तरक्षणाः । ५४५. न परामृष्टो भेदो येषु ते (परमार्थतस्तु भिन्नत्वेपि) । ५४६. बौद्धेन । ५४७. क्षणानां परस्परम् । ५४८. विवक्षितक्षणां प्रत्यविवक्षितक्षणाः पूर्वो यः कश्चित् कारणं स्यादिति संतानसंकर इति भावः । ५४९. सर्वेषां स्वसंतानवर्तिनां सन्तानान्तरवर्तिना चाविशेषेणापरामृष्टभेदत्वस्य संभवात् । ५५०. संतानान्तरवर्तिनः । ५५१. अन्यसंततिभिः सह । ५२२. स्वभावतः संकीर्णायाः संततेरेव प्रत्यक्षादिना प्रसिद्धौ स्वभावतः संकीर्णा इति वचनं तथा न सद्यथा शशविषाणस्य वर्तुलत्वकथनम् । ५५३. तदेति शेषः । ५५४. प्रत्यक्षविषयीकृतेऽर्थे । ५५५. प्रत्यक्षस्य । ५५६. स एकक्षणः सन्निहितः । ५५७. 'संतानाविषयत्वात्' मुद्रितप्रती पाठः । ५५८. लिङ्गिना संतानेन सह । ५५९. तस्य, संतानस्य । ५६०. दृष्टान्ते । ५६१. संताने सत्येव प्रत्यभिज्ञानमुत्पद्यते यथा चेति न क्वापि दृष्टान्तेऽवलोकितमित्यर्थः । ५६२. नीलस्वलक्षणे

संतानेऽसति प्रत्यभिज्ञानाभावोत्र व्यतिरेकः । ५६३. संतानोस्ति प्रत्यभिज्ञानान्यथानुपपत्तेरिति हेतुरपि न घटते इत्यर्थः । ५६४. कृष्णतिलेषु संतानाभावेऽपि तत्सदृशोऽयं तिल इति प्रत्यभिज्ञानं यत उदेति । ५६५. क्षणेषु । ५६६. स एवायमेकसंतान इति । तत्र संतानसंकीर्णानुमाने । ५६७. तत्र प्रत्यभिज्ञानादेः सकाशादेकद्रव्यप्रत्यासत्तिरेव प्रसिध्यति यतः । एवं सति सौगतानां विरुद्धत्वं निर्णीयते यत इत्यर्थः । ५६८. प्रत्यभिज्ञानादेर्हेतोः (प्रत्युत सौगतवचनस्यैव विरुद्धत्वनिर्णयात्) । ५६९. प्रत्यक्षादितो न संतान-सिद्धिर्यतः ।

५७०. (बौद्धस्य) । ५७१. भिन्नक्षणेऽपि । ५७२. अनन्या इमे क्षणा इति शब्दो यस्य सः । संतानः संवृतिरूपचार इत्यर्थः । ५७३. मुख्योर्थो यस्येति बसः । ५७४. 'न स्यात्' मुद्रितप्रतौ पाठः । ५७५. वक्ष्यमाणदोषभयात्संतानिभ्यः संतानोनन्य एव वक्तव्यः । तथा च संतानिव्यतिरेकेण संतानाभावात्प्रागुक्त एव दोषानुषङ्गः । ५७६. जैनमतापेक्षया, न तु बौद्धमतापेक्षया । ५७७. नित्यानित्यविकल्पाभ्यां संतानस्यानुपपत्तेः । ५७८. संतानो नित्य इति विकल्पे । ५७९. यतः संतानी स्वयमनित्यस्ततो नित्येन सह न व्याप्नोति । ५८०. व्याप्नोति चेत्तर्हीत्यर्थः । ५८१. संतानस्य । ५८२. (क्षणानां संताने व्यापकत्वमनेकस्वभावसद्भावेनैकस्वभावसद्भावेनैव वेति विकल्पद्वये द्वितीयं विकल्पमाश्रित्य दूषयन्ति । ५८३. 'तदनित्ये विकल्पे' मुद्रितप्रतौ पाठः । (संतानस्य नित्यत्वमभिमत्य अनेकस्वभावेनैकस्वभावेनेति द्विधाऽपि प्रदूष्य संतानस्यानित्यत्वाभिमतौ सत्यां दूषयन्ति) । ५८४. एकप्रत्यवमर्शः, प्रत्यभिज्ञानम् । ५८५. संतानिभ्यः संतानस्य भिन्नत्वे नित्यानित्यविकल्पाभ्यामनुपपत्तेर्दूषणमेतत् समायातं तर्हि किं स्यादित्युक्ते आह । ५८६. (संवृतिः, कल्पना) । ५८७. विशेषणस्य । ५८८. अनन्य इत्येकत्वमुपचारेणैव सौगतैर्मतम् । ५८९. सौगतैरन्येषु अयमनन्यशब्दः संवृतिरित्यभिधीयते । स एव संतानः । ५९०. संवृतिरूपत्वात् । ५९१. पूर्वोत्तरक्षणानां कार्यकारणभावसंबन्धनियमस्य । ५९२. परस्परं भिन्नक्षणानाम् । ५९३. विवक्षितसंतानिष्वेव संतानः कार्यकारणादिसंबन्धभाग, न पुनः संतानान्तरवर्तिष्विविवक्षितसंतानिष्विति नियमयितुमशक्तेः । ५९४. मुख्योर्थो यस्य सः । ५९५. संतानस्य । ५९६. तथास्त्वित्युक्ते आह । ५९७. संतानः । ५९८. (सत्येऽग्रां क्वचित्सति अन्यत्र माणवके प्रयोजनवशादुपचर्यते न त्वसदेवाग्निः । ५९९. पूर्वोत्तरक्षणेऽपि । ६००. उपचरितसंतानः । ६०१. प्रस्तुतस्यानन्यप्रत्ययस्य । ६०२. माणवकः । ६०३. एतस्य संतानिनोऽयं संतानो हेतुरिति । ६०४. हे जैन, यतोऽसंभवस्ततः ।

६०५. बोद्धाभिप्रायोऽयं सर्वकारिकायाम् । ६०६. सर्वान्तेषु, सर्वधर्मेऽपि (अन्तःशब्दो धर्मवाच्योत्र) । ६०७. एकत्वानेकत्वं तत्त्वान्यत्वशब्देन । ६०८. संतानतद्वतोस्तत्त्वान्यत्वलक्षणो धर्मोऽवाच्यो धर्मत्वात् । ६०९. तत्त्वान्यत्वेऽपि धर्मेऽपि चतुष्कोटिविकल्पस्य वचनायोगो धर्मत्वादित्युपरिष्ठाद्योज्यम् । (कोटिः कक्षा) । ६१०. तत्त्वधर्मः संतानस्य । अन्यत्वधर्मो भेदधर्मो वा संतानिनः । ६११. तत्त्वेऽन्यत्वे च । ६१२. उदाहरणसमर्थनेन दाष्टान्तं समर्थयति बौद्धः । ६१३. एतत्पूर्वोक्तमेव विवृणोति । ६१४. उच्छेदपक्षः । ६१५. वस्तुधर्मस्य सत्त्वासत्त्वरूपत्वे । ६१६. एकतरप्रतिषेधेऽन्यतरविधानादुभयप्रतिषेधे तु निर्विषयत्वात्रीरूपत्वम् । नीरूपत्वे विकल्पानुत्पत्तिः । ६१७. भाष्योक्तादिशब्दं विवृण्वन्नाह । ६१८. भेदाभेदलक्षणस्य । ६१९. एतस्य वस्तुनोऽयं धर्म इति । ६२०. वस्तुनो निःस्वभावत्वम् । ६२१. चतुष्कोटैर्विकल्पस्याभिधातुमशक्यत्वप्रकारेण । ६२२. पदार्थेषु । ६२३. तत्त्वमभेदः, अन्यत्वं भेदः । ६२४. सौगतानाम् । ६२५. अभिप्रायः । ६२६. क्षणिकैकान्तपक्षेपीत्यनुवर्तते । किं च । ६२७. स्वलक्षणं सदित्यवक्तव्यमसदित्यवक्तव्यमुभयमित्यवक्तव्यमनुभयमित्यवक्तव्यमित्यत्रावक्तव्यत्वस्यापि धर्मत्वादवाच्यत्वम् । ६२८. तैरपीति संबन्धः । ६२९. सर्वधर्मरहितम् । ६३०. विशेष्यं जीवादिवस्तु । सर्वधर्मरहितं विशेष्यविशेषणं न भवति । ६३१. अन्यथेति शेषः (अनभिलाष्यचतुष्कोटेऽभिलाष्यत्वं चेत्तर्हीत्यर्थः) । ६३२. सौगतैः । ६३३. शिष्यादिप्रबोधनं नैव भवितुमर्हति । ६३४. (कारिकोत्तरार्द्धव्याख्या) । ६३५. अनेकान्तप्रयोगात् । ६३६. वस्तु । ६३७. अनेकान्तमन्तरेण । ६३८. एकान्तपक्षोक्तसर्वविकल्पातीतस्य । ६३९. द्रव्यपर्यायतया । ६४०. असदिति कर्तृपदम् । ६४१. अनभिलाष्यमवस्तिवति वा विशेषणम् (कर्मपदम्) । ६४२. वस्तु ।

६४३. ननु स्वसंवेदनं विशेषणविशेष्यरहितमेव प्रतिभासते इत्याशङ्क्याह । ६४४. हेत्वन्तरम् । ६४५. कथंचित्सत एव प्रतिषेधं दर्शयन्नाह । ६४६. स्वद्रव्यादेरन्यद् द्रव्याद्यन्तरं तस्य भावस्तेन । परद्रव्यादिभावेनेत्यर्थः ।

६४७. स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरसतः प्रतिषेधो न क्रियते । ६४८. प्रतिषेधस्य । ६४९. स्वद्रव्यादिना । ६५०. परद्रव्यादिना । ६५१. स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन । ६५२. किंतु सर्वं वस्तु कथंचिदभिलाष्यं विशेष्यविशेषणसहितं चास्तीति भावः । ६५३. बौद्धेन । ६५४. अभिलाष्यस्यैवानभिलाष्यत्वं, विशेषणविशेष्यरूपस्यैवाविशेषणविशेष्यरूपत्वं । ६५५. अनिर्देश्यमिति शब्देनापि अनिर्देश्यं न । ६५६. तस्य स्वलक्षणमनिर्देश्यमिति शब्देन निर्देश्यत्वात् । ६५७. (स्ववचनेनाप्यनिर्देश्यं यदि तर्हि) । ६५८. 'वचनाविरोधात्' मुद्रितप्रती पाठः । ६५९. कल्पनापोढमिति कल्पनापेक्षयापि यदि अपोढं तर्हि । ६६०. एकस्यैवाभिलाष्यानाभिलाष्यादेर्भावाभावरूपस्य वाचकभेदान्नेदस्य विद्यमानत्वात्कथं न विप्रतिषिद्धमित्याशङ्क्यामाह । ६६१. सर्वथैकान्ते । ६६२. पररूपेण । ६६३. इति शब्देनापि । ६६४. शाब्दव्यवहारस्य । ६६५. (यस्य भावस्य प्राधान्यमपेक्षा वा तस्य विधिर्यस्य गुणीभाव उपेक्षा वा तस्य निषेध इत्यर्थः) । ६६६. प्रधानगुणभावेन विधिनियेधयोरुपलम्भप्रकारेण ।

६६७. समन्तभद्रस्वामिभिरत्रैव कारिकायाम् । ६६८. विशेषः, सद्भेदः । स न भवतीत्यसद्भेदः, सर्वथा असत् । ६६९. यतः समर्थनं ततो बौद्धाभ्युपगतमेव बाधितं जातम् । ६७०. अग्रेतनकारिकया । ६७१. (अन्तो धर्मः) । ६७२. कथंचिद्रूपायाः । ६७३. परापेक्षया । स्वरूपादिचतुष्टयलक्षणायाः प्रक्रियाया विपर्ययात्—पररूपादिचतुष्टयात् । तस्माद्यदवस्तु तदनभिलाष्यम् । ६७४. सर्वथा । ६७५. सर्वथानभिलाष्यं न । ६७६. सकलधर्मरहितस्य वस्तुनो निरुपाख्यस्य स्याद्वादिभिरनभ्युपगमादवस्त्वनभिलाष्यं स्यादिति वचनमयुक्तमित्याशङ्क्यामाहुस्तदपीति । ६७७. परद्रव्याद्यपेक्षत्वाद् व्यत्ययात् । ६७८. घटान्तरं पटादि । ६७९. परवस्त्वपेक्षयेत्यर्थः । ६८०. अभाववाचकैः शब्दैरित्यर्थः । ६८१. यथा ब्राह्मणाभाव एव क्षत्रियभावः । दोषाभाव एव गुणसद्भावः । ६८२. अत्र, अवस्तुत्वप्रतिपादने । ६८३. येन कुतो विरुद्ध्यते ? अपि तु न विरुद्ध्यते । ६८४. अविरुद्धत्वादेव । ६८५. शून्यम् । ६८६. स्याद्वाद्यभ्युपगतोऽभावः पक्षः, वस्तु भवतीति साध्यो धर्मः । अभिलाष्यत्वादिति हेतुः । यत्पुनरभिलाष्यं तद्वस्तु यथा खपुष्पाभावः । अभिलाष्यं चेदं तस्माद्वस्तु । अत्राभावस्य वस्तुत्वव्यवस्थापकानुमाने खपुष्पाभाव इति दृष्टान्तः । 'खपुष्पम्' इति कपुस्तके । ६८७. अन्यस्य, खस्य केवलत्व(शुद्धत्वम्)मितरस्य, पुष्पस्य वैकल्पमिति लोके प्रसिद्धम् । ६८८. अर्थे स्वरूपेण भावो व्यवतिष्ठते पररूपेण चाभावः । ६८९. (अर्थस्य) । ६९०. सर्वथा । ६९१. यः स्वरूपेण भावः स एव पररूपेणाभाव इति बौद्धमतम् । ६९२. तयोर्भावाभावयोः । अपेक्षणीयनिमित्तमाश्रित्य तयोर्भेदात् । (निमित्तभेदाद्धि नैमित्तिकभेदः) । ६९३. स्वद्रव्यादिस्वरूपम् ।

६९४. परद्रव्यादिचतुष्टयम् । ६९५. नास्तित्वज्ञानम् । ६९६. यथैकवस्तुन्येकत्वद्वित्वादिसंख्यायाः परद्रव्यादिनिमित्तमपेक्ष्य भेदः । ६९७. द्वित्वादिसंख्या एकत्वादित्यो भेदरूपा न प्रतीयते किं तु भिन्नैव । ६९८. संख्यावतो वस्तुनः । ६९९. भिन्ना चेत्तर्हीति शेषः । ७००. संख्यावतो वस्तुनः । ७०१. संख्या संख्यावतो भिन्नैवेत्यस्यासिद्धेः । (संख्येयत्वासंभवाद्वा) । ७०२. कुतोऽसिद्धिरित्याह । ७०३. तत्र समवायिनि । ७०४. समवायस्य । ७०५. वस्तुन्येकत्वादिसंख्या समवायसम्बन्धेन स्थितेति चेत्तर्हि समवायो वस्तुनि केन सम्बन्धेन स्थितः ? समवायित्वमपि समवायित्वेनेत्यनवस्था । ७०६. संख्यावतः संख्या न भिन्ना यथा । ७०७. वस्तुनः । ७०८. बौद्धस्य । ७०९. वस्तुनः । ७१०. भावाभावात्मकतासिद्धिः । ७११. सौगतानाम् । ७१२. वचनाभ्युपगमः संवृतिरूपश्चेत् । ७१३. एषा संवृतिः । ७१४. परमार्थतः । ७१५. अपि तु न किंचित् स्यात् । ७१६. बौद्धम् । ७१७. पूर्वपक्षं कुर्महे । ७१८. सर्वे धर्मा अवक्तव्या इति कथमुच्यते ? । ७१९. पुंसो । यथा स्ववचनविरोधः । ७२०. (न, इति चेत्त्रेत्यर्थः) । ७२१. वक्ष्यमाणविकल्पेष्वनुपपत्तेः । कस्याः ? संवृतेः । ७२२. हे सौगत, त्वया पुनः पुनः संवृतिः कथ्यते । सा का ? संवृत्या इत्युक्ते संवृतिः स्वरूपा, पररूपा, उभयरूपा, तत्त्वरूपा, मृषारूपा वा स्यात् ? । ७२३. एतेषु अर्थेषु संवृतिर्नोपपद्यते ।

७२४. इति इत्यत्र वचने स्वरूपेण वक्तव्या इति पक्ष आश्रीयेत चेत्तर्हि ते पदार्थाः कथमनभिलाष्याः ? । ७२५. द्वितीयपक्षश्चेत्तर्हीत्यर्थः । ७२६. तत् पररूपम् । तेषां, धर्माणाम् । ७२७. धर्माः । ७२८. केवलमत्र । ७२९. 'गम्यते' इति पाठान्तरम् । ७३०. गोत्रं नाम । ७३१. ननु स्वरूपं विशेषरूपमेव पररूपं तु सामान्यरूपमेव । ततश्च

विशेषरूपेणावक्तव्यत्वसद्भावात्कथं वाचः स्वलनं गम्येत सामान्येनाभिलाष्यत्वे सति ? इत्याह । विशेषः परमाणुलक्षणः । ७३२. यथा विशेषरूपं वस्तुनः स्वरूपं तथा सामान्यरूपमपि । ७३३. सामान्यस्य । ७३४. ततश्च सर्वधर्माणां स्वपररूपाभावात्त्रिःस्वरूपत्वप्रसङ्ग इति भावः । ७३५. संवृत्या इत्युक्ते उभयरूपेणेति पक्षेपि । ७३६. संवृतिस्तत्त्वरूपा इति चतुर्थपक्षे इत्यर्थः । ७३७. सर्वे धर्मा इति अवक्तव्या इति च । ७३८. (दूषणसद्भावादप्रतिष्ठा) । ७३९. सर्वे धर्मा अवक्तव्या इति चाभिलष्यन्ते इत्यस्मिन् पक्षे दूषणमाह । ७४०. हे सौगत । ७४१. वक्तुरशक्तेः । ७४२. किं वा मिषेण ? । ७४३. सौगतशङ्का । ७४४. मौनव्रतादीनाम् । ७४५. (इन्द्रियं तात्वादि च करणम्) । ७४६. च, एवकारार्थः । ७४७. अनवबोधाशक्यत्वयोरेककारणपूर्वकत्वेनावबोधस्याशक्यत्वेनर्भावः स्यादित्युक्ते आह जैनः । ७४८. अशक्यत्वतः । ७४९. 'तथा' पाठान्तरम् । ७५०. अनेन व्यतिरेकाभावो दर्शितः । ७५१. अनेनान्वयाभावो दर्शितः । ७५२. पुरुषेषु । ७५३. तयोः, बुद्धिकरणपाटवयोः । ७५४. पुरुषस्य । ७५५. प्रस्तावे । ७५६. न तु सर्वस्य । ७५७. तत्, तस्मात्, सर्वत्रावबोधशक्यत्वयोरभावो युक्तो न भवति यस्मात् । ७५८. इति हेतोरशक्यत्वादनवबोधादिति च हेतुद्वयेन वस्तुनो वाच्यत्वं न संभवतीति सामर्थ्यात्, पारिशेष्यात् ।

७५९. युष्माभिः (सौगतैः) । ७६०. सुगतस्य । ७६१. बौद्धमतम् । ७६२. अभावपक्षावलम्बनात् । ७६३. समयः, सङ्केतः । ७६४. सामान्यरूपेण । ७६५. निर्विकल्पकज्ञानग्राह्यो दृश्यः । विकल्पज्ञानग्राह्यो घटपटादिविकल्प्यः । ७६६. विरोधात्रोभयैकात्म्यमिति कारिकाया अपरार्द्धव्याख्यानावसरे प्रथमपरिच्छेदे । ७६७. सामान्यविशेषयोर्वस्तुरूपाविशेषात् । ७६८. दृश्यवद्विकल्पेपि सङ्केतो न भविष्यतीत्याशङ्कयामाह । ७६९. अर्थस्य । ७७०. बौद्धस्य । ७७१. घटमानयेत्यादौ । ७७२. अन्वयाभावात् । ७७३. अतीतार्थानामपि विवक्षितशब्दाच्यत्वप्रसङ्गात् । ७७४. (विषयार्थः । विषयी तु शब्दो बोधो वा कश्चित्) । ७७५. यथा शब्दविकल्पकाले शब्दविषये नास्ति । ७७६. क्षणिकविषयस्य । ७७७. ज्ञेयज्ञानयोः कार्यकारणयोः । ७७८. सौगतः क्षणिकत्वेपि विरोधं परिहरन्नाह । ७७९. शब्देपि । ७८०. अविपरीतप्रतिपत्तिः । ७८१. 'परिच्छेद्य' मुद्रितप्रती पाठः । ७८२. यथा प्रत्यक्षादर्थं परिच्छेद्य प्रतिपत्ता प्रवर्तमानो हि विपरीतं न प्रतिपद्यते । ७८३. वयं जैनाः । ७८४. शुक्तिकाशकले रजतविषयदर्शने । ७८५. सत्यज्ञाने । ७८६. दर्शनविकल्प्य(शब्द)योः । ७८७. दर्शनविकल्पयोर्भिन्नविषयत्वेधिकदूषणमाह । ७८८. एकलोलीभावाभावे । ७८९. अन्तर्बहिस्तत्त्वम् । ७९०. निर्विकल्पकप्रत्यक्षविषयीकृतस्य स्वलक्षणस्य । ७९१. अदृष्टं सामान्यम् । ७९२. आदिपदेनेश्वरादिः । ७९३. प्रमाणात् । ७९४. विकल्पज्ञानम् । ७९५. निर्णयस्य । ७९६. (तत्शब्देन स्वलक्षणम्) । ७९७. निर्विकल्पकप्रत्यक्षाविषयीकृते । ७९८. स्थिरस्थूले घटपटादौ ।

७९९. येन कृतं स न भोक्ता, येन न कृतं तस्य भोक्तृत्वाभ्यागमः । ८००. हिंसाभिप्रायरहितं चित्तम् । ८०१. हिंसाभिप्रायसहितम् । ८०२. हिंसाहिंसाभिप्रायरहितम् । ८०३. संतानो वासना च स्तः । तयोः सद्भावे नेदं दूषणमित्युक्ते आह । ८०४. अनन्तरमेवैतयोर्निराकरणात् । ८०५. हिंसकाहिंसकचित्तद्वयादपेतं तृतीयं चित्तम् । ८०६. एतत् । ८०७. बसः । सौगतादित्यर्थः । ८०८. तस्य, बद्धस्य एवं मुक्त्यभावप्रकाशनप्रकारेण । ८०९. नियमेन कर्तव्यता इतिकर्तव्यता । ८१०. प्रथमचित्तक्षणस्य । ८११. अग्रेतनस्य क्षणस्य । ८१२. (चिकीर्षुचिकीर्षुश्चेत्युभयम्) तदुभयाद्विनिर्मुक्तस्तृतीयश्चित्तक्षणः, तस्य । ८१३. तस्य बद्धस्य । ८१४. निष्फलत्वात् । ८१५. परिणामस्य । ८१६. सौगतस्य यमनियमाकरणीयत्वं कुर्वतो यत्किंचनकारित्वं वा कुतः ? नियमेन, कर्तव्यतासु चिकीर्षोः क्षणस्य विनाशात् । विनाशेपि नियमेनाकरणीयत्वं कुतः ? कर्तुर्द्वितीयक्षणस्याचिकीर्षुत्वात् । अचिकीर्षुत्वेपि यमादेरकरणीयत्वं कुतः ? चिकीर्षुः कर्तेति यदुभयं तद्विनिर्मुक्तस्य तृतीयस्य बद्धत्वात् । तद्वन्धेयकरणीयत्वं कुतः ? बद्धस्य विनिर्मुक्तेरभावाच्चेति संबन्धः । ८१७. इतरचित्तक्षणेभ्यः सुगतज्ञानमुत्पद्यते यतः । ८१८. सन्तानः समुदायश्चेति कारिकाव्याख्यानावसरे । ८१९. नाशः स्वयं जायते, न तु तं प्रति कस्यचिद्धेतुत्वमिति सौगतमतम् । ८२०. सम्यक्त्वं बुद्धधर्मः । संज्ञा ख्याधभिधानम् । संज्ञी ख्यादिरेव । वाक्कायव्यापारस्तत्कर्म । अन्तर्व्यायामो वायुनिरोधः । अजीवो जीवाभावो नैरात्म्यम् । स्मृतिः पिटकत्रयार्थानुचिन्तनम् । ध्यानं समाधिः ।

८२१. परस्परं विरोधात् । ८२२. तदेति शेषः । ८२३. नाशोत्पादाभ्याम् । ८२४. (हेतुव्यापारः) । ८२५. नाशोत्पादयोरविशेषात् (अभेदात्) । ८२६. अपृथक्सिद्धवत् । ८२७. बौद्धमते सदृशं कार्यं नास्ति, अन्वयाभावात् । ८२८. तर्ह्याश्रयः कः ? यतस्तयोरश्रयित्वं स्यादित्युक्ते आह । ८२९. आश्रयिणोः कार्यरूपयोः । ८३०. नाशोत्पादयोर्मध्ये य एव घटनाशस्य हेतुः, स एव कपालोत्पादस्य । इत्येक एव हेतुसमागम इति भावः । तथा च बौद्धानां नाशोपि सहेतुकः स्यादिति दूषणम् । ८३१. अभेदात् । ८३२. एतदेव विवृण्वन्ति । ८३३. भिन्नकारणजन्यत्वं चेत्तर्हि । ८३४. घटविनाश एव कपालोत्पादः । ८३५. कारणसन्निपातस्तु भिन्नः । ८३६. विनाशस्य नीरूपत्वादेकहेतुत्वं कथमित्युक्ते दृश्यते हेतुः । ८३७. विनाशस्य । ८३८. (तस्य उत्पादस्य विनाशस्य च) । ८३९. भिन्नकारणवादी नैयायिकस्तस्य । ८४०. विसदृशकार्यं कपालः । तद्धेतुर्मुद्रारादिः । ८४१. अभ्युपगच्छन् सौगतः । ८४२. कपालमालोत्पादस्य । ८४३. किं तु सहेतुकत्वं मन्यते । ८४४. अत्राह सौगतः । विसभागो विसदृशः (कपालमालाक्षणकार्यम्) । ८४५. प्रध्वंसाय हेतुसन्निधिर्न । ८४६. स्वभावतः । ८४७. कपालमालाक्षणरूपः । ८४८. उत्तरोत्पादहेतोर्घटस्य । ८४९. तेन कारणेन (घटेन) उत्पन्नमिति व्यपदिश्यते । ८५०. विनाशोपि । ८५१. कपाललक्षणस्येव । ८५२. घटप्रध्वंसस्य । ८५३. हेतुर्मुद्रारादिः । ८५४. मुद्रारादिना विनाशो जात इति व्यपदेशोस्तु । ८५५. न चेत्तर्हीत्यर्थः । ८५६. कार्यस्यापि सहेतुकत्वव्यपदेशो न स्यात् । ८५७. परमार्थतो मया उभयोरपि नाशोत्पादयोर्निहेतुकत्वं स्वीक्रियते, परन्तु प्रतिपत्त्रिप्रायवशादुत्पत्तिः सहेतुका कथ्यते इति सौगतेनोक्ते आहुः । ८५८. उभयत्र नाशोत्पादयोः । ८५९. प्रहाणस्तु स्वत एवेति वादी सौगतः । ८६०. इदं कार्यं सदृशमिदं च विसदृशमिति भेदः । ८६१. सर्वदा विसदृशमेव कार्यं यतो बौद्धमते । ८६२. द्रव्यरूपेणाप्यन्वयाभावे ।

८६३. सजातीयविजातीयलक्षणक्षणकल्पनाम् । ८६४. स्वीकुर्वन् सौगतः । ८६५. (प्रतिपत्त्रिप्रायवशात्) । ८६६. (पूर्वोत्तरक्षणयोः) । ८६७. (युगपत्स्वयमेव स्वाश्रयतो वा न पृथग्भूतौ) । ८६८. (अपि तु न सहेतुक एको परश्च निहेतुक इत्यर्थः । ८६९. परस्परतः स्वाश्रयतो वा किंवत् पृथग्भूतौ न स्तामित्याह । ८७०. असौ ग्राह्योऽसौ च ग्राहक इति प्रतिपत्तिभेदः । एवमभिधानभेदोपि । ८७१. तादात्म्यसंबन्धादित्यर्थः । ८७२. नाशोत्पादयोः । ८७३. नाशोत्पादयोः । ८७४. भवतः । ८७५. स्वस्य नाशस्याश्रयो घटः, उत्पादस्य च कपालादिः । ८७६. घटकपालाभ्यां क्रमरूपाभ्याम् । ८७७. तयोर्नाशोत्पादयोः तद्धर्मत्वाद्, घटकपालधर्मत्वात् । ८७८. घटस्य विनाशः कपालस्योत्पाद इति च । नाशोत्पादौ विशेषणे घटकपालौ तु विशेष्यरूपावत्र । ८७९. पुनः सौगतः । ८८०. वैशेषिकाभ्युपगतयोः स्वाश्रयाभ्यामर्थान्तरभूतयोर्नाशोत्पादयोः । ८८१. वैशेषिकमतसिद्धिः । ८८२. (य एव पूर्वक्षणविनाशः स एवोत्तरक्षणकपालस्वभावः, स एव च तदुत्पादः) । ८८३. (स्वभावस्तादात्म्यम्) । ८८४. एकज्ञाने । ८८५. संज्ञाच्छन्दाद्योर्बौद्धापेक्षयोदाहरणम् । मतिस्मृत्याद्योस्तु जैनमतपेक्षया । क्रमपक्षे भेदपक्षे इमे द्वे उदाहरणे । ८८६. तयोर्मध्ये कस्यचित् । ८८७. (समकालभाविनोर्मध्ये कपालोत्पादस्य हेतुहेतुस्तु नाशस्येति च पुनः कथम् ?) । ८८८. कार्यस्वभावादेः । सहभावस्येदमुदाहरणम् । ८८९. तेन कारणेन । ८९०. संज्ञाच्छन्दशब्दे मतिस्मृतिशब्दे च । ८९१. बौद्धजैनापेक्षया यथासंख्यम् । ८९२. सेयं स्त्रीत्यत्र प्रत्यभिज्ञानमिच्छायामुत्पन्नायां विनश्यतीति संज्ञाच्छन्दयोः क्रमभावित्वम् । ८९३. वत्—शब्देन भिन्नप्रक्रमे । तेनायमर्थः, संज्ञाच्छन्दोर्मतिस्मृत्याद्योः क्रमभाविनोर्नाशोत्पादयोर्भेदे सत्यप्येकसहकारिकारणपूर्वकत्वं यथा तथा घटनाशकपालमालोत्पादयोः समकालवर्तिनोरप्येकसहकारिमुद्राकारणकत्वमित्यर्थः । ८९४. नाशोत्पादयोः । ८९५. (आदिपदेन रसादिः) यसः । ८९६. रूपरसादीनां (कार्यरूपाणां) मध्ये कारणरूपो रूपरसादिरकस्य हेतुरितरस्य नेति न यथा । ८९७. उत्पादविनाशयोः समकालवर्तिनोरपि एकसहकारिमुद्राकारणपूर्वकत्वप्रतिपादनप्रकारेण । ८९८. कार्यं कपालमाला, तस्या उत्पादः सहेतुको मुद्रादिजन्यः । कारणं घटः, तस्य विनाशोऽहेतुको मुद्रादिजन्यो नेति मतं निषेधयन्ति जैनाः । ८९९. पूर्वसंक्षणः कारणमुत्तरस्तु कार्यमिति बौद्धमतम् । ९००. पुरुषस्य । ९०१. द्रव्यार्थतो धिषणापि पुरुषवदहेतुकेत्यर्थः । ९०२. पुरुषधिषणाभ्याम् । ९०३. सहभावादित्यस्य । ९०४. कार्यविचारप्रस्तावसामर्थ्यात् ।

९०५. कारणान्तरमिति विशेषणसहितस्य । ९०६. आत्मनो नित्यत्वेन कारणाभावादित्येवं यो व्यभिचारः । ९०७. कारणान्तरं सहभावादिति साधनम् । ९०८. सौगतैः । ९०९. मुद्रारात् । ९१०. कारणक्षणस्य । ९११.

विनाशरूपम् । ९१२. न भवतीत्यस्य नश्यतीत्यर्थः । स्वयं नश्यतीत्येव वा पाठान्तरम् । ९१३. स्वयमेव । ९१४. मुद्रादेः । ९१५. कपालोत्पादस्य । ९१६. (किन्त्वित्यध्याहारः । स्वयमेव कपाल उत्पद्यते इत्यपि स्यात् । तथा च बौद्धमतविरोधः, कपालोत्पादस्य सहेतुकत्वाभिमननात्) । ९१७. घटलक्षणः । ९१८. (कारणान्तरं सहभावादिति हेतुः) । ९१९. वा यथार्थे । यथा कार्योत्पत्तिहेतुरभावं (पर्यायरूपेणाविद्यमानं) भावीकरोति, न पुनरकिंचित्करस्तथा विनाशहेतुर्भावमभावीकरोति । ९२०. (तर्हीति शेषः) । ९२१. द्रव्यरूपेणेव पर्यायरूपेणापि । ९२२. उत्पादकारणस्य । ९२३. उत्पादकारणवैफल्यं किमर्थं प्रतिपाद्यते ? यावता पूर्वं विद्यमानस्य कपाललक्षणस्य भावस्य मुद्रादिकारणेन निष्पाद्यत्वं विद्यते एवेत्याशङ्क्याहुर्जैनाः । ९२४. हे बौद्ध ! यथा तव विनाशतयोत्पादपक्षेपि । ९२५. विनाशो घटादिभिन्नः क्रियतेऽभिन्नो वेति विकल्प्य दूषयन्ति जैनाः । ९२६. नाशो उत्पादे च । ९२७. तस्य, कुटस्य । ९२८. घटलक्षणात् । ९२९. भावात् । ९३०. उत्पादस्य । ९३१. नाशोत्पादयोः स्वाश्रयाद्भिन्नाभिन्नकरणे दूषणगणप्रतिपादनेन । ९३२. कपालात् । ९३३. मुद्रादिना । ९३४. कार्यात् । ९३५. उत्पादस्य । ९३६. उत्पादस्य । ९३७. विनाशकारकः । ९३८. तदा, तर्हि । उत्पादकारकः । ९३९. हेतुसमागमो विरूपकार्यारम्भायेति पूर्वं सौगतेनोक्तत्वादयं प्रश्नोवसरप्राप्त एव । ९४०. पूर्वक्षणः स्थापक उत्तरस्तु स्थाप्यः । उत्तरक्षणो विनाशकः पूर्वस्तु विनाश्यः । यद्भावे कारणस्य नियता विपत्तिः स प्रध्वंस इति वचनात् । ९४१. यथा परमाणूनां स्थाप्यस्थापकादिभावो विरुध्यते, तथा हेतुफलभावोपि विरुध्यते । कार्यकारणत्वाभावे एते स्थित्युत्पत्तिव्ययधर्मा विरुध्यन्ते निरंशत्वात्परमाणूनां । न हेतुफलभावादिरव्यभावादनन्वयादिति कार्यकारणभावस्य प्रागेव निरस्तत्वाद्वा विरोधोवगन्तव्यः । ९४२. स्थाप्यस्थापकाभावे स्थितेरभावो विनाश्यविनाशकाभावे च विनाशस्याप्यभावो यथा । ९४३. 'स्कन्ध' मुद्रितप्रतौ पाठः । ९४४. स्कन्धानाम् ।

९४५. साध्याभावसद्भावादित्यर्थः । ९४६. संवृत्तित्वादित्यस्य । ९४७. साध्यं विना । ९४८. सौगतेन । ९४९. तस्य हेतोः । ९५०. रूपरसगन्धस्पर्शपरमाणवः सजातीयविजातीयव्यावृत्ताः परस्परासंबद्धा रूपस्कन्धाः, सुखदुःखादयो वेदनास्कन्धाः, सविकल्पकनिर्विकल्पकज्ञानभेदा विज्ञानस्कन्धाः, वृक्षादिनामानि (शब्दाः) संज्ञास्कन्धाः, ज्ञानपुण्यपापवासनाः संस्कारस्कन्धाः । ९५१. परमार्थसन्तः । ९५२. साध्यमसंस्कृतत्वं तदव्यावृत्तौ हेतोरपि व्यावृत्तेः । ९५३. स्कन्धसंततयः । ९५४. अपरमार्थरूपत्वात् । ९५५. स्थित्युत्पत्तिविपत्तिमतोपि असंस्कृतत्वस्य विद्यमानत्वाद् व्यभिचारदासाधनमित्याशङ्क्यामाह । ९५६. संस्कृतत्वं कार्यत्वम् । ९५७. स्थित्युत्पत्तिविपत्तिरहितत्वमन्तरेणासंस्कृतत्वानुपपत्तिः । कार्यरूपत्वं स्वलक्षणादौ स्थित्यादिना व्याप्तं खरविषाणादौ त्वकार्यत्वं स्थित्यादिरहितमित्यन्यथानुपपत्तिसिद्धिरित्यर्थः । ९५८. पदार्थस्य । ७५९. असंस्कृतत्वादिति । ९६०. असंस्कृतत्वादेव । ९६१. विसदृशकपाललक्षणस्य । ९६२. मुद्रादिः । ९६३. सौगतो वचो न तिष्ठतीत्यर्थः । ९६४. तथा स्थित्युत्पत्तिसहिताः । ९६५. स्कन्धाभावे । ९६६. विरूपकार्यं कपाललक्षणम् । ९६७. सौगतीयं वचः । ९६८. तद्विच्यं तत्त्वमित्याशङ्क्याह । ९६९. एकस्मिन्नेव सति युगपत्तदुभयैकात्म्यं विरुध्यते एव । ९७०. विरोधादेव ।

९७१. सौगतस्य । ९७२. स्ववचनविरोधात् । ९७३. आदिपदेनानित्यत्वोभयात्मकत्वावाच्यत्वानि ग्राह्याणि । ९७४. कथंचिन्नित्यं कथंचिदुभयमिति । ९७५. तत्त्वोपप्लववादी, शून्यवादी । ९७६. तस्यानेकान्तस्य । ९७७. तस्य जीवादिवस्तुनः । ९७८. तत् प्रत्याभिज्ञानमकस्मात् कारणमन्तरा न भवति, तस्याविच्छेदेन (स एवायमित्येवम्) अनुभवात् । ९७९. अविच्छिदा इति तृतीयान्तं प्रथमान्तं वा ज्ञेयम् । प्रत्यभिज्ञानं भवतु नित्यत्वं च मा भूदिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सति नाकस्मादिति संबन्धनीयम् । ९८०. क्षणिकत्वसाधकमिदमनुमानम् । ९८१. परिणामवशात् । ९८२. अन्यथेति शेषः । ९८३. बुद्धेरसंचारोऽन्यत्रागमनं, स एव दोषो यतः । ९८४. बाधारहित्वेन । ९८५. नित्यत्वलक्षणकारणं विना । ९८६. तदेवेदमित्यत्र । ९८७. प्रान्तम् । ९८८. तस्य प्रत्यभिज्ञानस्य । ९८९. प्रत्यक्षस्य । ९९०. अगोव्यावृत्तिर्गौरित्येवमन्यापोहरूपं वस्तु बौद्धमते । ९९१. अन्यापोहमात्रे । ९९२. अनुमानादन्यत् परेक्षं प्रमाणान्तरं नेष्यते । ९९३. आह सौगतः । ९९४. जैनो ब्रूते । ९९५.

एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य । १९६. कुतस्तथाहि । १९७. जीवादौ । १९८. अर्थक्रियाविरोधात् सत्त्वानुपपत्तिः । १९९. एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य (किं तु विसंवादरूपत्वादेवेत्यर्थः) । १०००. बौद्धोक्तस्य ।

१००१. सर्वं वस्तु कथंचिन्नित्यं सत्त्वादित्युपरिष्ठाद् ध्येयम् । १००२. तस्य सत्त्वस्य । १००३. सर्वथा नित्ये क्षणिके च । १००४. सर्वथा नित्ये क्षणिके वा । १००५. सर्वथा नित्ये क्षणिके वा । १००६. स्यादिति शेषः । १००७. अनेकस्वभावत्वे स्वीकृते कौटस्थ्यविरोधः । १००८. यथा युगपदनेकस्वभावत्वमेकस्य क्षणिकस्य तथा क्रमेणाप्यनेकस्वभावत्वं स्याद्यतस्ततः क्षणिकत्वव्याघातः । १००९. नित्यक्षणिकयोः पक्षयोः कार्यणाम् । १०१०. सहकारिकारणापेक्षया क्रमाक्रमस्वभावत्वं यदि तदा क्षणिकनित्यत्वव्याघातः । १०११. नित्ये क्षणिके च । १०१२. नित्यस्य क्षणिकस्य । १०१३. सहकार्यपेक्षा । १०१४. तस्य क्रमयौगपद्यस्य । १०१५. तयोर्नित्यक्षणिकयोः । १०१६. श्रेयान् मुद्रितप्रतौ पाठः । १०१७. तत्कार्याणाम् । १०१८. (तेन नित्येन क्षणिकेन वा) । १०१९. नित्यं क्षणिकं वा विना । १०२०. नित्यस्य क्षणिकस्य च येन स्वभावेन कृत्वा एकेन सहकारिणा सहभावोस्ति, तेनैव सर्वसहकारिणा सहभावो वा स्वभावान्तरैरिति विकल्पद्वयं तत्र कृत्वा क्रमेण दूषते । १०२१. सह । १०२२. नित्यस्य क्षणिकस्य च । १०२३. सह । १०२४. नित्यस्य क्षणिकस्य च । १०२५. सर्वसहकारिणा सह नित्यस्य क्षणिकस्य चैकेन स्वभावेन सहभावात् । १०२६. सहकारिकारणान्तरेण । १०२७. नित्यक्षणिकयोः । १०२८. व्याप्ययोः । १०२९. सर्वथा नित्यस्य क्षणिकस्य वा विपक्षः कथंचिन्नित्यस्तत्र । १०३०. बौद्धप्रयुक्तस्य सत्त्वस्य । सर्वं क्षणिकं सत्त्वादिति सौगतः । वस्तु नित्यं सत्त्वादिति नैयायिकः । जैनास्तु कथंचिन्नित्यं वस्तु सत्त्वादिति मन्यन्ते । १०३१. सत्त्वसाधनस्य । १०३२. जीवादिकं वस्तु । १०३३. (इति हेतोः क्षणिकत्वसाधकस्य सत्त्वहेतोर्विरुद्धत्वदर्शनात्) । १०३४. सत्त्वं कर्तुं । १०३५. बौद्धमते सादृश्यविषयकमेव प्रत्यभिज्ञानं तत्सदृशोयं यथा । १०३६. एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्य । १०३७. एकत्वप्रत्यभिज्ञानस्यैव । १०३८. सत्त्वं कर्तृपदम् । १०३९. (सोयं, तत्सदृशोयं, तद्विलक्षणोयं वेत्यादि संकलनरूपं ज्ञानम्) । १०४०. स्मरणप्रत्यक्षाभ्यां सकाशात् ।

१०४१. प्रत्यभिज्ञायमानत्वादिति । १०४२. सौगतः । १०४३. तयोः पूर्वोत्तरविवर्तयोः । १०४४. अन्यथेति शेषः । प्रत्यभिज्ञानरूपाया बुद्धेरसंचरदोषप्रसङ्गात्, बुद्धेरनुत्पादप्रसङ्गादिति वा । १०४५. पूर्वोत्तरविवर्तव्यापिनः । १०४६. प्रत्यभिज्ञानरूपायाः । १०४७. (क्षणिकस्य विषयस्य) । १०४८. (प्रत्येकज्ञानस्य पूर्वं जातस्य क्षणिकमते निरन्वयविनाशात्तयोः संकलनरूपायाः प्रत्यभिज्ञाननामिकाया बुद्धेरुत्पत्त्यसंभवादित्यर्थः) । १०४९. बुद्धेः उत्तराजननं कुत इत्याह । १०५०. स्मरणादर्शनयोः । १०५१. गमनं प्रवर्तनम् । १०५२. यतः क्षणिकत्वेन विषयो निरन्वयं विनष्टं । १०५३. यद्यपि नित्यत्वाभावे प्रत्यभिज्ञानलक्षणबुद्धिसंचरणं नास्ति, तथाप्यन्यबुद्धिसंचरणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह जैनः । १०५४. नित्यत्वसाधनप्रस्तावे । १०५५. तदेवेदमिति । १०५६. वासनायाः । १०५७. दर्शनस्मरणयोः । १०५८. संवेदने वास्ये । वासना वासकः । १०५९. बुद्धिकारणमेव वासकमित्याशङ्क्य कथंचिन्नित्यत्वाभावे वास्यवासकभावायोगः कुत इति वाशङ्क्याह । १०६०. कथंचिन्नित्यत्वाभावे । १०६१. कथंचिन्नित्यत्वाभावे । १०६२. प्रत्यभिज्ञानं कर्तृपदम् । १०६३. कथंचिन्नित्यत्वप्रकारेण । १०६४. विच्छित्यभावात् । १०६५. बुद्धेः प्रत्यभिज्ञानरूपायाः । १०६६. एतदेव भावयति । १०६७. प्रत्यभिज्ञानस्य । १०६८. बसः । १०६९. सांख्यः । १०७०. सच्चासच्च सदसती, तयोः समयः कालः सदसत्समयः, स्वस्य सदसत्समयः स्वसदसत्समयस्तस्मिन् । सति क्षणिके कारणे सव्येतरविषाणवत् कार्यकारणभावो नास्ति । कारणस्य क्षणिकरूपस्यासत्समयेऽर्थक्रिया नास्ति, मृतस्य शिखिनः केकायितमिव । १०७१. तस्य क्षणिकत्वस्य । १०७२. प्रत्यभिज्ञानरूपबुद्धेः । १०७३. आत्मत्वादिसंभावस्य सर्वदा विच्छेदाभावात्कालभेदासिद्धेरिति भावः । १०७४. प्रत्यभिज्ञानरूपायाः । १०७५. तदेवेदमिति । १०७६. अत्राहुर्जैनाः—सांख्यमतं न सम्यक् । १०७७. जैनैः । १०७८. एतदेव भावयति । १०७९. पिण्डाद्याकारस्य । १०८०. कटककुण्डलादिपर्यायाकारतया ।

१०८१. क्षणिकस्य कारणस्य । १०८२. स्वस्य क्षणिकक्षणस्य कारणस्य । १०८३. 'कारणं', वा पाठः । १०८४. यथा न भवति । १०८५. कार्यकरणम् । १०८६. स्वस्य क्षणिकस्य कारणस्य । सर्वथा क्षणिके, न

तु कथंचित् क्षणिके । १०८७. कार्यकरणम् । १०८८. किं तु कथंचित् क्षणिकस्य स्वसत्समये स्वासत्समये च कार्यं भवत्येवेति व्यवस्थापयति । १०८९. जैनानाम् । १०९०. प्रतीत्या । १०९१. सम्यग्ज्ञानात् । १०९२. सुवर्णादिद्रव्यस्य । १०९३. निराकरोति । १०९४. हेतोः । १०९५. सदसत्समये कार्यकारित्वेन द्रव्ये सम्यक्प्रतीयमाने । १०९६. सम्यग्ज्ञानस्योपाध्यायः । १०९७. सदसत्समये कार्यकारित्वेन । १०९८. एकत्र युगपद् द्वयोः । यौगः (सांख्यो वा) । १०९९. वस्तुनि । ११००. द्रव्यपर्याययोर्भेदैकान्तात् कथमेवास्य स्वसदसत्समये कार्यकरणमिति नैयायिकेनाशङ्किते आह । ११०१. 'द्रव्यपर्याययोर्भेदे' इति पाठान्तरम् । ११०२. नैयायिकः (सांख्यः) । ११०३. सर्वथा क्षणिकत्वबाधनं यस्मात् । ११०४. वस्तुनः । ११०५. तस्य सामान्यप्रत्यक्षस्य । ११०६. मृत्पिण्डाख्यपर्यायस्य वर्तमानकाले इदानीन्तनतयानुभवो विद्यते, स्थासकाले तु स विच्छिद्यते । स्थासस्यापि स्ववर्तमानकाले तथा सोनुभवो विद्यते, कोशकाले तु स विच्छिद्यते । मृद्द्रव्यस्य तु मृत्पिण्डस्थासकोशादिकाले सर्वदैवेदानीं मृदिदानीं मृदित्यनुभवो न विच्छिद्यते । ११०७. द्रव्यातयानुभवविच्छेदे । ११०८. द्रव्यत्वविरोधस्तु अनित्यैकान्तद्रव्यव्यवस्थापनादित्युक्ते आह । ११०९. द्रव्ये । १११०. तत् तस्मात् । ११११. प्रत्यभिज्ञानरूपः पूर्वोत्तरसम्यक्वर्तिकोटिद्वयसंकलनरूपो वा परामर्शः । १११२. भाष्यानुसारितया कारिकां प्रकारान्तरेण व्याख्याति । १११३. क्षणेन । १११४. क्षणः । १११५. अन्येन दृष्टमन्यक्षणः कुतो न प्रत्यभिज्ञातुमर्हति ? यावता कार्यकारणभावलक्षणसंबन्धवशादन्यः प्रत्यभिज्ञातुं समर्थो भविष्यतीत्याशङ्क्याह । १११६. तयोः पूर्वोत्तरक्षणयोः कार्यकारणादिसंबन्धे सत्यपि कुतो न ज्ञातुमर्हति ? यावता तयोरुपादेयत्वलक्षणसंबन्धविशेषे सत्युत्तरोपि प्रत्यभिज्ञातुं समर्थः । इत्युक्ते आह ।

१११७. पूर्वापरयोर्दर्शनस्मरणयोः संकलनज्ञानम् । १११८. एतदेव भावयति । १११९. पूर्वोत्तरक्षणयोः । ११२०. पितापुत्रयोः । ११२१. पितापुत्रयोः पूर्वोत्तरप्रमातृक्षणयोः । ११२२. तस्य पृथक्त्वस्य । ११२३. पूर्वोत्तरक्षणेभु । ११२४. पितापुत्रादिलक्षणेभु । ११२५. स्वकीयक्षणेभवे । ११२६. न पुनः पितापुत्रादिषु । ११२७. स्याद्वादपक्षे । ११२८. इतरेतराश्रयणम् । ११२९. नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानादिति कारिकापदसमर्थनम् । तदविच्छिदा इति पूर्वोक्तमेव व्याख्याति । ११३०. तस्य स्याद्वादिनः । ११३१. मृत्पिण्डात्स्थासोत्पत्तौ यथा भेदः प्रतिभासते, तथाऽभेदोपि प्रतिभासते मृद्रूपतया यतः । ११३२. स्याद्वादिभिः । ११३३. तस्य अनुगताकारस्थितेरनुभवस्य । ११३४. स्थितिं विना नाशोत्पादप्रकारेण । ११३५. नुट्यदरूपतया निर्णयाभावात् । ११३६. सौगतैः ११३७. चैतन्यशून्यः । ११३८. नित्यत्वैकान्तपक्षे दूषणमाहुरधुना । ११३९. स्वभावेनाविनिर्भागो निरंशत्वं यस्मिन् तस्मिन् । स्वभावाभेदे नित्यपक्षेपीत्यर्थः । ११४०. न केवलं क्षणिके प्रत्यभिज्ञानाभावः, किन्तु नित्यपक्षेपीत्यपिशब्दस्यार्थः । ११४१. प्रत्यभिज्ञानलक्षणम् । ११४२. दर्शनक्षणात्, प्रमातृक्षणादन्यो विषयलक्षणः क्षणो दर्शनक्षणान्तरं, तस्मिन् यथा न संकलनम् । ११४३. निर्विकल्पकप्रत्यक्षाविषये । ११४४. आशङ्क्यम् । ११४५. दर्शनप्रत्यभिज्ञानयोः । ११४६. हेतुः । ११४७. दर्शनं वर्तमानानुभवः । ११४८. प्रत्यभिज्ञानसमयात् । ११४९. प्रत्यवमर्शः, प्रत्यभिज्ञानम् । ११५०. तस्य वस्तुनः । ११५१. सर्वथा क्षणिकपक्षे नित्यपक्षे च । ११५२. ज्ञानं प्रत्यक्षादि । ११५३. कथंचित्क्षणिकं कथंचित्च नित्यमिति सिद्धिः । ११५४. अनेकान्ते एव ज्ञानसंचारो यदि, तर्हि अनेकान्तस्य प्रत्यक्षेणैव प्रतीतेस्तत्सिद्ध्यर्थं प्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्याद्यनुमानं निरर्थकं स्यादित्युक्ते आह । ११५५. संदेहापन्नं प्रति । भेदकल्पनयैव । ११५६. आदिपदेन उत्पत्तिव्ययौ । ११५७. स्थित्यादीनां परस्परभेदकल्पनेन । ११५८. परस्परनिरपेक्षे सर्वथा नित्येऽनित्ये च ।

११५९. तयोः कथंचिन्नित्यानित्ययोः । ११६०. एकस्य वस्तुनः सर्वथा नित्यत्ववत्सर्वथा क्षणिकत्ववद्वा । ११६१. एकस्य वस्तुनः उत्पादादिस्वरूपत्वे विरोधाद्यनुषङ्ग इत्युक्ते आह । ११६२. एकस्मिन् वस्तुनि उत्पादादिस्वभावभेदोपलम्भेपि । ११६३. नानात्वं वैयधिकरण्यम् । ११६४. यथैकस्मिन् चेतसि ज्ञानक्षणे ग्राह्यग्राहकाकारौ न नाना, न च विरुद्धावित्यादिवत् । ११६५. प्रत्यक्षेण । ११६६. अन्यथेति शेषः । ११६७. सौगतेनाङ्गीक्रियमाणे (यदि तर्हि) सति तु । ११६८. वस्तुनि । ११६९. एकत्वमित्यर्थः । ११७०. यद्यशक्य-

विवेचनत्वात्सर्वत्रैकत्वं तर्हि रूपरसादीनामप्येकत्वमस्त्वित्याशङ्क्यामाह जैनः । ११७१. मातुलिङ्गादौ । ११७२. रूपरसादीनाम् । ११७३. एवं तर्ह्यात्माकाशादीनामप्येकवस्तुत्वमस्त्वित्याशङ्क्याह जैनः । ११७४. परैकद्रव्यतादात्म्यभावः किमिति प्रतिपाद्यते । यावता सत्तालक्षणपरैकद्रव्यतादात्म्यमस्त्येवात्मादीनामित्याशङ्क्याह । सत्तालक्षणस्यैकद्रव्यस्य तादात्म्ये । ११७५. आत्माकाशादीनामपि । ११७६. सत्तालक्षणम् । आत्माकाशादयस्तस्य पर्यायाः । ११७७. यतो नानात्वं न । ११७८. एकत्वपक्षे सौगतोक्तदोषः । अनेकत्वपक्षे अद्वैतवाद्युक्तदोषः । ११७९. यथा चौरादचौरः पारदारिकाद्वा अपारदारिको भिन्नः । ११८०. स्थित्यादेरप्येकवस्तुन्यनुपलम्भो भविष्यति । ततश्च विरोधोनुपलम्भप्रकारेण भवेदित्याशङ्क्यामाह । ११८१. एवं जात्यन्तरत्वे सति । ११८२. विरोधस्य । ११८३. एकस्मिन्वस्तुन्येकदा शीतोष्णयोरनुपलम्भोऽतस्तत्र विरोधः । यत्र वस्तुन्येकत्र स्थित्यादीनामुपलम्भस्तत्र तु न विरोधः । ११८४. यथैकस्यामेव संविदि युगपद् वेद्यवेदकाकारयोरुपलम्भः । ११८५. एकत्र वस्तुनि । ११८६. चलिता प्रतिपत्तिश्च संशयः । ११८७. चलनाभावादेव । ११८८. द्रव्यापेक्षया । ११८९. पर्यायापेक्षयाभ्युपगतयोः । ११९०. एकवस्तुनि । ११९१. ततो न दूषणरूप इत्यर्थः । ११९२. यथा संविदि वेद्यवेदकाकाराणां परस्परगमनाभावः । ११९३. संकरव्यतिकरप्रसङ्गनिराकरणेन । ११९४. वस्तुनि । ११९५. स्थितिं प्रति, विनाशं प्रति, उत्पादं प्रति च प्रत्येकम् । ११९६. स्थित्यादेरप्येकवस्तुन्यनुपलम्भो भविष्यति । ततश्च विरोधोनुपलम्भप्रकारेण भवेदित्याशङ्क्यामाह । ११९७. परस्परसापेक्षत्वेन । ११९८. (प्रमाणापेक्षया यदनेकान्तं तदेव नयार्पणापेक्षया एकान्तरूपं भवतीत्यर्थः) । ११९९. नयप्रमाणप्रकारेण । १२००. परस्परसापेक्षसम्यगेकान्तस्य नयस्य ।

१२०१. स्वरूपेण । १२०२. वस्तु । १२०३. सत्तास्वरूपेण । १२०४. व्ययं न प्राप्नोति वस्तु । १२०५. सत्यं यथा भवति तथेत्यर्थः । १२०६. पर्यायापेक्षयेत्यर्थः । १२०७. ते भगवतः । १२०८. वस्तुनि । १२०९. सदित्युक्ते वस्तु इत्यर्थः । उत्पादव्ययप्राव्यलक्षणं सत् । सद द्रव्यलक्षणम् । १२१०. (असत्यतयान्वयदर्शनस्य हेतुत्वं मा भूदिति व्यक्तग्रहणम्) । १२११. यतस्तत्रोत्पत्तिविनाशौ दृश्येते । १२१२. व्यक्तमित्युक्तेऽपि कुतो न व्यभिचार इत्युक्ते आह । १२१३. त एवैते नखादय इत्येकत्वान्वयो बाध्यते प्रमाणेन । ततश्च तत्सदृशा इमे नखादयः इति वक्तुं घटते । १२१४. असत्यत्वात् । १२१५. अन्वयाकारेण । १२१६. विशेषाः, पर्याया भेदा वा । नाशोत्पादरूपविशेषानुभवादेव । मृत्पिण्डे विनाशोऽप्यनुभूयते इत्येकानुभवविषयौ नाशोत्पादावगन्तव्यौ । १२१७. यतः शुक्ले शङ्खे पीताद्याकारलक्षणस्य भ्रान्तदर्शनविशेषस्यानुभवेऽपि तद्विनाशोत्पादाभावस्तत्र । १२१८. किन्तु शुक्लाकारविनाशेनेह जहद्वृत्तिरेव पीताकारः । १२१९. जीवादौ । १२२०. उत्पादादिरूपतया भेददर्शनम् । १२२१. विशेषदर्शनस्य । १२२२. अन्वयदर्शनात्स्थितिप्रकारेण विशेषदर्शनादुत्पादादिप्रकारेण च । १२२३. जीवादिवस्तुनः सकाशात् । १२२४. उत्पादविनाशमात्रस्य स्थितिमात्रस्य च । १२२५. उत्पादविनाशयोः पर्यायनयविषयत्वं स्थितेस्तु द्रव्यार्थिकनयविषयत्वमिति भावः । १२२६. परस्परसापेक्षत्वेन प्रकटीभूतस्य । १२२७. समुदितस्य । १२२८. (प्रकृतकारिकायाम्) १२२९. उत्पादविनाशकारौ स्थितिमात्रं त्वचलशब्देन । १२३०. घटादिषु । १२३१. कालाण्वादिः परः । १२३२. द्रव्यरूपेण । १२३३. परपक्षनिराकरणे युक्तिमाह । १२३४. पुद्गलस्य । १२३५. पर्यायरूपेणैव द्रव्यरूपेणापि ।

१२३६. पर्यायान्तरस्य । १२३७. यथा घटस्य मृदूपेण सतो घटलक्षणातिशयोपलम्भः । १२३८. सदादिसामान्यात्मना सत एव । १२३९. नापि विनाश एव न च स्थितिरेवेत्यनन्तरं वक्ष्यमाणद्वयमादिशब्देन लभ्यम् । १२४०. प्राक्तनहेतुः साध्यद्वयोपि योज्यतेति भावः । १२४१. तन्त्वादौ पटस्वभाव एव, न तु घटस्वभावः । १२४२. घटस्वभावभूतमृदादिसामान्यरूपेण । १२४३. सदादिसामान्येन । १२४४. उपादानमृत्पिण्डस्य । १२४५. उपलभ्यते । १२४६. तेनैव सतोतिशयान्तराधानं घटो भवतु । तथाप्यतिप्रसङ्गपरिहारः कथमित्याशङ्क्यामाह । १२४७. प्राक्सतोतिशयान्तरापलब्धिः । १२४८. सर्वव्यक्तियव्यापित्वात्साधारणत्वं सदादिसामान्यस्य । १२४९. 'गतसामान्येन' मुद्रितप्रतौ पाठः । १२५०. मृत्पिण्डतन्त्वादिव्यक्त्यपेक्षया साधारणत्वं पार्थिवत्वस्याप्तेजोवाय्वाद्यपेक्षयाऽसाधारणत्वं च । १२५१. घटादिरूपेण । नेति सम्बन्धः । १२५२.

मृदादिद्रव्यस्य । १२५३. कपालमालायां घटोपलब्धिः । १२५४. तस्य घटस्य । १२५५. मृद्रूपतया विद्यमानस्य । १२५६. घटभावेन । १२५७. घटविनाशोत्तरकालम् । १२५८. प्रध्वंसाभावात्मकस्येत्यर्थः । मृदादिद्रव्यस्य । १२५९. कपालरूपेण सतोपि घटस्य । १२६०. तस्य घटस्य । १२६१. कार्यस्वरूपाणाम् । १२६२. सव्यविषाणस्थानेऽसव्यविषाणस्य, असव्यस्थाने च सव्यस्योत्पत्तिप्रसङ्गः । १२६३. 'प्रागभावाप्रागभाव्यविशेषात्' इति कपुस्तकपाठः । १२६४. सव्यविषाणस्य । १२६५. (सौगत आह) यत्र वस्तुनि । १२६६. कार्यस्य । १२६७. जैनो वक्तोतः । १२६८. तथापि दक्षिणविषाणे सव्योत्पत्तिः स्यात् । १२६९. अभावस्य नीरूपत्वे सति । १२७०. अभावस्य भावान्तरस्वभावत्वासंभवाविशेषो यतः । १२७१. विषाणादीनाम् । १२७२. प्रागभावनियमः । १२७३. प्रागभावस्य तुच्छत्वपक्षे । १२७४. विवक्षितगोमस्तकप्रदेशे । १२७५. इति अनेन प्रकारेण । १२७६. उत्पत्तिपक्षस्य । १२७७. न केवलमुत्पत्तिनियम इत्यपिशब्दार्थः । १२७८. तस्य प्रागभावस्य । १२७९. अन्यथा, उत्पत्त्या प्रागभावावगतिश्चेत्तर्हि ।

१२८०. प्रागभावस्याभावस्वभावत्वे उपादानसङ्करप्रसङ्गो यतः । १२८१. यथा घटस्य प्रागभावो मृत्पिण्डः । १२८२. घटोत्पादः । १२८३. मृत्पिण्डलक्षणस्य । १२८४. एकहेतुनियमात् । य एव हेतुः कार्योत्पादस्य स एवं क्षयस्य । १२८५. एवमुत्पादविनाशयोरेकहेतुकत्वे भेद एव द्वयोः स्यादित्युक्ते आह लक्षणादिति, लक्षणभेदादित्यर्थः । १२८६. जात्याद्यवस्थानात् तौ न पृथक् । जातिः सामान्यम् । १२८७. उत्पादादयो निरपेक्षा भविष्यन्तीत्युक्ते आह । १२८८. एकहेतुकत्वादिति यावत् । अयं व्यतिरेकी हेतुः । १२८९. उपादानक्षयादन्यः । १२९०. घटस्यानुपादानं तन्तवः, तेषां क्षयस्तस्याग्न्यादिभिन्नहेतुकत्वम् । तन्त्वपेक्षयानुपादेयो घटः । तस्योत्पादः । तस्य मृदादिरूपभिन्नहेतुकत्वम् । १२९१. एकहेतोर्नियमो न दृष्टः । १२९२. एकहेतोः । १२९३. तयोः जन्मविनाशयोर्मध्ये जन्म, कपालमालाया उत्पादः सहेतुकः, विनाशस्तु निर्हेतुक इति बौद्धोक्तस्य नियमवचनस्य । १२९४. यागः । १२९५. घटविनाशस्य । १२९६. अवयवकर्म, परमाण्वादिगतक्रिया । १२९७. बलवत्पुरुषादिस्वार्म्भकावयवादिलक्षणायाः प्रक्रियायाः कथनस्य । १२९८. सा क्रिया । १२९९. घटविनाशकपालोत्पादयोः । १३००. अवयवविभागः । १३०१. एकहेतुः, मुद्रादिः । घटविनाशकपालोत्पादयोः । १३०२. महास्कन्धो घटादिः । १३०३. लघुः कपालमाला । १३०४. भेदश्च संघातश्च तदुभयं चेति, तेभ्यः । महास्कन्धानां भेदेभ्यो लघुकार्याण्युत्पद्यन्ते । लघुस्कन्धानां संघातेभ्यो महाकार्याण्युत्पद्यन्ते इति भावार्थः । १३०५. महाशास्त्रतत्त्वार्थाधिगमसूत्रकर्तुः श्री-उमास्वामिनः ।

१३०६. स्वस्य कपालस्य । १३०७. (साध्यविकलत्वं समर्थयन्ति) । तन्तवः कारणरूपाः । १३०८. पटसमानपरिमाणतया प्रतीतिः कथमित्याशङ्क्याह—कार्योन्मुखानाम् । १३०९. पटपरिणामं प्रति । १३१०. रण्डाकरण्डतन्तुनामपि पटपरिणामत्वप्रसङ्गात् । १३११. पटस्वरूपेणापरिणतं पटस्वरूपं न भवति । १३१२. तेन तेनासाधारणेन (प्रतिविशिष्टेन) रूपेण भवनं तद्भावं । १३१३. (वाचकमुख्यस्य श्री-उमास्वामिनः) । १३१४. अयं पटपरिणामः, अयं परिणामी तन्तुर्नित्येवम् । १३१५. तव यागस्यापि । प्रत्ययभेदान्नेदेऽङ्गीक्रियमाणे । १३१६. सत्सु तन्तुषु पटो नासत्स्विति । १३१७. (अन्वयव्यतिरेकौ स्पष्टयन्ति) । १३१८. पर्यायरूपेणैव द्रव्यरूपेणापि । तन्तुत्वेनापि त्यक्तरूपस्येत्यर्थः । १३१९. तन्तुपिण्डस्य । १३२०. (नित्यवादिमतेनोदाहरणम्) यथाऽपरित्यक्तात्मपूर्वरूपवर्तिनस्तन्तुसमूहस्य पटं प्रत्युपादानत्वायोगः । १३२१. उपादानोपादेयरूपस्य । १३२२. द्रव्यं तन्तुः, भावः पटः, तयोः । १३२३. उपादानोपादेयभावस्य । १३२४. तन्तुपिण्डानाम् । १३२५. तस्य उपादानोपादेयभावस्य । १३२६. तस्य, उपादानोपादेयभावस्य । १३२७. मृत्पिण्डादीनाम् । १३२८. आतानवितानीभूतं तन्तुद्रव्यमसाधारणम् । १३२९. आतानवितानरूपः पूर्वाकारः । १३३०. पटलक्षणम् । १३३१. त्यक्तं पर्यायरूपेण, अत्यक्तसाधारणद्रव्यरूपेण । १३३२. पूर्वरूपमुन्दुकाद्यपेक्षया त्यक्तात्मकं तन्त्वपेक्षयाऽत्यक्तात्मकम् (अतस्तन्त्वपेक्षया पूर्वरूपेण वर्तते पटापेक्षया तु अपूर्वरूपेण वर्तते) । १३३३. यद्, द्रव्यम् । १३३४. बौद्धमतानुसारेण । १३३५. सांख्यमतानुसारेण । १३३६. क्रमेणोदाहरणद्वयम् । १३३७. आतानवितानविशेषरहित उन्दुकाकारः । १३३८. तन्तुकादेः । १३३९. उत्पत्तिमपेक्ष्य प्रतिपाद्यमानं पटवदिति ।

१३४०. कार्यत्वादिति । १३४१. सूक्ष्मरूपेण स्थूलरूपेण च । १३४२. हेतोः । १३४३. विरुद्धः कार्यत्वादिति हेतुरित्यनेन पूर्वोक्तेनान्वयः । १३४४. मुद्रादिप्रहारो निमित्तकारणमुपादानकारणं चोभयोरेको मृत्पिण्डः । १३४५. घटविनाशकपालोत्पादभावस्य । १३४६. तयोरुत्पादविनाशयोः । १३४७. एकहेतुकत्वनियमादित्यर्थः । १३४८. उपादानस्य क्षयः । १३४९. नाशोत्पादयोरलक्षणभेदात् । १३५०. पर्यायापेक्षया । १३५१. बसः (बहुव्रीहिसमासः) । १३५२. परो वक्ति— एकमृत्पिण्डे कार्यकारणयोरभेदोस्ति भवन्मतापेक्षया तथापि साधनमस्ति, अतो व्यभिचार इत्युक्ते आहुर्जैनाः । १३५३. कार्यकारणरूपयोः । १३५४. नियतपूर्वक्षणवर्तित्वं कारणलक्षणम् । नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्यलक्षणम् । १३५५. (सर्वथा) । १३५६. द्रव्यापेक्षया । १३५७. ताभ्यामुत्पादविनाशाभ्यां सहाभेदेन स्थिताश्च ते जातिसंख्यादयः, ते आत्मानो ययोर्नाशोत्पादयोः । तदभेदस्थितितज्जातीत्यादि पाठान्तरम् । १३५८. पुरुषनाशोत्पादौ यथा कथंचिदभिन्नौ । १३५९. नाशोत्पादौ भिन्नौ न । १३६०. जात्याद्यवस्थानेपि भिन्नलक्षणसंबन्धिनौ कुतो न भवेतामित्याशङ्क्याह । १३६१. उत्पादविनाशादिरूपा शक्तिः । १३६२. तेषामुत्पादादीनाम् ।

१३६३. यथैकस्मिन् मातुलिङ्गे रूपरसादयः कथंचिद्भिन्नाः । १३६४. सांख्यः । १३६५. उत्पादाद्यात्मनः । १३६६. कथंचिदभिन्नलक्षणत्वादिति पाठान्तरम् । १३६७. (तेषामुत्पादादीनाम्) १३६८. (सूत्रकारवचः) १३६९. तेषामुत्पादादीनाम् । १३७०. वस्तुनः । १३७१. उत्पादः सन्, स्थितिरपि सती, विनाशः सन्नित्येवम् । १३७२. अङ्गीक्रियमाणे । १३७३. उत्पादादीनां प्रत्येकम् । १३७४. उत्पादादयः केवला न सन्त्येवेति ग्रन्थकथनेन । १३७५. उत्पादादेः । १३७६. एको हेमघटार्थी, अन्यो हेममौल्यर्थी, तृतीयः केवलं सुवर्णार्थी । १३७७. क्रमेण कारणभूतेषु । १३७८. यथाक्रमं कार्यभूतम् । १३७९. स्वामिसमन्तभद्रः । १३८०. जनस्य । १३८१. तेषां घटमौलिसुवर्णार्थिनां क्रमेण यद्विषादहर्षादासीन्यानि तेषाम् । १३८२. तेषां विषादादीनाम् । १३८३. बौद्धेनाङ्गीक्रियमाणे । अयमाशयः—पराशङ्का, विषादादीनां हेतवो न केचित् सन्ति, किन्तु पूर्वविषादादिवासनामात्रनिमित्ताद्विषादादयो जायन्ते, इत्युक्ते बौद्धेन जैनैः पूर्वतद्वासनेत्याद्युक्तम् । १३८४. तेषां विषादादीनाम् । १३८५. पुनराह सौगतः । १३८६. घटभङ्गादिज्ञापककारणनियमात् । १३८७. इतो जैनः । १३८८. अन्वयः स्थितिः ।

१३८९. तेषामुत्पादादीनाम् । १३९०. 'प्रतीतेः' मुद्रितप्रती पाठः । १३९१. पयो दुग्धमेवाहं भुञ्जे इति यस्य व्रतं नियमः स न दध्यत्ति, दधि अहं भुञ्जे इति यस्य व्रतं नासौ पयोति । यस्य चागोरसमहं भुञ्जे इति व्रतं नासावुभयमस्ति, यतो गोरसरूपेण तेषामेकत्वात्, तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम् । १३९२. गोरसशब्देन दधिदुग्धद्वयं गृह्यते । १३९३. दधिशब्दस्यार्च्यत्वात्पूर्वनिपातः । अत एव नाशादिभिः सह यथासंख्यं न कर्तव्यम् । किन्तुवलङ्कारकारैर्विधानान्दिभिर्वक्ष्यमाणार्थं एवात्रापि द्रष्टव्यः । १३९४. पुंसाम् । १३९५. इति, एवं त्रयात्मकत्वेन प्रतीतिविषयीकरोतीत्यर्थः । १३९६. पयःस्वरूपेण नश्यति गोरसमिति साध्यं ध्येयम् । १३९७. अङ्गीक्रियमाणे । १३९८. दध्नोत्पद्यते इति साध्यमत्र । १३९९. अस्ति च पयोवर्जनम् । १४००. गोपयसोर्भिन्नतया अगोरसान्तः-पातित्वे सतीत्यर्थः । १४०१. एवम्, एकवस्तुनस्त्रयात्मकत्वप्रकारेण । १४०२. कथंभूतो घटोत्पादः ? पटोत्पादाद्व्यावृत्तः, मटोत्पादाद्व्यावृत्तः, लुकटोत्पादाद् व्यावृत्तः । एवं स्थितिनाशौ चानन्तार्थस्थितिनाशाभ्यां व्यावृत्तौ । १४०३. व्यावृत्तानाम् । १४०४. नन्वेवं व्यावृत्तीनामेवानन्त्यं स्यात्तु तदपेक्षयोत्पत्त्यादीनां, तासामवस्तुरूपत्वादित्याशङ्क्याह । १४०५. अगोव्यावृत्तिर्गौः, अपटव्यावृत्तिः पट इत्यादीनाम् । १४०६. विवक्षा चाविवक्षा चेत्यादिकारिकाव्याख्याने तदेकैकशः परस्परं व्यावृत्तोपि परिणामविशेषा इत्यादिना, यथावसरमन्यत्र च समर्थनात् । १४०७. तेन प्रकारेण । १४०८. एकस्मिन् वस्तुन्येव । १४०९. एकस्मिन्नेव वस्तुनि । १४१०. आशिषमाह । १४११. सर्वेषां मङ्गलानां मध्ये उत्कृष्टं मङ्गलमित्यर्थः । १४१२. स्वामिनो विशेषणं प्रेक्षावत्त्वं ज्ञेयम् ।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

जीयादष्टसहस्री देवागमसंगतार्थमकलङ्कम् ।

गमयन्ती सन्नयतः प्रसन्नगम्भीरपदपदवी ॥१॥

कार्यकारणनानात्वं गुणगुण्यन्यतापि च ।

सामान्यतद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीष्यते ॥६१॥

५५२. कार्यग्रहणात्कर्मणोरवयविनोऽनित्यस्य गुणस्य प्रध्वंसाभावस्य च ग्रहणं, कारणवचनात् समवायिनस्तद्वतः प्रध्वंसनिमित्तस्य च । गुणशब्दशब्दान्नित्यगुणप्रतिपत्तिः, गुणिवचनान्तदाश्रयस्य । सामान्या-
भिधानात्परापरजातिप्रत्ययः । तद्वद्वचनादर्थप्रत्यय इति । क्रियातद्वतोरवयवविनोर्गुणगुणिनोर्विशेषतद्वतोः
सामान्यतद्वतोरभावतद्विशेष्ययोश्चान्यतैव, भिन्नप्रतिभासत्वात् सद्वाविन्ध्यवदित्युक्तं भवति । न चात्रासिद्धो हेतुः,
साध्यधर्मिणि भिन्नप्रतिभासत्वस्य सद्भावनिश्चयात् । तत एव न सन्दिग्धासिद्धोऽज्ञातासिद्धो वा । नाप्यन्यतरा-
सिद्धो, वादिप्रतिवादिनोरविवादात् । भिन्नपुरुषप्रतिभाविषयेणाभिन्नेनार्थेन व्यभिचार इति चेन्नैकपुरुषापेक्षया
भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतुत्वात् । तथापि क्रमेणैकप्रतिपत्तृभिन्नप्रतिभाविषयेणैकेन वस्तुनानेकान्त इति चेन्न,
भिन्नलक्षणत्वस्य भिन्नप्रतिभासत्वस्य हेतुत्वात् । भिन्नं हि लक्षणं कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्च । न
चैकस्य वस्तुनो भिन्नलक्षणत्वेन प्रतिभासोस्ति, येन व्यभिचारः । तत एव न विरुद्धो हेतुः, साकल्येनैकदेशेन वा
विपक्षे वृत्त्यभावात् । नापि कालात्ययापदिष्टः, पक्षस्य प्रत्यक्षागमबाधाभावात् । कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः
सामान्यतद्वतोस्तादात्म्यमभिन्नदेशत्वात् । ययोरतादात्म्यं न तयोरभिन्नदेशत्वम् । यथा सद्वाविन्ध्ययोः ।
अभिन्नदेशत्वं च प्रकृतयोः तस्मात्तादात्म्यम् । इत्यनुमानेन पक्षस्य बाधेति चेन्न, शास्त्रीयदेशाभेदस्यासिद्धत्वात्,
कार्यस्य स्वकारणदेशत्वात् कारणस्यापि स्वान्यकारणदेशत्वात् ।

५५३, एतेन गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्च देशभेदस्य प्रतिपादनात्, लौकिकदेशाभेदस्य तु
व्योमात्मादिभिर्व्यभिचारादस्यानुमानस्यासमीचीनत्वात्, प्रकृतपक्षबाधकत्वासंभवात् । कथंचित्तादात्म्यस्य प्रत्यक्षतः
प्रतीतेः सर्वथा भेदपक्षस्य बाधेति चेन्न, तद्विरोधात् । तत एव भेदो मा भूदिति चेन्न, भेदस्य पूर्वसिद्धत्वात्
तादात्म्यस्य पूर्वसिद्धेरसिद्धेः । सिद्धौ वा कार्यकारणादिविरोधात्, धर्मधर्मित्वाधिकरणाधेयतादिविरोधात्,
क्रियाव्यपदेशादिभेदविरोधाच्च तयोर्न तादात्म्यं, भेदतादात्म्ययोर्वैयधिकरण्याच्च परस्परविरोधाच्छीतोष्णस्पर्शवत् ।
तयोरैकाधिकरण्ये संकरव्यतिकरापत्तिः । तदनापत्तौ पक्षद्वयोक्तदोषानुषङ्गः । प्रत्येकं तद्वद्विरूपत्वोपगमे
वाऽनवस्थानादप्रतिपत्तिरभावश्च । इति वैशेषिकस्य अवयवगुणसामान्यतद्वतां व्यतिरेकैकान्तमाशङ्क्य
प्रतिविधत्ते—

एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावोद्बहूनि वा ।

भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥६२॥

५५४. कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोश्चान्यत्वमेकान्तेन यदीष्यते तदैकस्य कार्यद्रव्यादेरनेकस्मिन् कारणादौ वृत्तिरेषितव्या, तदनिष्टौ कार्यकारणभावादिविरोधादकार्यकारणादिवत् । तद्वृत्तिश्चाभ्युपगम्यमाना प्रत्याश्रयमेकदेशेन सर्वात्मना वा स्यात् ? तत्र एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्यधिकरणं न तावदेकदेशेन, निश्चदेशत्वात् । नापि सर्वात्मना, अवयव्यादिबहुत्वप्रसङ्गात् ।

यावन्तो ह्यवयवास्तावन्तोऽवयविनः स्युस्तस्य प्रत्येकं सर्वात्मना वृत्तत्वात् । यावन्तश्च संयोग्यादयो गुणिनस्तावन्तः संयोगादयोनेकस्था गुणाः प्रसज्यन्ते । यावन्तः सामान्यवन्तोऽर्थास्तावन्ति सामान्यानि भवेयुस्तत एव । अथापि कथंचित्प्रदेशवत्त्वं मन्येतावयव्यादीनां तत्रापि वृत्तिविकल्पोनवस्था च । तथात्रावयव्यादि सर्वं तदेकमेव न स्यादिति वृत्तेर्दोषोऽनाहते मते दुर्निवारः । नैकदेशेन वर्तते, नापि सर्वात्मना । किं तर्हि ? वर्तते एवेति चायुक्तं, प्रकारान्तराभावात् ।

५५५. ननु च समवाय एव प्रकारान्तरं वर्तते, समवैतीति संप्रत्ययात्, तद्व्यतिरेकेण वृत्त्यर्थसंभवादिति चेन्न, तत्रैव विवादात् । एतदेव हि विचार्यते, किमेकदेशेन समवैति प्रत्याश्रयं सर्वात्मना वाऽवयवादिष्ववयव्यादिः, गत्यन्तराभावादिति । तत्र च निगदितो दोषः । तदेवं कार्यगुणसामान्यानां स्वाश्रयेभ्यो विवादापन्नेभ्यो नैकान्तेनान्यत्वं, तत्र वृत्त्युपलब्धेः । यस्य तु यतोऽन्यत्वैकान्तस्तस्य तत्र न वृत्त्युपलब्धिः । यथा हिमवति विन्ध्यस्य । वृत्त्युपलब्धिश्चावयव्यादेः स्वाश्रयेषु । तस्मान्नैकान्तेनान्यत्वम् । इत्यनुमानेन तत्रानात्वपक्षस्य बाधितत्वात् कालात्ययापदिष्टो भिन्नप्रतिभासत्वादिति हेतुः ।

५५६. नन्विदमनुमानमसम्यक्, स्थाल्यां दध्नानैकान्तिकत्वात् ततोऽन्यस्यापि दध्नस्तत्र वृत्त्युपलब्धेः । संयोगो हि वृत्तिरर्थान्तरभूतयोरेव प्रतीयते नान्यथेति न मन्तव्यं, संयोगिनोः संयोगपरिणामात्मनोः सर्वथान्यत्वासिद्धेरन्यथा तदभावप्रसङ्गात् । ताभ्यां भिन्नस्य संयोगस्योत्पत्तौ हि कथमेकस्यान्यत्र संयोग इति व्यपदेशो यतः स एव वृत्तिः स्यात् ? ताभ्यां तस्य जननात्तथा व्यपदेश इति चेन्न, कर्मणां कालादिना च तज्जननात्तथाव्यपदेशप्रसङ्गात् । तयोः समवायिकारणत्वात्तस्य तथा व्यपदेश इति चेत्कुतः समवायिकारणत्वं तयोरेव न पुनः कर्मादिरिति नियमः ? इह संयोगिनोः इति प्रत्ययात्तत्र तस्य समवायसिद्धेरिति चेत्स तर्हि समवायः पदार्थान्तरं कथमत्रैवेहेदमिति प्रत्ययं कुर्यान्न पुनः कर्मादिषु भेदाविशेषेपीति न बुद्ध्यामहे । तैरेव समवायिभिर्विशेषणविशेष्यभावसिद्धेः समवायस्य तत्रैवेहेदमिति प्रत्ययोत्पत्तिर्न तु कर्मादिषु, तदसिद्धेरिति चेत् स एवं कुतः सर्वत्र न स्यात् ?

५५७. तादृगदृष्टविशेषनियमादिति चेत्, किं विशेषणविशेष्यभावेन समवायेन संयोगेन वा ? तादृगदृष्टविशेषादेव समवायविशिष्टाः समवायिन इति प्रत्ययस्येहेदमिति विज्ञानस्यात्रेदं संयुक्तमिति बुद्धेश्च जननप्रसङ्गात् । सर्वस्य वा प्रत्ययविशेषस्यादृष्टविशेषवशवर्तित्वसिद्धेः किं पदार्थभेदप्रभेदपरिकल्पनया ? इति विज्ञानवादप्रवेशः स्यात्, तस्यैवादृष्टविशेषत्वसिद्धेः, चेतेना कर्मेति विज्ञानवादिभिरपि प्रतिपादनात् । तेषां वासनाविशेष एव ह्यदृष्टम् । स च पूर्वविज्ञानविशेषः इति न विज्ञानमात्राददृष्टमन्यत् स्यात् ।

५५८. ननु च नाप्रबुद्धा वासना प्रत्ययविशेषं प्रसूते सकृत्सर्वप्रत्ययविशेषप्रसङ्गात्^{१२७}। प्रबुद्धा तु तमुपजनयन्ती प्रबोधकहेतूनपेक्षते। ते च बहिर्भूता एवार्था इति न विज्ञानमात्रं तत्त्वमनुषज्यते इति चेन्न^{१२८}, विज्ञानविशेषादेव वासनाप्रबोधस्य सिद्धेः, तदभावे बहिरर्थस्य सत्तामात्रेण तदहेतुत्वादन्वयातिप्रसङ्गात्^{१२९}। न च नीलादिविज्ञानादेव तद्वासनाप्रबोधस्तत्प्रबोधादेव च नीलादिविज्ञानमिष्यते, यतः परस्परश्रयः स्यात्^{१३०}, तदधिपतिसमनन्तरादिविज्ञानानामेव नीलादिविज्ञानजनकानां तद्वासनाप्रबोधकत्वात् तद्वासनानामपि तत्कारण-विज्ञानेभ्यः प्रबोधोपगमात्, इत्यनादिरयं वासनासरित्परिपतितस्तत्प्रबोधप्रत्ययसार्थस्तद्विज्ञानप्रवाहश्च, इति किं बहिरर्थः ? कल्पयित्वाप्येतान्विज्ञानानि प्रतिपत्तव्यानि, तैर्विना तद्व्यवहाराप्रसिद्धेः। सत्सु च तेषु बहिरर्थाभावेपि स्वप्नादिषु तद्व्यवहारप्रतीतेरलं बाह्यार्थाभिनिवेशेन। ततो बहिरर्थं व्यवस्थापयितुं मनसा नादृष्टमात्रनिमित्तो विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययानुमन्तव्यः, तस्य द्रव्यादिप्रत्ययवद्बहिरर्थविशेषविषयत्वस्यावश्यमाश्रयणीयत्वात्^{१३१}। तथा चानवस्थानात् कुतः संयोगिभ्यां संयोगोर्थान्तरभूतः समवायवृत्त्या तयोरिति व्यपदिश्येत ?

स एव च स्थाल्यां दध्नी वृत्तिरिति न तेनानेकान्तिको हेतुः स्यात्^{१३२}। तत एव न विरुद्धः, सर्वार्थान्तरभूतस्य क्वचिद्व्युत्पलब्धेरभावात्। ततो निरवद्यमिदमनुमानं भेदपक्षस्य बाधकम्, इति तत्र प्रवर्तमानो हेतुः कालात्ययापदिष्ट एव, प्रत्यक्षविरुद्धत्वाच्च पक्षस्यावयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्यस्यैव साक्षात्करणात्।

५५९. नन्वेवमपि वृत्तेर्दोषो यथोपवर्णितः स्याद्वादिनां प्रसज्यते इति चेन्नायं प्रसङ्गोऽनेकान्ते, कथंचित्तादात्म्याद्वेद्यवेदकाकारज्ञानवत्। यथैव हि ज्ञानस्य वेद्यवेदकाकाराभ्यां तादात्म्यमशक्यविवेचनत्वात् किमेकदेशेन सर्वात्मना वेति विकल्पयोर्न विज्ञानस्य सावयवत्वं बहुत्वं वा प्रसज्यतेऽनवस्था वा, तथावयव्यादेरप्यवयवादिभ्यस्तादात्म्यशक्यविवेचनत्वादेव नैकदेशेन प्रत्येकं सर्वात्मना वा यतस्ताथागतः सर्वथा भेद इवावयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्येपि वृत्तिं दूषयेत्।

५६०. एतेन वैशेषिकोपि न कथंचित्तादात्म्ये वृत्तिर्विकल्पादिदूषणमापादयितुमीशः, सामान्य-विशेषवत्तत्र तदनवकाशात्। न ह्यपरसामान्यं व्यावृत्तिबुद्धिहेतुत्वाद्विशेषाख्यामपि लभमानमपहोतुं शक्यं, तस्य सामान्यैकरूपत्वेऽपरविशेषाभावप्रसङ्गात्, तदपरविशेषरूपत्वेऽपरसामान्याभावापत्तेः, तदुभयरूपत्वे सामान्यविशेषरूपयोः कथंचित्तादात्म्यस्यैवाभ्युपगमनीयत्वात्, तदेकार्थसमवायस्य कथंचिदेकद्रव्य-तादात्म्यादपरस्यासंभवात्, सामान्यस्यैवानुवृत्तप्रत्ययहेतुत्वेन सामान्यविशेषोभयाकारस्येष्टत्वाच्च। न तयोराकारयोरन्यत्रैकार्थे समवायः परस्परं वा शक्यो वक्तुं यतस्तद्वयवावयव्यादीनां कथंचित्तादात्म्यं वृत्तिः प्रकृतदूषणोपद्रुता स्यात्। किं चावयवादिभ्योवयव्यादीनामत्यन्तभेदे देशकालाभ्यामपि भेदः स्यात्—

देशकालविशेषेपि स्याद्वृत्तिर्युतसिद्धवत्^{१३३}।

समानदेशता न स्यान्मूर्तकारणकार्ययोः ॥ ६३ ॥

५६१. ^{१६५}नन्वात्माकाशयोरत्यन्तभेदेऽपि देशकालाभ्यां भेदाभावात् ततः कार्यकारणादीनां तद्भेदः^{१६६} सिध्यति, यतो युतसिद्धवृत्तिः स्यात्, इति चेन्न, ^{१६७}तयोरपि सद्द्रव्यत्वादिना भेदाभावादत्यन्त-भेदासिद्धेरभिन्नदेशकालत्वाविरोधात् । ^{१६८}परस्यापि सर्वमूर्तिर्द्रव्येषु युगपत्संयोगवृत्तेरभ्युपगमात् तयोरत्यन्तभेदानिष्ठे देशकालाभ्यामभेदाविरोधे^{१६९} तथैवावयवावयव्यादेस्ताभ्यामभेदोऽस्त्वविरुद्धः । स च कथंचिदभेदसाधनः स्यात् । ^{१७०}न चासाविष्यते, ^{१७१}अपसिद्धान्तप्रसङ्गात् । ^{१७२}तस्मादङ्ग्यादेरत्यन्तभेदात् तद्देशकालविशेषेणापि ^{१७३}वृत्तिः ^{१७४}प्रसज्येत घटवृक्षवत् । ^{१७५}वर्णादिभिरनैकान्तिकत्वमित्युक्तं, ^{१७६}तद्व्यतिरेकैकान्तानभ्युपगमात्^{१७७} । यथैव हि वर्णरसगन्धस्पर्शानां स्वाश्रयादत्यन्तभेदो नेष्टो दृष्टो वा तथा परस्परतोपीति । नाप्येतैः^{१७८} पक्षैकदेशात्मभिर्व्यभिचारो नामातिप्रसङ्गात् । यदि पुनः कार्यकारणादीनां समानदेशकालत्वमुरीक्रियते, तथैव सिद्धान्तावधारणादिति मतं तदाप्यवयवावयविनोः समानदेशे वृत्तिर्न भवेत्, ^{१७९}मूर्तिमत्त्वात्खरकरभवत्, ^{१८०}मूर्तयोः समानदेशत्वविरोधात् । ^{१८१}वातातपयोः समानदेशत्वदर्शनादविरोध इति चेन्न, तयोः स्वावयवदेशयोरवयविनोरभ्युपगमात् । तन्तुपटयोरपि स्वावयवदेशत्वात्समानदेशत्वाभावो न दोष इति चेन्न, ^{१८२}परमाणुद्वयणुकयोर्भिन्नदेशत्वाभावात्समानदेशत्वमपि न भवेदिति दोषोद्भावेनात् । ^{१८३}द्वयणुकस्य परमाणुदेशत्वात्परमाणोरनंशस्याप्याश्रयान्तरस्थत्वात्तयोरसमानदेशतैवेति^{१८४} चेन्न, तथा लौकिकदेशापेक्षया समानदेशत्वोपगमस्य ^{१८५}प्रसङ्गात् । स च ^{१८६}मूर्तयोर्न भवेदिति सूक्तमेव दूषणम् । कथमेवभेदनेकान्तवादिनामेकाकाशप्रदेशोऽसंख्येयादिपरमाणूनामवस्थानं विरुध्यते इति चेत्, तथावगाहनविशेषादेकत्वपरिणामादिति ब्रूमहे^{१८७} । नह्येकं मूर्तिमद्द्रव्यमेकत्र^{१८८} देशेतिष्ठमानं विरुद्धं नाम, ^{१८९}अतिप्रसङ्गात् । संयोगमात्रेण तु स्थितानामेकत्वपरिणामनिरुत्सुकानां नैकाकाशप्रदेशेवस्थानमवगाहनविशेषा-भावादनेकाकाशप्रदेशवृत्तित्वसिद्धेः । इति स्याद्वादिनां न किंचिद्विरुद्धम् । स्यान्मतम्—

^{१८६}आश्रयाश्रयिभावात् ^{१८७}स्वातन्त्र्यं ^{१८८}समवायिनाम् ।

^{१८९}इत्युक्तः स संबन्धो न युक्तः ^{१९०}समवायिभिः ।। ६४ ।।

५६२. ^{१९१}समवायेन कार्यकारणादीनां परस्परं प्रतिबन्धात् कुतः स्वातन्त्र्यं यतो देशकालादिभेदेन वृत्तिरिति चेत्, स तर्हि समवायिषु समवायान्तरेण वर्तते स्वतो वा ? समवायस्य समवायान्तरेण ^{१९२}वृत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्, स्वतो वृत्तौ द्रव्यादेस्तथोपपत्तेः समवायवैयर्थ्यात्^{१९३} कार्यकारणादीनां कुतः प्रतिबन्धः ? ^{१९४}यदि पुनरनाश्रितत्वात् प्रतिबन्धान्तरानपेक्षं^{१९५} इष्यते तदाप्यसंबन्धः^{१९६} समवायः कथं द्रव्यादिभिः सह वर्तेत, यतः पृथक्सिद्धिर्न स्यात् ? तस्मादयुक्तः संबन्धो न युक्तः समवायिभिः । न ह्यप्रतिबन्ध एव समवायिभिः समवायसंबन्धो युक्तिमान्, कालादेरपि संबन्धत्वप्रसङ्गात् । संबन्ध एव हि स्वसंबन्धिभिः संयोगः संबन्धो दृष्टस्तस्य^{१९७} तैः^{१९८} कथंचित्तादात्म्यसंबन्धात् । समवायोपि विशेषणविशेष्यभावसंबन्धात्समवायिभिः संबन्ध इति चेन्न, तस्यापि विशेषणविशेष्यभावान्तरेण स्वसंबन्धिभिः संबन्धेऽनवस्थाप्रसङ्गात्, अन्यथा संबन्धत्वविरोधात् । तस्य संबन्धिभिः कथंचित्तादात्म्ये कार्यकारणादीनामपि तदेवास्तु । किं समवायेन पदार्थान्तरभूतेन सत्तासामान्येनेव कल्पितेन ? फलाभावात् ।

५६३. प्रागसतः सत्तासमवायात् कार्यस्योत्पत्तेः सफलमेव तत्परिकल्पनमिति चेन्न, अनुत्पन्नस्य सत्तासमवायासंभवात्, उत्पन्नस्यापि तद्वैयर्थ्यात्, स्वरूपलाभस्यैव स्वरूपसत्तात्मकत्वात्, स्वरूपेणासतः सत्तासंबन्धेतिप्रसङ्गात्। यदि पुनरुत्पद्यमानमेव कार्यं सत्तासमवायीष्यते, प्रागसतः सत्तासमवाय उत्पाद इति वचनात्, केवलस्य समवायस्य सत्तासामान्यवन्नित्यत्वादुत्पाद इति ज्ञानाभिधानाहेतुत्वादिति मतं तदा—

सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तिः ।

अन्तरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः ॥६५॥

५६४. येषां परमार्थतः सानान्यस्याश्रितत्वमुपचारात्समवायस्य समवायिषु तत्राप्रतिबद्धत्वासंबद्धत्वं, तदुपचारनिमित्तं तु समवायिषु सत्सु तस्येहेदमिति प्रत्ययकारित्वमिति मतं तेषां प्रत्येकं परिसमाप्तेराश्रयाभावे सामान्यसमवाययोरसंभवादुत्पत्तिविपत्तिमत्सु कथं वृत्तिः ? क्वचिदेकत्र नित्यात्मन्याश्रये सर्वात्मना वृत्तिं सामान्यं समवायश्च तावत्। 'उत्पित्सुप्रदेशे प्राग्नासीदनाश्रितत्वप्रसङ्गात्, नान्यतो याति सर्वात्मना पूर्वाधारापरित्यागादन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, नाप्येकदेशेन, सांशत्वाभावात्, स्वयमेव पश्चाद्भवति स्वप्रत्ययकारित्वात्, आश्रयविनाशे च न नश्यति नित्यत्वात्, प्रत्येकं परिसमाप्तं च' इति व्याहतमेतत् ।

५६५. स्यान्मतम्, 'सत्तासामान्यं तावद्द्रव्यादिषु प्रत्येकं परिसमाप्तं, सत्प्रत्ययाविशेषात् । सर्वत्रास्ति च सत्प्रत्ययाविच्छेदात् । समवायोपि सर्वत्र विद्यते, समवायिनां शश्वदविच्छेदान्नित्यानां, जन्मविनाशवतां तु केषांचिदुत्पित्सुप्रदेशेषूपपद्यमानानामेव सत्तासमवायित्वसिद्धेः, निष्ठासंबन्धयोरेककालत्वात्' इति वचनात् । प्रकृतदूषणानवकाशः, सत्तासमवाययोः प्रागसत्त्वाभावात् तत्रान्यतश्चागमनस्य सर्वत्मनैकदेशेन वानभ्युपगमात् पश्चाद्भवनानिष्टेः शाश्वतिकत्वाच्च' इति तदेतदपि व्याहततरं, सर्वगतस्य सामान्यस्य समवायस्य चैकस्य स्वाश्रयेषु प्रत्येकं परिसमाप्तेरसंभवात् तद्वहुत्वापत्तेराश्रयस्वरूपवत् । न च सर्वत्राविच्छेदात्तदेकत्वं, तदसिद्धेः प्रागभावादिषु सत्तासमवायासंभवाद्विच्छेदोपलम्भात् । प्रागभावादीनां सर्वदा भावविशेषणत्वात् तत्र तद्विच्छेद इति चेन्नैवमभावस्यापि सर्वगतत्वैकत्वप्रसङ्गात्, सर्वत्रासत्प्रत्ययाविशेषादविच्छेदाविशेषाच्च । यथैव हि द्रव्यादिषु सत्प्रत्ययोऽविशिष्टस्तथा पररूपतोऽसत्प्रत्ययश्च । यथा चाभावस्य शश्वद्भावपरतन्त्रत्वं तथा भावस्याभावपरतन्त्रत्वमपि तदविच्छेदसाधनं, पररूपेणासत एव भावस्य प्रतीतेरन्यथा सर्वसाङ्कर्यप्रसङ्गाद्भावविशेषव्यवस्थितिविरोधात् ।

५६६. नन्वभावस्यैकत्वे कार्यस्य जन्मनि प्रागभावाभावे प्रध्वंसेतरेतरात्यन्ताभावानामप्य- भावप्रसङ्गादनन्तत्वसर्वात्मकत्वात्यन्ताभावापत्तिः । प्रध्वंसस्य चाभावेनुत्पन्नस्य कार्यस्य प्रागभावस्याप्यभावादनदित्वप्रसङ्गः प्राक्पश्चादितरेतरात्यन्तविशेषणानुपत्तिश्च तदभेदात्, इति कश्चित्, तस्यापि कथं सत्त्वैकत्वे समवायैकत्वे च कस्यचित्सत्तासमवाये सर्वस्य स न भवेत् ? तथा सति भावस्योत्पत्तेः प्रगपि प्रध्वंससमयेप्यभावान्तरेपि चात्यन्तसत्त्वसिद्धेः कुतः प्रागभावादिभेदस्य व्यवस्था स्यात् ? प्रत्ययविशेषात्तद्व्यवस्थायां सत्तासमवायस्य भेदव्यवस्थास्तु तत एव । न हि प्रध्वंसात्प्राक्कार्यस्य

सत्तासमवायः^{३२६} प्रागभावात्^{३२७} पश्चादितरस्मादितरेत्रेत्यादिप्रत्ययविशेषोऽसिद्धः परीक्षकाणां, यतः सत्तासमवाययोरनेकत्वं न स्यात्। यदि पुनः प्राक्कालादिविशेषणान्येव भिद्यन्ते समवायिनश्च, न पुनः सत्ता समवायश्चेति मतं तदा कथमभावोपि भिद्येत? तद्विशेषणानामेव भेदात्। विरुद्धधर्माध्यासात्तद्वेदे सत्तासमवायभेदोपि तत एव। ततो विश्वरूपसत्तास्तु असत्तावत्। तथा समवायोपि। न चैवमेकत्वविरोधः सत्तायाः संभावनीयो, विशेषतोनेकत्वेपि सामान्यार्पणादेकत्वाविरोधात्, सद्विशेषेष्वेव सत्सामान्यप्रतीतेर- सद्विशेषेष्वसत्सामान्यप्रतीतिवत्। समवायविशेषेषु समवायसामान्यप्रतीतिश्च न विरुद्धा, संयोगविशेषेषु तत्सामान्यप्रतीतिवत्। इति सर्वं सामान्यविशेषात्मकं सिद्धम्।

५६७. न च सामान्यस्य विशेषस्य चैकशः^{३३०} सामान्यविशेषात्मकत्वेऽनवस्थानमन्यथा सर्वं सामान्यविशेषात्मकम्, इति प्रतिज्ञा^{३३८} हीयते, तयोरन्योन्यात्मकत्वसिद्धेर्द्रव्यार्था^{३४०} परस्परतो भेदाच्च पर्यायार्था^{३४२} सापेक्षत्वमात्रस्य तयोरिष्टेः। सामान्यस्य हि स्वविशेषादपोद्धृतस्य^{३४३} विशेषान्तरात्मकत्वे विशेषस्य च स्वसामान्यान्निर्धारितस्य^{३४४} सामान्यान्तरात्मकत्वेऽनवस्था स्यान्नान्यथा। भिन्नस्य च सामान्यस्य विशेषाद्विशेषस्य च सामान्यादितरनिरपेक्षत्वे प्रतिज्ञाहानिः प्रसज्यते, न पुनरितरथा। इति स्याद्वादिनां सर्वं सुस्थम्। वैशेषिकाणां तु तदुभयप्रकाराभ्युपगमादुक्तदोषानुषङ्ग एव। तेषां हि—

सर्वथानभिसंबन्धः^{३४५} सामान्यसमवाययोः।

ताभ्यामर्थो न संबद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत्॥६६॥

५६८. समनुष्यज्यन्ते इति शेषः। तथाहि—सामान्यसमवाययोः परस्परतः संबन्धासंभवात् ताभ्यामर्थोपि न संबद्धः। कुतस्तयोरनभिसंबन्ध इति चेत्, संयोगस्य^{३४७} समवायस्य चानभ्युपगमात्, सामान्यं समवायीति विशेषणविशेष्यभावस्य चासंभवादनवस्थाप्रसङ्गाच्च^{३४८}। तथैकार्थसमवायस्य चानवकाशात् समवायस्य^{३४९} क्वचिदसमवायात् संबन्धान्तरानिष्टेः सर्वथानभिसंबन्धस्तावत्सिद्ध एव। तत परस्परतो नभिसंबन्धाभ्यां सामान्यसमवायाभ्यामर्थोपि द्रव्यगुणकर्मलक्षणो न संबद्धः शक्यते वक्तुं यतस्तत्र सत्तासमवायः स्यात्। ततस्त्रीण्यपि नात्मानं बिभृत्युः^{३५०} कूर्मरोमादिवत्। परस्परमसंबद्धानि ह्यर्थसमवायसामान्यानि न सन्त्येव। न चासतां कर्तृत्वम्। नापि कश्चिदात्मा संभवति यस्य कर्मत्वम्। न च कर्तृकर्मत्वाभावे तान्यात्मानं बिभृत्युरिति शक्यं वक्तुं, कर्तरि लिङो विधानात्कर्मणि विभक्तिनिर्देशाच्च।

५६९. स्यान्मतं^{३५१} 'परस्परमसंबद्धानामपि स्वरूपसत्त्वप्रसिद्धेनार्थसमवायसामान्यानामसत्त्वम्, कूर्मरोमादीनां स्वरूपसत्त्वाभावाच्च विषमोयमुपन्यासः' इति, तदयुक्तं, द्रव्यगुणकर्मणां स्वरूपसत्त्वोपगमे सत्तासमवायस्य वैयर्थ्यात्सामान्यादिवत्, सामान्यादीनां वा सत्तासंबन्धप्रसङ्गाद् द्रव्यादिवत्, तेषां स्वरूपसत्त्वानुपगमे कूर्मरोमादिभ्यो विशेषाभावात् सम एवोपन्यास इति निरूपणात्। कथं चार्थान्तरभूतायां सत्तायां समवायवत्सर्वथानभिसंबद्धानां द्रव्यगुणकर्मणां सत्त्वं न पुनः कूर्मरोमादीनाम्? इति चिन्त्यम्। कथं च सत्तासामान्यं सर्वथा समवायासंबद्धं द्रव्यादिषु समवायि न पुनः समवायस्तत्र समवायी समवायान्तरेणासंबद्ध इति बुद्ध्यामहे? समवायसंबद्धत्वाभावाविशेषात्, सतापि^{३५२} हि समवायेन

सामान्यस्यासंबद्धत्वं समवायान्तरेण पुनरसता समवायस्येति सत्सदसत्त्वाभ्यामसंबद्धत्वस्य विशेषयितुमशक्तेः । न च कश्चित्संबन्धः स्वसंबन्धिभ्यामसंबद्ध एव तौ घटयितुमलं, संयोगस्यापि स्वसंयोगिभ्यामसंबद्धस्यैव तयोर्घटकत्वप्रसङ्गात् । न चैवमिष्यते, सिद्धान्तविरोधात् । ततो न कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतोर्वान्यतैकान्ते तद्भावो युक्तोऽकार्यकारणादिवत्, समवायादर्थान्तरभावनियमाच्च । तद्वत्समवायोपि न तेषां परस्परं घटनकारी सर्वथानभिसंबद्धत्वात् तादृगर्थान्तरवत् । ततश्चासन् समवायोऽनर्थक्रियाकारित्वात् कूर्मरोमादिवत् । सामान्यं चासत् तत एव तद्वत् । न हि तदर्थैरसंबद्धं स्वविषयज्ञानोत्पादनलक्षणामप्यर्थक्रियां कर्तुं प्रभवति यतोऽसिद्धो हेतुः स्यात् । तथा न सन्ति द्रव्यादीनि सत्तासमवायरहितत्वात्, तद्वत् । सामान्यादिभिर्व्यभिचारैः इत चेन्न, तेषामपि परमार्थतः सत्त्वानभ्युपगमात् । न चोपचरितसद्भिर्व्यभिचारचोदनोपपत्तिमती, परमार्थसत्त्वाभावसाधनस्यातिप्रसङ्गात् । इति न कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः श्रेयान् प्रमाणाभावादनन्यतैकान्तवत् ।

अपरः प्राह, माभूत्कार्यकारणादीनामन्यतैकान्तः परमाणूनां तु नित्यत्वात् सर्वास्ववस्था-
स्वन्यत्वाभावादनन्यतैकान्त इति तं प्रति संप्रत्यभिधीयते—

अनन्यतैकान्तेऽणूनां संघातेऽपि विभागवत् ।

असंहतत्वं स्याद्भूतचतुष्कं भ्रान्तिरेव सा ॥६७॥

५७०. यथैव हि विभागे सति परमाणवोऽसंहतात्मानस्तथा संघातकालेऽपि स्युः, सर्वथान्यत्वाभावादन्यत्वे तेषामनित्यत्वप्रसङ्गात् । संघातकाले कार्यस्योत्पत्तेस्तदसमवायिकारणस्वसंयोगस्वभावं संहतत्वं भवत्येवेति चेन्न, तेषामतिशयानुत्पत्तौ संयोगस्यैवासंभवात्, पृथिव्यादिभूतचतुष्कस्यावयविलक्षणस्य भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । कर्मणोतिशयस्य प्रसूतेः संयोगः परमाणूनामिति चेन्न, कथंचिदन्यत्वाभावे तदयोगात् । क्षणिकत्वात्परमाणूनामदोष इति चेत्तथापि कार्यकारणादेरभेदैकान्ते धारणाकर्षणादयः परमाणूनां संघातेऽपि मा भूवन्विभागवत् । विभक्तेभ्यः परमाणुभ्यः संहतपरमाणूनां विशेषस्योत्पत्तेर्धारणाकर्षणादयः संगच्छन्ते एवाधोमुखसोदककमण्डलुवद्वंशरज्ज्वादिवच्चेति चेत् स तर्हि तेषां नाहितोऽपि विशेषो विभागैकान्तं निराकरोति, तन्निराकरणे परमाणुत्वविरोधादेकैकत्वपरिणामात्मकस्कन्धस्योत्पत्तेः । प्रविभक्तपरमाणुभ्यः संहतपरमाणूनामविशिष्टत्वलक्षणानन्यत्वासंभवात् संहतानां धारणाकर्षणादिसामर्थ्यं विशेषो न पुनरपरमाणुत्वं, येनाविशेषः, येनाविशेषः कार्यकारणपरमाणूनां न भवेदिति चेन्न, सर्वथा तदविशेषे तत्सामर्थ्यस्यैवायोगात्, प्रविभक्तपरमाणूनामपि तत्प्रसङ्गात् । प्रविभक्तत्वादेव न तेषां तत्सामर्थ्यमिति चेत्, तत एवान्यत्रापि तन्नेष्यते, केनचिदपि विशेषान्तरेण तद्विभक्तत्वनिराकरणात् । पृथिव्यादिभूतचतुष्टयस्थितिरेव विभ्रममात्रं प्राप्नोति, सर्वथा परमाणुत्वाविशेषात् । इष्टत्वाददोष इति चेन्न, प्रत्यक्षादिविरोधात् । प्रत्यक्षं हि बहिर्वर्णसंस्थानाद्यात्मकं स्थवीयांसमाकारमन्तश्च हर्षाद्यनेकविवर्तात्मकमात्मानं साक्षात्कुर्वद् भ्रान्तं चेत्किमन्यद्भ्रान्तं यत्प्रत्यक्षलक्षणं विभृयात् ? प्रत्यक्षाभावे च कुतोऽनुमानं न विरुध्यते ? न च प्रत्यक्षादिविरोधे स्वसंवेदनमात्रमपि सिध्येत्, सर्वदा संवित्परमाणुमात्रस्यासंवेदनात् । न च कार्यस्य भ्रान्तौ परमाणुसिद्धिस्तत्त्वतः स्यादित्युच्यते—

कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम् ।

उभयाभावतस्तत्स्थं गुणजातीतरच्च न ॥६८॥

५७१. प्रत्यक्षतः परमाणूनां प्रसिद्धेर्णुभ्रान्तिरिति चेन्न, तेषामप्रत्यक्षत्वात् । तथाहि—चक्षुरादिबुद्धौ स्थूलैकाकारः प्रतिभासमानः परमाणुभेदैकान्तवादं प्रतिहन्ति तद्विपरीतानुपलब्धिर्वा । तत्रैतत्स्याद् भ्रान्तैकत्वादिप्रतिपत्तिरिति तत्र, परमाणूनां चक्षुरादिबुद्धौ स्वभावमनर्पयतां कार्यलिङ्गाभावात्तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तेः, प्रविरलवकुलतिलकादीनां जातुचित्प्रत्यक्षतोऽप्रतिपत्तावनेकाकारप्रतिभासस्य च भ्रान्तत्वे तत्स्वभावाभ्युपगमानुपपत्तिवत् । कार्यलिङ्गं हि कारणं परमाणुरूपम् । तत्कथं कार्यस्य भ्रान्तौ भ्रान्तं न भवेत् ? परमाणूनां कार्यस्य चानभ्युपगमे तद्व्याभावात्तद्वृत्तयो जातिगुणक्रियादयो न स्युर्व्योमकुसुमसौरभवत् । तद्धि गुणजातिरूपादिसत्तादिस्वभावमितरच्च क्रियाविशेषसमवायाख्यं परमाणुवृत्ति वा स्यात् कार्यद्रव्यवृत्ति वा, न च तदुभयोसंभवेभ्युपगन्तुं युक्तं, गगनकुसुमस्याभावेपि तद्वृत्तिसौरभाभ्युपगमप्रसङ्गात् । ततस्तदभ्युपगच्छता कार्यद्रव्यमभ्रान्तमभ्युपगन्तव्यम् । तच्च परमाणूनां परमाणुरूपतापरित्यागेनावयविरूपतोपादाने सति संभाव्यते नान्यथा । तत्र तेषामनन्यतैकान्तः, कार्योत्पत्तौ कथंचिदन्यत्वोपपत्तेः । ततः सौगतवन्न वैशेषिकाणां स्वमतसिद्धिः ।

साङ्ख्यानं च कार्यकारणयोः—

एकत्वेन्यतराभावः शेषाभावोविनाभुवः ।

द्वित्वसंख्याविरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा ॥६९॥

५७२. कार्यस्य हि महदादेः कारणस्य च प्रधानस्य परस्परमेकत्वं तादात्म्यम् । तस्मिन्नभ्युपगम्यमानेन्यतरस्याभावः स्यात् । ततः शेषस्याप्यविनाभुवोऽभावः, इति सर्वाभावः प्रसज्यते । यदि पुनः कार्यस्य कारणेनुप्रवेशात्पृथगभावेपि कारणमेकमास्ते एव नित्यत्वादिति मतं, तदा द्वित्वसंख्याविरोधोपि, सर्वथैकत्वे तदसंभवात् कार्यकारणभावादिवत् । संवृतिरेव द्वित्वसंख्या तत्रेति चेत्तर्हि मृषैव सा तद्वदेव प्रसक्ता । तथा च कुतः प्रधानस्याधिगतिः न तावत्प्रत्यक्षात्, तस्य तदविषयत्वात् । नाप्युपमानात्, अभ्रान्तस्य लिङ्गस्याभावात् । न चागमात्, शब्दस्यापि भ्रान्तत्वोपगमात् । न च भ्रान्ताल्लिङ्गादेरभ्रान्तसाध्यसिद्धिरिति प्रसङ्गात् ।

५७३. एवं पुरुषचैतन्ययोराश्रयाश्रयिणोरेकत्वे तदन्यतराभावः । पुरुषे चैतन्यानुप्रवेशे पुरुषमात्रस्य, तस्य वा चैतन्यानुप्रवेशे चैतन्यमात्रस्य प्रसक्तेः सिद्धस्तावत्तदन्यतरस्याभावः परेषाम् । ततः शेषाभावस्तत्स्वभावाविनाभावित्वाद्वन्ध्यासुतरूपसंस्थानवत् । यथैव हि वन्ध्यासुतरूपस्याभावे न तस्य संस्थानं संस्थानिस्वभावाविनाभावित्वात् । तथा पुरुषस्याश्रयस्याभावे चैतन्यस्याश्रयिणोप्यभावस्तदभावे पुरुषस्याप्यभावः, तत्स्वभावाविनाभावात् । तथा सति द्वित्वसंख्यापि न स्यात्, पुरुषचैतन्ययोरेकत्वमिति । तत्र संवृतिकल्पना शून्यत्वं नातिवर्तते, परमार्थविपर्ययाद् व्यलीकवचनार्थवत्, परमार्थतः संख्यापाये

संख्येयाव्यवस्थानात् सकलधर्मशून्यस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽसंभवात् । तत्र कार्यकारणादीनामनन्यतैकान्तः संभवत्यन्यतैकान्तवत् ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७०॥

५७४. अवयवेतरादीनां व्यतिरेकाव्यतिरेकैकान्तौ न वै यौगपद्येन संभविनौ विरोधात् । तथानभिलाष्यतैकान्ते स्ववचनविरोधस्तदभिलाष्यत्वात् । अनभिलाष्यतैकान्तस्याप्यनभिलाष्यत्वे कुतः परप्रतिपादनम् ? तद्वचनाच्चेत्कथमनभिलाष्यतैकान्तः ? परमार्थतो न कश्चिद्वचनात्प्रतिपाद्यते इति चेत्स्वयमवाच्यताप्रतिपत्तिः कथम् ? वस्तुनि वाच्यतानुपलब्धेश्चेत्सां यदि दृश्यानुपलब्धिस्तदा सिद्धा क्वचिद्वाच्यता । नो चेन्नस्ति तदभावनिश्चयोतिप्रसङ्गात् । विकल्पप्रतिभासिन्यन्यापोहे प्रतिपन्नाया एव वाच्यतायाः स्वलक्षणे प्रतिषेधाददोष इति चेन्न, वस्तुवाच्यतायाः प्रतिषेधायोगात्, तदन्यापोहमात्रवाच्यताया एव प्रतिषेधात् । न चान्यापोहवाच्यतैव वस्तुवाच्यता तत्रप्रतिषेधाविरोधात् । निरस्तेप्रायश्चायमवाच्यतैकान्त इत्यलं प्रसङ्गेन ।

५७५. स्याद्वादाभ्युपगमे तु न दोषः, 'कथंचित्तथाभावोपलब्धेः । सर्वं हि वस्तु व्यञ्जनपर्यायात्मकतया वाच्यमर्थपर्यायात्मकत्वेनाववाच्यमिति स्याद्वादिभिर्व्यवस्थाप्यते, अन्यथा प्रमाणाभावात् ।

तदेवमवयवावयव्यादीनामन्यत्वाद्येकान्तं निराकृत्याधुना तदनेकान्तं सामर्थ्यसिद्धमपि दुराशङ्क्यपनोदार्थं दृढतरं निश्चिकीर्षवः सूरयः प्राहुः—

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः ।

परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥७१॥

संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः ।

प्रयोजनानादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥७२॥

५७६. गुणिसामान्योपादानकारणानां द्रव्यशब्दाद्ग्रहणम् । गुणव्यक्तिकार्यद्रव्याणां पर्यायशब्दात् । तदेवं द्रव्यपर्यायावेकं वस्तु, प्रतिभासभेदेप्यव्यतिरिक्तत्वात् । यत्प्रतिभासभेदेप्यव्यतिरिक्तं तदेकं, यथा वेद्यवेदेकज्ञानं रूपादिद्रव्यं वा मेघकज्ञानं वा । तथा च द्रव्यपर्यायौ न व्यतिरिच्येते । तस्मादेकं वस्त्विति मन्तव्यम् । पर्यायादवास्तवाद्व्यतिरिक्तमेव द्रव्यं वास्तवमेकैषाम् । द्रव्यादवास्तवाद्व्यतिरिक्त एव पर्यायो वास्तवः परैषाम् । ततोऽसिद्धो हेतुरिति न मन्तव्यं, तदन्यतरापायेऽस्यानुपपत्तेः । तथाहि न द्रव्यं केवलमर्थक्रियानिमित्तं क्रमयौगपद्यविरोधात् केवलपर्यायवत् । पर्यायो वा न केवलार्थक्रियाहेतुस्तत एव, केवलद्रव्यवत् । क्रमयौगपद्यविरोधस्तत्रासिद्ध इति चेन्न, द्रव्यस्य पर्यायस्य वा सर्वथैकस्वभावस्य क्रमयौगपद्यादर्शनात्, अनेकपर्यायात्मन एव द्रव्यस्य तदुपलम्भात् । वास्तवत्वेपि द्रव्यपर्याययोरव्यतिरेकोऽसिद्धः, कुटादिद्रव्याद्रूपादिपर्यायाणां ज्ञानप्रतिभासभेदाद् घटपटादिवदिति चेन्न, तस्यैकत्वाविरोधित्वात् ।

^{५३३}उपयोगविशेषाद्रूपादिज्ञाननिर्भासभेदः स्वविषयैकत्वं न वै निराकरोति, ^{५३४}सामग्रीभेदे युगपदेकार्थोपनिबद्धविशदेतरज्ञानवत्^{५३५}। ततो नासिद्धो हेतुः। नापि विशेषणविरुद्धः। प्रतिभासभेदस्य विशेषणस्याव्यतिरिक्तहेतुना विरोधासिद्धेः।

५७७. स्यान्मतम्^{५३६}, 'अव्यतिरिक्तमैक्यमेवोच्यते। ततोयं^{५३७} साध्याविशिष्टो हेतुरनित्यः शब्दो निरोधधर्मकत्वादिति यथा। ततो न गमक' इति तदसत्, कथंचिदप्यशक्यविवेचनत्वस्याव्यतिरिक्तस्य हेतुत्वेन प्रयोगात्। व्यतिरेचनं^{५३८} व्यतिरिक्तं विवेचनमिति यावत्। न विद्यते व्यतिरिक्तमनयोरित्यव्यतिरिक्तौ। तयोर्भावोऽव्यतिरिक्तत्वमशक्यविवेचनत्वम् इति व्युत्पादनात्, तयोरैक्यमेव वस्तुत्वमिति साध्यस्येष्टत्वात् साध्यमेव हेतुर्यतो गमकः स्यात्। न चैतदसिद्धमशक्यविवेचनत्वं, विवक्षितद्रव्यपर्यायाणां द्रव्यान्तरं नेतुमशक्यत्वस्य सुप्रतीतत्वात्, वेद्यवेदकाकारज्ञानवत् तदाकारयोर्ज्ञानान्तरं नेतुमशक्यत्वस्यैव तस्याभिमतत्वात्। तयोरयुतसिद्धत्वादेवमिति चेत्किमिदमयुतसिद्धत्वं नाम ? न तावदेशाभेदः, पवनातपयोस्तत्प्रसङ्गात्। नापि कालाभेदस्तत एव। स्वभावाभेद इति चेन्न सर्वथासौ युक्तः, विरोधात्। कथंचिच्चेतदेवाशक्यविवेचनत्वम्। स एवाविष्वग्भावः समवाय' इति परमतसिद्धिः, अन्यथा तस्याघटनात्। पृथगनाश्रयाश्रयित्वं पृथगगतिमत्त्वं चायुतसिद्धत्वमित्यपि नाशक्यविवेचनत्वादन्यत्प्रतिभाति। ततो न साध्यसाधनशून्यमुदाहरणमपि। रूपादिद्रव्यं वेत्यप्युदाहरणमुपपन्नं, प्रतीतिसिद्धत्वात्, रूपादिद्रव्ययोः समवायस्याशक्यविवेचनत्वस्यैवाव्यतिरिक्तत्वस्य साधनस्य सद्भावादैक्यस्य चैकवस्तुत्वस्य साध्यस्य निर्णीतेः। धर्मिग्राहकप्रमाणेन बाधनात्कालात्ययापदिष्टो हेतुरित्यपि न सत्यं, तेन धर्मिणोः कथंचिद्विन्नयोरेव ग्रहणात्, सर्वथा भिन्नयोर्द्रव्यपर्यायत्वासंभवात्, सहाविन्ध्यवत्।

५७८. ननु द्रव्यपर्याययोर्भिन्नयोः कथमभेदो विरोधादिप्रसङ्गदिति चेन्न, तथोपलम्भान्मेचकज्ञानवत् सामान्यविशेषवद्वा। न हि तत्र विरोधवैयधिकरण्यसंशयव्यतिकरसंकरानवस्थाऽप्रतिपत्त्यभावाः प्रसज्यन्ते, तेषां तथाप्रतीत्यापसारितत्वात्। न च प्रकृतयोस्तथा प्रतीतिरसत्या सर्वदान्यथा प्रतीत्यभावात्। तदेवं सति विरोधाद्युपालम्भश्चतुरस्रधियां मनो मनागपि न प्रीणयति वर्णादिरप्यभावप्रसङ्गात्। द्रव्यमेवैकं, न वर्णादयो, विचारासहत्वाद्वाग्नाद्येव वानेकं, न द्रव्यं नाम, तस्य विचार्यमाणस्य सर्वथानुपपत्तेरित्येकत्वानेकत्वैकान्तौ नान्योन्यं विजयेते, दूषणसमाधानयोः समानत्वात्, द्वयोरपि भावस्वभावप्रतिबन्धात्। द्रव्यैकत्वस्य भावस्वभावस्यैकान्तिकस्य प्रत्यक्षादिविरोधात् वर्णादिपर्यायैकान्तस्वभावस्य चाबाधितप्रत्यभिज्ञाननिराकृतत्वात् सिद्धं द्रव्यपर्याययोः कथंचिदैक्यम्।

५७९. भेदः कथं विद्धः ? इत्युच्यते, यत्परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकं तद् भिन्नलक्षणं, यथा रूपादि, तथा च द्रव्यपर्यायौ, तस्माद्भिन्नलक्षणावित्यनुमानात् परस्परविविक्तस्वभावपरिणामौ हि द्रव्यपर्यायौ, द्रव्यस्थानाद्यनन्तैकस्वभाववैश्रसिकपरिणामत्वात्, पर्यायस्य च साद्यन्तानेकस्वभावपरिणामत्वात्। ततो नासिद्धः परिणामविशेषादिति हेतुः।

५८०. एतेन शक्तिमच्छक्तिभावः सिद्धः कथितः । परस्परविविक्तस्वभावसंज्ञासंख्याविशेषौ च द्रव्यपर्यायौ, द्रव्ये द्रव्यमिति, पर्याये पर्याय इत्यन्वर्थसंज्ञायाः प्रसिद्धेः, एकं द्रव्यमित्येकत्वसंख्यायाः, पर्याया बहव इति बहुत्वसंख्यायाश्चानुपचरितायाः प्रसाधनात् । ततः संज्ञासंख्याविशेषाच्चैतौपि नासिद्धं साधनम् । द्रव्यस्यैकत्वान्वयज्ञानादिकार्यत्वात् पर्यायस्यानेकत्वव्यावृत्तिप्रत्ययादिकार्यत्वात् तयोः परस्परविविक्तस्वभावप्रयोजनत्वमसिद्धम् । द्रव्यस्य त्रिकालगोचरत्वात् पर्यायस्य वर्तमानकालत्वाद्भिन्नकालत्वमपि न तयोरसिद्धं भिन्नप्रतिभासत्वात् । ततः प्रसिद्धाद्धेतोर्भिन्नलक्षणत्वं तयोः सिध्यत्येव । इति स्वलक्षणविशेषतस्तन्नानात्वं सिद्धम् । स्वमसाधारणं लक्षणं स्वलक्षणम् । तस्य विशेषो लक्ष्याविनाभावित्वं, तत एव तस्य लक्षणत्वोपपत्तेः ।

५८१. नन्वसाधारणं रूपं वस्तुनो लक्षणमित्युच्यमाने सर्वं भिन्नं प्रमेयत्वादित्यनुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वप्रसङ्ग इति चेन्न, कर्मतया प्रमितिजनकत्वस्य प्रमेयत्वस्यानुपसंहार्यस्यापि लक्षणत्वाविरोधात् सत्त्ववत् । सद्वस्तु लक्षणम्, “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्” (त०सू० ५.३०) इति वचनात् ।

५८२. ननु न यत्र सन्न तद्वस्तु, यथा शशविषाणमिति विपक्षस्यासतः सिद्धेर्नानुपसंहार्यं सत्त्वं, सपक्षविपक्षरहितस्य पक्षव्यापिनोनुपसंहार्यत्वादिति चेत्, तत एव प्रमेयत्वमप्यनुपसंहार्यं मा भूत्, खरविषाणस्यासतो भिन्नत्वान्नैश्रयस्य कर्मत्वेन प्रमित्यजनकस्याप्रमेयस्य विपक्षस्य भावात् । सर्वशब्देन सतोऽसतश्च ग्रहणान्न तस्य विपक्षत्वमिति चेत्तर्हि सदग्रहणेन भावस्य भावान्तरस्वभावप्रागभावादेश्च स्वीकरणात् कस्यचित् तद्विपक्षत्वं मा भूत् । पराभ्युपगतस्यानुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तस्य विकल्पबुद्धिप्रतिभासिनो विपक्षत्वे सदसद्वर्गाभावस्य पराभ्युपगतस्याप्रमाणविषयस्य विपक्षत्वमस्तु सर्वथा विशेषाभावात् । इति नानुपसंहार्यस्य संभवो, यतः पक्षव्यापिन एवासाधारणस्य वस्तुलक्षणत्वं न स्यात्, विद्यमानयोरविद्यमानयोर्वा सपक्षविपक्षयोरसतः पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्वमिति वचनात् ।

५८२. एतेन पक्षव्यापकस्यासाधारणत्वं प्रत्युक्तं, तस्यासाधारणैकदेशत्वाल्लक्षणत्वा-योगादग्नेरुष्णत्ववत् । न हि तत् सकलाग्न्यव्यक्तिष्वस्ति प्रदीपप्रभादिष्वनुद्भूतोष्णास्पशेष्वभावात् । न चानुद्भूतमपि लक्षणं युक्तमप्रसिद्धत्वात् । यदि पुनरुष्णास्पर्शयोग्यत्वं पावकस्य लक्षणं स्यान्न कश्चिदोषः पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्वसिद्धेः । एतेनाविद्यमाने विपक्षेऽसतोऽसंभवत्सपक्षस्यासाधारणत्वमुपदर्शितं प्रत्येयम् । विद्यमाने च सपक्षेऽसतोऽसंभवद्विपक्षस्य पक्षव्यापिनोऽसाधारणस्य लक्षणत्वमविरुद्धं शब्दस्यानित्यत्वे श्रावणत्ववत् । न हि तद् घटादावनित्ये सपक्षे विद्यमानेऽप्यस्ति । नाप्यस्य विपक्षो नित्यैकान्तः संभवति, शब्दत्वस्यापि सदृशपरिणामलक्षणस्य कथंचिदनित्यत्वात्, शब्दाभावस्य च शब्दान्तरस्वभास्येतरेतराभावप्रध्वंसाभावरूपस्यानित्यत्वात् पक्षादन्यत्वानुपपत्तेः । अशब्दात्मनोऽश्रावणत्वात् साधीय एव श्रावणत्वं शब्दस्य लक्षणं, शब्दात्मकत्वाभावेऽनुपपद्यमानत्वात् । इत्यन्यथा नुपपद्यमानरूपं पक्षव्यापिलक्षणमनवद्यत्वात् ।

५८४. तत्र द्रव्यस्य लक्षणं गुणपर्ययवत्त्वं, “गुणपर्ययवद् द्रव्यम्” (त.सू. ५.३८) इति वचनात्, क्रमाक्रमभावविविचित्रपरिणामाभावे द्रव्यस्य लक्षयितुमशक्तेः, द्रव्यस्यापाये गुणपर्ययवत्त्वस्यानुपपत्तेः

कार्यद्रव्ये घटादिविशेषे गुणवत्त्वस्य भावान्नवपुराणादिपर्याययोगित्वस्य च भावान्नाव्याप्तिर्लक्षणस्य । नाप्यतिव्याप्तिः, स्पर्शादिविशेषेषु क्रमजन्मसु पर्यायेषु स्पर्शादिसामान्येषु सहभाविषु गुणेषु चाभावात् । तथा पर्यायस्य तद्भावो लक्षणं, “तद्भावः परिणामः” (त.सू. ५.४२) इति वचनात् । तेन तेन प्रतिविशिष्टेन रूपेण भवनं हि परिणामः, सहक्रमभाविष्वशेषपर्यायेषु तस्य भावादव्याप्त्यसंभवात्, तद्भावे च द्रव्ये तदनुपपत्तेः । इति प्रमाणसिद्धं भिन्नलक्षणत्वं द्रव्यपर्याययोः कथंचिन्नानात्वं साधयति, रूपाद्युदाहरणस्यापि साध्यसाधनवैकल्याभावात्, कथंचिन्नानात्वेन व्याप्तस्य भिन्नलक्षणत्वस्य परस्परविविक्तस्वभावपरिणामादित्वेन साधनात् । रूपादेर्हि लक्षणं रूपादिबुद्धिप्रतिभासयोग्यत्वं भिन्नं प्रसिद्धं कथंचित्तन्नानात्वं चेति निरवद्यमुदाहरणम् ।

५८५. ननु च भिन्नलक्षणत्वं स्यान्नानात्वं च न स्याद्विरोधाभावात् । ततः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिको हेतुरिति न शङ्कनीयम्, विरुद्धधर्माध्यासास्त्रलङ्घनबुद्धिप्रतिभासभेदाभ्यां च वस्तुस्वभावभेदसिद्धेः । अन्यथाऽनानैकं जगत्स्यात्, तदभ्युपगमे पक्षान्तरासंभवादिति, विपक्षे बाधकप्रमाणसद्भावात्त्रिस्तित्वव्यतिरेकत्वात् साधनस्य द्रव्यपर्याययोः सर्वार्थकत्वे विरुद्धधर्माध्यासस्यास्त्रलङ्घनबुद्धिप्रतिभासभेदस्य चायोगाद्भिन्नलक्षणत्वस्यानुपपत्तेः, व्यापकस्य ग्राहकस्य चाभावे व्याप्यस्य विषयस्य चाव्यवस्थितेः । व्यवस्थितौ वा भिन्नलक्षणत्वस्य न किंचिदेकं जगति स्यात् । नापि नाना, विरुद्धधर्माध्यासाद्यभावेपि नानात्वस्य सिद्धौ तस्य तत्साधनत्वायोगात् । न चासाधना कस्यचित्सिद्धिरतिप्रसङ्गात् । न च नानात्वैकत्वाभ्युपगमे प्रकारान्तरमस्ति, यतो जगदनानैकं न स्यात् । न हि विरुद्धधर्माध्यासेतराभ्यामन्यन्नानात्वैकत्वस्वरूपम् । नाप्यस्त्रलङ्घनबुद्धिप्रतिभासभेदाभेदाभ्यामन्यत्तत्साधनं, यत्रकारान्तरं स्यात् । ततः कारिकाद्वयेन सामान्यविशेषात्मानमर्थं संहृत्य तत्रापेक्षानपेक्षैकान्तप्रतिक्षेपायाह भगवान् वास्तवमेव इति स्यान्नानात्वमेव स्वलक्षणभेदात् । स्यादेकत्वमेवाक्यविवेचनत्वात् । स्यादुभयमेव क्रमार्पितद्वयात् । स्यादेकत्वमेव सहापितद्वयाद्वक्तुमशक्यत्वात् । स्यान्नानात्वावक्तव्यमेव विरुद्धधर्माध्याससहापितद्वयात् । स्यादेकत्वावक्तव्यमेव, अशक्यविवेचनसहापितद्वयात् । स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमार्पितद्वयात् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया दृष्टेष्टाविरुद्धावबोद्धव्या, पूर्ववत् ।

कायदिर्भेद एव स्फुटमिह नियतः सर्वथा कारणादे-

रित्याद्येकान्तवादोद्धततरमतयः शान्ततामाश्रयन्ति ।

प्रायो यस्योपदेशादविघटितनयोन्मानमूलोदलङ्घ्यात्,

स्वामी जीयात् स शश्वत्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः ॥

इत्याप्तमीमांसासालङ्कृतौ चतुर्थः परिच्छेदः ॥४॥

चतुर्थपरिच्छेदटिप्पणानि

१. अकलङ्कदेवप्रतिपादितभाष्यार्थमित्यर्थः । २. समीचीनयुक्तिः । ३. पदवी, पद्धतिः स्थानं वा । ४. भेदः । ५. भेदः । ६. हे यौग ! एकान्तेन यदि सर्वेषां भेद इष्यते । ७. चलनादिक्रियायाः । ८. तन्त्वाद्यवयवकारणकस्य । ९. संयोगादेः । १०. मुद्रादिकारणस्य । ११. (कर्मवतः, अनित्यगुणवतः, पटाद्यवयवानां चेत्यर्थः) । १२. प्रध्वंसं प्रति घटादिरूपादानकारणं, मुद्रादिः सहकारिकारणम् । १३. आकाशादौ । १४. नित्यगुणाश्रयस्याकाशादेः । १५. परं सामान्यं सत्ता अपरं तु तदन्तर्हितं गोत्वादि । १६. तद्वत्, द्रव्यगुणकर्मत्रिकम् । १७. द्रव्यगुणकर्मणामर्थशब्देन व्यपदेशः, द्रव्यादित्रयमेवार्थ इति काश्यपनिर्णय इति वचनात् । त्रिव्येव सामान्यं वर्तते । १८. क्रिया गमनादिका । १९. तन्तुपटयोर्यथा । २०. आकाशतन्महत्त्वयोर्यथा । २१. अभावो विशेषणरूपः, प्रध्वंसः । तद्वान् विशेष्यः । यथा छिन्नो घट इति । २२. यथा सद्भावविन्ध्यौ भिन्नौ भिन्नप्रतिभासत्वात् । २३. अन्यतायाम् । २४. भिन्नप्रतिभासेपि भेदसाधनात् । २५. यत एकस्यैव प्रतिपत्तुर्दूरदेशेन्यथा प्रतिभासः समीपे चान्यथेति भेद एकत्रैव । २६. भिन्नलक्षणस्य संबन्धि यद्विन्नप्रतिभासत्वं भिन्नलक्षणत्वमित्यर्थः ।

२७. एकस्य वस्तुनो भिन्नलक्षणत्वेन प्रतिभासो नास्ति यतः । २८. (वा, खपुस्तके एव न तु कपुस्तके) । २९. सर्वथा अभेदे । ३०. जैनाशङ्का । ३१. सर्वथा भेद इत्यर्थः । ३२. भेदपक्षस्य । ३३. भेदो द्विधा शास्त्रीयो लौकिकश्च । तत्र क्रमेण दूषणं निराकरोति । ३४. कार्यकारणादेः । ३५. कार्यस्य पटादेः स्वकीयं कारणं तन्तवः । तन्तूनां तु कार्पासादिः । इत्येवं सर्वेषां देशभेद एव शास्त्रापेक्षया । ३६. शास्त्रीयस्य । ३७. यतो व्योमात्मादिषु लौकिकदेशापेक्षया भिन्नदेशत्वाभावेपि तादात्म्याभावः । ३८. तादात्म्यसाधकस्य । ३९. भेदपक्षः प्रकृतः । ४०. कार्यकारणादिषु । ४१. कथंचित्तादात्म्येन भेदस्य विरोधात् । ४२. किंतु तादात्म्यमेवास्तु । ४३. कार्यकारणत्वादिभेदस्य सर्वैरप्यभ्युपगमनीयत्वात्पूर्वप्रसिद्धत्वम् । ४४. तादात्म्यस्य । ४५. अयं धर्मोयं धर्मीति वक्तुं न शक्यते तादात्म्याङ्गीकारे सति यतः । ४६. इयमस्य क्रियेत्यादिविरोधात् । गुणिनः पटस्य शीतनिवारणक्रिया न तत्कारणतन्तूनां नापि च तद्गुणस्य रूपादेरित्येवं च । ४७. भेदस्य सर्वथा भिन्नं वस्त्वाधिकरणमभेदस्य च सर्वथाऽभिन्नं वस्त्वाधिकरणमिति भेदतादात्म्ययोर्वैयधिकरण्यम् । ४८. भेदपक्षे संबन्धाभावः । अभेदपक्षे सर्वथैकत्वे सति कार्यकारणादित्वविरोधः । यत्र भेदस्तत्र अभेदो न, यत्र चाभेदस्तत्र भेदो नेति च विरोधः परस्परस्य । ४९. भेदो भेदरूपोऽभेदरूपश्च । अभेदोपि भेदरूपोऽभेदरूपश्चेति द्विरूपत्वम् । ५०. तयोः भेदातादात्म्यो । ५१. व्यतिरेको भेदः । ५२. अवयव्यादीनां मध्ये यस्य कस्यचिदेकस्य सर्वथा भेदेऽङ्गीक्रियमाणे स्वारम्भकेषु अवयवा- (तन्तुषु) दिष्वनेकेषु वृत्तिर्न स्यात्, भागाभावात्, निरंशत्वात् । ५३. अवयविनो भागित्वमाश्रित्य वृत्तिः स्यादित्युक्ते आह—बहूनीति । अवयविनोवयवेषु वृत्तिश्चेत्तर्हि बहूनि कार्याणि स्युः । ५४. एकस्यैवावयविनः । ५५. एकस्यानेकेषु वृत्तेः । ५६. मते । ५७. अवयव्यादेः । ५८. आदिशब्देन गुणिसामान्यवतोर्ग्रहणम् । ५९. एकस्य कार्यद्रव्यादेरनेकस्मिन् कारणादौ वृत्त्यनिष्ठौ । ६०. तन्तुघटयोरथवा मृत्पिण्डपटयोर्यथाकार्यकारणत्वविरोधस्तथा । ६१. तन्त्वादिलक्षणमाधारमाधारं प्रति । ६२. उभयोर्विकल्पयोर्मध्ये । ६३. पटादिकार्यद्रव्यम् । ६४. अधिकरणे तन्त्वादौ । ६५. एकस्यावयव्यादेः । ६६. एकमनेकत्रावयवेषु सर्वात्मनापि न वर्तितुं शक्यम् ।

६७. आदिशब्देन विभागद्वित्वादिसंख्या परत्वापरत्वसामान्यगुणा एव ग्राह्यं न तु रूपादयः, रूपादिविशेषगुणानां परैरनेकत्र वृत्तेरनभ्युपगमात् । ६८. अनेकावयवस्थः । ६९. अपिशब्दोत्र भिन्नप्रक्रमे । तेन कथंचित्प्रदेशवत्त्वमपीति द्रष्टव्यम् । ७०. यदि तर्हीति शेषः । ७१. तन्तुभ्यो भेदोपि पटस्य सांशत्वे कथं तत्र स्वावयवेषु वृत्तिरेकदेशेन सर्वात्मना वेति पुनः पुनः क्रियते इति पुनः सति वृत्तिविकल्पः अनवस्था च स्यात् । अनवस्था, अस्थितिः । ७२. अवयवेषु । ७३. आदिशब्देन गुणः सामान्यं च । एकमेकं यद्वर्तते स्यात् । ७४. प्रवृत्तेः । विकल्पात् । ७५. अवयवी अवयवेषु । ७६. हे यौग, तवोक्तम् । ७७. एकदेशेन सर्वात्मना वेति प्रकारं मुक्त्वा अन्यस्य प्रकारस्याभावात् । ७८. अवयवादिष्ववयवी समवैतीति संबन्धात् । ७९. समवायव्यतिरेकेण । ८०. वृत्तेः, वर्तनशब्दस्य । अर्थः, प्रयोजनम् । तस्यासंभवात् । ८१. समवाये । ८२. पक्षद्वयेपि । ८३.

अवयविगुणिसामान्यवदर्थेभ्यः । ८४. तेषां कार्यगुणसामान्यानाम् । ८५. केवलव्यतिरेक्यनुमानेन । ८६. तेषामवयवावयव्यादीनामन्योन्यम् । ८७. पूर्वकारिकायां कथितः । ८८. जैनः प्राह, भो यौग, इति पूर्वोक्तं त्वया न मन्तव्यम् । उभाभ्यां संबन्धः संयोगः कथ्यते । ८९. अन्यथा, अनर्थान्तरभूतयोः । ९०. स्थालीदध्नोः । ९१. तस्य, संयोगस्य । ९२. ननु संयोगिनोः सर्वथा भेदे संयोगाभाव इत्ययुक्तं यावता ताभ्यां भिन्नस्य संयोगस्योत्पत्तेरित्युक्ते आह । ९३. दध्नः । ९४. स्थाल्याम् । ९५. संयोगः । ९६. संयोगिभ्याम् । ९७. संयोगस्य । ९८. अनयोः संयोग इति । ९९. उत्क्षेपणादिना (यौगाभिमतम्) । १००. स्थाल्यां कर्मणः कालादेर्वायं संयोग इति । १०१. संयोगं प्रति । १०२. संयोगस्य । १०३. अनयोः संयोगिनोरयं संयोग इत्येवम् । १०४. संयोगं प्रति समवायिकारणत्वं कर्मादिनेति । १०५. इति हेतोः संयोगिनोर्दधिस्थाल्योः समवायिकारणत्वमिति यौगेनोक्ते जैनः प्राह । १०६. संयोगिभ्यां समवायिरूपाभ्यां भिन्नः पदार्थः । १०७. संयोगसंयोगित्वेन । १०८. संयोगलक्षणम् ।

१०९. समवायस्य भेदाविशेषात् । ११०. संयोगिभिः । १११. संयोगसमवायवन्तावेतौ संयोगसंयोगिनाविति । पटसमवायवन्तस्तन्तव इति वा । ११२. तस्य, विशेषणविशेष्यभावस्य । ११३. विशेषणविशेष्यभावः । ११४. कर्मादिष्वपि । ११५. विशेषणविशेष्यभावोऽयम् । ११६. तन्तवो यथा पटस्य । ११७. तन्तुषु पटसमवाय इति । ११८. इति सति हे यौग, तव । ११९. विज्ञानाद्वैतस्यैव । १२०. विज्ञानमेवादृष्टमित्यर्थः । १२१. चेतना, विज्ञानम् । कर्म, अदृष्टम् । १२२. विज्ञानवादिनाम् । १२३. वासनाविशेषः । १२४. विशेषशब्देन समनन्तरं पूर्वज्ञानमालक्ष्यते, समनन्तरस्य पूर्वविज्ञानस्य प्रबोधकत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । १२५. नीलमिदमित्यादिकम् । १२६. अन्यथेति शेषः । १२७. वासना प्रबुद्धत्वाविशेषात् । १२८. वासना प्रबुद्धत्वाविशेषात् । १२८. सौगत आह, इति यौगोक्तं न सम्यक् । १२९. तस्य, विज्ञानविशेषस्य । १३०. वासनप्रबोधं प्रति । १३१. तस्य प्रबोधस्य । १३२. तदभावेऽपि बहिरर्थस्य सत्तामात्रेण वासनाप्रबोधहेतुत्वं यदि तर्हि । १३३. पिशाचपरमाण्वादरेऽपि वासनाप्रबोधहेतुत्वप्रसङ्गात् । १३४. तस्य, नीलादिविज्ञानस्य । १३५. नीलादेरर्थस्य । १३६. हे यौग । १३७. नेष्यते, कुतः ? इत्याह । तस्य, नीलादिविज्ञानस्याधिपतिश्चक्षुरादिनिर्विकल्पकज्ञानम् । समनन्तराणि च तानि चादिविज्ञानानि चेति । १३८. अधिपतिसमनन्तरादिकारणप्राक्तनविज्ञानेभ्यः । १३९. तस्य, वासनाप्रबोधस्य । १४०. बहिरर्थान् । १४१. विज्ञानैः । १४२. तस्य, बहिरर्थस्य । १४३. तस्य बहिरर्थस्य । १४४. विज्ञानवादप्रवेशो यतः । १४५. त्वया यौगेन । १४६. विशेषणविशेष्यत्वप्रत्ययस्य । १४७. यथा द्रव्यादिप्रत्ययस्य बहिरर्थविशेषविषयत्वम् । १४८. यौगैः । १४९. आश्रयणीयत्वे च । १५०. संयोगसंयोगिनोः स्वसमवायो न विशेषणविशेष्यभावः समायाति । स च स्वसंबन्धिभ्यो भिन्न एवेति स्वसंबन्धिसिद्ध्यर्थं संबन्धान्तरमपेक्षते । तच्च तदनन्तरमित्यनवस्था । ततो विशेषणविशेष्यभावः संयोगिसंयोगसमवायैः स्वसंबन्धिभिरसंबद्धः संबन्धरूपो न भवति तदसंभवे समवायोऽपि न तथाविधः संभवति । ततश्च तद्वशात् संयोगिनोरयं संयोग इति कथं कथ्यते इति भावः । १५१. संयोगिनोः ।

१५२. संयोगः । १५३. वृत्तित्वेनाभ्युपगतसंयोगस्यैव निराकृतत्वादित्यभिप्रायः । १५४. वृत्त्युपलब्धेरिति हेतुः । १५५. यतो नानैकान्तिकः । १५६. कार्यस्य । १५७. कारणान्तरे तन्त्वादौ । १५८. सर्वथा भेदे । १५९. भेदसाधको भिन्नप्रतिभासत्वादिति हेतुः । १६०. अवयवावयव्यादिभेदपक्षस्य । १६१. कुतः प्रत्यक्षविरोधः ? इत्याह । १६२. बौद्धाशङ्का । १६३. इति विकल्पयोः सतोरवयव्यादेः सावयवत्वं (सांशत्वम्) बहुत्वमनवस्था च न प्रसज्यते इति पूर्वोक्तमत्रापि संबन्धनीयम् । १६४. कथंचित्तादात्म्ये ताथागतस्य वृत्तिविकल्पदूषणासामर्थ्यनिरूपणेन । १६५. विरोधादिदोषा आदिशब्देन गृह्यन्ते । १६६. सामान्यमेव विशेषस्तयोरन्योन्यं तादात्म्यं यथा । १६७. कथंचित्तादात्म्ये । १६८. तस्य, वृत्तिविकल्पादिदूषणस्य । १६९. व्यावृत्तिबुद्धिं प्रति । १७०. अपिशब्दात्सामान्याख्यामपि । १७१. अन्यथेति शेषः । १७२. द्रव्यत्वादिकमपरमल्पविषयत्वात् तद्व्यावृत्तेरपि हेतुत्वात् विशेषाख्यामपि लभते इति परैः स्वयमेवाभिधानात् । घटे यथा घटत्वं तद्व्यावृत्तं पटत्वमपरविशेषः । १७३. तस्य, अपरसामान्यस्य । अपरसामान्यमेव यो विशेषः । १७४. अपरसामान्यस्य सामान्यविशेषरूपत्वे । १७५. ननु च तादात्म्यस्यैवाभ्युपगमनीयत्वं कथम् ? यावता सामान्यविशेषरूपयोरैकत्रार्थे समवायो भविष्यति न तु तादात्म्यमिति शङ्कायामाह । तत्, तयोः सामान्यविशेषयोः । १७६. समवायस्य । १७७. भिन्ने तृतीये कस्मिंश्चित्पदार्थे । १७८. सामान्याकारे विशेषाकारस्य

विशेषाकारे सामान्याकारस्य च समवायः परस्परं समवायः । १७९. वृत्तिविकल्पादि प्रकृतं दूषणम् । १७९क. अवयवावयव्यादयो देशकालाभ्यां भिन्ना अत्यन्तभिन्नत्वात् । १८०. अङ्गीक्रियमाणे ।

१८१. विशेषो, भेदः । १८२. पृथगाश्रयाश्रयिघटपटवत् । १८३. नन्ववयवावयव्यादीनामेकस्मिन्नवस्थान- (समानदेशता)- मभ्युपगच्छाम इत्युक्ते आह । समानदेशता, एकदेशकालता । १८४. अवयवावयविनोः । १८५. यौगशङ्का । १८६. ताभ्यां, देशकालाभ्यां । १८७. आत्माकाशयोः । १८८. वैशेषिकस्यापि देशकालाभ्यामभेदो भविष्यतीत्याशङ्क्यामाह । १८९. अङ्गीक्रियमाणे । १९०. आत्माकाशप्रकारेण । १९१. कथंचिदभेद एवास्त्विति यौगनोक्ते आह जैनः । १९२. यौगैः । १९३. अवयवावयव्यादेरभेदो नेष्यते यस्यात् । १९४. भेदवृत्तिः । १९५. रूपरसगन्धस्पर्शैः । १९६. अत्यन्तं भिन्नत्वादित्यस्य हेतोः । १९७. तेषां वर्णादीनाम् । १९८. (जैनैः) । १९९. मातुलिङ्गादिद्रव्यात् । २००. वर्णरसगन्धस्पर्शैः । २०१. पक्षीकृतैर्गुणगुण्यादिभिः सहैकदेशस्वरूपैः । पक्षान्तःपातिभिरित्यर्थः । २०२. क्षित्यादि धीमद्धेतुकं कार्यत्वादित्यस्योत्पन्नपक्षैकदेशात्मसु तृणपर्वतादिषु धीमद्धेतुकत्वलक्षणसाध्याभावेपि सत्त्वातृणपर्वतादिभिर्व्यभिचारप्रसङ्गात् । २०३. यौगस्य । २०४. एकदेशेनाभ्युपगतो यथा यथात्र वर्णादिषु पक्षैकदेशात्मसु देशकालाभ्याम् । २०५. सन्दिग्धानैकान्तिकत्वं परिहरन्नाह । मूर्तयोरवयवावयविनोः । २०६. निश्चितानैकान्तिकत्वे सत्याह । २०७. स्वावयवा एव देशो ययोः । २०८. परमाणूनां निरवयवत्वाद्भिन्नदेशत्वाभावः । २०९. यत्रतिपाद्यते तत्र भवति । २१०. पुनर्यौगः । २११. आकाशमाश्रयान्तरम् । २१२. आहारा जैनः । परमाणुद्वयगुणयोः शास्त्रीयदेशभेदो नास्ति यद्यपि, तथापि लौकिकदेशभेदोभ्युपगतो यथा तथा समानदेशत्वमप्यस्तु कार्यकारणयोः । २१३. अस्त्वेवमित्युक्ते आह जैनः । २१४. कार्यकारणयोः । २१५. कार्यकारणयोः । २१६. भो जैन, मूर्तयोः समानदेशे वृत्त्यभावप्रतिपादनप्रकारेण । २१७. स्कन्धरूपाणामसंख्यातपरमाणूनां मूर्तानामप्येकाकाशप्रदेशे वर्तनं संभवतीति जैनाः । २१८. स्कन्धरूपेण । २१९. वयं जैनाः । २२०. असंख्येयपरमाणुरूपम् । २२१. आकाशस्य । २२२. जललवणभूतिसूचिकादीनां क्रमेणैकत्रावस्थानं संभवति, न च तथा स्यादित्यतिप्रसङ्गः । २२३. परमाणूनाम् । २२४. केषांचित्तु स्कन्धाकारपरिणतानां परमाणूनां समानदेशत्वमितरेषामसंबद्धानां तु भिन्नदेशत्वमिति ।

२२५. यौगानाम् । २२६. आश्रयभावोवयवादीनामाश्रयिभावस्त्ववयव्यादीनाम् । २२७. भेदः । २२८. तन्तुपटादीनाम् । २२९. इति, इति चेत्तर्हि । अग्रे अयुक्त इत्यादिना दूषणमाह । २३०. समवायलक्षणः संबन्धः समवायिभिः सहासंबद्धत्वादानुपपन्नो गगनादिवद्यस्मात्तस्मादित्यर्थः । २३१. पूर्वपक्षं विवृण्वन्नाह निराकरणम् । २३२. समवायः । २३३. समवायिषु, तन्तुपटादिषु । २३४. यथा समवायस्य समवायिषु वृत्तिः स्वतस्तथा समवायिनामपि परस्परमिति । २३५. सामान्यमित्यादिकारिकाव्याख्यानाम् । २३६. समवायस्यानाश्रितवचनेपि षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्यः इति वैशेषिकग्रन्थो न विरुध्यते एव, तत्रापि तस्योपचारादाश्रितत्वकथनात् । तथा च समनन्तरं निवेदयन्ति ग्रन्थकाराः । २३७. समवायः । २३८. समवायिभिः । २३९. कार्यकारणादीनाम् । २४०. पृथक्सिद्धिर्भवेद्यतः । २४१. घटमानः । २४२. अनाश्रितः । २४३. अन्यथेति शेषः । २४४. अप्रतिबद्धत्वाविशेषात् । समवायिभिः सह । २४५. संयोगस्य । २४६. स्वसंबन्धिभिः । २४७. संयोगपरिणामात्मकत्वादित्यर्थः । २४८. विशेषणविशेष्यभावान्तरेण विना स्वयमेव स्वसंबन्धिभिः सह संबन्धे सति । २४९. यौगेनाङ्गीक्रियमाणे । २५०. तादात्म्यम् । २५१. तस्य, सत्तासामान्यस्य । २५२. कार्यस्य । २५३. तस्य, सत्तासमवायस्य । २५४. कुतस्तद्वैयर्थ्यमित्याह । २५५. उत्पन्नकार्यस्यैवेत्यर्थः । २५६. पदार्थान्तरभूता काचित्स्वरूपसत्तायाः सत्ता नास्तीत्यर्थः । २५७. स्वरूपेणासतः कार्यस्य सत्तासमवायात्संबन्धो भविष्यतीति कथं तद्वैयर्थ्यमित्यारेकायामाह । २५८. खरविषाणादीनां सत्तासंबन्धप्रसङ्गात् । २५९. कार्यस्य । २६०. सत्तासमवाय उत्पाद इत्येतदेवास्ताम् । किमनेन प्रागसत इति विशेषणेन ? इत्याशङ्क्यामाह केवलस्येति । २६१. यौगस्य तव । २६२. चशब्दोऽयं भिन्नप्रक्रम इवार्थः । तेन सामान्यमित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थः प्रतिपादितो भवति सामान्यमिवेति । सामान्यं यथाऽऽश्रयमन्तरेण न स्यात्तथा समवायोऽप्याश्रयमन्तरेण न स्यात्, नित्यव्यक्तिषु प्रत्येकं सामान्यसमवाययोः परिसमाप्तत्वादित्यर्थः । २६३. एकैकासु नित्यव्यक्तिषु । २६४. ततश्चेति शेषः । २६५. अनित्येषु कार्येषु । २६६. कथं सत्त्ववर्तनमित्यर्थः ।

२६७. वैशेषिकाणाम्। सामान्यस्य समवायेन संबन्धत्वात्परमार्थत आश्रितत्वसमवायस्य समवायान्तरेण संबन्धाभावादुपचरिताश्रितत्वं यौगैर्मन्यते। २६८. समवायस्योपचारादाश्रितत्वं समवायिषु यतस्तस्मादप्रतिबद्धत्वमाश्रित्य समवायस्यासंबद्धत्वमस्तीति भावार्थः। २६९. समवायस्याश्रितत्वोपचारनिमित्तम्। २७०. नित्यद्रव्येषु। २७१. सामान्यसमवाययोः। २७२. अनित्येषु कार्येषु। २७३. परिसमाप्तम्। २७४. यौगमते। २७५. उत्पद्यमानघटादिप्रदेशे। उत्पत्तिप्रदेशे प्राग्रासीदिति यौगो वक्ति, आकारादिकाच्च सर्वात्मनैकदेशेन वा न यातीति च वक्ति। इत्येतद्विरुद्धम्। स्वयमेव पश्चाद्भवति आश्रयविनाशे च न नश्यतीति च विरुद्धम्। प्रत्येकं परिसमाप्तमिति वक्ति, एकदेशेन सर्वात्मना च न वर्तते इति च विरुद्धमिति भावः। २७६. अन्यथेति शेषः। २७७. पूर्वाधारो नित्यं द्रव्यम्। २७८. यातीति संबन्धः। २७९. सामान्यसमवाययोः। २८०. उत्पत्त्यनन्तरम्। २८१. उत्पत्तिप्रदेशे। २८२. नित्यद्रव्यादात्माकाशादेः। २८३. प्रत्याश्रयम्। २८४. (इति, पूर्वोक्तं परस्परविरुद्धं वचो व्याहतम्। 'न याति न च तत्रास्ते न पश्चादस्ति नांशवत्। जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः' इत्यत्र दर्शितदोषसमत्वमेवात्रापि ज्ञेयम्)। उत्पत्तिप्रदेशे प्रागित्यादि योज्यमुपरितः। २८५. आदिपदेन गुणकर्मणोर्ग्रहणम्। २८६. समवायिषु। २८७. अनित्यानां समवायित्वं कथमित्युक्ते आह। २८८. कार्योत्पादसमवाययोरित्यर्थः। २८९. प्रकृतं दूषणं प्राग्रासीदित्यादिलक्षणमनन्तरमेवोक्तम्। २९०. कुत इत्युक्ते आह। २९१. कार्योत्पत्तेः प्राक्। २९२. उत्पत्तिप्रदेशे। २९३. सत्तासमवाययोरेव। २९४. उपत्तिप्रदेशात्पश्चात्। २९५. सत्तासमवाययोर्नित्यत्वात्। २९६. स्यान्मतमित्यनेन संबन्धः। २९७. द्रव्यगुणकर्मसु। २९८. अन्यथेति शेषः। २९९. तयोः, सामान्यस्य समवायस्य च। ३००. तस्य, अविच्छेदस्य। ३०१. अनित्यकार्येषु। ३०२. भावस्य, घटादेः। यथा घटप्रागभावो मृत्पिण्डः। ३०३. एवं सत्तासमवाययोः सर्वगतत्वप्रकारेण। ३०४. परद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षयेत्यर्थः। ३०५. सर्वत्र द्रव्यादिषु साधारणः। ३०६. चतुर्विधस्य। ३०७. भावाश्रितत्वम्। अघटः पटो वर्तते इत्यत्र वर्तनक्रियान्वयो भावस्यैवेति तस्यैव प्राधान्यम्। ३०८. पटस्वरूपे घटस्वरूपाभावो वर्तते इत्यत्राभावस्यैव वर्तनक्रियान्वय इति तस्यैव प्राधान्यम्। ३०९. तस्य, अभावस्य। ३१०. घटोयं पटोयमित्येवम्।

३११. यौगः। ३१२. सति। ३१३. प्रध्वंसाभावाभावेऽनन्तत्वदोषः। इतरेतराभावाभावे सर्वस्य सर्वात्मकत्वमिति दोषः। अत्यन्ताभावाभावे सङ्करत्वदोषः। ३१४. मृत्पिण्डस्य प्रध्वंसं विना घटो नोत्पद्यते। प्रागभावेतरेतरात्यन्ताभावानामप्यभावप्रसङ्गः स्यादिति टिप्पण्यन्तरम्। ३१५. मृत्पिण्डे घटस्य प्रागभावस्तस्यापि। ३१६. सर्वस्य कार्यस्य। ३१७. प्राग् नासीत् पश्चात्प्राग्रासीदित्येवम्। ३१८. तस्य, अभावस्य। ३१९. यौगो, वैशेषिकः। ३२०. विवक्षितकार्यस्य। ३२१. अङ्गीक्रियमाणे। ३२२. अतीतानागतकार्यस्य। ३२३. सर्वस्य सत्तासमवायभवने च। ३२४. अभावान्तरेणेतरेतरात्यन्ताभावौ। ३२५. तवापि यौगस्य। ३२६. न ह्यसिद्ध इति संबन्धः। ३२७. प्रागभावाभावान्तरं कार्यस्य सत्तासमवायः। ३२८. सत्तासमवायो नासिद्ध इत्येव। (इतरस्मादितरत्र, इतरपदार्थादितरपदार्थे। इतरेतराभावतया निदर्शनमेतदित्यर्थः)। ३२९. हे यौग। ३३०. प्राक्-पश्चादित्यादीनाम्। ३३१. विरुद्धधर्माणां प्राग्रासीदित्यादीनाम्। ३३२. अभावभेदे। ३३३. अभाववत्। ३३४. विश्वरूपोस्तु। ३३५. द्रव्यगुणकर्मसु। ३३६. स्याद्वादिनाम्। ३३७. सामान्यस्य सामान्यविशेषात्मकत्वं, विशेषस्य च सामान्यविशेषात्मकत्वमिति। ३३८. न चेति संबन्धः। ३३९. सामान्यविशेषयोः। ३४०. सामान्यमेव विशेषो, विशेष एव सामान्यमिति। ३४१. (द्रव्यार्थिकनयविवक्षया इत्यर्थः)। ३४२. (तयोः सामान्यविशेषयोरभेदरूपेणोद्दिष्टेतित्यर्थः)। ३४३. घटत्वादेः। ३४४. घटादेः। ३४५. पृथक्कृतस्य। ३४६. अङ्गीक्रियमाणे। ३४७. पृथक्कृतस्य। ३४८. अन्यथा, अन्योन्यात्मकत्वप्रकारेण स्वीकारे। ३४९. भिन्नस्य। ३५०. इतरापेक्षत्वेन स्वीकारे सतीत्यर्थः। ३५१. पूर्वोक्तं स्याद्विन्नं स्यादभिन्नं च सामान्यविशेषादि। ३५२. सामान्यविशेषयोः परस्परसापेक्षत्वप्रकारस्य।

३५३. संयोगादिप्रकारेण। ३५४. यतः संयोगो द्रव्ययोरेव। ३५५. तत एव सामान्यसमवायाभ्याम्। ३५६. सामान्यं समवायोर्थश्च। ३५७. संयोगस्तु द्रव्ययोरेवेति यौगमतं यतः, अयुतसिद्धानां गुणगुण्यादीनामाधाराधेयभूतानां यः संबन्धः स समवाय इति च वैशेषिकमतं यतः। ३५८. (यौगैः)। ३५९. विशेष्यम्। ३६०. विशेषणम्। ३६१. सामान्यं समवायीति स्वतः परतो वा? न तावदाद्यः, परतो नवस्थानादित्येवम्। ३६२. पदार्थे। ३६३.

असंबद्धत्वात् । ३६४. कथंचित्तादात्म्यलक्षणस्य संबन्धान्तरस्यानिष्टत्वं यतो यौगानाम् । ३६५. असतः किंचित्स्वरूपासंभवात् । ३६६. हेतुगर्भितविशेषणम् । ३६७. आत्मा, स्वरूपम् । ३६८. आत्मानमिति द्वितीयविभक्तिनिर्देशात् । ३६९. यौगस्य । ३७०. द्रव्यादीनाम् । ३७१. सामान्यादीनां स्वरूपसत्त्वोपगमे सत्तासमवायस्य यथा वैयर्थ्यम् । ३७२. अन्यथेति शेषः । सामान्यादीनां सत्तासमवायस्य वैयर्थ्यं नो चेत्तर्हीत्यर्थः । ३७३. सामान्यादीनाम् । ३७४. द्रव्यादिषु । ३७५. सत्ता सामान्यं सत्तासमवायेनासंबद्धं समवायः पुनरसत्ता समवायान्तरेणासंबद्ध इति विशेषो भविष्यतीत्युक्ते आहुर्जैनाः । ३७६. असंबद्धत्वमित्यन्वयः । ३७७. तयोः सामान्यसमवायोः । विवक्षितसमवायसत्तायः सत्त्वं समवाये च समवायान्तरस्यासत्त्वं, ताभ्यामित्यर्थः ।

३७८. संयोगस्य गुणत्वात्संयोगिनश्च गुणित्वाद्गुणगुणिनोः संयोगसंयोगिनोः समवाय इति वैशेषिकसिद्धान्तः । न तु संयोगस्य स्वसंयोगिभ्यामसंबद्धत्वमिति शेषः । ३७९. कार्यकारणादिभावः । ३८०. कार्यकारणादीनाम् । ३८१. कालादिवत् । ३८२. तत्, सामान्यम् । ३८३. अनर्थक्रियाकारित्वादिति । ३८४. सामान्यादिषु सत्तासमवायरहितत्वेपि सत्त्वसद्भावाद् व्यभिचारः । ३८५. सामान्यसमवायविशेषाणाम् । ३८६. यौगमते । ३८७. मशकोपरितनधूमेन सत्यधूमस्य व्यभिचारप्रसङ्गात् । ३८८. वैशेषिकः । परमाणूनां सर्वासु संयुक्तवियुक्तावस्थासु एकस्वरूपतैकान्त इत्यभिप्रायः । ३८९. स्वस्वरूपं विहाय स्कन्धरूपविकाराद्यभजने । एकस्वरूपत्वैकान्ते । ३९०. स्कन्धरूपत्वेपि । ३९१. परस्परसंबद्धत्वम् । ३९२. सौगतप्रतिपादितम् । ३९३. स्वरूपान्तरपरिणमनाभावात् । ३९४. स्वरूपान्तरत्वेङ्गीक्रियमाणे । ३९५. अत्र बौद्धः कथयिष्यति, भवतु परमाणूनामनित्यत्वम् । तत्रोच्यते, अनित्यत्वं त्वस्तु परन्तु परिणामित्वं न स्यात्, यतः स्वरूपान्तरत्वे एव परपरिणामात्मभवनं स्यात् । ३९६. स्वेषां परमाणूनां संयोगः । असवायिकारणं चासौ स्वसंयोगश्च । स एव स्वभावो यस्य संहतत्वस्येति बसः । ३९७. परिणमनरूपोतिशयः । ३९८. अङ्गीक्रियमाणायाम् । ३९९. संयोगासंभवे च । ४००. चलनात्मरूपक्रियाया उत्क्षेपणादेः । ४०१. क्रियारूपस्य परिणामस्य । ४०२. चलनाचलनादिरूपतया भेदाभावे । ४०३. तस्य संयोगस्य । ४०४. पूर्वोक्तः । ४०५. विभागे इव । ४०६. स्कन्धरूपाणाम् । ४०७. ऊर्ध्वमुखकमण्डलुना समत्वेपि । अधोमुखकमण्डलुमध्ये धारणं वंशरज्जौ त्वाकर्षणं यथासंख्यमुदाहृतं ज्ञेयम् । ४०८. संहतपरमाणूनाम् । ४०९. जनितः । ४१०. भेदैकान्तपक्षम् ।

४११. अणूनां विभागैकान्तनिराकरणे सति । ४१२. किं तु स्कन्ध एवं स्यात् । ४१३. अनेकपरमाणूनाम् । ४१४. प्रविभक्तानूनामेकत्वं भिन्नं संहतानूनां स्कन्धरूपाणां तु भिन्नमेकत्वमिति भावः सौगतवचनस्यास्य । ४१५. परमाणूनां संहतानां प्रविभक्तानां च नाविशिष्टत्वलक्षणमेकत्वं, किन्तु विशिष्टत्वलक्षणमेवैकत्व- (एकत्वं द्विधा) मिति भावः । ४१६. परमाणुत्वं तथापि (संहतत्वेपि) न नश्यतीत्यर्थः । ४१७. तेषां, कार्यकारणपरमाणूनाम् । ४१८. धारणाकर्षणादेः । ४१९. अन्यथेति शेषः । ४२०. संहतेषु । ४२१. (संहतेषु सत्त्वपि) । ४२२. संहतपरमाणूनां सर्वथा प्रविभक्तत्वसमर्थनप्रकारेण । ४२३. संहतविभक्तेषु । ४२४. अस्माकं वैशेषिकाणां । ४२५. भूतचतुष्टयस्य विभ्रममात्रत्वलक्षणः । ४२६. संहतानां स्कन्धरूपाणां विभक्तानां चाणूनां समानत्वकथनं प्रत्यक्षेण विरुध्यते यतः । ४२७. स्थूलतरम् । ४२८. प्रत्यक्षं भ्रान्तिग्राहकं मास्तु । अनुमानं भविष्यतीत्याशङ्कयामाह । ४२९. स्कन्धरूपस्य । ४३०. परमार्थतः । ४३१. कार्यं स्कन्धरूपमेव लिङ्गं यस्य तत्कारणद्रव्यम् । ४३२. यत इति शेषः । ४३३. इति सति किं भवतीत्युक्ते आह । कार्यकारणपरमाण्वभावतः । ४३४. तस्मात् स्थूलैकाकाराद्विपरीतः परमाणुरूपस्तदाकारस्य । ४३५. सौगतपक्षमाश्रित्य वैशेषिक आह— तत्र, नित्यैकान्तनिराकरणे स्याद्वादाङ्गीकृते एतत्फलं स्यात् । किम् ? इत्याह— परमाणूनामेकत्वादिप्रतिपत्तिभ्रान्ता स्याद्वादिनां स्यादिति । ४३६. इति चेत्तत्रेति जैन आह । ४३७. कार्यलिङ्गस्य भ्रान्तत्वात् । ४३८. तत्त्वभावस्य, परमाणुत्वस्य । ४३९. सौगतवैशेषिकयोः समानतयैवैतद् दूषणम् । ४४०. भिन्नभिन्नानाम् । ४४१. सत्याम् । ४४२. निबिडाकारप्रतिभासस्य । ४४३. यथा सर्वथा वृक्षादर्शिनोऽनुपपत्तिः । ४४४. कार्यलिङ्गभावात्तत्त्वभावाभ्युपगमानुपपत्तेरित्येतद्भावावयवग्राह । ४४५. तर्ह्यभयाभावोस्तु इत्याशङ्कयामाह । ४४६. एतद् भाष्यमेव स्पष्टयति । ४४७. क्रिया च विशेषश्च समवायश्चेति द्वन्द्वः ।

४४८. कार्यकारणोभयस्य । ४४८(क). अन्यथेति शेषः । ४४९. गुणजातीतरत्परमाणुकार्यद्रव्यलक्षणद्वयवृत्ति न भवेद्यतः । ४५०. तत्, गुणजात्यादि । ४५१. परमाणूनाम् । ४५२. स्कन्धरूपापेक्षया । ४५३. कथंचिदन्यत्वोपपत्तेः । ४५४. ततश्चेति शेषः । ४५५. अविनाभावनियमात् । ४५६. इदं कार्यमिदं कारणमिति । ४५७. संवृत्तिः । ४५८. उभयोः सर्वथैकत्वात् । ४५९. कारणस्य । ४६०. कार्येणाविनाभुवः कारणस्याभावः, कारणस्य कार्यपेक्षत्वात् सर्वथा कार्याभावे कारणत्वासंभवात् । ४६१. महादादेः । ४६२. प्रधाने । ४६३. उत्तरसृष्टिक्रमापेक्षया भेदाभावेऽपि । ४६४. कारणस्य । ४६५. विरोधो, अभावः । ४६६. कार्यकारणयोः । ४६७. कार्यकारणादेर्यथा सर्वथैकस्मिन्वस्तुन्यसंभवः । ४६८. द्वित्वसंख्याया मृषात्वे । ४६९. आदिशब्देन शब्दप्रत्यक्षयोर्ग्रहणम् । ४७०. गोपालघटिकाधूमादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्गात् । ४७१. कार्यकारणप्रकारेण । ४७२. संख्यानाम् । ४७३. शेषः, पुरुषः । ४७४. (तत्त्वभावस्य चैतन्यस्वभावस्य) । ४७५. रूपं, शरीरम् । ४७६. संस्थानस्य । ४७७. तयोः पुरुषचैतन्ययोः परस्परम् । ४७८. उभयोः परस्परं सर्वथानुप्रवेशे सति । ४७९. इति, हेतोः । ४८०. द्वित्वसंख्यायाम् ।

४८१. धर्माः संख्येयत्वादयः । ४८२. सांख्याभिमतः । ४८३. यौगाभिमतोऽन्यतैकान्तो यथा न संभवति । ४८४. ऐकात्म्यं, तादात्म्यम् । ४८५. आदिपदेन गुणगुणिनां सामान्यतद्वाचं च ग्रहणम् । इतरशब्देनावयवी गृह्यते । ४८६. तस्य, अनभिलाष्यरूपस्य सिद्धान्तस्य अनभिलाष्य इति वचनेनाभिलाष्यरूपत्वात् । ४८७. पदार्थः सिद्धान्तो वा । ४८८. किं तु संवृत्यैव । ४८९. स्वयं, स्वस्य सौगतस्य । ४९०. सा दृश्यानुपलब्धिर्दृश्यानुपलब्धिर्वैति विकल्पद्वयं कृत्वा क्रमेण दूषयति । ४९१. यत्र देशे दृश्या । ४९२. दृश्यानुपलब्धिर्न किन्तु अदृश्या चेत्तर्हि नास्तीत्यादि संबन्धः । ४९३. तस्या वाच्यतायाः । ४९४. परमाण्वादेरप्यभावप्रसङ्गात् । ४९५. निर्विकल्पकविषये । ४९६. यतोऽन्यापोहवाच्यतैव प्रतिषिद्धा न तु स्वलक्षणस्य (वस्तुभूतस्य) वाच्यतेत्यर्थः । ४९७. अन्यथेति शेषः । ४९८. तत्, तस्या अन्यापोहवाच्यतायाः । (अन्यापोहवाच्यतायाः स्वयमभ्युपगमो यस्तस्य विरोधादित्यर्थः) । ४९९. पञ्चचत्वारिंशत्तमकारिकातो द्विनवत्यधिकैकशततमे पत्रे । ५००. नयापेक्षया । ५०१. अवाच्यत्वभावोपलब्धेः । ५०२. स्थूलो व्यञ्जनपर्याय इत्युक्तत्वात् । ५०३. एकान्तवाच्यताऽवाच्यतारूपेण । ५०४. आदिशब्देनान्यत्वमुभयमवाच्यं च ग्राह्यम् । ५०५. तत्वोपप्लववादिनः । ५०६. अशक्यविवेचनत्वात् । ५०७. संज्ञा खण्डमुण्डादिः । संख्या द्वित्वादिः । तयोर्विशेषात् । ५०८. स्वेषां द्रव्याणां प्रत्येकं लक्षणभेदाच्चेत्यर्थः । ५०९. आदिना भिन्नकालत्वादिहेतुग्रहः ।

५१०. प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वमसिद्धं, यतः प्रतिभासभेदोऽस्ति । इति शङ्कापनोदार्थमिदं विशेषणम् । ५११. ब्रह्माद्वैतवादिनाम् । ५१२. सौगतानाम् । ५१३. प्रतिभासभेदेऽप्यव्यतिरिक्तत्वादिति । ५१४. तयोर्द्रव्यपर्याययोर्मध्ये । ५१५. अर्थक्रियालक्षणस्य । ५१६. पर्यायनिरपेक्षम् । ५१७. केवले द्रव्ये पर्याये वा । ५१८. क्रमेण युगपद्वानेकस्वभाववरहितस्य । ५१९. अभेदः । ५२०. सहाय्ये भा (तृतीया) कार्या । ५२१. इति यौगाशङ्का न सम्यगित्यर्थः । ५२२. प्रतिभासभेदस्य । ५२३. चक्षुरादिव्यापार उपयोगः । ५२४. दूरनिकटदेशादिः, सामग्रीभेदः । ५२५. यथैतद्विशदेतरज्ञानयोर्निर्भासभेदः स्वविषयैकत्वं न निराकरोति । ५२६. प्रतिभासभेदेऽपि विशेषणदलम् । ५२७. अनन्तरोक्तन्यायेन । ५२८. यौगस्य । ५२९. साध्यसम इत्यर्थः । ५३०. विनाशोऽनित्यता निरोधश्चेत्येकार्थवाचकाः । अनित्यधर्मकत्वादित्यर्थः । ५३१. द्रव्यपर्यायतया । ५३२. भावार्थे क्तप्रत्ययान्तम् । ५३३. द्रव्यपर्याययोः । ५३४. साध्यसमत्वाभावो दर्शितोनेन । ५३५. वेद्यवेदकाकारज्ञानयोर्ज्ञानान्तरं नेतुमशक्यविवेचनत्वं यथा । ५३६. वेद्यवेदकाकारज्ञानयोर्ज्ञानान्तरं नेतुमशक्यत्वस्यापरं किंचिन्निमित्तं भविष्यति, न त्वशक्यविवेचनत्वमित्याशङ्क्यामाह । ५३७. अशक्यविवेचनत्वस्य । ५३८. वेद्यवेदकाकारयोः । ५३९. अपृथक्सिद्धत्वात् ।

५४०. द्रव्यान्तरं नेतुमशक्यमित्यर्थः । ५४१. अयुतसिद्धत्वं किं देशाभेदः कालाभेदः स्वभावाभेदो वेति विकल्पत्रयं कृत्वा दूषयन्ति । ५४२. असौ द्रव्यपर्याययोः स्वभावाभेदः किं सर्वथा कथंचिद्वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयन्ति । ५४३. स्वभावाभेदद्वित्वयोः युक्तत्वविरोधादिति कपुस्तकपाठः । ५४४. कथंचित्स्वभावाभेदरूपम् । ५४५. कथंचित्स्वभावाभेद एव । ५४६. अपृथग्भावः । ५४७. परो जैनः । ५४८. कथंचित्त्वाभावे । ५४९. समवायस्य ।

५५०. यौगवचनम् । ५५१. अपिशब्दात् न केवलं हेतुः साध्यसमो न भवतीति ध्वन्यते । ५५२. साधनस्य सद्भावः साध्यस्य च निर्णीतिः कुत इत्युक्ते आह । ५५३. धर्मिणोर्द्रव्यपर्याययोर्भेदग्राहकप्रमाणेन प्रत्यक्षेण । ५५४. अव्यतिरिक्तत्वं हेतुः । ५५५. यथा सर्वथा भिन्नयोः सहाविन्ध्ययोर्द्रव्यपर्यायत्वासंभवः । ५५६. भेदाभेदप्रकारेण । ५५७. सामान्यमेव विशेषः । तद्वत् । ५५८. द्रव्यपर्याययोर्मेचकज्ञानवद्दिरोधादिदोषानवकाशरूपया, भेदाभेदरूपया वा । ५५९. द्रव्यपर्याययोः । ५६०. भेदाभेदतया । ५६१. द्रव्यपर्याययोरैक्ये सति । ५६२. कविर्नूतनसन्दर्भो गमकी (शास्त्रबोधकः) कृतिभेदकः । वादी विजयवाग्वृत्तिर्वाग्मी स्याज्जनरञ्जकः ॥ इत्युक्ताश्चत्वारः कवित्वादयोऽस्मा अवयवा यस्याः, सा धीर्येषां ते चतुरस्रधियः । ५६३. अन्यथेति शेषः । ५६४. आदिशब्देन यस्य वर्णादयः पर्यायास्तस्य वर्णादिमतो द्रव्यस्य ग्रहणम् । ५६५. ब्रह्माद्वैतिसौगतस्वीकृतौ । ५६६. निरपेक्षयोर्द्रव्यपर्याययोः । ५६७. पदार्थस्वरूपसंबन्धित्वेनैकान्तद्वयस्य जैनैर्निराक्रियमाणत्वात् । ५६८. यदेव मया पूर्वं दृष्टं तदेव स्मृयते इत्यनेनाबाधितैकत्वप्रत्यभिज्ञानेन निराकृतत्वात् (यतः प्रत्यभिज्ञानेन पूर्वापरसमयवर्ती पदार्थ एक एव विषयीक्रियते । तस्यैव च नित्यत्वमनेकसमयवर्तिन एव नित्यत्वाभिमतनात्) । ५६९. संज्ञासंख्याविशेषाच्चेति कारिकामधुना व्याख्याति । द्रव्यपर्यायौ कथंचिद्भिन्नलक्षणौ परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनादिकत्वादिति उपरिष्ठाद्योज्यमत्र ।

५७०. वैश्रसिकः, स्वाभाविकः । ५७१. बसः । ५७२. परिणामविशेषादिति हेतोरसिद्धत्वनिराकरणेन । ५७३. परस्परविविक्तस्वभावौ हि शक्तिशक्तिमन्तौ द्रव्यपर्यायविति साध्येऽयं कारिकोक्तो हेतुः । ५७४. शक्तयोत्र पर्यायाः, शक्तिमतु द्रव्यम् । ५७५. बसः । ५७६. स्त इति संबन्धः । ५७७. प्रधानभूताया इत्यर्थः । ५७८. प्रथमपरिच्छेदावसाने । ५७९. कारिकोक्तम् । ५८०. पर्यायेष्वनुस्यूतत्वमन्वयः । ५८१. बसः । ५८२. बसः । ५८३. कारिकोक्तं साधनं । ५८४. कारिकायां प्रयोजनादीत्यत्रादिपदेन लभ्यमेतत् साधनं भिन्नकालत्वमिति । ५८५. भिन्नप्रतिभासत्वमपि प्रयोजनादिभेदादित्यत्रादिशब्दापाठेन लभ्यम् । ५८६. परस्परविविक्तस्वभावपरिणामसंज्ञासंख्याप्रयोजनत्वादिकं सिद्धं यतः । ५८७. परस्परविविक्तस्वभावसंज्ञासंख्येत्यादिहेतोः । ५८८. तयोः द्रव्यपर्याययोर्भिन्नत्वम् । ५८९. द्रव्यपर्यायरूपेण लक्ष्येण । ५९०. हे जैन । ५९१. सपक्षेऽन्वयद्वारेणोपसंहार्यो न भवति विपक्षे च व्यतिरेकद्वारेण न प्रदर्श्यते, किन्तु पक्षे एव प्रवर्तते यः सोनुपसंहार्यो हेतुः । सपक्षविपक्षरहित इत्यर्थः । ५९२. सर्वस्य पक्षीकृतत्वेन सपक्षविपक्षयोरभावेनासाधारणत्वसद्भावाल्लक्षणत्वं च । एतस्य लक्ष्यगम्यत्वप्रसङ्गः । ५९३. यथा सत्त्वं वस्तुनो लक्षणम् । ५९४. यौगः । ५९५. साधनाभावे साध्याभावरूपा विपर्ययेणात्र व्याप्तिः कृतास्ति । किमर्थम् ? लक्ष्यलक्षणयोर्मध्ये एकस्याभावेऽपरस्याभावो भवतीति ज्ञापयितुम् । ५९६. सतो विपक्षः असत्, असतो विपक्षश्च सत् । ५९७. सर्वं वस्तु सत्त्वादित्यत्र । ५९८. जैन आह । ५९९. सर्वं वस्तु भिन्नं प्रमेयत्वादित्यत्र भिन्नत्वं साध्यम् । तस्यानाश्रयः खरविषाणं तस्य । ६००. प्रमाणविषयतया । ६०१. सर्वं भिन्नं प्रमेयत्वादित्यत्र । ६०२. खरविषाणस्य । ६०३. असतः । ६०४. तस्य सत्त्वस्य । ६०५. उत्पादव्ययरहितं सत्त्वमित्यभ्युपगतं सांख्यैः । ६०६. ध्रौव्यरहितमिति सौगतैरभ्युपगतम् । ६०७. असत्त्वबुद्धिप्रतिभासिनः पराभ्युपगतस्य सत्त्वस्य । ६०८. पराभ्युपगतोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तो विकल्पबुद्धिप्रतिभासी कश्चित्पदार्थः सत्त्वस्य हेतोर्विपक्ष इत्यङ्गीक्रियमाणे इत्यर्थः । ६०९. द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः सद्गर्गः । प्रागभावादिरसद्गर्गो वैशेषिकदर्शने । तदभावस्य नीरूपस्य । ६१०. परेण तत्त्वोपप्लववादिना । ६११. प्रमेयत्वापेक्षया । ६१२. सत्त्वप्रमेयत्वयोः ।

६१३. अविद्यमानस्य लक्षणस्य । ६१४. 'साधारणत्ववचनात्' मुद्रितप्रतौ पाठः । ६१५. पक्षव्यापिन एवासाधारणस्य वस्तुलक्षणत्वप्रतिपादनपरेण ग्रन्थेन । ६१६. हेतोः । ६१७. तस्य पक्षस्यैकदेशे व्यापकस्य लक्षणस्यासाधारणत्वेपि लक्षणत्वायोगादव्यापिसद्भावादित्यर्थः । ६१८. यथोष्णत्वमग्रेरसाधारणमपि न लक्षणं भवति लक्ष्यैकदेशवृत्तित्वात् । ६१९. तत्, उष्णत्वम् । ६२०. तर्हीति शेषः । ६२१. हेतुगतः । पक्षाव्यापित्वलक्षणः । ६२२. पक्षव्यापिनोऽसाधारणत्वकथनेन । ६२३. हेतोः । ६२४. साध्ये । ६२५. अत्र सपक्षविपक्षाभावेपि

पक्षव्यपित्वाल्लक्षणत्वं यथा । ६२६. श्रावणत्वम् । ६२७. शब्दत्वं (सामान्यं) विपक्षो भविष्यतीत्याशङ्क्याह । ६२८. पर्यायापेक्षया । ६२९. शब्दाभावस्तर्हि विपक्षः स्यादित्याशङ्क्याह । ६३०. स च शब्दाभावः शब्दान्तरस्वभावो शब्दरूपो वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयन्ति । ६३१. घटशब्देन यथा पटशब्दाभाव इतरेतराभावः । ६३२. विकल्पद्वये द्वितीयविकल्परूपस्य शब्दाभावस्येत्यर्थः । ६३३. श्रावणस्य । ६३४. लक्ष्यं शब्दमन्तरेण । ६३५. द्रव्यपर्याययोर्मध्ये इति प्रकृते । ६३६. (श्रीतत्त्वार्थाधिगममोक्षशास्त्रकर्तुः) । ६३७. इति वचनेऽपि द्रव्यस्य लक्ष्यत्वं गुणपर्यायवत्त्वस्य च लक्षणत्वं कुत इत्याशङ्क्याह साध्यद्वयेपि यथाक्रमं हेतुद्वयं योजयन् । ६३८. कार्यद्रव्यस्य पर्यायत्वात्कथं द्रव्यलक्षणत्वं घटते इत्याशङ्क्याह । ६३९. स्थासकोशकुशूलादिषु च । ६४०. पर्यायमात्रेषु । ६४१. स्पर्शत्वादिष्वित्यर्थः । ६४२. केवलेषु । ६४३. गुणपर्यायवत्त्वलक्षणस्य । ६४४. स्पर्शादिसामान्यरूपसहभाविनो गुणा एव क्रमभावित्वे पर्याया उच्यन्ते । ६४५. तन्नावलक्षणस्य । ६४६. तर्ह्यतिव्याप्तिर्लक्षणस्य भविष्यतीत्याशङ्क्याह । ६४७. तस्य, परिणामविशेषादेः । ६४८. परिणामविशेषादिति च । हेतुचतुष्टयरूपम् । ६४९. व्याप्यस्य । ६५०. आदिशब्देन संज्ञासंख्यालक्षणप्रयोजनानि गृह्यन्ते । नानात्वेन व्यापकेनेत्यर्थः ।

६५१. सांख्यः । ६५२. द्रव्यपर्याययोः । ६५३. नानात्वं, परस्परतो भेदः । ६५४. सदिग्धा विपक्षाद्व्यावृत्तिर्यस्य सः । ६५५. सन्दिग्धानैकान्तिक इत्यर्थः । ६५६. सर्वथैकत्वादिति हेतुरेकत्वसाधकोत्र । परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावत इति च हेतुः । ६५७. सांख्येन । ६५८. पर्यायमात्रेषु । अस्खलन्ती, अबाध्यमाना । ६५९. कथंचिन्नानात्वसिद्धेः । ६६०. विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदाभावेपि वस्तुस्वभावे भेदसिद्धिर्यदि तदेत्यर्थः । ६६१. नानारहितम् । ६६२. विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदौ विहाय प्रकारान्तरासंभवादित्यर्थः । ६६३. पक्षान्तरासंभवः कुत इत्युक्त आह । ६६४. नानात्वाभावे सर्वथैकत्वे इत्यर्थः । ६६५. नानात्वाभावलक्षणाद्विपक्षाद्व्यावृत्तिर्निश्चिता । ६६६. भिन्नलक्षणत्वस्य । ६६७. देहलीदीपकन्यायेनेदं पदं पूर्वेण पश्चात्तमेन च पदेन सह संयुज्यते । ६६८. सर्वथैकत्व विपक्षोत्रै । ६६९. तयोर्विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासयोरभावेऽनुपपत्तिः कुत इति शङ्कापनोदार्थमाह । ६७०. अस्खलद्बुद्धिप्रतिभासस्य ग्राहकस्य । ६७१. विरुद्धधर्माध्यासे सत्येव भिन्नलक्षणत्वम् इति सति व्यापकत्वं विरुद्धधर्माध्यासस्य । ६७२. भिन्नलक्षणत्वस्य । ६७३. ग्राह्यस्य । ६७४. आदिशब्देनास्खलद्बुद्धिप्रतिभासग्रहणम् । ६७५. भिन्नलक्षणत्वस्य नानात्वस्य । ६७६. तेन विरुद्धधर्माध्यासेन साधनत्वयोगात् । ६७७. विरुद्धधर्माध्यासास्खलद्बुद्धिप्रतिभासभेदौ विहाय । ६७८. द्रव्यपर्याययोः कथंचिन्नानात्वमेकत्वं च सिद्धं यतः । ६७९. द्रव्यपर्यायरूपमित्यर्थः । ६८०. द्रव्यपर्याययोरिति सप्तस्वपि भङ्गेषु ज्ञेयम् । ६८१. असाधारणस्वरूपभेदात् । ६८२. (तत्र क्रमार्पितद्वयादुभयरूपत्वमक्रमार्पितद्वयाच्चावक्तव्यत्वं द्वयोरपि, यतो क्रमेण विवक्षिते सति परस्परविरुद्धधर्मयोर्द्वयोर्युगपद्वक्तुमशक्यता) । ६८३. बसुः । उपदेशादित्यस्य विशेषणरूपम् । ३८४. मानं, प्रमाणम् । ३८५. श्रीसमन्तभद्राचार्यः । ३८६. अस्मिन् परिच्छेदे प्रथमं वैशेषिकमतसमतस्य भेदैकान्तस्य प्रतिविधानं दर्शितम् । तत्र तावत्पूर्वमेकषष्टितम्यां कारिकायां तत्पूर्वपक्षो दर्शितः । तथाहि कार्यकारणादि गुणगुण्यादि च परस्परं भिन्नं, भिन्नलक्षणत्वात्, भेदेन प्रतिभासाच्च । सर्वथा तदभेदे कार्यकारणास्वरूपं न घटते, कार्यस्य तदुत्तरसमवर्तित्वात् कारणस्य तत्पूर्वाव्यवहितसमयस्थायित्वात् । ययोश्च परस्परं न भेदस्तयोर्देशः कालो वा न भिद्येत, भिद्येत च देशकालौ कार्यकारणयोः । इत्येवं पूर्वपक्षं समर्थं तत्प्रतिविधानं द्विषष्टितमकारिकातः कृतमस्ति । यथा च, अन्यत्वैकान्तेपि एकस्य कार्यस्यानेककारणादौ प्रवृत्तिः स्वीकर्तव्या एव, तदस्वीकारे कार्यकारणभावादिविरोधात् । तद्वृत्तौ च सर्वात्मनैकदेशेन वा स्वीकारे एकस्यापि बहुत्वसंभवो बहुप्रदेशित्वापत्तिर्वा । न च तथा भेदैकान्ते संभवति, तथा सति तदेकान्ताविघटनात्, पूर्वं कारणदशायामनेकस्य कार्यरूपत्वे एकत्वसंभवेन सर्वथान्यत्वाघटनात् । समवायेन वृत्तिश्च न घटते, तस्य प्रागेव निराकरणात् । अदृष्टवशाद्भूतिकल्पने प्रत्यक्षसिद्धः स्याद्भेद एव किमिति नाङ्गीक्रियेत ? इत्यादिप्रकारेण वैशेषिको निरस्तः । सप्तषष्टितमकारिकातो बौद्धः पराजितः । तत एकात्रसप्ततितमकारिकातः सांख्यमतनिषेधः । सप्ततितमकारिकातः स्याद्वादविधाने सर्वस्य सुघटत्वदर्शनम् । इत्ययमस्य परिच्छेदस्य निष्कर्षः संभवति ।

अथ पञ्चमः परिच्छेदः

स्फुटमकलङ्कपदं या प्रकटयति पटिष्ठचेतसामसमम् ।

दर्शितसमन्तभद्रं साष्टसहस्री सदा जयतु ॥ १ ॥

यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते ।

अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता ॥ ७३ ॥

५८६. धर्मधर्मिणोरापेक्षिकी सिद्धिः, प्रत्यक्षबुद्धौ तदनवभासनादूरेतरादिवत् । न हि प्रत्यक्षबुद्धौ धर्मो धर्मो वा प्रतिभासते, तत्पृष्ठभाविक्विकल्पोपकल्पितत्वात्, तस्य स्वलक्षणस्यैव तत्र प्रतिभासनात्, शब्दापेक्षया सत्त्वादेर्धर्मत्वेऽपि ज्ञेयत्वापेक्षायां धर्मित्वव्यवहरणात्, तदपेक्षया ज्ञेयत्वस्य धर्मत्वेऽप्यभिधेयत्वापेक्षायां धर्मित्वव्यवहारात्, तदपेक्षया चाभिधेयत्वस्य धर्मत्वेऽपि प्रमेयत्वापेक्षायां धर्मित्वप्रसिद्धेः । इति न क्वचिद्धर्मो धर्मो वा व्यवतिष्ठते । ततो न तात्त्विकोऽसौ । न हि नीलस्वलक्षणं संवित्स्वलक्षणं वा प्रत्यक्षमवभासमानं किञ्चिदपेक्ष्यान्यथाभावमनुभवदुपलब्धम् । केवलमपेक्षाबुद्धौ विशेषणविशेष्यत्वं सामान्यविशेष्यत्वं गुणगुणित्वं क्रियाक्रियावत्त्वं कार्यकारणत्वं साध्यसाधनत्वं ग्राह्यग्राहकत्वं वा प्रकल्प्यते दूरेतरत्वादिवत् ।

५८७. इति यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यात्तदा न द्वयं व्यवतिष्ठते नीलस्वलक्षणं तत्संवेदनं चेति, तयोरप्यापेक्षिकत्वाशेषणविशेष्यत्वादिवत् । तथा हि—ययोः सर्वथा परस्परापेक्षाकृता सिद्धिस्तयोर्न व्यवस्था । यथा परस्पराश्रययोः सरिति प्लवमानयोः । तथा न नीलतद्वेदनयोः सर्वतापेक्षाकृता सिद्धिः । इति तद्व्ययमपि न व्यवतिष्ठते । न हि नीलं नीलवेदेनानपेक्षं सिध्यति, तस्यावेद्यत्वप्रसङ्गात्, संवित्रिष्ठत्वाच्च वस्तुव्यवस्थानस्य । नापि नीलानपेक्षं नीलवेदनं, तस्यै तस्मादात्मलाभोपगमादन्यथा निर्विषयत्वापत्तेः । इत्यन्यतराभावे शेषस्याप्यभावाद्व्ययस्याव्यवस्थानं स्यात् ।

५८८. एतेन नीलवासनातो नीलवेदेनमित्यस्मिन्नपि दर्शने द्वयाव्यवस्थितिरुक्ता । तयोरन्योन्यापेक्षैकान्ते स्वभावतः प्रतिष्ठितस्यैकतरस्याप्यभावेन्यतराभावादुभयं न प्रकल्प्येत, नीलवेदनाभावे तद्वासना-विशेषस्याव्यवस्थितेरन्यथातिप्रसक्तैः, तद्वासनाविशेषमन्तरेण नीलवेदनस्याव्यवस्थितेरन्यथा निर्निमित्तत्वापत्तेः ।

५८९. स्यान्मतं, नीलवेदनस्य स्वतः प्रकाशान्नायं दोष इति, तदसत्, परस्परापेक्षैकान्तविरोधात्, दण्डादेर्विशेषणस्य स्वबुद्धौ स्वतः सिद्धेः सामान्यादेरपि स्वग्राहिणि ज्ञानेऽन्यानपेक्षस्य प्रतिभासनाद्विशेष्यविशेषणादेरपि तथो प्रसिद्धेर्द्वयाभावान्नवकाशात् । ततो एव दूरेतरादिदृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनधर्मविकलः स्यात्, दूरासन्नभावयोरपि स्वभावविवर्तविशेषाभावे समानदेशादेरपि प्रसङ्गात् । न च समानदेशकालस्वभावयोरन्योन्यापेक्षयापि दूरासन्नभावव्यवहारः, खरविषाणयोरिव तत्स्वभावशून्ययोस्तदयोगात् । तदिमौ स्वभावतः सतामन्यथेतेरेतौश्रयदोषानुषङ्गात् । एतेन स्वाश्रयशब्दाद्यपेक्षया सत्त्वादेर्धर्मत्वेन स्वधर्मपेक्षया धर्मित्वं नाव्यवस्थाकारित्वेनायुक्तमिति प्रकाशितं,

तथाविधस्वभावविशेषाभावे परापेक्षयापि धर्मधर्मिभावानुपपत्तेः, अनन्तत्वाच्च धर्माणां तदपेक्षिणामप्यपर्यन्तत्वात्, अन्यथाभिप्रेतधर्मधर्मिणोरप्यव्यवस्थापत्तेः । इति नापेक्षैकान्तः श्रेयान् ।

५९०. योप्याह धर्मधर्मिणोः सर्वथानापेक्षिकी सिद्धिः, प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वात्रीलादिस्वरूपवत्, सर्वथानापेक्षिकत्वाभावे प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वानुपपत्तेः खपुष्पवत् इति तस्यानपेक्षापक्षेपि नान्वयव्यतिरेकौ स्यातां, भेदाभेदयोरन्योन्यापेक्षात्मकत्वाद्दिशेषेतरभावस्य । अन्वयो हि सामान्यं, व्यतिरेको विशेषः । तौ च परस्परापेक्षौ व्यवतिष्ठेते । तयोरनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता । प्रतिनियतबुद्धिविषययोरपि प्रतिनियतपदार्थता स्यान्नलीपीतवत् । न ह्यभेदो भेदनिरेपक्षः प्रतिनियतान्वयबुद्धिविषयोस्ति, नापि भेदो जातुचिदभेदनिरपेक्षः प्रतिनियतव्यतिरेकबुद्धिविषयः संभाव्यते क्वचिदेकव्यतिरेरपि प्रथमदर्शनकाले तद्बुद्धिविषयत्वप्रसङ्गात् । तदनेन प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वस्य हेतोर्विरुद्धत्वं प्रतिपादितं तस्य कथंचिदापेक्षिकत्वेन व्याप्तत्वात् प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्ववत् । ततो नैतावेकान्तौ घटेते, वस्तुव्यवस्थानाभावानुषङ्गात् ।

विरोधान्नोभयैकान्त्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ७४ ॥

५९१. अन्यन्तरैकान्त्योर्युगपद्विवक्षा मा भूद्विप्रतिषेधात् सदसदेकान्तवत्, स्याद्वादानाश्रयणात् । तथानभिधेयत्वैकान्तेपीति कृतं विस्तरेण, सदसत्त्वाभ्यामनभिधेयत्वैकान्तवत् ।

इति कथंचिदापेक्षिकत्वेतरानेकान्तं प्रतिपक्षप्रतिक्षेपसामर्थ्यात्सिद्धमपि दुरारंकापाकरणार्थमाचक्षते—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया ।

न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकाङ्गवत् ॥ ७५ ॥

५९२. धर्मधर्मिणोरविनाभावोन्योन्यापेक्षयैव सिध्यति, न तु स्वरूपं, तस्य पूर्वसिद्धत्वात् । स्वतो ह्येतत्सिद्धं सामान्यविशेषवत् । सामान्यं हि स्वतः सिद्धस्वरूपं भेदापेक्षान्वयप्रत्ययादवगम्यते । विशेषोपि स्वतः सिद्धस्वरूपः सामान्यापेक्षव्यतिरेकप्रत्ययादवसीयते । न केवलं सामान्यविशेषयोः स्वलक्षणमपेक्षितपरस्पराविनाभावलक्षणमपि तु धर्मधर्मिणोरपि गुणगुण्यादिरूपयोः कर्तृकर्मबोध्यबोधकवत् (कारकाङ्गकर्तृकर्मवत्, ज्ञापकाङ्गबोध्यबोधकवच्च) । न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्त्वप्रसङ्गात् । नापि कर्तृत्वव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परापेक्षः, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयावसेयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात् ।

५९३. एतेन बोध्यबोधकयोः प्रमेयप्रमाणयोः स्वरूपं स्वतः सिद्धं, ज्ञाप्यज्ञानकव्यवहारस्तु परस्परापेक्षया सिद्ध इत्यभिहितम् । तद्वत्सकलधर्मधर्मिभूतानामर्थानां 'स्यादापेक्षिकी' सिद्धिः, तथा व्यवहारात् । स्यादनापेक्षिकी पूर्वप्रसिद्धस्वरूपत्वात् । स्यादुभयी क्रमार्पितद्वयात्, स्यादवक्तव्या,

सहार्पितद्वयात्, स्यादापेक्षिकी चावक्तव्या च तथा निश्चयेन सहार्पितद्वयात्, स्यादनापेक्षिकी चावक्तव्या च पूर्वसिद्धत्वसहार्पितद्वयात्, स्यादुभयी चावक्तव्या च क्रमाक्रमार्पितोभयात्, इति सप्तभङ्गीप्रक्रियां योजयेन्नयविशेषवशादविरुद्धां, पूर्ववत् ।

अपेक्षैकान्तादिप्रबलगरलोद्रेकदलिनी,
 प्रवृद्धानेकान्तामृतरसनिषेकानवरतम् ।
 प्रवृत्ता वागेषा सकलविकलादेशवशतः
 समन्ताद्भद्रं वो दिशतु मुनिर्पस्याऽमलमतेः ॥

इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ पञ्चमः परिच्छेदः ।

पञ्चमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. अष्टशती अकलङ्कदेवकृता तत्पदम् । २. अनुपमम् । ३. समन्तभद्रकृता मूलस्तुतिर्देवागमनामिका सा दर्शिता येन । ४. बौद्धं प्रति स्वामी ग्राह । अपेक्षैव प्रयोजनं येवामर्थानां तेषां सिद्धिः निश्चितिर्वा, अथवा आपेक्षिकी चासौ सिद्धिश्च सा यदि स्यात्तदा कार्यकारणादि द्वयं युगपन्न व्यवतिष्ठते । कस्मात् ? एकेनैकस्य प्रतिहतत्वात् । अपेक्षासिद्धिर्विकल्पज्ञानेनापेक्ष्य जनिता, न तु पारमार्थिकीत्यर्थः । ५. नीलस्वलक्षणं (ज्ञेयं कारणरूपं) नीलसंवेदनं (ज्ञानं कार्यरूपं) चेति द्वयम् । ६. सामान्यविशेषयोस्तर्हानापेक्षिकी सिद्धिरस्त्विति यौगः । तं प्रत्याहुः । ७. बौद्धः । ८. कल्पितैव, न तु पारमार्थिकी । ९. निर्विकल्पज्ञाने । १०. दूरेतरादिर्यथापेक्षिकी सिद्धिः प्रत्यक्षे निर्विकल्पके न प्रतिभासते, तत्र वस्तुन एकत्वप्रतिभासनात् । ११. तस्य, निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य । १२. धर्मधर्मिणोर्विकल्पमात्रोपकल्पितत्वं दर्शयन्नाह बौद्धः । १३. परार्थानुमानापेक्षया, सर्वं क्षणिकं सत्त्वादिति । १४. ज्ञेयत्वापेक्षया, सत्त्वं ज्ञेयमित्येवम् । अत्र सत्त्वादिधर्मः । १५. शब्दापेक्षायामित्यर्थः । १६. ज्ञेयत्वस्यैव । १७. अभिधेयत्वापेक्षया । १८. ज्ञेयस्य धर्मिणः सत्त्वादेरभिधेयत्वं धर्मः । १९. इति, हेतोः । २०. यतो न व्यवतिष्ठते । २१. धर्मो धर्मो वा (किंतु कल्पितः) । २२. धर्मधर्मिणोः क्वचिद् व्यवस्थानाभावेऽपि तात्त्विकत्वं कुतो न स्यादित्युक्ते आह । २३. नीलस्वलक्षणस्य संवित्स्वलक्षणस्य च तात्त्विकत्वं, नापरस्य धर्मस्य धर्मिणो वेत्यर्थः । २४. पीतादिकम् । २५. नीलस्वलक्षणं पीतत्वेन । २६. अपेक्षया जनितायां बुद्धौ, विकल्पबुद्धावित्यर्थः । २७. इति, एवं चेद्धे बौद्ध ? जैनो वक्ति । २८. विशेष्यविशेषणत्वादेः । कार्यनिष्पत्तिं प्रति । २९. आदिपदेन सामान्यविशेषत्वादीनां ग्रहणम् । ३०. तयोः, नीलतद्वेदनयोर्द्वयम् । ३१. नीलज्ञाननिरपेक्षम् । ३२. नीलवेदनस्य । ३३. नीलात् । ३४. नाकारणं विषय इति सौगतैरभ्युपगतत्वात् । ३५. नीलवेदनस्य ।

३६. द्वाव्यवस्थानप्रतिपादनेन । ३७. उत्पद्यते इति शेषः । ३८. अङ्गीक्रियमाणे । ३९. नीलवासनारूपस्य नीलरूपस्य वा । ४०. नीलज्ञाननीलवासनाद्वयम् । ४१. धूमलक्षणालिङ्गाभावेऽपि पर्वतेऽग्निसाधनत्वप्रसङ्गात् । ४२. नीलवासनान्तरेण नीलज्ञानस्य व्यवस्थितिश्चेत्तर्हि । ४३. विरोधोऽभावार्थकः । ४४. विशेषणबुद्धौ । ४५. विशेष्यापेक्षमन्तरेण । ४६. अपिशब्देन क्रियागुणादिग्रहणम् । ४७. स्वतः प्रकारेण । ४८. प्रतिवादिनोक्तो द्वायाभावो जैनानां नास्तीति भावः । ४९. विशेषणविशेष्यसामान्यविशेषादिरूपद्वयाभावस्यानवकाशात् । ५०. पदार्थयोः । ५१. दूरसन्नत्वस्वभावलक्षणाविवर्तविशेषस्याभावे । ५२. पदार्थस्य । ५३. (दूरसन्नतादिप्रसङ्गात्) । ५४. पदार्थयोः । ५५. दूरसन्नत्वस्वभावशून्ययोः । ५६. तस्य, दूरसन्नभावव्यवहारस्य । ५७. दूरसन्नभावौ । ५८. दूरेतरार्थप्रतिपत्तौ दूरेतरार्थप्रतिभासप्रतिपत्तिः, तस्यां च तत्प्रतिपत्तिरिति । ५९. दूरसन्नपदार्थयोः स्वभावतः स्थितिप्रतिपादनेन । ६०. स्वं सत्त्वम् । तस्याश्रयभूतः शब्दः (सत्त्वस्याश्रयः शब्दः), यथा शब्दः क्षणिकः सत्त्वादिति । आदिशब्देन ज्ञेयत्वाभिधेयत्वप्रमेयत्वादीनां ग्रहणम् । ६१. अतिप्रसङ्गो भवति । स च नास्ति यतः । ६२. तथाविधस्य, परमार्थतो धर्मधर्मिस्वरूपस्य । ६३. धर्मधर्मित्वादिकं कल्पितमस्तीत्यादिरूपया । ६४. ते धर्माः । ६५. सर्वेषां धर्मधर्मिणां स्वतः सिद्ध्यभावे । ६६. अपिशब्दो हेतुन्तरद्योतकः । ६७. यौगः । ६८. धर्मधर्मिणोः । ६९. जैनमते नीलनीलस्वरूपयोरनापेक्षिकसिद्धिः । अत एव जैनान् प्रति सिद्धो दृष्टान्तः । ७०. प्रतिनियतबुद्धिविषयत्वं च स्यादनापेक्षिकत्वं च न स्यादिति सन्दिग्धानैकान्तिकत्वे सत्याह । ७१. इति योप्याह तस्यात्र दूषणमाह जैनः । ७२. न केवलमपेक्षापक्षे एव । ७३. विशेषसामान्ययोः । ७४. इतरत्, सामान्यम् । ७५. यथा नीलपीतयोरनापेक्षिकसिद्धौ इदं नीलमिदं पीतमिति निश्चयो न स्यात् । ७६. अस्य विशेषस्येदं सामान्यमस्य सामान्यस्य चायं विशेष इति प्रतिनियतान्वयव्यतिरेकबुद्धिविषयत्वतयोः सामान्यविशेषयोः सामान्यविशेषरूपता स्यादित्याशङ्कामाह । ७७. भेदो विशेषः । ७८. अन्यथेति शेषः । ७९. घटादेः ।

८०. तद्वद्धिः, अन्वयबुद्धिर्व्यतिरेकबुद्धिश्च । ८१. संभाव्यते इत्यनेन । ८२. सापेक्षिकत्वसाधनात् । ८३. दूरेतरादौ प्रत्यक्षबुद्धिप्रतिभासित्वं यथाकथंचिदापेक्षिकत्वेन व्याप्तम् । ८४. आपेक्षिकत्वानापेक्षिकत्वलक्षणौ । ८५. आपेक्षिकानापेक्षिकद्वयम् । ८६. आपेक्षिकत्वानापेक्षिकत्वयोः । ८७. ऐकात्म्ये । ८८. प्रतिपक्षस्य, सर्वथापेक्षिकत्वानापेक्षिकत्वोभयरूपस्य । ८९. सकलशून्यतायाः, उपप्लुततत्त्वस्य वा । ९०. स्वरूपमन्योन्यवीक्षया

न सिद्ध्यति । ९१. कारकस्याङ्गे, अवयवौ ते कर्तृकर्मणी व्यवहाररूपे परस्परपेक्षे । ज्ञापकस्याङ्गे, अवयवौ । तथैव परस्परपेक्षे ज्ञेये । ९२. धर्मधर्मिविवक्षातः प्राक् । ९३. स्वकारणकलापादेव । ९४. भेदो, व्यतिरेकः । बसः । ९५. एवमेव । ९६. स्वकीयस्वरूपम् । ९७. स्वतः सिद्धस्वरूपं ज्ञातव्यम् । ९८. यथा कारकस्याङ्गे, अवयवौ । ते च ते कर्तृकर्मणी च । ९९. ज्ञानस्याङ्गे (अवयवौ) वेद्यवेदकज्ञाने यथा । १००. अन्यथा कर्तृस्वरूपाभावः स्यात् । १०१. इतरेतराश्रयत्वेन । १०२. कर्मनिश्चयपूर्वकत्वेनावसेयत्वादित्यर्थः ।

१०३. सिद्धिशब्दः सप्तस्वपि भङ्गेषु वाच्यः । १०४. अपेक्षानपेक्षार्थद्वयस्य । १०५. धर्मधर्मित्वक्रमप्रकारेण । १०६. आपेक्षिकी चानापेक्षिकी चावक्तव्या चेत्यर्थः । १०७. यसः । १०८. सकलादेशरूपः पदार्थः प्रमाणविषयः । विकलादेशरूपस्तु (वस्तुत्वेकांशः) नयाधीनः । १०९. श्रीसमन्तभद्रस्वामिनः । ११०. अत्र सर्ववस्तूनां तद्गतधर्माणां च स्यादापेक्षिकी स्यादनापेक्षिकी सिद्धिर्दर्शितां तदेकान्तमतानि च निरसितानि ।



अथ षष्ठः परिच्छेदः

पुष्यदकलङ्कवृत्तिं समन्तभद्रप्रणीततत्त्वार्थम् ।

निर्जितदुर्नयवादामष्टसहस्रीमवैतं सददृष्टिः ॥

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः ।

सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि ॥ ७६ ॥

५९४. ईह हि सकललौकिकपरीक्षकैः उपेयतत्त्वं व्यवस्थाप्योपायतत्त्वं व्यवस्थाप्यते, कृष्यादिषु प्रवर्तमानानां व्यवस्थितसस्याद्युपेयानामेव तदुपायव्यवस्थापनप्रयत्नोपलम्भात्, 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते' इति प्रसिद्धेः, मोक्षार्थिनां च प्रेक्षावतां व्यवस्थितोपेयमोक्षस्वरूपाणामेव तदुपायव्यवस्थापनव्यापारदर्शनात्, अव्यवस्थितमोक्षतत्त्वानां तदुपायव्यवस्थापनपराङ्मुखत्वाच्चावार्कादिवत् ।

५९५. तत्र हेतुत एव सर्वमुपेयतत्त्वं सिद्धं, न प्रत्यक्षात्, तस्मिन्सत्यपि विप्रतिपत्तिसम्भवात्, युक्त्या यत्र घटमुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्ध्ये इत्यादेरेकान्तस्य बहुलं दर्शनात्, अर्थानर्थाविवेचनस्यानुमानाश्रयत्वात्तद्विप्रतिपत्तेस्तदव्यवस्थापनायाहेत्वादिवचनात् । प्रत्यक्षतदाभासयोरपि व्यवस्थितिरनुमानात्, अन्यथा संकरव्यतिकरोपपत्तेरर्थानर्थविवेचनस्य प्रत्यक्षाश्रयत्वासंभवात् । इति केचित्तेषां प्रत्यक्षाद्गतिरनुमानादादितोपि न स्यात् । न च धर्मिणः साधनस्योदाहरणस्य च प्रत्यक्षादगतौ कस्यचिदनुमानं प्रवर्तते । अनुमानान्तरात्तद्वतौ तस्यापि धर्म्यादिगतिपूर्वकत्वादनुमानान्तरमपेक्षणीयमित्यनवस्था स्यात् । ततः कथंचित्साक्षात्करणमन्तरेण धर्म्यादीनां न क्वचिदनुमानं प्रवर्तते । किं पुनः शास्त्रोपदेशात् ? इति प्रत्यक्षादपि सिद्धिरभ्यस्तविषयेभ्युपगन्तव्या, अन्यथा शब्दलिङ्गादिप्रतिपत्तेरयोगात् परार्थानुमानरूपाणामपि शास्त्रोपदेशानामप्रवृत्तेः ।

५९६. ये त्वाहुः—'आगमादेव सर्वं सिद्धं, तमन्तरेण प्रत्यक्षेपि माणिक्यादौ यथार्थनिर्णयानुपपत्तेः, अनुमानप्रतिपत्तेरपि चिकित्सितादावागमपेक्षणात्, आगमबाधितपक्षस्यानुमानस्यागमकत्वाच्च, परब्रह्मणः शास्त्रादेव सिद्धेः, प्रत्यक्षानुमानयोरविद्याविवर्तविषयत्वादागमविषये सन्मात्रात्मनि परमात्मन्येव प्रमाणत्वव्यवहरणात् । अबाधिताश्चैते शास्त्रोपदेशाः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादयः, प्रत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वेन तद्वाधकत्वायोगात्' इति, तेषां विरुद्धार्थमतान्यपि शास्त्रोपदेशेभ्यः सिध्यन्तु, विशेषाभावात् । सम्यगुपदेशेभ्यस्तत्त्वसिद्धिरिति चेत्तर्हि युक्तिरपि तत्त्वसिद्धिनिबन्धनं, तत एव तेषां सम्यक्त्वनिर्णयात्, अदुष्टकारणजन्यत्वबाधवर्जितत्वाभ्यां तदुपगमात् । न चैतै युक्तिनिरपेक्षाः, परस्परविरुद्धार्थतत्त्वसिद्धिप्रसङ्गात्, परब्रह्मण एवापौरुषेयादागमात्सिद्धिर्न पुनः कर्मकाण्डस्येश्वरादिप्रवादस्य चेति नियामकाभावात् । कथं च श्रौत्रप्रत्यक्षस्याप्रमाणत्वे वैदिकशब्दस्य प्रतिपत्तिर्यतस्तदर्थनिश्चयः स्यात् ? प्रमाणत्वे कुतोनुमानाभावे संवादविसंवादाभ्यां प्रमाणेतरसामान्याधिगमः, यतः किंचिदैव श्रौत्रं प्रत्यक्षं प्रमाणं नान्यदिति व्यवतिष्ठेत् ? ततः कुतश्चिदागमात्तत्त्वसिद्धिमनुरूप्यमानेन प्रत्यक्षानुमानाभ्यामपि तत्त्वसिद्धिरनुमन्तव्या, अन्यथा तदसिद्धेः ।

५९७. प्रत्यक्षानुमानाभ्यामेव तत्त्वसिद्धिर्नागमादित्यपरे, तेषां न सत्यवादिनः, ग्रहोपरागादेस्तत्फलविशेषस्य च ज्योतिःशास्त्रादेव सिद्धेः । न च प्रत्यक्षानुमानाभ्यामन्तरेणोपदेशं ज्योतिर्ज्ञानादिप्रतिपत्तिः । सर्वविदः

प्रत्यक्षादेव तत्रैतिपत्तिरनुमानविदां पुनरनुमानादपीति चेन्न, सर्वविदामपि योगिप्रत्यक्षात्पूर्वमुपदेशाभावे तदुत्पत्त्ययोगादनुमानाभाववत् । ते हि श्रुतमयीं चिन्तामयीं च भावनां प्रकर्षपर्यन्तं प्रापयन्तोतीन्द्रियप्रत्यक्षमात्मसात्कुर्वते, नान्यथा । तथानुमानविदामपि नात्यन्तपरोक्षेष्वर्थेषु परोपदेशमन्तरेण साध्याविनाभाविसाधनधर्मप्रतिपत्तिः संभवति, सर्वज्ञत्वप्रसङ्गात् । इति चिन्तितमन्यत्र । ततो नैतावप्येकान्तौ युक्तौ ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेषुक्तिर्नवाच्यमिति युज्यते ॥ ७७ ॥

५९८. युक्तीतरैकान्तद्वयाभ्युपगमोपि मा भूत्, विरुद्धयोरेकत्र सर्वथासंभवात्, स्याद्वादन्यायाविद्विषां कथंचित्तदनुभ्युपगमात् । तदवाच्यत्वेपि पूर्ववत् स्ववचनविरोधप्रसङ्गः ।

सम्प्रति युक्तीतरानेकान्तमुपदर्शयन्ति—

वक्तव्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम् ।

आप्ते वक्तरि तद्वाक्योत्साध्यमागमसाधितम् ॥ ७८ ॥

५९९. कः पुनराप्तोनाप्तश्च ? यस्मिन् सति वाक्यात्साधितं साध्यमर्थतत्त्वमागमात् साधितं स्याद्धेतोस्तु यत्साध्यं तद्धेतुसाधितमिति विभागः सिध्यतीति चेदुच्यते—यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तस्ततोपरोनाप्तः । कः पुनरविसंवादो येनाविसंवादकः स्यात् ? तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः, तदर्थज्ञानात् । तदर्थज्ञानं पुनः प्रस्फुटव्यवसायरूपं साक्षादसंक्षाद्भावसीयते, परमार्थतस्तस्य संशयविपर्यासानध्यवसायव्यवच्छेदफलत्वात् । तत्राविसंवादक एवाप्त इत्यवधार्यते । अनाप्तस्तु कदाचिदपि विसंवादक उच्यते, यथार्थज्ञानादिगुणस्य विसंवादकत्वायोगात् । तेनैतीन्द्रिये जैमिनिरन्यो वा श्रुतिमात्रावलम्बी नैवाप्तस्तदर्थपरिज्ञानात्तथागतवत् । नात्र निदर्शनं साधनधर्मविकलं, तथागतस्य श्रुत्यर्थधर्मापरिज्ञानात्, 'बुद्धादेर्धर्माद्युपदेशो व्यामोहादेव केवलात्' इति स्वयमभिधानात् । न चासिद्धो हेतुर्जैमिनेर्ब्रह्मादेर्वा श्रुत्यर्थपरिज्ञानस्य सर्वथाप्यसंभवात् । तद्धि प्रत्यक्षं वा श्रौतं वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षं तस्यैवज्ञत्वात् श्रुतिमात्रावलम्बितत्वाच्च । न हि तदौद्देशातीन्द्रियार्थज्ञानमस्ति दोषावरणक्षयातिशयाभावात् । न हि प्रतिनियतदोषावरणक्षयमात्रे सत्यपि धर्माधर्मादिसाक्षात्करणं युक्तं, तस्यैव तत्परिक्षयातिशयहेतुकत्वेन व्यवस्थापितत्वात् । नापि श्रौतं तदर्थपरिज्ञानं श्रुत्यविसंवादात्पूर्वमसिद्धेः । श्रुतेः परमार्थवित्त्वं, ततः श्रुतेरविसंवादनमित्यन्योन्यसंश्रितम् । न ह्यप्रसिद्धसंवादायाः श्रुतेः परमार्थपरिज्ञानं जैमिन्यादेः संभवति, अतिप्रसङ्गात् । नापि परमार्थवित्त्वमन्तरेण तत्त्वप्रतिपादनलक्षणमविसंवादनं यतोऽन्योन्याश्रयणं न स्यात् ।

६००. ननु न श्रुतेरविसंवादात्प्रामाण्यम् । किं तर्हि ? स्वत एव । ततो न दोष इति चेत्, स्वतः श्रुतेर्न वै प्रामाण्यमचेतनत्वाद् घटवत् । सन्निकर्षादिभिरनैकान्तिकत्वमयुक्तं तत्प्रामाण्यानभ्युपगमोऽनुख्यरूपतः । अथापि कथंचित् तत्प्रामाण्यं स्यादविसंवादकत्वात् । सन्निकर्षादेरविसंवादकज्ञानकारणत्वेन तथोपचारसिद्धिरिति मन्येमहि । तथापि श्रुतेरयुक्तमेव, तदभावात् । तेनोपचारमात्रमपि न स्यात्, तदर्थबुद्धिप्रामाण्यासिद्धेः । न हि श्रुतिविसंवादिज्ञानस्य कारणं, येनोपचारतः प्रमाणं स्यादिति निवेदितं प्राक् भावनादिश्रुतिविषयाविसंवादकत्वनिराकृतिप्रस्तावे ।

६०१. आप्तवचनं तु प्रमाणव्यपदेशभाक्, तत्कारणकार्यत्वात् । प्रमाणकारणकं तत्, तदतीन्द्रियार्थदर्शनोत्पत्तेस्तदर्थज्ञानोत्पादनाच्च प्रमाणकार्यकम् । नैतत् श्रुतेः संभवति, सर्वथाप्तानुक्तेः, पिटकत्रयवत् । वक्तृदोषात्तादृशेऽप्रामाण्यं तदभावाच्छ्रुतेः प्रामाण्यमिति चेत्, कुतोयं विभागः सिध्येत् ? पिटकत्रयादेः पौरुषेयत्वस्य स्वयं सौगतादिभिरभ्युपगमाद्वेदादिभिश्च श्रुतेरपौरुषेयत्वोपगमादिति चेत्, सोऽयमभ्युपगमानभ्युपगमाभ्यां केचित्पौरुषेयत्वमन्यद्वा व्यवस्थापयतीति सुव्यवस्थितं तत्त्वम् ।

६०२. एतेन कर्तृस्मरणाभावादयः प्रत्युक्ताः । स हि श्रुतौ कर्तृस्मरणादिमत्त्वदृष्टकर्तृक-समानत्वाद्यभावमभ्युपगममात्राद् व्यवस्थापयतीति तद्भावं चेतरेत्रानभ्युपगमात् । न च तथा तत्त्वं व्यवतिष्ठते, वेदेतरयोरविशेषात् । इतरत्र बुद्धो वक्तैति चेत्, तत्र कमलोद्भवादिरिति कथं न समानम् ? यथैव हि पिटकत्रये बुद्धो वक्तैति सौगताः प्रतिपाद्यन्ते, तथा वेदेपि ते अष्टकान् काणादाः, पौराणिकाः कमलोद्भवं, जैनाः कालासुरं वक्तारमनुमन्यते । सुदूरमपि गत्वा तदङ्गीकरणेतरमात्रे व्यवतिष्ठेत श्रुतिवादी, प्रमाणबलात्तदवक्तृकस्य साधयितुमशक्तेः ।

६०३. स्यान्मतं—

यद्वेदाध्ययनं सर्वं तदध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥ ()

इति प्रमाणात् वेदे वक्तुरभावो, न पुनभ्युपगममात्रात् इति, तदयुक्तम्, पिटकत्रयादावपि तत एव वक्त्रभावप्रसङ्गात् । वेदाध्ययनवदितरस्यापि सर्वदाध्ययनपूर्वाध्ययनत्वप्रवृत्तौ न वक्त्रं वक्त्रीभवति, यतो विद्यमानवक्तृकेपि भावादध्ययनवाच्यत्वस्यानैकान्तिकत्वं न स्यात् । वेदविशेषस्याध्ययन-वाच्यत्वस्यान्यत्राभावान्नैकान्तिकतेति चेत्तर्हि पिटकत्रयादिविशेषणस्य वेदादावसंभवादव्यभिचारिता कथं न भवेत् ? तथा च वेदवदवेदस्याप्यपौरुषेयत्वं प्रामाण्यनिबन्धनं याज्ञिकानां प्रवर्तकं स्यान्न वा वेदेपि, विशेषाभावात्, दुर्भर्णेन दुःश्रवणादीनामस्मदाद्युपलभ्यानां तदतिशयान्तराणां च शक्यक्रियत्वादितरत्रापि परोक्षाया मन्त्रशक्तेरपि दर्शनात् । न ह्यार्थवर्णानामेव मन्त्राणां शक्तिरुपलभ्यते, न पुनः सौगतादिमन्त्राणामिति शक्यं वक्तुं, प्रमाणबाधनात् । वैदिका एव मन्त्राः परत्रोपयुक्ताः शक्तिमन्त इत्यप्ययुक्तं, प्रावचनिका एव वेदेपि प्रयुक्ता इत्युपपत्तेस्तत्र भूयसामुपलम्भात्, समुद्राद्याकरेषु रत्नवत् । न हि कियन्त्यपि रत्नानि राजकुलादावुपलभ्यमानानि तत्रत्यान्येव, तेषां रत्नाकरादिभ्य एवानयनम् तदभवत्वसिद्धेर्भूयसां तत्रोत्पत्तिदर्शनात् तद्वत्प्रवचनैकदेशविद्यानुवादादेव सकलमन्त्राणां समुद्भूतिविस्तीर्णात्, न पुनर्वेदात्तल्लवमात्रादिति युक्तमुत्पश्यामः ।

६०४. वेदस्यानादित्वादपौरुषेयत्वाच्च तन्मन्त्राणामेवाविसंवादकत्वं संभवतीति चायुक्तं, तदप्रसिद्धेः । सिद्धेपि तदनादित्वे पौरुषेयत्वाभावे वा कथमविसंवादकत्वं प्रत्येतव्यम् ? म्लेच्छव्यवहारादेस्तादृशो बहुलमुपलम्भात्, तेन तस्य व्यभिचारात् ।

६०५. एतेन वेदैकदेशेनै स्वयमप्रमाणतयोपगतेनानादित्वस्यापौरुषेयत्वस्य चानैकान्तिकत्वमुक्तम् ।

६०६. किं च, कारणदोषनिवृत्तेः कार्यदोषाभावकल्पनायां पौरुषेयस्यैव वचनस्य दोषनिवृत्तिः, कर्तुर्वीतदोषस्यापि संभवात् 'दोषावरणयोर्हानिः' इत्यादीना संसाधनात्, न पुनरपौरुषेयस्य, तदध्येतव्याख्यातृश्रोतॄणां रागादिमत्त्वाद्भीतरागस्य कस्यचिदनभ्युपगमात् सर्वथाप्यपौरुषेयस्य तदुपगमेन विरोधात् । नेतरस्य कथंचित्पौरुषेयस्य तदविरोधात् । इति निश्शङ्कं नश्चेतः, त्रिविकृष्टस्यापि निर्णयोपायप्रतिपादनादिति । वक्तृगुणापेक्षं वचनस्याविसंवादकत्वं चक्षुर्ज्ञानवत्, विसंवादस्य तद्दोषानुविधानात् । यथैव हि चक्षुर्ज्ञानस्य ज्ञातृगुणं सम्यग्दर्शनादिकमपेक्ष्याविसंवादकत्वं, तद्दोषं मिथ्यादर्शनादिकमपेक्ष्य विसंवादकत्वं चोपपद्यते, तथा वक्तृगुणं यथार्थज्ञानादि दोषं च मिथ्याज्ञानादिकमपेक्ष्य संवादकत्वं विसंवादकत्वं चेति निश्चितं महाशास्त्रे ।

ततोऽनाप्तवचनान्नार्थज्ञानमन्थरूपदर्शनवत् । न हि जात्यन्धो रूपं दर्शयितुमीशः परस्मै । तथानाप्तोपि नार्थं ज्ञापयितुमतिप्रसङ्गात् ।

६०७. एवमपौरुषेयस्य वचनस्य पौरुषेयस्य च गुणवद्वक्तृकस्य कारणदोषाभावान्निर्दोषत्वं समानमतिशयासंभवात् । तत्रैव यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यं कथंचित्पौरुषेयत्वं, न तु सर्वथा पौरुषेयत्वं, तस्य युक्तियुक्तत्वाभावात्, तद्युक्तीनां तदाभासत्वसमर्थनात् । तत्रापौरुषेयत्वेऽपि वा वेदे यदेव युक्तियुक्तं तदेव प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यं वचनमग्निर्हिमस्य भेषजं, द्वादश मासाः संवत्सर इत्यादिवत् । नाग्निहोत्रादिवाक्यसाधनं, तस्य युक्तियुक्तत्वविरोधात् । सिद्धे पुनराप्तवचनत्वे यथा हेतुवादस्तथाज्ञावादोऽपि प्रमाणं, तदाप्तवचनत्वाविरोधात् ।

६०८. ननु चापौरुषेयत्ववदाप्तशासनमप्यशक्यव्यवस्थं, तस्यैव ज्ञातुमशक्तेः, सरागस्यापि वीतरागवच्चेष्टोपलम्भादयमाप्त इति प्रतिपत्त्युपायासत्त्वात् तस्य शासनमिति व्यवस्थापयितुमशक्तेरित्यपरे । उक्तमत्र सर्वथैकान्तवादानां स्याद्वादप्रतिहतत्वादिति । युक्तिशास्त्रविरोधिवाक्त्वाद्विनिर्दोषेयमिति शक्यं निर्णेतुं, दोषवानयमिति च, दृष्टेष्टविरोधवचनत्वात् । तत्रानिश्चितवचनविशेषस्य कस्यचिद्भीतरागत्वेतराभ्यां संदेहेऽपि निश्चितवचनविशेषस्य शक्यमाप्तत्वं व्यवस्थापयितुम् । तत्रापि साक्षात्करणादिगुणः 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा' इत्यादिना साधितः । संप्रदायाविच्छेदो वा । सर्वज्ञादागमस्तदर्थानुष्ठानात् सर्वज्ञ इति सुनिश्चितासंभवाधकप्रमाणत्वात्सिद्धः प्रवचनार्थस्य, अन्यथान्धपरम्परया प्रतिपत्तेः । न ह्यन्धेनाकृष्यमाणोन्धः स्वेष्टं मार्गमास्कन्दति नाम । न चैवं संप्रदायाविच्छेदे परस्पराश्रयणं, कारकपक्षे बीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्स्यानवतारात् । ज्ञापकपक्षेऽपि परस्मात् स्वतः सिद्धात्, पूर्वस्य ज्ञप्तेनेतरेतराश्रयणं, प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य साधनात् ।

६०९. तदेवं स्यात्सर्वं हेतुतः सिद्धं करणाप्तवचनानपेक्षणात् । स्यादागमात्सिद्धमक्षलिङ्गानपेक्षणात् । स्यादुभयतः सिद्धम्, क्रमार्पितद्वयात् । स्यादवक्तव्यम्, सहार्पितद्वयात् । शेषभङ्गत्रयं च पूर्ववत् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजनीया ।

नैकान्ताद्धेतुवादः प्रभवति सकलं तत्त्वमुन्नेतुमेक-
 स्तद्वन्नाहेतुवादः प्रवद(भव)ति विहिताशेषशङ्काकलापः ।
 इत्यार्याचार्यवर्या विदधति निपुणं^{११} स्वामिनस्तत्त्वसिद्ध्यै
 स्याद्वादोत्तुङ्गसौधे स्थितिममलधिया^{१२} प्रस्फुटोपायतत्त्वे ॥ २ ॥

इत्याप्तमीमांसासंस्कृतौ षष्ठः परिच्छेदः ।

षष्ठपरिच्छेदटिप्पणानि

१. (अकलङ्कवृत्तिः, अष्टशती। सा पुष्यन्ती यस्यां सा ताम्)। २. समन्तभद्रप्रणीतो देवागमोत्र मूलम्। सोपि समन्तभद्रशब्दवाच्यः स्यात्, कल्याणार्थत्वात्। तेन प्रणीतस्तत्त्वार्थो यस्यां सा ताम्। ३. यथासंभवमन्योप्यर्थो विकल्पः। ४. 'मवैतु' पाठान्तरम्। ५. गतिः, ज्ञानम्। ६. सिद्धानि भवेयुरिति शेषः। ७. इह हीत्याद्यारभ्य चार्वाकादिवदित्यन्तो ग्रन्थः कारिकाया अवतारो द्रष्टव्यः। ८. व्यवस्थितं, निश्चितम्। वसोत्र। ९. यथा चार्वाकादीनामनिश्चितमोक्षतत्त्वानां मोक्षकारणदर्शनादेर्व्यवस्थापने पराङ्मुखत्वम्। १०. एवं सति केचित्सौगता एवं हेतुवादं मन्यन्ते। ११. अनुमानादेव। १२. कार्यतत्त्वम्। १३. अर्थानर्थविवेचनस्यानुमानाश्रयत्वेपि। १४. आगमादिवचनादित्यर्थः। १५. यतः प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकत्वम्। १६. यदि प्रत्यक्षत एव प्रत्यक्षतदाभासयोर्व्यवस्थितिस्तर्हीत्यर्थः। १७. प्रत्यक्षं तदाभासं च स्यादिति संकरः। १८. प्रत्यक्षतदाभासयोरर्थानर्थो विषयतदाभासौ, तयोर्विवेचनं तस्य। १९. (अनुमानवादिनः सौगताः)। २०. प्रत्यक्षादादिभूतादपि उपेयतत्त्वस्य गतिर्न स्यादिति संबन्धः। २१. प्रत्यक्षाद्रतिर्मा भूदित्याशङ्क्यामाह। २२. अज्ञानेङ्गीक्रियमाणे। २३. आदिशब्देन साधनोदाहरणे ग्राह्ये। २४. शिष्यादीन् प्रति। २५. अपि तु न किञ्चित् प्रयोजनम्। २६. शब्दादिः क्षणिकः सत्त्वादिति स्वार्थानुमाने धर्मिभूतशब्दस्य, सत्त्वादिति लिङ्गस्य च प्रतिपत्तेरयोगात्।

२७. अनुमानात्सर्वं सिद्धं भविष्यतीत्याशङ्क्यामाह। २८. वैद्यकशास्त्रे। २९. ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवदित्याद्यनुमानेषु न सुरां पिबेत्, न पलाण्डुं भक्षयीत इत्याद्यागमेन पक्षबाधा यथा। ३०. लौकिकतत्त्वमागमात्सिध्यति, न तु पारमार्थिकमित्याशङ्क्याह। ३१. शास्त्रस्य। ३२. स, आगमः। ३३. इति, ये त्वाहुरिति पूर्वेण सम्बन्धः। ३४. ब्रह्माद्वैतिनाम्। बौद्धसांख्यनैयायिकादीनामिति टिप्पण्यन्तरम्। ३५. युक्त्या एव। ३६. उपदेशानाम्। ३७. तस्य सम्यक्त्वस्य। ३८. उपदेशाः। ३९. उपदेशाः सम्यग्, अदुष्टकारणजन्यत्वाद्वाधवर्जितत्वाच्चेत्यनुमाननिरपेक्षाः। ४०. अन्यथेति शेषः। ४१. कर्मणो यागादिक्रियायाः काण्डं प्रकरणम्। ४२. परब्रह्मकर्मकाण्डेश्वरादिप्रतिपादकागमानामपौरुषेयत्वाविशेषे विशेषाधायकत्वाभावात्। ४३. श्रौत्रप्रत्यक्षस्य प्रमाणत्वेङ्गीक्रियमाणे च। ४४. इदं श्रोत्रं प्रत्यक्षं प्रमाणं संवादकत्वात्, इदं त्वप्रमाणं विसंवादकत्वादित्यनुमानाभावे श्रोत्रस्य प्रमाणेतरत्वज्ञानं कुतो भवेत्? ४५. वेदग्राहि ब्रह्मवाचकशब्दग्राहि वा। ४६. अभिलषता ब्रह्माद्वैतिना। ४७. केवलागमप्रामाण्यं चेत्तर्हीत्यर्थः। ४८. तस्य, आगमस्य। ४९. वैशेषिकाः। सौगताः। ५०. ग्रहसंचरणग्रहणादेः। ५१. आगमं विना। ५२. तस्य, ज्योतिर्ज्ञानादेः। ५३. स्वार्थानुमानाभावे योगिप्रत्यक्षं नोपपद्यते यथा। ५४. परार्थानुमानरूपामागमरूपां वा। ५५. स्वार्थानुमानरूपाम् (आगमरूपामेव)। ५६. ग्रहोपरागादिषु। ५७. अन्यथा। ५८. अनुमानविदामपि। ५९. स्वकृते श्लोकवार्तिके।

६०. युक्तिः, हेतुः। इतरः, आगमः। ६१. कथंचित्त्वप्रकारेण। ६२. युक्तीतराभ्यामवाच्यत्वेपि। ६३. कथंचिदनुमानं कथंचित्च्चागम इत्यनेकान्तम्। ६४. उपेयतत्त्वम्। ६५. स्यात्। ६६. तस्य, आप्तस्य। ६७. आप्ते सति। ६८. यस्मिन्नाप्ते असति। ६९. वक्ता (आप्तः)। ७०. तस्य शास्त्रस्योपदेशस्यार्थस्तस्य ज्ञानं ग्रहणं तस्मात्। ७१. स्फुटोऽबाधितो व्यवसाय एव रूपं यस्य ज्ञानस्य। ७२. स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमरूपं पञ्चप्रकारमसाक्षाज्ज्ञानम् (परोक्षमित्यर्थः)। ७३. स्फुटव्यवसायात्मकत्वं कुत इत्युक्ते आह। ७४. तदर्थज्ञानस्य। ७५. अविसंवादक एवाप्तो येन कारणेन। ७६. धर्माद्यर्थे। ८०. ब्रह्मा वेदान्तकर्ता व्यासश्च। ८१. तदर्थस्य धर्मादिः। ८२. मीमांसकैः। ८३. श्रुतेरागतम्। ८४. जैमिन्यादेः। ८५. असर्वज्ञस्य जैमिन्यादेः। ८६. दोषा रागादयः। आवरणशब्देन ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म गृह्यते।

८७. तदर्थपरिज्ञानेन। ८८. धर्माधर्मादिसाक्षात्करणस्य। ८९. तयोः दोषावरणयोः। ९०. तर्हि श्रुत्यविसंवादात्तदर्थपरिज्ञानं भविष्यतीत्याशङ्क्याह। ९१. तर्ह्यन्योन्याश्रयदूषणमित्यर्थः। ९२. अङ्गुल्यग्रे

हस्तियूथशतमास्ते इत्यादिवाक्यादपि स्वविषयज्ञानप्रसङ्गात् । १३. श्रुतेः । १४. मीमांसकः । १५. नैयायिकमते सन्निकर्षादीनामचेतनत्वेऽपि प्रामाण्यमभ्युपगम्यते । ततस्तेन व्यभिचारस्तत्परिहारार्थमाह । १६. जैनैः । १७. मुख्यरूपतया सन्निकर्षादीनां प्रामाण्याभावेऽपि । १८. उपचारेण । १९. सत्यरूपत्वात् । १००. तथा, प्रामाण्यप्रकारेण । १०१. वयं जैनाः । १०२. अविसंवादज्ञानकारणत्वेनैव श्रुतिरपि प्रमाणं स्यादित्याशङ्क्याह । १०३. अविसंवादकत्वम् । १०४. अविसंवादिज्ञानकारणत्वाभावात् । १०५. तदर्थबुद्धेः, श्रुत्यर्थज्ञानस्य । १०६. भावना श्रुत्यर्थः, विधिः, नियोगो वा श्रुत्यर्थ इत्यादिनिराकरणप्रघट्टके । १०७. तर्ह्याप्तवचनं कथं प्रमाणमित्युक्ते आह । १०८. कारणं च कार्यं च कारणकार्ये, तस्य प्रमाणस्य कारणकार्ये, तयोर्भावस्तस्मात् । आप्तवचनात्प्रमाणं केवलज्ञानमुत्पद्यते, प्रमाणादाप्तवचनं जायते यतस्ततः (परस्परकार्यकारणत्वम्) । न चान्योन्याश्रयः, बीजवृक्षादिसंततिवदनादिसिद्धत्वात् परम्परायाः । १०९. अतीन्द्रियार्थप्रत्यक्षादाप्तवचनस्योत्पत्तेः । ११०. अतीन्द्रियार्थस्तदर्थः । तदर्थज्ञानं, तद्विषया बुद्धिस्तस्योत्पादनादाप्तवचनस्य प्रामाण्यं शिष्यज्ञानलक्षणकार्यकारणत्वात् । १११. साक्षाद्वचनप्रकारेण संकेतप्रकारेण चानुक्तेः । कस्याः ? श्रुतेरिति संबन्धः । ११२. बौद्धमते ध्यानाध्ययनानुष्ठानादिप्रतिपादकं शास्त्रं पिटकत्रयं कथ्यते । ११३. वक्ता बुद्धः पिटकत्रयादेः, तस्य दोषात् । ११४. मीमांसकः । ११५. पिटकत्रयादौ पौरुषेयत्वं श्रुतौ चापौरुषेयत्वम् । ११६. प्रमाणमन्तरेण पौरुषेयत्वमपौरुषेयत्वं च मीमांसकः साधयतीति सत्यं व्यवस्थितमित्युपहासवचनमेतत् । ११७. अभ्युपगमेत्यादिना । ११८. वेदोऽपौरुषेयः कर्तृस्मरणाभावादित्यादयो हेतवः । ११९. मीमांसकः । १२०. तस्य, कर्तृस्मरणादिमत्त्वदृष्टकर्तृकसमानत्वादेरेव । १२१. पिटकत्रये ।

१२२. कर्तृस्मरणाद्यभावस्यानभ्युपगमादेव, न तु प्रमाणत्वात् । १२३. अभ्युपगमानभ्युपगमप्रकारेण । १२४. मीमांसकस्य । १२५. अभ्युपगमानभ्युपगममात्रत्वे । १२६. वेदे । १२७. कांश्चिद्विषयं कर्तृन् । १२८. ब्रह्माणम् । १२९. अनङ्गीकरणं वेदे । १३०. मीमांसकः । १३१. वेदस्य । १३२. गुर्वध्ययनपूर्वम् । १३३. प्रतिपाद्यतेस्माभिः । १३४. यन्मीमांसकमतम् । १३५. पिटकत्रयेऽपि । १३६. सद्भावात् । १३७. हेतोः । १३८. बसः । १३९. अव्यभिचारितायाम् । १४०. पिटकत्रयस्य । १४१. पिटकत्रयानुष्ठाने ज्ञानत्रयानुष्ठाने ज्ञानचैत्यवन्दनरूपे । १४२. दुर्भणनत्वादिलक्षणातिशयस्य वेदे सद्भावात्कथमविशेष उभयत्रेत्याशङ्क्याह । १४३. इदमप्याशङ्क्याह । १४४. इतरत्र पिटकत्रयादौ । १४५. जैनागमप्रोक्ताः । १४६. प्रवचने । १४७. दशमः पूर्वो विद्यानुवादः । (द्वादशाङ्गरूपस्य श्रुतज्ञानस्यान्तिमो योङ्गस्तस्य चतुर्दशभेदाः सन्ति तेषामेव 'पूर्व' नाम । तत्र दशमो विद्यानुवादः पूर्वोऽस्ति) ।

१४८. तस्य, वेदस्य । १४९. म्लेच्छा द्वीपान्तरनिवासिनस्तेषां व्यवहारो मातृविवाहादिलक्षणः, स आदिर्यस्य नास्तिकादिव्यवहारस्य । तस्य म्लेच्छव्यवहारादेरनादित्वापौरुषेयत्वे सत्यप्यविसंवादित्वाभावात् । १५०. अनादित्वादेः । १५१. अग्रिमोऽपि पुरोहितं, आपः पवित्रमित्यादिस्वरूपानिरूपकेण । १५२. मीमांसकेनाग्रिहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति कार्यार्थे एव चोदनायाः प्रामाण्याभ्युपगमात् । १५३. वेदस्यादुष्टकारणजन्यत्वादिति मीमांसकमतम् । १५४. मीमांसकेन । १५५. वीतरागोपगमेन । १५६. पौरुषेयस्य वचनस्य वीतरागोपगमनेन विरोधो नेति संबन्धः । १५७. तेन वीतरागोपगमनेन । १५८. अस्माकमकलङ्कितदेवानाम् । १५९. ननु देशकालस्वभावेति त्रिधा विप्रकृष्टस्य वीतरागस्य निर्णयाभावात्कथं तत्प्रतिपादनामित्याशङ्क्याह । १६०. तस्य, वक्तुः । १६१. तस्य, ज्ञातुः पुरुषस्य । १६२. विद्यानन्दिमहोदयैरत्रैव (तत्त्वार्थे वा) । १६३. वक्तुर्गुणापेक्षमेव संवादकत्वं निश्चितं यतः । १६४. रथ्यापुरुषस्याप्यर्थज्ञापकत्वप्रसङ्गात् । १६५. संवादकवचसो वक्तुर्गुणापेक्षत्वप्रकारेण । १६६. अपौरुषेयत्वपक्षे गुणवद्व्याख्यातृकस्येत्यर्थः । १६७. अपौरुषेयपौरुषेययोर्वचनयोरुभयत्र इतरविशेषासंभवात् । १६८. पौरुषेयापौरुषेययोर्वचनयोः समानत्वेऽपि सति । १६९. नयप्रमाणात्मिका युक्तिः ।

१७०. तत्र यदेवेत्यादिमूलग्रन्थवाक्यं प्रकारान्तरेण व्याख्यायते । १७१. इत्यादिवेदवचनं युक्तियुक्तं यथा । १७२. प्रतिपत्तुं प्रतिपादयितुं वा शक्यमिति संबन्धः । १७३. तयोः, हेतुवादाज्ञावचनयोर्द्वयोरपि । १७४. आप्तस्य । १७५. मीमांसकाः । १७६. बसः । १७७. आप्तस्यानाप्तस्य च । १७८. आप्ते पुरुषविशेषे । १७९. अर्थस्य

साक्षात्करणादिः । १८०. आप्तरिति पूर्वोक्तान्वयः । १८१. संप्रदायाविच्छेद एवं सिद्धः । १८२. आप्तत्वं, साक्षात्करणादिगुणः संप्रदायाविच्छेदो वा सुनिश्चितासंभवद्विधकप्रमाणत्वात्सिद्धो न भवेच्चेतदेत्यर्थः । १८३. सर्वज्ञादागमस्तदर्थानुष्ठानात्सर्वज्ञ इति पूर्वोक्तप्रकारेण । १८४. यथा वर्तमानाङ्कुरः पूर्वबीजात्पूर्वबीजं तु तत्पूर्वाङ्कुरात् पूर्वाङ्कुरोपि तत्पूर्वबीजादिति । १८५. सर्वज्ञागमयोः । १८६. परस्पराश्रयणस्य । १८७. कार्यभूतादागमात् । १८८. ज्ञानपक्षेपि विचारः क्रियते, स्वयमेव निष्पन्नत्वात्स्नानपानाद्यनुभवलक्षणात्, परस्मात् तोयज्ञानात् पूर्वस्य पथिकोपदेशघटचेटिकाददुर्गादिदर्शनाभ्यां ज्ञातलक्षणस्य ज्ञानस्य ज्ञप्तेः प्रामाण्यघटनात् । १८९. पूर्वस्य, आगमकारणसर्वज्ञस्य । १९०. आगमेन । १९१. सर्वज्ञस्य । १९२. करणमिन्द्रियम् । १९३. (आप्तवचनानपेक्षणत्वस्याक्षलिङ्गानपेक्षणत्वस्य च हेतुद्वयस्य क्रमेणार्पणादित्यर्थः) । १९४. व्यवस्थापयितुम् । १९५. ईश्वरादिविषये । १९६. यथा स्यात्तथा । १९७. (विदधतीत्यस्य कर्म) । १९८. भव्यविनेयानाम् ।

१९९. अत्राधिकारे वस्तुसिद्धिकारणानां प्रत्यक्षानुमानागमानां त्रयाणामपि प्रसङ्गानुसारेण स्यादावश्यकतेति दर्शितम् । केचित्प्रत्यक्षवादिनः, केचन केवलमनुमानवादिनः, केचन च आगमवादमेवाद्विद्यन्ते, तेषां सर्वेषां निरासो दर्शितः । आगमवादिष्वन्यतमस्य वेदान्तिनो वेदप्रामाण्ये विशेषतो विचारः कृतः, निरासिताश्च तत्प्रामाण्याय प्रयुक्ता युक्तयो विशेषतः । इति तात्पर्यमस्य परिच्छेदस्य ।



अथ सप्तमः परिच्छेदः

निर्दिष्टो यः शास्त्रे हेत्वागमनिर्णयः प्रपञ्चेन ।

गमयत्यष्टसहस्री संक्षेपात्तमिह सामर्थ्यात् ॥ १ ॥

अन्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाखिलम् ।

प्रमाणाभासमेवातस्तत् प्रमाणादृते कथम् ॥ ७९ ॥

६१०. अन्तरङ्गस्यैव स्वसंविदितज्ञानस्यार्थता वस्तुता, न बहिरङ्गस्य जडस्य प्रतिभासानर्हस्येत्येकान्तोऽन्तरङ्गार्थतैकान्तः, तस्मिन्त्रभ्युपगम्यमानेऽखिलं बुद्धिवाक्यं हेतुवादाहेतुवादिन-
बन्धनमुपायतत्त्वं मृषैव स्यात् । यतश्च मृषा स्यादत एव प्रमाणाभासमेव, प्रमाणस्य सत्यत्वेन व्याप्तत्वात्,
मृषात्वेन प्रमाणाभासस्य व्याप्तेः । तच्च प्रमाणाभासं प्रमाणादृते कथं संभवेत् ? तदसंभवे तद्व्यवहारमवास्तमेवायं
स्वप्रव्यवहारमिव संवृत्त्यापि कथं प्रतिपद्यते ? तज्जन्मकार्यप्रभवादिवेद्यकलक्षणमनैकान्तिकमादर्श-
संविद्धिरेव खण्डशः प्रतिभासमाना व्यवहाराय कल्प्यते, इत्यभिनिवेशेऽपि प्रमाणं मृग्यम् । न हि प्रमाणाभावे
तज्जन्मताद्रूप्यदध्यवसायान् प्रत्येकं वेद्यवेदकलक्षणं चक्षुषा समानार्थसमनन्तरवेदनेन शुक्तिकायां रजताध्यवसायेन
च व्यभिचारयितुमीशः, सह वा समानार्थसमनन्तरज्ञानेन कामलाद्युपहतचक्षुषः शुक्ले शङ्खे
पीताकारज्ञानसमनन्तरज्ञानेन वा सौत्रान्तिकान्तरि व्यभिचारि प्रतिदर्शयेत् । कथं वा कार्यनिमित्तकारणत्वं तल्लक्षणं
यौगान् प्रत्यनैकान्तिकं व्यवस्थापयेत् ? कथं च कार्यकारणभावाख्यं प्रभावं कांश्चन प्रति योग्यतां वा तल्लक्षणतया
व्यभिचारयेत् ? कथं च संविद्धिरेव खण्डशः प्रतिभासमाना वेद्यवेदकादिव्यवहाराय प्रकल्पते, इत्यभिनिवेशं वा
विदधीत ? यतो न प्रमाणं मृगयते ।

६११. किञ्चास्य विज्ञानवादिनः संविदां क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासंतानत्वमिति स्वतस्तावन्न
सिध्यति, भ्रान्तेः स्वपनवत् । स्वसंवेदनात्स्वतः सिध्यतीति चेन्न, क्षणिकत्वेनानन्यवेद्यत्वेन नानासंतानत्वेन च
नित्यत्वेन सर्ववेद्यत्वेनैकत्वेनेव परब्रह्मणः स्वसंवेदनाभावात् । तथात्मसंवेदनेऽपि व्यवसायवैकल्ये
प्रमाणान्तरापेक्षयानुपलम्भककल्पत्वात्, तस्य प्रमाणान्तरानपेक्षस्यैव व्यवसायात्मनः
संवेदनस्योपलम्भत्वव्यवस्थितेः, व्यवसायाभावे तु बुद्धीनामभ्यासादपि तथानुपलम्भात् । न हि तथा बुद्ध्यः
संविद्धिरेव यथा व्यावर्ण्यन्ते क्षणिकत्वाद्यात्मनान्यथैव तासां प्रतिभासनाभ्याससिद्धेः । नापि परतः क्षणिकत्वादि
सिध्यति, संबन्धप्रतिपत्तेरयोगात् । न हि सत्त्वादेर्लिङ्गस्य क्षणिकत्वादिना व्याप्त्या संबन्धप्रतिपत्तिः प्रत्यक्षतो
युज्यते, तस्य सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकर्त्ताच्च । नाप्यनुमानोदनवस्थानात्, इति प्रागेव प्ररूपणात् ।
स्वांशमात्रावलम्बिना मिथ्याविकल्पेन प्रकृततत्त्वव्यवस्थापने बहिरर्थेष्वप्यविरोधात्
क्षणिकत्वादिव्यवस्थापनमस्तु सौत्रान्तिकादीनाम्, अविशेषात् । तथा हि—कथंचिदत्र वेद्यलक्षणं यदि
व्यवतिष्ठेत् तदा तत्प्रकृतं संविदां क्षणिकत्वादिसाधनं लैङ्गिकज्ञानेन कृतं स्यान्नान्यथा । न चानुक्तदोषं
लक्षणमस्ति, वेद्यस्य विज्ञानवादिना तज्जन्मादेरनैकान्तिकत्वदोषवचनात् । संवित्क्षणिकत्वादावनुमानवेदनस्य
तत्संभवे नान्यत्र बहिरर्थे तदसंभवोऽभिधीयते, सर्वथा विशेषाभावात् । तत्स्वपरपक्षयोः सिद्ध्यसिद्ध्यर्थं
किञ्चित्कथंचित्कुतश्चिदवितथज्ञानमादरणीयमन्यथाऽशेषविभ्रमोसिद्धेः ।

६१२. ननु किञ्चित्संविदद्वैतं कथञ्चित्संविदात्मना कुतश्चित्स्वतः सत्यप्रतिभासनमाद्रियत एव, स्वरूपस्य स्वतो गतिरिति वचनादिति चेन्न, स्वरूपेऽपि वेद्यवेदकलक्षणाभावे तदधटनात्, पुरुषाद्वैतवत् ।

६१३. एतेन यद्ग्राह्यग्राहकाकारं तत्सर्वं विभ्रान्तं, यथा स्वप्नेन्द्रजालादिज्ञानं, तथा च प्रत्यक्षादिकमिति प्रतिविहितं वेदितव्यं, भ्रान्तत्वप्रकृतानुमानज्ञानयोर्ग्राह्यग्राहकाकारयोर्भ्रान्तत्वे ताभ्यामेव हेतोर्व्यभिचारात्, तद्भ्रान्तत्वे ततः सर्वस्य भ्रान्तत्वप्रसिद्धेः, सर्वभ्रान्तौ साध्यसाधनविज्ञप्तेरसंभवात्तद् व्याप्तिविज्ञप्तिर्वैत, संभवे सर्वविभ्रमासिद्धेः ।

साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता ।

न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥ ८० ॥

६१४. प्रतिज्ञादोषस्तावत्स्ववचनविरोधः साध्यसाधनविज्ञानस्य विज्ञप्तिमात्रत्वमभिलपतः प्रसज्यते ।
तथाहि—

६१५. सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्विर्योर्द्विचन्द्रदर्शनवदित्यत्रार्थसंविदोः सहदर्शनमुपैत्यैकत्वैकान्तं सांध्यन् कथमवधेयाभिलापः ? स्वोक्तधर्मधर्मिभेदवचनस्य हेतुदृष्टान्तभेदवचनस्य चाद्वैतवचनेन विरोधात्, संविदद्वैतवचनस्य च तद्भेदवचनेन व्याघातात्, तद्वचनज्ञानयोश्च भेदे तदेकत्वसाधनाभिलापविरोधात्, तदभिलापे वा तद्भेदविरोधात् । इति स्ववचनयोर्विरोधाद्विध्यत् स्वाभिलापाभावं वा स्ववाचा प्रदर्शयन्कथं स्वस्थः ? सदा मौनव्रतिकोहमित्यभिलापवत् स्ववचनविरोधस्यैव स्वीकरणात् । तथा विज्ञानवादिनोऽप्रसिद्धविशेष्यत्वमप्रसिद्धविशेषणत्वं च प्रतिज्ञादोषः स्यात्, नीलतद्विर्योर्विशेष्ययोस्तदभेदस्य च विशेषणस्य च स्वयमनिष्टेः । पराभ्युपगमेन प्रसङ्गसाधनस्योपन्यासाददोष इति चेन्न, तस्य परासिद्धेस्तेदभ्युपगमाप्रसिद्धेश्च प्रसङ्गसाधनासंभवात् 'साधनसाध्यधर्मयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ हि सत्यां परस्य व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदर्श्यते तत्प्रसङ्गसाधनम् । न चैतद्विज्ञप्तिमात्रवादिनः संभवति, विरोधात् ।

६१६. ननु स्याद्वादिनोपि तद्दोषोद्भवनमयुक्तं विज्ञप्तिमात्रवादिनं प्रति, तस्य तदसिद्धेः, विज्ञप्तिमात्रव्यतिरेकेण दोषस्याप्यभावाद् गुणवत् । स्वाभ्युपगममात्रादेव तत्संभवः, परस्य विज्ञप्तिमात्रसाधनात्पूर्वं यथाप्रतीति वस्तुनो व्यवस्थानादिति समाधाने तत एव सौगतस्यापि तदेव समाधानमस्तु, विचारात्पूर्वं सर्वस्याविचारितरमणीयेन रूपेण यथाप्रतीति साध्यसाधनव्यवहारप्रवृत्तेरन्यथा विचाराप्रवृत्तेः । सिद्धे तु विज्ञप्तिमात्रे न कश्चित्साध्यसाधनव्यवहारं प्रतनोति सौगतः, नापि परेषां तद्दोषाद् भवनेवकाशोस्ति' इति केचित्; तेषां न विचारचतुरचेतसः; किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्यान्यत्रानिर्णीतरूपे तदविनाभाविनि विचारस्य प्रवृत्तेः, सर्वविप्रतिप्रतीति तु क्वचिद्विचारणानवतरणात् । इति विचारात्पूर्वमपि विचारान्तरेण निर्णीते एव साध्यसाधनव्यवहारस्तद्गुणदोषस्वभावश्च निश्चीयते । न चैवमनवस्था, संसारस्यानादित्वात् क्वचित्कस्यचित्कदाचिदाकाङ्क्षानिवृत्तेर्विचारान्तरानपेक्षणात् । ततो युक्तमेव स्याद्वादिनः प्रतिज्ञादोषोद्भावनं हेतुदोषोद्भावनं च । तथा हि—अयं पृथगनुपलम्भाद्भेदाभावमात्रं साधयेन्नीलतद्विर्योः । तच्चासिद्धं,

संबन्धासिद्धेरभावयोः खरभृङ्गवत् । सिद्धे हि धूमपावकयोः कार्यकारणभावे संबन्धे कारणाभावात्कार्यस्याभावः सिध्यति । सति च शिंशपात्ववृक्षत्वयोर्व्याप्यव्यापकभावे व्यापकाभावाद् व्याप्याभावो नान्यथा । न चैवं भेदपृथगुपलम्भयोः संबन्धः क्वचित्सिद्धो विरोधाद्विशिष्टमात्रवादिनो यतः पृथगुपलम्भाभावो भेदाभावं साधयेत्, इति न निश्चितो हेतुः ।

६१७. एतेनासहानुपलम्भादभेदसाधनं प्रत्युक्तं, भावाभावयोः संबन्धासिद्धेरविशेषात् तादात्म्यतदुत्पत्त्योरर्थस्वभावनियमात्, तदन्यव्यावृत्तेरर्थास्वभावत्वादेकत्वेन भावस्वभावेन सह तदयोगात् । सिद्धेऽपि प्रतिषेधैकान्ते विज्ञप्तिमात्रं न सिध्येत्, तदसाधनात् । तत्सिद्धौ तदाश्रयं दूषणमनुषज्येत ग्राह्यग्राहकभावासिद्धिलक्षणं तद्वद्विहरर्थसिद्धिप्रसञ्जनं चाविशेषात् । तदेकोपलम्भनियमोप्यसिद्धः, साध्यसाधनयोरविशेषात् । साध्यं हि नीलतद्वियोरैकत्वम् । तदेकोपलम्भोऽपि तदेवं, ज्ञानस्यैकस्योपलम्भादिति हेत्वर्थव्याख्यानात्, सहशब्दस्यैकपर्यायत्वात्, सहोदरो भ्रातेत्यादिवत् । तथैकज्ञानग्राह्यत्वं द्रव्यपर्यायपरमाणुभिरनैकान्तिकम् । द्रव्यपर्यायौ हि जैनानामेकमतिज्ञानग्रहौ, न च सर्वथैकत्वं प्रतिपद्येते । सौत्रान्तिकस्य च संचितौ रूपादिपरमाणवश्चक्षुरादिज्ञानेनैकेन ग्राह्याः, 'संचितौ लम्बनाः पञ्च विज्ञानकायाः' () इति वचनात् । न चैक्यं प्रतिपद्यन्ते । तथा योगाचारस्यापि सकलविज्ञानपरमाणवः सुगतज्ञानेनैकेन ग्राह्याः, न चैकत्वभाजः । इति तैरनैकान्तिकं साधनमनुषज्यते । नीलतद्वियोरैक्यमनन्यवेद्यत्वात् स्वसंवेदनवत्, इत्यत्रापि परेषामनन्यवेद्यत्वमसिद्धं, नीलज्ञानादन्यस्य नीलस्य वेद्यत्वात् ।

६१८. एतेनैकलोलीभावेनोपलम्भः सहोपलम्भश्चित्रज्ञानाकारवदशक्यविवेचनत्वं साधनमसिद्धमुक्तं, नीलतद्वेदनयोरशक्यविवेचनत्वासिद्धेरन्तर्बहिर्देशतया विवेकेन प्रतीतेः । यदि पुनरेकदोपलम्भः सहोपलम्भ इति व्याख्यायते तदा एकक्षणवर्तिसंवितीनां साकल्येन सहोपलम्भनियमाद्व्यभिचारी हेतुः, तासां तथोत्पत्तेरेव संवेदनत्वात् संविदितानामेवोत्पत्तेः । द्विचन्द्रदर्शनवदिति दृष्टान्तोऽपि साध्यसाधनविकलः, तथोपलम्भाभेदयोरर्थे प्रतिनियमादभ्रान्तौ तदसंभवात्, संभवे तद्भ्रान्तित्वविरोधात् ।

६१९. ननु चासहानुपलम्भमात्रादभेदमात्रं साधनात्साध्यरूपं भ्रान्तादपि संभवति, अभावेऽभावयोः संभवाविरोधात् । ततो न साध्यसाधनविकलो दृष्टान्त इति न शक्यप्रतिष्ठं, कथंचिदर्थस्वभावानवबोधप्रसङ्गात् सर्वविज्ञानस्वलक्षणक्षणक्षयविविक्तसन्ततिविभ्रमस्वभावानुमितेः साकल्येनैकत्वप्रसङ्गात्, तदन्यापोहमात्राद्धेतोरन्यापोहमात्रस्यैव सिद्धेरर्थस्वभावानवबोधात् । किंच सकृदुपलम्भनियमे हेत्वर्थे सति एकार्थसंगतदृष्टयः परचित्तविदो वा नावश्यं तदुद्धि तदर्थं वा संविदन्तीति हेतोरसिद्धिः नियमस्यासिद्धेः ।

६२०. किं च सहोपलम्भनियमश्च स्याद्धेदश्च स्यात्, किं विप्रतिषिध्येत ? स्वहेतुप्रतिनियमसंभवात् । इति सन्दिग्धव्यतिरेको हेतुर्न विज्ञप्तिमात्रतां साधयेत् । तस्मादयं विज्ञानवादी मिथ्यादृष्टिः परप्रत्यायनाय शास्त्रं विदधानः परमार्थतः संविदानो वा वचनं तत्त्वज्ञानं च प्रतिरुणोद्भीति न किंचिदेतत्, असाधनाङ्गवचनाददोषोद्भावनञ्च निग्रहार्हत्वात् । न ह्यस्य वचनं किंचित्साधयति दूषयति वा,

यतस्तद्वचनं साधनाङ्गं दोषोद्भावनं वा स्यात् । नापि किञ्चित्संवेदनमस्य सम्यगस्ति, येन मिथ्यादृष्टिर्न भवेत् । संविदद्वैतमस्तीति चेन्न, तस्य स्वतः परतो वा ब्रह्मवदप्रतिपत्तेर्यथासंवेदनं मिथ्यात्वसिद्धेः । तदेवं नान्तरङ्गार्थतैकान्ते बुद्धिर्वाक्यं वा सम्यगुपायतत्त्वं संभवतीति स्थितम् ।

बहिरङ्गार्थतैकान्ते प्रमाणाभासनिह्वंत् ।

सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ॥ ८१ ॥

६२१. यत्किञ्चित्चेतस्तत्सर्वं साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धम् । यथाग्निप्रत्यक्षेतरवेदनम् । स्वप्नदर्शनमपि चेतः, तैर्वाविषयाकारनिर्भासात् । साध्यदृष्टान्तौ पूर्ववत् । विवादापन्नं विज्ञानं साक्षात्परम्परया वा बहिरर्थप्रतिबद्धं, विषयाकारनिर्भासात्, यथाग्निप्रत्यक्षेतरवेदनम् । तथा स्वप्नदर्शनमपि विषयाकारनिर्भासम् । तत्तथा । इति बहिरङ्गार्थतैकान्तः, सर्ववेदनानां बहिर्विषयत्वाभिनिवेशात् । अत्रापि लोकसमयप्रतिबद्धानां परस्परविरुद्धशब्दबुद्धीनां स्वार्थसंबन्धः परमार्थतः प्रसज्येत । न चैवं, तृणाग्रे करिणां शतमित्यादिवचनानां स्वप्नादिबुद्धीनां च स्वार्थे संबन्धाभावात् तथा संवादासिद्धेः ।

६२२. स्यान्मतं 'द्विविधोऽर्थो, लौकिकोऽलौकिकश्च । यत्र लोकस्य परितोषः स लौकिकः सत्यत्वाभिमतज्ञानविषयः । यत्र न लोकस्य परितोषः शास्त्रविदां तु संतोषः सोऽलौकिकोर्थः स्वप्नादिबुद्धिविषयः, सर्वथाप्यविद्यमानस्य प्रतिभासवचनासंभवात् खरविषाणानुत्पन्नप्रध्वस्तविषयशब्दज्ञानानामपि लोकागोचरालौकिकार्थविषयत्वात्' इति तदेतदलौकिकमेव, जाग्रत्प्रत्यया निरालम्बना एव, प्रत्ययत्वात्, स्वप्नप्रत्ययवत्, इति परार्थानुमानप्रत्ययस्यास्वार्थप्रतिबद्धत्वे तेनैव चेतस्त्वस्य विषयाकारनिर्भासस्य च हेतोर्व्यभिचारात् स्वार्थप्रतिबद्धत्वे च सर्ववेदनानां सालम्बनत्वविरोधात् । अस्यालौकिकार्थालम्बनत्वान्न लौकिकार्थालम्बनत्वे साध्ये हेतोर्व्यभिचारो विरोधो वेति चेन्न, लौकिकालौकिकार्थालम्बनशून्यत्वानुमानेन हेतोर्व्यभिचारविरोधयोस्तदवस्थत्वात् । न चैवंविधार्थानां परस्पराविरुद्धानां सकृत्संभव इति न बहिरङ्गार्थतैकान्तः श्रेयान्, अन्तरङ्गार्थतैकान्तवत् ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ८२ ॥

६२३. अन्तर्बहिर्ज्ञेयैकान्तयोः सहाभ्युपगमो विरुद्धः स्याद्वादन्यायविद्विषामेव । तदवाच्यतायामुक्तिविरोधः पूर्ववत् । स्याद्वादाश्रयणे तु न कश्चिदोष इत्याहुः ।

भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्वः ।

बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते ॥ ८३ ॥

६२४. सर्वसंविक्तेः स्वसंवेदनस्य कश्चित् प्रमाणत्वोपपत्तेस्तदपेक्षायां सर्वं प्रत्यक्षं न कश्चित्प्रमाणाभासः, सौगतानामप्यत्राविवादात्, 'सर्वचित्तचैतानामात्मसंवेदनं प्रत्यक्षम्' इति वचनात् । तन्निर्विकल्पकमित्ययुक्तं स्वार्थव्यवसायात्मत्वमन्तरेण प्रत्यक्षत्वानुपपत्तेः समर्थनात् । तथानभ्युपगमेन्यत

एव बुद्धेरनुमानं स्यात् । तच्चायुक्तं लिङ्गाभावात् । तत्रार्थज्ञानमलिङ्गं, तदविशेषेणासिद्धेः । स्वयमप्रत्यक्षं ज्ञानं ह्यर्थपरिच्छेदादनुमीयते इत्यर्थज्ञानं कर्मरूपमर्थस्य प्राकट्यं तल्लिङ्गमिष्यते । स हि बहिर्देशसंबद्धः प्रत्यक्षमनुभूयते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति बुद्धिं () इति वचनात् । तच्चार्थप्राकट्यमर्थधर्मो ज्ञानधर्मो वा ? प्रथमपक्षेऽर्थपरिच्छेदकज्ञानादविशेषेणेतस्यासिद्धेर्न तल्लिङ्गम् । तदविशेषस्तु,

तस्यास्वसंविदितत्वादनुमानापेक्षत्वप्रसङ्गात् । न हि ज्ञाने परिच्छेदकेऽप्रत्यक्षे तत्कृतोर्थपरिच्छेदः प्रत्यक्षः स्यात्, संतानान्तरज्ञानकृतार्थपरिच्छेदवत् । बहिरर्थस्य प्रत्यक्षत्वात्तद्धर्मस्य प्रत्यक्षत्वमिति चेन्न, अर्थस्यापि स्वतः प्रत्यक्षत्वासिद्धेः । स्वज्ञाने प्रतिभासमानस्य प्रत्यक्षत्वे संतानान्तरज्ञानेपि साक्षात्प्रतिभासमाने प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः, तस्यानुमेयत्वाविशेषात् । बहिरर्थप्राकट्यस्य प्रमातुः स्वसंविदितत्वात्तल्लिङ्गमेव ज्ञाने प्रसिद्धमिति चेत्कथमर्थधर्मः स्वसंविदितो नाम ? अर्थवत् । सोऽयं ज्ञानमस्वसंविदितं प्राकट्यमर्थस्वरूपं स्वसंविदितमित्याचक्षाणो विपरीतप्रज्ञः । परिच्छिद्यमानत्वस्य ज्ञानजस्यार्थधर्मस्यार्थज्ञानस्य कुतस्ततो विशेषो येन तल्लिङ्गं सिध्येत् ? पुंसः स्वसंविदितत्वेन ततो विशेषे वा तदन्यतरेणार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेन ? स्वसंविदितार्थपरिच्छेदादेव स्वार्थपरिच्छित्ति-सिद्धेरप्रत्यक्षज्ञानस्याकिंचित्करत्वात् । पुंसो वा स्वसंविदितार्थत्वेनार्थपरिच्छेदसिद्धेः किमनेन ? तस्य करणत्वात्किंचित्करत्वमात्मनः कर्तृत्वादर्थस्य च कर्मत्वात्करणत्वविरोधात्, करणमन्तरेण क्रियायाः संभवाभावादिति चेत्तर्हि पुंसः स्वसंविदितौ किं करणम् ? स्वात्मैवेति चेत्स एवार्थपरिच्छित्तावपि करणमस्तु, कर्तुरनन्यस्यापि कथंचिदविभक्तकर्तृकस्य करणस्य सिद्धेर्विभक्तकर्तृवत् । एतेनार्थपरिच्छेदस्यार्थधर्मस्य स्वसंविदितौ स्वात्मनः करणत्वे करणान्तरमकिंचित्करमुक्तम् । ततः पुरुषार्थपरिच्छेदयोरन्यतरेण स्वात्मनैव करणेनार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेन करणेन परोक्षज्ञानेन ? यच्चेदमर्थज्ञानं तच्चेदर्थस्वलक्षणं स्याद्व्यभिचारिहेतुः, अप्रत्यक्षे ज्ञाने साध्ये तस्यार्थस्वरूपस्य तदभावेपि भावादन्यार्थाभावप्रसङ्गात् । न च ज्ञानस्याभावेऽर्थस्याभावः । परिच्छिद्यमानत्वधर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्यार्थस्याभाव एवेति चेन्न, तस्य ज्ञानासिद्धौ प्रतिपत्तिविरोधात्, विशेषणाप्रतीतौ तद्विशिष्टत्वस्य क्वचिदप्रतीतेरसिद्धत्वेन हेतुत्वायोगस्याभिधानात् ।

६२५. एनेनार्थमहं जानामीति प्रतीतेरात्मनोर्थज्ञानं स्वसंविदितमर्थप्राकट्यं ज्ञानधर्मोऽप्रत्यक्षायां लिङ्गबुद्धौ लिङ्गमित्येतदपास्तं, तस्य बुद्धेरप्रत्यक्षत्वे तथा प्रतीतेरयोगात्, इत्यविशिष्ट एव ज्ञानानपेक्षस्वभावोर्थस्तद्धेतुः स्यात् । स च व्यभिचार्येव । एतेनेन्द्रियादिप्रत्यक्षं प्रत्युक्तं, तस्याप्यतीन्द्रियत्वेनाप्रत्यक्षज्ञानादविशेषेणासिद्धेः । विशेषेण वा तयोरन्यतरेण भावेन्द्रियादिना स्वसंविदितेनार्थपरिसमाप्तेः किं द्वितीयेनाप्रत्यक्षज्ञानेन ? तस्यैव ज्ञानत्वात् । व्यभिचारी चेन्द्रियादिहेतुर्ज्ञानाभावेपि तस्यैव भावात् । कारणस्येन्द्रियस्य मनसो वावश्यं कार्यवत्त्वानुपपत्तेः । ततः प्रत्यक्षेतरबुद्ध्यवभासस्य स्वसंवेदनात्प्रत्यक्षविरुद्धं ज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वमनुमानविरुद्धं च । तथा हि—सुखदुःखादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्वे हर्षविषादादयोपि न स्युरात्मान्तरवत् ।

६२६. एतेन प्रतिक्षणं निरंशसंवेदनं प्रत्यक्षं प्रत्युक्तं, यथाप्रतिज्ञमनुभवाभावात्, यथानुभवमनभ्युपगमात्, स्थिरस्यात्मनः सुखदुःखादिबुद्ध्यात्मकस्य प्रत्यक्षमनुभूयमानस्य

हर्षविषादादेरनुभवात् । भ्रान्तोयमनुभव इति चेन्न, बाधकाभावात् । सर्वत्र सर्वदा भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वाविशेषात्
 परोक्षज्ञानवादानुषङ्गः सौगतस्य । कथंचिद्भ्रान्तावेकान्तहानेः स्याद्वादानुप्रवेशः । न केवलं निर्विकल्पकेऽर्थदर्शने
 परोक्षज्ञानादविशेषः । किं तर्हि ? तद्व्यवस्थाहेतौ विकल्पस्वसंवेदनेऽपि, विकल्पानतिवृत्तेः, सर्वथा विकल्पस्य
 भ्रान्तत्वे बहिरिव स्वरूपेऽपि भ्रान्तेरप्रत्यक्षत्वाविशेषादभ्रान्तं प्रत्यक्षमिति वचनात् ।
 कथंचिद् भ्रान्तत्वेनेकान्तसिद्धेरनिवारणात् । तस्मात्स्वसंवेदनापेक्षया न किञ्चिज्ज्ञानं सर्वथा प्रमाणम् ।
 बहिरथपेक्षया तु प्रमाणतदाभासव्यवस्था, तत्संवादकविसंवादकत्वात् क्वचित्स्वरूपे
 केशमशकादिज्ञानवत् । नभसि केशादिज्ञानं हि बहिर्विसंवादकत्वात्प्रमाणाभासं स्वरूपे संवादकत्वात्प्रमाणम् । न
 चैवं विरोधः प्रसज्यते, जीवस्यैकस्यावरणविगमविशेषात् सत्येतराभाससंवेदनपरिणामसिद्धेः
 कालिकादिविगमविशेषात्कनकादिजात्येतरपरिणामवत् । न च जीवो नास्त्येवेति शक्यं वक्तुं, तद्ग्राहकप्रमाणस्य
 भावात् । तथा हि—

जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत् ।

मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत् ॥ ८४ ॥

६२७. स्वरूपव्यतिरिक्तेन शरीरेन्द्रियादिकलापेन जीवशब्दोर्थवान् । अतो न कृतः प्रकृतः स्यादिति
 विक्लबोल्लापमात्रं, लोकरूढेः समाश्रयणात् । का पुनरियं लोकरूढिः ? यत्रायं व्यवहारो जीवो
 गतस्तिष्ठतीति वा । न हि शरीरेऽयं व्यवहारो रूढस्तस्याचेतनत्वद्भोगाधिष्ठानत्वेन रूढेः । नापीन्द्रियेषु,
 तेषामुपभोगसाधनत्वेन प्रसिद्धेः । न शब्दादिविषये, तस्य भोग्यत्वेन व्यवहारात् । किं तर्हि ? भोक्तृत्वात्मनि जीव
 इति रूढिः । शरीरादिकार्यस्य चैतन्यस्य भोक्तृत्वमयुक्तं भोगक्रियावत् ।

६२८. ननु सुखदुःखाद्यनुभवनं भोगक्रिया । सा ह्यत्रान्वयिनि गर्भादिमरणपर्यन्ते चैतन्ये
 सर्वचेतनाविशेषव्यापिनि भोक्तृत्वं, शरीरादिविलक्षणत्वात्तस्येति चेत्तदेवात्मद्रव्यमस्तु, जन्मनः पूर्वं मरणादूर्ध्वमपि
 तस्य सद्भावोपपत्तेरन्यथा पृथिव्यादिसमुदयशरीरेन्द्रियविषयेभ्यो वैलक्षण्यासंभवात् न तत्कार्यं
 ततोऽत्यन्तविलक्षणमस्ति, रूपादिसमन्वयात् । चैतन्यस्यापि सत्त्वादिसमन्वयान्नात्यन्तविलक्षणत्वमिति चेन्न,
 तत्त्वभेदेऽपि तस्य भावात् । पृथिव्यादितत्त्वभेदानामेकविकारित्वसमन्वयाभावाद् भेद एव, केषांचित्
 प्रागभावादिभेदवदिति चेत्, किमिदानीं चैतन्यभूतयोरेकविकारिसमन्वयोस्ति ? येन तत्त्वान्तरत्वेन भेदो न स्यात् ।
 तस्मादेकविकारिसमन्वयासत्त्वं वैलक्षण्यम् । तदेव च तत्त्वान्तरत्वमित्यनाद्यनन्ततां चैतन्यस्य साधयति ।
 तादृशचैतन्यविशिष्टे काये जीवव्यवहारश्चैतन्यकाययोरभेदोपचारादेव । क्षणिके चित्तसंताने जीवव्यवहार इत्यसारं
 तस्य निराकृतत्वात् । ततः कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणोपयोगस्वभावेन जीवेन जीवशब्दः सबाह्यार्थ इति साध्यनिर्देशो
 सिद्धसाधनाभावः ।

६२९. संज्ञात्वादिति हेतुर्विरुद्धः, सबाह्यार्थत्वविरुद्धाभिप्रेतमात्रसूचकत्वेन तस्य व्याप्तत्वादिति चेन्न,
 संज्ञायां वक्त्रभिप्रायमात्रसूचकत्वस्य प्रमाणबाधितत्वात् । तथाहि—नात्र संज्ञाभिप्रेतमात्रं सूचयति,
 ततोऽर्थक्रियायां नियमायोगात्, तदाभासवत् । न च तदयोगः संज्ञायाः, तयार्थं परिच्छिद्य

प्रवर्तमानस्यार्थक्रियानियमस्य दर्शनात्करणप्रतिपत्तिवत्, करणप्रतिपत्तीनां तदभावेऽनादरणीयत्वात् । ततः संज्ञात्वं जीवशब्दस्य सबाह्यार्थत्वं साधयति हेतुशब्दवत् । सर्वेण हि हेतुवादिना हेतुशब्दः सबाह्यार्थोभ्युपगम्यते, साधनतदाभासयोरन्यथा विशेषासंभवात्, वक्त्रभिप्रायमात्रसूचकत्वादबाह्यार्थत्वाविशेषात् । तद्विशेषमिच्छता परम्परयापि परमार्थकतान्त्रं वाचः प्रतिपत्तव्यम् । क्वचिदव्यभिचारदर्शनादनाश्वासे चक्षुरादिबुद्धेरपि कथमाश्वासः ? तदाभासोपलब्धेस्तत्राप्यनाश्वासे कुतो धूमादेरग्न्यादिप्रतिपत्तिः ? कार्यकारणभावस्य व्यभिचारदर्शनात् । न चेदमसिद्धं काष्ठादिजन्मनोऽग्रेरिव मणिप्रभृतेरपि भावात् । सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरतीति, तद्विशेषपरीक्षायां सुविवेचितः शब्दोर्थं न व्यभिचरतीति प्रसिद्धेरितरत्रापि तद्विशेषपरीक्षास्तु, विशेषाभावात् । वक्तुरभिसन्धिवैचित्र्यादभिधानव्यभिचारोपलम्भे तदितराध्यक्षानुमानकारणसामग्रीशक्तिवैचित्र्यं पश्यतां कथमाश्वासः स्यात् ? तस्मादयमक्षलिङ्गसंज्ञादोषाविशेषेपि क्वचित्प्रत्यक्षेनुमाने च परितुष्यन्नन्यतमप्रद्वेषेणेश्वरायते, परीक्षाक्लेशलेशासहनात् ।

६३०. ननु चाभावोपादानत्वात्तदन्तर्गतमायां संज्ञायां प्रद्वेषेण परीक्षक एव, न पुनरीश्वरायते, तस्य परीक्षाक्षमत्वादिति चेन्न, तस्याः सर्वथा भावोपादानत्वाभावेऽभावोपादानत्वासिद्धेः । सर्वत्र भावोपादानसंभवे हि समाख्यानामितरोपादानप्रकल्पितः । एतेनैतदपि प्रत्युक्तं यदुक्तं सौगतेन—

अनादिवासनोद्भूततविकल्पपरिनिष्ठितः ।

शब्दार्थस्त्रिविधो धर्मो भावाभावोभ्यांश्रितः । । () इति ।

तत्त्वतो भावाश्रयत्वाभावे वासनोद्भूतभावाश्रयत्वानुपपत्तेः सर्वत्रानुभवपूर्वकत्वाद्वासनायाः परम्परया वस्तुप्रतिबन्धात् । पूर्वपूर्ववासनात एवोत्तरोत्तरवासनायाः समुद्भवादनादित्वादवस्त्वाश्रयत्वमेवेति चेन्न, शब्दवासनाया अप्यनादिवे परार्थानुमानशब्दवासनायाः साधनस्वलक्षणदर्शननिमित्तकत्वविरोधात् त्रिरूपहेतुवचनस्य परम्परया धूमादिवद्वस्त्वाश्रयत्वे हेतुशब्दवज्जीवशब्दस्य भावाश्रयत्वं युक्तम् । भावश्चात्र हर्षविषादाद्यनेकाकारविवर्तः, प्रत्यात्मवेदनीयः, प्रतिशरीरं भेदात्मकोऽप्रत्याख्यानाहः प्रतिक्षिपन्तमात्मानं प्रतिबोधयतीति कृतं प्रयासेन । तदनेन हेतोः कालात्ययापदिष्टत्वं प्रतिक्षिप्तं, पक्षस्य प्रत्यक्षादिभिरबाधितत्वात् । तत्र निरतिशयस्यास्वसंविदितस्य सर्वशरीरेष्वभिन्नस्यैकस्य प्रतिक्षणं भिन्नस्य चात्मनः प्रतिभासाभावात्तस्य प्रत्याख्यानाहत्वसाधनान्न तेन जीवशब्दः सबाह्यार्थः ।

६३१. ननु च मायादिभ्रान्तिसंज्ञाभिरबाह्यार्थाभिरनैकान्तिकं संज्ञात्वमिति चेन्न, तासामपि मायाद्यैः स्वैरर्थैः सबाह्यार्थत्वात् प्रमाणवचनवत् । न हि मायादिसमाख्या स्वार्थरहिता विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वात्, प्रमाणसमाख्यावत् भ्रान्तिसमाख्यानामबाह्यार्थत्वे ततो भ्रान्तिप्रतिपत्तेरयोगात् प्रमाणत्वप्रतिपत्तिप्रसङ्गाच्च विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वमसिद्धम् । प्रमाणशब्दस्य स्वार्थविशेषरहितत्वे भ्रान्तिप्रतिपत्त्यनुषङ्गाच्च न तदसिद्धं, यतो निदर्शनं साधनधर्मविकलं स्यात् ।

६३२. एतेन खरविषाणादिशब्दानामपि स्वार्थरहितत्वमपास्तं, विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वाविशेषादन्यथा भावशब्दत्वप्रसङ्गात् । ततो न तैरपि व्यभिचारः ।

किञ्च,—

बुद्धिशब्दार्थसंज्ञास्तास्तिस्त्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः ।

तुल्या बुद्ध्यादिबोधोश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः ॥ ८५ ॥

६३३. येष्याहुः—अर्थाभिधानप्रत्ययस्तुल्यनामान इति जीवार्थस्य जीव इति संज्ञा, जीव इति शब्दस्य च, जीव इति बुद्धेः इति । तत्रार्थपदार्थक एव जीवशब्दः सबाह्यार्थः प्रसिद्धो, न बुद्धिशब्दपदार्थकः । ततोनेन हेतोर्व्यभिचारः, संज्ञात्वस्य सामान्येन हेतुवचनात्, इति; तेषां न सम्यगुक्तयः, सर्वत्र बुद्धिशब्दार्थसंज्ञानां तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तबुद्ध्यादिपदार्थवाचकत्वात् । यस्माद्बुद्धिशब्दादुच्चारितादव्यभिचारेण यत्र बोधः प्रजायते स एव तस्यार्थः स्यात्, अन्यथा शब्दव्यवहारविलोपात् । यथा च जीवशब्दादर्थपदार्थकाज्जीवो न हन्तव्य इत्यत्र जीवार्थस्य प्रतिबिम्बको बोधः प्रादुर्भवति, तथा बुद्धिपदार्थकाज्जीव इति बुध्यत इत्यादेर्बुद्ध्यर्थस्य प्रतिबिम्बको, जीव इत्याहेति शब्दपदार्थकोच्छब्दस्य प्रतिबिम्बकः स्यात् । तत्तत्त्वर्थोस्तिसृणां संज्ञानामवगम्यन्ते, तत्प्रतिबिम्बकबोधानां त्रयाणामेव भावात् । तदनेनाचार्यो हेतुव्यभिचाराशङ्कां प्रत्यस्तमयति, बुद्ध्यादिसंज्ञानां तिसृणामपि स्वव्यतिरिक्तवस्तुसम्बन्धदर्शनात् तद्बुद्धीनां च तिसृणां तन्निर्भासनात्तद्विषयतोपपत्तेः । सामान्यतो जीवशब्दस्य धर्मित्वात् स्वव्यतिरिक्तार्थस्य च सबाह्यार्थत्वस्य साध्यत्वाद् व्यभिचारविषयस्यासत्त्वादव्यभिचारी हेतुः ।

६४३. ननु च विज्ञानवादिन प्रति संज्ञात्वादित्यसिद्धो हेतुः, संज्ञाया विज्ञानव्यतिरेकेणासत्त्वात् । दृष्टान्तश्च साधनविकलो, हेतुशब्दस्य तदाभासवेदनादन्यस्याविद्यमानत्वात् । संज्ञाभासज्ञानत्वस्य हेतुत्वे शब्दाभासस्वप्रज्ञानेन व्यभिचारो हेतुः, इति कश्चित् तं प्रत्यभिधीयते—

वक्तुं श्रोतुं प्रमातृणां बोधवाक्यप्रमाः पृथक् ।

भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ बाह्यार्थौ तादृशेतरौ ॥ ८६ ॥

६३५. वक्तुरभिधेयबोधाभावे कुतो वाक्यं प्रवर्तेत ? तस्याभिधेयबोधनिबन्धनत्वात् । वाक्याभावे च श्रोतुरभिधेयज्ञानसंभवस्तस्य तन्निमित्तकत्वात् । प्रमातुः प्रमित्यभावे च शब्दार्थयोः प्रमेययोरव्यवस्थानादिहेतुत्त्वानुपपत्तेर्वक्त्रादित्रयस्य बोधादित्रयं पृथग्भूतमुपेयम् । तथा सति न हेतोरसिद्धतादिदोषो, दृष्टान्तस्य वा साध्यावैकल्यं प्रसज्यते ।

६३६. स्यान्मतं—‘बहिरर्थाभावाद्बक्त्रादित्रयं न बुद्धेः पृथग्भूतं, वक्त्रार्थाभासाया बुद्धेरेव वक्त्रादित्वव्यवहारात्, वाक्यस्यापि बोधव्यतिरेकेणासत्त्वात्, प्रमाया बोधात्मकत्वात् । ततोऽसिद्धतादिदोषः साधनस्य हेतुदृष्टान्तलक्षणस्य’ इति, तत्र, रूपादेर्ग्राहकस्य तद्व्यतिरिक्तविज्ञानसंतानकलापस्य च स्वांशमात्रावलम्बिनः प्रमाणस्य विभ्रमकल्पनायां साकल्येनासिद्धेरन्तर्ज्ञेयभ्युपगमविरोधात् । न हि रूपादेरभिधेयस्य ग्राहकस्य वक्तुः श्रोतुं विभ्रमकल्पनायां व्यतिरिक्तविज्ञानसंतानकलापः स्वांशमात्रावलम्बी सिध्यति परस्परमसंचारात्, येनाभिधानाभिधेयज्ञानभेदः स्यात् । तस्यापि विभ्रमकल्पनायां न प्रमाणसिद्धिरभ्रान्तस्य ज्ञानस्य प्रमाणत्वव्यवस्थितेः । प्रमाणस्यापि विभ्रमकल्पनायां कथमन्तर्ज्ञेयमेव तत्त्वमित्यभ्युपगमो

न विरुध्यते ? प्रमाणमन्तरेण तदभ्युपगमे सर्वस्य स्वेष्टाभ्युपगमप्रसङ्गात् । प्रमाणभ्रान्तौ बाह्यार्थयोस्तादृशान्यादृशयोः प्रमेययोरन्तर्ज्ञेययोरिष्टानिष्टयोर्विवेचनस्यापि भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । तौ हि ग्राहकापेक्षया बाह्यार्थौ भ्रान्तावेव ग्राहकप्रमाणभ्रान्तेः, इति कुतस्तत्र हेयोपादेयविवेकः स्यादन्तर्ज्ञेयैकान्ते ? यतस्तदभ्युपगमो न विरुद्धो भवेत् । यदि पुनः प्रमाणमभ्रान्तमिष्यते तदा बाह्यार्थोभ्युपगन्तव्यः, तदभावे प्रमाणतदाभासव्यवस्थित्ययोगात् । तथाहि—

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति ।

सत्यानृतव्यवस्थैव युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥ ८७ ॥

६३७. बुद्धेः स्वप्रतिपत्त्यर्थत्वाच्छब्दस्य परप्रतिपादनार्थत्वात् स्वपरप्रतिपत्त्यर्थसाधनं बुद्धिशब्दात्मकं स्वसंविच्चैव परप्रतिपादनायोगात् तस्याः पराप्रत्यक्षत्वात् । तस्यैव सति बहिरर्थे प्रमाणत्वमर्थप्राप्तितः सिध्येत्, असति प्रमाणाभासत्वमर्थानाप्तिः । इति सत्यानृतव्यवस्था बुद्धिशब्दयोर्युज्यते, स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मनोस्तथा प्रतीतेः । तदेवं परमार्थतः सन् बहिरर्थः, साधनदूषणप्रयोगात् । इत्येकलक्षणो हेतुः प्रवर्तते । न चात्रैकलक्षणसिद्धं, सत्यैव बहिरर्थे परमार्थतो हेतोरुपपत्तेस्तथोपपन्नत्वस्य प्रधानलक्षणस्य सद्भावात् । अन्यथा स्वप्नेतराविशेषात्किं केन साधितं दूषितं च ? इति कुतः संतानान्तरमन्यद्वा स्वसन्तानलक्षणक्षयवेद्याद्याकारशून्यत्वं साधयेत् ? बहिरर्थस्य वास्तवस्य ग्राह्यलक्षणस्याभावे हि साधनदूषणप्रयोगस्य हेतोः संभवे स्वप्नजाग्रदवस्थाभाविने तत्प्रयोगयोर्विशेषासिद्धिः । ततः किञ्चिज्ज्ञप्तिमात्रं केन सहोपलम्भनियमादिनानुमानेन स्वार्थेन साधितं स्यात्, परार्थेन वा वचनात्मना परं प्रति, किं वा स्वसंविदद्वैतं स्वतः प्रत्यक्षत एव साधितं स्यात् ? तत्साधनस्य स्वप्नवन्निर्विषयत्वात् । किं वा बहिरर्थजातं केन, जडस्य प्रतिभासायोगात्, इत्यादिना स्वार्थेन परार्थेन वा दूषणेन दूषितं स्यात् ? इति संतानान्तरमपि न केनचित्साधनेन साधितं स्यात् । तदनभ्युपगमे न केनचिदूषणेन दूषितं स्यात्, तथा स्वसन्तानलक्षणक्षयार्थादिकं च न केनचित् साधितं स्यात् । तदनभ्युपगमेपि न केनचिदूषितम् । इति न केचिदव्यवस्थेतिष्ठते ।

६३८. तैमिरिकद्वयाद्विचन्द्रदर्शनवद् भ्रान्तः सर्वो व्यवहार इत्यात्रापि तत्त्वज्ञानं शरणं, तत एव सर्वविभ्रमव्यवस्थितेः । इति व्याहतमेतत् तत्त्वज्ञानात् सर्वस्य भ्रान्तत्वसाधनम्, अन्यथा बहिरर्थवदभिसंहितस्यापि सर्वविभ्रमस्य निराकरणापत्तेः, भ्रान्तादेव ज्ञानात् तस्योप्यसिद्धेः । तथा परमाण्वादिदूषणोपि प्रतिपत्तव्यं, तत्त्वज्ञानं शरणमतत्त्वज्ञानादभिसंहितस्यापि परमाण्वाद्यसत्त्वस्य निराकरणापत्तेः । अन्यथा तत्कृतमकृतं स्यादिति सर्वत्र योज्यं, सर्वस्य स्वेष्टस्य स्वयमनिष्टस्य च तत्त्वज्ञानादेव साधनदूषणोपपत्तेः ।

६३९. एतन्न साधनदूषणप्रयोगादिति साधनमसिद्धमितीच्छन् प्रतिक्षिप्तस्तदसिद्धत्वस्य स्वयमिष्टस्य तत्सिद्धत्वस्य चानिष्टस्य साधनदूषणप्रयोगादेव व्यवस्थापनादन्यथा तदव्यवस्थितेर्यत्किञ्चनवादित्वप्रसङ्गात् । तदिमे विज्ञानसंतानाः सन्ति न सन्तीति तत्त्वाऽप्रतिपत्तेर्दृष्टोपपत्तिरनिबन्धनैव, दृश्येनात्मनो कथञ्चित्कस्याकारेणादृश्यानामपि परमाणूनां बहिरपि समवस्थाने विप्रतिषेधाभावादन्तर्ज्ञेयवत् । अदृश्यो

एव हि ज्ञानपरमाणवः संविन्मात्राद् दृश्यादवस्थाप्यन्ते नान्यथेति युक्तमुदाहरणं, बहिःपरमाणूनां व्यवस्थापने तत्र
पूर्वादिदिग्भागभेदेन जडरूपाणां षडंशादिकल्पनया वृत्तिविकल्पेन वा परंपक्षोपालम्भे स्वपक्षक्षेपात्,
तस्योपालम्भाभासत्त्वसिद्धेः । समानं हि दूषणं बहिःपरमाणुषु, संवित्परमाणुषु च । देशतः संबन्धे षडंशत्वं
दिग्भागभेदात् । सर्वात्मना, प्रचयस्यैकपरमाणुमात्रत्वम् । प्रचयस्य परमाणुभ्यो भेदे प्रत्येकं परिसमाप्त्यैकदेशेन वा
वृत्तौ प्रचयबहुत्वं सांशत्वापादनमनवस्थां च । न च परमाणुभिः संसृष्टैर्व्यवहितैर्वा प्रचयस्योपकारे संसर्गासंभवो,
व्यवधानेन च व्यवधीयमानाभ्यां व्यवधायकस्य सजातीयस्य विजातीयस्य वा व्यवधाने
प्रकृतपर्यनुयोगो नवस्थाप्रसञ्जनं चेति स्वपक्षघाति स्यात्, सूक्ष्मस्थूलात्मनि बहिर्जात्यन्तरे तस्यानवकाशाच्च,
हर्षविषादाद्यनैकाकारात्मवत् । तत्रापि विरोधो दूषणमिति चेत्, सर्वथा कथंचिद्वा ? न तावदाद्यः पक्षः, सर्वथा
क्वचिद्विरोधासिद्धेः शीतोष्णस्पर्शयोरपि सत्त्वाद्यात्मनाऽविरोधात्, स्वेष्टेऽपि तत्त्वे । कथंचिद्विरोधपरिहारस्य
पुनरायासतामप्यशक्तेर्न द्वितीयः पक्षः संभवति । तत्साक्षात्परंपरया वा, विमर्त्यधिकरणभावापन्नं ज्ञानं
स्वरूपव्यतिरिक्तार्थालम्बनं, ग्राह्यग्राहकाकारत्वात्, संतानान्तरसिद्धिवत् । विप्लवज्ञानग्राह्यग्राहकाकारत्वेन
व्यभिचार इति चेत्, संतानान्तरसाधनस्यापि व्यभिचारप्रसङ्गात् । न हि व्यापारव्याहारनिर्भासो विप्लुतो नास्ति,
येनाव्यभिचारी हेतुः स्यात् ।

तदप्यत्रापि वासनाभेदो गम्यते न संतानान्तरम् । यथैव हि जाग्रदशायां बहिरर्थवासनाया
दृढतमत्वात्तदाकारस्य ज्ञानस्य सत्यत्वाभिमानः, स्वप्नादिदशायां तु तद्वासनाया दृढत्वाभावात्
तद्वेदनस्यासत्यत्वाभिमानो लोकस्य, न परमार्थतो बहिरर्थः सिध्यतीति वासनाभेदोभ्युपगम्यते,
तथाऽनुप्लवदशायां सन्तानान्तरज्ञानस्य वासनाया दृढतमत्वात्सत्यताभिमानोऽन्यत्र तददार्ढ्यादसत्यताव्यवहार इति
वासनाभेदो गम्यतां, न तु संतानान्तरम् । तदनभ्युपगमे स्वसंतानक्षणक्षयादिसिद्धिः कथमभ्युपगम्यते ? ततः
सुदूरमपि गत्वा किंचिद्वेदनं स्वेष्टतत्त्वावलम्बनमेषितव्यम् । तदेव वेद्यवेदकाकारं बहिरर्थवेदनस्य
स्वरूपव्यतिरिक्तालम्बनत्वं साधयति ।

६४०. ततो बहिरर्थस्य सिद्धेः सिद्धं वक्त्रादित्रयं, तस्य च बोधादित्रयम् इति न जीवशब्दस्य
सबाह्यार्थत्वसाधने संज्ञात्वस्य साधनस्यासिद्धतानैकान्तिकता वा दृष्टान्तस्य वा साधनधर्मादिवैधुर्यं, यतो न
जीवसिद्धिः स्यात् । तत्सिद्धौ च तस्यार्थं परिच्छिद्य प्रवर्तमानस्य संवादविसंवादसिद्धिः सिध्यत्वेव । स्यात्
सर्वमभ्रान्तमेव ज्ञानं भावप्रमेये संवादापेक्षणात् । स्याद् भ्रान्तं बहिरर्थं विसंवादापेक्षणात् । स्यादुभयं,
क्रमार्पिततदद्वयात् । स्यादवक्तव्यं सहार्पिततदद्वयात् । स्यादभ्रान्तावक्तव्यं संवादसहार्पिततदद्वयात् ।
स्यादभ्रान्तावक्तव्यं विसंवादसहार्पितं तदद्वयात् । स्यादुभयावक्तव्यमेव क्रमाक्रमार्पिततदद्वयात् । इति पूर्ववत्
सप्तभङ्गीप्रक्रिया योजयितव्या, तथैवातिदेशसामर्थ्यात् तद्विचरिण्य सिद्धेः प्रमाणनयादेशादपि प्रतिपत्तव्या ।

ज्ञानैकान्तादिपक्षे गगनफलमिव ज्ञापकोपायतत्त्वं
संभाव्यं नैव मानात् कथमपि निपुणं भावयद्भिर्महद्भिः ।
स्याद्वादे तत्रसिद्धं विविधनयबलात्तत्त्वतः शुद्धबुद्धे-
रित्याज्ञातं प्रपञ्चाद्विचरतु सुचिरं स्वामिनः सद्ब्रह्म ॥ १ ॥

इत्याप्तमीमांसासालङ्कृतौ सप्तमः परिच्छेदः ।

सप्तमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. अत्रैव मूलग्रन्थे श्रीस्वामिकृते । २. स्वशक्तिः । ३. ननु च विज्ञानाद्वैतस्यैव वास्तवत्वात् तस्यैव व्यवस्था स्यात्, न तूपायोपेयत्वयोरित्याशङ्क्याह । ४. बुद्धिः, अनुमानम् । वाक्यम्, आगमः । ५. मृषा यतः । ६. तत्, प्रमाणाभासम् । ७. शिष्यस्य बुद्धिरूपाध्यायहेतुवादिबन्धना च उपाध्यायहेतुवादिबन्धना च । स्वशिष्यं प्रति वाक्यमागमः, उपाध्यायहेतुवादः स आगमः । तन्निबन्धनं यस्येति हेतुवादाहेतुवादिबन्धनम् । बसोत्र । ८. आगमः । ९. बुद्धिवाक्यम् । १०. तस्य, प्रमाणाभासस्य । ११. (सौगतः) । १२. कल्पनया । १३. जानाति । १४. आह सौगतः । तस्मादर्थज्ञानस्य जन्म । सौत्रान्तिकापेक्षयेदं वचनम् । उपलक्षणात्ताद्रूप्यतदध्यवसायौ ग्राह्यौ । अत्रैव टिप्पण्यन्तरं 'योगापेक्षयेदं वचनम्, कार्यं निमित्तकारणत्वमित्यभिप्रायः' इति । तृतीया टिप्पणी 'अर्थज्ञानयोः कार्यकारणभाव इति वचनं संख्यापेक्षया' । चतुर्थी टिप्पणी तज्जन्म कार्यप्रभवाद्येव वेद्यवेदकलक्षणम् । १५. आदिशब्देन योग्यता ग्राह्येति ज्ञानापेक्षयेदं वचनम् । १६. वेद्यादिभागरूपतया । १७. विज्ञानाद्वैतवादिना । १८. (जैन आह) । १९. तस्मादर्थज्जन्म । २०. अर्थो वेद्यः, अर्थग्राहकं ज्ञानं वेदकम् । ताद्रूप्यं यथा, ज्ञानगतो नीलाकारो वेद्यो, नीलाकारं ज्ञानं वेदकम् । तदध्यवसाये अध्यवसेयं वेद्यं, तदध्यवसायो वेदकः । २१. (तज्जन्मताद्रूप्यादि) । २२. न हि प्रमाणाभावे इत्याद्यत्रापि संबन्धनीयम् । २३. उत्तरानन्तरज्ञानेन तदुत्पत्तिताद्रूप्यद्वयं व्यभिचारि । २४. त्रितयं व्यभिचारि । २५. वेद्यवेदकम् । २६. न हि प्रमाणाभावे विज्ञानाद्वैतवादी प्रतिदर्शयेदिति संबन्धः । २७. ज्ञानस्य निमित्तकारणत्वमर्थं वर्तते । २८. (वेद्यवेदकलक्षणम्) । २९. चक्षुषानैकान्तिकं, यतश्चक्षुर्निमित्तकारणकं ज्ञानं कार्यम् । ३०. प्रमाणाभावे इति योज्यम् । ३१. अथवाग्नेः कार्यस्धारणिकाष्ठं कारणमित्यादि कार्यकारणत्वसंज्ञं प्रभवम् (वेद्यवेदकलक्षणम्) । ३२. प्रभवापेक्षया सांख्यान्त्रति योग्यतापेक्षया च जैनान्त्रति । ३३. वेद्यवेदकलक्षणतया ।

३४. ज्ञानाद्वैतवादिनः स्वकीयज्ञानात्सर्वसंविदां क्षणिकत्वादिकं न सिध्यति, परग्राहकस्य ग्राह्यग्राहकभावघटनपूर्वकं भ्रान्तत्वाभ्युपगमादिति भावः । ३५. (यथा वेदान्त्याद्यभ्युपगमेन (नित्यत्वादिना) । ३६. संविदाम् । ३७. किं च, तथा क्षणिकत्वादिप्रकारेण । ३८. संविदां स्वरूपसंवेदनेपि । ३९. निर्विकल्पकत्वात्संविदाम् । ४०. प्रमाणान्तरं, विकल्पज्ञानम् । ४१. अभ्यासवशात्तथोपलम्भकत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्यामाह । ४२. क्षणिकरूपवस्तुनूपलम्भकत्वादिति विशेषः । ४३. प्रतिभासन्ते । ४४. परैर्बुद्धिः । ४५. अक्षणिकत्वादिप्रकारेण । ४६. अनुमानतः । ४७. लिङ्गलिङ्गिनोर्व्याप्तिज्ञानस्य । ४८. सामस्येन । ४९. सर्वं क्षणिकं सत्त्वादिति व्याप्तिप्रतिपत्तिः । ५०. निर्विकल्पकत्वात् । ५१. क्षणिकत्वसिद्धिरिति शेषः । ५२. स त्वमेवासि निर्दोष इत्यादिकारिकाव्याख्यानचरमभागे । ५३. दूषणान्तरमिदम् । वासनानिमित्तकः सामान्याकारो मिथ्याविकल्पः स्वांशः (अहमिति स्वांशनिश्चयः) । स एव तन्मात्रं, तदवलम्बिना । ५४. प्रकृतः क्षणिकत्वादिः । ५५. बहिरर्थोपि क्षणिक इत्यर्थः । ५६. योगाचारेण भवता वेद्यवेदकलक्षणमनैकान्तिकमादर्श्यं यद्विघटितं क्षणिकत्वादिव्यवस्थापन्नं सौत्रान्तिकाद्यभिमतं तत्तेषामिदानीं व्यवस्थितं भवतीत्येतदत्राकूतम् । आदिनाऽक्षणिकत्वादिव्यवस्थापनं सौत्रान्तिकाद्यभिमतं तत्तेषामिदानीं व्यवस्थितं भवतीत्येतदत्राकूतम् । आदिनाऽक्षणिकत्वादिग्रहश्च । ५७. आदिशब्देन यौगसांख्यजैना गृह्यन्ते । ५८. उभयत्र योगाचारसौत्रान्तिकयोः । ५९. तज्जन्मादिना योग्यतया वा । ६०. संवेदनेषु । ६१. संवेदनाद्वैतं यदि केनापि प्रकारेण वेद्यं भवति तदा क्षणिकत्वमनन्यवेद्यत्वं नानासंतानत्वं च कृतं स्यात् । ६२. आदिशब्देनानन्यवेद्यत्वानानासंतानत्वग्रहणम् । ६३. वेद्यलक्षणाभावप्रकारेण प्रकृतं कृतं न स्यादिति संबन्धः । ६४. दोषरहितम् । ६५. ज्ञानवादिनाम् । ६६. वेद्यलक्षणस्य । ६७. संवित्क्षणिकत्वादौ साध्येऽनुमानं यथा, संवित् क्षणिका, सत्त्वादिति । ६८. तस्य, वेद्यलक्षणस्य । ६९. (अद्वैतिना) । ७०. नियामकाभावात् । ७१. स्वपरपक्षसाधनदूषणे प्रमाणमन्तरेण न घटेते यतः । ७२. प्रत्यक्षमनुमानं वा । ७३. स्वपरपक्षभूषणदूषणतया । ७४. प्रमाणान्तरात् । ७५. संविद्बहिरर्थयोः ।

७६. ग्राह्यग्राहकाकाराभ्यां भ्रान्तत्वप्रकृतानुमानाभ्याम् । ७७. अभ्रान्तत्वपक्षे सर्वं भ्रान्तं ग्राह्यग्राहकाकारत्वादित्यस्य हेतोः । ७८. प्रकृतानुमानात् । ७९. ननु च साध्यसाधनग्राहिकाया विज्ञप्तेरसंभवो भवतु, विज्ञप्तिमात्रव्यतिरेकेण तद्विषयभूतसाध्यसाधनयोरभावादिति कश्चित् । तं प्रत्याहुः । ८०. प्रतिविहितमित्यत्र साध्ये हेत्वन्तरमेतत् । ८१.

प्रत्यक्षादनुमानाद्वा साध्यसाधनव्याप्तिविज्ञप्तेरसंभवो यथेत्यर्थः। ८२. साध्यसाधनविज्ञप्तिरसंभवे। ८३. सर्वस्य, अन्तर्बाह्यतत्त्वस्य। ८४. ज्ञानमात्रतैव। ८५. किं तर्हीत्याह। ८६. चकाराद्दृष्टान्तोपि। ८७. तस्य, नीलस्य। ८८. अभ्युपगम्य। ८९. तस्य, साध्यधर्मादेः। ९०. तद्वचनं (नीलवचनं) च तद्वचनज्ञानं (नीलसंवेदनं) च तयोः। ९१. अभेदभेदरूपयोः। ९२. स्वस्य आत्मनो वचनाभावम्। ९३. स्ववचनविरोधप्रकारेण। ९४. विज्ञानाद्वैतवादिना। ९५. ज्ञानं विहायापरस्याभेदस्यानभ्युपगमात्। ९६. जैनादिमताङ्गीकारेण। ९७. साध्यधर्मादीनां दूषणोत्पादनस्य। ९८. विज्ञानवादिनः। ९९. तस्य, जैनादेयोभ्युपगमस्तस्यासिद्धेः। १००. जैनादेः। १०१. व्याप्यः, सहोपलम्भः। १०२. व्यापक ऐक्यम्। १०३. अविनाभावी। १०४. अनुमाने। १०५. प्रतिज्ञाहेतुदोषः स्यादित्यादेर्दोषस्य। १०६. तद्दोषसिद्धेः।

१०७. यथा विज्ञप्तिमात्रं विहाय कश्चिद्गुणो नास्ति विज्ञानमात्रवादिनः। १०८. स्वस्य, जैनस्य। १०९. तस्य, प्रतिज्ञाहेतुदोषस्य। ११०. (ज्ञानाद्वैतिनः)। १११. जैनैर्दोषसंभवस्य व्यवस्थापनात्। ११२. भो जैन। ११३. यथाप्रतीति वस्तुनो व्यवस्थानादेव। ११४. मम। ११५. भवतां जैनानां यथा गुणदोषौ स्तस्तथास्माकं सौगतानां विज्ञप्तिमात्रं स्यात्। ११६. वादिनः। ११७. ततश्चास्माकं सौगतानां न प्रतिज्ञादोषः संभवतीति भावः। ११८. जैनानाम्। (सिद्ध्यतिवृत्ति पूर्वण संबन्धः)। ११९. साध्यमेवंविधलक्षणकं, साधनं त्वेवंविधलक्षणमिति निर्णीतम्। १२०. साध्ये स्थाणुपुरुषादिरूपे। १२१. सर्वत्र साध्यसाधनादौ संदेहे सति। १२२. तस्य, साध्यसाधनादेः। १२३. विचारान्तरेण निर्णीतत्वप्रकारेण। १२४. वीतरागादेः। १२५. अनवस्था नास्ति यतः। १२६. नीलतद्विद्योरभेद इति प्रतिज्ञा। १२७. सहोपलम्भनियमादिति हेतुः। १२८. पृथगुपलम्भाभावभेदाभावयोः। १२९. खरशृङ्गयोर्यथा संबन्धाभावः। १३०. ननु चाभावादभावसाधनं नासिद्धमन्यभावाद्धूमाभावसाधनवत्, व्यापकाभावद्वयाप्याभावसाधनवद्वा इत्याशङ्क्यायामाह। १३१. कार्यकारणयोर्व्याप्यव्यापकयोश्च पूर्वं सद्भावासिद्धौ। १३२. सहोपलम्भनियम इत्यर्थः। १३३. पृथगुपलम्भाभावरूपः। १३४. भेदभावसिद्धिनिराकरणपरेण ग्रन्थेन। १३५. अभेदपृथगनुपलम्भयोः। १३६. अविशेषः कुतः? तादात्म्यतदुत्पत्त्योरर्थस्वभावनियमात्। १३७. सहक्रमसंबन्धयोः। १३८. सा चासावसहानुपलम्भरूपा अन्यव्यावृत्तिश्च। तस्याः सहोपलम्भनियमात्सकाशाद्व्यावृत्तिश्चासहानुपलम्भः। तदन्यव्यावृत्तिरिति असहानुपलम्भ एव। १३९. तुच्छाभावरूपत्वात्। १४०. साध्येन। १४१. साधनस्याभावरूपत्वे दूषणमुक्त्वा इदानीं साध्यस्याभावरूपत्वे दूषणमाह। १४२. नीलतद्विद्योर्भेदाभावमात्रे। १४३. पृथगनुपलम्भलक्षणाद्धेतोर्विज्ञप्तिमात्रस्यासाधनात्। १४४. सा, विज्ञप्तिः। १४५. अनुमानं ग्राहकं विज्ञप्तिमात्रं ग्राह्यम्। १४६. विज्ञप्तिवत्। १४७. विज्ञप्तिमात्रबहिरर्थयोर्ग्राह्यग्राहकभावसिद्धेः। १४८. स चासावेकोपलम्भश्च। १४९. अभेदात्। १५०. (एकत्वमेव)। १५१. सहोपलम्भनियमादित्यस्य हेतोरर्थस्य साध्यसमत्वात्।

१५२. पूर्वोक्तप्रकारेण। १५३. नीलतद्विद्योरैक्यमेव एकज्ञानग्राह्यत्वात्। १५४. द्रव्यं च पर्यायाश्च परमाणवश्चेति द्वन्द्वः। १५५. पिण्डीकृताः। १५६. संचितमालम्बनं विषयो येषां पञ्चविज्ञानकायानाम्। कायः स्वरूपम्। १५७. विज्ञानद्वैतवादिनः। १५८. विज्ञानरूपाः परमाणवो विज्ञानपरमाणवः। १५९. एकज्ञानग्राह्यत्वलक्षणम्। १६०. नीलस्य ज्ञानादन्यत्वाभावादनन्यवेद्यत्वम्। सहोपलम्भनियमादित्यस्यैवार्थकथनमेतत्। १६१. जैनानाम्। १६२. इन्द्रियपञ्चकापेक्षया। १६३. चित्रज्ञानकारणामेकलोलीभावेनोपलम्भो शक्यविवेचनत्वं यथा। १६४. नीलतद्विद्योः। १६५. नानापुरुषज्ञानानाम्। १६६. ननु कथमेकक्षणवर्तिसंवित्तीनामेकदैवोत्पत्तिरिति त्वेकदोषलम्भः? तत एकदैवोपलम्भनियमाद् व्यभिचारित्वं स्यादित्याशङ्क्यायामाह। १६७. नानापुरुषैः। १६८. तथा, एकदात्वेन। १६९. (एकक्षणवर्तिसंवित्तीनामेकदात्वेनोत्पत्तिरेव तासामुपलम्भत्वम्। १७०. अनुभूतानाम्। १७१. यतः स्वलक्षणे साध्यमभेदः, साधनं तथोपलम्भो वर्तते, न तु द्विचन्द्रदर्शने। १७२. वस्तुरूपे स्वलक्षणे वा। १७३. निश्चयात्। १७४. द्विचन्द्ररूपायाम्। १७५. तयोः, तथोपलम्भाभेदयोः। १७६. द्विचन्द्ररूपे। १७७. सहानुपलम्भाभावभेदाभावरूपयोः साध्यसाधनयोः। (अभावभावयोरिति खपाठः)। १७८. विज्ञानान्येव

स्वलक्षणानि । तेषां क्षणक्षयादेः १७९. अनुमाने । १८०. अनुमानज्ञाने परिच्छिन्ने । १८१. अर्थस्वभावानवबोधायान्यापोह-
(अर्थस्वभावानवबोधाद् व्यावृत्तः अर्थस्वभावाभेदः) मात्रादर्थस्वभावबोधो भविष्यतीत्युक्ते आह । १८२. तच्च तदन्यापोहमात्रं
च । १८३. नीलतद्विधोः । १८४. एकार्थे नर्तकीक्षणे संलग्नदृष्टयः पुरुषाः । १८५. एकार्थसंलग्नपुरुषबुद्धिम् । १८६.
परचित्तार्थम् । १८७. नियमेन परचित्तार्थं न जानन्ति परचित्तविदो वा पुरुषाः । दृश्यते चायं व्यवहारस्तुष्टो राजा न ज्ञायते कुत्रेति ।
इत्यसिद्धत्वं हेतोः । १८८. व्याप्तेः । १८९. ज्ञानार्थयोः स्वस्वकारणप्रभवत्वादित्यर्थः । भिन्नकारणप्रभवत्वाच्च भेद एवेत्यर्थः ।

१९०. संदिग्धो व्यतिरेको विपक्षाद् व्यावृत्तिर्यस्य सः । १९१. सहोपलम्भनियमरूपः । १९२.
विज्ञानाद्वैतसाधकेऽनुमाने प्रतिज्ञादृष्टान्तादि दोषोयस्मात् । १९३. जानानः । १९४. निराकरोति । १९५. बहिरर्थः । १९६.
सौगतस्य । १९७. क्रमेण विज्ञानमात्रं बहिरर्थं च । १९८. विज्ञानाद्वैतवादिनः । १९९. सम्यगस्तीत्यर्थः । २००. सांशस्य
कथंचित्क्षणिकस्यैव संवेदनस्य प्रतीतिर्न तु निरंशस्य सर्वथा संवेदनं संवेदनानुरोधेन प्रतीतिमनुसृत्य निरीक्ष्यमाणे सति
त्वदीयसंविदद्वैतमिथ्यात्वस्यासत्त्वस्य सिद्धिस्तथा । २०१. त्वदीयसंवेदनस्य क्षणिकत्वात् । २०२. बहिः (ज्ञानादन्यत्)
अङ्गं शरीरं यस्य स बहिरङ्गः । स चासावर्थस्तस्य भावस्तत्ता । सैवैको साधारणः स्वप्नेतरयोन्तो धर्मः । तस्मिन्नङ्गीक्रियमाणे ।
२०३. मिथ्याज्ञानस्य संशयादेः । २०४. बाह्यार्थः सत्य एवेति । २०५. न केवलं सौगतानामपि तु जैनादीनामपि । २०६.
अयमग्रि रिति साक्षादग्रिप्रत्यक्षज्ञानम् । २०७. इतरवेदनमनुमानं परम्परयार्थसंबद्धं, पर्वतोयमग्रिमान्धूमवत्त्वादिति यथा
परम्परया । २०८. चेतो बहिरर्थसंबद्धं विषयाकारनिष्प्रतिभासात् । २०९. पूर्वानुमानप्रकारेण । २१०. स्वप्रज्ञानम् । २११.
दूषणं ब्रूमो वयं जैना इत्यर्थः । २१२. समयः संकेतः । २१३. यथामनोरथं सकलजनसमाहितसंकेतसङ्गानाम् । २१४.
अङ्गुल्यग्रे हस्तियूथशतं भ्रान्तमास्ते इति लोकशब्दाः । यत्सत्तत्क्षणिकं यत्सत्तदक्षणिकम् । इत्यादिसमयशब्दाः । तत्र
प्रतिबद्धानां परस्परविरुद्धबुद्धीनामर्थानर्थार्थग्राहकबुद्धीनाम् । शब्दाश्च बुद्ध्यश्चेति द्वन्द्वः । २१५. विषयसंबन्धः । २१६.
अस्त्वेतदित्युक्ते आह । २१७. आदिशब्देन मरीचिकाजलादिग्रहणम् । २१८. बहिरर्थवादिनः । २१९.
बहिरर्थकान्तवादिनाम् । २२०. कुत इत्याह । २२१. सर्वथा विद्यमानानामर्थानां प्रतिभासवचनयोरसंभवः किमिति
प्रतिपाद्यते ? यावता भावान्तरस्वभावतया खरविषाणादीनां प्रतिभासस्य खरविषाणशब्देन तु वचनस्य संभवो
भविष्यतीत्याह । २२२. खरविषाणो न उत्पन्नो न प्रध्वस्तो विषयो येषां ते ।

२२३. खरविषाणादीनामलौकिकार्थविषयत्वेन सर्वथाप्यविद्यमानत्वं नास्तीति तात्पर्यम् । २२४. वाचकाः शब्दा
ग्राहकाणि च ज्ञानानि, तत्सर्वम् । २२५. परार्थानुमानप्रत्ययः स्वार्थप्रतिबद्धोऽस्वार्थप्रतिबद्धो वेति विकल्प्य दूषयति जैनः ।
२२६. परार्थानुमानप्रत्ययस्य चेतस्त्वेपि स्वार्थप्रतिबद्धत्वाभावाद् व्यभिचारः । २२७. प्रत्ययत्वादित्यनुमाने
निरालम्बनरूपार्थप्रतिबद्धत्वेन बाह्यार्थप्रतिबद्धत्वादिति तात्पर्यम् । २२८. परार्थानुमानप्रत्ययस्य । २२९. जाग्रत्प्रत्यया
लौकिकार्थालम्बनाः प्रत्ययत्वादित्येवम् । २३०. सर्वे प्रत्यया निरालम्बना लौकिकालौकिकार्थालम्बनशून्यप्रत्ययत्वादित्यर्थः ।
२३१. लौकिकालौकिकार्थानाम् । २३२. अस्य प्रकृतानुमानस्य लौकिकार्थालम्बनत्वे स्वयं लौकिकार्थालम्बनत्वेनाभिमत-
जाग्रत्प्रत्ययानामप्यलौकिकार्थालम्बनत्वसिद्धेलौकिकार्थाः सकृत्प्रसज्यन्ते । तेषां च परस्परविरुद्धत्वात्संभवो न भवतीति
भावः । २३३. तयोः, अन्तरङ्गार्थबहिरङ्गार्थतैकान्तयोः । २३४. सर्वे प्रमाणाभासम् । २३५. प्रमाणाभासम् । २३६.
अर्हतः । २३७. स्वरूपसंवेदनस्य । २३८. सत्त्वचेतनत्वाद्याकारेण, न क्षणक्षयादिरूपेण । २३९. तस्य, स्वसंवेदनस्य ।
२४०. स्वसंवेदनप्रत्यक्षम् । २४१. स्वसंवेदनापेक्षया सर्वं प्रत्यक्षमित्यत्र । २४२. चित्तानि ज्ञानानि । तत्र भवाश्चैता
हर्षादयः । २४३. आत्मा, स्वरूपम् । २४४. ननु च स्वसंवेदनप्रत्यक्षं निर्विकल्पकमितरच्च सविकल्पकं प्रमाणाभासमिति ।
तत्कथं प्रमाणाभासनिहव इत्याशङ्कयामाह । २४५. प्रथमपरिच्छेदे विरोधान्नोभयैकात्म्यमित्यादिकारिकाव्याख्यानचरमभागे ।
२४६. सर्वसंवितीनां संवेदनप्रकारेण । २४७. ज्ञानस्य स्वार्थव्यवसायात्मकत्वानभ्युपगमे । २४८. अर्थापत्तिलिङ्गात् । २४९.
तथेष्टत्वाददोष इति मीमांसकीयाशङ्कयामाहुः । तत्, अनुमानम् । २५०. परोक्षज्ञानग्राहकलिङ्गाभावात् । २५१. बुद्धौ ।

२५२. अर्थ-प्राकट्यम् । २५३. लिङ्गस्य । २५४. आह मीमांसकः । २५५. अर्थप्राकट्यात् । २५६. तस्य परोक्षज्ञानस्य ।
२५७. अर्थस्यासिद्धत्वेन प्राकट्यमप्यसिद्धं भविष्यतीत्याशङ्कयामाह । सः अर्थः ।

२५८. इदं मीमांसकवचनं तल्लिङ्गमिष्यते इत्यत्र योजनीयम् । २५९. प्रमातेति शेषः । २६०. अत्राह जैनः । २६१.
अर्थप्राकट्यस्य । २६२. अर्थपरिच्छेदज्ञानादविशेषस्तु । २६३. मीमांसकमते
ज्ञानस्याव्यवसायात्मकत्वादर्थस्याप्यव्यवसायात्मकत्वम् । अतोऽविशेषः । २६४. भवति । २६५. बहिरर्थधर्मस्यार्थप्रकटनस्य ।
२६६. अर्थस्य स्वतः प्रत्यक्षत्वं न स्याच्चेन्मा भूत्, स्वज्ञाने प्रतिभासमानस्यार्थस्य प्रत्यक्षत्वं भविष्यतीत्याशङ्कयामाह । स्वज्ञाने,
परोक्षज्ञाने । २६७. अर्थे । २६८. संतानान्तरज्ञानस्य । २६९. संतानान्तरज्ञानं परोक्षज्ञानमप्यनुमेयम् । २७०. प्राकट्यस्य प्रमातुर्वा
स्वसंविदितत्वात् प्राकट्यस्य करणज्ञानाद्विशेषो भविष्यतीत्याह मीमांसकः । २७१. अर्थप्राकट्यम् । २७२. प्राकट्यम् । २७३.
एतदेव भावयति । स मीमांसकः । २७४. तत इति शेषः । २७५. अर्थप्राकट्यस्य । २७६. इदं विशेष्यं प्राग्भाष्यस्थं
पदमेतत्तत्समनन्तराणि त्रीण्यपि विशेषणानि तदर्थकथनरूपाणि प्रत्येतव्यानि । २७७. आत्मनः अर्थप्राकट्यस्य च । २८१.
अङ्गीक्रियमाणे । २८२. परोक्षज्ञानस्वसंविदितपुरुषयोर्मध्ये परोक्षज्ञानसंविदितार्थप्राकट्ययोर्मध्ये वा । २८३. परोक्षज्ञानेन । २८४.
अर्थप्राकट्यात् । २८५. द्वितीयेन परोक्षज्ञानेन । २८६. करणं मा भूदित्याशङ्क्याह । २८७. आत्मनः स्वरूपस्य क्रियाया
अर्थपरिच्छेदरूपायाः । २८८. चित्स्वरूपतया । २८९. अर्थप्राकट्यस्य । २९०. विभिन्नकर्तृकं कुठारलक्षणं यथा तथा । २९१.
कर्तुरनन्यस्य करणत्वसाधनात् । २९२. अर्थप्राकट्यस्य । २९३. मीमांसकेनाभ्युपगम्यमाने । २९४. पुरुषस्वरूपेण
अर्थप्राकट्यरूपेण च । २९५. अर्थप्राकट्यम् । २९६. घटादिस्वरूपम् । २९७. तर्हीति शेषः । २९८.
अविनाभावाभावादनैकान्तिकत्वादित्यर्थः । दूरव्यवहितार्थस्य ज्ञानाभावेपि भावात् । २९९. परोक्षज्ञानाभावेऽभावो यद्यस्य
प्राकट्यस्यापि तर्हि । ३००. अस्त्वित्युक्ते आह । ३०१. प्रतिनियतदेशादिरूपतया ज्ञानविषयत्वधर्मस्य । ३०२.
परिच्छिद्यमानत्वधर्मणो विशिष्टस्येति कपाठः । ३०३. ज्ञानस्य परोक्षत्वादेवासिद्धिः । ३०४. विशेषणाप्रतीतिरपि कुत इत्युक्ते
ज्ञानासिद्धावित्यादि साधनं वक्तव्यम् ।

३०५. अर्थे । ३०६. अर्थधर्मोर्थप्राकट्यमप्रत्यक्षज्ञाने लिङ्गं न भवतीति समर्थनग्रन्थेन । ३०७. आत्मनः । ३०८.
करणज्ञानस्य । ३०९. परिच्छिद्यमानत्वधर्मविशेषणरहित एव । ३१०. स्वभावः, अर्थप्राकट्यम् । ३११. परोक्षज्ञानहेतुः । ३१२.
यत्र यत्र परोक्षज्ञानं तत्र तत्रार्थप्राकट्यमिति व्याप्तेरभावात् परोक्षज्ञानाभावेपि अर्थरूपदर्शनात् । ३१३. अर्थप्राकट्यस्य
लिङ्गत्वनिराकरणपरेण ग्रन्थेन । ३१४. आदिशब्देन मनः । ३१५. मयि चक्षुरादीन्द्रियमस्ति रूपादिज्ञानान्यथानुपपत्तेरिति । ३१६.
इन्द्रियपरोक्षज्ञानयोः । ३१७. आदिशब्देन भावमनः । (भावेन्द्रियं भावमनो वा ज्ञानरूपमेव, लब्ध्युपयोगयोर्भावेन्द्रियत्वकथनात्,
लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियमिति वचनात् । ज्ञानावरणादिज्ञानरोधककर्मणां क्षयोपशमो लब्धिः । तदनन्तरमर्थपरिच्छेदाय चेतनाव्यापार
उपयोगः) । ३१८. द्रव्येन्द्रियादि हेतुः । ३१९. 'तस्य' इति पाठान्तरम् । ३२०. ज्ञानोत्पत्तिं प्रति । ३२१. अर्थपरिच्छित्तिरूपं
कार्यम् । ३२२. इन्द्रियादेरपि ज्ञानस्य परोक्षत्वसिद्धिर्न भवेद्यतः । ३२३. पूर्वोक्तप्रतिभासस्य । ३२४. सुखेत्यादिग्रन्थेन । ३२५.
हर्षादीनाम् । ३२६. स्थिरसांशत्वप्रकारेण । ३२७. हेत्वन्तरमिदम् । ३२८. आह सौगतः । ३२९. जैनः । ३३०. सर्वथा भ्रान्तः
कथंचिद्वेति विकल्प्य दूषयति जैनः । ३३१. किं च सर्वथायमनुभवो भ्रान्त इति पक्षे बहिरर्थे स्वरूपेपि च स्यात् । ३३२.
स्वप्रावस्थायामिव जाग्रदवस्थायामपि । ३३३. अर्थे एव, न स्वरूपे इत्यर्थः । ३३४. परोक्षज्ञानाविशेषः । ३३५.
वक्ष्यमाणयोर्विकल्पयोरेतनयोः (विकल्पः सर्वथा भ्रान्तः कथंचिद्वेति) । ३३६. विकल्पस्य भ्रान्तत्वेपि प्रत्यक्षत्वमित्युक्ते आह ।
३३७. सर्वथा कथंचिद्वा विकल्पस्य भ्रान्तत्वमिति पक्षयोः परोक्षज्ञानाविशेषस्यानेकान्तसिद्धेरनिवारणं यस्मात् । ३३८.
अन्तःप्रमेयापेक्षया । ३३९. नभसि । ३४०. संवादकत्वादिति पाठान्तरम् । ३४१. एकस्यैव प्रमाणाप्रमाणव्यवस्थारूपतया ।

३४२. जात्यः, उत्कृष्टः । ३४३. बाह्येन जीवलक्षणेनार्थेन सह वर्तते इति सबाह्यार्थः । ३४४.
त्रिरूपलिङ्गप्रतिपादकः शब्दो हेतुशब्दः । तेन तुल्यो वर्तते इति तद्वत् । सौगतमतवच्चावार्कस्यापि धूमादग्नि

प्रतिपद्यमानस्य हेतुरस्तीति न दृष्टान्तसिद्धिः । ३४५. मायादिभ्रान्तिसंज्ञाभिरनैकान्तिको भविष्यति हेतुरिति शङ्कायामाह । ३४६. यसः । ३४७. स्वैरर्थः । ३४८. यथा प्रमोक्तिः, प्रमाणवचनं, प्रमाणेन प्रत्यक्षादिनार्थवती भवति, तथा मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्चेत्यसौ दृष्टान्तो मायावादिन इति द्रष्टव्यः । ३४९. स्वरूपशब्देन जीवादयः शब्दाः परामृश्यन्ते । तेनार्थः स्वरूपाज्जीवादिशब्दाद् व्यतिरिक्तेनेति विषयः । ३५०. निश्चितः । ३५१. अनादिनिधनो जीवः । ३५२. 'विकलवो विह्वलः स्यात्' इत्यमरः । ३५३. प्रसिद्धः । ३५४. आत्मनः । ३५५. 'कार्यस्याचैतन्यस्य' इति पाठेन भाव्यं । ३५६. भोगलक्षणा क्रिया चैतन्यस्य न घटते अचैतन्य(शरीर)कृतकार्यत्वेनाचेतनत्वात् । ३५७. ननु च पृथिव्यादिकार्यमपि चैतन्यं पृथिव्यादेरत्यन्तविलक्षणं भविष्यतीति शङ्कायामाह । ३५८. पृथिव्यादिकार्यम् । ३५९. पृथिव्यादिभ्यः । ३६०. कुतः पृथिव्यादिभ्योत्यन्तवैलक्षण्यमस्तीत्युक्ते हेतुमाह । ३६१. पृथिव्यादिकार्येषु रूपादिसमन्वयदर्शनात् । ३६२. चैतन्यं सत्, भूतमपि सदिति सत्त्वेनोभयत्र समन्वयात् । ३६३. पृथिव्यादितत्त्वानाम् (चैतन्येन सह) । ३६४. अत्राह जैनः । ३६५. सत्त्वादिसमन्वयस्य । ३६६. चार्वाक आह । ३६७. एको यो विकारी पृथिव्यादिः । तेन परस्परं समन्वयाभावात्तदनुस्यूतताभावात् । ३६८. पृथिव्यादीनाम् । ३६९. (सर्वथा) । ३७०. नैयायिकानाम् । ३७१. प्रागभावादिभेदानां परस्परभावरूपैकविकारसमन्वयाभावाद्भेदो यथा सर्वथा । ३७२. जैनः पृच्छति । ३७३. किन्तु नैवेत्यर्थः । ३७४. पृथिव्यादिसकाशादात्मनः । ३७५. अनाद्यनन्तचैतन्यविशिष्टे काये जीवव्यवहारः कथमित्याशङ्क्याह ।

३७६. अन्येष्वनन्यशब्दोयमित्यादिकारिकासु । ३७७. ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगपरिणामकेन । ३७८. सौगतांशङ्का । ३७९. मायादिशब्दानाम् । ३८०. हेतुरूपायाः । ३८१. साध्यस्य । ३८२. अभिप्रेतमात्रसूचिकायाः संज्ञायाः सकाशात् । ३८३. मरीचिकायां जलसंज्ञा तदाभासः । तद्वत् । ३८४. तस्य, नियमस्य । ३८५. करणप्रतिपत्तीनामर्थक्रियानियमो नास्ति । ३८६. नन्वित्याशङ्कायामाह । ३८७. अकिंचित्करत्वात् । ३८८. विरुद्धो न भवेद्यतः । ३८९. हेतुः । ३९०. बाह्येन धूमादिलक्षणेन सह । ३९१. शून्यत्वाविशेषात् । ३९२. सौगतेन । ३९३. अर्थानुभवपूर्विका वासना । वासनापूर्वकः शब्द इति । ३९४. सत्यार्थैकविषयत्वम् । ३९५. मरीचिकायां जलादिलक्षणत्वस्य । ३९६. शुक्तिकायां रजतज्ञानस्योपलम्भात् । ३९७. कार्यकारणव्यभिचारदर्शनम् । ३९८. सूर्यकान्तादेः । ३९९. सत्याम् । ४००. शब्दे । ४०१. तस्य, शब्दस्य । ४०२. कार्यशब्दयोः । ४०३. रागादिमतः । ४०४. अभिसन्धिर्भिमिश्रः । ४०५. अभिधानसामग्रीतो या इतरा अक्षानुमानसामग्री । ४०६. सौगतानाम् । ४०७. प्रत्यक्षानुमानयोः । ४०८. सर्वत्र नाश्वासो यतः । ४०९. सौगतः । ४१०. अक्षलिङ्गसंज्ञानां स्वार्थव्यभिचारलक्षणदोषाविशेषेपि । ४११. निर्विकल्पके । ४१२. अन्यतमे, संज्ञेयव्यभिचारिणि । ४१३. अन्यापोहः स उपादानमाश्रयोऽस्याः संज्ञायाः । ४१४. अक्षलिङ्गसंज्ञासु मध्ये । ४१५. (द्वेषेणेश्वरस्य) । ४१६. जैनः । ४१७. संज्ञायाः । ४१८. स्वरूपपररूपाभ्याम् । ४१९. घटलक्षणसंज्ञया घटलक्षणार्थाश्रयत्वसंभवे सति पररूपेण पटादिलक्षणेनासत्त्वसंभवः । स्वद्रव्यापेक्षया भावोपादानत्वे सति परद्रव्यापेक्षया अभावोपादानत्वं घटेत नान्यथेति भावः । ४२०. संज्ञानाम् । ४२१. इतरः, अभावः । ४२२. सर्वत्रेत्यादिप्रवृत्तिरिति पर्यन्तेन ग्रन्थेन ।

४२३. वास्तवार्थस्यानुपपद्यमानत्वादिवासनोद्भूतविकल्पपरिकल्पितरूप एवार्थः । ४२४. घटलक्षणसंज्ञाया घटलक्षणार्थाश्रयत्वसंभवे सति पररूपेण पटादिलक्षणेनासत्त्वसंभव इति भावाभावोभयाश्रितः । ४२५. कथं प्रत्युक्तमित्याह । ४२६. शब्दस्य । ४२७. वासना अनुभवपूर्विका, अनुभवश्चार्थप्रतिबन्धक इति । ४२८. अस्यार्थस्यायं शब्दो वाचक इत्येवंविधायाः । ४२९. परार्थानुमानरूपशब्दवासनायाः । ४३०. साधनं, यथा धूमः । ४३१. वासनाया अनादित्वादवस्थाश्रयत्वं यतः । ४३२. अङ्गीक्रियमाणे । ४३३. कारिकोक्तानुमाने लोके वा । ४३४. वादिनम् । ४३५. निरतिशयत्वादस्वभावेन सांख्यादिकल्पितेन, प्रतिक्षणभिन्नस्वभावेन च सौगतपरिकल्पितेनात्मना जीवशब्दः सबाह्यार्थो भविष्यतीत्याशङ्कायामाह । ४३६. नित्यरूपस्यापरिणामिन इत्यर्थः । ४३७. योगापेक्षया । ४३८. ब्रह्मवाद्यपेक्षया । ४३९. सौगतापेक्षया । ४४०. परमताभिमतं जीवशब्देन । ४४१. बौद्धाशङ्का । ४४२. इन्द्रजालादिभिः । ४४३. प्रमाणवचनस्य प्रमाणलक्षणो ज्ञानलक्षणो बाह्यार्थो यथा । ४४४. भ्रान्तिविषया विशिष्टा

असाधारणरूपा प्रतिपत्तिः । 'विशेषार्थ' इति वा पाठः । ४४५. भ्रान्तिरूपायाभावे । ४४६. भ्रान्तिसमाख्यातः । ४४७. विशिष्टोत्पन्नभ्रान्तिरूपायाः । ४४८. तथा च सर्वभ्रान्त्यभावात्सर्वबाह्याभ्युपगमस्यापि प्रमाणत्वप्रसङ्ग इत्यर्थः । ४४९. स्वार्थो, ज्ञानलक्षणः । ४५०. अङ्गीक्रियमाणे । ४५१. असदर्थस्य । ४५२. ततश्च प्रमाणशब्दस्य स्वार्थविशेषसहितत्वमिति भावः । ४५३. तद् विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वम् । ४५४. स्वार्थोत्राभावरूपः । ४५५. अभावरूपतया विशिष्टा असाधारणरूपा प्रतिपत्तिः । ४५६. विशिष्टप्रतिपत्तिहेतुत्वाभावे । अभावलक्षणस्वार्थरहितत्वं यदि तर्हीत्यर्थः । ४५७. संज्ञात्वस्य हेतोः ।

४५८. बुद्धिश्च शब्दश्चार्थश्च तेषां संज्ञाः । बुद्ध्यादेर्विषयस्य बोधा बुद्ध्यादिसंज्ञाजनितास्त्रयो बुद्ध्यादिविषयप्रतिबिम्बकाः । ४५९. बोधाद्येत्यत्र चशब्दोपिशब्दार्थः । तेन न केवलं बुद्ध्यादिशब्दा इति समुच्चयः । बुद्ध्यादिप्रतिपादकत्वेन तुल्याः सन्ता इत्यर्थः । ४६०. मौमांसकाः । ४६१. प्रत्ययो ज्ञानम् । ४६२. त्रयाणां जीवसंज्ञात्वे सति । ४६३. बुद्धिपदार्थकः शब्दपदार्थकश्च नेत्यर्थः । ४६४. जीवशब्दोर्थपदार्थक एव सबाह्यार्थो, न तु बुद्धिशब्दपदार्थक इत्युक्तं यतः । ४६५. बुद्धिशब्दायादेविशेषविरहेण । ४६६. मौमांसकाः । ४६७. 'शब्दस्य' पाठान्तरम् । ४६८. ननु चार्थपदार्थकादेव जीवशब्दाज्जीवार्थकस्य प्रतिबिम्बको बोधः प्रादुर्भवति, न तु बुद्धिशब्दपदार्थकाद्बुद्धिशब्दकात् । ततः कथं जीवशब्दो बुद्धिशब्दपदार्थकस्तद्वाचक इत्युक्ते आह । ४६९. वाक्ये । ४७०. बुद्धिस्वरूपकाज्जीवशब्दात् । ४७१. ज्ञानरूपस्य । ४७२. जीवशब्दात् । ४७३. बोधः । ४७४. त्रिधापि बोधः प्रादुर्भवति यतः । ४७५. बुद्ध्यादिश्लोकेन । ४७६. श्रीसमन्तभद्रस्वामी । ४७७. अस्तं नयति । ४७८. तस्य बुद्ध्यादेः । ४७९. ततश्चाव्यभिचारी हेतुरिति फलितम् । ४८०. बुद्धिशब्दपदार्थकाज्जीवशब्दात् । ४८१. संज्ञात्वादिति हेतोः । ४८२. योगाचारम् । ४८३. हेतुशब्दवदिति । ४८४. हेतुशब्दस्य । ४८५. संज्ञाया अवभासने यज्ज्ञानं तत्संज्ञावभासज्ञानम् । जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञाभास(शब्दाकार)ज्ञानत्वादिति । ४८६. शब्दाभासः, शब्दाकारः । ४८७. शब्दाकारस्वप्रज्ञाने सबाह्यार्थत्वाभावात् । ४८८. योगाचारः । ४८९. यदा सौगतः पूर्वपक्षवादी तदानीं वक्ता जैनादिः । श्रोता यदा जैनादिस्तदा वक्ता सौगतादिः । ४९०. वक्तरि बोधो वाक्यस्य कारणं, श्रोतरि कार्यं वाक्यम् । कार्यं कारणं चैतद्वाक्ययुक्तयुक्तविचारप्रमाणान्ताः पृथग्भ्युपगन्तव्याः । वीप्सापदमेतत् । पृथक् पृथक् अवभासन्ते इत्यध्याहारः, अन्यैकस्मिन्ज्ञानेवभासनाज्ञानमेव यदवभासते तज्ज्ञानमिति वचनात् । ४९१. ननु बोधवाक्यप्रमास्तिस्रो भ्रान्ता एव चेत्तर्हि प्रमाणमपि भ्रान्तं स्यात् । अस्तु । को दोष इत्युक्ते आह ।

४९२. वक्त्रादित्रयस्य बोधादित्रयं पृथग्भूतमुपेयमित्यस्यानन्तरम्, अन्यथाशब्दस्ततो वक्तुरभिधेयेत्यादिवाक्यं द्रष्टव्यम् । वक्तरि वाक्यं श्रोतरि बोधः, प्रमातरि प्रमाणमिति युक्त्या वक्तृश्रोतृप्रमातृणां बोधवाक्यप्रमा भिन्ना एवेति तात्पर्यार्थः, इति टिप्पण्यन्तरम् । ४९३. वाक्यस्य । ४९४. अभिधेयज्ञानस्य । ४९५. तद्, वाक्यम् । ४९६. इष्टं विज्ञानम् । ४९७. हेतुशब्दवदित्यस्य । ४९८. वक्त्राद्याकारायाः । ४९९. वक्त्रादित्रयं बुद्धेः पृथग्भूतं न भवेद्यतः । ५००. बसः । ५०१. इति यन्मतं तत्र सम्यगित्यर्थः । ५०२. वक्तुः श्रोतुश्च । ५०३. स्वांशो, ज्ञानम् । ५०४. रूपादीनाम् । ५०५. अन्तर्ज्ञेयो, ज्ञानाद्वैतम् । ५०६. रूपादिचत्वारि पदानि भिन्नानि ग्राह्याणि । ५०७. ज्ञानानां स्वांशमात्रावलम्बिनां स्वरूपागमकत्वात् । ५०८. स्वांशमात्रावलम्बिज्ञानस्य । ५०९. सौगतमते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तमिति वचनात् । ५१०. ज्ञानाद्वैतम् । ५११. स्वग्राहिज्ञानापेक्षया ज्ञानस्य बाह्यार्थत्वम् । ५१२. प्रमाणाप्रमाणरूपयोः । ५१३. अन्तर्ज्ञेयमिष्टं, बहिर्ज्ञेयमनिष्टं च । ५१४. अन्तर्ज्ञेयबहिर्ज्ञेयरूपायी । ५१५. स्वज्ञानग्राहकापेक्षया । ५१६. अन्तर्ज्ञेयैकान्ताभ्युपगमः । ५१७. बुद्धेः शब्दस्य च प्रमाणत्वम् । ५१८. बाह्यार्थे सति नासतीत्येवंप्रकारेण ।

५१९. ज्ञानस्य स्वसंवेदनप्रयोजनकत्वादित्यर्थः । ५२०. अयं घटोयं पट इति कथनप्रयोजनकत्वादित्यर्थः । ५२१. ननु च बुद्ध्यात्मकमेव स्वपरप्रतिपत्त्यर्थं भविष्यतीति किं शब्दात्मकेनेत्यत्राह । ५२२. असति बहिरर्थे साधनस्येति संबन्धनीयम् । ५२३. बुद्धिशब्दात्मकस्य साधनस्य । ५२४. ग्राहकापेक्षया बहिरर्थे ज्ञानरूपेऽज्ञानरूपे वा । ५२५. एवम् । ५२६. बुद्धिः स्वपरपक्षसाधनदूषणात्मिका, शब्दश्च तथाविधः । ५२७. अर्थप्राप्त्यनाप्तिभ्यां बुद्धिशब्दयोः सत्यासत्यरूपतया । ५२८. सत्यानृतव्यवस्था युज्यते यस्मात् । ५२९. अविनाभावरूपः । ५३०.

अनुमाने । ५३१. ग्राहकज्ञानापेक्षया ग्राह्यमपरं ज्ञानं बहिरर्थं भवति । घटादिबहिरर्थस्तु बहिष्त्वे प्रसिद्ध एव । ५३२. साध्ये सत्येव हेतुर्द्विविधः—अन्यथानुपपन्नत्वलक्षणस्तथोपपन्नत्वलक्षणश्च । ५३३. बहिरर्थाभावेऽपि साधनदूषणप्रयोगो यदीत्यर्थः । ५३४. पुरुषेण अनुमानादिना वा । ५३५. भाष्यस्थितान्यद्वाशब्दस्यार्थोऽयम् । किं तदन्यदिति । ५३६. अन्तर्ज्ञेयबहिर्ज्ञेयलक्षणस्य । ५३७. सहोपलम्भः, अविनाभावः । ५३८. किं साधितं स्यादिति अत्र संबन्धो ज्ञेयः । ५३९. न किमपि साधितं स्यादिति भावः । ५४०. स्वप्नसाध्यवत् । ५४१. वादिना साधनेन वा । ५४२. कुत इत्यादिभाष्यांशं भावयन्नाह । ५४३. अन्यद्वा इति भाष्यांशं विवृण्वन्नाह । संतानान्तरमेव नाभ्युपगम्यते तत्कथं न केनचित्साधितं स्यादित्युक्ते आह । ५४४. आदिशब्देन वेद्याद्याकारशून्यत्वं ग्राह्यम् । ५४५. विज्ञप्तिमात्रसंविदद्वैतबहिरर्थजातादिषु । ५४६. साधनदूषणप्रयोगः । ५४७. ज्ञानज्ञेयरूपः । ५४८. सौगतकल्पनायाम् । ५४९. सर्वस्य विभ्रान्तत्वसिद्धिरपि त्वदिष्टा तत्त्वज्ञानसद्भावात् । ५५०. तत्त्वज्ञानस्यापि भ्रान्तत्वस्वीकारे । ५५१. त्वदनिष्टस्य निराकरणापत्तिर्यथा तथा अभिसंहितस्य-अभिमतस्या(त्वदिष्टस्येत्यर्थः)पि । ५५२. न केवलं बहिरर्थस्य किन्तु त्वदिष्टस्यापि । ५५३. परमाणवः सन्ति किन्तु भ्रान्ता इत्यत्र । ५५४. तत्त्वज्ञानं यदि शरणं न स्यात् । ५५५. अतत्त्वज्ञाननिश्चितम् । ५५६. सर्वत्र योज्यमित्यादिना ।

५५७. योगाचारः । ५५८. तस्य साधनदूषणप्रयोगादिति हेतोरसिद्धत्वं यत् स्वयमिष्टं, तस्य, तस्यैव हेतोः सिद्धिः स्वयमनिष्टा, तस्यापि । ५५९. इष्टानिष्टसाधनाव्यवस्थितेः । ५६०. सर्वज्ञानानां भ्रान्तत्वात् । ५६१. दृष्टस्य अवयव्यादिभेदयुक्तस्य बहिरर्थस्य । ५६२. स्वरूपेण । ५६३. दृष्टान्तं विवृणोति ५६४. अदृश्यपरमाणुरूपत्वप्रकारेण । ५६५. अन्तर्ज्ञेयवदिति पूर्वमुक्तम् । ५६६. बहिः परमाणुषु । ५६७. वृत्तिः संबन्धः (अवयविरूपेण परिणामसमये) । ५६८. परो जैनो वैशेषिकादिश्च तस्य पक्षः परमाण्वाद्विस्तस्योपालम्भे निराकरणे । ५६९. स्वपक्षः सौगतपक्षः । सौगतपक्षे हि ज्ञानसंताना एव, ते च क्षणिका अनन्यवेद्याश्च, तस्याक्षेपो निराकरणम् । ५७०. एतदेव भावयन्ति । तस्य परपक्षोपालम्भस्य । ५७१. परमार्थतः परपक्षनिराकरणं न स्यादित्यर्थः । ५७२. बहिःपरमाणवो जैनापेक्षया, संवित्परमाणवस्तु योगाचारापेक्षया । ५७३. भाष्यार्थः । ५७४. संतानान्तरमिष्टमतः प्रतिषिध्यते जैनैः । ५७५. परमाणूनां सम्बन्धे । ५७६. परमाणुषट्कस्य । संतानान्तरे वासनाभेदो नेष्टः । संतानान्तरं पारमार्थिकं बाह्यार्थस्त्वपारमार्थिकः । ५७७. स्कन्धस्य बहिःपरमाणुप्रचयस्य संवित्परमाणुप्रचयस्य चेति संबन्धः । ५७८. अवस्थितिर्न स्यात् । ५७९. संसृष्टैः परमाणुभिः प्रचयस्योपकारो व्यवहितैर्वैति पक्षद्वयं कृतम् । ५८०. प्रथमपक्षे संसर्गासंभवः एकदेशेन सर्वात्मना वेत्युक्तदूषणात् । ५८१. व्यवधानपक्षे । ५८२. स्वपक्षः संवित्परमाणुरूपो बौद्धपक्षः । ५८३. 'च' मुद्रितप्रतौ नास्ति । ५८४. घातिः मुद्रितप्रतौ पाठः । ५८५. सौगतीयस्यैव पक्षस्य घातिर्न तु जैनीयस्येति कथमित्युक्ते आह । ५८६. प्रोक्ताशेषदोषस्य । ५८७. एकत्रैव सूक्ष्मत्वं चेत्स्थूलत्वं कथमित्येवं प्रकारेण । ५८८. जीवे यथैषां वृत्तिविकल्पानवकाशः । ५८९. सौगताशङ्का । ५९०. जैनैः परिहारः क्रियते । ५९१. स्वेष्टं चित्रकज्ञानादिलक्षणं, तत्रापि सर्वथा विरोधो न संभवतीत्यर्थः । यतो ज्ञानत्वाद्यपेक्षया युगपदेनकाकारयोः परस्परविरुद्धयोस्तत्र सद्भावात् । ५९२. नीलपीताद्यपेक्षया न तु ज्ञानापेक्षया विरोधः, अयमेव कथंचिद्विरोधः । ५९३. विमतिर्विवादः । ५९४. स्वरूपव्यतिरिक्तो बहिरर्थ एव । अनुमानज्ञानं यथा अयमेव कथंचिद्विरोधः । ५९५. विप्लवज्ञानं भ्रान्तं, यथा द्विचन्द्रज्ञानं स्वप्नज्ञानं च । ५९५. (क) संतानान्तरलक्षणबाह्यार्थालम्बनम् । ५९५. विप्लवज्ञानं भ्रान्तं, यथा द्विचन्द्रज्ञानं स्वप्नज्ञानं च । ५९५. (क) स्वव्यतिरिक्तालम्बनत्वाभावाद्धेतोः । ५९६. (१) स्वप्नदशायां विप्लुतव्यापारादिसाधनेन । (२) व्यापारव्याहारनिर्भासस्य । (३) अस्त्यत्र बुद्धिव्यापारादिनिर्भासादित्यनुमानेन । ५९७. निर्भासोऽपि मुद्रितप्रतौ पाठः । ५९८. स्वप्नदशायाम् । अपि त्वस्त्येवेत्यर्थः । संतानान्तरसाधने हेतुरयम् ।

५९९. ज्ञाने ग्राह्यग्राहकाकारत्वं वासनाभेदादेव, न तु बहिरर्थसद्भावादित्युक्ते आह । ६००. त्वया विज्ञानाद्वैत-वादिना सौगतेन । ६०१. जाग्रददशायां । ६०२. संतानान्तरग्राहकज्ञानस्य । ६०३. स्वप्नाद्युपप्लवदशायाम् । ६०४-५. संतानान्तरस्वसंतानलक्षणक्षयादिसाधनमनुमानरूपम् । ६०६. वक्तृश्रोतृप्रमातृणां बोधवाक्यप्रमाः पृथक् इति कारिकोक्तम् । ६०७. हेतुशब्दवदिति । ६०८. नेति पूर्वेण संबन्धः । संज्ञात्वस्य हेतोरसिद्धतानैकान्तिकता च न,

हेतुशब्दवदिति, उक्तस्य दृष्टान्तस्य साधनधर्मादिवैधुर्यमपि नेति भावार्थः । ६०९. किंतु स्यादेव जीवसिद्धिः । ६१०. जीवस्य । ६११. ज्ञानरूपे । ६१२. संवादः सत्यता । ६१३. पूर्ववत् । ६१४. एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेदिति अतिदिष्टवचनबलात् । ६१५. सप्तभङ्गोपरीक्षायाः । ६१६. प्रमाणात् । ६१७. तद् ज्ञापकोपायतत्त्वम् । ६१८. पुंसः । ६१९. अस्मिन् परिच्छेदे बौद्धाभिमतस्य ज्ञानैकान्तस्योपपत्तिपूर्वकं निरासः कृतः । अथवा हिताहितप्राप्तिपरिहारयोः साधनपूर्वकत्वात्, तत्साधनस्य ज्ञापककारकभेदाद् द्वैविध्ये ज्ञापकमुपायतत्त्वमत्र निर्णीतम् । तत्र केचन बौद्धा हि बहिरुपेयतत्त्वमनादृत्य केवलमुपायतत्त्वं ज्ञानमेव स्वीकुर्वन्ति, तत्तु न समञ्जसं, बहिरुपेयाभावे ज्ञापकस्योपायस्य वाऽसत्त्वापत्तेः, आत्मन उपेयस्य स्वीकारेपि ज्ञानेनाभेदात्तादात्म्याद्वा आत्मार्थं तत्स्वीकारस्य वैयर्थ्यात्, तस्य ज्ञानसत्त्वेन स्वतः सत्त्वसिद्धेरुपायत्वेन तत्र ज्ञानस्यानुपयोगात् । किञ्च, न बहिरर्थाभावः सिध्यति, बहिरर्थस्य ज्ञाने सत्यपि भ्रान्तत्वे ज्ञानस्वरूपस्यापि भ्रान्तत्वसाधनादुभयत्राविशेषात् । स्वप्नवद्बहिरर्थस्य दृश्यमानस्य भ्रान्तत्वे जाग्रद्विषयवदभ्रान्तमपि तस्य सिध्यतु, अन्यथा स्वप्नजाग्रदशयोरविशेषे स्वप्नविषयस्य दृष्टान्तत्वाघटनात् । किं च परप्रतिपादनं विना ज्ञानाद्वैतमपि कथं सिध्येत् ? प्रतिपादनस्य च पुद्गलकृतशब्दात्मकबहिरर्थरूपत्वात् तदद्वैतं श्रेयः । बहिरर्थत्वेन शब्दस्य मिथ्यात्वे तत्प्रतिपादितस्य ज्ञानाद्वैतस्यापि मिथ्यात्वमस्तु, साधनस्य मिथ्यात्वे तेन साधितस्यापि मिथ्यात्वाविशेषात् । इत्यादिप्रकारेणात्र ज्ञानाद्वैतता निरसिता ।

अथ अष्टमः परिच्छेदः

ज्ञापकमुपायतत्त्वं समन्तभद्राकलङ्कनिर्णीतम् ।

सकलैकान्तोसंभवमष्टसहस्री निवेदयति ॥ १ ॥

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषतः कथम् ।

दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत् ॥ ८८ ॥

६४१. कारकलक्षणमुपायतत्त्वमिदानीं परीक्ष्यते । तद्धि केचिदैवमेव दृष्टादृष्टकार्यस्य साधनमित्याचक्षते, पौरुषमेवेत्यपरे । किंचिदैवादेव किंचित्पौरुषादेवेत्यन्ये । तदुभयसाधनत्वेनावक्तव्यमेवेति चेतरे । तत्र दैवादेव यदि सर्वस्यार्थस्य सिद्धिरुच्यते, तदा दैवमपि कथं पुरुषव्यापारात् कुशलाकुशलसमाचरणलक्षणादुपपद्येत, प्रतिज्ञाहानेः, देवान्तरादेव दैवं, न पौरुषादित्यभ्युपगमेऽनिर्मोक्षो मोक्षाभावः, पूर्वपूर्वदैवादुत्तरोत्तरदैवप्रवृत्तेरनुपरमात् । ततः पौरुषं निष्फलं भवेत् । पौरुषादैवस्य परिक्षयान्मोक्षप्रसिद्धेर्न तन्निष्फलमिति चेत्, सैव प्रतिज्ञाहानिः । मोक्षकारणपौरुषस्यापि दैवकृतत्वात् परम्परया मोक्षस्यापि दैवकृतत्वोपपत्तेर्न प्रतिज्ञाहानिरिति चेत्, तर्हि पौरुषादेव तादृशं दैवमिति न दैवैकान्तः ।

६४२. एतेन धर्मादेवाभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरित्येकान्तः प्रतिक्षिप्तः, महेश्वरसिद्धिर्ज्ञानार्थव्यप्रसङ्गाच्च ।

६४३. कुतस्तर्हि समीहितार्थसिद्धिरित्युच्यते ? योग्यता पूर्वं कर्म वा दैवमुभयमदृष्टं, पौरुषं पुनरिह चेष्टितं दृष्टम् । ताभ्यामर्थसिद्धिः, तदन्यतरापायेऽघटनात्, पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनाद्, दैवमात्रे वा समीहानर्थव्यप्रसङ्गात् । स्वयमप्रयतमानस्य सर्वमिष्टानिष्टमदृष्टमात्रादेव, प्रयतमानस्य तु प्रयत्नाख्यात् पौरुषादेव दृष्टादिति वदन्नपि न प्रेक्षावान्, कृष्यादिषु समं प्रयतमानानां कस्यचिदेवार्थप्राप्त्यनर्थोपरमदर्शनादपरस्यानर्थप्राप्त्यर्थप्राप्त्यर्थोपरमप्रतीतेः, धर्माधर्मयोरपि तन्निमित्तत्वसिद्धेः । स्वयमप्रयतमानानार्थप्राप्त्यनर्थोपरमयोरनर्थप्राप्त्यर्थोपरमयोश्च सद्भावेपि प्रयत्नाभावेन उपभोग्यत्वप्रसङ्गात् पौरुषस्यापि तदनुभवकारणत्वनिश्चयात् सर्वत्र दृष्टादृष्टयोर्निमित्तत्वसिद्धिस्तयोरन्यतरस्याप्यपाये तस्यानुपपद्यमानत्वात्, मोक्षस्यापि परमपुण्यातिशयचारित्रविशेषात्मकपौरुषाभ्यामेव संभवात् । ततो न पाक्षिकोपि दैवैकान्तः श्रेयान् ।

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ?

पौरुषाच्चैदमोघं स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥ ८९ ॥

६४४. पौरुषादेवार्थस्य सिद्धिरिति वदतोपि कथं पौरुषं दैवतः स्यात् ? प्रतिज्ञाहानिप्रसङ्गात् । तद्धि पौरुषं विना दैवसंपदो न स्यात्, 'तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः । सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥' () इति प्रसिद्धेः । तत्सर्वं बुद्धिव्यवसायादिकं पौरुषं पौरुषापदितमिति चेत्, तर्ह्यमोघमेव सर्वप्राणिषु पौरुषं भवेत् । तथैवेति चेत्, तद्व्यभिचारदर्शिनो न वै श्रद्धधीरन् ।

६४५. स्यान्मतेतत्—पौरुषं द्विविधं, सम्यग्ज्ञानपूर्वकं मिथ्याज्ञानपूर्वकं च । तत्र मिथ्याज्ञानपूर्वकस्य पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनेपि सम्यग्बोधनिबन्धस्य न व्यभिचारः । ततः सफलमेव पौरुषमिति, तदसत्;

दृष्टकारणसामग्रीसम्यगवबोधनिबन्धनस्यापि पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनात्, कस्यचिदुपेयाप्राप्तेरदृष्ट-
कारणकलापसम्यगवबोधस्य तु साक्षादसकलविदामसंभवात्, तन्निबन्धनपौरुषाभावात् । प्रमाणान्तरात्तदवबोधस्य
संभवेऽपि किमसावदृश्यकारणकलापः कारणशक्तिविशेषः पुण्यपापविशेषो वा ? प्रथमपक्षे तत्सम्य-
गवगमनिमित्तकस्यापि पौरुषस्य व्यभिचारदर्शनान्नामोघत्वसिद्धिः । द्वितीयपक्षे तु दैवसहायादेव पौरुषात्
फलसिद्धिः, दैवसदवगमनिबन्धनादेव पौरुषादुपेयप्राप्तिव्यवस्थितेः । तदपरिज्ञानपूर्वकादपि कदाचित्फलोपलब्धेश्च
न सम्यगवबोधनिबन्धनः पौरुषैकान्तः, इत्यसौ परित्याज्य एव, दैवैकान्तवत् ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेष्युक्तिर्नवाच्यमिति युज्यते ॥ ९० ॥

६४६. दैवेतरयोः सहैकान्ताभ्युपगमे व्याघातादवाच्यतायां च स्ववचनविरोधात् स्याद्वादनीतिः
श्रेयसी, तद्विषां प्रमाणाविरुद्धाभिधायित्वात् । कीदृशी स्याद्वादनीतिरत्रेत्याहुः—

अबुद्धिपूर्वपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।

बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

६४७. ततोऽर्कितोपस्थितमनुकूलं प्रतिकूलं वा दैवकृतं, बुद्धिपूर्वपेक्षापायात् । तत्र
पुरुषकारस्याप्रधानत्वात्, दैवस्य प्राधान्यात् । तद्विपरीतं पौरुषापादितं बुद्धिपूर्वव्यपेक्षानपायात्, तत्र दैवस्य
गुणभावात् पौरुषस्य प्रधानभावात्, न पुनरन्यतरस्याभावात् । अपेक्षाकृतत्वात्तद्व्यवस्थायाः । तर्थापेक्षानपाये
परस्परं सहायत्वेनैव दैवपौरुषाभ्यामर्थसिद्धिः । इति ।

६४८. स्यात्सर्वं दैवकृतमबुद्धिपूर्वपेक्षातः । स्यात्पौरुषकृतं बुद्धिपूर्वपेक्षातः, स्यादुभयकृतं
क्रमार्पिततद्व्यात्, स्यादवक्तव्यं सहार्पिततद्व्यात्, स्यादैवकृतावक्तव्यमबुद्धिपूर्वपेक्षया सहार्पिततद्व्यात्,
स्यात्पौरुषकृतावक्तव्यं बुद्धिपूर्वपेक्षया सहार्पिततद्व्यात्, स्यात्तदुभयावक्तव्यमेव क्रमेतरार्पिततद्व्यात् । इति
सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववत् (योजनीया) ।

दैवैकान्तादिपांशुप्रसरनिरसनाद् भूतसामर्थ्यवृत्तिः

सन्मार्गव्यापिनीयं पवनततिरिवाज्ञानखेदं हरन्ती ।

बन्धं प्रध्वंसमर्द्धां सकलमपि बलादानयन्ती नितान्तं

नीतिः स्याद्वादनीर्द्धां दृगवगमभृतां निर्वृतिं वः प्रदेयात् ॥ ९१ ॥

इत्याप्तमीमांसा लङ्कृतावष्टमः परिच्छेदः ।

अष्टमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. उपायतत्त्वं ज्ञापकं कारकं चेति द्विविधं, तत्र ज्ञापकं प्रकाशकमुपायतत्त्वं ज्ञानं, कारकं तूपायतत्त्वमुद्योगदैवादि । २. समन्तभद्रैः कलङ्करहितं यथा भवति तथा निर्णीतं, समन्ताद्भद्रं यथा भवति तथा अकलङ्कदेवैर्निर्णीतमिति अर्थद्वयमत्र ज्ञेयम् । ३. अत्र एकान्तपक्षा यथा दैवादेवार्थसिद्धिर्न पौरुषात्, पौरुषादेव वा न दैवादित्येवं, तदेव च वक्ष्यते मूलकारिकाग्रन्थेन पुरस्तादेव । ४. अर्थः प्रयोजनम् । ५. पुरुषव्यापारात् । ६. यतो दैवमपि कार्यमेवैकप्रकारकं ततस्तदपि पौरुषात्कथं सिध्येत्, कार्यमात्रस्य दैवाधीनत्वप्रतिज्ञान्यथा विरोधादिति भावः । ७. मोक्षकारणत्वेनाभिमतम् । ८. ज्ञापकोपायतत्त्वपरीक्षानन्तरम् । ९. मीमांसकाः । १०. सौगताः । ११. स्वर्गादिकम् । १२. कृष्यादिकम् । १३. मीमांसकविशेषाः । १४. मोक्षाभावो यतः । १५. मोक्षनिमित्तम् । १६. दैवादेव सर्वमुत्पद्यते इति या प्रतिज्ञा सा हीयते, पौरुषान्मोक्षप्राप्तिस्वीकारात् । १७. इति मीमांसकेनाशङ्क्येत चेत्तर्हीत्यं वक्ष्यमाणमुत्तरं जैनैर्दीयते इति भावः । १८. पौरुषादेव तादृशं दैवमित्यनन्तरोक्तेन वचनेन । १९. अज्ञो जन्तुरनीशोयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ इत्यादिप्रकारेणोक्तवचनेन कल्पिताया महेश्वरसिसृक्षाया निष्फलत्वप्रसङ्गात्, यतः सृष्ट्युत्पत्तेर्दैवाधीनत्वान्महेश्वरस्य तत्कारणत्वं कथं घटते ? २०. जैनं दैववादी पृच्छति । दैवपौरुषयोरैकमपि कारणं नानुमन्यते, तर्हि कथं समीहितसिद्धिरिति प्रष्टुमिच्छति । २१. योग्यता (भव्यता), पूर्वकर्म दैवमदृष्टमिति घटकलशवत्पर्यायनामानि । २२. कर्म पूर्वं वा मु० पाठः । २३. शुभाशुभलक्षणो व्यापारः । प्रतिपाद्यते इत्यध्याहारः । इह चेष्टितदृष्टपौरुषादीन्यपि पर्यायनामानि । २४. ईशेच्छात्र समीहा ।

२५. सर्वमिष्टानिष्टं सिध्येदित्यध्याहारः । २६. पौरुषाभावे । २७. इष्टानिष्टयोः सुखदुःखयोर्वा । २८. न केवलं प्राक्तनदैवैकान्तो न श्रेयान्, किंतु स्वयमप्रयतमानस्य सर्वमिष्टानिष्टमदृष्टमात्रादेवेति पक्षसमुद्भूतोपि न निर्दोषः । २९. पौरुषमपि पौरुषादेवोत्पद्यते इति मतं चेतदा । ३०. सर्वं कार्यं कृतं सत्सफलं भवेत् । ३१. चार्वाकस्य । ३२. चेत् स्यात्तर्हि । ३३. पुण्यपापसामग्र्या । ३४. पौरुषे कृतेपि तत्फलप्राप्त्यविनाभावाभावं पश्यन्तः । ३५. चार्वाकस्य । ३६. कृष्यादिकर्मणि । ३७. तर्हि अदृष्टकारणकलापस्य सम्यगवबोधात्पौरुषं सफलं भवेदिति चार्वाकशङ्कायामाह । अदृष्टः अदृश्यतां प्राप्तः स चासौ कारणकलापश्च । अयमेवार्थश्चार्वाकपक्षे ग्राह्यः । अदृष्टं पुण्यपापलक्षणं, तच्चासौ कारणकलापश्चेत्यर्थोपि संभवति, किंतु नासावर्थश्चार्वाकोक्तवचनस्य ग्राह्यः, तेन कर्मणोऽस्वीकारात् । ३८. प्रत्यक्षेण । ३९. अल्पज्ञानम् । ४०. अनुमानादेः । ४१. अदृष्टशब्दस्य यदुपर्यर्थद्वयं दर्शितं तदेवात्र पक्षद्वयेन विचार्यते । ४२. कस्यचित्कारणस्य शक्तिविशेष एव, किन्तु चक्षुरादिना द्रष्टुमशक्यः ।

४३. तदुदाहरणं यथा, क्षीणायुष्के पुंसि औषधशक्तिसम्यगवगमनिमित्तकस्यापि तत्पानादिपौरुषस्य नोपयोगो भवतीति तत्र तदव्यभिचारः स्वीकर्तव्यः । ४४. पूर्वं कारणम् । तच्छब्देन दैवं परामृशन्ति । बसे कृते पौरुषादित्यर्थो निष्पद्यते । ४५. दैवपौरुषैकान्तयोः पृथक् पृथक् कार्यापेक्षया ऐकात्म्यं मीमांसकैरभ्युपगतम् । ४६. दैवैतैकान्तयोः पक्षे । ४७. अचिन्तितोपढौकितम् । ४८. तर्कितोपस्थितम् । ४९. दैवपुरुषार्थयोर्मध्ये । ५०. कुतः ? तथा हि, तयोः दैवपौरुषयोर्व्यवस्था अन्योन्यकृता यतः । ५१. इतरसम्भावप्रकारेण ।

५२. झटिति । ५३. प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशा इति चतुःप्रकारं समस्तं कर्मबन्धम् । ५४. इन्द्रा वर्धमाना । ५५. दृक् सम्यग्दर्शनम्, अवगमो ज्ञानं, चारित्रं तूपलक्षणतयात्र ग्राह्यम् । तत्रयधारकाणां निर्वृतिः, मोक्षः, ताम् ।

अथ नवमः परिच्छेदः

सम्यग्बोधपूर्वं पौरुषमपसारिताखिलानर्थम् ।

दैवोपेतमभीष्टं सर्वं संपादयत्याशु ॥ १ ॥

पापं ध्रुवं परं दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि ।

अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः ॥ १२ ॥

६४८. द्विविधं हि दैवम्—पुण्यं पापं च प्राणिनामिष्टानिष्टसाधनमुक्तम्, 'सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्', इतस्तु पापम्' इति वचनात् (त० सू० ८.२५-२६) । तदास्रवनिमित्तविप्रतिपत्तिविपत्त्यर्थमिदमुक्तम् । तत्र परसंताने दुःखहेतुः पुरुषः पापमात्मन्यास्रवयति सुखहेतुः पुण्यमिति परत्र सुखदुःखोत्पादनात् पुण्यपापबन्धैकान्ते कथमचेतनाः क्षीरादयः कण्टकादयो वा न बध्येरन् ? परस्मिन् सुखदुःखयोरुत्पादनात् । चेतना एव बन्धार्हा चेत्, तर्हि वीतरागाः कथं न बध्येरन् ? तन्निमित्तत्वाद्बन्धस्य । तेषामभिसन्धेरभावान्न बन्ध इति चेत्, तर्हि न परत्र सुखदुःखोत्पादनं पुण्यपापबन्धहेतुरित्येकान्तः संभवति ।

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि ।

वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः ॥ १३ ॥

६५०. स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं सुखोत्पादनात् पापमिति यदीष्यते तदा वीतरागो विद्वांश्च मुनिस्ताभ्यां पुण्यपापाभ्यामात्मानं युञ्ज्यान्निमित्तसद्भावात्, वीतरागस्य कायक्लेशादिरूपदुःखोत्पत्तेर्विदुषस्तत्त्वज्ञान-संतोषलक्षणसुखोत्पत्तेस्तन्निमित्तत्वात् ।

६५१. स्यान्मतम्—'स्वस्मिन् दुःखस्य सुखस्य चोत्पत्तावपि वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतस्तदभिसन्धेरभावान्न पुण्यपापाभ्यां योगस्तस्य तदभिसन्धिनिबन्धनत्वात्' इति, तर्ह्यनेकान्तासिद्धिरेवायाता । आत्मसुखदुःखाभ्यां पापेतरैकान्तकृतान्ते पुनरकषायस्यापि ध्रुवमेव बन्धः स्यात् । ततो न कश्चिन्मोक्तुमर्हति, तदुभयाभावासंभवात् । नहि पुण्यपापोभयबन्धाभावासंभवे मुक्तिर्नाम, संसृतेरभावप्रसङ्गात् । ततो नैतावेकान्तौ संभाव्येते, दृष्टेष्टविरुद्धत्वात्, सदाद्येकान्तवत् ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादस्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ १४ ॥

६५२. प्रस्तुतैकान्तद्वयसिद्धान्ते व्याहृतेरनभिधेयतार्यामनभिधेयाभिधानविरोधात् कथंचिदेवेति युक्तम् । न हि स्वस्मिन्नन्यस्मिन् वा सुखात् दुःखाच्च पुण्यमेव पापमेव वा, तदुभयमेव वेति वदतामव्याहतिः संभवति, नापि तथाऽवाच्यतैकान्तेऽवाच्यमित्यभिधानमविरुद्धं, यतः, स्याद्वादो न युक्तः स्यात् ।

कथं स्याद्वादे पुण्यपापास्रवः स्यादित्याहुः—

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम् ।

पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः ॥ १५ ॥

६५३. आत्मनः परस्य वा सुखदुःखयोर्विशुद्धिसंक्लेशाङ्गयोरेव पुण्यपापास्रवहेतुत्वं, न चान्यथा, अतिप्रसङ्गात् । विशुद्धिकारणस्य विशुद्धिकार्यस्य विशुद्धिस्वभावस्य वा विशुद्धयङ्गस्य, संक्लेशकारणस्य संक्लेशकार्यस्य संक्लेशस्वभावस्य वा संक्लेशाङ्गस्य च, सुखस्य दुःखस्य वा तदुभयस्य वा स्वपरोभयस्थस्य पुण्यास्रवहेतुत्वं पापास्रवहेतुत्वं च यथाक्रमं प्रतिपत्तव्यम् । न चान्यथा, यथोदितप्रकारेणातिप्रसङ्गस्येष्टविपरीतेपि पुण्यपापबन्धप्रसङ्गस्य दुर्निवारत्वात् । कः पुनः संक्लेशः का वा विशुद्धिरिति चेत्, उच्यते—
आर्तरौद्रध्यानपरिणामः संक्लेशस्तैदभावो विशुद्धिरात्मनः स्वात्मन्यवस्थानम् ।

६५४. तत्रार्तध्यानं चतुर्विधं,—‘आर्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः’ (त.सू.९. २९), ‘विपरीतं मनोज्ञस्य’ (त.सू.९.३०), ‘वेदनायाश्च’ (त.सू.९.३१) ‘निदानं च’ (त.सू.९.३२), इति सूत्रचतुष्टेन तथा प्रतिपादनात् । रौद्रध्यानं चतुर्विधम्, हिंसादिनिमित्तभेदात् ‘हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम्’ (त.सू.९.३५) इत्यत्र सूत्रे प्रकाशनात् । ‘मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः’ (त.सू.८.१), त एव संक्लेशपरिणामा इति न विरुध्यते । तेषामार्तरौद्रध्यानपरिणामकारणत्वेन संक्लेशाङ्गत्ववचनात्, तत्कार्यहिंसादिक्रियावत् । ‘कार्यवाङ्मनःकर्म योगः’ (त.सू.६.१), ‘स आस्रवः’ (त.सू.६.२), ‘शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य’ (त.सू. ६.३) इत्यपि न विरुद्धम्, कायादियोगस्यापि तत्कारणकार्यत्वेन संक्लेशत्वव्यवस्थितेः ।

६५५. एतेन तदभावे विशुद्धिः । सम्यग्दर्शनादिहेतुः धर्म्यशुक्लध्यानस्वभावा तत्कार्यविशुद्धिपरिणामात्मिका च व्याख्याता, तस्यामेवात्मन्यवस्थानसंभवात् । तदेवं विवादाध्यासिताः कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवः संक्लेशकारणकार्यस्वभावाः प्राणिनामशुभफलपुद्गलसंबन्धहेतवः संक्लेशाङ्गत्वाद्विषयभक्षणादिकायादिक्रियावत् । तथा विवादापन्नाः कायादिक्रियाः स्वपरसुखदुःखहेतवो विशुद्धिकारणकार्यस्वरूपाः प्राणिनां शुभफलपुद्गलसंबन्धहेतवः, विशुद्धयङ्गत्वात्, पथ्याहारादिकायादिक्रियावत् । ये शुभाशुभफलपुद्गलास्ते पुण्यं पापं च कर्मानेकविधम् । इति संक्षेपात्सकलशुभाशुभकर्मास्रवबन्धकारणं सूचितं भवति, विस्तरतस्तस्यास्रवबन्धाध्याये सुनिरूपितत्वात् ।

६५६. ततः स्यात्स्वपरस्थं सुखदुःखं पुण्यास्रवहेतुः, विशुद्धयङ्गत्वात् । स्यात्पापास्रवहेतुः, संक्लेशाङ्गत्वात् । स्यादुभयं, क्रमापिततद्व्यात् । स्यादवक्तव्यं, सहापिततद्व्यात् । स्यात्पुण्यहेतुरवक्तव्यं च, स्यात्पापहेतुरवक्तव्यं च, स्यादुभयं चावक्तव्यं च, स्वहेतुविशेषात् । इति सप्तभङ्गीप्रक्रिया पूर्ववद् योजनीया ।

न किञ्चित्पापं प्रभवति न वा पुण्यततये
प्रवृद्धेन्द्रां शुद्धिं समधिवसतो ध्वंसिविधुराम् ।
भवेत् पुण्यायैवाखिलमपि विशुद्धयङ्गमपरं
मेतं पापायैवेत्युदितमवताहो मुनिपतेः ॥ १ ॥

इत्याप्तमीमांसालङ्कृतौ नवमः परिच्छेदः ।

नवमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. सम्यग्बोधपूर्वत्वादि पौरुषस्य किमिति चेद्विवृतमनन्तरमेव एतत्पद्यगतं सर्वमर्थजातम् । दैवस्यापि कारणत्वमस्तीति संसाध्य, तदैवं पुण्यं पापं चेति द्विविधमपि कथमुत्पद्यते इत्यत्र विवादपरिहारं कुर्वन्त्याचार्या अनेनाधिकारेण । २. अचेतनास्तृणकण्टकादयः क्षीरादयश्च यथाक्रमं पापपुण्यबन्धकाः स्युः । अकषायो वीतरागो मुनिः, परस्य शिष्यादेः सुखदुःखकारकः । यदा परं दीक्षयति तदा दुःखकृत्, यदा च परं शिक्षयति तदा सुखकृत् । अतः सोपि बध्येत, न च बध्यते । ३. अन्यत्र प्राणिनि दुःखोत्पादनादित्यादिसंबन्धः । ४. तयोः पुण्यपापयोरान्नवः, तन्निमित्तं किमिति या विप्रतिपत्तिः (संदेहः) तस्या विपत्तिर्विनाशः, तदर्थम् । ५. एवं तर्हि । ६. सुखदुःखनिमित्तत्वात् । ७. अभिसंधिर्मनःसंकल्पः । ८. स्वस्मिन्निति स्वतः । सार्वविभक्तिकस्तस् । ९. पुण्यपापाभ्याम् । १०. स्वस्मिन् सुखदुःखोत्पादनलक्षणनिमित्तसद्भावात् । ११. त्रिकालयोगाद्यनुष्ठानेन । १२. तयोः पुण्यपापयोः ।

१३. तदभिसंधिः सुखदुःखयोरुत्पादाभिसंधिः (आसक्तिरिच्छा वा) । १४. अभिप्रायोपेतसुखदुःखोत्पादकत्वं पुण्यपापहेतुर्भवति, तदभावे न भवतीति । १५. कृतान्ते, सिद्धान्ते अङ्गीक्रियमाणे । १६. पुण्यपापयोरभावः कदाचिदपि न स्यादित्यर्थः । १७. अन्यथा । १८. व्याहतिर्विरोधः । १९. अवाच्यतायां स्वीक्रियमाणायाम्, अवाच्यमिति वचनोच्चारणासंभवात् । २०. परस्मिन् पाठान्तरम् । २१. विशुद्धिसंकलेशौ अङ्गं कारणं यस्य (सुखदुःखस्य) तत् । २२. यदि स्वपरस्थं सुखासुखं विशुद्धिसंकलेशाङ्गं न, न तर्हि तदास्त्वः । व्यर्थः, फलविहीनत्वात् । २३. विशुद्धिसंकलेशाङ्गत्वाभावप्रसङ्गात् । २४. इतः पदत्रयाणामपि (षष्ठीसमासः) । २५. विशेष्यपदम् । तथापि सुखदुःखपदयोर्विशेषणमेव । २६. विशेष्यपदम् । तथापि सुखदुःखपदयोर्विशेषणमेव ।

२७. उदितं तु प्राक् 'अचेतनाकषायौ, वीतरागो मुनिः' इति कारिकामध्ये । २८. इष्टाच्चेतनाद्विपरीतेऽचेतने कण्टकादौ (अकषाये च) । २९. भावान्तरस्वभावो धर्मशुक्लध्यानरूपः । ३०. स्वस्वरूपे । ३१. उमास्वामिकृते तत्त्वार्थसूत्रे एतानि सूत्राण्युक्तानि । क्रमेण चतुर्भिः सूत्रैश्चतुर्भेदानां लक्षणमुच्यते । ३२. संयोगे सति तद्वियोगाय कथं स्यादिति स्मृतिसमन्वाहारोऽसकृच्चिन्ता । ३३. मनोज्ञे इष्टविषये वियुक्ते जाते तत्संयोगायासकृच्चिन्ता तद्वितीयमार्तध्यानम् । ३४. वेदनोपस्थितौ तद्दुःखानुभवस्तृतीयम् । ३५. अप्राप्तैश्वर्यप्राप्तिसंकल्पो निदानं चतुर्थम् । ३६. संक्लेशाङ्गस्य परिणामस्य बन्धहेतुत्वं भवद्भिरुक्तं सूत्रकारैरुमास्वामिभिरागमे तावन्मिथ्यादर्शनादीनां बन्धहेतुत्वं प्रोक्तमिति परस्परं कथं न भवेदित्याशङ्कयामाह । ३७. 'इत्यपि न विरुध्यते' इत्यपि पाठः । ३८. 'परिणामत्वेन' इति पाठान्तरम् । ३९. तत्कार्यं संक्लेशाङ्गकार्यं, तच्चासौ हिंसादिक्रिया च, तद्वत् । ४०. संक्लेशाङ्गं पापास्त्रव उक्तः । तथा चाशुभकार्यादिव्यापारस्य पापास्त्रवहेतुत्वं प्रतिपादयदिदं सूत्रं विरुद्धमिति चेदाह । ४१. तत्कार्यं चासौ विशुद्धिपरिणामश्च, स एवात्मा यस्याः सा । ४२. विशुद्धौ सत्यामेव । ४३. संक्लेशाङ्गविशुद्ध्यङ्गशब्दग्राह्यं तत्कारणकार्यस्वभावविषयं मत्वा विरोधः परिहृतो यतः । ४४. बहुव्रीहितया पूर्वपदस्य विशेषणमिदम् । पुरस्तादपि विशेषणान्येव । ४५. एताः क्रिया यथाऽशुभफलदायिनां पुद्गलानां संबन्धकारणानि भवन्ति, तद्वत् । ४६. सत्यः । ४७. अनेन (पूर्वोक्तेन) शुभाशुभकर्मपुद्गलसिद्धिरेव स्यात्तु पुण्यपापकर्मसिद्धिरित्याशङ्क्याह । ४८. आसन्नकारणस्य । ४९. तत्त्वार्थशास्त्रे ।

५०. विशुद्ध्यङ्गत्वे सहार्पिततद्व्यात् । ५१. संक्लेशाङ्गत्वे सहार्पिततद्व्यात् । ५२. क्रमेण विशुद्धिसंकलेशाङ्गत्वेऽपि अक्रमेण सहार्पिततद्व्यात् । 'विषयात्' मुद्रितप्रती पाठः । ५३. सुखं दुःखं च । ५४. क्षायिकलक्षणम् । ५५. अविनश्वरीम् । ५६. विशुद्ध्यङ्गादन्यत् संक्लेशाङ्गम् । ५७. स्वीकृतम् । ५८. वचनम् ।

अथ दशमः परिच्छेदः

श्रीमदकलङ्कविवृतां समन्तभद्रोक्तिमत्र संक्षेपात् ।
परमागमार्थविषयामष्टसहस्रीं प्रकाशयति ॥

अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बन्धो ज्ञेयानन्त्यान्न केवली ।

ज्ञानस्तोकाद् विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा ॥९६॥

६५७. प्रसज्यप्रतिषेधे ज्ञानस्याभावोऽज्ञानं, पर्युदासे ततोऽन्यन्मिथ्याज्ञानमज्ञानम् । तत्र यदि ज्ञानाभावाद् ध्रुवोऽवश्यंभावी बन्धः स्यात्तदा केवली न कश्चित्स्यात् । सकलविपर्ययरहितं तत्त्वज्ञानमसहायं केवलम्, “एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मिन् मे नाहमित्यपरिशेषम् । अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥” इति वचनात्, तद्योगात्केवलीत्युच्यते । स कथं न स्यादिति चेत्, तदुत्पत्तेः पूर्वमशेषज्ञानाभावात्, करणजविज्ञानस्यातीन्द्रिया- र्थाविषयत्वादनुमानस्य चात्यन्तं परोक्षार्थागोचरत्वादागमस्यापि सामान्यतोऽविशेषार्थाविषयत्वादयोगिनामशेषविशेषविषयज्ञानविरोधात् । न चाक्षलिङ्गशब्दज्ञानपरिच्छेद्य एवार्थस्ततोऽपरो नास्तीति शक्यं वक्तुं, ज्ञेयस्यानन्त्यात्, प्रकृतिविवर्तविशेषाणां पुरुषाणां चानन्ततोपगमात् ।

६५८. स्यान्मतम् - ‘प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानादेवागमबलभाविनः स्तोकादपि तत्त्वाभ्यासस्वात्मभावात् केवलज्ञानभृद्भवेत् । स एव च तस्य विमोक्षः, पुनः संसाराभावादनागतबन्धनिरोधात्’ इति; तदप्ययुक्तम्; स्तोकज्ञानापेक्षया बहोरज्ञानाद्बन्धस्य प्रसङ्गादेष्यद्वन्धनिरोधासंभवाद् विमोक्षानुपपत्तेः ।

६५९. अथ तत्त्वज्ञानेन स्तोकेनापि बहोरज्ञानस्य प्रतिहतशक्तिकत्वान्न तन्निबन्धनो बन्धः संभवतीति; मतं; तदप्यसत् प्रतिज्ञातविरोधात् ! यत् खलु प्रतिज्ञातमज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध इति तद्विरुध्यते ।

६६०. अथाखिलज्ञानाभावादज्ञानादवश्यंभावी बन्धो न ज्ञानस्तोकमिश्रणादिति मतं; तदप्यसम्यक्, सर्वदा बन्धाभावप्रसङ्गात्, सर्वस्य प्राणिनः किञ्चिज्ज्ञानसंभवान्मुक्तौ बन्धप्रसक्तेश्च, तत्र सकलज्ञानाभावस्य बन्धहेतोः संभवात्, असंप्रज्ञातयोगावस्थायां च ‘तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानमिति वचनात् । स्वरूपं च पुंसश्चैतन्यमात्रं सकलज्ञानरहितम्, इति मोक्षहेतुरेव बन्धहेतुः स्यात् । यदि पुनस्तत्त्वज्ञानस्य प्रागभावाद्बन्धो, न प्रध्वंसाभावात् इति मतम्, तदा समाविर्भूततत्त्वज्ञानस्य कस्यचित् कुतश्चिद्विपर्ययज्ञानकारणादन्तरङ्गाद्बहिरङ्गाद्वा विपर्ययज्ञानोत्पत्तं तत्त्वज्ञानप्रध्वंसाद्बन्धः कथं युज्येत?

६६१. स्यान्मतम् - सकलतत्त्वज्ञानोत्पत्तौ निःशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्तेरसंप्रज्ञातयोगोत्पत्तौ तु तत्त्वज्ञानस्यापि नाशादशेषज्ञानाभावाख्यादज्ञानान्मोक्ष एव, ततोऽन्यस्मात् अज्ञानात् सम्यग्ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसरूपाद्वन्ध एवेति; तदप्यसाधीयः; केवल्यभावप्रसङ्गस्याभिधानात् । स्तोकतत्त्वज्ञानाप्रतिबद्धात्तथाविधादज्ञानाद्वन्ध इत्यपि विरुद्धम्, प्रवर्तकधर्महेतोः स्तोकतत्त्वज्ञानाप्रतिहेताशेषाज्ञानशक्तिकात् पुण्यबन्धाभावानुषङ्गात् । ततो ज्ञानाभावलक्षणादज्ञानान्ना-वश्यंभावी बन्ध इति पक्षः क्षेमंकरः, स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इति पक्षवत् ।

६६२. अथ मिथ्याज्ञानलक्षणादज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यात्,

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण ।

ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ (सां का०)

इति वचनात् ।

६६३. विपर्ययो मिथ्याज्ञानं सहजमाहार्यं चानेकविधमित्यभिमतं; तदप्यसत्यम्; केवल्यभावप्रसक्तेः, समयान्तरश्रवणजनितानेकविधाहार्यविपर्ययस्य सांख्यागमभावनाबलोद्भूततत्त्वज्ञानाद्विनाशेऽपि सहजस्य विपर्ययस्यानिवृत्तेः । केवलज्ञानात् प्राग् बन्धस्यावश्यंभावात्तन्निबन्धनमिथ्याज्ञानान्तरोद्भूतः केवलोद्भूतिविरोधात् । न चागमबलात्सकलतत्त्वज्ञानाविर्भूतिरुपपद्यते, ज्ञेयस्य विशेषतोऽनन्तत्वादागमाविषयत्वादनुमानाद्यविषयत्ववत्, यतः कृत्स्नमिथ्याज्ञाननिवृत्तेः केवलाविर्भावः संभाव्यते । स्तोकतत्त्वज्ञानान्मोक्ष इत्यप्यनेन निराकृतम्, बहुतो मिथ्याज्ञानाद्वन्धस्य प्रसक्तेः । स्तोकतत्त्वज्ञानप्रतिहेताद्बहुतोपि मिथ्याज्ञानान्न बन्ध इति चेत्कथमेवं मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यात्? कथं वा स्तोकतत्त्वज्ञानात् प्रवर्तकधर्मनिबन्धनात्पुण्यबन्धः? इति दुरवबोधम् ।

६६४ एतेनान्त्यमिथ्याज्ञानान्न बन्ध इत्येतदप्यपास्तं, प्रतिज्ञातविरोधाविशेषात् । रागादिदोषसहितान्मिथ्या-ज्ञानाद्वन्धो, निर्दोषान्न बन्ध इत्यपि प्रतिज्ञातविरोधि कापिलानाम्, वैराग्यसहितात्तत्त्वज्ञानान्मोक्ष इति वचनवत् ।

६६५. एतेनैतदपि प्रत्याख्यातम्, यदुक्तं परेण—‘दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्त-राभावात्निःश्रेयसम्’ () इति । मिथ्याज्ञानादवश्यं दोषोद्भूतौ, दोषाच्च प्रवृत्तेर्धर्मधर्मसंज्ञिकायाः प्रादुर्भावे, ततोपि जन्मनः प्रसूतौ, ततोपि दुःखस्यैकविंशतिप्रकारस्य प्रसवे, केवलिनः साक्षादशेषतत्त्वज्ञानवतोऽसत्त्वप्रसङ्गात्, अस्मदादिप्रत्यक्षानुमानोपमानागमैः प्रमाणैः सकलतत्त्वज्ञानासंभवान्निशेषमिथ्याज्ञाननिवृत्त्ययोगात् सकलज्ञेयविशेषा-णामानन्त्यात्, ‘सोयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः, प्रमाणभृद्देदस्यापरिसंख्येयत्वादिति’ () स्वयमभिधानात् ।

६६६. न च मिथ्याज्ञानस्य कात्स्न्येनानिवृत्तौ सकलदोषनिवृत्तिः, तदनिवृत्तौ च न प्रवृत्तिनिवृत्तिः, तदनापये च न जन्मनोऽपायः, ततो नाशेषदुःखापायश्च । इति गता निश्रेयसकथा । यदि पुनरात्माद्यपवर्ग-पर्यन्तप्रमेयतत्त्वज्ञानादपरिनिःश्रेयसप्राप्तिरिष्यते, न पुनः प्रमाणादिषोडशपदार्थविशेषतत्त्वज्ञानाद्, येन ज्ञानस्तोकादेव विमोक्षसिद्धेः केवली न स्यादिति मतम्, तदा बहोर्मिथ्याज्ञानाद्वन्धः किं न भवेत्? तत्त्वज्ञानेन तस्य प्रतिहेतत्वादिति चेत्, कथमेवं मिथ्याज्ञानाद् ध्रुवो बन्धः स्यादित्युक्तम्? दोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्वन्ध इति चानेन निराकृतम्, योगिज्ञानात् प्राग्दोषानिवृत्तेस्तत्कारणमिथ्याज्ञानसंततेः संभवात् ।

६६७. एतेन^{७३} वैशेषिकमतमपास्तम् - 'इच्छाद्वेषाभ्यां बन्धः' () इति, केवल्यभावाविशेषात् ।

६६८. 'अविद्यातृष्णाभ्यां बन्धोवश्यंभावी । दुःखे विपर्ययसंमतिस्तृष्णा वा बन्धकारणम् । जन्मिनो यस्य ते न स्तो न स जन्माधिगच्छति' । () इति ताथागतमपि न सम्यक्, योगिज्ञानाभावप्रसङ्गात् । अयोगिनः प्रत्यक्षानुमानाभ्यामखिलतत्त्वज्ञानरूपाया विद्याया एवायोगात्, तद्विशेषज्ञेयस्यानन्त्यात्, स्वयमनन्ता, लोकधातव' इति वचनात् । न चाविद्यानुच्छेदे तृष्णा निवर्तते यतः सुगतः स्यात् । अथ ज्ञानस्तोकाद्विमोक्ष इष्यते, हेयोपादेयतत्त्वस्य साध्युपायस्य वेदकः सुगत इति () वचनात्, तर्हि बहुतो मिथ्याज्ञानाद्वन्धः सिध्यति, तन्निबन्धनतृष्णाया अपि संभवात्, कथमन्यथा मिथ्यावबोधतृष्णाभ्यामवश्यंभावी बन्ध इति प्रतिज्ञा न विरुध्यते?

६६९. एतेनैतदपि प्रत्याख्यातं, यदुक्तं वृद्धबौद्धैः 'अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः, संस्कारप्रत्ययं विज्ञानं, विज्ञानप्रत्ययं नामरूपं, नामरूपप्रत्ययं षडायतनं, षडायतनप्रत्ययः स्पर्शः, स्पर्शप्रत्यया वेदना, वेदनाप्रत्यया तृष्णा, तृष्णाप्रत्ययमुपादानम्, उपादानप्रत्ययो भवो, भवप्रत्यया जातिः, जातिप्रत्ययं जरामरणम्' इति (अभिधर्मको०) द्वादशाङ्गं प्रतीत्यसमुत्पादस्य संभवात्, क्षणिकनिरात्मकाशुचिदुःखेषु तद्विपरीतज्ञानलक्षणाविद्योदये क्वचिदपि ज्ञेये तत्प्रत्ययसंस्काराणां पुण्यापुण्यानेज्यप्रकाराणां शुभाशुभानुभयविषयाणामवश्यंभावात्, तद्भावे च वस्तुप्रतिविज्ञप्तिरक्षणविज्ञानस्य विकल्पात्मनः संभवात्, तत्संभवे च विज्ञानसमुद्भूतरूपवेदनासंज्ञासंस्कारज्ञानलक्षणानामपृथिव्यादिभूतचतुष्टयात्मकरूपसमुदायलक्षणस्य नामरूपस्य सिद्धेः, तत्सिद्धौ च चक्षुरादिषडायतनस्यात्मकृत्यक्रियाप्रवृत्तिहेतोः प्रसूतेः, तत्प्रसूतौ च तद्धेतूनां षण्णां स्पर्शकायानां रूपं चक्षुषा पश्यामीत्यादिविषयेन्द्रियविज्ञानसमूहलक्षणानां प्रादुर्भावात्, तत्प्रादुर्भावे स्पर्शानुभवलक्षणाया वेदनायाः सद्भावात्, तत्सद्भावे च विषयाध्यवसानलक्षणतृष्णायाः समुत्पादात्, तत्समुत्पादे तृष्णवैपुल्यलक्षणस्योपादानस्योदयात्, तदुदये च पुनर्भवजनककर्मलक्षणभवस्य भावात्, तद्भावे चापूर्वस्कन्धप्रादुर्भावलक्षणाया जातेरुत्पादात्, तदुत्पत्तौ च स्कन्धपरिपाकप्रध्वंसलक्षणजरामरणसद्भावात् केवलिनः कस्यचित्सुगतस्यासंभवप्रसङ्गात्, अन्यथा प्रतिज्ञातविरोधात् ।

६७०. ततः^{१०१} सूक्तम्, यदि बन्धोयमज्ञानान्नेदानीं कश्चिन्मुच्येत, सर्वस्यैव क्वचिदज्ञानोपत्तेर्ज्ञेयानन्त्यात्, इति केवलिनः प्राक् सर्वज्ञासंभवात् । यदि पुनर्ज्ञाननिर्हारादब्रह्मप्राप्तिरज्ञानात् सुतरां प्रसज्येत, दुःखनिवृत्तेरिव सुखप्राप्तिः । न ह्यल्पदुःखनिवृत्तेः सुखप्राप्तौ बहुतरदुःखनिवृत्तौ सुतरां सुखप्राप्तिरसिद्धा, येन ज्ञानहानेरुत्पायाः परब्रह्मप्राप्तौ सकलाज्ञानात्तत्प्राप्तिः सुतरां न स्यात् । ततो नायमेकान्तः श्रेयानाभासते 'ज्ञानस्तोकात्मोक्ष' इति, 'अज्ञानाद् ध्रुवो बन्ध' इत्येकान्तवत् ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।

अवाच्यतैकान्तेप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥१७॥

६७१. न हि सर्वात्मनैकस्यैकदा ज्ञानस्तोकात्मोक्षो बहुतश्चाज्ञानाद्वन्ध इत्येकान्तयोरविरोधः स्याद्वादन्यायविद्विषां सिध्यति, येन तदुभयैकात्म्यं स्यात् । तथाऽवाच्यतैकान्ते स्ववचनविरोधः पूर्ववत् ।

६७२. कुतस्तर्हि पुण्यपापबन्धः प्राणिनां येनाबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः स्यात्? कुतो वा मोक्षो मुनेर्यतः पौरुषादिष्टसिद्धिर्बुद्धिपूर्वा स्यात्? चार्वाकमतमेव वा^{१०९} 'बन्धमोक्षाभाव एव परलोकाभावात्' इति न भवेत्? इत्यरेकां निराचिकीर्षवः प्राहुः-

अज्ञानो^{११०}न्मोहिनो बन्धो नाज्ञानाद्^{१११} वीतमोहतः ।

ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोन्यथा ॥९८॥

६७३. मोहनीयकर्मप्रकृतिलक्षणादज्ञानाद्युक्तः कर्मबन्धः स्थित्यनुभागाख्यः^{११३} स्वफलदानसमर्थः क्रोधादिकषायैकार्थसमवायिनो मिथ्याज्ञानस्य अज्ञानस्य^{११४} च मोहनीयकर्मप्रकृतिं लक्षयतः पुंसो बन्धनिबन्धनत्वोपपत्तेः, 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यानुद्गलानादते स बन्धः' (त० सू० ८.२) इति वचनात् । ततो^{११५}न्यतोपि बन्धाभ्युपगमेतिप्रसङ्गात्, क्षीणोपशान्तकषायस्याप्यज्ञानाद्वन्धप्रसक्तेः । प्रकृतिप्रदेशबन्धस्तस्याप्यस्तीति चेन्न, तस्याभिमतेतरफलदानासमर्थत्वात्, सयोगकेवलिन्यपि^{११६} संभवादविवादापन्नत्वात् । न चात्रागममात्रं, युक्तेरपि सद्भावात् । तथाहि - विवादापन्नः प्राणिनामिष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धः^{११७} कषायैकार्थसमवेताज्ञान-निबन्धनस्तथात्वात्पथ्येतराहारादिसंबन्धवत् ।

६७४. नात्र प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादसिद्धो हेतुर्धर्मिणानेकान्तात्^{१२५}, तस्य प्रतिज्ञार्थधर्मिसमूहैकदेशत्वेपि प्रसिद्ध-^{१२६}त्ववचनात्, 'अनित्यः शब्दः', शब्दत्वादित्यत्रापि हेतोरसिद्धत्वविरोधात् । न चात्र विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतः कश्चिदोषः, प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो विनश्वरः, प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्, घटवत्, इति यथा ।

६७५. ननु शब्दस्य धर्मित्वे पक्षाव्यापको हेतुः स्यात्, समुद्रघोषादेः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाभावात् । ततोऽत्र प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दो विशिष्टो धर्मीति चेत्तर्हि प्राणिनां पुद्गलविशेषसंबन्धस्य धर्मित्वे तथात्वस्य च हेतुत्वे दृष्टान्तासिद्धिप्रसक्तेः, प्रकृतिप्रदेशबन्धाभ्यामनैकान्तिकत्वप्रसङ्गाच्च विवादापन्नत्वविशेषणामिष्टानिष्टफल-दानसमर्थत्वविशेषणं च युक्तम्, इष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धत्वस्य हेतोः कषायैकार्थसमवेताज्ञान-निबन्धनत्वेन व्याप्तस्य पथ्येतराहारादिषु पुद्गलविशेषसंबन्धे सुप्रसिद्धत्वादुदाहरणस्य साध्यसाधनधर्मवैकल्याभावात्, हेतोश्चानन्वयत्वासंभवात्, विवादापन्नो^{१२९} धूमो^{१३०}ग्निजन्मा धूमत्वात्महानसधूमवत्, इत्यादिवत् ।

६७६. न चेष्टानिष्टफलदानसमर्थः कर्मबन्धः पुद्गलविशेषसंबन्धो न भवति, पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमान-त्वाद् ब्रीह्यादिवत्^{१४३} । जीवविपाकिषु कर्मसु तदभावात्पक्षाव्यापको हेतुरिति चेन्न, तेषामपि सकर्मजीवसंबन्धेन विपच्यमानत्वात् पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वस्य प्रसिद्धेः पुद्गलक्षेत्रभवविपाकिकर्मवत् पक्षाव्यापकत्वसिद्धेः । पूर्वानुभूतविषयस्मरणेन सुखदुःखदायिषु कर्मसु तदभावात्^{१४६} पक्षाव्यापकत्वमस्य हेतोरित्यप्यनेन निराकृतम्, परम्परया पुद्गलसंबन्धेनैव तेषां विपच्यमानत्वाच्च । न किञ्चित्कर्म साक्षात्परम्परया वात्मनः पुद्गलसंबन्धमन्तरेण विपच्यमानमस्ति, येन पौद्गलिकं न स्यात् । ततो न कर्मबन्धस्य पुद्गलविशेषसंबन्धित्वमसिद्धम् । नापौष्टानिष्टफलदानसमर्थत्वम्, दृष्टकारणव्यभिचारे शुभेतरफलानुभवनस्य स्वसंविदितस्यादृष्टहेतुत्वसिद्धेः, रूपादिज्ञानस्य चक्षुराद्यदृश्यहेतुवत्^{१४९} ।

६७७. नन्वेवमज्ञानहेतुकत्वे बन्धस्य मिथ्यादर्शनादिहेतुत्वं कथं सूत्रकारोदितं न विरुध्यते, इति चेत्, मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगानां कषायैकार्थसमवाय्यज्ञानाविनाभावानामेवेष्टानिष्टफलदानसमर्थकर्मबन्ध-हेतुत्वसमर्थनात् मिथ्यादर्शनादीनामपि संग्रहात् संक्षेपत इति बुध्यामहे । ततो मोहिन एवाज्ञानाद्विशिष्टः कर्मबन्धो न वीतमोहादिति सूक्तम् । तथैव बुद्धेरपकर्षान्मोहनीयपरिक्षयलक्षणान्मोक्षयति विपर्यये विपर्यासादित्यधिगन्तव्यं, प्रकृष्टश्रुतज्ञानादेः क्षायोपशमिकात् केवलापेक्षया स्तोकादपि छद्मस्थवीतरागचरमक्षणभाविनः साक्षादार्हन्त्यलक्षणमोक्षस्य सिद्धेः । तद्विपरीतात् मोहवतः स्तोकज्ञानात् सूक्ष्मसाम्परायान्तानां मिथ्यादृष्ट्यादीनां कर्मसंबन्ध एव । इति चिन्तितमन्यत्र ।

६७८. नन्वस्तु मोहप्रवृत्तिभिः कामादिदोषात्मिकाभिः सहचरितादज्ञानात् पुण्यपापकर्मणोः शुभाशुभफलानुभवनमित्तयोः प्राणिनां बन्धः । स तु कामादिप्रभवो महेश्वरनिमित्तं एवेत्याशङ्कामपाकर्तुमिदमाहुः-

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः ।

तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः ॥९९॥

६७९. कामादिप्रभवो भावसंसारोऽयं नैकस्वभावेश्वरकृतः, तत्कार्यसुखदुःखादिवैचित्र्यात् । यस्य यस्य कार्यवैचित्र्यं तत्तन्नैकस्वभावकारणकृतम्, यथानेकशाल्यङ्कुरादिविचित्रकार्यं शालिबीजादिकं, सुखदुःखादि-कार्यवैचित्र्यं च संसारस्य, तस्मान्नायमेकस्वभावेश्वरकृतः । न तावदयं हेतुरनिश्चितव्यतिरेकत्वादगमकः, साध्याभावेनुपपन्नत्वग्राहकप्रमाणसद्भावात् । न हि कारणस्यैकरूपत्वे कार्यनानात्वं युक्तं, शालिबीजाङ्कुरवत् । प्रसिद्धस्तावदेकस्वरूपाच्छालिबीजादनेकाङ्कुरकार्यायोगः, स एव दृष्टान्तः स्यात् । ततः साध्विदं विपक्षे बाधकं प्रमाणमेकस्वभावकारणकृतत्वप्रतिषेधस्य साध्यस्याभावे नियमेनैकस्वभावकारणकृतत्वेऽनेकार्थत्वस्य साधनस्य व्यावृत्तिनिश्चयजननात्, विचित्रकार्यं च स्यादेकस्वरूपकारणकृतं च स्यादिति संभावनाशङ्काव्यवच्छेदात् । कालादिना व्यभिचारी हेतुरिति चेन्न, तस्यैकस्वभावत्वैकान्तसिद्धेः । अपरिणामिनः सर्वथार्थक्रियाऽसंभवात् तल्लक्षणत्वा-द्वस्तुनः सद्भावमेव तावन्न संभावयामः । सत्त्वस्यार्थक्रियया व्याप्तिरसिद्धेति न मन्तव्यं, तद्वहितस्य खपुष्पादेरसत्त्वनिश्चयात् ।

६८०. नन्वसतोप्यसदितिप्रत्ययलक्षणार्थक्रियाकारित्वात् तया सत्त्वस्य व्याप्तिरिति न शङ्कितव्यं, व्यापकस्य तदतन्निष्ठतया व्याप्याभावेपि भावाविरोधात् तद्व्याप्तेरखण्डनात् । क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाव्याप्तिरसिद्धेति चेन्न, प्रकारान्तरेणार्थक्रियायाः संभवाभावात् । एकस्यैकामेवार्थक्रियां संपादयतो न क्रमो नापि यौगपद्यं, तस्यानेकार्थविषयत्वादिति चेन्न, तादृशस्य वस्तुनोसंभवत् । सर्वस्य बाह्यामर्थक्रियां कुर्वतोऽन्तरङ्गस्वज्ञानलक्षणार्थ-क्रियाकारणस्यावश्यंभावित्वादित्यथा योगिनोऽसर्वज्ञत्वप्रसङ्गात्, पदार्थस्यानेकक्षणस्थायिनः क्रमेणाक्रमेण वानेकार्थकारित्वसिद्धेरेकक्षणस्थायिनोऽनभ्युपगमात् तथाप्रतीत्यभावाच्च । क्रमयौगपद्ययोः परिणामित्वेन व्याप्तिरसिद्धेति चेन्न, अपरिणामिनः क्षणिकस्येव नित्यस्यापि क्रमयौगपद्यविरोधात् ।

६८१. ततः कस्यचित्परिणामित्वाभावे क्रमयौगपद्याभावादर्थक्रियापायात् सत्त्वानुपपत्तेर्वस्तुत्वसंभावनाभाव एवेति निश्चितम् । तत्र कालदेशावस्थास्वभावभिन्नानां तनुकरण^{११०}भुवनादीनां किलायं कर्तेति महच्चित्रं, प्रकृतप्रमाणबाधनात् ।

६८२. एतेनेश्वरेच्छा^{१११} प्रत्युक्ता^{११२}, तस्या अपि नित्यैकस्वभावायाः कार्यवैचित्र्यानुपपत्तेर्वस्तुत्वसंभावनानुपपत्तेश्चाविशेषात् । न चैतेनास्याः संबन्धस्तत्कृतोपकारानपेक्षणात् । न हि नित्यादेकस्वभावादीश्वरात् कश्चिदुपकारः सिसृक्षायास्तथाविधायाः संभवत्यनर्थान्तरभूतः, नित्यत्वविरोधात् । नाप्यर्थान्तरभूतः, संबन्धासंभवादनपकारात्, उपकारान्तरेनवस्था प्रसङ्गात् । ततो व्यपदेशोपि मा भूत् ईश्वरस्य सिसृक्षेति । तत्र समवायात्तथा व्यपदेश इति चेन्न, सर्वथैकस्वभावस्य समवायित्वनिमित्तकारणत्वादिनानास्वभावविरोधात् ।

६८३. महेश्वरस्याभिसन्धेरनित्यत्वेपि^{२०२} समानः प्रसङ्गः^{२०३} पदार्थान्तरभूतस्याभिसन्धेस्तेन^{२०४} संबन्धाभावस्य तत्कृतोपकारानपेक्षस्य व्यपदेशासंभवस्य चाविशेषात्, सकलकार्याणामुत्पत्तिविनाशयोः स्थितौ च महेश्वराभिसंधेरेकत्वे सकृदुत्पत्त्यादिप्रसङ्गाद्विचित्रत्वानुपपत्तेरिति । तदनेकत्वेऽप्यक्रमत्वेऽस्यैव दोषस्योपनिपातात्, क्रमवत्त्वे केषांचित्कार्याणां सकृदुत्पत्त्यादिदर्शनविरोधात् कथमनित्योभिसन्धिरीशस्य स्यात्? सन्नप्यसौ यदीश्वरसिसृक्षानपेक्षजन्मा तदा तन्वादयोपि तथा भवेयुरिति न कार्यत्वादितेतवः प्रयोजकाः स्युः । सिसृक्षान्तरापेक्षजन्मा चेदनवस्था । बुद्धिपूर्वकत्वादित्च्छाया न दोष इति चेत्सा तर्हि बुद्धिरीश्वरस्य यदि नित्यैकस्वभावा तदा कथमनेकसिसृक्षाजननहेतुः क्रमतो युज्येत युगपद्वा? पूर्वपूर्वसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरसिसृक्षोत्पत्तिर्नित्यैकस्वभावबोधस्यापि महेश्वरस्य न विरुद्धा तत्समानसमयानेकतन्वादिकार्योत्पत्तिश्च, पूर्वसिसृक्षात् उत्तरसिसृक्षायास्तत्समानकालतन्वादिकार्याणां च भावादनादित्वात् कार्यकारणप्रवाहस्येति चेन्न, एकस्वभावस्येश्वरबोधस्यैकस्य पूर्वपूर्वसिसृक्षापेक्षाविरोधात्, तदपेक्षायां स्वभावभेदादनित्यतापत्तेः ।

६८४. अथ सिसृक्षातन्वादिकार्योत्पत्तौ नेश्वरबोधः सिसृक्षान्तरमपेक्षते, तत्कार्याणामेव तदपेक्षत्वात्, इति मतं तदप्यसत्, नित्येश्वरबोधस्य तदनिमित्तत्वप्रसङ्गात् । तदभावेऽभावात्तस्य तन्निमित्तत्वे सकलात्मनां तन्निमित्तता स्याद्, व्यतिरेकाभावाविशेषात् । अथासर्वगतस्येश्वरबोधस्य नित्यत्वात्कालव्यतिरेकाभावेपि न देशव्यतिरेकासिद्धिः । सकलात्मनां तु नित्यसर्वगतत्वात्कालदेशव्यतिरेकासिद्धिरिति मतम्, तर्हि दिक्कालाकाशानां तत एव सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणता मा भूत् ।

६८५. एतेनैवेश्वरस्य तन्निमित्तकारणत्वं प्रतिक्षिप्तं, नित्येश्वरबोधस्यापि तन्निमित्तत्वे सकृत् सर्वत्रोत्पत्तिसुकार्याणामुत्पत्तिर्न स्यात्, तस्य सर्वत्राभावात् शरीरप्रदेशवर्तिनोपि सर्वत्र बहिर्निमित्तकारणत्वं देशव्यतिरेकस्याप्यभावात् कथमन्वयमात्रेण तत्कारणत्वं युक्तम्? नित्येश्वरज्ञानस्य सर्वगतत्वेऽप्ययमेव दोषः । तस्यानित्यासर्वगतत्वात् कालदेशव्यतिरेकसिद्धेस्तन्वादौ निमित्तकारणत्वसिद्धिरिति चेन्न, ईश्वरस्य कदाचित्त्वचिद्बोधवैधुर्यं सकलवेदित्वविरोधात् ।

६८६. यदि पुनरपरापरसर्वार्थज्ञानस्याविच्छेदात् सदाशेषवेदित्वमविरुद्धं तदा कुतो व्यतिरेकस्तस्य सिध्येत्? कथं चानित्यस्य बोधस्येश्वरबोधान्तरानपेक्षस्योत्पत्तिर्न पुनः सिसृक्षातन्वादिकार्याणामिति विशेषहेतोर्विना प्रतिपद्येमहि? तस्य बोधान्तरापेक्षायामनवस्थानं तदवस्थम् ।

६८७. स्यान्मतम् - पूर्वपूर्वबोधसिसृक्षावशादुत्तरोत्तरोत्तरबोधसिसृक्षातन्वादिकार्याणामुत्पत्तेरनादित्वात्कार्य-
कारणभावस्य बीजाङ्कुरादिवदयमदोष इति नैतत्सारम्; ईश्वरकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात् । तद्भावे भावाद्वोधादिकार्याणां
तत्कारणत्वसिद्धेर्नानर्थक्यमिति चेन्न, व्यतिरेकासिद्धेः, अन्वयमात्रेण कारणत्वे तदकारणत्वाभिमतानामपि तत्प्रसङ्गात् ।
न चैकस्वभावाद्वोधात्कामादिकार्यवैचित्र्यं क्रमतोपि युज्यते महेश्वरसिसृक्षाभ्यामिति, किमनया चिन्तया?
तयोरेकस्वभावत्वेपि कर्मवैचित्र्यात्कामादिप्रभववैचित्र्यमिति चेद्युक्तमेतत्, किंतु नेश्वरेच्छायां किंचित्,
तावतार्थपरिसमाप्तेः, सति कर्मवैचित्र्ये कामादिप्रभववैचित्र्यस्य भावादसत्यभावात् 'कामादिप्रभवश्चित्रः
कर्मबन्धानुरूपतः' इत्यस्यैव दर्शनस्य प्रमाणसिद्धत्वात्, अनिश्चितान्वयव्यतिरेकयोरीश्वरेच्छयोः
कारणत्वपरिकल्पनायामतिप्रसङ्गात् ।

६८८. एतेन विरम्यप्रवृत्तिसन्निवेशविशेषादिभ्यः पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वसाधने नेश्वरप्रापणं
प्रत्युक्तम्, धर्माधर्माभ्यामेवात्मनः शरीरेन्द्रियबुद्धीच्छादिकार्यजननस्य सिद्धेः, बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमन्तरेणापि
विरम्यप्रवृत्तिसन्निवेशविशेषकार्यत्वाचेतनोपादानत्वार्थक्रियाकारित्वादीनां साधनानामुपपत्तेस्ततः
पृथिव्यादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वासिद्धेः ।

६८९. ननु च प्राक्कायकरणोत्पत्तेरात्मनो धर्माधर्मयोश्च स्वयमचेतनत्वाद्विचित्रोपभोगयोग्य-
तनुकरणादिसंपादनकौशलासंभवात् तन्निमित्तमात्मान्तरं, मृत्पिण्डादिकुलालवदिति चेन्न, एवमपि
प्रकृतसाधनव्यतिरेकानिश्चयात् । तथाहि - तनुकरणभुवनादिकं विवादापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं, विरम्य प्रवृत्तेः,
सन्निवेशविशिष्टत्वात्, अचेतनोपादानत्वात्, अर्थक्रियाकारित्वात्, कार्यत्वाद्वा, घटवत्, इति साधनमुच्यते,
तस्यात्मान्तरमीश्वराख्यं बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाचेतनस्यात्मनोऽनीशस्य धर्माधर्मयोश्चाचेतनयोर्विचित्रोपभोग-
योग्यतनुकरणभुवनादिनिर्माणकौशलासंभवात्तन्निमित्तकारणमात्मान्तरं बुद्धिमत्कारणमेषितव्यम्, इत्यनेन व्यतिरेकः
समर्थ्यते । कुलालमन्तरेण मृत्पिण्डदण्डादेः स्वयमचेतनस्य घटादिनिष्पादनकौशलासंभववदिति वैधर्म्यदृष्टान्तप्रदर्शनम् ।
सत्येव कुलाले मृत्पिण्डादेर्घटादिसंपादनसामर्थ्यदर्शनादिति चान्वयसमर्थनमभिधीयते । न चैतदभिधातुं
शक्यमन्यथानुपपत्तेरभावात् । बुद्धिमता कारणेन विना विरम्य प्रवृत्त्यादेरसंभवादन्यथानुपपत्तिरस्त्येवेति चेन्न,
तस्यापि वितनुकरणस्य तत्कृतेरसंभवात्, कालादिवत् । तादृशेपि निमित्तभावेकर्मणामचेतनत्वेपि
तन्निमित्तत्वमप्रतिषिद्धं, सर्वथा दृष्टान्तव्यतिक्रमात् । यथैव हि कुलालादिः सतनुकरणः कुम्भादेः प्रयोजको
दृष्टान्तस्तनुकरणभुवनादीनामशरीरेन्द्रियेश्वरप्रयोजकत्वकल्पनया व्यतिक्रम्यते, तथा कर्मणामचेतनानामपि
तन्निमित्तत्वकल्पनया बुद्धिमानपि दृष्टान्तो व्यतिक्रम्यतां, विशेषाभावात् ।

६९०. स्यान्मतम् - 'सशरीरस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नवत् एव कुलालादेः कारकप्रयोक्तृत्वं दृष्टं, कुटादिकार्यं कर्तुमबुद्ध्यमानस्य तददर्शनाद्, तद्बुद्धिमतोपीच्छापाये तदनुपलब्धेस्तदिच्छावतोपि प्रयत्नाभावे तदनुपलम्भात् । तद्वद्वितनुकरणस्यापि बुद्धिमतः स्रष्टुमिच्छतः प्रयत्नवतः शश्वदीश्वरस्य समस्तकारकप्रयोक्तृत्वोपपत्तेर्न दृष्टान्तव्यतिक्रमः, सशरीरत्वेतरयोः कारकप्रयुक्तिं प्रत्यनङ्गत्वात् । न हि सर्वथा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साम्यमस्ति 'तद्विशेषविरोधात्' इति, तदयुक्तं वितनुकरणस्य बुद्धीच्छाप्रयत्नानुपपत्तेर्मुक्तात्मवत् शरीराद्वहिः संसार्यात्मवत्, कालादिवद्वेति । शरीरेन्द्रियाद्युत्पत्तेः पूर्वमात्मना व्यभिचार इति चेन्न, तस्यापि बुद्धीच्छाप्रयत्नरहितत्वोपगमादन्यथा स्वमतविरोधात् । परेषां तु तस्य सशरीरस्यैव बुद्ध्यादिमत्त्वाभ्युपगमात् तेनानेकान्तः ।

६९१. ननु चेश्वरस्य धर्मित्वे तदप्रतिपत्तावाश्रयासिद्धौ हेतुरिति चेन्न, प्रसङ्गसाधनेवश्यमाश्रयस्यानन्वेषणी-यत्वात् तत्प्रतिपत्तिसिद्धावाच्च । ननु यतः प्रमाणादीश्वरस्यास्मद्विलक्षणस्य धर्मिणः प्रतिपत्तिस्तेनैव हेतुर्बाध्यते इति चेन्न, आत्मान्तरस्य सामान्येनेश्वराभिधानस्य धर्मित्वात् सकलकारकप्रयोक्तृत्वेन बुद्ध्यादिमत्त्वेन च तस्य विवादापन्नत्वात् ।

६९२. अथ 'तन्वादिकारकाणि विवादापन्नानि चेतनाधिष्ठितानि, विरम्यप्रवृत्त्यादिभ्यो, वास्यादिवत्, इत्यनुमानात् समस्तकारकप्रयोक्तृत्वं बुद्ध्यादिसंपन्नत्वं चेश्वरस्य साध्यते । ततोऽशरीरेन्द्रियत्वम्, अनाद्यनन्ततन्वादिकार्यसंताननिमित्तकारणस्यानाद्यनन्तत्वसिद्धेरनाद्यनन्तस्य शरीरत्वविरोधात् । अशरीरत्वमपि तस्यानाद्यनन्तमस्तु बुद्धीच्छाप्रयत्नवत् । इति मतं, तदयुक्तं, प्रमाणबाधनात् ! तथा हि—नेश्वरे शरीरत्वमनाद्यनन्तमशरीरत्वात्, परप्रसिद्ध्या कायकरणोत्पत्तेः पूर्वमस्मदाद्यशरीरत्ववत् । नेश्वरबुद्ध्यादयो नित्या बुद्ध्यादित्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवदिति । एतेनागमात् 'अपाणिपादः' इत्यादेरीश्वरस्याशरीरत्वसाधनं प्रत्याख्यातं, तस्य युक्तिबाधितत्वात् । तत एव सशरीरो महेश्वरोस्त्विति चेन्न, तच्छरीरस्यापि बुद्धिमत्कारणापूर्वकत्वे तेनैव कार्यत्वादित्तेनानां व्यभिचारात् । तस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वे वाऽपरापरशरीरकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गात् पूर्वपूर्वस्वशरीरेणोत्तरोत्तरस्वशरीरोत्पत्तौ भवस्य निमित्तकारणत्वे सर्वसंसारिणां तथा प्रसिद्धेरीश्वरकल्पनावै-यर्थ्यात्, स्वोपभोग्यभुवनाद्युत्पत्तावपि तेषामेव निमित्तकारणत्वोपपत्तेः । इति न कार्यत्वाचेतनो-पादानत्वसन्निवेशविशिष्टत्वहेतवो गमकाः स्युः । स्थित्वाप्रवर्तनार्थक्रियादि चेतनाधिष्ठानादिति नियमे पुनरीश्व-रादेरपि मां भूत् । अन्यथेश्वरदिक्कालाकाशाश्चेतनाधिष्ठिताः स्युः, सर्वकार्येषु क्रमजन्मसु स्थित्वा प्रवर्तनादर्थक्रियाकारित्वाद्वास्यादिवदिति न्यायात् । तथा चेश्वरोपीश्वरान्तरेणाधिष्ठित इत्यनवस्था स्यात्, अन्यथा स्यातेनैवास्य हेतोर्व्यभिचारः ।

६९३. नायं प्रसङ्गो, बुद्धिमत्त्वादिति चेत्तत एव तर्हि प्रहीणतनुकरणादयः प्राणिनो मा भूवन् । यथैव हि बुद्धिमान्नीश्वरो नाधिष्ठात्रन्तरं चेतनमपेक्षते तथा प्रहीणान् कुब्जादिशरीरकरणादीनपि मास्म करोत्, सातिशयं तद्विदः प्रहीणस्वकार्याकरणदर्शनात् । प्रहीणतनुकरणादयः प्राणिनां कर्मणो

वैचित्र्यादिति चेत्तर्हि^{३२५} कर्मणामपि^{३२६} तेषामीश्वरज्ञाननिमित्तत्वे^{३२३} समानप्रसङ्गः^{३२४}, तान्यपि प्रहीणतनुकरणादि-
कारणानि मा भूवन्निति । तदनिमित्तत्वे^{३२६} तनुकरणादेरपि^{३२७} तन्निमित्तत्वं^{३२८} मा भूद्विशेषाभावात् । एवं^{३२९}
चार्थक्रियादेरपि^{३३०} ताभ्यामनैकान्तिकत्वं^{३३१} कर्मणः^{३३२} स्थाणोश्चार्थक्रियाकारित्वस्थित्वाप्रवर्तनयोश्चेतनाधिष्ठानाभावेपि^{३३३}
भावात् । ततः^{३३४} कर्मबन्धविशेषवशाच्चित्राः^{३३५} कामादयस्ततः^{३३६} कर्मवैचित्र्यमिति^{३३७} स्थितम् । नहि^{३३८} भावस्वभावोपालम्भः^{३३९}
करणीयोऽन्यत्रापि^{३४०} तथैव^{३४१} तत्प्रसङ्गानिवृत्तेः । यथैव^{३४२} हि कथमचेतनः^{३४३} कर्मबन्धः^{३४४} कामादिवैचित्र्यं^{३४५} कुर्यात्^{३४६} कामादिर्वा
चेतनस्वभावः^{३४७} कथमचेतनं^{३४८} कर्मवैचित्र्यमिति^{३४९} तत्स्वभावस्योपालम्भः^{३५०} प्रवर्त्यते^{३५१} तथा^{३५२} कथमचेतन-
मुन्मत्तकादिभोजनमुन्मादादिवैचित्र्यं^{३५३} विदधीत,^{३५४} प्राणिनामुन्मादादिर्वा^{३५५} चेतनः^{३५६} कथमचेतनं^{३५७} मृदादि
रूपवैचित्र्यमित्यपि^{३५८} तत्स्वरूपोपालम्भः^{३५९} किमिति^{३६०} प्रसज्यमानो^{३६१} निवर्त्यते? तथा^{३६२} दृष्टत्वादिति^{३६३} चेत्तत्^{३६४} एवं^{३६५}
प्रकृतस्वभावोपालम्भोपि^{३६६} निवर्त्यतां,^{३६७} तथानुमितत्वात् ।

६९४. न चैवमीश्वरस्याप्यनुमितत्वादुपालम्भप्रसङ्गनिवृत्तिः^{३६८} स्यादिति^{३६९} शङ्कनीयं,^{३७०} तदनुमानस्यानेकदोषदुष्टत्वात् ।
तथा^{३७१} हि—तनुकरणभुवनादेः^{३७२} कार्यत्वादिसाधनं^{३७३} किमेकबुद्धिमत्कारणत्वं^{३७४} साधयेदनेकबुद्धिमत्कारणत्वं^{३७५} वा?
प्रथमपक्षे^{३७६} प्रासादादिनानेकसूत्रधारयजमानादिहेतुना^{३७७} तदनेकान्तिकम् ।^{३७८} द्वितीयपक्षे^{३७९} सिद्धसाधनं,
नानाप्राणिनिमित्तत्वात्तदुपभोग्यतन्वादीनां,^{३८०} तेषां^{३८१} तददृष्टकृतत्वात् ।^{३८२} एतेन^{३८३} बुद्धिमत्कारणसामान्यसाधने^{३८४}
सिद्धसाधनमुक्तं,^{३८५} तदभिमतविशेषस्याधिकरणसिद्धान्तन्यायेनाप्यसिद्धेः ।^{३८६} सामान्यविशेषस्य^{३८७} साध्यत्वाददोष^{३८८}
इति चेन्न,^{३८९} दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यविकल्पद्वयानतिवृत्तेः,^{३९०} दृष्टविशेषाश्रयस्य^{३९१} सामान्यस्य^{३९२} साध्यत्वे^{३९३} स्वैष्टविघातात्,
अदृष्टविशेषाश्रयस्य^{३९४} सामान्यस्य^{३९५} साध्यत्वे^{३९६} साध्यशून्यत्वप्रसङ्गान्निर्दर्शनस्य ।^{३९७} दृष्टेतरविशेषाश्रयसामान्यसाधनेपि^{३९८}
स्वाभिमतविशेषसिद्धिः^{३९९} कुतः^{४००} स्यात् ? अधिकरणसिद्धान्तन्यायादिति चेत्,^{४०१} कोयमधिकरणसिद्धान्तो^{४०२} नाम?
यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः^{४०३} सोधिकरणसिद्धान्तः ।^{४०४} ततो^{४०५} दृष्टादृष्टविशेषाश्रयसामान्यमात्रस्य^{४०६} बुद्धिमन्निमित्तस्य^{४०७}
जगत्सु^{४०८} प्रसिद्धौ^{४०९} प्रकरणाज्जगन्निर्माणसमर्थः^{४१०} समस्तकारकाणां^{४११} प्रयोक्ता^{४१२} सर्वविदलुप्तशक्तिर्विभुरशरीरत्वादिविशेषाश्रय^{४१३}
एव^{४१४} सिध्यतीति^{४१५} चेत्स्यादेवं,^{४१६} यदि^{४१७} सकलजगन्निर्माणसमर्थेनैकेन^{४१८} समस्तकारकाणां^{४१९} प्रयोक्तृत्वसर्वज्ञत्वादिविशेषोपेतेना-
विनाभावि^{४२०} दृष्टेतरविशेषाधिकरणबुद्धिमत्कारणसामान्यं^{४२१} कुतश्चित्^{४२२} सिध्येत् । न च^{४२३} सिध्यति,^{४२४} अनेकबुद्धिमत्कारणेनैव^{४२५}
स्वोपभोग्यतन्वादिनिमित्तकारणविशेषेण^{४२६} तस्य^{४२७} व्याप्तत्वसिद्धेः^{४२८} समर्थनात् । तथा^{४२९} सर्वज्ञवीतरागकर्तृकत्वे^{४३०} साध्ये^{४३१}
घटादिनानैकान्तिकं^{४३२} साधनं,^{४३३} साध्यविकलं^{४३४} च^{४३५} निदर्शनम् । सरागासर्वज्ञकर्तृकत्वे^{४३६} साध्येऽप्यसिद्धान्तः ।^{४३७} सर्वथा^{४३८}
कार्यत्वं^{४३९} च^{४४०} साधनं^{४४१} तन्वादावसिद्धं,^{४४२} तस्य^{४४३} कथंचित्कारणत्वात् ।^{४४४} कथंचित्कार्यत्वं^{४४५} तु^{४४६} विरुद्धं,^{४४७} सर्वथा^{४४८}
बुद्धिमन्निमित्तत्वात्साध्याद्विपरीतस्य^{४४९} कथंचिद्बुद्धिमन्निमित्तत्वस्य^{४५०} साधनात् । तथा^{४५१} पक्षोप्यनुमानबाधितः^{४५२} स्यात्,
'अकृत्रिमं^{४५३} जगत्,^{४५४} दृष्टकर्तृकविलक्षणत्वात्,^{४५५} खादिवत्' इत्यनुमानस्य^{४५६} तद्बाधकस्यान्यत्र^{४५७} समर्थितत्वात् । इति^{४५८}
सूक्तं^{४५९} 'नेश्वरकृतः संसारः' इति ।

६९५. ननु यदि^{४६०} कर्मबन्धानुरूपतः^{४६१} संसारः^{४६२} स्यान्न^{४६३} तर्हि^{४६४} केषांचिन्मुक्तिरितरेषां^{४६५} संसारश्च,^{४६६} कर्मबन्धनिमित्ता-
विशेषादिति^{४६७} चेन्न,^{४६८} तेषां^{४६९} शुद्ध्यशुद्धितः^{४७०} प्रतिमुक्तीतरसंभवादात्मनाम् । न हि^{४७१} जीवाः^{४७२} शश्वदशुद्धित एव^{४७३}

व्यवस्थिताः स्याद्वादिनां^{३७२} याज्ञिकानामिव,^{३६९} कामादिस्वभावत्वनिराकरणात्,^{३७०} तत्स्वभावत्वे^{३७१} कदाचिदौदासीन्योपलम्भवविरोधात् । नापि शुद्धित एवावस्थिताः^{३७३} कापिलानामिव,^{३७४} प्रकृतिसंसर्गोपि तत्र कामाद्युपलम्भवविरोधात्, प्रकृतावेव कामाद्युपलम्भे पुरुषकल्पनावैयर्थ्यात्, तदुपभोगस्यापि तत्रैव संभवात् । न ह्यन्यः^{३७५} कामयतेऽन्यः^{३७६} काममनुभवतीति वक्तुं युक्तम् । नापि सर्वे संभवद्विशुद्ध्य एव जीवाः प्रमाणतः प्रत्येतुं शक्याः, संसारिशून्यत्वप्रसङ्गात् । किं तर्हि? शुद्ध्यशुद्धिभ्यां व्यवतिष्ठन्ते, 'जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः' इति वचनात् । ततः शुद्धिभाजामात्मनां प्रतिमुक्तिरशुद्धिभाजां संसारः । केषांचित्^{३७७} प्रतिमुक्तिः स्वकाललब्धौ^{३७८} स्यादिति प्रतिपत्तव्यम् । के पुनः शुद्ध्यशुद्धी जीवानामित्याहुः—

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्^{३७९} ।

साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ।। १०० ।।

६९६. शुद्धिस्तावज्जीवानां भव्यत्वं केषांचित्सम्यग्दर्शनादियोगान्निश्चीयते । अशुद्धिरभव्यत्वं तद्वैपरीत्यात्^{३८०} सर्वदा प्रवर्तनादवगम्यते छद्मस्थैः, प्रत्यक्षतश्चातीन्द्रियार्थदर्शिभिः । इति भव्येतरस्वभावौ^{३८१} शुद्ध्यशुद्धी जीवानां तेषां सामर्थ्यासामर्थ्ये, शक्त्यशक्ती इति यावत् । ते माषादिपाक्यापरशक्तिवत् संभाव्येते^{३८२} सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाणत्वात् । तत्र शुद्धेर्व्यक्तिः सादिस्तदभिव्यञ्जकसम्यग्दर्शनादीनां सादित्वात् । एतेनानादिः सदाशिवस्य शुद्धिरिति प्रत्युक्तं, प्रमाणाभावाद् दृष्टातिक्रमादिष्टविरोधाच्च । अशुद्धेः पुनरभव्यत्वलक्षणाया व्यक्तिरनादिस्तदभिव्यञ्जकमिथ्यादर्शनादिसंततरेनादित्वात् । पर्यायापेक्षयापि^{३८३} शक्तेरनादित्वमिति चेन्न, द्रव्यापेक्षयैवानादित्वसिद्धेः । इति शक्तेः प्रादुर्भावापेक्षया सादित्वम् । ततः शक्तिर्व्यक्तिश्च^{३८४} स्यात्सादिः, स्यादनादिरित्यनेकान्तसिद्धिः । यदि वा जीवानामभिसन्धिनानात्वं^{३८५} शुद्ध्यशुद्धी । स्वनिमित्तवशात्^{३८६} सम्यग्दर्शनादिपरिणामात्मकोऽभिसंधिः शुद्धिः, मिथ्यादर्शनादिपरिणामात्मकोऽशुद्धिर्दोषावरणहानीतरलक्षणत्वात्तेषां^{३८७} शुद्ध्यशुद्धिशक्त्योरिति भेदमाचार्यः प्राह, ततोऽन्यत्रापि भव्याभव्याभ्यां भव्येष्वेव, साद्यनादी प्रकृतशक्त्योर्व्यक्ती सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तेः पूर्वमशुद्ध्यभिव्यक्तेर्मिथ्यादर्शनादिसंततिरूपायाः कथंचिदनादित्वात्^{३८८}, सम्यग्दर्शनाद्युत्पत्तिरूपायाः पुनः शक्त्यभिव्यक्तेः सादित्वात् । कुतः शक्तिप्रतिनियम इति चेत्, तथास्वभावादिति ब्रूमः । न हि भावस्वभावाः पर्यनुयोक्तव्याः, तेषामतर्कगोचरत्वात् ।

६९७. ननु प्रत्यक्षेण प्रतीतेर्ये स्वभावैरुत्तरं वाच्यं सति पर्यनुयोगे,^{४०१} न पुनरप्रत्यक्षे, अतिप्रसङ्गादिति चेन्न, अनुमानादिभिरपि प्रतीते वस्तुनि भावस्वभावैरुत्तरस्याविरोधात्^{४०२} प्रत्यक्षवदनुमानादेरपि प्रमाणत्वनिश्चयात् । ततः परमागमात्सिद्धप्रामाण्यात्^{४०३} प्रकृतजीवस्वभावाः प्रतीतिमनुसरन्तो न तर्कगोचरा यतः पर्यनुयुज्यन्ते, तर्कगोचराणामप्यागमगोचरत्वेन पर्यनुयोगप्रसङ्गात् । तद्वत्प्रत्यक्षविषयाणामपि । इति न प्रत्यक्षागमयोः स्वातन्त्र्यमुपपद्येत तर्कवत् । तदनुपपत्तौ च नानुमानस्योदयः स्यात्, धर्मिप्रत्यक्षादेः प्रतिज्ञायमानागमार्थस्य च प्रमाणान्तरापेक्षत्वादित्यनवस्थानात् । ततः सूक्तं कर्मबन्धानुरूपत्वेपि कामादिप्रभवस्य भावसंसारस्य द्रव्यादिसंसारहेतोः प्रतिमुक्तिरशुद्धिर्जीवानां शुद्ध्यशुद्धिवैचित्र्यादिति ।

६९८. ननु चोपेयतत्त्वस्य सर्वज्ञत्वादेरुपायतत्त्वस्य च ज्ञापककारकविकल्पस्य हेतुवाददैवादेः प्रमाण-
नयैरेव कात्स्न्यैकदेशतोधिगमः कर्तव्यो नान्यथा तदधिगमोपायान्तराणामत्रैवान्तर्भावात्, 'प्रमाणनयैरधिगमः'
(त.सू.१.६) इति वचनात्। तत्र प्रमाणमेव तावद्वक्तव्यं, तत्स्वरूपादिविप्रतिपत्तिसद्भावात्, तन्निराकरणमन्तरेण
तदध्यवसायानुपपत्तेः। इति भगवता पृष्टा इवाचार्याः प्राहुः—

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम् ।

क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥

६९९. प्रमाणलक्षणसंख्याविषयविप्रतिपत्तिरनेन व्यवच्छिद्यते। तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति वचनादज्ञानस्य
निराकारदर्शनस्य सन्निकर्षदिश्याप्रमाणत्वमुक्तं, तस्य स्वार्थाकारप्रमितिं प्रति साधकतमत्वानुपपत्तेः, ज्ञानस्यैव
स्वार्थाकारव्यवसायात्मनस्तत्र साधकतमत्वात्। नहि स्वार्थाकारव्यवसायशून्यं निर्विशेषवस्तुमात्रग्रहणं
दर्शनमिन्द्रियादिसृष्टिकर्षमात्रं श्रोत्रादिवृत्तिमात्रं वा यथोक्तपरिच्छितिं प्रति साधकतमं,
तद्भावाभावयोस्तस्यास्तद्वत्तापायात्। यद्भावे हि प्रमितेर्भाववत्ता यदभावे चाभाववत्ता तत्तत्र साधकतमं युक्तं,
भावाभावयोर्द्वयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वमिति वचनात्। न चैतद्दर्शनादिषु संभवति, तद्भावेऽपि स्वार्थप्रमितेः
क्वचिदभावात्, संशयादेरन्यथानुपपद्यमानत्वात्, तद्भावेऽपि च विशेषणज्ञानाद्विशेष्यप्रमितेः सद्भावोपगमात्।

७००. ननु ज्ञानस्याप्येवं साधकतमत्वं मा भूत्, संशयादिज्ञाने सत्यपि यथार्थप्रमितेरभावात्, तदभावेऽपि
च भावादिति चेन्न, तत्त्वग्रहणात्। तत्त्वज्ञानं प्रमाणमिति हि निगद्यमाने मिथ्याज्ञानं संशयादि मत्याद्याभासं
व्यवच्छिद्यते। ततोऽस्य साधकतमत्वं यथोक्तमुपपद्यते एव।

७०१. नन्वेमपि तत्त्वज्ञानान्तरस्य प्रमेयस्य प्रमातृत्वात्मनः स्वार्थप्रमितिं प्रति साधकतमत्वात् प्रमाणत्वं
कुतो न भवेदिति चेन्न, तस्य कर्मत्वेन कर्तृत्वेन च साधकतमत्वासिद्धेस्तत्सिद्धौ करणत्वप्रसङ्गात्। करणस्य च
तत्त्वज्ञानात्मनः प्रमाणत्वे को विरोधः? तदेवं सकलप्रमाणव्यक्तिव्यापि साकल्येनाप्रमाणव्यक्तिभ्यो व्यावृत्तं
प्रतीतिसिद्धं तत्त्वज्ञानं प्रमाणलक्षणम्, तस्य सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वात् संभवद्वाधकस्य, संशयितासंभवद्वाधकस्य
च कदाचित्त्वचित्कस्यचिन्निश्चितासंभवद्वाधकस्य च प्रमाणत्वायोगात्, प्रवृत्तिसामर्थ्यास्यार्थवत्क्रियाप्राप्तेरदुष्ट-
कारणजन्यत्वस्य लोकसंमतत्वस्य च प्रमाणलक्षणस्य तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके प्रपञ्चतोऽपास्तत्वात्।

७०२. ननु च तत्त्वज्ञानस्य सर्वथा प्रमाणत्वसिद्धेरनेकान्तविरोध इति न मन्तव्यं, बुद्धेरनेकान्तात्,
येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदस्तदपेक्षया प्रामाण्यमिति निरूपणात्। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः
संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या, प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्राकादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्,
तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। कथमेवं क्वचित्प्रमाणव्यपदेश एव
क्वचिदप्रमाणव्यपदेश एवेति नियता लोकव्यवस्थितिरिति? उच्यते, तत्प्रकषपेक्षया व्यपदेशव्यवस्था
गन्धद्रव्यादिवत्। यथा च प्रत्यक्षस्य संवादप्रकर्षात्प्रमाणव्यपदेशव्यवस्था, प्रत्यक्षाभासस्य च

विसंवादप्रकर्षादप्रमाणत्वव्यपदेशव्यस्थितिः, गन्धादिगुणप्रकर्षात्कस्तूरिकादेर्गन्धद्रव्यादिव्यपदेशव्यवस्था तद-
 व्यवहारिभिरभिधीयते, तथानुमानादेरपि कथंचिन्मिथ्याप्रतिभासेपि तत्त्वप्रतिपत्त्यैव प्रामाण्यमन्यथा चाप्रामाण्य-
 मित्यनेकान्तसिद्धिः । एकान्तकल्पनायां तु नान्तर्बहिस्तत्त्वसंवेदनं व्यवतिष्ठते ताथागतमते स्वयमद्वयादेर्द्वयादि-
 प्रतिभासनाद्रूपादिस्वलक्षणानां च तथैवादर्शनाद्यथा व्यावर्ण्यन्ते । स्वसंवेदनस्य संविन्मात्रे प्रमाणत्वेपि
 तदद्वयक्षणिकपरमाणुरूपे विपर्ययप्रतिभासादप्रमाणत्वकल्पनायां कथमेकान्तहानिर्न स्यात् यत्प्रमाणं तत्
 प्रमाणमेवेति? रूपादिदर्शनस्य च रूपादिमात्रे प्रमाणत्वेपि स्थूलस्थिरसाधारणाकारप्रतिभासस्य भ्रान्तत्वाद-
 प्रमाणतायां कथमेकान्तसिद्धिः? तस्माददृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुण इति तदविशेषोपलम्भाभ्युपगमेपि
 भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं संप्रवर्तते इति वचनात् तद्व्यवसायवैकल्यं सिद्धमेव । तत्र च तद्व्यवसायवैकल्ये
 वा दानहिंसादिचित्ते क्वचिद्धर्मधर्मसंवेदनवत् परोक्षत्वोपपत्तेस्तत्त्रिरूपलिङ्गबलभाविनामपि विकल्पानाम-
 तत्त्वविषयत्वात् कुतस्तत्त्वप्रतिपत्तिः?

मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतः ।

मिथ्याज्ञानविशेषेपि विशेषोर्थक्रियां प्रति ॥१॥

यथा, तथाऽयथार्थत्वेऽप्यनुमानावभासयोः ।

अर्थक्रियानुरोधेन प्रमाणत्वं व्यवस्थितम् ॥२॥

इति, मणिप्रदीपप्रभादृष्टान्तोपि स्वपक्षघाती, मणिप्रदीपप्रभादर्शनस्यापि संवादकत्वेन प्रामाण्यप्राप्त्या
 प्रमाणान्तर्भावविघटनात् कथं प्रमाणे एवेत्यवधारणं घटते? न हि तत्प्रत्यक्षं स्वविषये विसंवादानात्
 शक्तिकादर्शनवद् रजतभ्रान्तौ । तत्राप्रतिपन्नव्यभिचारस्य यदेव मया दृष्टं तदेव मया प्राप्तमित्ये-
 कत्वाध्यवसायाद्विसंवादानाभावान्मणिप्रभाया मणिदर्शनस्य प्रत्यक्षत्वे तिमिराशुभ्रमणनौयानसंक्षोभाद्याहितविभ्रमस्यापि
 धावदध्वादितरुदर्शनस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गादभ्रान्तमिति विशेषणमध्यक्षस्य न स्यात् । धावतां दर्शनादवस्थितानामगानां
 प्राप्तेर्विसंवादात् भ्रान्तत्वसिद्धेस्तस्याप्रत्यक्षत्वे कुञ्चिकाविवरे मणिप्रभायां मणेर्दर्शनादपवरकाभ्यन्तरे परिप्राप्तेः
 कथमिव तस्याभ्रान्तता युज्येत? इति न प्रत्यक्षं तत् स्यात् । नापि लैङ्गिकं, लिङ्गलिङ्गिसंबन्धाप्रतिपत्तेरन्यथा
 दृष्टान्तेतरयोरेकत्वात् किं केन कृतं स्यात्? तदेतेन 'प्रतिपन्नव्यभिचारस्य य इत्थं प्रतिभासः स्यात् स न
 संस्थानवर्जितः, एवमन्यत्र दृष्टत्वादनुमानं तथा सतीति' प्रज्ञाकरमतमप्यपास्तं, स्वयमसिद्धेन दृष्टान्तेन
 साध्यसिद्धेरकरणात् । कदाचित्संवादात् प्रत्यक्षत्वेनैव मणिप्रभायां मणिदर्शनस्य दृष्टान्तत्वमयुक्तं,
 कादाचित्कार्थप्राप्तेररेकादेरपि संभवात् प्रत्यक्षत्वप्रसक्तेः ।

७०३. सर्वदा संवादात्तस्य प्रत्यक्षत्वमुदाहरणत्वं चेत्यप्यसारं, तदसिद्धेः । न हि मिथ्याज्ञानस्य संवादनेकान्तः
 संभवति, विरोधात् । नन्वनुमानस्य संभवत्येवावस्तुविषयत्वेन मिथ्याज्ञानस्यापि सर्वदा संवादनं, लिङ्गज्ञानवत्
 पारम्पर्येण वस्तुनि प्रतिबन्धात् । तदुक्तम्—

लिङ्गलिङ्गिधियोरेवं पारम्पर्येण वस्तुनि ।

प्रतिबन्धात्तदाभासं शून्ययोरप्यवञ्चनम् ॥ ()

इति कश्चित्^{५१३}, सोप्यनालोचिताभिधायी, सर्वदा संवादिनः प्रत्यक्षवन्मिथ्याज्ञानत्वविरोधात्^{५१४} । तथा न लैङ्गिकं सर्वथैवाविसंवादकत्वात् । न हि तदालम्बनं भ्रान्तं, प्राप्येपि वस्तुनि भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । प्राप्ये तस्याविसंवादकत्वे^{५१५} स्वालम्बनेप्यविसंवादकत्वम् । इति कथं न सर्वथैवाविसंवादकत्वमनुमानस्य ? सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्व-प्रसिद्धेः, प्रत्यक्षवत्, अन्यथा प्रमाणत्वायोगात् । 'तस्मात् सूक्तं - 'तत्त्वज्ञानमेव प्रमाणं कारणसामग्रीभेदात्^{५१६} प्रतिभासभेदेपीति ।' न ह्यनुमानस्य वस्तुविषयत्वात्^{५१७} विशदप्रतिभासनमापादयितुं शक्यं, विदूरस्थपादपादिदर्शनेनाविशदप्रतिभासेन व्यभिचारात् । पृथग्जनप्रत्यक्षस्यापि योगिप्रत्यक्षवदसंभवात्^{५१८} सकलसमारोपत्वप्रसङ्गात् स्वलक्षणविषयत्वाविशेषात् । तदविशेषेपि योगीतरप्रत्यक्षयोः कारणसामग्रीविशेषा-द्विशेषपरिकल्पनायां तत एव प्रत्यक्षानुमानयोरपि प्रतिभासविशेषोस्तु, सर्वथा बाधकाभावात् ।

७०४. प्रमाणमेव वा तत्त्वज्ञानं नामेत्यवधारणमनुमन्तव्यं, फलज्ञानस्यापि स्वाव्यवहितफलापेक्षया प्रमाणत्वोपगमात्^{५१९} । ततः स्वलक्षणदर्शनानन्तरभाविनस्तत्त्वव्यवसायस्य^{५२०} प्रमाणत्वोपपत्तेः प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणे एवेत्याद्यवधारणं प्रत्याचष्टे^{५२१} सौगतानां, तस्य^{५२२} प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रमाणान्तरत्वात् । नहीन्द्रियव्यवसायोऽप्रमाणमविसंवादकत्वात् । अनधिगतार्थाधिगमाभावात्तदप्रमाणत्वे लैङ्गिकस्यापि मा भूत् प्रमाणत्वं, विशेषाभावात् । अनधिगतस्वलक्षणाध्यवसायादनुमितेरतिशयकल्पनायां प्रकृतस्यापि न वै प्रमाणत्वं प्रतिषेध्यमनिर्णीतनिर्णयात्मकत्वात्^{५२३} क्षणभङ्गानुमानवत् । क्षणिकत्वानुमानस्य ह्यनिश्चिताध्यवसाय एवानधिगतस्वलक्षणाध्यवसायः । स^{५२४} च ध्वनिदर्शनानन्तरभाविनो व्यवसायस्यास्तीति^{५२५} युक्तं प्रमाणत्वम् । ध्वनेरखण्डशः श्रवणादधिगमोपि प्राथमिकल्पिकस्तत्त्वनिर्णीतिरेव तद्वशात् तत्त्वव्यवस्थानान्निर्णीतिरेव^{५२६} मुख्यप्रमाणत्वोपपत्तेः, तदत्यये दृष्टेरपि विसंवादकत्वेन प्रामाण्यानुपपत्तेरदर्शनानतिशयनात्तददर्शनाभावेपि^{५२७} तत्त्वनिश्चये तदन्यसमारोपव्यवच्छेदलक्षणे प्रमाणलक्षणाङ्गीकरणात् ।

७०५. ननु निश्चितार्थमात्रस्मृतेरप्येवं प्रमाणत्वापत्तेरतिप्रसङ्ग इति चेन्न, प्रमितिविशेषाभावेतरपक्षानति-क्रमात् । प्रथमपक्षे क्वचित्कुतश्चिन्धूमकेतुलैङ्गिकवन्निर्णीतार्थमात्रस्मृतेरधिगतार्थाधिगमात् प्रामाण्यं मा भूत् प्रमितिविशेषाभावात् । द्वितीयपक्षे पुनरिष्टं प्रामाण्यमनुस्मृतेः प्रमितिविशेषसद्भावात् । प्रकृतनिर्णयस्य प्रामाण्ये हि न किञ्चिदतिप्रसज्यते, दृष्टस्याप्यनिश्चितस्य निश्चयात्^{५२८} प्रत्यक्षतो निश्चिते धूमकेतौ ज्वालादिविशेषाद् धूमकेतु-लैङ्गिकस्मृतौ तु विशेषपरिच्छित्तेरभावादप्रामाण्यनिदर्शनात् । परिच्छित्तिविशेषसद्भावेपि साकल्येन स्मृतेरप्रामाण्यकल्पनायामनुमानोत्थानायोगः, संबन्धस्मृतेरप्रमाणत्वात्, तस्या अपि लैङ्गिकत्वेन प्रामाण्ये परापरसंबन्धस्मृतीनामनुमानत्वकल्पनादनवस्थानात् संबन्धस्मृतिमन्तरेणानुमानानुदयात् । सुदूरमपि गत्वा संबन्धस्मृतेरनुमानत्वे प्रमाणत्वे च सिद्धं स्मृतेरुपयोगविशेषात् प्रमाणत्वमविसंवादादनुमानवत् । तच्च^{५२९} यथा प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणे एवेत्यवधारणं प्रत्याचष्टे, तथा त्रीण्येव प्रमाणानि चत्वार्येव पंचैव षड्वेत्यवधारणमपि, स्मृतेरागमोपमानार्थापत्यभावेष्वनन्तर्भावात्, तदन्तर्भावेनान्तर्भाववदनवस्थानानुषङ्गादागमाद्युदयविरोधात्, शब्दादिस्मृतिमन्तरेण तदनुपपत्तेः । यदि पुनरागमाद्युत्थापकसामग्रीत्वाच्छब्दादिस्मृतेरागमादिप्रमाणत्वमप्युरीक्रियते

तदा शब्दादिप्रत्यक्षस्यापि तत्सामग्रीत्वादागमादित्वप्रसङ्गः । तथा च स्मृतिवन्न प्रत्यक्षं प्रमाणान्तरं स्यात् ।
प्रमाणान्तरत्वे वा स्मृतेरपि प्रमाणान्तरत्वं, दर्शनानन्तराध्यवसायवन्निर्णीतेपि कथंचिदतिशायनादनुमानवत् ।

७०६. एवं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणं, व्यवसायातिशयोपपत्तेः प्रत्यक्षादिवत्, तत्सामर्थ्याधीनत्वात्प्रमाण-
त्वस्थितेः, अविस्वादस्यापि स्वार्थव्यवसायात्मकत्वात् । अन्यथा हि विसंवादः स्यात्संशयादिवत् । न चेदं
प्रत्यभिज्ञानमव्यवसायात्मकं, तदेवेदं तत्सदृशमेवेदमित्येकत्वसादृश्यविषयस्य द्विविधप्रत्यभिज्ञानस्या-
बाधितस्यारेकादिव्यवच्छेदेनावगमात्, बाध्यमानस्याप्रमाणत्वोपपत्तेस्तदाभासत्वात् । न च सर्वं प्रत्यभिज्ञानं
बाध्यमानमेव, प्रत्यक्षस्य तद्विषये प्रवृत्त्यसंभवादबाधकत्वादनुमानस्यापि तद्विषयविपरीतसर्वथाक्षणिक-
विसदृशवस्तुव्यवस्थापकस्य निरस्तत्वात्तद्बाधकत्वायोगात् । ततः प्रत्यभिज्ञानं तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाणं, प्रत्यक्षवत् ।

७०७. एवं लिङ्गलिङ्गिसंबन्धज्ञानं प्रमाणमनिश्चितनिश्चयादनुमानवत् । सत्त्वक्षणिकत्वयोर्धूमतत्कारणयोर्वा
साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ न प्रत्यक्षमुत्सहते, सन्निहितार्थाकारानुकारित्वात् इन्द्रियजमानसस्वसंवेदनप्रत्यक्षस्य
योगिप्रत्यक्षस्य च अपरीक्षाक्षमत्वाच्च । नानुमानमनवस्थानुषङ्गात् । सुदूरमपि गत्वा तदुभयव्यतिरिक्तं
व्यवस्थानिमित्तमभ्युपगन्तव्यम् । तदस्माकमूहाख्यं प्रमाणमविस्वादकत्वात्, समारोपव्यवच्छेदकत्वादनुमानवत् ।
न चोहः संबन्धज्ञानजन्मा, यतोऽनवस्थानं स्यादपरापरोहानुसरणात्, तस्य प्रत्याक्षानुपलम्भजन्मत्वात् प्रत्यक्षवत्,
स्वयोग्यतयैव स्वविषये प्रवृत्तेः । संबन्धज्ञानमप्रमाणमेव, प्रत्यक्षानुपलम्भपृष्ठभावि विकल्पत्वाद् गृहीतग्रहणात्,
संबन्धप्रतिपत्तौ प्रत्यक्षानुपलम्भयोरेव भूयः प्रवर्तमानयोः प्रमाणत्वादित्येके; तेप्यसमीक्षितवाचः, कथंचिदपूर्वार्थविष-
यत्वादूहाख्यविकल्पस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः, प्रत्यक्षानुपलम्भयोः सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वाच्च व्याप्तौ
प्रवृत्त्यसंभवात् । यदि पुनरप्रमाणमेव व्याप्तिज्ञानं संबन्धं व्यवस्थापयेत्तदा प्रत्यक्षमनुमानं चाप्रमाणमेव स्वविषयं
व्यवस्थापयेत्, किं तत्प्रमाणत्वसाधनायासेन? लिङ्गलिङ्गिसंबन्धप्रतिपत्तिरर्थापत्तिरित्यन्ये । तेषामपि संबन्ध-
ज्ञानपूर्वकत्वेरर्थापत्तेरर्थापत्त्यन्तरानुसरणादनवस्था । तदपूर्वकत्वे स्वयमनिश्चितानन्यथाभवनस्यार्थापत्त्युदयत्वप्र-
सङ्गः परस्पराश्रयणं च, सत्यनुमानज्ञाने तदन्यथानुपपत्त्या संबन्धज्ञानं, सति च संबन्धज्ञानेनुमानज्ञानमिति
नैकस्याप्युदयः स्यात् । न चान्यत्संबन्धार्थापत्त्युत्थापकमस्त्यनुमानज्ञानाद् येन परस्पराश्रयणं न स्यात् । एतेन
उपमानादेः संबन्धप्रतिपत्तिः प्रत्युक्ता । तस्मादुपमानादिकं प्रमाणान्तरमिच्छतां तत्त्वनिर्णयप्रत्यवमर्षप्रतिबन्धाधिगम-
प्रमाणत्वप्रतिषेधः प्रायशो वक्तुर्जडिमानमाविष्करोति ।

७०८. इति प्रत्यक्षं परोक्षमित्येतद्विषयं प्रमाणमभ्युपगन्तव्यं, अर्थापत्त्यादेरनुमानव्यतिरेकेपि,
परोक्षेऽन्तर्भावात् । तदुक्तम्—

प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानं त्रिधाश्रितमविप्लवम् ।

परोक्षं प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति संग्रहः ॥ ()

७०९. ततः सूक्ष्ममिदमवधारणं प्रमाणमेव तत्त्वज्ञानमिति, प्रत्यक्षपरोक्षतत्त्वज्ञानव्यक्तीनां साकल्येन
प्रमाणत्वोपपत्तेः ।

७१०. तत्र सकलज्ञानावरणपरिक्षयविजृम्भितं केवलज्ञानं युगपत्सर्वार्थविषयम्। करणक्रमव्यवधानातिवर्तित्वात्^{६०४} युगपत्सर्वभासनम्। तत्त्वज्ञानत्वात्प्रमाणम्। तथोक्तम्—‘सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य’ (त० सू० १.२९) इति^{६०५} सूत्रकारैः। केवलज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तित्वात् चक्षुरादिज्ञानदर्शनवद्युगपत्सर्वभासनमयुक्तमिति चेन्न, तयोर्यौगपद्यात्, तदावरणक्षयस्य युगपद्भावात्, ‘मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्’ (त० सू० १०.१) इति।

७११. अत्र प्रथमं मोहक्षयस्ततो ज्ञानावरणादित्यक्षयः सकृदिति व्याख्यानात्। तज्ज्ञानदर्शनयोः क्रमवृत्तौ हि सर्वज्ञत्वं कादाचित्कं स्याद्, दर्शनकाले ज्ञानाभावात्तत्काले च दर्शनाभावात्। सततं च भगवतः केवलिनः^{६०६} सर्वज्ञत्वं सर्वदर्शित्वं च, ‘साद्यपर्यवसिते केवलज्ञानदर्शने’ () इति वचनात्। कुतस्तत्सिद्धिरिति चेन्निलोठितमेतत् सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे, न पुनरिहोच्यते।

७१२. केवलज्ञानदर्शनयोर्युगपद्भावः कुतः सिद्ध इति चेत्, सामान्यविशेषविषययोर्विगतावरणयोर्युगपत्प्रतिभासायोगात् प्रतिबन्धकान्तराभावात्। सामान्यप्रतिभासो हि दर्शनं विशेषप्रतिभासो ज्ञानम्। तत्प्रतिबन्धकं ज्ञानावरणं दर्शनावरणं च। यदुदयादस्मदादेः केवलज्ञानदर्शनानाविर्भावः। तयोश्च युगपदात्मविशुद्धिप्रकर्षविशेषात्^{६०८} परिक्षयसिद्धेः^{६०९} कथमिवायुगपत्प्रतिभासनं सामान्यविशेषयोः स्यात्? प्रक्षीणाशेषमोहान्तरायस्य प्रतिबन्धान्तरं च कथमिव संभाव्येत, येन युगपत् तद्वद्वितयं न स्यात्? अस्तु नाम केवलं तत्त्वज्ञानं युगपत्सर्वभासनं, मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञानं तु कथमित्युच्यते, शेषं सर्वं क्रमवृत्ति, प्रकारान्तरासंभवात्। तेन क्रमभावि^{६१३} यन्मत्यादितत्त्वज्ञानं तदपि प्रमाणमिति व्याख्यातं भवति, ‘मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानं,’ ‘तत्प्रमाणे’ (त० सू० १.९-१०) इति सूत्रकारवचनात्।

७१३. ननु च मत्यादिज्ञानचतुष्टयमपि युगपदिष्यते, तदादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्थ्यः’ (त० सू० १/३०) इति सूत्रसद्भावात्, इति न शङ्कनीयं, मत्यादिज्ञानानामनुपयुक्तानामेव यौगपद्यवचनात् ‘सह द्वौ न स्तः, उपयोगात्’ () इत्यार्षवचनात्। छद्मस्थज्ञानदर्शनोपयोगापेक्षया तद्वचनमिति चेन्नैवं विशेषानभिधानात्। ‘सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते’ इति न्यायात् तद्विशेषगतिरिति चेन्न, अन्यथापि विशेषगतिसंभवात्, तत्रैवेति प्रमाणाभावात्। क्वचिदात्मनि मत्यादिज्ञानानि सोपयोगानि युगपत्संभवन्ति सकृत्सन्निहितस्वविषयत्वात् दीर्घशङ्कुलीभक्षणादौ चक्षुरादिज्ञानपञ्चकवदित्यनुमानादिष्टविशेषगतिरस्तु। न चेदमुदाहरणं साध्यविकलं चक्षुरादिज्ञानानां क्रमवृत्तौ परस्परव्यवधानाद्विच्छेदोपलक्षणप्रसङ्गात्, प्रसिद्धक्रमभाविरूपादिज्ञानवत्’ इति न मन्तव्यं, चक्षुरादिज्ञान-^{६१७} पञ्चकस्यापि परस्परव्यवधानेपि विच्छेदानुपलक्षणं क्षणक्षयवत् ताथागतस्य स्यात्। तेषां यौगपद्ये हि संतानभेदात् परस्परपरामर्शाभावः सन्तानान्तरवत्। यौगपद्येपि संतानभेदाभावेऽक्षमनोध्यक्षयोरपि यौगपद्यमस्तु विशेषाभावात्। मानसप्रत्यक्षेपि चक्षुरादिज्ञानानन्तरप्रत्ययोद्भवे न कश्चिद्विशेषः, क्रमवृत्तौ चक्षुरादिज्ञानवद्^{६३७} व्यवधानप्रतिभासविकल्पप्रतिपत्तेरसंभवात्। न च चक्षुरादिज्ञानपञ्चकात्सहभाविनः क्रमभुवां तदनन्तरजन्मनां मानसप्रत्यक्षाणां व्यवधानेन प्रतिभासभेदप्रतिपत्तिरस्ति। तेषां लघुवृत्तेः क्रमभावित्वेपि न व्यवधानेन प्रतिभास-^{६४०} विकल्पानां प्रतिपत्तिरिति चेत्त एव चक्षुरादिज्ञानानामपि विच्छेदोपलक्षणं मा भूत्, क्रमभावेपि विशेषाभावात्।

यौगपद्ये हि स्पर्शादिप्रत्ययमर्शविरोधः पुरुषान्तरवत् । जैनानामपि ^{६४२}क्रमभावश्चक्षुरादिवेदनानामुपपन्न एव । तद्वन्मत्स्यादिज्ञानानामपि ^{६४३}सोपयोगानां क्रमभावो निरुपयोगानां तु यौगपद्यमविरुद्धम्, ^{६४४}विषयस्यानेकान्तात्मकत्वात् । ततः ^{६४५}सोपयोगं मतिज्ञानादि क्रमभावि स्याद्वादनयलक्षितं प्रतिपत्तव्यं, तस्य नयोपलक्षितत्वात् ^{६४६}केवलज्ञानवत् स्याद्वादोपलक्षितत्वाच्च । ^{६४७}कुत एतदिति चेद्विकलसकलविषयत्वात् तयोः । तत्त्वज्ञानं वा स्याद्वादनयसंस्कृतं प्रतिपत्तव्यं क्रमाक्रमभावित्वे । कथम् ? 'तत्त्वज्ञानं स्यादक्रमं, सकलविषयत्वात् । स्यात्क्रमभावि विकलविषयत्वात् । स्यादुभयं, तदुभयविषयत्वात् । स्यादवक्तव्यं, युगपद्वक्तुमशक्तेः ।' इत्यादि, सप्तभङ्ग्याः प्रमाणनयवशादुपपत्तेः । अथवा प्रतिपर्यायं स्याद्वादनयसंस्कृतं प्रतिपत्तव्यम्, स्यात्प्रमाणं स्वार्थप्रमितिं प्रति साधकतमत्वात्, स्यादप्रमाणं प्रमाणान्तरेण प्रमेयत्वात् स्वतो वा । अथवा स्यात्सत्, स्वरूपादिचतुष्टयात्, स्यादसत्, पररूपादिचतुष्टयात् ^{६४८}इत्यादि योजनीयम् ।

अथ प्रमाणफलविप्रतिपत्तिनिवृत्त्यर्थमाहुः—

^{६४९}उपेक्षा ^{६५०}फलमाद्यस्य ^{६५१}शेषस्यादानहानधीः ।
^{६५२}पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

७१४. कारिकापाठापेक्षया युगपत्सर्वभासनं केवलमाद्यम्, तस्य व्यवहितं फलमुपेक्षा । कुत इति चेदुच्यते, सिद्धप्रयोजनत्वात्केवलानां सर्वत्रोपेक्षा । हेयस्य संसारतत्कारणस्य हानादुपादेयस्य मोक्षतत्कारणस्योपात्तत्वात् सिद्धप्रयोजनत्वं नासिद्धं भगवताम् ।

७१५. ननु ^{६५३}करुणावतः ^{६५४}परदुःखजिहासोः कथमुपेक्षा? तद्भावे कथं चाप्तिः? इति चेन्न, तेषां मोहविशेषात्मिकायाः करुणायाः संभवाभावात् ^{६५५}स्वदुःखनिवर्तनवदकरुणयापि ^{६५६}वृत्तेरन्यदुःखनिराचिकीर्षायाम् ।

७१६. नन्वस्मदादिवद्दयालोरेवात्मदुःखनिवर्तनं युक्तम् । तथाहि—यो यः ^{६५७}स्वात्मनि दुःखं निवर्तयति स स स्वात्मनि करुणावान् यथास्मदादिः, तथा च योगी स्वात्मनि संसारदुःखं निवर्तयतीति युक्तिः । न चात्र हेतुर्विरुद्धोऽनैकान्तिको वा, ^{६५८}विपक्षे सर्वथाप्यभावात् ^{६५९}बाधकप्रमाणसामर्थ्यात्, ^{६६०}स्वसाध्याविनाभावसिद्धेः । तथाहि —यः स्वात्मन्यकरुणावान् स ^{६६१}स्वदुःखं निवर्तयति, यथा ^{६६२}द्वेषादेर्विषयभक्षक इति साध्यव्यावृत्तौ साधनव्यावृत्तिनिश्चयात् । भयलोभादिनात्मदुःखनिवर्तकैर्व्यभिचारी हेतुरिति चेन्न, तेषामपि ^{६६३}करुणोत्पत्तेः । न. ह्यात्मन्यकरुणावतः परतो भयं लोभो मानो वा संभवति, तस्यात्मकरुणाप्रयुक्तत्वात् । इति परम्परया करुणावानेवात्मदुःखमनशनादिनिमित्तं निवर्तयति । भयादिहेतुका वा कस्यचिदात्मनि ^{६६४}करुणोत्पद्यते । सोत्पन्ना सती ^{६६५}स्वदुःखं निवर्तयति । इति साक्षात्करुणयात्मदुःखनिवर्तने प्रवर्तते ततो न व्यभिचारः ।

७१७. एतेनादृष्टविशेषवशादात्मनि ^{६६६}दुःखनिवर्तनपरैर्व्यभिचारचोदना निरस्ता, ततः ^{६६७}करुणोत्पत्तेरेव तन्निवर्तनात् । तत्राकरुणस्यात्मदुःखनिवर्तनं दृष्टम् । अतोयमसमाधिरिति चेन्न, स्वभावतोपि ^{६६८}स्वपरदुःखनिवर्तननिबन्धनत्वोपपत्तेः प्रदीपवत् । न वै प्रदीपः कृपालुतयात्मानं परं वा तमसो ^{६६९}दुःखहेतोर्निवर्तयतीति । किं तर्हि? तथा स्वभावात् । कल्पयित्वापि ^{६७०}कृपालुतां तत्करणस्वभावसामर्थ्यं ^{६७१}मृग्यम् । एवं हि ^{६७२}परम्परापरिश्रमं परिहरेत् । ततो

निःशेषान्तरायक्षयादभयदानं स्वरूपमेवात्मनः प्रक्षीणावरणस्य परमा दया । सैव च मोहाभावाद् रागद्वेषयोर-
प्रणिधानादुपेक्षा । तीर्थकरत्वनामोदयात् हितोपदेशप्रवर्तनात् परदुःखनिराकरणसिद्धिः । इति न बुद्धवत्करुणयास्य
प्रवृत्तिर्भगवतः, येनोपेक्षा केवलस्य फलं न स्यात् ।

७१८. अव्यवहितं तु फलमाद्यस्याज्ञाननिवृत्तिरेव, स्वविषये मत्यादिवत् । तथा हि—मत्यादेः
साक्षात् फलं स्वार्थव्यामोहविच्छेदस्तदभावे दर्शनस्यापि सन्निकर्षाविशेषात् क्षणपरिणामोपलम्भवदवि-
संवादकत्वासंभवात् । तदनेन प्रमाणाद्भिन्नमेव फलमिति व्युदस्तम् । तथा परम्परया हानोपादानसंवित्तिः फलमुपेक्षा
वा मत्यादेः ।

७१९. एतेनाभिन्नमेव प्रमाणात्फलमिति निरस्तम् । तथा हि — करणस्य क्रियायाश्च कथंचिदेकत्वं
प्रदीपतमोविगमवत्, नानात्वं च परश्चादिवत् ।

७२०. ननु च 'यथा देवदत्तः काष्ठं परशुना छिनत्तीति करणस्य क्रियायाश्च नानात्वं सिद्धं, छिदेः
काष्ठस्थत्वात्परशोर्देवदत्तस्थत्वात्, तथा प्रदीपस्तमो नाशयत्युद्द्योतेनेत्यत्रापि करणस्योद्द्योतस्य क्रियायाश्च
तमोविनाशात्मिकाया नानात्वमेव प्रतीयते । तद्वत्करणस्य प्रमाणस्य क्रियायाश्च फलज्ञानरूपाया नानात्वेनैव
भवितव्यम्, तदनानात्वे दृष्टान्ताभावात्' इति केचित्, तेपि न प्रतीत्यनुसारिणः, प्रदीपः स्वात्मनात्मानं प्रकाशयतीति
प्रतीतेः, प्रदीपात्मनः कर्तुरनन्यस्य कथंचित्करणस्य, प्रकाशनक्रियायाश्च प्रदीपात्मिकायाः कथंचिदभेदसिद्धेः ।
तद्वत्प्रमाणफलयोः कथंचिदव्यवहितत्वसिद्धिरुदाहरणसम्भवात् । सर्वथा तादात्म्ये तु प्रमाणफलयोर्न व्यवस्था,
तद्भावविरोधात् । न हि सारूप्यमस्य प्रमाणमधिगतिः फलमिति सर्वथा तादात्म्ये सिध्यति । दर्शनस्यासारूप्यव्यावृत्तिः
सारूप्यमनधिगतिव्यावृत्तिरधिगतिरिति व्यावृत्तिभेदादेकस्यापि प्रमाणफलव्यवस्थेति चेन्न, स्वभाव-
भेदमन्तरेणान्यव्यावृत्तिभेदानुपपत्तेः । तस्माद्ग्राह्यसंविदाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्थायामपि व्यामोहविच्छेदाभावे
विसंवादानिराकरणे तदज्ञस्येव विषदृष्टिः प्रमाणत्वं न प्रतिपत्तुमर्हति । तावतैव प्रमाणत्वे
क्षणिकत्वाद्यनुमानमधिगताध्याधिगमलक्षणत्वान्न वै प्रमाणमिति निरूपितप्रायम् ।

ननु स्याद्वादनयसंस्कृतं तत्त्वज्ञानमित्युक्तं तद्वत् फलमपीति स एव तावत् स्याच्छब्दोभिधीयतामित्याहुः—

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।

स्यान्निपातोर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

७२१. किं पुनर्वाक्यं नामेत्युच्यताम्, तत्र विप्रतिपत्तेः । तदुक्तम्—

(१) आख्यातशब्दः (२) संघातो (३) जातिः संघातवर्तिनी ।

(४) एकोनवयवः शब्दः (५) क्रमो (६) बुद्ध्यनुसंहती ॥१॥

(८) पदमाद्यं (९) पदं चान्त्यं (१०) पदं सापेक्षमित्यपि ।

वाक्यं प्रति मतिभिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम् ॥२॥ (वाक्यपदीय (इति) २.१-२)

७२२. अत्रोच्यते—

पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यं, (१) न पुनराख्यातशब्दः, तस्य पदान्तरनिरपेक्षस्य पदत्वादन्वयाख्यातपदाभावप्रसङ्गात्। पदान्तरसापेक्षस्यापि क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे वाक्यत्वविरोधात्, प्रकृता-
र्थपरिसमाप्तेः, निराकाङ्क्षस्य तु वाक्यलक्षणयोगादुपपन्नं वाक्यत्वम्। (२) संघातो वाक्यमित्यत्रापि परस्परा-
पेक्षाणां पदानामनपेक्षाणां वा? प्रथमपक्षे निराकाङ्क्षत्वेस्मत्पक्षसिद्धिः, साकाङ्क्षत्वे वाक्यत्वविरोधः।
द्वितीयविकल्पेऽतिप्रसङ्गः। (३) जातिः संघातवर्तिनी वाक्यमित्यप्युनेन विचारितं, निराकाङ्क्षपरस्परापेक्षपदसं-
घातवर्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणाया जातेर्वाक्यत्वघटनात्, अन्यथा तद्विरोधात्। (४) एकोनवयवः शब्दो
वाक्यमित्यप्युक्तं, तस्याप्रमाणकत्वात्, श्रोतृबुद्धौ तदप्रतिभासनात् तत्प्रतिबद्धलिङ्गाभावात्। अर्थप्रतिपत्तिर्लिङ्गमिति
चेन्न, अन्यथापि तद्भावात्, वाक्यस्फोटस्य क्रियास्फोटवत् तत्त्वार्थालङ्कारे निरस्तत्वात्। (५) क्रमो वाक्यमित्यपि
न विचारक्षमं, वर्णमात्रक्रमस्य वाक्यत्वप्रसङ्गात्। पदरूपतामापन्नानां वर्णविशेषाणां क्रमो वाक्यमिति चेत्,
स यदि परस्परापेक्षाणां निराकाङ्क्षस्तदा समुदाय एव, क्रमभुवां कालप्रत्यासत्तेरेव समुदायत्वात्, सहभुवामेव
देशप्रत्यासत्तेः समुदायत्वव्यवस्थितेः। अथ साकाङ्क्षस्तदा न वाक्यमर्धवाक्यवत्। परस्परापेक्षाणां तु
क्रमस्य वाक्यत्वेतिप्रसङ्ग एव। (६) बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्यं द्रव्यवाक्यं वा? प्रथमकल्पनायामिष्टमेव।
द्वितीयकल्पनायां प्रतीतिविरोधः। (७) अनुसंहतिर्वाक्यमित्यपि नानिष्टं, भाववाक्यस्य यथोक्तपदानुसंहतिरूपस्य
चेतसि परिस्फुरतोभीष्टत्वात्। (८.९.१०) आद्यं पदमन्त्यं वान्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यमित्यपि नाकलङ्कोक्तवा-
क्याद्भिद्यते, तथा परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वसिद्धेः, तदभावे पदसिद्धेरप्यभावप्रसङ्गात्।

७२३. ननु यदि निराकाङ्क्षः परस्परापेक्षपदसमुदायो वाक्यं न तर्हि तदानीमिदं भवति, यथा यत्सत्तत्सर्वं
परिणामि, यथा घटः, संश्च शब्द इति साधनवाक्यं तस्मात्परिणामीत्याकाङ्क्षणात्, साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेरिति
न शङ्कनीयं, कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्तेः। निराकाङ्क्षत्वं हि नाम प्रतिपत्तुर्धर्मोयं वाक्येष्वध्यारोप्यते,
न पुनः शब्दस्य धर्मस्तस्याचेतनत्वात्। स चेत् प्रतिपत्ता तावतार्थं प्रत्येति, किमिति शेषमाकाङ्क्षति?
पक्षधर्मोपसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायां निगमनान्तपञ्चावयववाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ
साधनावयवान्तरवचनापेक्षाप्रसङ्गात्। इति न क्वचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः। तथा च वाक्याभावान्न वाक्यार्थ-
प्रतिपत्तिः कस्यचित्स्यात्। ततो यस्य प्रतिपत्तुर्वावत्सु परस्परापेक्षपदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु
वाक्यत्वसिद्धिरिति सर्वं सुस्थम्।

७२४. प्रकरणादिना वाक्यकल्पेनाप्यर्थप्रतिपत्तौ न वा प्राथमकल्पिकवाक्यलक्षणपरिहारः,
प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवद् वाक्यत्वसिद्धेः।

७२५. तदेवंलक्षणेषु वाक्येषु स्यादिति शब्दोनेकान्तघोती प्रतिपत्तव्यो, न पुनर्विधिविचारप्रश्नादिघोती
तथा विवक्षापायात्। कः पुनरनेकान्त इति चेदिमे ब्रूमहे। सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेप-

लक्षणोऽनेकान्तः, स च दृष्टेष्टाविरुद्ध इत्युक्तं प्राक्^{७६७}। तत्र क्वचित्प्रयुज्यमानः स्याच्छब्दस्तद्विशेषणतया^{७६८} प्रकृतार्थतत्त्वमनवयवेन^{७६९} सूचयति, प्रायशो निपातानां तत्त्वभावत्वादेवकारादिवत्^{७७०}। 'द्योतकाश्च भवन्ति निपाता'^{७७१} इति वचनात् स्याच्छब्दस्यानेकान्तद्योतकत्वेपि न कश्चिदोषः^{७७२}, सामान्योपक्रमे^{७७३} विशेषाभिधानमिति^{७७४} न्यायाज्जीवादिपदोपादानस्याप्यविरोधात्, स्याच्छब्दमात्रयोगादनेकान्तसामान्यप्रतिपत्तेरेव संभवात्^{७७५}। सूचकत्वपक्षे^{७७६} तु गम्यमर्थरूपं प्रति विशेषणं स्याच्छब्दस्तस्य विशेषकत्वात्^{७७७}। न हि केवलज्ञानवदखिलमक्रममवगाहते, किंचिद्वाक्यं, येन तदभिधेयविशेषरूपसूचकः स्यादिति न प्रयुज्यते, वाचः क्रमवृत्तित्वात्^{७७८} तद्वद्वेरपि तथाभावात्^{७७९}। ततस्तव भगवतः^{७८०} केवलिनामपि स्यान्निपातोभिमत एवार्थयोगित्वादन्यथानेकान्तार्थप्रतिपत्तेरयोगात्^{७८१}।

ननु च कथंचिदित्यादिशब्दादपि भवत्येवानेकान्तार्थप्रतिपत्तिः? सत्यं भवति, तस्य स्याद्वचनपर्यायत्वात्^{७८२}। तथाहि—

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः^{७८४}।

सप्तभङ्गनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

७२६. किमो वृत्तः किंवृत्तः, स झृष्टौ चिद्विधिश्चेति कथंचिदित्यादि किंवृत्तचिद्विधिः स्याद्वादपर्यायः^{७८६}। सोयमनेकान्तमभिप्रेत्य सप्तभङ्गनयापेक्षः स्वभावपरभावाभ्यां सदसदादिव्यवस्थां प्रतिपादयति।

७२७. के पुनः सप्तभङ्गाः के वा नयाः? सप्तभङ्गी प्रोक्ता पूर्वमेव। द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक-^{७८९}प्रविभागवशान्नैगमादयः शब्दार्थनया बहुविकल्पा मूलनयद्वयशुद्धयशुद्धिभ्यां, शास्त्रान्तरे प्रोक्ता इति संबन्धः।

७२८. द्रव्यार्थिकप्रविभागाद्धि नैगमसंग्रहव्यवहाराः पर्यायार्थिकप्रविभागादृजुसूत्रादयः^{७९३}। तत्र ऋजुसूत्र-^{७९४}पर्यन्ताश्चत्वारोर्धनयाः, तेषामर्थप्रधानत्वात्। शेषास्त्रयः शब्दनयाः, शब्दप्रधानत्वात्। तत्र मूलनयस्य द्रव्यार्थिकस्य^{७९५} शुद्ध्या संग्रहः, सकलोपाधिरहितत्वेन शुद्धस्य सन्मात्रस्य विषयीकरणात् सम्यगेकत्वेन सर्वस्य संग्रहणात्^{७९६}। तस्यैवाशुद्ध्या व्यवहारः, संग्रहगृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकत्वव्यवहरणात्, द्रव्यत्वादिविशेषणतया स्वतोऽशुद्धस्य^{७९७} स्वीकरणात्, यत्सत्तद्द्रव्यं गुणो वेत्यादिवत्। एवं नैगमोप्यशुद्ध्या प्रवर्तते, सोपाधिवस्तुविषयत्वात्। स हि त्रेधा प्रवर्तते, द्रव्ययोः पर्याययोर्द्रव्यपर्याययोर्वा गुणप्रधानभावेन विवक्षायां नैगमत्वात्^{७९८}, नैकं गमो नैगम इति^{७९९} निर्वचनात्^{८००}। तत्र द्रव्यनैगमो द्वेधा—शुद्धद्रव्यनैगमोऽशुद्धद्रव्यनैगमश्चेति। पर्यायनैगमस्त्रेधा^{८०१} अर्थपर्याययोर्व्यञ्जनपर्याययोरर्थव्यञ्जनपर्याययोश्च नैगम इति। अर्थपर्यायनैगमस्त्रेधा^{८०२} ज्ञानार्थपर्याययोर्ज्ञेयार्थपर्याययोर्ज्ञानज्ञेयार्थपर्याययोश्चेति। व्यञ्जनपर्यायनैगमः षोढा—शब्दव्यञ्जनपर्याययोः^{८०३} समभिरूढव्यञ्जनपर्यायोरेवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः शब्दसमभिरूढव्यञ्जनपर्याययोः शब्दैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोः^{८०४} समभिरूढैवंभूतव्यञ्जनपर्याययोश्चेति। अर्थव्यञ्जनपर्यायनैगमस्त्रेधा—ऋजुसूत्रशब्दयोः, ऋजुसूत्रसमभिरूढयोः, ऋजुसूत्रैवंभूतयोश्चेति। द्रव्यपर्यायनैगमोऽष्टधा—शुद्धद्रव्यजुसूत्रयोः शुद्धद्रव्यशब्दयोः शुद्धद्रव्यसमभिरूढयोः

शुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्च, एवमशुद्धद्रव्यजुसूत्रयोरशुद्धद्रव्यशब्दयोरशुद्धद्रव्यसमभिरूढयोरशुद्धद्रव्यैवंभूतयोश्चेति लोकसमयाविरोधेनोदाहार्यम् ।

७२९. तथा पर्यायार्थिकस्य मूलनयस्याशुद्ध्या तावदजुसूत्रः, तस्य कालकारकलिङ्गभेदेनाप्यभेदात् । शुद्ध्या शब्दस्तस्य कालादिभेदेन भेदात् । शुद्धितरया समभिरूढस्तस्य पर्यायभेदेनापि भेदात् । शुद्धितमयैवंभूतस्तस्य क्रियाभेदेनापि भेदात् । इति मूलनयद्वयशुद्धयशुद्धिभ्यां बहुविकल्पा नया नयचक्रतः प्रतिपत्तव्याः । पूर्वपूर्वा महाविषया उत्तरोत्तरा अल्पविषयाः शब्दविकल्पपरिमाणाश्च । तदेवं व्याख्यातः सप्तभङ्गनयापेक्षः स्याद्वादो हेयादेयविशेषकः प्रसिद्धस्तमन्तरेण हेयस्योपादेयस्य च विशेषेण व्यवस्थानुपपत्तेः । सर्वतत्त्वप्रकाशकश्च केवलज्ञानवत् । एतदेव दर्शयति -

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।

भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

७३०. साक्षादसाक्षात् प्रतिभासिज्ञानाभ्यामन्यस्याप्रतीतेरवस्तुत्वप्रसिद्धेः, इत्यर्थः । स्याद्वादकेवलज्ञाने इति निर्देशात् तयोरभ्यर्हितत्वानियमं दर्शयति, परस्परहेतुकत्वात् । न चैवमन्योन्याश्रयः पूर्वसर्वज्ञघोतितादागमादुत्तरसर्वज्ञस्य केवलोत्पत्तेः, ततोप्युत्तरकालमागमघोतनात् सर्वज्ञागमसन्तानस्यानादित्वात्, केवलज्ञानस्याभ्यर्हितत्वे वा पूर्वनिपाते व्यभिचारं सूचयति, शिष्योपाध्यायादिवत् । ततो नवघो निर्देशः “स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने” इति । कथं पुनः स्याद्वादः सर्वतत्त्वप्रकाशनः? यावता ‘मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु’ (त.सू. १.२६) इति श्रुतस्यासर्वपर्यायविषयत्वव्यवस्थानमिष्यते, तच्चैवं विरुध्यते, इति सूत्रविरोधं मन्यते तदयुक्तं, पर्यायापेक्षया तदनभिधानात् । एवं हि भगवतामभिप्रायोऽत्र ‘जीवादयः सप्त पदार्थास्तत्त्वं, जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्’ (त.सू. १.४) इति वचनात् । तत्रातिपादनाविशेषात् स्याद्वादकेवलज्ञानयोः ‘सर्वतत्त्वप्रकाशनत्वम्’ इति न विरोधः । यथैव ह्यागमः परस्मै जीवादितत्त्वमशेषं प्रतिपादयति तथा केवल्यपीति न विशेषः, साक्षादसाक्षाच्च तत्त्वपरिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् तद्वेदस्य । तदाह— ‘भेदः साक्षादसाक्षाच्चेति’ । साक्षात्कृतेरेव सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनन्ति नान्यत इति यावत् । न हि वचनात्तान्प्रकाशयति समुत्पन्नकेवलोपि भगवान्, तेषां वचनागोचरत्वात् ।

७३१. तदेवं स्याद्वादनयसंस्कृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणनयसंस्कृतमिति व्याख्याने, स्याद्वादः प्रमाणं सप्तभङ्गवचनविधिनैगमादयो बहुविकल्पा नया इति संक्षेपतः प्रतिपादितं, विस्तरतो न्यत्र तत्त्वरूपणात् ।

संप्रत्यहेतुवादागमः स्याद्वादो, हेतुवादो नयस्ताभ्यां संस्कृतमलंकृतं तत्त्वज्ञानं प्रमाणं युक्तिशास्त्राविरुद्धं सुनिश्चितासंभवद्वाधकमिति व्याख्यानान्तरमभिप्रायन्तो भगवन्तो हि हेतुलक्षणमेव प्रकाशयन्ति, स्याद्वादस्य प्रकाशितत्वात् ।

सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादिविरोधतः ।

स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नयः ॥१०६॥

७१७. नीयते साध्यते गम्यार्थोनेनेति नयो हेतुः । स च हेतुः सधर्मणैव दृष्टान्तधर्मिणा साधर्म्यात्साध्यस्य साध्यधर्माधिकरणस्य धर्मिणः परमागमप्रविभक्तस्यार्थविशेषस्य शक्यस्याभिप्रेतस्याप्रसिद्धस्य विवादगोचरत्वेन व्यञ्जको, न पुनर्विपक्षेण साधर्म्यात्, तेन वैधर्म्यादेवाविरोधेन हेतोः साध्यप्रकाशनत्वोपपत्तेः । अत्र 'सपक्षेणैव साध्यस्य साधर्म्यादित्यनेन हेतोस्त्रैलक्षण्यमविरोधादित्यन्यथानुपपत्तिं च दर्शयता केवलस्य त्रिलक्षणस्यासाधनत्वमुक्तं, तत्पुत्रत्वादिवत् । एकलक्षणस्य तु गमकत्वं, 'नित्यत्वैकान्तपक्षेपि विक्रिया नोपपद्यते' (आ. मी. ३७) इति बहुलमन्यथानुपपत्तेरेव समाश्रयणात् ।

७३३. नन्वत्र संक्षेपात् तथाभिधानेपि त्रैलक्षण्यं शक्यमुपदर्शयितुं पञ्चावयववत् ।

७३४. सत्यमेतत् ; केवलं, यत्रार्थक्रिया न संभवति तत्र वस्तुतत्त्वं यथा विनाशैकान्तः । तथा च नित्यत्वेपि क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रिया न संभवति, नापरं प्रकारान्तरमिति, त्रिलक्षणयोगेपि प्रधानमेकलक्षणं, तत्रैव साधनसामर्थ्यपरिनिष्ठितेः । तदेव च प्रतिबन्धः पूर्ववद्वीतसंयोगादिसकलहेतुप्रतिष्ठापकं न, पुनस्तादात्म्य-तदुत्पत्ती प्रतिबन्धः संयोगादिवत्, तदभावेपि हेतोः साध्याभावासंभवनियमनिर्णयलक्षणस्य भावे गमकत्वसिद्धेः, शीताचले विद्युत्पातः, केदारे कलकलायितत्वादित्यादिवत्, सत्यपि च तदुत्पत्त्यादिप्रतिबन्धेऽन्यथानुपपन्नत्वाभावे गमकत्वासंभवात्, स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवदित्यादिवत्, अस्त्यत्र धूमोऽग्नेर्महानसवादित्यादिवच्च । सकलविपक्षव्यावृत्तिनिश्चयाभावादस्यागमकत्वेऽन्यथानुपपन्नत्विनिश्चयाभावादेवागमकत्वमुक्तं स्यात् । इति तस्यैव लक्षणत्वमस्तु, सकलसम्यग्घेतुभेदेषु कार्यस्वभावानुपलम्भेष्विव, पूर्ववत् - शेषवत् - सामान्यतोदृष्टेषु, वीतावीततदुभयेषु, संयोगिसमवायैकार्थसमवायिविरोधिषु, भूतादिषु च वर्तमानस्य पक्षव्यापिनः सर्वस्माच्च विपक्षादसिद्धादिहेत्वाभासप्रपञ्चाद् व्यावर्तमानस्यान्यथानुपपन्नत्वस्य हेतुलक्षणत्वोपपत्तेः । तथाविधस्यापि तदलक्षणत्वे हि न किञ्चित्कस्यचिल्लक्षणं स्यादिति लक्ष्यलक्षणभाव एवोच्छिद्येत । सति चान्यथानुपपन्नत्वे प्रतिपाद्याशयवशात् प्रयोगपरिपाटी पञ्चावयवादिरपि न निवार्यते इति तत्त्वार्थालङ्कारे विधानन्दमहोदये च प्रपञ्चतः प्ररूपितम् । ततः स्याद्वादेत्यादिनानुमितमनेकान्तात्मकमर्थतत्त्वमादर्शयति । तदेव हि स्याद्वादप्रविभक्त्यर्थः, प्राधान्यात्, सर्वाङ्गव्यापित्वात् । तस्य विशेषो नित्यत्वादिः पृथक् पृथक् । तस्य प्रतिपादको नयः । इति नयसामान्यलक्षणमप्यनेन दर्शितमिति व्याख्यायते । तथा चोक्तम्—

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं, तदंशधीः ।

नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ।। इति ।

७३५. तदनेकान्तप्रतिपत्तिः प्रमाणमेकधर्मप्रतिपत्तिर्नयस्तत्प्रत्यनीकप्रतिक्षेपो दुर्नयः, केवलविपक्षविरोधदर्शनेन स्वपक्षाभिनिवेशात् ।

किं पुनर्वस्तु स्यादित्याहुः—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः ।

अविभ्राड्भावसंबन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ।। १०७ ।।

७३६. उत्कलक्षणो^{८७२} द्रव्यपर्यायस्थानः^{८७३} संग्रहादिर्नयः, तच्छाखाप्रशाखात्मोपनयः । तदेकान्तानां विपक्षोपेक्षालक्षणानां^{८७४} त्रिकालविषयाणां^{८७५} समितिर्द्रव्यं^{८७६} वस्तु, 'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्' (त.सू. ५.३८) इति वचनात् । कः पुनस्तेषां समुच्चयो नामेति चेत्, कथंचिदविभ्राड्भावसंबन्ध इत्याचक्षते, ततोऽन्यस्य समुच्चयस्य संयोगादेरसंभवात् द्रव्यपर्यायविशेषाणाम् । न चैवमेकमेव द्रव्यं नयोपनयैकान्तपर्यायाणां तत्तादात्म्यादित्यारेकितव्यं, ततस्तेषां कथंचिद्भेदादनेकत्वमिति वचनात् । तर्ह्यनेकमेवास्तु तादात्म्यविरोधादनेकस्थस्येत्यपि न शङ्कितव्यं, कथंचित्तादात्म्यस्याशक्यविवेचनत्वलक्षणस्याविरोधात्तथाप्रतीतेः । केवलं ततस्तेषामपोद्भाराद्गुणगुण्यादिवत् तदनेकधा । ततः सूक्तं, त्रिकालवर्तिनयोपनयविषयपर्यायविशेषसमूहो द्रव्यमेकानेकात्मकं जात्यन्तरं वस्त्विति ।

अत्र परारेकामुपदर्श्य परिहरन्तः सूरयः प्राहुः—

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः ।

निरपेक्षा नया मिथ्याः सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥१०८॥

७३७. सुनयदुर्नययोर्यथास्माभिलक्षणं व्याख्यातं तथा न चोद्यं न परिहारः, निरपेक्षाणामेव नयानां मिथ्यात्वात्, तद्विषयसमूहस्य मिथ्यात्वोपगमात्, सापेक्षाणां तु सुनयत्वात्तद्विषयाणामर्थक्रियाकारित्वात्, तत्समूहस्य वस्तुत्वोपपत्तेः । तथा हि — निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः, सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाणनयाऽविशेषप्रसङ्गात् । धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयानां प्रकारान्तरासंभवाच्च, प्रमाणात्तदतत्त्वभावप्रतिपत्तेर्नयात्तत्प्रतिपत्तेर्दुर्नयादन्यनिराकृतेश्च । इति विश्वोपसंहतिः, तद्व्यतिरिक्त-प्रतिपत्तिप्रकाराणामसंभवात् ।

नन्वेवमनेकान्तात्मार्थः कथं वाक्येन, नियम्यते यतः प्रतिनियते विषये प्रवृत्तिलोकस्य स्यादित्यारेकायामिदमभिदधते—

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा ।

तथान्यथा च सोवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥१०९॥

७३८. यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकमर्थक्रियाकारित्वात्^{९१२} स्वविषयाकारसंवित्तिवत् । यद्विवादाध्यासितं वस्तु तत्सर्वं धर्मि प्रत्येयम्, 'अप्रसिद्धं साध्यमि'ति वचनात्, तस्यानेकान्तात्मकत्वेन विवादाध्यासितत्वात् साध्यत्वोपपत्तेः । अर्थक्रियाकारित्वादिति हेतुरसिद्धत्वादोषानाश्रयत्वात् प्रधानैकलक्षणयोगाच्च । स्वविषयाकारसंवित्तिवदित्युदाहरणं, तथा वादिप्रतिवादिसिद्धत्वात् । सौगतस्य चित्राकारैकसंवेदनोपगमात्, यौगानामीश्वरज्ञानस्य स्वार्थसंवेदिनो मेचकज्ञानत्वोपगमात्, कापिलानामपि स्वरूपबुद्ध्यध्यवसितार्थसंवेदिनः स्वसंवेदनस्येष्टेः श्रोत्रियाणामपि फलज्ञानस्य स्वसंवेदिनोऽर्थपरिच्छित्तिरूपस्य प्रसिद्धेः, चार्वाकस्यापि प्रत्यक्षस्य वेदनस्य स्वार्थपरिच्छेदिनोभ्युपगमनीयत्वात्^{९१३} सम्यगिदं साधनवाक्यम् । तथा न किंचिदेकान्तं वस्तुतत्त्वं सर्वथा तदर्थक्रियाऽसंभवाद्, गगनकुसुमादिवदिति ।

७३९. अत्रापि विवादापन्नं वस्तुतत्त्वं धर्मि पराध्यारोपितैकान्तत्वेन प्रतिषेध्यं, क्वचित् सत इवारोपि-

तस्यापि प्रतिषेध्यत्वसिद्धेरन्यथा कस्यचित्परमतप्रतिषेधयोगात्, 'सत एव संज्ञिनः प्रतिषेधो नासतः' इत्यस्याप्यविरोधात्, सम्यगेकान्ते प्रसिद्धस्य रूपस्य सापेक्षस्य निरपेक्षत्वेनारोपितस्य क्वचित्प्रतिषेधात्, सर्वथा तदर्थक्रियाभावात्, इति हेतुर्व्यापकानुपलब्धिरूपत्वात् । गगनकुसुमादिवदित्युदाहरणं साध्यसाधनावैकल्याद्गगनकुसुमादेरत्यन्ताभावस्य परैरेकान्तवस्तुस्वरूपत्वसर्वार्थक्रियाकारित्वयोरनिष्टेः । इतीदमपि श्रेयः साधनवाक्यम् ।

७४०. विशेषेण पुनर्नास्ति सदेकान्तः, सर्वव्यापारविरोधप्रसङ्गादसदेकान्तवत् । एतेन विशेषतोनेकान्तात्मकः परिणाम्यात्मार्यक्रियाकारित्वात्, प्रधानवत्, इत्याद्युपदर्शितम् । इति विधिना प्रतिषेधेन वा वस्तुतत्त्वं नियम्येत तथान्यथा च तस्यावश्यंभावसमर्थनात् । अन्यथा तद्विशिष्टमर्थतत्त्वं विशेष्यमेव न स्याद्विधेः प्रतिषेधरहितस्य प्रतिषेधस्य च विधिरहितस्य विशेषणत्वनिराकरणात्, तदुभयरहितस्य च विशेष्यत्वविरोधात्, खपुष्पवत्, इत्यनेन विधिप्रतिषेधयोर्गुणप्रधानभावेन सदसदादिवाक्येषु वृत्तिरिति लक्षयति । ततो न तेषां पौनरुक्त्यं, येन सप्तभङ्गीविधिरनवधो न स्यात् ।

विधिनैव वस्तुतत्त्वं वाक्यं नियमयति सर्वथेत्येकान्ते दूषणमुपदर्शयन्ति—

तदतद्वस्तु वागेषा तदेवेत्यनुशासती ।

न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः कथं तत्त्वार्थदेशना ॥ ११० ॥

७४१. प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूतं विरुद्धधर्माध्यासलक्षणमविरुद्धं वस्तु समायातं, स्वशिरस्ताडं फूत्कुर्वतोपि तदतद्रूपतयैव प्रतीतेः । तदुक्तम्—

विरुद्धमपि संसिद्धं तदतद्रूपवेदनम् ।

यदीदं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम् ॥ (इति)

७४२. तच्च तदेवेत्येकान्तेन प्रतिपादयन्ती मिथ्यैव भारती, विध्येकान्ते प्रतिषेधैकान्ताभावस्येष्टस्यानभिधानात्, तदभिधाने वा विध्येकान्तप्रतिपादनविरोधात् । न च मृषावाक्यैस्तत्त्वार्थदेशना युक्तिमती । इति कथमनयार्थदेशनम् । इत्येकान्ते वाक्यार्थानुपपत्तिरालक्ष्यते ।

प्रतिषेधमुखेनैवार्थं वाक्यं नियमयतीत्येकान्तोपि न श्रेयानिति प्रतिपादयन्ति—

वाक्स्वभावोन्यवागर्थप्रतिषेधनिरङ्कुशः ।

आह च स्वार्थसामान्यं तादृगवाक्यं खपुष्पवत् ॥ १११ ॥

७४३. वाचः स्वभावोयं येन स्वार्थसामान्यं प्रतिपादयन्ती तदपरं निराकरोति, न पुनस्तदप्रतिपादयन्ती, स्वार्थसामान्यप्रतिपादनतदन्यनिराकरणयोरन्यतरापायार्थेनुक्तानतिशायनात् । इदंतया नेदंतया वा न प्रतीयेत तदर्थः कूर्मरोमादिवत् । न खलु सामान्यं विशेषपरिहारेण विशेषं वा सामान्यपरिहारेण क्वचिदुपलभामहे । अनुपलभमानाश्च कथं स्वं परं वा तथाभिनिवेशेन विप्रलभामहे, विध्येकान्तवदन्यापोहैकान्तस्य प्रागेव व्यासेन निरस्तत्वात् ।

भूयोप्यन्यापोहवादिनमाशङ्क्य निराकुर्वते—

सामान्यवाग् विशेषे चेन्न शब्दार्थो मृषा हि सा ।

अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः ॥११२॥

७४४. अस्तीति सत्सामान्यवाक् केवलमभावविच्छेदाद् विशेषमपोहमाहेति चेत्, कः पुनरपोहः? किमन्यव्यावृत्तिरुत तर्था^{१३८} विकल्पः? परतो व्यावृत्तिरभावोन्यापोह इष्यते इति चेत्, कथमेवं सत्यभावं प्रतिपादयति? भावं न प्रतिपादयतीत्यनुक्तसमं न स्यात्? तद्विकल्पोन्यापोहोस्तु मिथ्याभिनिवेशादिति चेत्, न चैतत्तस्य^{१४०} प्रतिपादकं मिथ्याविकल्पहेतुत्वाद् व्यलीकवचनवत् । ततो नान्यापोहः शब्दार्थः सिद्ध्यति, येन तत्र प्रवर्तमानास्तीत्यादिसामान्यवाग् मृषा^{१४१} स्यात् । ततः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनो मन्तव्यः, स्वाभिप्रेतार्थविशेषप्राप्तेः । सर्वो^{१४२} हि प्रवर्तमानः कुतश्चिद्वचनात् क्वचित्स्वरूपादिना सन्तमभिप्रेतमर्थं प्राप्नोति, न पररूपादिना^{१४४} अभिप्रेतं, प्रवृत्तिवैयर्थ्यात्, स्वरूपेणेव पररूपेणापि सत्त्वे सर्वस्याभिप्रेतत्वप्रसङ्गात्, परात्मनेव स्वात्मनाप्यसत्त्वे सर्वस्याभिप्रेतत्वाभावात् स्वयंमभिप्रेतस्याप्यनभिप्रेतत्वप्रसक्तेश्च । ततः स्याद्वाद एव सत्यलाञ्छनो न वादान्तरमित्यतिशाययति भगवान् समन्तभद्रस्वामी ।

विधेयमीप्सितार्थाङ्गं प्रतिषेध्याविरोधि यत् ।

तथैवादेयहेयत्वमिति स्याद्वादसंस्थितिः ॥११३॥

७४५. अस्तीत्यादि विधेयमभिप्रेत्य विधानात्^{१४१}, सर्वत्रैतावन्मात्रलक्षणत्वाद् विधेयत्वस्य । न हि^{१४३} परिवृढ-भयादेरनभिप्रेतस्यापि विधाने विधेयत्वं युक्तं, वीतरागस्यापि तत्कृतबन्धप्रसङ्गाज्जनापवादानुषङ्गाच्च । नाप्यभिप्रेतस्याप्यविधानेऽविधेयत्वं, तद्योग्यतामात्रसिद्धेरन्यथाविधानानर्थक्यात् । तत एवाभिप्रायशून्यानां किंचिदप्यकुर्वतां न किंचिद्विधेयं नापि हेयमभिप्रेत्यहानाभावादुपेक्षामात्रसिद्धेः । तद्विपरीतानां तु किंचिद्विधेयं, तच्च नास्तित्वादिभिरविरुद्धम्, प्रतिषेधैरीप्सितार्थाङ्गत्वात्, तस्य तद्विरोधे स्वयमीप्सितार्थहेतुत्वासंभवात्, विधिप्रतिषेधयोरन्योन्याविनाभावलक्षणत्वात् स्वार्थज्ञानवत् । न हि स्वार्थज्ञानयोरन्योन्याविनाभावोऽसिद्धः स्वज्ञानमन्तरेणार्थज्ञानानुपपत्तेः कुटवत्^{१४५}, स्वज्ञाने एवार्थज्ञानघटनात् । सर्वज्ञानेन^{१४६} न हीश्वरस्यापि स्वज्ञानाभावः, सर्वज्ञत्वविरोधात् स्वसंविदितज्ञानाभ्युपगमस्यावश्यंभावात्, नापि विषयाकारज्ञानमन्तरेण स्वज्ञानं, स्वाकारस्यार्थस्य परिच्छेद्यत्वविरोधात् स्वज्ञानाभावप्रसङ्गात् । तदनवद्यमुदाहरणं प्रकृतं साधयति । यथैव च विधेयं प्रतिषेध्याविरोधि सिद्धमीप्सितार्थाङ्गं तथैवादेयहेयत्वं वस्तुनो नान्यथा, विधेयैकान्ते कस्यचिद्विरोधत्वविरोधात्, प्रतिषेधैकान्ते कस्यचिदादेयत्वविरोधात् । न हि सर्वथा विधेयमेव^{१४८} प्रतिषेधं स्याद्वादिनोभिप्रेतं, येनोभयात्मकत्वे एवादेयहेयत्वं न स्यात्, कथंचिद्विधिप्रतिषेधयोस्तादात्म्योपगमात् । तद्विधेयप्रतिषेध्यात्मविशेषात्^{१४९} स्याद्वादः प्रक्रियते सप्तभङ्गीसमाश्रयात् । यथैव हि विधेयोस्तित्वादिविशेषः, स्वात्मना विधेयो न प्रतिषेध्यात्मनेति स्याद्विधेयः^{१५०} स्यादभिधेयः सिद्धः । प्रतिषेध्यात्मविशेषश्च विधेयात्मना प्रतिषेध्यो न प्रतिषेध्यात्मना इति स्यात्प्रतिषेध्यः

स्यादप्रतिषेध्योन्यथा व्याघातात् । तथैव जीवाद्यर्थः स्याद्विधेयः स्यात्प्रतिषेध्यः । इति सप्तभङ्गीसमाश्रयात्
स्याद्वादस्य प्रक्रियमाणस्य सम्यक् स्थितिः, सर्वत्र युक्तिशास्त्राविरोधात्, भावैकान्तादिष्वेव तद्विरोधसमर्थनात् ।
ततो भगवन्ननवद्यमध्यवसितमस्माभिः—‘स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्’ इति ।

तदेवं प्रारब्धनिर्वहणमात्मनस्तत्फलं च सूरयः प्रकाशयन्ति—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।

सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये

॥११४॥

७४६. इति देवागमाख्ये स्वोक्तपरिच्छेदे शास्त्रे स्वेनोक्ताः परिच्छेदा दश यस्मिंस्तत् स्वोक्तपरिच्छेदमिति
ग्राह्यं तत्र विहितेयमाप्तमीमांसा सर्वज्ञविशेषपरीक्षा हितमिच्छतां निःश्रेयसकामिनां, मुख्यतो निःश्रेयसस्यैव
हितत्वात् तत्कारणत्वेन रत्नत्रयस्य च हितत्वघटनात्, तदिच्छतामेव न पुनस्तदनिच्छतामभव्यानां, तदनु-
पयोगात् । तत्त्वेतरपरीक्षां प्रति भव्यानामेव नियताधिकृतिः, तथा मोक्षकारणानुष्ठानात् मोक्षप्राप्त्युपपत्तेः ।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये युक्ताप्तमीमांसा भगवतामाचार्याणां परहितसंपादनप्रवणहृदयत्वात्,
दर्शनविशुद्धिप्रवचनवात्सल्यमार्गप्रभावनापरत्वाच्च । ततः परमार्हन्त्यलक्ष्मीपरिसमाप्तेः स्वार्थसंपत्तिसिद्धेः ।
‘सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः’ इति सम्यगुपदेशः, तदन्यतमापाये मोक्षस्यानुपपत्तेः समर्थनात् । ‘ज्ञानेन
चापवर्गः’ इत्यादिमिथ्योपदेशस्तस्य दृष्टेष्टविरुद्धत्वसाधनात् । तयोरर्थविशेषः सत्येतरविषयभेदः सम्य-
ग्दर्शनादिमिथ्यादर्शनादिप्रयोजनभेदो वा तद्भावनाविशेषो वा मोक्षबन्धप्रसिद्धिभेदो वा । तस्य प्रतिपत्ति-
रुपादेयत्वेन हेयत्वेन च श्रद्धानमध्यवसायः समाचरणं चोच्यते । तस्यैव सम्यग्मिथ्यापदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ।
शास्त्रारम्भेभिष्टुतस्याप्तस्य मोक्षमार्गप्रणेतृतया कर्मभूभृद्भेदतृतया विश्वतत्त्वानां ज्ञातृतया च भगवदर्हत्सर्वज्ञ-
स्यैवान्ययोगव्यवच्छेदेन व्यवस्थानपरा परीक्षेयं विहिता । इति स्वाभिप्रेतार्थनिवेदनमाचार्याणामार्यैर्विचार्य
प्रतिपत्तव्यम् ।

अत्र शास्त्रपरिसमाप्तौ केचिदिदं मङ्गलवचनमनुमन्यन्ते—

जयति जगति क्लेशावेशप्रपञ्चहिमांशुमान्
विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ।
यतिपतिरजो यस्याधृष्ट्यान्मताम्बुनिधेर्लवान्
स्वमतमतयस्तीर्थ्या नाना परे समुपासते ॥१॥

श्रीमदकलङ्कदेवाः पुनरिदं वदन्ति—

श्रीवर्धमानमकलङ्कमनिन्द्यवन्द्य-
पादारविन्दयुगलं प्रणिपत्य मूर्ध्ना ।
भव्यैकलोकनयनं परिपालयन्तं
स्याद्वादवर्त्य परिणौमि समन्तभद्रम् ॥२॥

इति परापरगुरुप्रवाहगुणगणसंस्तवनस्य मङ्गलस्य प्रसिद्धेः । वयं तु स्वभक्तिवशादेव निवेदयामः—

येनाशेषकुनीतिवृत्तिसरितः प्रेक्षावतां शोषिताः
 यद्वाचोप्यकलङ्कनीतिरुचिरास्तत्त्वार्थसार्थद्युतः ।
 स श्रीस्वामिसमन्तभद्रयतिभृद् भूयाद्विभुर्भानुमान्
 विद्यानन्दफलप्रदोऽनघधियां स्याद्वादमार्गाग्रणीः ॥३॥

इत्याप्तमीमांसालंकृतौ दशमः परिच्छेदः ।

अष्टसहस्रीसमाप्तिमङ्गलम् ।

श्रीमदकलङ्कशशधरकुलविद्यानन्दसंभवा भूयात् ।
 गुरुमीमांसालंकृतिरष्टसहस्री सतामृद्ध्यै ॥

समाप्ता चेयमष्टसहस्री व्याख्या पाटनप्रतिलेखकप्रशस्तिः

वेदेषुयुगभूसंज्ञे वत्सरे योगिनीपुरे ।
 लिखितोऽयं तपापक्षशालायां वाचना कृता ॥

दशमपरिच्छेदटिप्पणानि

१. विशेष्यपदमिदम् । २. सांख्यमतमुद्दिश्य वक्ति । ३. अन्यथा बन्धप्राप्तिः स्यादित्यर्थो मूलापेक्षया । यदि पुनरित्यादिसुखप्राप्तिरित्येतत्पर्यन्तवक्ष्यमाणभाष्यार्थपेक्षायां 'अन्यथा' शब्दस्य सुतरामित्यर्थो ग्राह्यः । ४. नवर्थो प्रसज्यप्रतिषेधः सर्वथा तदभावबोधकः, पर्युदासस्तु तन्निषेधपूर्वकं तत्सदृग्ग्राही भवति । एतदेवार्थद्वयमाश्रित्य क्रमेणाह । ५. द्वयोः पक्षयोर्मध्ये प्रथमपक्षे । ६. संशयविपर्ययानध्यवसायरहितम् । ७. ज्ञानान्तरसाहाय्यरहितम् । ८. वक्ष्यमाणप्रकारेण । ९. अस्मिन् जगति न मे किंचन । १०. परिशेषरहितं यथा भवति । क्रियाविशेषणम् । ११. महाग्रन्थे प्रतिपादनात् । १२. सांख्येन । १३. 'कुतः' इति क पुस्तके । १४. न विशेषात् । १५. 'अशेषा' इति पाठः । १६. प्रत्यक्षानुमानागमास्त्रीण्येव प्रमाणानि सांख्यमते । १७. सूक्ष्मान्तरितादिः । १८. ज्ञेयस्यानन्तता नास्तीत्यपि न वक्तुं शक्यमित्यर्थः । १९. परिणामभेदानाम् । २०. तव सांख्यस्याप्यङ्गीकारात् । २१. सांख्यस्य । २२. एतद्विशेष्यपदं, पुरस्तात् त्रीणि विशेषणपदानि । २३. पुरुषः । २४. पुरुषस्य । २५. प्रकृतिपुरुषभेदपरिज्ञानमात्रेण । २६. 'मतम्' मुद्रितप्रतौ पाठः ।

२७. बहुव्रीहिरुत्तरस्य विशेषणम् । २८. अज्ञानात् । २९. 'एवं सति अज्ञानाद्बन्ध इत्येतन्न सम्यग्घटते' इति प्रतिज्ञाय एतद्वाक्यार्थमग्रेतनं हेतुद्वयं ज्ञातव्यम् । ३०. तत्र बन्धप्रसक्तौ हेतुमाह । ३१. कुतो मुक्तौ सकलज्ञानाभाव इति प्रश्ने उत्तरमिदम् । मुक्तावसंप्रज्ञातयोगो नाम निरालम्बनध्यानं साक्षात्परममोक्षहेतुः सांख्यमतेभिमतः । ३२. नन्वेन स्वरूपेवस्थानमेव निरूपितं, न ततः सकलज्ञानराहित्यमित्याशङ्क्यामाह । ३३. ज्ञानं बुद्धिः, तच्च प्रकृतिपरिणामात्मकं चेतनाज्जीवाद्भिन्नम् । तस्य हि मुक्तावभावे सकलज्ञानाभावः सुघटः । अत एव च मोक्षे बन्धप्रसक्तिरुपोपिता, ज्ञानाभावस्य बन्धकारणत्वप्रतिज्ञानात् । ३४. ज्ञानाभावरूपस्य चैतन्यस्वरूपावाप्तेर्मोक्षहेतुत्वं तु ध्यानरूपत्वात्, बन्धहेतुत्वं च, जडरूपत्वात् । ३५. स च संसारावस्थायाम् । ३६. अयं तु मोक्षावस्थायाम् । ३७. अन्तरङ्गं पापकर्म, बहिरङ्गं तु काचादिदोषः । ३८. कतिपर्ययज्ञानाभावरूपात् । ३९. 'अज्ञानात्' मुद्रितप्रतौ नास्ति । ४०. भाविकेवलिनश्छायावस्थायां कतिपर्ययज्ञानाभावरूपस्याज्ञानस्य सम्यग्ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसरूपस्य संभवात् । ४१. अप्रतिहतात् । ४२. सम्यग्ज्ञानप्रागभावप्रध्वंसरूपात् । ४३. पुण्यस्य । ४४. आगमात् । विशेष्यपदमिदमन्यानि विशेषणानि । ४५. नवर्थस्य द्वितीयपक्षे । ४६. स्वर्गं प्रति । ४७. ईश्वरकृष्णकृतसांख्यकारिकाग्रन्थस्य । ४८. जाततैमिरिके परिणामादिनिमित्तवशाज्जातम् । ४९. केवल्यसंभूतौ हेतुः । समयः सिद्धान्तः । ५०. सबन्धो निबन्धनं यस्य, तच्च तन्मिथ्याज्ञानं च । इदं हि मिथ्याज्ञानं यथा शुक्तिकायां रजतज्ञानं मरीचिकादौ जलज्ञानादि च ।

५१. आगमस्य तथा विशेषाविषयत्वात् । ५२. अनुमानस्यापि सर्वं विशेषतया न गोचरीभवति । ५३. मिथ्याज्ञानं द्वेधा, सदोषं निर्दोषं च । ५४. एवं वचने सति वैराग्यरहितात्तत्त्वज्ञानान्मोक्ष इत्ययुक्तं न स्यात्, तथा वचनमिदं वैराग्यसहितात्तत्त्वज्ञानान्मोक्ष इत्येतद् ज्ञानस्तोकान्मोक्ष इति प्रतिज्ञातेन विरोधि यथा तथा प्रकृतमपीति भावः । ५५. नैयायिकेन । ५६. 'पायादपवर्ग' इति सूत्रपाठोऽधुना न्यायदर्शने उपलभ्यते । न्यायदर्शनस्य प्रारम्भे द्वितीयसूत्रमिदम् । ५७. दुःखादीनामभावस्य तत्त्वज्ञाननिबन्धनत्वात्, तच्च सकलतत्त्वज्ञानं नास्ति नैयायिकानामतः प्रकृतं मिथ्याज्ञानमेव स्थितमिति तात्पर्यम् । ५८. संसर्गः सुखदुःखे च तथार्थेन्द्रियबुद्ध्यः । प्रत्येकं षड्विधाः ख्याता दुःखसौख्यैकविंशतिः । ५९. नैयायिकाभिमतान्येव प्रमाणानि । अस्मच्छब्देन तुच्छत्वं सूच्यते । एतानि, अस्मदाद्यल्पप्रयोजनसाधकानि । एभिः सकलतत्त्वज्ञानं न संभवेत् । ६०. कुत इत्याह । ६१. तेषु मध्ये सूक्ष्मादीनामस्मदादिप्रत्यक्षाद्यविषयत्वादित्यर्थः । ६२. प्राणभृज्जीवः । ६३. अनन्तत्वात् । ६४. नष्टा । ६५. आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गाः प्रमेयम् । ६६. मुक्तिर्द्विधा परपरभेदात् । अपरमुक्तिः कैवल्यप्राप्तिपूर्विका सशरीरा स्थितिः । सकलकर्मनिवृत्तौ शरीरविनाशे निरञ्जनरूपेण सिद्धात्मना स्थितिः परमुक्तिः । ६७. नैयायिकैः । ६८. परमुक्तिकारणात् । ६९. तत्त्वज्ञानेन तस्य प्रतिहतत्वाद् बन्धो

नेत्येवं प्रकारेण । ७०. ननु दोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्वन्ध एव नास्ति तत्कथं तन्निराकरणं शोभते इत्युक्ते आह । ७१. दोषसहितान्मिथ्याज्ञानाद्वन्ध इत्युक्ते योगिज्ञानात्प्राक् कदाचनापि दोषनिवृत्तेरसंभवाद्दोषसहितमिथ्याज्ञानस्य सदानुपरतिरेव । ततश्च कैवल्याभाव एव स्यादिति भावः । ७२. 'सद्भावात्' पाठान्तरम् ।

७३. योगिज्ञानादिति ग्रन्थेन । ७४. योगिज्ञानात्प्रागिच्छाद्वेषयोरनिवृत्तेस्तत्कारणमिथ्याज्ञानसन्ततेः सदा सद्भावात् । ७५. सौगतः । ७६. अविद्यापि सैव । ७७. संसारम् । ७८. अस्मदादेः । ७९. एते द्वे एव प्रमाणे सौगतानामभिमतम् । ८०. उत्पादकादिकारणानि । ८१. सकारणस्य । ८२. अतः स केवली । ८३. जातिः जन्म । ८४. द्वादशकारणम् । ८५. आश्रित्य । ८६. संसारस्य । ८७. तस्मात् क्षणिकनिरात्मकाशुचिदुःखरूपाद्विपरीतता अक्षणिकसात्मकशुचिसुखरूपता । ८८. सति । ८९. संसारिशरीरे । ९०. 'नेक' पाठान्तरम् । ९१. प्रशस्ताप्रशस्तौदासीन्यरूपाणाम् । ९२. रूपवेदनासंज्ञासंस्कार-चतुष्टयं नाम, पृथिव्यादीचतुष्टयं रूपम् । ९३. चक्षुःश्रोत्रघ्राणस्पर्शरसनमनांसि षडायतनम् । ९४. आत्मनः कर्तुं योग्या, सा चासौ क्रिया च, तस्याः प्रवृत्तिस्तस्या हेतुर्यस्तस्य । ९५. विषयाध्यवसानवाञ्छारूपं ज्ञानम् । ९६. तत्तत्पदार्थग्रहणार्था प्रवृत्तिः । ९७. पुनरुत्पत्तिजनकं च तत्कर्म च, तदेव लक्षणं यस्य (संसारस्य) ।

९८. मनुष्यादिदेहप्रादुर्भावस्य जीर्णता तत्प्रध्वंसः । ९९. द्वादशाङ्गं प्रतीत्य संसारस्य संभवो न स्याद्यदि । १००. अविद्यातृष्णाभ्यां बन्ध इति, द्वादशाङ्गद्वारकः समुत्पाद (संसारः) इति च यत्प्रतिज्ञातम् । १०१. केवली न स्याद्यतः । १०२. कारिकापरभागं विवृण्वन्नाह । १०३. ज्ञानमत्र इन्द्रियज्ञानम् । १०४. स्तोकज्ञानाभावादित्यर्थः । १०५. ब्रह्ममोक्षः । १०६. तर्हीति शेषः । १०७. अनेन दृष्टान्तं समर्थयन्ति । १०८. इन्द्रियजरूपायाः । १०९. न भवेदिति उत्तरेण संबन्धनीयम् । ११०. मोहसहितात् । १११. 'न' मुद्रितप्रतौ पाठः । ११२. मोहसहिताज्ञानस्तोकादपि मोक्षः स्यात्, मोहसद्भावे तु तथा न स्यादिति भावः ।

११३. बन्धश्चतुर्धा स्थित्यनुभागप्रकृतिप्रदेशभेदात् । तत्रान्त्यौ योगादात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणान्धवतः, स्थित्यनुभागौ कषायतः संभवतः । योगनिमित्तेषु द्विधाकर्मसु नास्ति विशेषसामर्थ्यं, कषायनिमित्तकर्मस्वभावसद्भावे एव तयोरुपयोगात् । अत एव कषायस्य बन्धकारणत्वं प्राधान्यापेक्षयोक्तं, स्वफलदानसमर्थत्वं च तन्निमित्तकस्यैव प्रतिपादितम् । ११४. क्रोधादिकषायसंयुक्तस्य । ११५. एकस्मिन्नेवात्मलक्षणेऽर्थे कषायेण सह समवायो वर्तते, अतो मिथ्याज्ञानं यत्तदेवाज्ञानं जायते । ११६. ज्ञापयन्तः । ११७. मिथ्याज्ञानं पुंसो बन्धकारणमित्येव तात्पर्यार्थः । ११८. मोहापेक्षां विना केवलादज्ञानाज्ञानाभावरूपादेव बन्धस्वीकारे सति योतिप्रसङ्गः स पुरस्ताद्विधानन्दैरेव प्रदर्शितः । ११९. क्षीणकषायो द्वादशगुणस्थानवर्ती जीव उपशांतकषायस्त्वेकादशगुणस्थानवर्ती । एकादशे कषायः सन्नप्यात्मनि उपशान्तो भूत्वा तिष्ठति, नहि तदा उदित्वात्मपरिणामं विकरोति, द्वादशे तु कषायसत्तैवात्मनः सकाशात्क्षीयते । अत एवान्वर्थनामनी ते द्वे अपि गुणस्थाने । उभयत्रापि केवलोत्पत्त्यभावेनाज्ञाने सत्यपि कषायोदयाभावाद्वन्धो न भवति । १२०. तटस्थाशङ्का-योगसद्भावात्प्रकृतिप्रदेशबन्धस्तु त्रयोदशगुणस्थानपर्यन्तं भवति तदपेक्ष्याशङ्कितं, तथापि तन्निरूपयोगि दग्धरज्जुवदतः सदप्यसदेवेत्युत्तरम् । १२१. त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनि । १२२. 'समर्थ' पाठान्तरम् । १२३. कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनस्यैव बन्धस्य सत्यबन्धरूपत्वादित्यर्थः । १२४. पथ्येतराहारादिसंबन्धो यथा कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धन एव इष्टानिष्टफलदानसमर्थपुद्गलविशेषसंबन्धस्तथा प्रकृतोपि । १२५. धर्मिणः प्रतिज्ञार्थैकदेशत्वेप्यसिद्धत्वाभावो यथेत्यर्थः । १२६. धर्मिणः । १२७. मीमांसकं प्रति । १२८. विवादापन्नम् । १२९. मीमांसकः । १३०. केवलस्य । १३१. पक्षमात्रे हेत्वभावात् । १३२. जैनः । १३३. धर्मिणो विवादापन्नत्वविशेषणमन्तरेण दृष्टान्तस्यापि पुद्गलविशेषसंबन्धरूपत्वाद्विधर्मिण्यन्तर्भावाद दृष्टान्तसिद्धिः । १३४. क्षीणोपशान्तकषायस्य । प्रकृतिप्रदेशबन्धयोः पुद्गलविशेषसंबन्धरूपत्वेपि कषायैकार्थसमवेताज्ञाननिबन्धनत्वाभावाद व्यभिचारः । १३५. 'संबन्धस्य' पाठान्तरम् । १३६. साध्येन सह । १३७. हेतोः । १३८. पक्षे । १३९. साध्येन

सह । १४०. इत्यादौ यथा साध्यसाधनवैकल्याभावो हेतोश्चान्वयत्वासंभवः ।

१४१. कर्मणो हिंसादिविरतिचित्तधर्मत्वेन (जीवपरिणामरूपत्वेन) चेतनत्वात् कर्मबन्धस्य पुद्गलविशेषसंबन्धत्वमसिद्धमिति वदन्तं चेतनकर्मवादिनं प्रत्याहुः । स च नैयायिकादिर्यो धर्माधर्मसंज्ञकं जीवस्य गुणं मन्यते । १४२. अपितु पुद्गलविशेषसंबन्धरूप एव भवेत् । १४३. ग्रीहादि यथा आतपजलादिसंबन्धेन विपच्यमानमतो पुद्गलरूपं दृष्टं, तथा । १४४. कर्मणां चत्वारो भेदाः—पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी च । तद्विस्तारो हि गोमटसारे । तद्यथा, देहादीफासंता पण्णासा णिमिणतावजुगलं च । थिरसुहपत्तेयदुगं अगुरुतियं पुग्गलविवाई ॥ देहादिस्पर्शान्ताः पञ्चाशत् प्रकृतयः, निर्माणमातपषयुगलं च स्थिरं शुभं प्रत्येकद्विकमगुरुलघु इति सर्वाः पुद्गलविपाकिन्यः प्रकृतयः ॥ पुद्गले जीवशरीरे विपाकः फलोदयो यस्य कर्मणस्तत्पुद्गलविपाकि । यथा शरीरनामकर्म । अतो देहस्यैव निर्माणं भवति न तु जीवविषये तत्साक्षात्किंचिद्विकरोति । आऊणि भवविवाई खेतविवाई य आणुपुव्वी य । अट्टत्तरि अवसेसा जीवविवाई मुणेयव्वा ॥ आयूषि भवविपाकीनि क्षेत्रविपाकीनि आनुपूर्वाणि, अष्टसप्ततिर्जीवविपाकीनि (कर्माणि) मन्तव्यानि । आयुः कर्म भवविपाकि, भवे नरकादिगतौ प्राप्तशरीरेऽवरोधकारणत्वादायुषो भवविपाकित्वसिद्धेः । अनेनापि न कश्चित्साक्षाज्जीवे विकारो भवति, अवरोधमात्रेण तद्विकारासंभवात् । आनुपूर्वं हि कर्म मरणानन्तरं नूतनशरीरग्रहणाय मध्ये (विग्रहगतौ) गच्छतो जीवस्य, शरीरपरिमाणतोत्पादकौदारिकादिशरीराभावेपि पूर्वशरीराकारतामादधाति इति, नानेनापि जीवे साक्षात्कश्चिद्विकार उत्पाद्यते, पूर्वाकारस्य तदवस्थत्वकारणत्वेपि तावता जीवे विकृत्यसंभवात् । विहायोगतिमुभयानां प्रत्येकं सप्रतिपक्षेण सह द्विकं, चतस्रो गतयः पञ्च जातयः (पञ्चेन्द्रियापेक्षया एकेन्द्रियादिनामिकाः), एवं सप्तविंशतिर्नामकर्माणि । एतैरपि जीवप्रदेशेषु जीवगुणे वा क्वचिद्विकार एवोत्पाद्यते इत्येता अपि जीवविपाकिन्य एव ।

इति 'चतुःप्रकारकर्मसुमध्ये यानि जीवविपाकीनि तेषां विपाके पुद्गलापेक्षत्वं न स्यादिति मत्वा शङ्का, यत्कथं जीवविपाकीनि पौद्गलिकानि संभवेयुः? पुद्गलसंबन्धेन तद्विपाकाभावात् । तदुत्तरं त्वित्थं—यत्तेषां जीवविपाकिनामपि सकर्मजीवे एव विपाको भवति । सकर्मजीवास्तु तदावेशात्स्यान्तमूर्ता अभिमताः । मूर्तत्वमेव च पौद्गलिकत्वमिति कृत्वा जीवविपाकिनामपि पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वं सुघटम् । एवं चानेन हेतुना सर्वेषामपि कर्मणां पौद्गलिकत्वं सिध्यति । १४५. 'सिद्धेः' पाठान्तरम् । १४६. तस्य पुद्गलसंबन्धेन विपच्यमानत्वस्य । १४७. अनुभवपूर्वकत्वात्समरणस्य, अनुभवस्य च पुद्गलाश्रयत्वात् । १४८. पुद्गलमयं कर्म चेत्तर्हि तस्य फलदानसामर्थ्यं न स्यादचेतनत्वादेरित्याशङ्क्याह । १४९. चक्षुरतीन्द्रियत्वाददृश्यं तथापि रूपज्ञानात्स्वीक्रियते सर्वैर्यथा । १५०. स्तोकज्ञानादपि । १५१. मोहपरिक्षयाभावे । १५२. दशमगुणस्थानान्तानाम् । १५३. विद्यानन्दमहोदये । १५४. इतः परं यौगः । १५५. कामादि(इच्छादि)रेव प्रभवः कार्यम् ।

१५६. न तु कर्मकृतः । १५७. कामादीनां रागादीनां प्रभव उत्पादः, स तु कार्यरूपश्चित्रो नानारूपः कर्मबन्धानुरूपाद् ज्ञानावरणादिकर्मकारणात् । १५८. स्वस्य कर्मणो, हेतू रागादिपरिणामः (अज्ञानमोहाहंकारादिरूपः) । १५९. शुद्धिर्भव्यत्वमशुद्धिर्भव्यत्वम् । यस्मिंजीवे शुद्धिः स्वभावोस्ति स कदाचिन्मुक्तो भवति, नाशुद्धिभाक् । १६०. यसः । १६१. यस्य वस्तुनः कारणभूतस्य, विचित्रं कार्यं तस्येत्यर्थः । १६२. शालिबीजादेकरूपाच्छाल्यङ्कुरस्यैवोत्पत्तिर्न त्वन्यस्य । १६३. एकस्वभावेश्वरकृतत्वलक्षणे । १६४. हेतोरनुपपन्नत्वं तस्य ग्राहकं प्रमाणम् । १६५. एकस्वभावत्वेपि विचित्रकार्यदर्शनात् । सा च विचित्रता नवजीर्णतापेक्षया । १६६. एकस्वभाविनः (नित्यस्यैव क्षणिकस्यैव ता) । १६७. अपरिणामितया मतस्य कालादेरेव । १६८. कालादेः । १६९. व्यापकरूपया सह । १७०. तया अर्थक्रियया । १७१. इति व्यापकाभावे व्याप्याभावोत्र । १७२. नैयायिकः । १७३. खपुष्पादेः । १७४. असदित्येव प्रत्ययो यः सैव यार्थक्रिया । १७५. अर्थक्रियया । १७६. जैनः । १७७. व्यापिकार्थक्रियैवात्र । १७८. तत् सत्त्वम् (व्याप्यम्) । १७९.

एकत्रापि व्यापकावयवभूते व्याप्ये यदि व्यापकरूपं प्रवर्तते तर्हि तद्व्याप्तिरखण्डिता । अग्निधूमयोरपि न सर्वत्र व्याप्तिरस्ति । १८०. वस्तुनः । १८१. क्रमस्य यौगपद्यस्य । १८२. जैनः । १८३. एकामेवार्थक्रियां संपादयतः । १८४. इति अन्तर्बाह्यार्थभेदेनार्थक्रियाद्वैविध्यं सिद्धं सर्वत्र वस्तुनि । १८५. अन्तरङ्गस्वज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारणा-वश्यंभावाभावे । १८६. एकक्षणस्थायित्वेन । १८७. नैयायिकः । व्याप्ययोः । १८८. व्यापकेन सह । १८९. करणमिन्द्रियम् । आदिशब्देन गुणकर्मादिग्रहः । १९०. प्रकृतप्रमाणेन कारणस्य (ईश्वररूपस्य) बाधनात् । १९१. एकस्वभावेश्वरबाधनेन । १९२. पञ्चमी । १९३. क्रमाक्रमाभ्यामर्थक्रियासंभवात् । १९४. ईश्वरेण । १९५. इच्छायाः । १९६. ईश्वरादनर्थान्तरभूतः । अत्र अनर्थान्तरभूतार्थान्तरभूतश्चेति पक्षद्वयं कृत्वा निरसितं क्रमेणेति विचार्यम् । 'नित्यैकस्वभावाया' इत्युपर्युक्ते पदेपि पक्षान्तरं कल्प्यम् । तद्यथा—इच्छा नित्यानित्या वा? तत्रापि प्रत्येकपक्षे सा पुनरेकस्वभावानेकस्वभावा वा? इति विकल्पान्तरमूढं, तत्क्रमेणैव चोत्तरं दत्तं पुरस्तात्तत्संप्रधार्यम् । १९७. ईश्वरस्य । १९८. उपकारान्तरमीश्वरादभिन्नमभिन्नं वा? अभेदे नित्यत्वविरोध ईश्वरस्य । भेदे संबन्धासिद्धिरित्येवंरीत्या । १९९. षष्ठीप्रथमा इति रूपेण । २००. सिसृक्षायाः । २०१. ईशस्य । २०२. सिसृक्षायाः । २०३. नित्यपक्षवत् । २०४. ईश्वरात् । २०५. ईश्वरेण । २०६. स ईश्वरः । २०७. ईश्वरस्यायमभिसंधिरिति यो व्यपदेशः । २०८. सत्याम् । २०९. इच्छायाः । २१०. हेतोः । २११. अभिसंधेनेकत्वं क्रमेणाक्रमेण वा? अक्रमत्वं चेत्तर्हि तत्र पक्षे इत्यर्थः । २१२. सकृदुत्पत्त्यादिप्रसङ्गरूपस्य । २१३. अभिसंधेरेव । २१४. वर्तिकादाहादीनाम् । २१५. विद्यमानोप्यसावभिसंधिरिच्छामन्तरेण इच्छापूर्वको वा भवेत्? २१६. अनपेक्षत्वं हि अपराया ईश्वरसिसृक्षायाः सकाशात् । २१७. तत्सिसृक्षानपेक्षजन्मानः । २१८. इतोऽग्रे 'उत्तरसिसृक्षातः' इत्यधिकपाठः कपुस्तके । २१९. तस्याः पूर्वपूर्वसिसृक्षाया । २२०. ईश्वरबोधस्य । २२१. सिसृक्षा तन्वादिकार्यं चेति द्वन्द्वः । २२२. सिसृक्षान्तरकार्याणाम् । २२३. तस्य ईश्वरबोधस्य । २२४. अनिमित्तत्वं तन्वाद्युत्पत्तौ । २२५. तस्य नित्येश्वरबोधस्य । २२६. तन्वादिकार्याणाम् । २२७. तत्र तन्वादौ । २२८. नित्येश्वरज्ञानस्य सकलजीवानां च व्यतिरेकाभावः समान एव यत इत्यर्थः । २२९. नन्वीश्वरज्ञानाभावे सकलकार्याणामभावो भवतु, न तु सकलात्मनामभावे ईश्वरबोधसद्भावे । तत ईश्वरबोधस्यैव व्यतिरेकः सिध्यति, न तु सकलात्मनामित्याह । २३०. सर्वोत्पत्तिमतो निमित्तकारणमिति षष्ठ्या विग्रहः कार्यः । २३१. 'निमित्तकारणम्' इति पाठान्तरम् । २३२. अंसर्वगतत्वाङ्गीकारे । २३३. ईश्वरबोधस्य । २३४. तत् तन्वादिकार्यं प्रति ।

२३५. ईश्वरज्ञानं तद्बोधान्तरानपेक्षं तत्सापेक्षं वा? इति विकल्प्य पक्षद्वये दोष उन्नाव्यते । २३६. ईश्वरबोधान्तरानपेक्षाणाम् । अनित्येश्वरबोधे सिसृक्षातन्वादौ चेत्युभयत्र । २३७. अनवस्थालक्षणः । २३८. आदिना सिसृक्षातन्वादिग्रहणम् । २३९. कालेनापि देशेनापि । २४०. सकलात्मनाम् । २४१. एकस्वभावाभ्यां कार्यवैचित्र्यं न भवेद्यथा । २४२. महेश्वरबोधात्कार्यं न भवतीत्यनया । २४३. प्रयोजनम् । २४४. अर्थोत्र कार्यम् । २४५. ग्रन्थकृतानन्तरमेवोक्तस्य । २४६. सकलात्मनामेव कारणत्वापत्तिरत्रातिप्रसङ्गः । २४७. महेश्वरसिसृक्षयोरैकस्वभावत्वेपि कर्मवैचित्र्यात्कामादिवैचित्र्यमिति प्रतिविधानेन २४८. हेतुभ्यः । २४९. कार्यस्य । २५०. साध्यम् । २५१. अनुक्रमेण वर्तनं विरम्य प्रवृत्तिः । २५२. विरम्य प्रवृत्त्यादिभ्यो हेतुभ्यः । २५३. नैयायिकः । २५४. शरीरेन्द्रियोत्पत्तेः पूर्वम् । २५५. कुशल एव कौशलः, स्वार्थेऽण्, यथा द्वीतमेव द्वैतमिति । २५६. 'मृत्पिण्डः' मुद्रितप्रतौ पाठः । २५७. आत्मान्तरान्वेषणेपि । २५८. विरम्य प्रवृत्त्यादीनां प्रकृतसाधनानां यो व्यतिरेकस्तस्यानिश्चयात् । सति ईशे कार्यं नासीदित्येवं व्यतिरेकोत्र । २५९. तस्य व्यतिरेकः समर्थ्यते इति उत्तरपदेन क्रियाकारकसंबन्धः । २६०. नैयायिकमते आत्मा न तु स्वरूपेण चेतनः, किंतु पूर्वमचेतन एव पश्चाच्चेतनागुणेन समवायाच्चेतनो भवति । २६१. सतीश्वरे विरम्य प्रवृत्त्यादिसाधनं स्यान्नासतीत्यनेन । २६२. नैयायिकेन । २६३. अत्राहुर्जैनाः । २६४. ईश्वरस्तनुकरणभुवनादिनिमित्तकारणं न भवति, विगततनुकरण(इन्द्रिय)त्वान्मुक्तात्मवत् । २६५. अयं

दृष्टान्तोपेतनवाक्येन सह योजनीयः। कालो यथा वितनुकरणत्वात्तन्वाद्युत्पत्तौ कारणं न भवति तथेश्वरोपीति भावः। २६६. ईश्वरस्य। २६७. अपिशब्दो भिन्नक्रमे, तेन कर्मणामपीति कर्तव्योन्वयः। २६८. न केवलं सतनुकरण एवेति ध्वन्यतेऽपिना। २६९. घटकरणे कुम्भकार एव। २७०. कर्मणां तन्वादिकार्योत्पत्तौ कारणत्वकल्पनापेक्षया। २७१. सतनुकरणत्वं कुलाले कर्तृत्वेन निराक्रियतां, न पुनर्वितनुकरणे बुद्धिमत्त्वमित्यत्र न्यायस्य समानत्वात्। २७२. यौगम्। २७३. कारकाणां दण्डादीनाम्। २७४. सदाशिवलक्षणस्य।

२७५. ईश्वरस्याशरीरत्वात् कारकप्रयोक्तृत्वं कुलालस्य तु सशरीरत्वात्कारकप्रयोक्तृत्वं संभवतीति प्रश्ने सत्याह। २७६. किंतु इच्छादीनामेव तदङ्ग(कारण)त्वात्। २७७. कुलालस्य ईश्वरवज्ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नवत्त्वेनैव दृष्टान्तत्वं, न तु शरीरसत्त्वासत्त्वाभ्याम्। २७८. यदि तयोः सर्वथा साम्यं स्यात्तर्हि तयोर्मध्ये विशेषो (भेदः) नैव स्यात्। तथा चेदं दार्ष्टान्तिकमयं तु दृष्टान्त इति द्वैतभावोपि कथं स्यात्? २७९. ईश्वरो बुद्धीच्छाप्रयत्नवान् न, वितनुकरण-त्वान्मुक्तात्मवदित्यनुमानात्तदभावे तदभावोवसेयः। २८०. यौगमतेनात्मानं व्यापकं मत्वा दोषोयमुद्भावितः। शरीराद्वहिर्नात्मनि बुद्ध्यादि तिष्ठति तन्मतानुसारम्। २८१. कालादौ च वितनुकरणत्वादेव न बुद्ध्याद्यस्ति। २८२. आत्मनस्तदा वितनुकरणत्वेपि बुद्धीच्छाप्रयत्नदर्शनात् (नैयायिकाशङ्का)। २८३. स्वमतं यौगमतं, व्यापकापेक्षया। २८४. जैनानाम्। २८५. विग्रहगतौ (पूर्वशरीरत्यागानन्तरं प्राक् चोत्तरशरीरग्रहणात्) कर्मणतैजसशरीरसद्भावात्। २८६. ईश्वरो धर्मो किं प्रमाणप्रतिपन्नो न वेति विकल्प्य यौगो जैनं पृच्छति। २८७. अनिष्टापादनसमये। २८८. ईश्वरस्य स्वयं संमतत्वात्। २८९. अकर्तृत्वादिविशिष्टस्य २९०. वितनुकरणत्वादिति। २९१. पूर्वं संसारापन्नस्यैव कस्यचिदात्मनः कदाचित्कर्मनाशे सति। २९२. सर्वसृष्टिकर्तृत्वबुद्ध्यादिसंपन्नत्वाभ्यां द्वाभ्यां विशेषणाभ्यां युक्तत्वं तस्येश्वरस्य नैव निर्विवादं सिध्यति, आत्मान्तरस्य मुक्तत्वेपि यौगैस्तथाऽस्वीकारात्। २९३. करणानि। २९४. समस्तकारकप्रयोक्तृत्वबुद्ध्यादिसंपन्नत्वाभ्याम्। २९५. ईशस्य। २९६. यौगमतानुसारेण। २९७. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्न्यं पुरुषं महान्तम्॥ इति वचनम्। २९८. आगमस्य। २९९. युक्त्या अनुमानेन। ३००. तच्छरीरमपि आत्मान्तरशरीरबुद्धिमन्निमित्तकारणकं बुद्धिमदकारणकं वेति विकल्प्य दूषयन्ति जैनाः। ३०१. ईश्वरशरीरस्य कार्यत्वेपि बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वास्वीकारेण कार्यत्वहेतोः पक्षाव्यापकत्वात्।

३०२. सृष्टिकर्तृरीशस्य। ३०३. नेतरस्य भवशरीरोत्पत्तौ निमित्तत्वमतो नानवस्था, बीजवृक्षादिवदनादित्वात्तच्छरीरप्रवाहस्य। ३०४. न केवलं स्वशरीरस्यैवोत्पत्तौ। ३०५. संसारिणाम्। ३०६. ईशस्य। ३०७. विरम्य प्रवृत्तिः स्थित्वा प्रवर्तनम्, अर्थसाधकक्रिया चेति द्वयं कथं भवतीत्याह—चेतनेति। ३०८. चेतनाधिष्ठानरहितस्य। ३०९. स्थित्वा प्रवर्तनादि। कुतः? ईशस्याप्यचेतनत्वात्। ३१०. स्थित्वा प्रवर्तनादि स्यादीशे तर्हि। ३११. प्रेरिताः। ३१२. चेतनाधिष्ठितत्वे। ३१३. यदि चेतनाधिष्ठितं न स्यात्तर्हि। ३१४. ईश्वरेण। ३१५. स्थित्वा प्रवर्तनेपि चेतनानधिष्ठानात्। ३१६. नैयायिकाशङ्का। ३१७. अनवस्थालक्षणो दोषः। ३१८. ईश्वरस्य स्वयं चेतनत्वात्। ३१९. ग्रहीणो निकृष्टः। ३२०. अपरेश्वरम्। ३२१. यतः स स्वयं बुद्धिमानिति हेत्वर्थे पूर्वोक्तं विशेषणं ज्ञेयम्। तद्वदीश्वरत्वविशेषणदानस्य फलं ग्रहीणाकरणत्वमिति मनसि हेत्वर्थं विचार्य 'ईश्वर' इत्यपि प्राग्विशेषितम्। ३२२. सातिशयं यो वेत्ति, यत्तद्विधौ स ग्रहीणकारी न भवतीति दर्शनादिति भावः। ३२३. कर्मणामपि वैचित्र्यमीश्वरज्ञानगतं तत्कृतं चेति तत्रापि तथात्वं कथं जातमित्याशङ्का न निवर्तते इत्यर्थः। ३२४. कर्मणि। ३२५. अत्राप्येश्वरनिमित्तत्वाविशेषात्। ३२६. कर्मणामीश्वरानिमित्तत्वे। ३२७. ईश्वरस्य कर्मणां च चेतनाधिष्ठितत्वाभावे च। ३२८. साधनस्य। ३२९. ईश्वरकर्मभ्याम्। ३३०. ईश्वरस्य। ३३१. बीजाङ्कुरवत्। ३३२. अनुमानेन सिद्धमित्यर्थः। ३३३. नन्वचेतनं कर्म प्राणिनः कथं स्वर्गादिकं प्रापयतीति चेदाह। ३३४. युक्त्या साधिते 'अचेतनात्कर्मबन्धात्कामादयः कामादिभ्यश्च कर्मबन्धवैचित्र्यमिति' स्वभाव एव वस्तुनस्ततोत्र

नोपालम्भः कर्तव्यो यौगेन। ३३५. ईश्वरे धत्तुरादौ वा प्रत्यक्षतो विषयीकृते चेतनस्वीकृतत्वे ततश्चाचेतनात्ततो चेतनपारतन्त्र्यचित्रीकरणेन। ३३६. धत्तुरे भक्षिते सर्वं पीतरूपं भाति यतः। ३३७. कामादिकर्मबन्धयोः।

३३८. कामादिकर्मबन्धयोः परस्परमचेतनत्वचेतनत्वकरणरूपतया। ३३९. अनेककारणेन। ३४०. यतः स प्रासादादिः कार्यत्वे सत्यप्येकबुद्धिमत्कारणको न। ३४१. तन्वादीनाम्। ३४२. तत्तत्प्राण्यदृष्टेन। ३४३. प्रथमानुमानेन न एकानेकबुद्धिमत्कारणत्वमुच्यते, किंतु बुद्धिमत्कारणत्वसामान्यं साध्यते इत्याशङ्कयामाह। द्वितीयपक्षे सिद्धसाधनत्वसमर्थनेन। ३४४. विशेषस्तूपरिष्ठात्सिद्धो भविष्यतीति कथं सिद्धसाधनमिति प्रश्ने ग्राह। तस्य नैयायिकस्य। ३४५. यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोधिकरणसिद्धान्तः (गौ० सू० १.१.३०)। यस्यार्थस्य सिद्धौ जायमानायामेव प्रस्तुतस्य प्रकरणस्य सिद्धिर्भवति सः। यथा तद्व्यणुकादिकं पक्षीकृत्योपादानगोचरज्ञानचिकीर्षाकृतमज्जन्यत्वे साध्यमाने सर्वज्ञत्वमीशस्य (गौ० वृ० १.१.३०)। ३४६. अनन्तरं निराकरिष्यमाणत्वादिति भावः। ३४७. बुद्धिमत्त्वमात्रेण सामान्येन सहितो विशेषस्तस्य। ३४८. सिद्धसाधनलक्षणो दोषो न। ३४९. दृष्टं विशेषाश्रयं यस्य, अदृष्टं विशेषाश्रयं यस्य वेति सामान्यं द्विधा। ३५०. कतिपयकारकप्रयोक्तृत्वासर्वज्ञत्वप्रतिहतशक्तित्वाविभुत्वसशरीरत्वादिदृष्टविशेषाश्रयं सामान्यम्। ३५१. स्वेष्ट ईशः। ३५२. समस्तकारकप्रयोक्तृत्वादि अदृष्टम्। ३५३. कुम्भादेः। ३५४. दृष्टादृष्टविशेषाश्रयत्वं विहाय अन्यविशेषाश्रयत्वमेव भविष्यतीत्युक्ते ग्राह। ३५५. तथा सामान्यस्यासंभवादिति भावः। ३५६. यस्य कर्तृत्वमात्रस्य सिद्धौ। ३५७. अन्यस्य कर्तृविशेषेश्वरस्य। ३५८. प्रकरणेन क्षित्यादिकरणप्रघट्टकेन। ३५९. 'प्रयोका' इति कपाठः। ३६०. एवमीश्वरसामान्यं यदि कुतश्चित्सिद्ध्येत्तर्हि स्यादेवमित्यन्वयः। ३६१. बुद्धिमत्कारणसामान्यस्य। ३६२. दूषणान्तरे। ३६३. कार्यत्वादिति। ३६४. घटवदिति। ३६५. कार्यत्वं सर्वथा कथंचिद्वा तन्वादीनामिति विकल्प्य दूषयन्ति।

३६६. तत्त्वार्थालङ्कारे श्लोकवार्तिके। ३६७. 'तस्मान्नायमेकस्वभावेष्ट्वरकृतः' इत्युक्तमत्रैव कारिकाप्रारम्भे। ३६८. मिथ्यादर्शनादिपरिणामात्मकाभिसंधिरशुद्धिः, सम्यग्दर्शनादिपरिणामात्मको भावः शुद्धिश्चेति उत्तरकारिकाद्वितीयव्याख्याने शुद्ध्य-शुद्धिशब्दाद्यौ वक्ष्यते। ३६९. मीमांसकानाम्। ३७०. बन्धकारणस्य कामादिस्वभावस्य तद्विपरीतप्रवृत्त्या निराकर्तुमर्हत्वादित्यर्थः। ३७१. जीवानां शश्वत्कामादिस्वभावत्वे। ३७२. कामादिभावे तरतमभावोपलम्भवविरोधाच्च। ३७३. सर्वदा। ३७४. प्रकृतिविनाशे मुक्तावस्थाप्राप्तौ यथा कामादिर्नोपलभ्यते। ३७५. प्रकृतिः। ३७६. पुरुषः। ३७७. यदि शुद्धिभाजां प्रतिमुक्तिस्तदा सा सर्वदा कुतो न भवेदित्याह। ३७८. स्वकाललब्धिश्च कथं चेति लब्धिसारादवलोकनीयम्। संक्षेपतस्तु सर्वार्थसिद्धौ द्वितीयाध्यायप्रारम्भेपि दर्शिता। ३७९. यथा माषमुद्रादौ कुत्रचित्पचनशक्तिरस्ति, ते च निमित्तसंनिधौ पचन्ति, येषु च वन्ध्येषु (कोरडू इति ख्यातेषु) तच्छक्तिर्नास्ति ते कदाचिदपि न पचन्ति। अत एव तयोर्व्यक्ती अपि क्रमेण साधनादी। तद्वज्जीवविशुद्ध्यशुद्ध्योर्ज्ञेयम्। ३८०. आदिना ज्ञानचारित्रसंग्रहः। ३८१. मिथ्यादर्शनादियोगात्। ३८२. योग्यताऽयोग्यते। ३८३. शुद्ध्यशुद्धी।

३८४. जीवा अशुद्धास्तु शरीरादिना पारतन्त्र्यादिहेतोः प्रत्यक्षानुमानप्रमाणाभ्यामनुभूयन्ते, परन्तु सदा शिवरूपाः (शुद्धस्वरूपाः अनादित एवेति) न केनचित्प्रमाणेन निश्चीयन्ते, अशुद्धितः शुद्धिकरणे सादिशुद्धेरनुमानगोचरत्वात्। इत्यादिविचारे कृते सति न सदा शिवरूपता कस्यचिदनुभवपथमुपलब्धेते। ३८५. शिवस्य विशुद्धिव्यक्तिः सादिर्विशुद्धिव्यक्तित्वादितरजीव-शुद्धिव्यक्तिवत्, पदार्थमात्रे विशुद्धिव्यक्तिवद्वा, इतीष्टविरोधः। ३८६. शुद्ध्यशुद्धिरूपायाः। ३८७. प्रादुर्भावः पर्यायः। ३८८. पर्यायापेक्षया। ३८९. द्रव्यत्वस्वभावापेक्षया। ३९०. कारिकायाः प्रकारान्तरेण व्याख्या। ३९१. अभिसंधिरभिप्रायः। ३९२. मूलं भावयति। तन्निमित्तं सम्यग्दर्शनादिघातसप्तप्रकृत्युपशमादि। ३९३. मिथ्यादर्शनादिकर्मोदयनिमित्तवशाज्जायते। तदुदयश्च सदा संसारे इति अशुद्धिव्यक्तिरप्यनादिः। ३९४. शुद्ध्यशुद्ध्योः। ३९५. जीवानाम्। ३९६. वक्ष्यमाणसादित्वानादित्व-प्रकारेण। ३९७. कुतः ग्राह साधनादी प्रकृतशक्त्योर्व्यक्ती इति। ३९८. अशुद्धत्वमनादित एव मन्तव्यं, सादित्वे मते

सति ततः पूर्वं शुद्धेः संभवापत्तेः । शुद्धिस्तु न जीवानां पूर्वतः, पूर्वतः शुद्धिस्वीकारे पुनर्वन्धासंभवापत्तेः । न च वन्धो नास्तीति, प्रत्यक्षतो बन्धकृतेः शरीरादिपारतन्त्र्यस्यानुभवात् । इति बन्धस्याशुद्धदशायामेव संभवादनादिरशुद्धिः । शुद्धिस्तु प्रयोगजन्यत्वात्सादिः । कनकपाषाणगतसुवर्णस्याशुद्धिरनादिस्तच्छुद्धिस्तु सादिरिति दृष्टान्तोत्र भावनीयः । अयमेवात्र द्वयोः साधनादित्वेऽतर्कगोचरः स्वभावो विभावनीयः । ३९९. पुनः पुनर्विचारणीयाः । ४००. यागः । ४०१. प्रश्ने । ४०२. अनुमानागमैर्निश्चितेपि पदार्थे स्वभावविरोधो नास्ति यतः । ४०३. भव्याभवव्यत्वरूपाः । ४०४. अन्यथेति शेषः । ४०५. पदार्थानाम् । ४०६. पर्यनुयोगप्रसङ्गवत् । ४०७. कथमिदमिति प्रश्नप्रसङ्गः । ४०८. अस्ति चानयोः स्वातन्त्र्यम् । पर्यनुयोगार्हं तु केवलमनुमितं वस्तु, कुतः ? अत इत्यादितर्केणैव तस्य तत्र निर्धारणात् । न च तथा प्रत्यक्षागमौ, प्रत्यक्षेण गृहीते उष्णेनौ, कुतोनेरुष्णत्वं ? जलवत्पदार्थत्वाच्छैत्यमेव कुतो नेति पर्यनुयोगायोग्यत्वात्, तथैवागमेनापि निर्धारिते सूक्ष्मव्यवहितादिवस्तुनि कुत इत्यमिति पर्यनुयोगासंभवात् । अयमागमः सत्योऽसत्यो वेति सामान्यप्रश्नस्य उत्तरनिर्धारणं यावत्तदसत्यस्वीकारेण तदुक्तवस्तुनिश्चयाभाव इत्यन्यदेतत् । ४०९. स्वातन्त्र्यानुपपत्तौ । ४१०. शब्दादिर्धर्मो, स चासौ प्रत्यक्षश्चेति । ४११. तर्कागमयोरन्यतरस्य प्राधान्याप्राधान्यनियमाभावात् । ४१२. अनुमाने पक्षस्तावन्निश्चित एव वाच्यस्तदनिश्चयेऽनुमानोदयासंभवादिति सिद्धान्तितं खलु । निश्चयस्तु यदि कस्यचित्स्वातन्त्र्येण स्यात्तदैव तत्रानुमानं विधिविवेधमुखेन प्रवर्तते । स्वातन्त्र्येण निश्चयस्तु प्रत्यक्षागमगत एव । अतस्तन्निश्चिते पक्षे विशेषधर्मनिश्चयार्थमनुमानं प्रवर्तते, न त्वनुमाननिश्चिते पक्षे, तत्र प्रवृत्तौ, तत्पक्षस्याप्यनुमानेन, तदनुमितस्यापि पुनरनुमानेन निश्चयप्रकारेऽनवस्थायाः प्रवेशात् । तद्वद् प्रत्यक्षागमगृहीतावपि पदार्थावनुमानार्हौ तर्हि तत्राप्यनवस्था दुर्निवारा स्यात् । ततः कुत्रापि नानुमितिः स्यादिति भावः ।

४१३. आदिना मोक्षमार्गप्रणेतृत्वकर्मभूद्भूतत्वे ग्राह्ये । ४१४. ननु च सत्संख्यादेर्निर्देशस्वामित्वादेशोपायान्तरस्यापि संभवात् किमुच्यते नान्यथेति प्रश्ने सत्याह । ४१५. तत्त्वार्थाधिगमस्य । ४१६. आदिना विषयफलादिग्रहः । ४१७. उत्तरपदविशेषणमिदम् । ४१८. बौद्धाभिमतस्य । ४१९. ग्राहकम् । ४२०. बौद्धोक्तं निर्विकल्पकं ज्ञानम् । ४२१. नैयायिकोक्तम् । ४२२. सांख्योक्तम् । श्रोत्रादीन्द्रियाणां विषयाकारेण परिणतिर्वृत्तिः । ४२३. उक्तानां दर्शनादीनाम् । ४२४. परिच्छित्तेः । ४२५. तद्वत्ता भावाभाववत्ता । ४२६. प्रमितेः । ४२७. भावाभाववत्ता । ४२८. दूरदेशस्थेऽर्थे । ४२९. विशेष्यविषयकसन्निकर्षदर्शनादेरभावेपि । ४३०. ज्ञानाभावेपि सन्निकर्षसद्भावादेव पदार्थप्रमितेर्भावात् । ४३१. तत्त्वज्ञानान्तरूपस्य प्रमेयस्य, कर्तुरात्मनश्च । ४३२. द्वयस्यापि । ४३३. देहलीदीपकन्यायेनायं शब्दः पूर्वत्रोत्तरत्र च संबन्धनीयः । ४३४. इति विशेषणत्रयेण त्रयोपि लक्षणदोषा अव्याप्यतित्व्याप्यसंभवनामानो व्यावर्तिताः । ४३५. सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वेऽपि प्रमाणलक्षणं कुत इत्युक्ते आह । अनेनासंभवद्वाधकपदसाफल्यं जातम् । ४३६. निश्चितपदस्य साफल्यमनेन । ४३७. सु इत्यस्य साफल्यमनेन । सुष्ठु, सकलदेशकालपुरुषापेक्षयेति व्याख्यानात् । प्रथमपरिच्छेदे तत्त्वोपप्लवादिनिराकरणावसरे तथैवोक्तत्वात् । ४३८. नैयायिकोक्तस्य । ४३९. सौगतीयस्य । ४४०. भाट्टस्य । ४४१. प्राभाकरस्य । ४४२. बुद्धेः प्रामाण्यमेवेति नियमाभावात्, असद्बुद्धेरपि बुद्धित्वात् । ४४३. बुद्धेः । ४४४. तिमिरादिना हि संकीर्णता - एकत्र विजातीयमेलनम् । तच्च प्रामाण्याप्रामाण्ययोरत्र । यथा द्विचन्द्रादिज्ञाने संख्याप्रकारबोधांशोऽप्रमाणः, चन्द्रत्वप्रकारकबोधांशस्तु प्रमाणः । एवमन्यत्रापि । ४४५. संकीर्णप्रमाणत्वं कथमित्युक्ते उदाहरणगर्भकं हेतुमाह । ४४६. अनुपहतत्वं काचकामलादिदोषेण । ४४७. देशस्य भूम्याः, प्रत्यासत्तिश्चन्द्रेण सह वर्तते इत्यादिप्रकारको ज्ञानांशः कदाचित्त्वचित्कस्यचिज्जायते, स अतथ्यार्थत्वादभूताकारावभासः । ४४८. एवं कदाचित् प्रमाणे संकीर्णत्वेपि संभवे सति । ४४९. तयोः संवादविसंवादयोः । ४५०. प्रमाणाप्रमाणत्वयोः । ४५१. 'व्यवस्थावत्' इति पाठः सम्यक् । ४५२. बौद्धापेक्षया । अथवा प्रत्यक्षवद्विशदज्ञानाभावापेक्षया । ४५३. अतत्त्वप्रतिपत्तिश्चेततः कदाचित्तर्हीत्यर्थः । ४५४. एतत्पदं देहलीदीपकन्यायेनोभयत्र ग्राह्यम् । ४५५. स्वयमिति प्रतिभासनात् । ४५६. अद्वयत्वमन्तस्तत्त्वापेक्षया । आदिशब्देन निरंशक्षणिकपरमाणुरूपग्रहः ।

अष्टसहस्री

३६६

४५७. आदिना ग्राह्यग्राहकाकारादिग्रहणम्। ४५८. रूपादिस्वलक्षणानि च (बहिस्तत्त्वानि) यथा व्यावर्ण्यन्ते, तथैव तेषामदर्शनादिति संबन्धः। ४५९. सौगतैः। ४६०. ननु चैकान्तकल्पनायामपि स्वसंवेदनस्य संविन्मात्रस्य प्रतिभासितया प्रमाणतयैवाङ्गीकरणात्कुतो नान्तःसंवेदनं व्यवतिष्ठेत? इत्याशङ्क्याह। ४६१. द्वैताक्षणिकादिरूपेण।

४६२. अर्थानां निरंशत्वं सिद्धं यस्मात्तव मते। ४६३. स्वलक्षणस्य। ४६४. सति। ४६५. तस्य रूपादिस्वलक्षणस्य। ४६६. विशेषस्य। ४६७. सदृशापरापरोत्पत्तिजननेनाभ्युपगमे। ४६८. पञ्चमी। ४६९. स्वलक्षणम्। ४७०. हेतोः। ४७१. सर्व क्षणिकं सत्त्वादित्याद्यनुमानम्। ४७२. हे बौद्ध! इति तव वचनेन तवैव दूषणमापद्यते। ४७३. तस्य रूपादिविशेषस्य। ४७४. प्रत्यक्षस्य निर्विकल्पत्वेन। ४७५. अनेकान्तसिद्धौ। ४७६. कुतस्तत्त्वप्रतिपत्तिरिति संबन्धः। ४७७. ज्ञानक्षणे। ४७८. निरंशादिदर्शनस्य (प्रत्यक्षस्य) विकल्पोऽवस्तुनिर्भास इत्यादिवचनात्। ४७९. निरंशक्षणिकदर्शनेन तत्त्वप्रतिपत्तिर्मा भूदनुमानेन भविष्यतीत्याशङ्क्याह। ४८०. उभयोः पृथक्-पृथक् प्रभा ग्राह्या। ४८१. साक्षान्मणिप्रदीपप्राप्तिरूपम्। ४८२. अनुमानं तदाभासश्च तयोः। ४८३. क्षणिकरूपग्राहकत्वेनेत्यर्थः। ४८४. स्वस्य तव। ४८५. प्रत्यक्षस्य। ४८६. मणिप्रभादर्शनं तृतीयप्रमाणं सिद्धमिति प्रमाणद्वयसंख्याविघटनात्। ४८७. द्वे प्रत्यक्षानुमाने त्वदभिमते। ४८८. मणिप्रभारूपे। ४८९. यतो दीपप्रभाप्रत्यक्षस्यापि दर्शनात्। ४९०. रजतत्वेन ग्रहणाच्छुक्तिकादर्शनं यथा न प्रत्यक्षम्। ४९१. प्रत्यक्षे। ४९२. नुः। ४९२(क) नुः। ४९३. अवलोकनस्य। ४९४. उच्यते तु अभ्रान्तत्वविशेषणम्। ४९५. तरुदर्शनस्य। ४९६. हे बौद्ध, अङ्गीक्रियमाणे। ४९७. द्वारे यत् कुञ्चिकाप्रवेशविवरं तत्र। ४९८. मणेः। ४९९. अतो मणिप्रभादर्शनं प्रत्यक्षे नान्तर्भवतीत्यर्थः। ५००. मणिप्रभायां मणिदर्शनं लैङ्गिकेपि नान्तर्भवति। ५०१. तस्य लैङ्गिकत्वे। ५०२. साधितं। केन दृष्टान्तेन क्षणिकत्वाद्यनुमानमपि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोरेकत्वे साधितं न स्यात्। ५०३. पुंसः।

५०४. वर्तुलादित्वेन। ५०५. मण्युपेते देशे। ५०६. ममायं प्रतिभासो मणिसंस्थानवान्, एवं प्रतिभासत्वादन्वयसंप्रतिपन्नप्रतिभासवदिति। स्यादित्यध्याहारः। ५०७. मणिप्रभायां मणिदर्शनस्याप्रत्यक्षत्वादसिद्धदृष्टान्तता। ५०८. अनुमानसत्यत्वसिद्धेः। ५०९. मणिप्रभायां मणिदर्शनस्य। ५१०. सर्वदा संवादासिद्धेः। ५११. मिथ्याज्ञानं नहि सर्वदा विसंवादवर्जितमेकरूपमेव भवतीति युक्तम्। ५१२. अविसंवादनम्। ५१३. बौद्धविशेषः। ५१४. कुञ्चिकाविवरे मणिज्ञानस्यावस्तुविषयतया मिथ्याज्ञानत्वप्रकारेण। ५१५. आलम्बनप्रापणप्रकाराभ्याम्। ५१६. लैङ्गिकस्य। ५१७. अनुमानालम्बनं सामान्यमात्रम्। ५१८. स्वलक्षणे। ५१९. लैङ्गिकस्य। ५२०. अङ्गीकृते। ५२१. अनुमानविषये अग्न्यादिसामान्यस्वरूपे। ५२२. अनेनानुमानेन स्वरूपविप्रतिपत्तिर्निराकर्तव्या। ५२३. ननु प्रत्यक्षवदनुमानेपि यदि कथंचित्तत्त्वज्ञानत्वं तर्हि भेदः कुत इत्युक्ते ग्राह। स च कारणभेद इन्द्रियलिङ्गाभ्यां प्रत्यक्षानुमानयोर्यथाक्रमम्। ५२४. प्रत्यक्षवद्विशदप्रतिभासनमनुमाने कुतो, नेति नाशङ्कनीयं, प्रत्यक्षेपि दूरत्वादिकारणभेदादविशदत्वप्रतीतेरिति भावः। ५२५. पृथग्जनः साधारणजनः। ५२६. योगीतरप्रत्यक्षयोः। ५२७. अनेन संख्याविप्रतिपत्तिर्निराक्रियतेऽत्रत्यावधारणेन तत्त्वव्यवसायस्य प्रत्यभिज्ञानतर्काणां प्रापणत्वोपपत्त्या परपरिकल्पितद्वयादिसंख्याविघटनात्। ५२८. प्रत्यक्षेणाधिगतस्यैवार्थस्यानुमानादिनाधिगमात्।

५२९. सविकल्पकस्य। ५३०. निराकरोति। ५३१. व्यवसायस्य। ५३२. व्यवसायस्य। ५३३. निर्विकल्पकप्रत्यक्षेण यदनिर्णीतं नीलादिकं तन्निर्णय एवात्मा यस्य सविकल्पकस्येति। ५३४. अनिश्चिताध्यवसायः। ५३५. सविकल्पकस्य। ५३६. निर्विकल्पकदर्शनानन्तरं समुद्भूतोधिगमोपि (व्यवसायरूपः) प्राथमकल्पकोः, मुख्यवृत्त्या प्रमाणभूतस्य समुदितप्राक्तननिर्णीतिरेवानधिगतलक्षणाध्यवसायवानेव। केचिदित्यमभिप्रायं वदन्ति, यन्निर्विकल्पकमन्तरेणैव विकल्पः प्रथमतः समुत्पद्यते इति हेतोरनधिगतग्राही स इति। ५३७. आदिभूत एव। ५३८. सविकल्पकस्य। ५३९. तस्या निर्णीतेः। ५४०. निर्विकल्पकस्य। ५४१. ननु निर्णीतिवशात् तत्त्वव्यवस्थानं किन्तु परम्परया दर्शनवशादेवेति शङ्क्यामाहुः। ५४२.

तस्मिन्नीले, अन्यस्यानीलादेः (समारोपरूपस्य) अनीलव्यावृत्तिर्नीलमिति शब्दार्थपरिज्ञानादेव व्यवच्छेदो भवति । ५४३. सौगतः । ५४४. सा निश्चितार्थस्मृतिः किं प्रमितिविशेषोत्पादिका न वेति विकल्पद्वयं कृत्वा विचार्यते । ५४५. प्रथमतः प्रत्यक्षतो निश्चिते धूमकेतौ तत्संबन्धिनी या' लैङ्गिकरूपा स्मृतिः, सा न विशेषप्रमितिजनिका, अतस्तस्या यथा न प्रामाण्यम् । ५४६. दृष्टोपि समारोपात्तादृगिति न्यायवचनात् । ५४७. स्मृतिरूपविकल्पेन । ५४८. व्याप्तिरूपायाः । ५४९. तेन विशेषपरिच्छेदाभावात् । ५५०. स्मृतिप्रामाण्यं कर्तृभूतम् ।

५५१. एते द्वे वैशेषिकबौद्धयोः । ५५२. सांख्याभिमतानि । ५५३. न्यायवादिनाम् । ५५४. प्राभाकराणाम् । ५५५. जैमिनीयानाम् । ५५६. प्रत्याचष्टे इति पूर्वेण पदेन संबन्धः । ५५७. तस्याः स्मृतेः, तत्र आगमादिष्वन्तर्भावो । ५५८. अनन्तरमेवोक्तमनुमानान्तर्भावनम् । ५५९. दर्शनानन्तराध्यवसायस्य प्रामाण्यविषये उक्तं पूर्वम् । ५६०. प्रत्यक्षादिना । ५६१. व्याप्तिप्रतिपत्तेरपि विशेषतयानुमानेन ग्रहणं यथा । ५६२. व्यवसायातिशयोपपत्तेः प्रत्यक्षं प्रमाणम् । ५६३. व्यवसायातिशयोपपत्तावपि प्रामाण्यं कुत इत्युक्ते आह । ५६४. ननु व्यवसायसामर्थ्याधीनस्य कुतः ? अविस्वादाधीनत्वात्प्रमाणत्वस्येत्याशङ्क्यामाहुः । ५६५. संशयादेरर्थव्यवसायात्मकत्वाभावेन विस्वादो यथा । ५६६. नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानादिति कारिकाव्याख्याने । ५६७. तर्कोद्घाटनपरामर्शम् । ५६८. लिङ्गलिङ्गिनोः संबन्धोऽविनाभावरूपोऽनिश्चितः, तस्य । ५६९. व्याप्तिप्रतिपत्तिकरणायेत्यर्थः । ५७०. चकारो भिन्नक्रमे । तेन 'योगिप्रत्यक्षस्य चापरीक्षाक्षमत्वात् ? इति मन्तव्यः पाठः । योगिप्रत्यक्षस्य तन्मतानुसारं निर्विकल्पकत्वेन व्याप्यग्राहकत्वम् । ५७१. अनुमानमपि व्याप्तिग्रहणे न क्षमम् । ५७२. अनुमानज्ञाने व्याप्तिज्ञानं कारणं सत् तेनैवानुमानेन गृह्यतेनुमानान्तरेण वा ? तेनैव चेदन्योन्याश्रयः । अनुमानान्तरेण चेदनवस्था, व्याप्तिग्रहणायानुमानस्य अनुमानोत्पत्तये च व्याप्तिज्ञानस्योत्तरोत्तरं कल्पनानुषङ्गात् । ५७३. प्रत्यक्षानुमानव्यतिरिक्तम् । ५७४. ऊहग्रहणनिमित्तम् । ५७५. ऊहान्तरजन्मा ।

५७६. ऊहस्य । ५७७. उपलम्भानुपलम्भरूपज्ञानेन जन्यत्वात् । ५७८. ऊहविषये ऊहप्रवृत्तेः । ५७९. अनवस्थानं नेति सम्बन्धः । ५८०. सौगताशङ्का । ५८१. तर्हि लिङ्गलिङ्गिनोः प्रतिपत्तिः कथमित्याशङ्क्य स एवाह । ५८२. अनुपलम्भग्राहकमनुमानं, उपलम्भग्राहकं तु प्रत्यक्षम् । ५८३. 'बौद्धमते निर्विकल्पकत्वात्प्रत्यक्षानुमानयोः' इति कपुस्तकटिप्पणम् । किंतु एकविषयकत्वादुभयोर्विचारायोग्यत्वं, विचारस्थानेकविषयकानेकज्ञानोपस्थितौ सत्यामेव संभवात् । 'तत एव विचारस्तर्केणैव साध्य इति भाव इत्यस्मन्मतम् । ५८४. लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धोऽस्ति, अनुमानान्यथानुपपत्तेः' इत्येवंरूपायाः । इति मीमांसकाः । ५८५. अर्थापत्तिः सम्बन्धज्ञानपूर्विका संबन्धज्ञानापूर्विका वेति विकल्प्य दृश्यते । ५८६. लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धप्रतिपत्त्यर्थापत्त्योः परस्परम् । ५८७. पुंसः । 'अपि' शब्दोद्गाह्याहार्यः । ५८८. लिङ्गलिङ्गिनोः संबन्धविषयिकाया अर्थापत्तेरुदयोऽनिर्धारितसंबन्धपूर्वस्यापि पुंसः स्यात् । न च तथा संभवति । ५८९. देहलीदीपकन्यायेनोत्तरत्रापि योज्यं 'इति' शब्दः । ५९०. संबन्धज्ञानानुमानयोः । ५९१. संबन्धग्राहिका यार्थापत्तिस्तस्याः । ५९२. अनुमानान्तरमिव विवक्षितानुमानं संबन्धयुक्तमित्युपमानात्संबन्धप्रतिपत्तौ परस्पराश्रयणं यतः । ५९३. तत्त्वनिर्णयशब्देनेन्द्रियजो विकल्पः स्मृतिश्च गृह्यते । ५९४. प्रत्यवमर्शः प्रत्यभिज्ञा । ५९५. प्रतिबन्धाधिगमः तर्कः । ५९६. परमतापेक्षया व्यतिरेकः । ५९७. इन्द्रियमनोतीन्द्रियताजन्यसामर्थ्यानां त्रिधात्वात् । ५९८. अग्रान्तम् । ५९९. द्वे 'तत्प्रमाणे' इत्यनेन मोक्षशास्त्रेणोक्ते, अथवा निर्दोषतया सिद्धे । ६००. प्रमाणद्वयं सिद्धं यतः । ६०१. कारिकाप्रथमव्याख्याने तत्त्वज्ञानमेव प्रमाणमित्युक्तं, तेन प्रमाणस्याज्ञानादिस्वरूपविप्रतिपत्तिः परिहृता । द्वितीयव्याख्याने तु प्रमाणमेव तत्त्वज्ञानमित्यवधारणपरं वचनमुक्तं, तेन प्रमाणसंख्यायां या विप्रतिपत्तिः (केचित्त्रीणि प्रमाणानि मन्यन्ते, केचित्त्वत्वारि, पञ्च, षड् वा, केचिच्च (बौद्धाः) द्वे एव मन्यन्ते परं त्वन्यथा, इति) सा परिहृता । इतोऽग्रे विषयविप्रतिपत्तिं निराचिकीर्षवो वक्ष्यन्ते तत्रेत्यनेन । ६०२. व्यक्तिभेदः । ६०३. प्रत्यक्षं परोक्षं चेति द्वयोर्मध्ये प्रत्यक्षस्य भेदं स्वरूपं चाख्यान्ति ।

६०४. इन्द्रियालम्बनम्, अनुक्रमस्वभावं, व्यवहितपदार्थाग्रहणस्वभावं चातिक्रम्य वर्तते तत्केवलमित्यर्थः। ६०५. तत्त्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे। ६०६. 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' इति कारिकाव्याख्याने। ६०७. 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः' इति कारिकाव्याख्याने। ६०८. सर्वज्ञस्य। ६०९. सर्वज्ञस्य। ६१०. ज्ञानावरणदर्शनावरणाभ्यामन्यत्। ६११. रागद्वेषादिकस्य मोहजन्यस्य ज्ञानदर्शनप्रतिरोधकस्य मोहान्तरायाशेषक्षये असंभवात्। ६१२. क्रमवृत्तित्वप्रकारमन्तरा। ६१३ इत्यनेन तस्य पञ्चप्रकारस्याहि ज्ञानस्य द्विधात्वेन विभज्य प्रमाणत्वमाख्यातं यतस्ततः क्रमवर्तिनो मत्यादेरपि प्रमाणत्वमिति सिद्धम्। ६१४. प्रकारान्तरासंभवादिति भाष्यपदं विवरीतुमिच्छुराशङ्क्य समर्थयते। ६१५. मत्यादीनि। ६१६. संभावनीयानि विकल्प्यानि एकं वा द्वे वा त्रीणि वा, कदाचिच्चत्वारि वा युगपदिति। ६१७. जीवे। ६१८. लब्धिरूपाणां योग्यतारूपाणां वा, न तु विषयान्परिच्छिन्दताम्।

६१९. उपयोजनस्यैकदा एकविषये एव संभवात्। ६२०-२१. छद्मस्थस्य युगपद् द्वौ उपयोगौ न स्तः, केवलिनस्तु स्त इति आवे विशिष्य नो(चो)क्तत्वात्। ६२२. 'तत्रैवेति' मुद्रितप्रतौ पाठः। ६२३. सौगताशङ्का। ६२४. संसारिणि। ६२५. व्यापारसहितानि। ६२६. 'उपलम्बन' इति पाठः सम्यक्। ६२७. प्रायोभावस्तु एकैकोपयोगस्यैव सर्वसंसारिषु, अतः एकैकस्य क्रमवर्तिन उपयोगस्य प्रसिद्धत्वमुक्तम्। ६२८. जैनः। ६२९. कालकृते। ६३०. विच्छेदः क्रमः। ६३१. चक्षुरादिज्ञानानाम्। ६३२. रूपज्ञानरसज्ञानादीनाम्। ६३३. ज्ञानपञ्चकस्य। ६३४. हे सौगत, अङ्गीक्रियमाणे। ६३५. सौगतेन क्रमभावितयाभ्युपगतयोः। ६३६. विच्छेदोपलक्षणस्य। ६३७. तदेव दीर्घशङ्कुलीभक्षणकाले। ६३८. भाष्यद्वयं भावयति। ६३९. मानसप्रत्यक्षणागमनेकेषामपि क्रमोत्पादेपि शीघ्रशीघ्रतयोत्पादात्। ६४०. प्रतिभासभेदानाम्। ६४१. लघुवृत्तित्वेनोभयत्र। ६४२. 'इति' पदमध्याहार्यमत्र। इति हेतोः। ६४३. चक्षुरादिवेदनस्य क्रमवर्तित्वात्। ६४४. मत्यादिज्ञानस्वरूपमेव तद्वर्णने विषयः। ६४५. लब्ध्युपयोगाद्यपेक्षया।

६४६. मत्यादिज्ञानस्य। ६४७. स्याद्वादोपलक्षितत्वम्। ६४८. नयस्याद्वादयोः। ६४९. केवलज्ञानापेक्षया। तदपि तत्त्वज्ञानमेव। ६५०. मत्यादिज्ञानापेक्षया। तदपि तत्त्वज्ञानमेव। ६५१. स्यात्क्रमावक्तव्यं, स्यादक्रमावक्तव्यं, स्यात्क्रमाक्रमावक्तव्यमिति भङ्गत्रयमादिशब्देन ग्राह्यम्। ६५२. षष्ठी। ६५३. प्रमाणवशादक्रमत्वे नयवशात् क्रमत्वे च सति। ६५४. अर्थग्रहणपरिणमनमेव ज्ञाने पर्यायः। ६५५. तत्त्वज्ञानम्। ६५६. इत्येवंरीत्या अवक्तव्यादयोपि पञ्च भङ्गा योजने सुगमाः। ६५७. अत्रापि शेषपञ्चभङ्गा योजयितुं सुसाध्याः। ६५८. कैवल्यस्य फल(व्यवहितम्)मुपेक्षा, शेषस्य मत्यादेः परंपराफलमादानहानधीः। पूर्वं (उपेक्षा) चापि फलं मत्यादेः। अज्ञाननाशस्तु सर्वस्यापि ज्ञानस्य साक्षात् फलमिति स्वानुभवगोचरमेतदिति कारिकार्थः। ६५९. केवलस्य। ६६०. मत्यादेः। ६६१. अज्ञाननाशः साक्षात्फलम्, उपेक्षा तु परंपराफलम्। ६६२. हेये उपादेये च। ६६३. सौगतः। ६६४. केवलिनः। ६६५. च इति पक्षान्तरे। ६६६. यथा अकरुणोपि प्राणी स्वात्मदुःखं निवर्तयति। ६६७. अयं प्राणी करुणावान् स्वात्मदुःखनिवर्तकत्वादिति प्रतिज्ञा हेतुप्रयोगोद्धाहार्यः।

६६८. अकरुणावति। ६६९. अयं प्राणी स्वात्मन्यकरुणोस्ति स्वात्मदुःखनिवर्तकत्वाभावात्, इति बाधकेन प्रमाणेनाकरुणे विपक्षे स्वदुःखनिवर्तकत्वस्य हेतोरभावः साध्यते। ६७०. आदिना भयदुःखपरिग्रहः। ६७१. इत्येव बाधकप्रमाणम्। ६७२. साकल्येनैकदेशेन वा। ६७३. भयादेः। ६७४. तटस्थैः। ६७५. भगवति करुणाभावलक्षणः पूर्वोक्तः। ६७६. करुणास्तित्वं मत्वा तदुत्पत्तिकारणं किमिति प्रश्ने, न तदुत्पादकं केवलनि कर्म, किंतु स्वभाव एवेति मन्यताम्। तथा च परम्परया स्वभाव एव तिष्ठति। ६७७. एवं कल्पनापेक्षयातः साक्षात्स्वभावकल्पनमेव वरं, यत्तथा स्वभावोस्ति केवलिनम्। रागद्वेषादिजनिका संसारिजनवत्करुणा मास्तु। ६७८. कर्मणा करुणोत्पद्यते, तेन च भगवान्स्वपरदुःखं जिहासतीति परम्पराश्रयः किमर्थं क्रियते? स्वपरदुःखनिवर्तनस्वभाव एवाभिमन्यताम्। ६७९. उपेक्षासत्त्वे परदुःखनिराकरणसिद्धिस्ततो

भगवतः कथमित्युक्ते आह । तीर्थकरत्वं नामकर्म । ६८०. साक्षात् । ६८१. अव्यवहितम् । ६८२. स्वविषयकाज्ञाननिवृत्तिः । ६८३. अज्ञाननिवृत्त्यभावे । ६८४. निर्विकल्पकप्रत्ययस्य । अथवा सामान्यावलोकने सत्यपि सन्निकर्षवन्न ज्ञानोत्पत्तिरिति भावः । ६८५. न केवलं मत्यादेरेव । ६८६. यथा क्षणपरिणामग्राहकस्य निर्विकल्पज्ञानस्य अर्थनिश्चायकत्वं न, तद्वत्सन्निकर्षस्य दर्शनस्य मत्यादेर्वाप्यर्थनिश्चायकत्वं न, इत्युभयोरप्यविसंवादकत्वं न । ६८७. विसंवादकत्वं निर्विकल्पस्य कुतः? अनुमानाश्रयान्यथानुपपत्तेः । ६८८. ज्ञानस्यैव साक्षात्फलमर्थाज्ञानाभाव इत्यनेन, ज्ञानस्य साक्षात्फलमर्थाज्ञानाभाव एवेत्यनेनोक्तेन भावेन वा । ६८९. यौगकल्पितम् ।

६९०. सौगतोक्तम् । ६९१. व्यापारज्ञानलक्षणप्रमाणस्य । ६९२. परिच्छित्तिलक्षणस्य फलस्य । ६९३. तमोविनाश एव परम्परया प्रदीप इति यथा । ६९४. परशुस्तक्रिया छिदिश्वेत्युभयं पृथक् पृथगाश्रयोपलम्भात् । ६९५. नैयायिकाशङ्का । ६९६. स्वकीयरूपेण ६९७. स्वरूपम् । ६९८. प्रदीपरूपस्य । ६९९. प्रदीपात् । ७००. अव्यवहितत्वमेकत्वम् । ७०१. सौगतं प्रत्याह । ७०२. तद्भावविरोधं दर्शयन्ति । ७०३. मेयरूपता, ताद्रूप्यम् । ७०४. निर्विकल्पकस्य । ७०५. असारूप्याद् व्यावृत्तिरिति । ७०६. न हि सारूप्यमित्यादिना पूर्वं ग्राह्यसंविदाकारयोः प्रमाणफलव्यवस्था निराकृता, अधुना तां स्वीकृत्यापि दूषणान्तरमुद्भाव्यते । ७०७. निर्विकल्पकत्वात् । ७०८. निर्विकल्पकदर्शनम् । ७०९. इदं विषमित्यजानतः । ७१०. विषदर्शनम् । ७११. व्यामोहविच्छेदमन्तरेणापि । ७१२. दर्शनमात्रस्य ७१३. दर्शनानन्तरं यज्जातम् । ७१४. अधिगतत्वं हि दर्शनेन । ७१५. फलविषयेपि योजनीय इति प्रश्नः ।

७१६. न पुनर्विधिविचारप्रस्तावघोती । ७१७. अर्थम् । ७१८. समर्थः । ७१९. केवलशब्देन श्रुतकेवली ग्राह्योत्र, अन्यथा 'तव' शब्देनोक्तस्य भगवतोपि केवलित्वे पुनरन्येषां तथा विशेषणदानस्य पौनरुक्त्यापत्तेः । तेन श्रुतकेवलिनं तवापि चेत्यर्थः कर्तव्यः । ७२०. यावति पदसमुदाये एकमाख्यातं वर्तते तावान्संघात इत्युच्यते । एते दशापि वाक्यशब्देनोच्यन्ते । ७२१. वाक्यान्तरगतपदनिरपेक्षा । ७२२. आख्यातशब्दस्य ७२३. वाक्यान्तरपदे । ७२४. सापेक्षत्वे सत्यपीत्यर्थः । ७२५. परापरवाक्यान्तरगतपरापेक्षया प्रकृतापरिसमाप्तेः । ७२६. वाक्यान्तरगतपदनिरपेक्षतया । ७२७. पदानाम् । ७२८. प्रकृतार्थापरिसमाप्तेः । ७२९. बहुपुरुषैरुच्चारितानां पदानां वाक्यत्वापत्तेः । ७३०. 'वारितम्' 'विदारितम्' इति पाठान्तरे स्तः । ७३१. तत् - वाक्यत्वम् । ७३२. निरंशः । ७३३. निरंशशब्दस्याप्रमाणत्वं कथं, यावता श्रावणप्रत्यक्षेण तस्य प्रतीयमानत्वादित्याशङ्क्याह । ७३४. अनुमानं तदग्राहकं स्यादित्यपि । नेत्याह । तच्छब्देन निरंशोर्थः । ७३५. निरंशशब्दं विनापि । ७३६. एकोनवयवः शब्दो वाक्यस्फोटः । ७३७. नैयायिकोक्तलक्षणमेतत् । ७३८. कखगघेत्यादिरूपस्य । ७३९-७४०. पदानाम् । ७४१. स चास्मदभ्युपगत एव । ७४२. पदानां क्रमः ।

७४३. पदानाम् । ७४४. बहुपुरुषैरुच्चारितानां मिलित्वा वाक्यत्वप्रसङ्गात् ७४५. द्रव्यरूपशब्दात्मकवाक्यस्य बुद्धिरूपतया प्रतीतेरस्वीकारात् । ७४६. परस्परसाक्षादवाक्यान्तरपदनिराकाङ्क्षपदानामनुस्मरणस्य । ७४७. मध्यम् । ७४८. भाष्यकर्ताऽकलङ्कदेवः । ७४९. वर्णानां परस्परपेक्षाणां निरपेक्षः (पदान्तरगतवर्णैः) समुदायः पदमिति पदस्य तल्लक्षणत्वात् । ७५०. नैयायिकः । ७५१. शब्दः परिणामी सत्त्वादित्यध्याहारः । ७५२. एतत्पर्यन्तं न पूर्णं वाक्यं भवत्विति पूर्वेषां संबन्धः । कुत इत्याह हेतुमग्रे, तस्मादिति । ७५३. साकाङ्क्षत्वेपि वाक्यत्वे को दोष इत्युक्ते आह । ७५४. जैनानाम् । ७५५. जैनाः । ७५६. तत् - निगमनं केचिन्नाप्याकाङ्क्षन्ति यतः । ७५७. साधनमात्रेण । ६५८. यदि तर्हीत्यध्याहारः । ७५९. निगमनम् । ७६०. पर्वतोयमग्निमान्भूमवत्त्वादित्यादिनार्थनिश्चयेपि गिरिर्वह्निजन्मा इत्याद्यवयवान्तरापेक्षाऽनुपरमप्रसङ्गादित्यर्थः । ७६१. ननु यथोक्तलक्षणमन्तरेणापि प्रकरणादिना वाक्यसदृशेनार्थप्रतिपत्तिरस्त्येव, ततस्तत्र कथमिदं वाक्यलक्षणमुपपद्यते इत्यरेकायामाह । ७६२. आदिना लिङ्गीचित्यसामर्थ्यादिकं ग्राह्यम् । ७६३. भोजनसमये सैन्धवमानयेत्युक्ते यथा लवणं ज्ञात्वानीयते, न त्वक्षोऽप्रकृत्वात् । ततः परस्परसापेक्षाणामित्यादि यत्प्रथमं

सिद्धान्तिभिरस्माभिः कल्पितं वाक्यलक्षणं, तस्य न परिहारो यदि, अपूर्णेनापि वाक्येन प्रकरणादिभिरर्थः प्रतिपद्यते इत्यर्थः। ७६४. 'सत्या' इत्याद्येकदेशश्रवणेन यथार्थबोधो भवति 'सत्या' इत्याद्येकदेशोच्चारणेनापि औचित्यादिकारण-वशात्सत्यभामार्थनिश्चयो यथा भवति जनानां तथान्यत्रापि वाक्यकल्पेन (ईषद्वाक्योच्चारणेनापि), प्रकरणादिगम्यपदान्तर-स्मरणादिना सहकृतेन (सापेक्षेण) अर्थप्रतिपत्तिर्भवितुमर्हति, अतोर्थप्रतिपादनधर्मो यथापूर्वलक्षिते वाक्येस्ति तथात्राप्युपलब्धेः प्राथमकल्पिकमेवेदमपि वाक्यं मन्तव्यं, यत्र प्रकरणादिनार्थबोध ईशदुच्चस्तिताद्वनिमित्ते भवति, अर्थप्रतिपत्तिवशाद् सदृशत्वात्। ७६५. विध्यादिशब्देन विधिनिमन्त्रणादिर्लिङ्गकारार्थो ग्राह्यः। विध्यादिशब्देन लिङ्गलकारस्य स्यादिति क्रियारूपं सिध्यति परंतु नायं स शब्दो, निपात इति विशेष्योक्तत्वात्। निपातरूपस्य स्याच्छब्दस्यापि न केवलमनेकान्तोर्थः संशयादिष्वपि तदवृत्तेः। अतः संशयाद्यर्थव्यावृत्तये (प्रश्नादि) इति मूलोक्ते आदिपदेन संशयाद्योती च नेति निरासः कर्तव्यः।

७६६. 'सकलैकान्त' इति पाठान्तरम्। ७६७. त्वन्मतामृतबाह्यानामिति कारिकाव्याख्याने 'नहि किंचिद् रूपान्तरविकलमित्यादिना (षट्सप्ततितमपत्रस्थदशमपङ्क्ति आरभ्य। ७६८. यत्र प्रयुक्तस्तस्या ७६९. तस्यार्थसमुदास्याङ्ग-मित्यादिना (अवयव) तथा (वाच्यवाचकरूपेण)। ७६९. 'मनवयवेन' इति पाठान्तरम्। तत्पाठानुसारी 'साकल्येन' इत्यर्थो भवति। अवयवेन इत्यस्य त्वेकदेशेन इत्यर्थः स्यात्। ७७०. प्रकृतार्थस्यावयवेन सूचनस्वभावत्वादिति भावः स्यात्। ७७१. न केवलं वाचका एव। ७७२. जीवादिसदादिशब्दादेरानर्थक्यलक्षणः। स्याच्छब्देनैव जीवादिविवक्षितार्थवचने स्याज्जीवोस्तीत्यादिषु 'जीवः' 'अस्ति'। इत्यादिशब्दोच्चारणं व्यर्थमित्याशङ्क्योक्तमिदम्। ७७३. स्याच्छब्देन। ७७४. जीवादिपदेन। ७७५. अविरोधः - विशेषपदोपादानसाफल्यं, स कथमित्यग्रे आह। ७७६. स्याज्जीव इत्युक्ते तत्प्रतिपक्षी अजीवोपि गमनीयः। ७७७. भेदकम्। ७७८. गम्यार्थरूपस्याजीवस्य सकाशादुपरतबुद्धिजनकत्वात्। ७७९. निपातः। ७८०. तस्या वाचः। ७८१. क्रमवृत्तित्वभावात्। ७८२. अतिशयज्ञानयुक्तौ द्वावेव स्तः—भगवान् (केवलीह) श्रुतपारंगतः, श्रुतकेवली च। तत्रापि द्वयोरपि वचनप्रवृत्तौ स्याच्छब्दस्य वचनानुसारिबुद्धेः क्रमवृत्तित्वादेव सर्वत्र। ७८३. स्याच्छब्दस्य ७८४. स्यादितिवादः शब्दः। ७८५. एतदर्थं स्वयमग्रे स्पष्टयन्ति। ७८६. किंशब्दाद्वृत्तौ निष्पन्नः, स एव चिद्विधिः चित् च न इत्यादिर्विधिः प्रकार इति किंवृत्तचिद्विधिः, किंचित् कथंचित् कथंचन इत्यादिरूपः। ७८७. विषयीकृत्य।

७८८. सप्त भङ्गात्रयांश्च अपेक्षयेत्यर्थः। ७८९. शब्दनयास्तत्र केचित् केचिच्चार्यनयाः। ७९०. तौ द्वौ मूलनयौ, द्रव्यपर्यायार्थिकौ। ७९१. द्रव्यार्थिकापेक्षया शुद्धिः, अभेद इत्यर्थः, अशुद्धिः—भेदः। पर्यायार्थिकनयेन तु शुद्धिः—भेदः, अशुद्धिः—अभेद इत्यर्थो ग्राह्यः। ७९२. नयचक्रानाम्नि। ७९३. आदिना शब्दसमभिरुद्धैवभूता ग्राह्याः। ७९४. सप्तसु मध्ये।

७९५. अर्थविषयकत्वात्। ७९६. अभेदेन। ७९७. इति शब्दव्युत्पत्तिः। ७९८. जीवोऽजीवो वेत्यादिभेदेन। ७९९. भेदकल्पनात्। ८००. आदिना गुणत्वादिग्रहः। सत्त्वे सिद्धेऽपि द्रव्यं गुणो वा? तत्रापि जीवोऽजीवो वा? तत्रापि संसारी मुक्तो वा, घटः कपालो वा? इत्यादिकल्पनाभेदेनाशुद्धत्वकारणेनोपाधिना सह स्वीकारोत्र। ८०१. सत्त्वादिनोपाधिना (भेदेन विशेषेण वा) सह। ८०२. व्युत्पत्तेः। सामान्यलक्षणं हि नैगमस्येत्यम्, अवर्तमानार्थस्य अन्यत्र संकल्पमात्रेण ग्राही नैगम इति। यथा ओदनं कर्तुं प्रयतमानस्य 'ओदनं करोमि' इति संकल्पः। न तदौदनपर्यायो निष्पन्नः। तथापि तत्सामग्र्यामसावोदनसंकल्पं करोति, तथा संकल्पाभावे करोमीति वर्तमान कालिकप्रयोगानुपपत्तेः। प्रयुक्ते च तथा, ततस्तेन संकल्पितयौदनव्यवहारः कृत इत्यनुमीयते। उत्तरे भेदानामुदाहरणानि नयचक्रतो बोद्धव्यानि।

८०३. पर्यायार्थिकस्य शुद्धविषयः पर्याय एव, स च पर्यायो भेदरूपोस्ति। अतो भेदविषयस्तु शुद्ध्यात्र संग्राह्यः। यावतांशेनाभेदो विषयीभवति तावानंशोऽशुद्धिजनकोऽशुद्धिमूलको वा ज्ञातव्यः। अतः पर्यायार्थिकनयभेदा

अशुद्ध्या (अभेदेन) भवन्तीति स्थितम् । ८०४. भेदेन । ८०५. शब्दस्य । ८०६. पर्यायवाचकशब्दानां परस्परं भेदेन वस्तुन्यपि भेददर्शनात् । ८०७. यावन्तः शब्दास्तावद्धा नया भिद्यन्ते, अभिप्रायविशेषस्यैव नयरूपत्वात् प्रतिशब्द-मभिप्रायभेदात् परोपदेशापेक्षया खलु शब्दपरिमाणा नयाः, स्वज्ञानविकल्पापेक्षया त्वनन्ता नयभेदाः संभवन्ति, अभिप्रायस्य विषयानुसारेणानन्तधात्वात् । अत एव स्वज्ञानापेक्षायां विकल्प(ज्ञानविकल्प)परिमाणाः शब्दापेक्षायां शब्दपरिमाणाश्चेति 'शब्दविकल्पपरिमाणा' इत्यस्यार्थः कर्तव्यः ।

८०८. भेदकः । ८०९. स्याद्वादोयम् । ८१०. प्रत्यक्षपरोक्षतया । ८११. अनयोरेकतरेण ज्ञानेन यत्प्रतीयमानं वस्तु तदन्यतरशब्दवाच्यं स्यात्, यच्चानयोरेकतरेणापि न प्रतीतं तत् 'अन्यतम'(तृतीय)शब्दवाच्यं स्यात्, तच्चावस्त्वेव स्यादित्यर्थः । अथवानयोरेकतरं ज्ञानमपि 'अन्यतर'शब्दवाच्यं, तदितरं तृतीयं त्वन्यतमवाच्यं स्यात् । तथा ज्ञानं नास्त्येव, अवस्तुत्वादित्यप्यर्थः । ८१२. कारिकायां हेतुः । ८१३. तयोः केवलश्रुतज्ञानयोर्मध्येऽन्यतरं (यथा केवलम्) अभ्यर्हितं स्यादिति नियमितविचारं पुंसो विघटयतीत्यर्थः । परस्परमुभयोरपि हेतुरूपत्वात्कस्यचिदभ्यर्हितत्वाघटनात् । ८१४. तेन पुनर्जातेन केवलिना । ८१५. एवरीत्या । ८१६. भवद्वचनेन । ८१७. कश्चिज्जैनः । ८१८. तत् सर्वतत्त्वप्रकाशने इति वचनम् । द्रव्यापेक्षयागमः सर्वतत्त्वप्रकाशकः सर्वद्रव्यमात्रप्रकाशको, न तु पर्यायसर्वस्वप्रकाशक इत्यर्थः । अयमेव भावोऽग्रे व्यज्यते । ८१९. समन्तभद्रस्वामिनाम् । ८२०. तस्य जीवादिसप्ततत्त्वस्य । ८२१. 'केवलमपीति' पाठान्तरमेतत् । ८२२. तयोर्भेदः परस्परं प्रत्यक्षत्वपरोक्षत्वकृत एव केवलम् । ८२३. साक्षात्करणादेव । ८२४. केवली । ८२५. आगमात् । ८२६. केवलेन ज्ञातान् समस्तान् । ८२७. केवलेन ज्ञातानां मध्ये सूक्ष्मादीनामित्यर्थः । ८२८. तदुक्तं गोम्मटसारे "पणवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अम्मभिलप्पाणं । पणवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिबद्धो ॥ छाया प्रज्ञापनीया (भावा) अनन्तभागस्तु अनभिलप्पानां (किंतु केवलेन ज्ञातानां सर्वेषाम्) । प्रज्ञापनीयानां पुनः अनन्तभागस्तु श्रुतनिबद्धः ॥

८२९. क्रियमाणे । ८३०. स्वकृते श्लोकवार्तिकालङ्कारे विद्वानन्दमहोदये च, परकृते राजवार्तिकालङ्कारादौ च । ८३१. आज्ञावादः । ८३२. दृष्टान्तेन सह । न तु विपक्षेण सहेत्येवकार्थः । ८३३. विषयीकृतस्य । ८३४. स्याद्वादेन गृहीतार्थस्य (प्रतिज्ञातस्य) विशेषतासूचको हेतुर्नयः । ८३५. गम्यते साध्यार्थ इति कपाठः । ८३६. दृष्टान्तश्चासौ धर्मो च महानसादिः । ८३७. शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यमिति साध्यलक्षणत्वात् । ८३८. विपक्षेण सह न व्यञ्जक इत्यर्थः । ८३९. स्वसाध्येन सहाविनाभाविना । ८४०. श्लोकांशेन । ८४१. 'इति' शब्देन इति, अविरोधादित्यनेन तु इत्यर्थो ग्राह्यः । तेन विशेषणद्वये एवं सद्हेतुत्वं स्यादित्यर्थः । ८४२. स्वामिसमन्तभद्रेण । ८४३. अन्यथानुपपन्नत्वैकलक्षणस्य । ८४४. इत्यत्र । ८४५. अनेकत्र । ८४६. नोपपद्यते इति कारिकाव्याख्याने एव । ८४७. अन्यथानुपपत्तिप्रकारेण । ८४८. बौद्धाभिमतम् । ८४९. नैयायिकाभिमतं पञ्चावयवत्वमनुमानाङ्गम् । ८५०. दृश्यते इत्यर्थः । ८५१. नित्यं वस्तु न भवेदर्थक्रियाऽभावात् क्षणिकैकान्तवत् ।

८५२. अर्थक्रियायाः क्रमयोगपद्यं विहाय । ८५३. एवं प्रकारेण । ८५४. अन्यथानुपपत्तिरूपैकलक्षणे । ८५५. अन्यथानुपपन्नत्वम् । ८५६. अविनाभावः । ८५७. आदिशब्दस्य प्रत्येकं परिसमाप्त्या एवं संबन्धः कर्तव्यो, यत् पूर्ववदादि-वीतादि-संयोग्यादीनि अनुक्रमेण व्याकरिष्यन्ति ग्रन्थकाराः । ८५८. हिमाचले । ८५९. तीर्थे । ८६०. तत्पुत्रत्वादेरिविधस्य हेतोः । ८६१. अन्यथानुपपन्नत्वस्य । ८६२. बौद्धमतेपि । न त्रैलक्षण्यम् । ८६३. अनुमानस्यैते त्रयो भेदाः सन्ति । ८६४. सांख्यमते केवलान्वयिकेवलव्यतिरेक्यन्वयव्यतिरेकिणां त्रिप्रकाराणां हेतूनां क्रमेणैताः संज्ञाः । ८६५. अनुमानसमर्थनक्रमः शिष्याशयवशात् तु वादापेक्षया । ८६६. तदंशग्राहिका बुद्धिर्नयः । ८६७. धर्मान्तरं निराकुर्वाणा । ८६८. अन्यच्च सामान्यविशेषवस्तुग्रहणात्प्रमाणं, नयस्त्वेकान्तग्रहणात्, दुर्णयस्त्विदरांशविलोपादिति च ।

८६९. यथास्तित्वस्य विपक्षो नास्तित्वं, तस्य । ८७०. त्रिकालवर्तिनां समुच्चय एकस्मिन्नवस्थानम् । ८७१. अविभ्राड् अपृथग् भावसंबन्धः सत्तासंबन्धो यस्य स तथाभूतः । तद्द्रव्यमभेदापेक्षया एकं, भेदापेक्षयानेकम् । ८७२. स्याद्वादप्रविभक्तार्थ इत्यादिना । ८७३. द्रव्यपर्यायविषयः । ८७४. विवक्षितादितरधर्मस्योपेक्षां कृत्वा एकान्ततां साधयेन्न तु इतरधर्मत्यागं कृत्वेत्यर्थः । ८७५. अपृथक्स्वभावसंबन्धः । ८७६. अतो द्रव्यदृष्ट्या (सामान्यदृष्ट्या) यदेवैकं तदेव पर्यायापेक्षया (विशेषापेक्षया) अनेकमिति सिध्यति । ८७७. एकत्रैव भेदाभेदतया । ८७८. भेदकल्पनातः । ८७९. (पूर्वोक्तस्यैव सारोयम्) ८८०. हे नैयायिक । ८८१. तव मते सापेक्षाः सन्तो वस्तुभूताः प्रयोजनसाधकाश्च भवन्ति । ८८२. चेत्तर्हीत्यध्याहारः । ८८३. प्रत्यनीकधर्मस्य विचारसमयेऽपेक्षाऽभावादुपेक्षा, तेन निराकरणं प्रत्यनीकस्यापि धर्मस्य न जायते, तदेव सापेक्षत्वम् । ८८४. यदि सापेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मोपेक्षारूपं न स्यात्, किंतु प्रत्यनीकसहितत्वेन प्रत्यनीकरहितत्वेन वा ग्रहणरूपं भवेत्, तर्हि प्रमाणनययोः संकलविकलांशत्वेन मन्यमानो भेदो न सिध्येत्, द्वयोरविशेषात् ।

८८५. प्रमाणस्यासाधारणस्वभावो धर्मन्तरादानरूपो, नयस्य धर्मान्तरोपेक्षारूपो, धर्मान्तरदुर्नयस्य तु धर्मान्तरपरित्यागरूपः क्रमेणेत्यर्थः । ८८६. उपर्युक्त एव भावोऽर्थान्तरणेोच्यते । ८८७. तदतच्छब्देन विवक्षितेतरधर्मग्रहणम् । ८८८. विश्लेषां प्रमाणनयदुर्नयानाम् । ८८९. साधनवाक्येन । ८९०. सः अर्थस्तथान्यथा चावश्यं (विधिप्रतिषेधसाधकवाक्येन यथाक्रमं सिद्धः) वर्तते इति भावः । ८९१. एकान्ततया विचारे कृते, अर्थस्य सत्त्वासत्त्वयोर्विशेषो न स्यात् । ८९२. यथा तद्विषयाकारग्राहिका संवित्तिः प्रमाणनयभेदेनानेकधा तथा तद्विषयोपीत्यर्थः । ८९३. 'हेतो' इति मूलपाठो न समीचीनो भाति, प्रतिज्ञावाक्यत्वेन प्रथमान्तत्वोपपत्तेः । ८९४. प्रधानं लक्षणमन्यथानुपपत्तिः । ८९५. स्वं च विषयश्च तदाकारग्राहिका या संवित्तिस्तद्वदित्यर्थो, ज्ञानस्योभयविषयत्वात् । ८९६. तथा अनेकधर्मात्मकत्वेन । 'तस्य' इति पाठान्तरम् । ८९७. स्वरूपं च बुद्ध्यध्यवसितार्थश्च तयोः संवेदिनः । ८९८. मीमांसकानाम् । ८९९. एवं सर्वेषामपि मते ज्ञानस्यानेकविषयकत्वेनानेकाकारत्वं सूचितम् । ९००. उक्तमनुमानवाक्यम् । ९०१. विधिवाक्यमनेकांतसाधनाय यथोक्तं तथा निषेधवाक्येनैकान्ते दूषणमप्युद्भाव्यते पुरस्तात् । ९०२. साध्यम् । ९०३. 'सदित्यारो' इति खपाठः । ९०४. ननु चारोपितस्यापि प्रतिषेध्यत्वे 'द्रव्यान्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः' इत्यादि विरुध्येतेत्याशकङ्क्यामाह ।

९०५. अस्मदभिमतं सुनयविषये । ९०६. सम्यक् । ९०७. सम्यक् । ९०८. एकान्ततानिवारणपरं साधनम् । ९०९. सर्वेषां कारकाणां यो व्यापारो जन्यजनकादिलक्षणः । ९१०. इत उत्तरार्धव्याख्या । ९११. इदं सर्वैकान्तवादिनः प्रति । ९१२. इदं सांख्यापेक्षया । ९१३. विधिप्रकारेण । अन्यथा-निषेधप्रकारेण । ९१४. यदि विधिनिषेधप्रकारेण तस्यावश्यंभावो न स्यात् । ९१५. तेन केवलविधिना केवलनिषेधेन च । ९१६. समन्तभद्रस्वामी । ९१७. नयभङ्गानां द्वितीयादीनाम् । ९१८. कर्तुं । ९१९. तदतद्वस्तुषु वर्तते या वाक् सा । ९२०. स्वरूपेणैव पररूपेणापि सदेवेत्यनुवदन्ती वाक् सत्या न, परस्परविरुद्धधर्मद्वयस्यैकेन शब्देन प्रतिपादनासंभवात् । अत एव तानि मृषावाक्यानि । ९२१. विरुद्धधर्माध्यासलक्षणमपि कुतोऽविरुद्धमित्युक्ते प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूतमिति विशेषणं साधनतया द्रष्टव्यम् । ९२२. प्रत्यक्षादिना तथैवानुभूयमानत्वात् । ९२३. विरुद्धधर्माध्यासलक्षणम् । ९२४. विधिसाधने प्रतिषेधैकान्तस्य निषेधः कर्तव्यः, परंतु विधयेकान्तवादी विधिवचनेन प्रतिषेधं न निरोद्धुं शक्नोति, केवलविधिवाक्येन प्रतिषेधपक्षाप्रतिषेधादित्यर्थः । ९२५. प्रतिषेधाभिधाने । ९२६. 'कथं तथार्थदिशनम्' पाठान्तरम् । ९२७. इमं घटमानयेति वाक्स्वभावः । ९२८. पटवागर्थस्य प्रतिषेधे निरङ्कुशः । ९२९. परार्थसामान्यनिरपेक्षम् । ९३०. 'वाच्यं' मुद्रितप्रतौ पाठः । ९३१. षष्ठी । ९३२. विवक्षितादितरं सर्वम् । ९३३. वचनोच्चारणवैयर्थ्यात् प्रयोजनाभावात् । ९३४. वागर्थः । ९३५. बहिरन्तर्वा । ९३६. सामान्यमेव विशेषरहितं, विशेषो वा सामान्यशून्यो वस्तुस्वरूपमित्येवमाग्रहेण । ९३७. क्रमार्पिततद्वयादद्वैतमिति कारिकाचतुर्थपदव्याख्याने । ९३८. अन्यापोहत्वेन । ९३९. अस्तीति सत्सामान्यवाक् । ९४०. अस्तीति वागन्यापोहविकल्पस्योत्पादिका, न तु प्रतिपादिकेत्यर्थः ।

९४१. 'मृषैव न' मुद्रितप्रतौ पाठः। ९४२. सर्वप्राण्यपेक्षया। ९४३. जनः। ९४४. प्रतिपत्तुः स्वरूपादिना सन्नेवाभिप्रेतो भवति, न तु पररूपादिनाऽसन्। अनभिप्रेतं न प्रवर्तको जनः प्राप्नोति। ९४५. वस्तुनः। ९४६. अस्तीत्यादिशब्दवाच्यम्। ९४७. ईप्सितार्थक्रियाकारणम्। ९४८. नास्तित्वाविनाभावि। ९४९. प्रतिषेध्याविरोधित्वप्रकारेण। ९५०. एवम्। ९५१. मनसि कृत्य। ९५२. अभिप्रेत्य विधानेपि विधेयत्वं तस्य कुत इत्याह। ९५३. एतदेव व्यतिरेकमुखेन भावयन्ति। ९५४. सह। ९५५. कुटस्य यथा स्वज्ञानाभावादर्थज्ञानानुपपत्तिः। ९५६. यौगापेक्षया। ९५७. अन्यथेति शेषः।

९५८. "विधेयमेव सर्वथा प्रतिषेध्यं" मुद्रितप्रतौ पाठः। ९५९. तत् तस्मात्। कस्मात्? तथैवादेयहेयत्वं यस्मात्। ९६०. तद्विशेषमाश्रित्य। ९६१. 'स्यादभिधेयः' मुद्रितप्रतौ नास्ति। ९६२. 'मिच्छता' इति पाठं मत्वा स्वाभिना भगवतो विशिष्यन्ति केचन किंतु व्याख्ययाग्रेतनया विरुद्धं तदिति चिन्त्यम्। ९६३. भव्यत्वे सति। तेषामित्यपि क्वचित्पाठः।

९६४. वसुनन्दि-आचार्याः केचिच्छब्देन ग्राह्याः, यतस्तैरेव स्वस्य वृत्त्यन्ते लिखितोऽयं श्लोकः। शास्त्रपरिसमाप्तौ मङ्गलवचनमिति वाक्येन वसुनन्दिआचार्यवचनेन चायमपि श्लोकः श्रीसमन्तभद्रभगवत्कृत एवेति ध्वन्यते। ततश्च भगवत्कृताः कारिकाः पञ्चदशाधिकशतप्रमा इति सिध्यति। किंतु 'केचिन्मन्यन्ते' इति शब्देनौदासीन्याद्वयं तु नेति च ध्वन्यते। तथा च विद्यानन्दमतेन चतुर्दशाधिकशतमेव ग्रन्थप्रमाणं स्यादिति च वक्तुं शक्यते। ९६५. परैः।

९६६. तत्त्वार्थसमूहद्योतिकाः। ९६७. अस्मिन् परिच्छेदे बन्धमोक्षकारणयोः प्रमाणनययोश्च विचारोस्ति। तत्र सांख्ययौगबौद्धादीनां या बन्धमोक्षकारणकल्पना, तां सदोषीकृत्य स्वमतानुमता सा साधिता। प्रमाणानां चान्यवादिकल्पितानां मध्ये दोषं प्रदर्श्य स्वाभिमतप्रमाणविशेषभेदाः साधिताः। तत्र स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कप्रमाणानि पृथक् साधितानि। बौद्धं प्रति सविकल्पप्रत्यक्षस्य समर्थनम्, केवलज्ञानस्य युगपत्सर्वावभासनसामर्थ्यं साधितम्। शेषाणां तु क्रमवर्तित्वं समर्थितम्। सर्वप्रमाणानां प्रत्यक्षपरोक्षयोर्द्वयोर्भेदयोर्मध्येन्तर्भावोपि साधितः। स्याद्वादस्य नयस्य वस्तुरूपस्य च लक्षणपुरस्सरं वर्णनं वर्तते। ९६८. एतदनन्तरं मुद्रितप्रतौ निम्नलिखितौ द्वौ श्लोकौ उपलभ्येते।

वीरसेनाख्यमोक्षगे चारुगुणानर्घ्यरत्नसिन्धुगिरिसततम्।

सारतरात्मध्यानगे मारमदाम्भोदपवनगिरिगङ्गरायितु ॥

कष्टसहस्रीसिद्धा साष्टसहस्रीयमत्र मे पुष्यात्।

शश्वदभीष्टसहस्री कुमारसेनोक्तिवर्धमानार्था (नर्द्धा) ॥

परिशिष्ट

(१)

भारतीय दर्शनों में प्रमाण-विमर्श

प्रमाण का प्रयोजन—

मनुष्य इतर प्राणियोंकी अपेक्षा अधिक बुद्धिमान् एवं विचारशील है। अतः उसके लिए आवश्यक है उसे इष्टानिष्ट अथवा ज्ञातव्य वस्तुओं का ज्ञान अभ्रान्त हो। अतः प्रमाण की जिज्ञासा मनुष्यमें इसीसे जाग्रत हुई होगी। यही कारण है कि प्रमाणकी मीमांसा न केवल भारतके मनीषियों द्वारा की गई है। अपितु विश्वके सभी विचारकों एवं दार्शनिकोंने भी की है। आचार्य माणिक्यनंदी प्रमाणका प्रयोजन बतलाते हुए कहते हैं कि प्रमाणसे पदार्थोंका सम्यग्ज्ञान और सम्यक् प्राप्ति होती है। पर प्रमाणाभाससे नहीं। आचार्य विद्यानंदने भी प्रमाणपरीक्षा (पृ० २८) में यही कहा है।

प्रमाण का स्वरूप—

‘प्रमीयतेऽनेन तत्प्रमाणम्’ इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रमाण वह है जिसके द्वारा वस्तु प्रमित हो, सही रूपमें जानी जाए। प्रश्न है कि वह क्या है जिसके द्वारा वस्तु की सही जानकारी होती है ? इस पर सभी प्रमाणशास्त्रियोंने विचार किया है। वैशेषिक दर्शनने निर्दोष ज्ञानको विद्या (प्रमाण) कहा है। उसीसे यथार्थ एवं सही प्रतिपत्ति होती है। गौतम अक्षपादके न्यायसूत्रमें प्रमाणका लक्षण उपलब्ध नहीं है। पर उनके भाष्यकार वात्स्यायनने अवश्य उपलब्धि-साधन (प्रमाकरण) को सूचित किया है। उद्योतकर, जयन्तभट्ट आदि नैयायिकोंने वात्स्यायनका ही अनुसरण किया है और उपलब्धि-साधन रूप प्रमाकरणको प्रमाण लक्षण स्वीकृत किया है। पर उदयनाचार्यने यथार्थानुभवको प्रमाण कहा है। ज्ञात होता है कि अनुभूतिको प्रमाण माननेवाले मीमांसक प्रमाकरका यह उनपर प्रभाव है, क्योंकि उदयनके पूर्व न्यायदर्शनमें प्रमाण लक्षणमें ‘अनुभव’ पदका प्रवेश उपलब्ध नहीं होता। उनके पश्चात् तो विश्वनाथ, केशवमित्र, अन्नभट्ट, प्रभृति नैयायिकोंने अनुभव घटित ही प्रमाणका लक्षण किया है।

मीमांसक-मनीषी कुमारिलभट्टने अपूर्वार्थविषयक ज्ञानको, जो निश्चित हो वाधविवर्जित हो, निर्दोष इन्द्रियादि कारणोंसे उत्पन्न हो और लोक सम्मत हो, प्रमाण माना है। उत्तरवर्ती सभी भाट्ट मीमांसकोंने उनके इस प्रमाणलक्षणको मान्यता दी है। प्रमाकरने अनुभूतिको प्रमाण बतलाया है और उनके अनुवर्ती शालिकानाथ आदि ने उसका समर्थन किया है।

सांख्यदर्शनमें ईश्वरकृष्ण आदि सांख्यविद्वानोंने इन्द्रियवृत्ति-इन्द्रियव्यापारको प्रमाण माना है।

बौद्ध दर्शन में बौद्धन्यायके प्रतिष्ठाता दिग्नागने अज्ञातार्थके ज्ञापकको प्रमाण कहा है। धर्मकीर्तिने इसमें ‘अविसंवादि’ पद और जोड़कर उसे परिष्कृत किया है। तत्त्वसंग्रहकार शान्तेरक्षितने सारूप्य-तदा-कारता और योग्यताको प्रमाणका लक्षण बतलाया, जो एक प्रकार से दिग्नाग और धर्मकीर्तिके प्रमाण-लक्षणोंका ही फलितार्थ है। इस तरह बौद्धदर्शनमें स्वसंवेदी, अज्ञातार्थज्ञापक, अविसंवादि, तदाकार ज्ञानको प्रमाण स्वीकार किया गया है।

जैन न्यायमें प्रमाण स्वरूप—

जैन न्यायमें प्रमाणका लक्षण हमें सर्वप्रथम आ० गृद्धपिच्छ के तत्त्वार्थसूत्रमें उपलब्ध होता है। उन्होंने मति, श्रुत,

अवधि, मनःपर्यय और केवल इन आगमोक्त पाँच ज्ञानोंको सम्यक्ज्ञान कहकर उसे प्रमाण बतलाया । तथा दो भेदोंमें विभक्त कर आदि के दो ज्ञानोंको परोक्ष और शेष तीन ज्ञानोंको प्रत्यक्ष निरूपित किया है । उनके इस निरूपणसे कई महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आते हैं । एक तो यह कि आगम में जो उक्त पाँच ज्ञान सम्यक्ज्ञानके रूपमें वर्णित हैं, उन्हें तत्त्वार्थसूत्रकारने प्रमाण बतलाया है । दूसरा तथ्य यह कि उसके दो भेद हैं । और वे हैं—(१) परोक्ष (२) प्रत्यक्ष । तीसरा तथ्य यह है कि उन पाँच ज्ञानोंमें आदि के दो ज्ञान परोक्ष हैं और शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । दो ज्ञान हैं—मति और श्रुत । तथा तीन ज्ञान हैं—अवधि, मनःपर्यय और केवल । इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्रकारके अनुसार प्रमाण वह है जो सच्चा ज्ञान है और वह उक्त परोक्ष और प्रत्यक्ष है । उन्हींसे यथार्थ प्रतिपत्ति सम्भव है ।

गृद्धपिच्छ के बाद स्वामीसमन्तभद्र जो ज्ञान अपना और परका अवभास कराये वह प्रमाण है । जो केवल अपना या केवल परका अवभास कराता है वह ज्ञान प्रमाणकोटिमें सम्मिलित नहीं है । प्रमाणकोटिमें वही ज्ञान समाविष्ट हो सकता है जो अपनेको जाननेके साथ परको और परको जाननेके साथ अपनेको भी जानता है । और तभी उसमें सम्पूर्णता आती है । न्यायावतार सिद्धसेनने समन्तभद्रके उक्त लक्षणको अपनाते हुए उसमें एक विशेषण और दिया है । वह है 'वाद्यविवर्जित' । किन्तु तत्त्वार्थसूत्रकारके 'सम्यक्' पदके द्वारा वह गतार्थ हो जाता है ।

यद्यपि 'स्वरूपस्य स्वतो गतेः', 'स्वरूपाधिगतेः परम्' आदि प्रतिपादनों द्वारा विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध प्रमाणको स्वसंवेदी स्वीकार करते हैं । तथा 'अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणम्', 'अज्ञातार्थ प्रकाशो वा' आदि कथनों द्वारा सौत्रान्तिक (बहिरर्थाद्वैतवादी) बौद्ध उसे केवल परसंवेदी मानते हैं । पर किसी भी तार्किकने प्रमाणको स्व और पर दोनोंका एक साथ प्रकाशक नहीं माना । जैन तार्किकोंने ही प्रमाणको स्व और पर दोनोंका एक साथ ज्ञापक स्वीकार किया है । उनका मन्तव्य है कि ज्ञान एक चमचमाता हीरा अथवा ज्योतिपुञ्ज दीपक है, जो अपनेको प्रकाशित करता हुआ उसी कालमें योग्य बाह्यपदार्थोंको भी प्रकाशित करता है । अतः स्वपरप्रकाशक यथार्थ ज्ञान ही प्रमाण है ।

पूज्यपादकी विशेषता यह है कि उन्होंने स्वपरप्रकाशक यथार्थज्ञानको प्रमाण मानते हुए सन्निकर्ष और इन्द्रियको प्रमाण मानने वालोंकी मान्यताओंकी समीक्षा भी की है । उनका कहना है कि सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण मानने पर सूक्ष्म, व्यवहित और दूरके पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध सम्भव न होनेसे उनका ज्ञान नहीं हो सकता । फलतः सर्वज्ञताका अभाव हो जायेगा । इसके सिवाय चक्षुरिन्द्रिय अप्राप्यकारी है ।^{१५} उसका पदार्थके साथ सन्निकर्ष न होनेसे वह अव्याप्त भी है । चक्षु बिना सन्निकर्षके ही ज्ञान कराती है ।

अकलंक^{१६}, विद्यानन्द^{१७} और माणिक्यनन्द^{१८} ने गृद्धपिच्छ, समन्तभद्र और पूज्यपाद द्वारा स्वीकृत एवं समर्थित स्वार्थव्यवसायी सम्यग्ज्ञानको प्रमाणलक्षण स्वीकार करने के साथ ही अर्थके विशेषण रूपमें 'अनधिगत' अथवा 'अपूर्व' या 'अगृहीत-ग्राही' पदको उसमें और जोड़कर 'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मक ज्ञान' को प्रमाण कहा है और यही प्रमाणलक्षण जैनदर्शन में अधिक प्रतिष्ठित है । हेमचन्द्र^{१९} ने अवश्य इस लक्षणसे प्रमाण पृथक् प्रमाण लक्षण प्रस्तुत किया है । उसमें न 'स्वपद' है, और न 'अपूर्व' पद है । दोनोंको उन्होंने अनावश्यक बतलाया है । मात्र आचार्य गृद्धपिच्छोक्त सम्यग्ज्ञानकी तरह सम्यक् अर्थ निर्णयको उन्होंने प्रमाण कहा है । अभिनवधर्मभूषण^{२०} ने विद्यानन्द और माणिक्यनन्दिका पूरा अनुगमन किया है । इस विवेचनसे इतना स्पष्ट है कि सम्यग्ज्ञानको एक स्वरसे सभी जैन दार्शनिकोंने प्रमाण माना है । सन्निकर्ष, इन्द्रिय, इन्द्रियवृत्ति, कारक साकल्य, ज्ञातृव्यापार आदिको अज्ञाननिवर्तक न होने से प्रमाण स्वीकार नहीं किया । इसका कारण यह है कि ये सब स्वयं अज्ञानरूप हैं और अज्ञानका निवर्तक निश्चय ही ज्ञानरूप होना चाहिए, जैसे अन्धकारका निवर्तक प्रकाश देखा जाता है और अज्ञान विरोधीज्ञान है । अतः सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है ।

प्रमाण-भेद—

उपर्युक्त प्रमाणके कितने भेद हैं और उन भेदोंकी सर्वप्रथम प्रतिपादक परम्परा कौनसी है ? इस सम्बन्धमें भारतीय दर्शन-ग्रन्थोंका आलोचन करने पर ज्ञात होता है कि वैशेषिक दर्शनके प्रणेता कणादने प्रमाणके प्रत्यक्ष और लैङ्गिक, ये दो भेद स्वीकार किए हैं। उन्होंने इन दो के सिवाय अन्य प्रमाणोंकी न सम्भावना की है और न न्यायसूत्रकार अक्षपादकी तरह उनका स्वीकृत प्रमाणोंमें अन्तर्भाव करने आदि की चर्चा ही की है। इससे प्रतीत होता है कि प्रमाणके उक्त दो भेदोंकी मान्यता प्राचीन है। इसके अतिरिक्त चार्वाक ने प्रत्यक्षको तो माना है, किन्तु अनुमानको खण्डन करते हुए अस्वीकार किया है।^{११} तथा उपमान, आगम आदि की कोई चर्चा ही नहीं की, जबकि न्यायसूत्रकार^{१२} ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम (शब्द) इन चार प्रमाणोंको स्वीकार किया है। तथा ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव इन चारका स्पष्ट रूपमें उल्लेख करके उनकी अतिरिक्त प्रमाणताकी आलोचना की है। साथ ही शब्दमें ऐतिह्यका और अनुमानमें शेष तीनोंका अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। कणादके व्याख्याकार प्रशस्तपाद^{१३}ने अवश्य उससे मान्य प्रत्यक्ष और लैङ्गिक इन दो प्रमाणोंका समर्थन करते हुए उल्लिखित शब्द आदिका इन्हीं दो में समावेश किया है। तथा चेष्टा, निर्णय, आर्ष (प्रातिभ) और सिद्धदर्शनको भी इन्हीं दो के अन्तर्गत सिद्ध किया है। यदि वैशेषिकदर्शन से पूर्व न्यायदर्शन या अन्य दर्शनकी प्रमाण भेद-परम्परा होती तो चार्वाक उसके प्रमाणोंकी अवश्य आलोचना करता। इससे विदित होता है कि वैशेषिक दर्शनकी प्रमाण-द्वय मान्यता सबसे प्राचीन है।

वैशेषिकों^{१४}की तरह बौद्धों^{१५}ने भी प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को स्वीकार किया है। शब्द सहित उक्त दो अर्थात् तीनको सांख्यों^{१६}ने, उपमान सहित चारको नैयायिकों^{१७}ने और अर्थापत्ति तथा अभाव सहित छहको, जैमिनियों (मीमांसकों) ने^{१८} मान्य किया है। कुछ काल बाद जैमिनीय दो सम्प्रदायोंमें विभक्त हो गये—(१) भाट्ट (कुमारिलभट्टके अनुगामी) और (२) प्राभाकर (प्राभाकरके अनुयायी)। भाट्टों ने छहों प्रमाणोंको माना। पर प्राभाकरोंने अभाव प्रमाणको छोड़ दिया तथा शेष पाँच प्रमाणोंको अंगीकार किया। इस तरह विभिन्न दर्शनोंमें प्रमाण-भेदकी मान्यताएँ^{१९} दार्शनिक क्षेत्रमें चर्चित हैं।

जैन-न्यायमें प्रमाणभेद—

जैन-न्यायमें प्रमाणके कितने और कौनसे भेद माने गये हैं। इसका विचार किया जाता है—

श्वेताम्बर जैन परम्परा में मान्य भगवतीसूत्र^{२०} और स्थानांगसूत्र^{२१} में चार प्रमाणोंका उल्लेख है—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान और ४. आगम। स्थानांग सूत्रमें एक दूसरी जगह व्यवसायके तीन भेदों द्वारा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणोंका भी निर्देश है। संभव है सिद्धसेन और हरिभद्रके तीन प्रमाणोंकी मान्यताका आधार यही स्थानांगसूत्र हो। श्री दलसुख मालवणियाका विचार है कि उपर्युक्त चार प्रमाणोंकी मान्यता नैयायिक आदि सम्मत और तीन प्रमाणोंका कथन सांख्य आदि स्वीकृत परम्परा मूलक हो तो आश्चर्य नहीं। यदि ऐसा हो तो भगवतीसूत्र और स्थानांगसूत्र चार और तीन प्रमाणोंकी मान्यता लोकानुसरणकी सूचक होनेसे अर्वाचीन होना चाहिये।

दिगम्बर परम्पराके षट्खंडागममें^{२२} मात्र ज्ञानमीमांसा उपलब्ध होती है। वहाँ तीन प्रकारके मिथ्या-ज्ञानों और पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञानोंको गिनाकर आठ ज्ञानोंका निरूपण किया गया है। वहाँ प्रमाण और प्रमाणाभासके रूपमें ज्ञानोंका विभाजन नहीं है और न प्रमाण तथा प्रमाणाभास शब्द ही वहाँ उपलब्ध होते हैं। कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें भी ज्ञानमीमांसाकी ही चर्चा है, प्रमाणमीमांसा की नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि उस प्राचीन कालमें सम्यक् और मिथ्या मानकर तो ज्ञानका कथन किया जाता था, किन्तु प्रमाण और प्रमाणाभास मानकर नहीं। पर एक वर्गके ज्ञानों को सम्यक् और दूसरे वर्गके ज्ञानोंको मिथ्या प्रतिपादन करनेसे अवगत होता है कि जो ज्ञान सम्यक् कहे गये हैं वे सम्यक् परिच्छित्ति करानेसे प्रमाण तथा जिन्हें मिथ्या

बताया गया है वे मिथ्या परिच्छित्ति करानेसे अप्रमाण (प्रमाणाभास) इष्ट हैं । इसकी संपुष्टि तत्त्वार्थ-सूत्रकारके निम्न प्रतिपादनसे भी होती है ।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम् । त.सू. १-९ ।

तत्प्रमाणे । त.सू. १-१० ।

मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च । त.सू. १-३१ ।

इस प्रकार सम्यक्ज्ञान या प्रमाणके मति-श्रुत-अवधि आदि पाँच भेदों की परम्परा आगम में उपलब्ध होती है, जो अत्यंत प्राचीन है और जिस पर लोकानुसरणका कोई प्रभाव नहीं है ।

पर इतर दर्शनोंके लिये वह अलौकिक जैसी भी । क्योंकि अन्य दर्शनोंके प्रमाण निरूपणके साथ उसका मेल नहीं खाता था । अतः ऐसे प्रयत्न की आवश्यकता थी कि आगमका भी समन्वय हो जाय, और अन्य दर्शनोंके प्रमाण-निरूपण के साथ उसका भी मेल बैठ जाये । इस दिशामें सर्वप्रथम तत्त्वार्थसूत्रकारने उक्त समाधान प्रस्तुत किया । उन्होंने स्पष्ट कहा कि जो मति आदि पाँच ज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान वर्णित है वह प्रमाण हैं और उसके दो भेद हैं—१. परोक्ष २. प्रत्यक्ष । अर्थात् आगममें जिन पाँच ज्ञानोंको सम्यग्ज्ञान कहा गया वे ही प्रमाण हैं । उनमें मति, श्रुत ये दो ज्ञान इन्द्रिय और मन सापेक्ष होने से परोक्ष तथा अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीन ज्ञान आत्म मात्रकी अपेक्षासे होने के कारण प्रत्यक्ष हैं । आचार्य गृद्धपिच्छका यह प्रमाण-द्वय विभाग इतना विचार युक्त और कौशल्यपूर्ण हुआ कि प्रमाणोंका वैविध्य एवं आनन्त्य भी इन्हीं दो में समाविष्ट हो जाता है । उन्होंने अति संक्षेपमें मति, स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) को भी प्रमाणान्तर होने का संकेत करके उन्हें मतिज्ञान बतलाते हुए उनका परोक्ष प्रमाणमें समावेश किया, क्योंकि ये सभी ज्ञान इन्द्रिय, मन आदि पर सापेक्ष हैं । वैशेषिकों और बौद्धोंने भी प्रमाणके दो भेद स्वीकार किए हैं, जैसा कि हम पहले कह आये हैं । पर वे प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो भेद हैं तथा अनुमानमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्कका समावेश संभव नहीं है । अतएव गृद्धपिच्छने इस प्रमाण द्वयको स्वीकार न कर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण द्वयका व्यापक विभाग प्रतिष्ठित किया । उत्तरवर्ती जैन तार्किकोंके लिये उनका यह विभाग आधार सिद्ध हुआ । पूज्यपादने न्यायदर्शन आदि में पृथक् प्रमाणके रूपमें स्वीकृत उपमान, अर्थापत्ति और आगम आदि का पर सापेक्ष होने से परोक्षमें अंतर्भाव किया और सूत्रकारके प्रमाण द्वयका समर्थन किया । अकलंकने भी उनके प्रमाण द्वय की संपुष्टि की । साथ ही उन्होंने नये आलोकमें परोक्ष-प्रत्यक्षकी परिभाषाओं और उनके भेदोंका भी बहुत स्पष्टता के साथ प्रतिपादन किया है । परोक्ष प्रमाण की स्पष्ट संख्या हमें सर्वप्रथम उनके तर्क ग्रन्थों में ही उपलब्ध होती है । इतना ही नहीं, उनकी परिभाषायें भी उन्होंने दी हैं । लगता है कि गृद्धपिच्छ और अकलंकने जो प्रमाण निरूपण की दिशा प्रदर्शित की, उसी पर विद्यानंद, माणिक्यनंद, हेमचन्द्र और धर्मभूषण आदि जैन तार्किक चले हैं । साथ ही उनके कथनको पल्लवित एवं विस्तृत किया है ।



परिशिष्ट

(२)

चार्वाक दर्शन

भारतीय दर्शनोंमें एक चार्वाक दर्शन है, जिसके प्रवर्तक बृहस्पति गुरु माने जाते हैं। इस दर्शनकी मान्यता है कि 'यद् दृश्यते तदस्ति यन्न दृश्यते तन्नास्ति'— जो इन्द्रियोंसे दिखाई देता है वह है और जो दिखाई नहीं देता वह नहीं है। यह दर्शन एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही मानता है। प्रत्यक्षसे अगोचर कोई पदार्थ नहीं है, जिसे सिद्ध करनेके लिए अनुमान, आगम आदि प्रमाण माने जायें। इसका कहना है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना

नासौ मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां

महाजनो येन गतः स पन्था ॥^१

'तर्क (अनुमान) अप्रतिष्ठित है— उसमें व्यभिचार आदि दोष आनेसे वह सिद्ध नहीं होता, श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न हैं— कोई वेदको प्रमाण मानता है, कोई आगमको स्वीकार करता है और कोई त्रिपिटकको अङ्गीकार करता है और इस प्रकार उनमें एकरूपता नहीं है, ऐसा कोई मुनि (आप्त) नहीं, जिसके वचनों (उपदेश) को प्रमाण माना जाये। अतः धर्मकी बात (चर्चा) को गुफामें रख देना चाहिए और जिस पथसे महाजन लोग गये वही पथ है— उसी पथका अनुसरण करना चाहिए। उसीमें लोकहित है ।'

प्रतीत होता है कि इस दर्शनके प्रतिष्ठाता बृहस्पतिके समक्ष यज्ञानुष्ठान, पंचाग्नितप जैसे वैदिक क्रियाकाण्डका अधिक बोलबाला रहा और 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' जैसे वाक्योंको उदाहृतकर उसे ही धर्म मान लिया गया था। लोगोंको इस लोककी अपेक्षा परलोक (स्वर्गप्राप्ति) की अधिक चिन्ता थी और उसीकी चर्चा एवं प्रवृत्ति ज्यादा थी। सम्भवतः उसीकी प्रतिक्रियामें 'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्था' यह कहा गया तथा इस दर्शनका उद्भव हुआ। यतः इसके प्रवर्तक 'बृहस्पति' कहे जाते हैं, इससे इसे 'बृहस्पत्य' दर्शन नामसे भी अभिहित किया गया है। 'खाओ-पियो, आनन्द करो' लोककी इस प्रवृत्तिका पोषण-समर्थन करनेसे इसे 'लोकायत' दर्शन भी कहा गया है। बृहस्पतिने चार्वाक दर्शन पर सूत्र ग्रन्थ भी रचा था, जिसके सूत्रोंका उल्लेख ब्रह्मसूत्रके शांकर भाष्य, गीताकी नीलकण्ठी, श्रीधरी और मधुसूदनी टीकाओं तथा अद्वैत ब्रह्मसिद्धि आदिमें मिलता है। जैन और बौद्ध तर्क ग्रन्थोंमें भी वह क्वचित् पाया जाता है। पर वह समग्र ग्रन्थ उपलब्ध है या नहीं, यह ज्ञात नहीं।

अनुमानकी प्रतिष्ठा क्यों नहीं होती ? इस सम्बन्धमें चार्वाकदर्शनका कहना है कि निश्चित अविनाभावी लिङ्ग (साधन) से लिङ्गी (साध्य) के ज्ञानको अनुमान माना गया है।^२ वह लिङ्ग तीन प्रकारका है— १. स्वभावलिङ्ग, २. कार्यलिङ्ग और ३. अनुपलब्धि लिङ्ग। पर ये तीनों लिङ्ग सदोष हैं।^३ यथा— 'ये आमलक कसैले रससे युक्त हैं, क्योंकि

१. विद्यानन्द, अष्टसहस्री पृ० ३६, उद्धृत तथा सत्यशा० परी०, पृ० १५।

२. निश्चयाविनाभावाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानमित्यानुमानिकशासनम्।' लघु अनन्तवीर्य, प्रमेयर० भा० २-२।

३. 'इदं फलं कषायरसोपेतम्, आमलकफलत्वात्, परिदृष्टामलकवत्' इत्यत्र मधुररसोपेतानामानलकफलेन व्यभिचारः वही, टिप्प०।

आमलक हैं। यहाँ आमलक (आंवला) रूप स्वभाव हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि देशान्तर अथवा कालान्तरमें दुग्धादि द्रव्यसे सिंचन करने पर आमलक मीठेरस वाले देखे जाते हैं, कसैले नहीं। इसी प्रकार 'यह वृक्ष है, क्योंकि आम्र है।' यहाँ आम्ररूप स्वभाव हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि दूसरे देशमें वह आम्रलताके रूपमें पाया जाता है। इसी तरह कार्यलिङ्ग भी अनैकान्तिक है।^१ जैसे— 'इस इन्द्रजालक घटमें अथवा बाँवीमें अग्नि है, क्योंकि धूम निकलता हुआ देखा जाता है।' यहाँ अग्निके बिना धूम होनेसे धूमरूप कार्यहेतु भी व्यभिचारी है और व्यभिचारी हेतुओंसे होनेवाला अनुमान अनुमानाभास है, सम्यक् अनुमान नहीं। अब रहा अनुपलब्धि हेतु, वह भी अभावका साधक होनेसे भावका साधक नहीं है और इस तरह अनुमानके जनक तीनों हेतु इष्टके साधक न होनेसे वे अनुमानकी प्रतिष्ठा करनेमें अक्षम हैं।

वैदिक वेदको, जैन आगमको और बौद्ध त्रिपिटकको मानते हैं और ये तीनों परस्पर विरुद्धार्थ प्रतिपादक हैं। वेद यज्ञादि अनुष्ठानोंका प्रतिपादन करते हैं, आगम अहिंसा, अनेकान्त, स्याद्वाद आदिका निरूपण करता है तथा त्रिपिटक क्षणिकत्व, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदिका उपदेश करता है। इस प्रकार परस्पर विरोधी तत्त्वोंके प्रतिपादक होनेसे इन सभीको प्रमाण नहीं माना जा सकता। इनमें किसी एकको प्रमाण माननेपर अन्यको प्रमाण क्यों नहीं माना जाये ? यह प्रश्न असमाहित रहता है। अतः वेदादि श्रुतियाँ प्रमाण नहीं हैं।

मुनि (उपास्यदेव) भी एक नहीं है। कोई सुगतको सर्वज्ञ मानता है, कोई कपिलको सर्वज्ञ स्वीकार करता है और कोई शिवको सृष्टिकर्ताके रूपमें आप्त अङ्गीकार करता है। यदि सभीको सर्वज्ञ माना जाये, तो उनमें मतभिन्नता क्यों है ? सबका उपदेश एक-सा ही होना चाहिए। पर सबका उपदेश भिन्न-भिन्न है। इससे ज्ञात होता है कि सब आप्त नहीं है। इसलिए कहा है—

सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेतिका प्रमा ।

तामुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः ॥^२

अतएव देवता (आप्त) के रूपमें मुनि बृहस्पति ही सर्वज्ञ है,^३ क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष सिद्ध पृथिवी अप, अग्नि और वायु इन चार ही भूततत्त्वोंका उपदेश दिया है। ये ही भूततत्त्व सभी प्राणियोंके जीवनाधार हैं और जिनके सद्भावमें किसीको विवाद नहीं है, ये सभीको स्वीकृत हैं।

इन चार भूतोंसे ही उनके शरीराकार परिणत होने पर चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। जैसे गुड़, महुआ आदिके संयोगसे मदिरा (मादक शक्ति) पैदा हो जाती है। अथवा स्नायु (तांत), तूँवी, वांसुरी, अंगूठे आदिके संयोगसे मधुर स्वर उत्पन्न होता है। अथवा एक ही वस्तुकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंकी उत्पत्ति हो जाती है। अथवा न पानमें, न कत्थामें, न सुपारीमें और न चूनेमें लाल रंग रहता है। किन्तु इन सबका बीड़ा बनाकर उसे चबानेसे लालरंगकी उत्पत्ति हो जाती है। उसी तरह चारों भूततत्त्वोंका विशेषरूपमें मिश्रण होने पर शरीरके साथ चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। शरीरके नष्ट होने पर वह भी नष्ट हो जाता है। वह गर्भसे लेकर मरणपर्यन्त ही रहता है। वह अनादि-अनन्त नहीं है। अतः मृत्युके बाद कर्मफल भोगनेका प्रश्न नहीं उठता, क्योंकि परलोकी (आत्मा) का देहसे भिन्न अभाव है और जब परलोकीका अभाव है तो उस कर्मफलके भोगनेके लिए प्राप्त होनेवाला परलोक (स्वर्ग, मोक्ष आदि) का भी अभाव सुतरां सिद्ध हो जाता है, जिसके लिए अनशन

१. तथा कार्यलिङ्गमपि गोपालघटिकादौ धूमस्य शक्रम् चान्यथापि भावात् पावकव्यभिचार्येव। ततः प्रत्यक्षमेवैकंप्रमाणमस्यैवा-
विसंवादकत्वादिति । —प्रमेयरत्नमाला २-२ ।

२. शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, श्लोक० ३१४९। तथा उद्धृत, विद्यानन्द, अष्टसह०, पृ० ५।

३. 'इह आप्तस्तु कश्चिद् देवतारूपो गुरुर्बृहस्पतिरेव, प्रत्यक्षप्रसिद्धपृथिव्यादितत्त्वोपदेशात्। तथा हि—पृथिव्यप्तेजोवायव इति चत्वार्येव तत्त्वानि। कायाकारपरिणतेभ्यः पिष्टोदकगुडधातकीसंयोगान्मदशक्तिवत्..... तदात्मकं चैतन्यं जायते। तच्च गर्भादिमरणपर्यन्तं 'जीव आत्मा' इत्यादिव्यपदेशभाक् प्रवर्तते। गर्भात्पूर्वकाले मरणादुत्तरकाले च तदभावः।

—विद्यानन्द, सत्यशा० प०, पृ० १५

आदि तपों द्वारा शरीरको कष्ट पहुँचाया जाता है। पर शरीर को कष्ट देना मूर्खों जैसी मूढ़ता है।^१ अतः जब तक जियो, सुखपूर्वक जियो। प्राप्त शरीर पुनः मिला या न मिला, क्या भरोसा। कहा भी है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥१॥
अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धि-पौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ॥२॥
स्त्रीं मुद्रां मकरध्वजस्य महतीं निर्वाणसम्पत्करीं,
ये मोहादवधीरयन्ति कुधियो मिथ्यासुखान्वेषिणः ।
ते तेनैव निहत्य निर्दयतरं भस्मीकृता लुण्ठिताः,
केचित् पञ्चशिखीकृता हि जटिनः कापलिकाचापरे^२ ॥३॥

‘जब तक जियो, सुखसे जियो। ऐसा कोई नहीं, जिसकी मृत्यु न हो। वह एक दिन अवश्य होगी। उससे किसीका बचाव नहीं। प्राप्त शरीर जब जलकर राख हो जावेगा, तो पुनः उसका मिलना कैसे सम्भव है? अर्थात् सम्भव नहीं है।’

‘अग्निहोत्र करना, तीनों वेदों (ऋक्, यजु और साम) का पाठ करना, त्रिदण्डी साधु बन जाना, शरीरमें भस्म पोतना, यह उन लोगोंने अपनी आजीविका (जीवनवृत्ति) बनाई है, जो स्वयं बुद्धि एवं पुरुषार्थ-विहीन हैं— जिनमें न बुद्धि (विवेकशक्ति) है और न उद्योगी हैं।’

‘जो महती सुख-सम्पत्तिकी प्रदात्री एवं कामदेवकी मुद्रा स्त्रीका अज्ञानतावश तिरस्कार (अपमान या घृणा) करते हैं वे उस कामदेवके द्वारा ही निर्दयतापूर्वक लताड़े गये तथा अपहृत कर लिए गये। फलतः कोई पञ्चशिखाधारी हो गये, कोई जटाधारी बन गये और कोई खप्पर लेकर भिक्षावृत्ति करने लगे। ये सब कुबुद्धि हैं, जो मिथ्या सुखकी वांछा से इन वेषोंके धारण करनेमें प्रवृत्त हुए।’

इन पद्योंमें पिछला भर्तृहरिके शृङ्गारशतकका ७८वां श्लोक है। प्रथम पद्य अनेक ग्रन्थोंमें प्राप्त होता है और बहुश्रुत है। ये तीनों विद्यानन्दने सत्यशासन परीक्षामें उद्धृत किये हैं।

इस दर्शनकी मान्यताका दिग्दर्शन अपने सर्वदर्शनसंग्रहमें माध्वाचार्यने भी किया है। हम उसे भी यहाँ संक्षेपमें दे रहे हैं—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवाय्वनिलानलाः ।
चतुर्ध्वः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते ॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत् ।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः ॥
देहः स्थौल्यादिवियोगाच्च स एवात्मा न चापरः ।
मम देहोऽयमित्युक्तिः सम्भवेदौपचारिकी ॥

‘इस दर्शनमें पृथिवी, अप, अग्नि और वायु— ये चार भूततत्त्व माने गये हैं। इन चार भूतोंसे चैतन्य उत्पन्न होता है। जैसे किण्वादि द्रव्योंसे मदशक्ति (मादकता) पैदा होती है। ‘मैं स्थूल हूँ’, ‘मैं कृश हूँ’ इस प्रकारका जो व्यवहार होता है वह समानाधिकरणसे देहमें ही होता है और इसलिए देह और जीव एक ही हैं, वह उससे भिन्न नहीं है तथा जब स्थूलता, कृशता आदिके न रहने पर ‘मैं स्थूल नहीं हूँ’, ‘मैं कृश नहीं हूँ’ आदि व्यवहार होता है तो वह देहमें ही होता

१. सत्यशा० प० पृ० १५

२. वही; पृ० १५, उद्धृत।

है, देहसे भिन्न आत्मामें नहीं। अतः देह ही आत्मा है, उससे भिन्न आत्मा नहीं है। 'मेरा यह शरीर है' इस प्रकारका जो शरीर और आत्माका भेद व्यवहार होता है वह मात्र औपचारिक है।

इस तरह चार्वाक दर्शन देहात्मवादी दर्शन है। 'चारवो वाचः येषां ते चार्वाकाः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार लोकको अच्छे लगनेवाले चारु वचन बोलनेसे ये चार्वाक कहे जाते हैं अथवा 'चर्वन्ति भक्ष्यन्ति जीवादिपरोक्षतत्त्वानि ये ते चार्वाकाः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार जीव, पुण्य, पाप, स्वर्ग, मोक्ष आदि परोक्ष तत्त्वोंका निषेध करने तथा अनुमान, आगम, सर्वज्ञ आदिको न माननेसे इन्हें चार्वाक कहा गया है।

स्मरण रहे कि चार्वाक दर्शन जब दार्शनिकोंकी विचार कोटिमें आ गया, तो उसपर खण्डन-मण्डनके रूपमें प्रचुर साहित्य लिखा गया। पर आज जितना खण्डनका साहित्य मिलता है उतना मण्डन का मूल साहित्य नहीं मिलता। अन्वेषण करने पर सम्भव है उनका कुछ मौलिक साहित्य पुस्तकालयों में उपलब्ध हो जाय। इत्यलम्।



परिशिष्ट

(३)

जैन तार्किक और उनके विशिष्ट न्यायग्रन्थ

१. आचार्य गृद्धपिच्छ (प्रथम शताब्दी)
२. स्वामी समन्तभद्र (ई० २ री, ३ री शती)
३. सिद्धसेन (वि०स० ४-५ वीं शती)
४. देवनन्दि-पूज्यपाद (वि०स० ६ वीं)
५. श्रीदत्त (वि०स० ६ वीं)
६. पात्रस्वामी (वि०स० ६-७ वीं)
७. अकलंकदेव (ई० ७-८ वीं)
८. हरिभद्र (वि०स० ८ वीं)
९. सिद्धसेन (द्वितीय) (९ वीं शती)
१०. वादीभसिंह (९ वीं शती)
११. बृहदनन्तवीर्य (९ वीं शती)
१२. कुमारनन्दि (८-९वीं शती)
१३. विद्यानन्द (ई० ७७५-८४०)
१. तत्त्वार्थसूत्र
१. आप्तमीमांसा (देवागम)
२. युत्तयनुशासन
३. स्वयम्भूस्तोत्र
४. रत्नकरण्डक श्रावकाचार
५. जिनशतक
१. सन्मत्तिसूत्र
१. सर्वार्थसिद्धि
१. जल्पनिर्णय (अनुपलब्ध)
१. त्रिलक्षणकदर्शन (अनुपलब्ध)
१. न्याय-विनिश्चय
२. सिद्धि-विनिश्चय
३. प्रमाण-संग्रह
४. लघीयस्त्रय
५. देवागम-विवृति (अष्टशती)
१. अनेकान्तजयपताका
२. अनेकान्तवादप्रवेश
३. शास्त्रवार्तासमुच्चय
४. षड्दर्शनसमुच्चय
१. न्यायावतार
१. स्याद्वादसिद्धि
१. सिद्धिविनिश्चालंकार
२. प्रमाणसंग्रहभाष्य (अनुपलब्ध)
१. वादन्याय (अनुपलब्ध)
१. विद्यानंदमहोदय
२. आप्तपरीक्षा
३. प्रमाणपरीक्षा
४. पत्रपरीक्षा
५. अष्टसहस्री
६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
७. युत्तयनुशासनालंकार
८. सत्यशासनपरीक्षा

- | | |
|--|---------------------------------|
| १४. अनन्तकीर्ति (वि० ९वीं शती) | ९. श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र |
| १५. माणिक्यनन्दि (११वीं शती) | १. बृहत्सर्वज्ञसिद्धि |
| १६. देवसेन (९ वीं शती) | २. लघुसर्वज्ञसिद्धि |
| १७. वादिराज (१०२५ ई०) | १. परीक्षामुख |
| १८. प्रभाचन्द्र (१०५३ ई०) | १. नयचक्र |
| १९. अभयदेव (ई० १२वीं) | १. प्रमाणनिर्णय |
| २०. लघुअनन्तवीर्य (१२वीं शती) | २. न्यायविनिश्चयविवरण |
| २१. देवसूरि | १. प्रमेयकमलमार्तण्ड |
| २२. हेमचन्द्र (ई० १०८७-११७३) | २. न्यायकुमुदचन्द्र |
| २३. भावसेन त्रैविद्य (वि० १२-१३) | सन्मतिटीका |
| २४. लघु समन्तभद्र (वि० १३ वीं) | १. प्रमेयरत्नमाला |
| २५. अभयचन्द्र (वि०सं० १३ वीं) | १. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार |
| २६. रत्नप्रभसूरि (वि०सं० १३ वीं) | २. स्याद्वादरत्नाकर |
| २७. मल्लिषेण (वि० १४ वीं शती) | १. प्रमाणमीमांसा |
| २८. अभिनव धर्मभूषणयति (ई० १३५८-१४१८) | १. विश्वतत्त्वप्रकाश |
| २९. शान्तिवर्णी | २. प्रमा-प्रमेय |
| ३०. नरेन्द्रसेन भट्टारक (वि०सं० १७८७) | १. अष्टसहस्रीविषमपदतात्पर्यटीका |
| ३१. चारुकीर्ति भट्टारक (वि०सं० १८ वीं) | १. लघीयस्त्रयतात्पर्यवृत्ति |
| ३२. विमलदास (वि०सं० १८ वीं शती) | १. स्याद्वादरत्नाकरावतारिका |
| ३३. अजितसेन (वि०सं० १८ वीं शती) | १. स्याद्वादमंजरी |
| ३४. यशोविजय (वि०सं० १८ वीं शती) | १. न्यायदीपिका |
| | १. प्रमेयकण्ठिका |
| | १. प्रमाण-प्रमेयकलिका |
| | १. प्रमेयरत्नालंकार |
| | १. सप्तभंगीतरंगिणी |
| | १. न्यायमणिदीपिका |
| | १. अष्टसहस्री-त०वि० |
| | २. जैनतर्कभाषा |
| | ३. न्यायालोक |
| | ४. ज्ञानबिन्दु |
| | ५. अनेकान्तव्यवस्था |
| | ६. न्यायखण्डनखाद्य |
| | ७. अनेकान्तप्रवेश |
| | ८. शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका |
| | ९. गुरुतत्त्वविनिश्चय. |



